साहित्याचार्य डॉ॰ पन्नालाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक मंडल :

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

डॉ० (पं०) दरबारीलाल कोठिया वाराणसी

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, नई दिल्ली

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

डॉ० नेमिचन्द्र जैन, इन्दौर

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, बाहुबली

प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

प० कमलकुमार जैन शास्त्री, छतरपुर

संयोजक - सम्पादक :

डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', दमोह (म. प्र.)

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति
के तत्त्वावधान में सम्पादित तथा प्रकाशित

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जी जैन

को

उनकी बहुमुखी विद्वत्ता एवं सामाजिक सेवाओं के

उपलक्ष्य में

दि० ६ जून, १९८९ ई०

को

सादर समर्पित

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी के आद्य प्रेरणा स्रोत :

आध्यात्मिक सन्त युगपुरुष पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

पं पन्नालाल जी के निरन्तर पुरस्कर्ता :

पूज्य बड़े वर्णी जी के अथक सहयोगी
दानवीर, जातिभूषण
सिंघई कुन्दनलाल जी, सागर

▣

श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय
में
प्राच्य शिक्षा के साथ आधुनिक शिक्षा-
व्यवस्था के समायोजक
पं. पन्नालाल जी के अभिन्न मित्र :
श्री बालचन्द्र जी मलैया, सागर
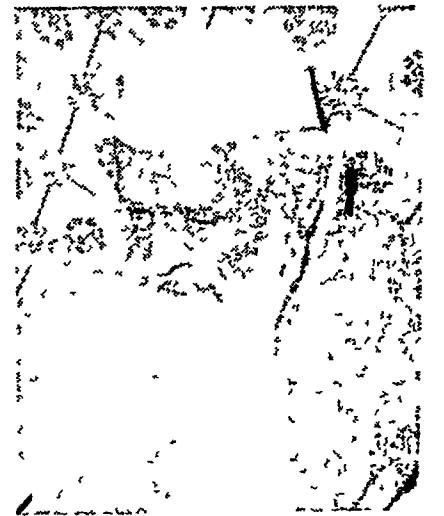
सम्पादकीय वक्तव्य :

'साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन ग्रंथ' को लोकार्पित करते हुए हमे सातिशय प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। यतः सुधीजनो, परम पूज्य सन्तो, राष्ट्र नेताओ, सामाजिक कर्णधारो और विविध क्षेत्रो मे अपने प्रशस्त कृतित्व से सम्पूर्ण वसुन्धरा एवं चिन्तना को महिमा-मण्डित करने वालो का प्रतिनन्दन सदैव स्वागतेय है। सुधीजनो के प्रतिनन्दन की परम्परा सुदूर प्राचीन-काल से प्रवर्तमान है। सुप्रसिद्ध चिन्तक और धर्मशास्त्र-विश्लेपक महाराजा मनु ने सम्मानार्हता के पाच प्रसगो का उल्लेख कर 'विद्या' को ही सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दनीय निरूपित किया है :—

वित्त बन्धु वय. कर्म, विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि, गरीयो यद् यदुत्तरम् ॥[1]

और एतदनुसार नीति-मर्मज्ञ का यह कथन भी सुधीजनो के प्रतिनन्दन की ही आशसा करता है :—

"स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।"

सुधीजनो ने राष्ट्र, साहित्य और सस्कृति के विविध पक्षो को सम्वर्धित और सुरक्षित करते हुए उनके सागोपाग समुन्नयन हेतु भगीरथ प्रयत्न किये हैं।

प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्रीयता की सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति उसके साहित्य और साहित्य प्रणेताओ से होती है। युग-युगो से जिन मनीषियो ने दृश्य और अदृश्य के प्रति अपनी जिन अनुभूतियो को शब्दो के माध्यम से मूर्तमान किया है और —

"अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पं तथा ऽऽ यु र्बहवश्च विघ्ना.।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु, हंसै र्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥[2]

के विशेषज्ञो ने अपने स्फूर्त और ओजस्वी चिन्तन को आगामी पीढी द्वारा विश्लेषित और आविष्कृत किये जाने हेतु सुरक्षित कर रखा है, विज्ञान के इस विकासवादी युग मे भी उनके चिन्तन और निष्पत्तियाँ निश्चित ही प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर रहे है। ऐसे सुधीजन समाज, साहित्य, अध्यात्म, सस्कृति और राष्ट्र की धरोहर होते है। उनके जीवन-दर्शन, आस्थाओ, नैतिक मूल्यो, साधनाओ और सार्थक कृतित्व से सम्पूर्ण परिवेश-समाज और राष्ट्र दिशाबोध प्राप्त करता है और ऐसे दिव्य-ललाम सुधीजनो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु उनके अभिनन्दन-प्रतिनन्दन शिष्ट तथा कृतज्ञ समाज का प्राथमिक दायित्व है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्दि ने भी कहा है—

"न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।"

1— मनु स्मृतिः, वाराणसी १९७१ ई. अ. २ श्लोक १३६.

2— पच तंत्रम्: कथामुखम्, वाराणसी २०१५ वि., पद्य ९.

इस दृष्टि से अभिनन्दन-ग्रन्थो की महती उपयोगिता है। विगत पचास वर्षो मे यह परम्परा निरन्तर विकास को प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा सन्तो, सुधीजनो और राष्ट्रीय तथा सामाजिक क्षेत्र मे उल्लेखनीय व्यक्तित्वो के अभिनन्दन मे 'अभिनन्दन ग्रथ' अथवा 'स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित हुए। जैन जगत् में यह परम्परा सन् 1946 मे प नाथूरामजी प्रेमी को समर्पित किये गये अभिनन्दन ग्रन्थ[1] से आरम्भ हुई। इस महत्वपूर्ण कार्य का सर्वतोभावेन सर्वत्र समादर हुआ। इसके पश्चात् अनेको अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमे राष्ट्र, समाज, धर्म दर्शन, साहित्य, पुरातत्त्व, विज्ञान और सस्कृति का यथासभव सार्थक प्रतिपादन हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही समाधेय है कि " अभिनन्दन ग्रन्थो की भीड मे एक और अभिनन्दन क्यो ? "

३ योजना और उसका इतिहास

नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभासम्पन्न, लोकोत्तर आनन्दप्रद काव्यप्रणेता, प्राचीन वाङ्मय और भाषाशास्त्र के उद्भट मनीषी, शताधिक ग्रन्थो के लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक-अनुवादक और मौलिक ग्रन्थ रचयिता अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी श्रद्धेय प० (डॉ०) पन्नालाल जी साहित्याचार्य आगमोक्त देव-शास्त्र-गुरु के अनन्य उपासक, हित-मित-मधुरभाषी सहृदय विद्वान् हैं। प० जी के व्यक्तित्व मे कुशल लेखक, प्रभावी वक्ता तथा विवाद रहित विद्वत्ता का अभूतपूर्व सगम हुआ है। वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी हैं और आचार मे उनकी गहरी निष्ठा हे। यही कारण है कि वे मात्र उपदेशको की अपेक्षा आचार-प्रधान पुरुषो-साधु-सतो के अधिक निकट हैं। उनकी चर्या एक व्रती की चर्या है।

अध्यापन, अनुशासन-प्रशासन, चिन्तन-सृजन-लेखन, भाषण प्रवचन और सस्थाओ के व्यवस्थापन के माध्यम से उन्होने समाज मे ज्ञान का जो अखण्ड दीप जलाया है, वह अप्रतिम है—अनुपम है।

सम्पूर्ण राष्ट्र के दि जैन विद्वानो की अग्रगण्य प्रतिनिधि सस्था—'अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्' को अनवरत पच्चीस वर्षो तक **'महामन्त्री'** तदनु पाच वर्ष तक **'अध्यक्ष'** और सम्प्रति **'कोषाध्यक्ष'** एव **'संरक्षक'** के पद से जो अनवरत और अथक सेवा अर्पित करते आ रहे है, वह बेमिसाल है। प०जी ने इस सस्था को न केवल सामयिक नेतृत्व प्रदान किया है प्रत्युत वे उसकी रचनात्मक प्रवृत्तियो के प्रमुख सूत्रधार भी है।

प्रात स्मरणीय अध्यात्मरसिक परम लोकोपकारी सन्त-प्रवर श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के विचारो के सफल चरितार्थकर्ता और उन्नायक प पन्नालाल जी ने समाज, शिक्षा जगत्, साहित्य और राष्ट्र देवता की अनुपम सेवा की है। सन् 1931 मे सागर (म प्र) के श्री गणेश दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय मे उनके जिस अध्यापक रूप का पदार्पण हुआ वह बहुआयामी होकर 1983 ई० तक उन्हें वहा सन्नद्ध रखकर 'प्राचार्य' पद से सेवा-निवृत्त करा सका। 52 वर्ष के इस सुदीर्घ कार्यकाल मे सहस्त्रो प्रतिभावान् विद्वान्, पण्डित, लेखक, कवि,

---

1— इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रमुख सम्पादक सर्वश्री पं बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्र कुमार, डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रो ए एन. उपाध्ये तथा डॉ. वेनीप्रसाद प्रभृति विद्वान् थे तथा प्रकाशक-प्रेमी अभिनन्दन समिति टीकमगढ।

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ :

सम्पादक मण्डल

इतिहासरत्न
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

न्यायाचार्य
डॉ. दरबारीलाल कोठिया

डॉ. भागचन्द्र जैन, भागेन्दु', दमोह
—संयोजक-सम्पादक—

महा-महोपाध्याय
डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

कमलकुमार जैन,
एम. ए. शास्त्री, छतरपुर

सम्पादक मण्डल
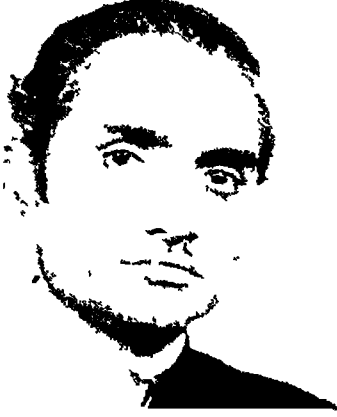
प्राचार्य
पं० नरेन्द्रप्रकाश जैन, फिरोजाबाद

इतिहासरत्न
डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

संस्थापक – महामंत्री
(स्व०) सिंघई हुकुमचन्द्र जी सांधेलीय, पाटन

प्रोफेसर, इन्जीनियर और प्रशासनिक अधिकारी पूज्य प० जी के दिव्य आचार्यत्व की निष्पत्ति है। पुनरपि उनका सर्जक प्राध्यापक व्रतियो-ब्रह्मचारियो-साधुओ को प्रत्यक्षत: ज्ञान प्रदान किये बिना आप्यायित नही हो सका और सन् 1985 से अद्यपर्यन्त अपनी 78 वर्ष की वृद्धावस्था मे भी अहर्निश श्री वर्णी जैन गुरुकुल मढिया, जबलपुर मे 'निर्देशक' के रूप मे ब्रह्मचारियो को सुशिक्षित कर रहे है।

यद्यपि भारत शासन और समाज ने प० जी के कृतित्व को अनेकश सम्मानित[1] भी किया है तथापि उनके महनीय एव प्रेरणास्पद व्यक्तित्व के अनुरूप अखिल भारतीय अभिनन्दन की आयोजना शेष थी। अत सिद्ध क्षेत्र अहार जी (टीकमगढ) म प्र के वार्षिक मेला महोत्सव 1983 मे उपस्थित विशाल समूह ने माननीय प० जी का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मान समारोह आयोजित कर अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने का सकल्प लिया।

एतदनुसार एक 'अभिनन्दन समारोह समिति' गठित हुई और उसने अभिनन्दन समारोह तथा समर्प्यमाण अभिनन्दन ग्रन्थ की सप्त-खण्डी रूपरेखा तैयार की। इसके अनुरूप ही देश के कोने कोने से बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई। अपनी पृष्ठसीमा और अर्थसीमा के कारण हार्दिक इच्छा होते हुये भी हम इस ग्रन्थ को छह खण्डो तक ही सीमित रख रहे है। सप्तम खण्ड हेतु प्राप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री का इसमे उपयोग नही कर पा सकने हेतु माननीय विद्वान् लेखको से विनम्र क्षमाप्रार्थी हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ की रूपरेखा और प्रकाशन क्रम स्थिर करते समय प्राच्य विद्या-विशारदो के सम्मान की वह विशिष्ट परम्परा निरन्तर ध्यान मे रही है जिसके अनुसार डा० आर० जी० भाँडारकर एव डा० एम० विण्टरनित्ज आदि का सम्मान उनके जीवन की आधारभूत प्रवृत्तियो और महत्त्वपूर्ण शोधपरक कृतियो को ही एक साथ प्रकाशित कर समर्पित करके किया गया था। यह परम्परा वस्तुत प्रशस्य, अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है। अत इस ग्रन्थ मे भी माननीय प० जी के जीवन, सस्मरण एव शुभ कामनाओ के अतिरिक्त उनके कृतित्व को भी समीक्षा के निकष पर परखा गया है। साथ ही उनके द्वारा विविध विपयो पर अभिलिखित महत्वपूर्ण निवन्धो, आलेखो और काव्य-रचनाओ को समाविष्ट किया गया है। ऐसा करते समय सम्पादक मण्डल का यह प्रयत्न रहा है कि—माननीय प० जी के विचारो से समाज, सामान्य पाठक और शोधार्थी लाभान्वित हो सके तथा उनके व्यक्तित्व का एक साथ निदर्शन हो सके।

एतदनुसार छह खण्डो मे अन्तर्विभाजित इस अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रथम खण्ड मे– साहित्याचार्य डॉ (प) पन्नालालजी के प्रति साधु-सन्तो के शुभाशीष, मनीपियो की शुभकामनाए एव सस्मरण, शिष्यो और समाजनेताओ-श्रेष्ठियो के प्रणाम सन्निविष्ट हैं। शृखलाबद्ध इन उद्‌गारो मे प जी के व्यक्तित्व और वैदुष्य का मूल्याकन सहज ही हो उठा है। इस खण्ड मे सयोजित सामग्री में प जी को सन्मार्ग दर्शक, सम्यक् रत्नत्रयाराधक, त्याग और साधना की अनुपम गाथा, जिनवाणी के क्रियात्मक उपासक, वर्णीजी की विशिष्ट देन, प्रकाण्ड मनीपी, निर्मोही शास्त्रज्ञ विद्वान्, धर्म-समाज-सस्कृति सरक्षक, राष्ट्रीय विभूति प्रभृति वहुविध विशेषणो से सम्बोधित किया गया है, जो उनके विराट् व्यक्तित्व के परिचायक है।

---

1. सम्मान को शृंखला की विस्तृत जानकारी हेतु देखिए—इसी अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वितीयखड मे प्रकाशित "अभिनन्दनीय का अभिनन्दन" शीर्षक आलेख, पृ० २/४६–४८

अभिनन्दन ग्रन्थ के **द्वितीय खण्ड में**– साहित्याचार्य जी का जीवन-दर्शन, व्यक्तित्व एव कृतित्व रूपायित है। इस खण्ड मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण लेख स्वय प. जी की लेखनी से प्रसूत **'आत्मकथ्य'** और विविध प्रसगो/विषयो पर उनसे ली गई **'भेंट वार्ताएं'** है। यह तथ्य सुविदित है कि श्रद्धेय साहित्याचार्यजी को 'पन्ना सा चमकाने मे' पूज्य वर्णीजी महाराज का योगदान अभूतपूर्व है। दोनो मे अत्यधिक सामीप्य भी रहा है। विविध प्रसगो पर पूज्य वर्णीजी ने साहित्याचार्य जी को पत्र भी लिखे हैं। उनमे से कुछ महत्त्वपूर्ण पत्र इसी खण्ड मे समाविष्ट किये हैं।

प. साहित्याचार्य जी की विद्वत्ता, क्रियाशीलता, रचनाधर्मिता, प्रवचनपटुता, त्याग-सयम प्रभृति सद्-वृत्तियो से प्रभावित होकर समाज, सस्थाओ और शासन ने विविध प्रसगो पर उनका अभिनन्दन भी किया है। इस खण्ड मे सन्निविष्ट **'अभिनन्दनीय का अभिनन्दन'**– शीर्षक आलेख प जी के अब तक के सम्मानो/अभिनन्दनो की झलक प्रस्तुत करता है।

'वे सबकी नजरों में'– शीर्षक उपखण्ड मे राष्ट्र के मूर्धन्य विद्वानो, साहित्यकारो, श्रीमन्तो, सस्थाओ एव समाजनेताओ की लेखनी के द्वारा प जी के यशस्वी व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है।

'वे कवियों के नयनों में'– शीर्षक उपखण्ड मे ३२ कवियो ने सस्कृत तथा हिन्दी भाषा मे प जी के गरिमामय व्यक्तित्व पर अपनी काव्य रचनाओ को उपनिबद्ध कर श्रद्धा-सुमन समर्पित किये हैं। इनमे 'पन्नालाल-बुधोत्तमो विजयताम्', 'अमर रयें वे पन्नालाल', 'विद्वानो के शीश मुकुट मे वो पन्ना सा जडा हुआ है', 'अम्बर सहित दिगम्बर है' प्रभृति काव्य-प्रसून सातिशय चेतोहारि हैं।

द्वितीय खण्ड मे ही—**'कृतित्व समीक्षा'** शीर्षक उपखण्ड मे- डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य की समग्र साहित्य साधना पर विश्लेषणात्मक चिन्तन की प्रस्तुति के साथ ही साथ उनके बहुचर्चित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो पर तत् तत् विषयो के मर्मज्ञ अधिकारी विद्वानो के द्वारा अभिलिखित समीक्षाएँ सन्निविष्ट है। इसके अन्त मे प० जी के उस साहित्य का परिचय भी समाविष्ट है जो विविध पुरस्कारो से **पुरस्कृत** है।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ के **तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम** एव **षष्ठ खण्ड** श्रद्धेय साहित्याचार्य जी के कृतित्व/साहित्याराधना के पूर्णत निदर्शक है।

प० साहित्याचार्य जी की साहित्य यात्रा अब से लगभग पेंसठ वर्ष पूर्व जो आरम्भ हुई तो वह अविरल और अविराम गति से उत्तरोत्तर उत्कर्षवती होकर आज भी अक्लान्त है। उसने साहित्य, समाज, सस्कृति, दर्शन, धर्म, काव्यशास्त्र व्याकरण और राष्ट्र के विविध पक्षो को अपनी लेखनी से अनुप्राणित किया है। उसका प्रमाण है उनके द्वारा लिखित/सम्पादित/अनूदित शताधिक ग्रन्थरत्न।

वस्तुत इतनी लम्बी साहित्य यात्रा मे प० जी के बहुत से महत्त्वपूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए, बहुत से विविध सेमीनारो/सगोष्ठियो/सम्मेलनो/परिषदो/समारोहो मे पढे गये और बहुत से ग्रन्थो की प्रस्तावनाओ मे सुरक्षित हुए। सम्पादक मण्डल ने अनुभव किया कि—ऐसे सभी निबन्धो/ आलेखो का सग्रह जहा एक ओर आवश्यक है वही दूसरी ओर उनका सकलन भी बृहत् स्तरीय खोज का विषय है अनवरत प्रयत्नो के उपरात भी सूचीकरण और सामग्री सकलन का श्रमसाध्य कार्य पर्याप्त समय ले गया। तदुपरात सम्पादक मण्डल ने निर्णय किया कि—श्रद्धेय डॉ० साहित्याचार्य जी की साहित्य साधना-यात्रा सुदूर अतीत मे आरम्भ हुई और उनके लेखो/निबन्धो/काव्य

कृतियो और ग्रन्थो की सूची भी बहुत लम्बी है तथा अभिनन्दन समिति के साधन एव समय की सीमा है। अतः पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् इस अभिनन्दन ग्रन्थ मे पूज्य प० जी के ऐसे ही निबन्धो/आलेखो और संस्कृत कविताओ/काव्यो को सम्मिलित किया है जो उनके लेखन, जीवन दर्शन और वैदुष्य का सर्वतो भावेन प्रतिनिधित्व करते है, जिनकी उपादेयता आगे आने वाले समय मे भी उतनी ही है / रहेगी जितनी आज है अथवा जब उनका सृजन हुआ था। इस दृष्टि से श्रद्धेय साहित्याचार्य जी के ५६ प्रतिनिधि निबन्धो/ आलेखो तथा १४ सस्कृत कविताओ का महत्त्वपूर्ण और वैदुष्यपूर्ण संग्रह इस अभिनन्दन ग्रन्थ के तृतीय,चतुर्थ, पचम एव पष्ठ खण्डो को गौरवमण्डित कर रहा है। सम्पादक मण्डल यह अनुभव करता है कि—इस सम्पूर्ण साहित्य-वाटिका मे डॉ० साहित्याचार्यजी का गहन-गम्भीर अध्ययन, विषय उपस्थापन-पल्लवन और प्रतिपादन की अद्भुत क्षमता, अन्वेपणात्मक सुतीक्ष्ण दृष्टि एक आचार्य के व्यक्तित्व का गौरव, रोचक शैली, प्राञ्जल भाषा और कोमल-कान्त-पदावली तो निदर्शित है ही, 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' का लक्ष्य भी चरितार्थ हुआ है।

इस प्रकार प्रस्तुत-**'साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ दीपिका'**—श्रद्धेय पण्डित साहित्याचार्य जी के जीवन दर्शन, परिवार, व्यक्तित्व एव कृतित्व पर आधारित एक ऐसा ग्रन्थ है जो अभिनन्दन-ग्रन्थो की परम्परा मे अभिनव प्रयास है। इसके माध्यम से श्रद्धेय साहित्याचार्य जी के सर्वांगीण जीवन, व्यक्तित्व कृतित्व तथा अवदान का सर्वतो भावेन निदर्शन सुकर है। सम्पादक मण्डल तथा अभिनन्दन समारोह समिति अपनी इप्टापत्ति मे कितनी सफल रही, यह निर्णय विज्ञ पाठको पर छोडते है।

☐ इस ग्रन्थ के आरम्भ के दो खण्डो की सामग्री सम्पादन के सन्दर्भ से यह टीप सामयिक होगी कि-ग्रन्थ के इस अश का मुद्रण आधे से अधिक हो जाने के उपरात भी हमारे पास प्रकाशनार्थ सामग्री आती रही है। अत कुछ स्थानो पर प्रस्तुति- वरीयताक्रम सुरक्षित रखना समव नही था। ग्रन्थ के कलेवर को सीमित रखने की विवशता के कारण भी कुछ लेखो को स्थान नही मिल सका है। अत हम उदारमना उन सभी विद्वान् लेखको से क्षमा याचना करते हैं जिनके विचारो/लेखो का ग्रन्थ मे उपयोग नही हो सका है।

आभार :

इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादन कार्य मे अनेक परम पूज्य साधु—सन्तो, शिक्षा शास्त्रियो, समीक्षको, विद्वानो और लेखक महानुभावो का बहुविध हार्दिक सहयोग एव मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। ऐसे सभी परमपूज्य साधु-सन्तो के प्रति सादर त्रि नमोऽस्तु, तथा शिक्षाशास्त्रियो, ग्रन्थो के समीक्षको, विद्वान् लेखको और परामर्शदातृ समिति के सदस्यो के प्रति सम्पादक मण्डल कृतज्ञता निवेदित करता है। अपने व्यस्त जीवन-क्षणो मे से कुछ समय निकालकर ग्रन्थ मे प्रकाशनार्थ शुभाशीष, मंगलकामनाएँ, तथा अन्य सन्देश भेजकर जिन महानुभावो ने योजना को मूर्त रूप प्रदान किया है उन सभी के हम आभारी हैं।

ग्रन्थ हेतु-सामग्री संकलन मे प जी के पचम सुपुत्र भाई श्री राकेश जैन एम. टेक. तथा छाया चित्र सुलभ कराने मे प. जी के भतीजे श्री रमेश जैन ने उल्लेखनीय सहयोग किया है। एतदर्थ सम्पादक मण्डल इन दोनो महानुभावो के प्रति साधुवाद प्रकट कर उनके उज्जवल भविष्य हेतु मंगल कामनाएं अर्पित करता है।

ग्रन्थ की **सामग्री सम्पादन में** श्रद्धेय डॉ. (पं.) दरबारीलाल जी कोठिया, डॉ. हरीन्द्र भूषण जी एव भाई (प.) कमल कुमार जी जैन छतरपुर ने महत्त्वपूर्ण दायित्वो का निर्वहन किया है। अतः अभिनन्दन समारोह समिति और विशेषरूप से मैं इन मान्य मनीषियो का हार्दिक कृतज्ञ हूँ। ग्रन्थ की मुद्रण

व्यवस्था नियत्रण मे हमे श्रीमान् प लक्ष्मण प्रसाद जी 'प्रशान्त' एवं श्री सुनील कुमार जैन का अच्छा सहयोग मिला है। अत समिति दोनो के प्रति अनेकश धन्यवाद प्रकट करती है। आदरणीय ब्र राकेश जी एव ब्र जिनेशजी द्वारा प्रदत्त विविध प्रकारीय सहयाग के प्रति हम उनके हार्दिक आभारी है।

अभिनन्दन समारोह एव ग्रन्थ प्रकाशन समिति के माननीय सरक्षक मण्डल, अध्यक्ष श्री महेन्द्रकुमार मलैया, महामत्री श्री सि सतोपकुमार जी (बैटरी वाले) तथा अन्य सभी पदाधिकारियो एव सदस्यो, परामर्श दातृ मण्डल और सम्पादक मण्डल के हम सविशेष आभारी है जिनके निरन्तर सहयोग, प्रेरणा और मार्ग दर्शन से यह दुष्कर कार्य पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

श्रद्धा पूर्वक स्मरण : इस अभिनन्दन ग्रन्थ योजना के प्रमुख सूत्रधार समारोह समिति के सस्थापक महामन्त्री, श्री सिंघई हुकमचन्द्र जी साधेलीय (पाटन) का दिनाक १४-११-८६ को अकस्मात् स्वर्गवास हो जाने से सम्पूर्ण योजना को गहरा आघात पहुँचा। सम्पूर्ण समाज उनकी क्रियाशीलता और सूझबूझ से सुपरिचित है। अभिनन्दन समारोह समिति और सम्पादक मण्डल उनकी गौरवपूर्ण सेवाओ और योगदान को श्रद्धापूर्वक स्मरण कर अपनी भावपूर्ण आदराञ्जलि अर्पित करता है।

अर्थ व्यवस्था सहयोग :

इस अभिनन्दन ग्रन्थ जैसे महान अनुष्ठान की सिद्धि के लिये हमे देश के कोने–कोने से उदारमना समाज-बन्धुओ, सस्थाओ और मान्य प. जी की शिष्य परम्परा से भरपूर आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। ऐसे सभी अर्थ दाताओ की सूची इस ग्रन्थ के अन्त मे– परिशिष्ट 'दो'– मे प्रकाशित की गई है। जिन सस्थाओ और महानुभावो ने इस कार्य मे आर्थिक सहयोग किया है उन सभी के प्रति यह समिति कृतज्ञता प्रकट करती है। अर्थ सचय का कार्य सम्पन्न कराने मे सर्वश्री सिंघई जीवेन्द्रकुमार जी सागर, (स्व) सि हुकमचन्द्र जा साधेलीय पाटन, सि सतोषकुमार जी (बैटरी वाले) सागर, श्री नीरज जी सतना, श्री माखनलाल जी वन्दी सागर, श्री गुलाबचन्द्र जी सर्राफ (पटना वाले) सागर, प. नेमिचन्द्र जी प्राचार्य खुरई, श्री गुलाबचन्द्र जी दर्शनाचार्य जबलपुर, श्री जय कुमार इटोरया दमोह, सिंघई कोमलचन्द्र राघेलीय सागर, सि. मुन्नालाल जी 'वीर' सागर, शाह हरप्रसाद जी 'बन्धु' जबलपुर, प पूर्णचन्दजी 'सुमन' दुर्ग, श्री वीरेन्द्रकुमार इटोरया दमोह, प पूर्णचन्द्रजी शास्त्री सागर, डॉ. महेश जैन सागर, श्री भूरमल जी एव सुरेशचन्द्र जी (जैन प्रतिष्ठान) जबलपुर, डॉ हीराचन्द्र जी कटनी तथा श्री सुरेशचन्द्र जी दुर्ग, श्री अभिनन्दन साधेलीय पाटन प्रभृति महानुभावो ने सक्रिय सहयोग किया है। अत सभी के प्रति हार्दिक धन्यवाद।

ग्रन्थ मुद्रण :

इस अभिनन्दन ग्रन्थ का मुद्रण मध्यप्रदेश के लब्धप्रतिष्ठ मुद्रक **स. सिंघई प्रिंटिंग प्रेस जबलपुर** ने अत्यन्त रुचिपूर्वक किया है। अत: यह समिति प्रेस के सचालक सिंघई वीरेन्द्र कुमार जी तथा उनके अधीनस्थ कर्मचारियो को हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

अन्त में अनुरोध :

इस अभिनन्दन ग्रन्थ के सयोजक–सम्पादक का गुरुतर दायित्व हमारे जैसे साधनहीन व्यक्ति को सौपकर अधिकाश समिति तटस्थ हो गई। इससे साधन जुटाने, मुद्रण व्यवस्था सम्हालने, कार्यालयीन प्रवन्ध और सामग्री व्यवस्थापन–सम्पादन मे ज्यादातर अकेले ही जूझना पडा है। इससे कार्य सम्पादन मे अनपेक्षित विलम्ब भी हुआ है। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।

अपनी साधन सीमाओं और ग्रन्थ की त्रुटियो से हम भली-भाति परिचित है। हम जानते हैं कि यह ग्रन्थ श्रद्धेय साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी जैन जैसे साधुमना विद्वान् के विराट् व्यक्तित्व के अनुरूप नही बन सका है। हमारे मन मे सकोच है कि इच्छा रहते हुए भी हम इस ग्रन्थ को सर्वाङ्गपूर्ण नही बना सके, पुनरपि हमे पूर्ण विश्वास है कि "मूल्य पुजापे का न पुजारी के भावो का आकें"- नीति के अनुसार उदारमना गुरुवर्य्य श्रद्धेय डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य इस नगण्य भेंट को स्वीकार कर सम्पूर्ण समिति एवं सम्पादकमण्डल को अनुगृहीत करेंगे।

विदुषां वशंवद:
डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
संयोजक-सम्पादक
कृते-सम्पादक मण्डल

28, सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी
दमोह

□

अभिनन्दन समारोह समिति के पदाधिकारी :

संरक्षक :

श्री १०५ क्षु० सन्मतिसागर जी महाराज
स्वस्ति श्री पडिताचार्य भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडविद्री
स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी, श्रवणवेलगोला
स्वस्ति श्री भट्टारक लक्ष्मीसेन जी, कोल्हापुर
समाजरत्न साहु श्रेयासप्रसाद जी जैन, वम्बई
श्री निर्मलकुमार जी सेठी, लखनऊ
सहितासूरि प० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर
श्रीमती शरयू दफ्तरी, ववई
डॉ० जीवनलाल जैन, सागर

अध्यक्ष :

श्री महेन्द्रकुमार मलैया, सागर

उपाध्यक्ष :

श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल, इन्दौर
श्री राजेन्द्रकुमार जी कम्मो जी, देहली
श्रीमत सेठ डालचन्द जी जैन, सागर
श्री विजयकुमार जी मलैया, दमोह
श्री मगनलाल जी गोयल, पूर्व विधायक, टीकमगढ
श्री कपूरचन्द जी घुवारा, पूर्व विधायक
श्री ज्ञानचन्द जी चौधरी, छतरपुर
श्री सिंघई देवकुमार जी राघेलीय, कटनी
प० वालचन्द्र जी काव्यतीर्थ, राजिम
चौधरी धन्यकुमार जी मुरारवाले, सागर
सेठ शिखरचन्द्र जी जैन, इटारसी
सिं० जीवनकुमार जैन, सागर

कोषाध्यक्ष :

श्री जयकुमार इटोरया, दमोह

महामंत्री :

सिंघई सन्तोषकुमार जैन (वैटरीवाले), सागर

परामर्शदाता मंडल :

श्री प० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्तशास्त्री, कटनी
श्री प० वशीधर जी व्याकरणाचार्य, वीना
श्री प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, इन्दौर
प्रो० कृष्णदत्त जी वाजपेयी, सागर
डॉ० रामजी उपाध्याय, वाराणसी
ब्र० प० माणिकचन्द्र जी चवरे, कारजा
प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ, जयपुर
श्री वाबूलाल जी पाटोदी, इन्दौर
प० वालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, हैदरावाद
डॉ० नरेन्द्र भानावत जयपुर
प्रो० चन्द्रभानुवर द्विवेदी, दमोह

मन्त्री :

श्री नोरज जी जैन, सतना
श्री वीरेन्द्रकुमार इटोरया, दमोह
श्री शीलचन्द जैन, पठा (टीकमगढ)
श्री सिंघई मुन्नालाल जैन 'वीर' सागर
प० नेमिचन्द्र जैन प्राचार्य, खुरई
श्री सुरेशचन्द्र जैन, एडवोकेट, सागर
श्री माखनलाल वदी, सागर

सहमन्त्री :

प० दयाचन्द्र जैन साहित्याचार्य, सागर
सि० कोमलचन्द्र राघेलीय, सागर
प० कमलकुमार जैन शास्त्री, टीकमगढ
श्री वाबूलाल पलदी, दमोह
श्री हुकमचन्द 'मधु', घुवारा
प० पूर्णचन्द्र जी 'सुमन', दुर्ग
डॉ० वाबूलाल अनुज, वण्डा
प्रो० विनयकुमार जैन, दमोह।

● सदस्यो की सूची इस ग्रन्थ के परिशिष्ट 'दो' मे मुद्रित है।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति :

संरक्षक मण्डल

विद्यावारिधि, विद्याभूषण

क्षुल्लक सन्मतिसागर जी 'ज्ञानानन्द' महाराज

स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी जी, मूडबिद्री

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति :

संरक्षक मण्डल :

कर्मयोगी
भट्टारक चारुकीर्ति जी, श्रवणवेलगोला

भट्टारक-रत्न
श्री लक्ष्मीसेन जी, कोल्हापुर

पद्मभूषण
साहु श्रेयांसप्रसाद जी, बम्बई

डॉ० जीवनलाल जी, सागर

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति :

पदाधिकारी :

— अध्यक्ष —

श्री महेन्द्रकुमार मलैया, सागर

卐

— उपाध्यक्ष —
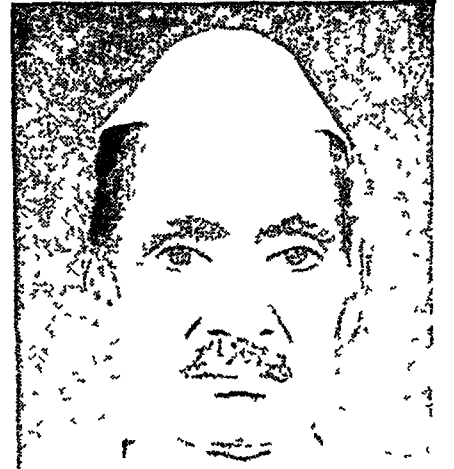
श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल, इंदौर

पं० बालचन्द्र जी, राजिम

सिंघई जीवेन्द्रकुमार जी, सागर

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति :

पदाधिकारी :

— उपाध्यक्ष —

श्री विजयकुमार मलैया, दमोह

सिंघई देवकुमार रांधेलीय, कटनी

श्रीमंत सेठ डालचन्द्र जी जैन,
सागर
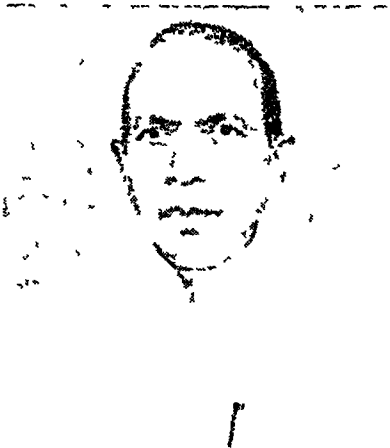
श्री मगनलाल गोइल (पूर्व विधायक),
टीकमगढ़.

चौ० धन्यकुमार (मुरार वाले),
सागर
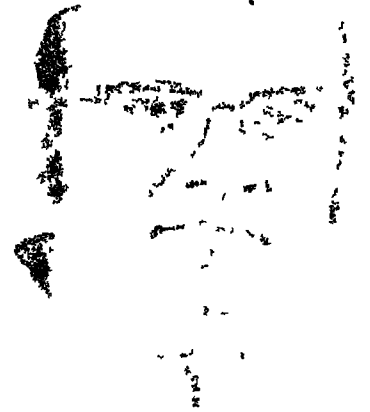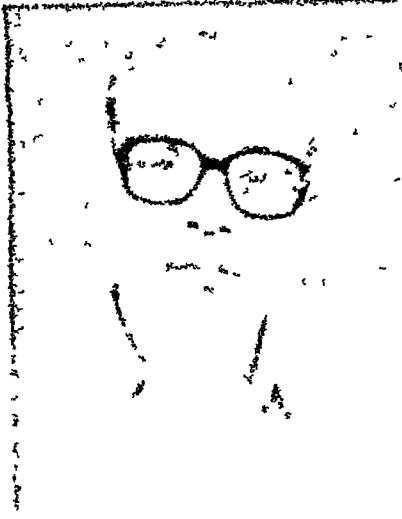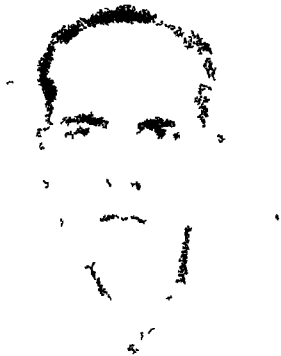
साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति

पदाधिकारीगण
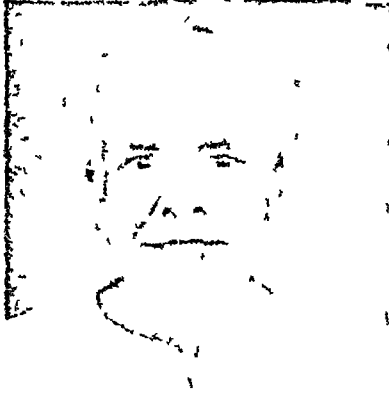
सहमंत्री

पं० कमलकुमारजी शास्त्री, टीकमगढ़
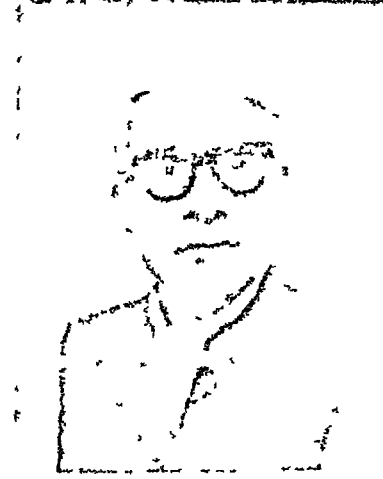
प्राचार्य
प० दयाचन्द्र जी साहित्याचार्य, सागर

स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी
(स्व०) श्री बाबूलाल जी पलदी

पं० पूर्णचन्द्रजी 'सुमन', दुर्ग

प्रो० विनयकुमार जैन, दमोह

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति :

परामर्शदातृ मण्डल
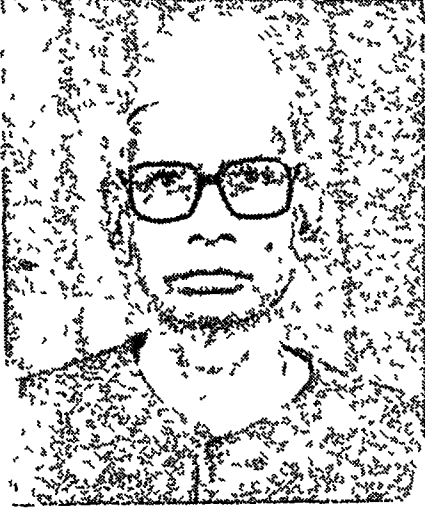
सिद्धान्ताचार्य
पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, बीना

प्राचार्य
प्रो० चन्द्रभानुधर जी द्विवेदी, दमोह
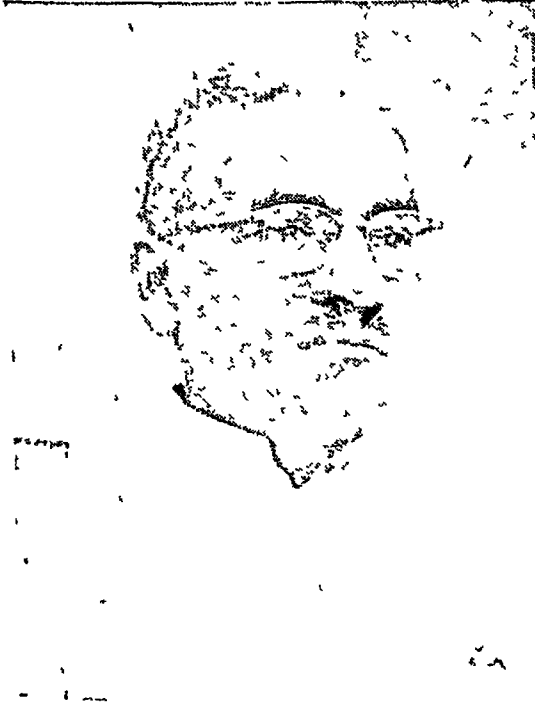
प्रो० कृष्णदत्त जी बाजपेयी, सागर
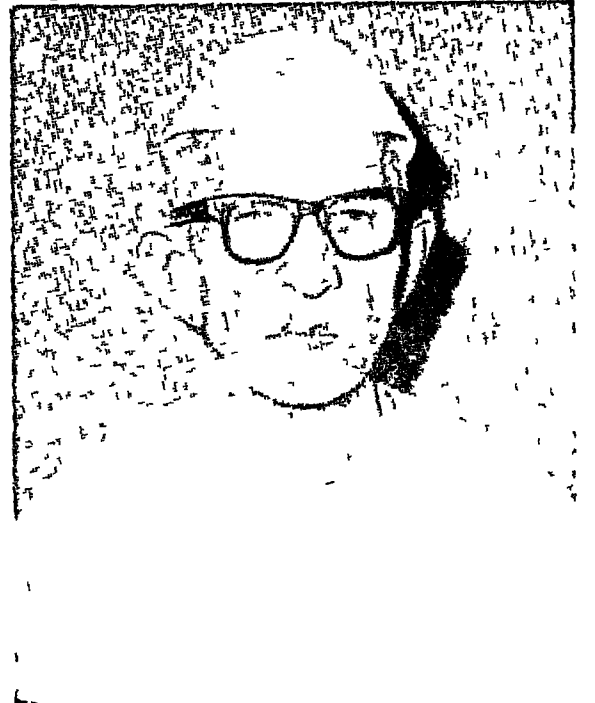
पं० वालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री

अभिनन्दन ग्रन्थ की सामग्री संचयन में सहयोगी

श्री राकेश जैन, एम. टेक.

श्री सुनीलकुमार जैन.

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ :

प्रथम खण्ड

(i) उनके नाम पूज्यों के आशीष

(ii) उनके नाम : हमारी शुभकामनाएँ, हमारे प्रणाम

द्वितीय-खण्ड

उनका व्यक्तित्व : कृतित्व

(i) उनका जीवन : उन्हीं के शब्दों में

व्यक्तित्व

(ii) वे सबकी नजरों में

व्यक्तित्व

(iii) वे कवियों के नयनों में :

(IV) कृतित्व समीक्षा :

उनका सृजन/लेखन/चिन्तन-मनन :

[खण्ड तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ में डॉ. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा विविध विषयों पर प्रणीत आलेख एवं कविताएं समाविष्ट हैं।]

तृतीय-खण्ड

पुराण एवं साहित्य :

आलेख—डॉ. (प.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

चतुर्थ-खण्ड

सिद्धान्त :

आलेख—डॉ [पं.] पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

पञ्चम-खण्ड

दर्शन एवं संस्कृति :

आलेख—डॉ (प) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

षष्ठ-खण्ड

संस्कृत काव्यालोक :

रचयिता—डॉ (पं.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

चित्रावलि :

(८) **संरक्षक मण्डल :**

(१) विद्यावारिधि, विद्याभूषण क्षु० सन्मतिसागर जी 'ज्ञानानन्द' महाराज
(२) स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी महाराज, मूडविद्री (vi)

संरक्षक मण्डल :

(३) कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति जो, श्रवणवेलगोला
(४) भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन जी, कोल्हापुर
(५) पद्मभूषण साहू श्रेयासप्रसाद जी, बम्बई
(६) डॉ० जीवनलाल जी, सागर (vii)

(९) **पदाधिकारी :**

अध्यक्ष —श्री महेन्द्रकुमार मलैया
उपाध्यक्ष—श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल,
पं० बालचन्द्र जी, राजिम,
सिंघई जीवेन्द्रकुमार जी, सागर (viii)

(१०) **पदाधिकारी :**

उपाध्यक्ष : श्री विजयकुमार मलैया, दमोह
सिंघई देवकुमार राधेलीय, कटनी
श्रीमत सेठ डालचन्द्र जी, सागर
श्री मगनलाल गोइल, टीकमगढ
चौ० धन्यकुमार जी (मुरारवाले), सागर (ix)

(११) **पदाधिकारी :**

महामंत्री : सिंघई संतोषकुमार जैन (बैटरी वाले), सागर
मंत्री : श्री माखनलाल बन्दी, सागर
मंत्री : श्री वीरेन्द्रकुमार इटोरया, दमोह (x)

(१२) **पदाधिकारी :**

कोषाध्यक्ष : श्री जयकुमार इटोरया, दमोह
मंत्री : प्राचार्य नेमीचन्द्र जी खुरई
मंत्री : श्री शीलचन्द जी, पठा
मंत्री : सिंघई मुन्नालाल जी 'वीर', सागर (xi)

(१३) **पदाधिकारी :**

सहमंत्री : प० कमलकुमार शास्त्री, टीकमगढ
प्राचार्य प० दयाचन्द्र जी साहित्याचार्य, सागर
श्री बाबूलाल पलदी, दमोह
पं. पूर्णचन्द्र जी 'सुमन', दुर्ग
प्रो. विनयकुमार जी, दमोह (xii)

डॉ० पन्नालाल जी का जीवन : चित्रमय प्रस्तुति

(२३) (१) प. दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री की सेवा-निवृत्ति पर उनकी बिदाई समारोह-सभा मे अपने उद्गार व्यक्त करते हुए पं. जी

(२) इन्दौर मे प. जी का सम्मान करते हुए श्री मिश्रीलाल जी गगवाल (xxii)

(२४) (१) प. जी का अभिनन्दन करते श्री सागरचन्द्र दिवाकर

(२) पं. जी का अभिनन्दन करते हुए श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी (xxiii)

(२५) (१) पं० जी का बम्बई मे अभिनन्दन करते हुए साहू श्रेयांसप्रसाद जी एवं श्री चांदमल जी मेहता

(२) पं० जी को प्रशास्ति व सम्मान-निधि भेंट करते हुए विद्वत्परिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० कोठिया जी

(३) अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद के अध्यक्ष निर्वाचित होने के उपरान्त अध्यक्षीय उद्बोधन देते हुए प० जी (xxiv)

(२६) (१) राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्ति पर म० प्र० शासन की ओर से प० जी का अभिनन्दन करते हुए तत्कालीन मुख्यमत्री माननीय पं० श्यामाचरण शुक्ल

(२) प० जी को 'विद्यावारिधि' उपाधि एवं प्रशास्ति प्रदान करते हुए मुनि श्री आर्यनन्दी जी महाराज

(३) सम्यग्ज्ञान प्रशिक्षण शिविर दिल्ली के कुलपति के रूप मे अभिनन्दित होते हुए पं० जी (xxv)

(२७) (१) विद्वत्परिषद् के खजुराहो अधिवेशन मे भट्टारकजी मूडबिद्री एवं पं० कैलासचन्द्र जी के साथ पं० जी

(२) विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष निर्वाचित होने पर खजुराहो मे 'अध्यक्षीय बैज' से पं० जी को सम्मानित करते हुए निवर्तमान अध्यक्ष पं० नाथूलाल जी शास्त्री (xxvi)

(२८) आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य मे श्री षट्खण्डागम धवल ग्रन्थो की वाचना करते हुए पं. जी (xxvii)

(२९) (१) 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के प्रणेता क्षु. जिनेन्द्र वर्णी जी का अभिवादन करते हुए प. जी

(२) डॉ. हीरालाल जी जैन की अध्यक्षता मे इन्दौर मे सम्मानित डॉ. पन्नालाल जी (xxviii)

(३०) (१) डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य की कृति 'भारतीय सस्कृति के विकास मे जैन वाङ्मय का अवदान, विमोचनार्थ आ विद्यासागर जी के समक्ष प्रस्तुत करते हुए पं. जी

(२) विद्वत्परिषद् द्वारा चार जिल्दो मे प्रकाशित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' ग्रन्थ श्री एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज को भेंट करते हुए प. जी (xxix)

परिशिष्ट

प्रथम खण्ड

(१) उनके नाम पूज्यों के आशीष
(२) उनके नाम : शुभकामनाएँ/प्रणाम
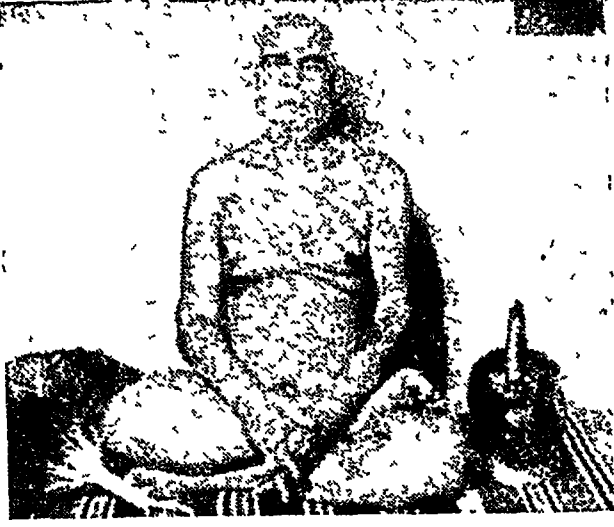
शुभाशीर्वाद

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी जैन सागर 'जिन'—शासन के अभ्यासी, वहुश्रुत, व्रती विद्वान् है। वे सद्देव-शास्त्र-गुरु की उपासना और भगवान् जिनेन्द्र देव के शासन की महती प्रभावना हेतु अहर्निश दत्तचित्त है। उन्होंने जैनाचार्यो द्वारा प्रणीत चारों अनुयोगों के ग्रन्थों को सम्पादित और अनूदित करके तथा मौलिक कृतियो का भी सृजन करके भगवती जिनवाणी की महती सेवा-आराधना की है। उनका अभिनंदन श्री जिनवाणी के सच्चे आराधक और आत्मकल्याण के पथिक का प्रशस्य अभिनदन है। वे चिरायु हों। उन्हे हमारी ओर से सद्धर्मवृद्धिपूर्वक शुभाशीर्वाद।

आचार्यरत्न श्री १०८ देशभूषण महाराज

शुभाशीर्वाद

श्री डा. पन्नालाल जी साहित्याचार्य विद्वज्जगत् के मूर्धन्य विद्वान् है। वह केवल विद्वान् ही नही अपितु मौलिक रचनाकार, टीकाकार, कवि एव लेखक भी है। उनका अभिनंदन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। सघस्थ साधुवर्ग सहित मेरा आशीर्वाद है कि जिनवाणी की सेवा के साथ वे मुक्ति—पथ के अनुगामी बने।

श्री १०८ आचार्य धर्मसागर महाराज

शुभाशीर्वाद

प. जी नें जैनागम की निष्ठापूर्वक सुरक्षा एवं प्रकाश किया है। उनका यह कार्य अत्यन्त प्रशसनीय है। जैन सस्कृत साहित्य का हिन्दी अनुवाद–टीका करके जैन समाज के लिये जो अमूल्य निधि दी है वह युगों तक वरदान रूप में स्मरणीय रहेगी।

हमारा पण्डित जी के लिये यही आशीर्वाद कि आपने जिस प्रकार आगम का सरक्षण कर अमूल्य कार्य किया है उसी प्रकार आत्म सरक्षण आत्मज्योति के प्रकाशन हेतु दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मुक्ति पथ के अग्रगामी बने।"

आचार्य श्री १०८ विमलसागर महाराज
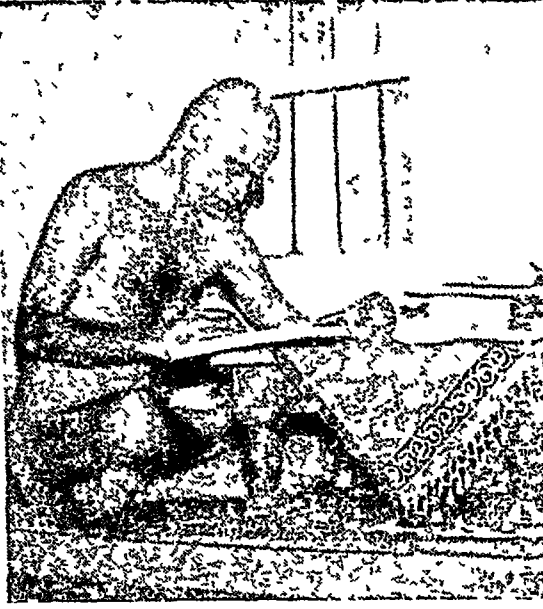
शुभाशीर्वाद

बुन्देलखण्ड चारित्रप्रधान भूभाग होने के साथ ही शोध-खोज का धनी भी है। साधुओं पर गहन आस्था रखने वाले विद्वानो में प. पन्नालाल जी का स्थान प्रमुख है। उन्होंने ग्रन्थराज षट्खण्डागम की वाचना के माध्यम से साधुओं के ज्ञान से लाभान्वित होने की भी दीर्घ कालीन योजना बनाई है, वह उनकी ज्ञान-गीता एव सूझबूझ के अनुरूप है।

अनुक्रम से सभी अनुयोगो के गभीर अध्येता प.जी सज्ज्ञान एव चारित्र के पथ पर सतत आगे बढ़ते रहे यही मेरा मगलाशीष है।

(षट् खण्डागम वाचना महोत्सव के अवसर पर प्रकट उद्‌गार के आधार पर)

श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज

शुभाशीर्वाद

'गुणिषु प्रमोद' की बात किस सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट नही करती। पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य साहित्य के प्रतीक बन गये है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र मे उनकी गति है और उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ प्रस्तावनाए उनके गहन अध्ययन-चिन्तन की प्रतीक परिचायक है। ज्ञान और सयम के समन्वय प. पन्नालाल जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों ही सराहनीय एवं आकर्षक है। उनका ज्ञानाराधना का पथ-चारित्र की विशुद्धता से निरन्तर उज्ज्वलतर होता रहे यही आन्तरिक भावना है।

श्री १०८ आचार्य विद्यानन्द जी महाराज

शुभाशीर्वाद

प० पन्नालालजी साहित्याचार्य अपनी ज्ञानाराधना से सम्पूर्ण भारतवर्ष मे बड़े आदर के साथ सम्बोधित किये जाते है । उन्होंने प्राचीन जैन आचार्यो द्वारा प्रणीत शास्त्रो की हिन्दी-सस्कृत टीका कर न केवल आर्ष साहित्य की प्रभावना की है, प्रत्युत अपनी मौलिक सस्कृत रचना से आचार्यो की प्रसृजन परम्परा को बढाने मे भी प्रशसनीय योगदान दिया है । अपनी ज्ञान गरिमा के अनुरूप सयम के मार्ग पर उत्तरोत्तर बढते रहे, यही मेरा आशीर्वाद है ।

श्री १०८ आचार्यरत्न श्री बाहुबली महाराज
कोथली

शुभाशीष

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य की सौम्यता, सरलता, निश्छलता किस को अपनी ओर आकर्षित नही करती। जिन्होंने अपने ज्ञान का सदुपयोग कर जिनवाणी को सर्वसाधारण को सुलभ बनाकर बहुत बडी प्रभावना का कार्य किया है। उनकी इस महती सेवा को जैन समाज कभी नही भूलेगा।

आप शतायु होकर धर्म साधन करते रहे यही हमारा आशीर्वाद है।

श्री १०८ मुनि समकितसागर

सन्मार्गदर्शक

साधु और विद्वान् के बीच पद गरिमा की विभिन्नता होते हुये भी मुझे यह कहने मे थोडा भी सकोच नही है कि पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य लगनशील, कर्मठ एव धर्मात्मा विद्वान् है। उनकी विद्वत्ता तलस्पर्शी है। वह अगाध ज्ञान के भाण्डार है। मुझे उन्होंने जो कुछ भी सिखाया वह मेरे जीवन का आचरणीय अग बना है। समाज को उनका सदा सही मार्ग निर्देशन मिला है-चिरकाल तक मिलता रहे, यही मेरा शुभाशीष है।

श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमति
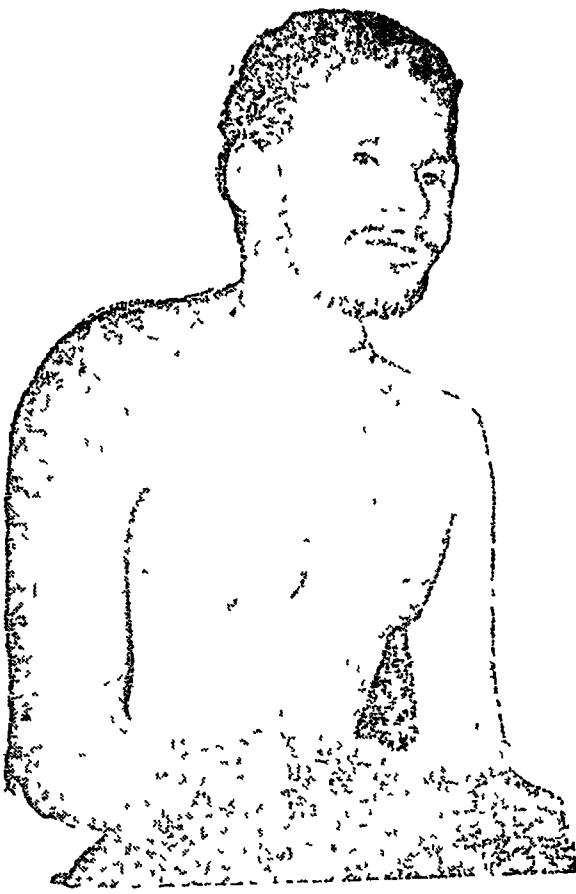
शुभकामना

इस भारत वसुन्धरा पर अगणित विद्वान् उत्पन्न हुये जिन्होने यथाशक्ति द्वादशाग वाणी की सेवा की परन्तु सैकडों सस्कृत-प्राकृत भाषा के ग्रथो का हिन्दी अनुवाद करके जो समाज के अल्पज्ञ भव्यात्माओ का उपकार डा पन्नालाल जी की लेखनी से हुआ है उस उपकार को समाज युग-युगान्तरो तक भी भूल नही पायेगा।

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज के द्वारा सस्थापित जैन सस्कृत महा विद्यालय सागर के माध्यम से आज जो सैकड़ो विद्वान् समाज के बीच हैं वे प जी की ही देन हैं।

आपका स्वभाव सरल एव हृदय कोमल है। करुणदृश्य पढाते समय आँखो से विगलित अश्रुधारा आपके करुण हृदय को सूचित करती है। साधुओ के अन्तराय एव धर्म के प्रति कोई भी घटना घटने पर आपका मन असीम व्यथा से भर जाता है।

आप मेरे विद्यागुरु है। स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के माध्यम से जो सम्यग्ज्ञान का प्रसार हो रहा है उसमे भी नीव की ईंट श्री पडित जी ही है। आपकी लगन, सहयोग एव प्रेरणा से ही युवावर्ग ने परिषद् के माध्यम से तत्त्व प्रसार मे अभिरुचि ली है। ऐसे परोपकारी, जिनवाणी के लाल श्री प पन्नालालजी की कीर्तिपताका अखिल विश्व मे फहरे और मोक्षमार्ग पर अग्रसर होकर भावीजीवन को सफल बनाए, यही मेरी शुभकामना है।

क्षुल्लक १०५ सन्मतिसागर 'ज्ञानानन्द,' सोनागिर

मंगलाशीर्वाद

धर्मप्रेमी साहित्याचार्य डा. पन्नालाल जैन मूर्धन्य विद्वान है। उनकी संस्कृत ग्रथ रचना,अध्यापन की पद्धति और त्यागीजनों के प्रति अनुराग आदि से हम बहुत प्रभावित हुये है। पण्डितजी लोकोत्तर विद्वान् है। विद्वान् सर्वत्र पूज्यते। पण्डितजी को निरामय आरोग्य, तथा दीर्घायुष्य प्राप्त हो, यही हम शुभाशीर्वाद प्रदान करते है।

इति भद्रं भूयात्

भट्टारक-रत्न श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक स्वामी जी
कोल्हापुर

आशीर्वाद

यह सुनकर बडी प्रसन्नता हुई कि श्रीमान् प. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य सागर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए अखिल भारतवर्षीय स्तर पर अभिनदन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है ।

हमे अपनी परम्परागत सास्कृतिक विशेषताओ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये माननीय विद्वानो का सम्मान करना अत्यन्त आवश्यक है । विद्वान् समाज का ही नही, राष्ट्र का भी है । आ विद्वान् प पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य के व्यक्तित्व से समाज के सभी वर्ग प्रभावित है । ऐसे मनीषियो का सम्मान समाज का गौरव है ।

हमारी भावना है कि इस अभिनदन ग्रथ के प्रकाशन से समस्त जन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करेंगे ।

'भद्रं भूयात्' इत्याशीर्वादपूर्वक

कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्तिजी
श्रवण-बेल-गोला (कर्नाटक)

शुभाशीर्वाद :

"पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य आज के विद्वानो के लिए दीपस्तभ है। उनकी साहित्यिक कृतियाँ साहित्य क्षेत्र मे "यावच्चद्र-दिवाकरौ" प्रकाशमान रहेगी । उनकी सागर के सस्कृत महाविद्यालय मे सेवाएँ और त्याग अनुकरणीय एव प्रशसनीय है । प्राचीन जैन सस्कृति की धुरी अपने कधो पर वे बड़े प्रयत्नपूर्वक पुरुषार्थ से धारण किए हुए हैं, हमारा, हमारी सस्था का ऋणानुबध उनके साथ कई दृष्टियो से है, सागर की मेधावी छात्रा ब्रम्हचारिणी विमला बहन को हमारी सस्था मे अध्ययन के लिए प्रेरणा दी थी, हमेशा सस्था के प्रति और हमारे प्रति स्नेह आदरभाव व्यक्त किया है ।

अभिनदन ग्रथ का समाचार सुनकर मैं अस्वस्थ्य अवस्था मे भी हर्ष विभोर हो गयी, बडी आत्मीय भावना से सेवा देनेवाले महान् विद्वान का अभिनदन ग्रथ निकालकर समिति के समस्त पदाधिकारी एव सपादक मडल स्वय अभिनदनीय कार्य कर रहे है ।

पडितजी के प्रति दीर्घायु,आरोग्य शुभ कामनाओं के साथ विराम लेना चाहती हूँ।

(बालब्रह्मचारिणी) पद्मश्री पंडिता सुमतिबाई शहा,
अध्यक्षा एव सचालिका पद्मश्री सुमतिबाई विद्यापीठ
श्राविका-सस्था-नगर, सोलापुर

प्रशंसनीय शांतिमूर्ति

प. पन्नालालजी साहित्याचार्य जैन समाज में अनुपम लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् है। उनका साहित्यिक विषय अच्छा मजा हुआ है,वे धर्म के मर्मज्ञ है। अनेक धार्मिक पुराण ग्रन्थो एव साहित्यिक रचनाओ का हिन्दी अनुवाद कर न केवल जैन जगत् को लाभान्वित किया है अपितु साहित्य जगत् की श्रीवृद्धि भी की है। मौलिक संस्कृत रत्नत्रयी की रचना कर जैन समाज को गौरवान्वित किया है। डा. पन्नालाल जैन अभिनदन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना प जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की ओर समाज का प्रशंसनीय कदम है।
शान्तिमूर्ति प. जी के द्वारा की गई जिनवाणी की सेवा की मै भूरि-भूरि प्रशसा करता हुआ उनके सुदीर्घ जीवन की मङ्गल कामना करता हू।

ब्र. पं. मुन्नालाल रांधेलीय वर्णी न्यायतीर्थ
सागर

श्रद्धास्पद पंडितजी

अगाध विद्वत्ता के धनी एव जैन पुराणो एव साहित्य के मर्मस्पर्शी विवेचनाकार प पन्नालाल जी का मैं ही क्या, सपूर्ण विद्वत्समूह आभारी हैं। उन्होने अपनी गतिशील लेखनी से जैन समाज को जो अध्ययन-स्वाध्याय का सुगममार्ग उपलब्ध कराया है वह सविशेष प्रशसनीय है। उनकी खोज-शोधपूर्ण टीकायें उनके ज्ञान की गहराई की सूचक है। समाज को ऐसे विद्वानों पर महान् गौरव है। मैं उनकी सतत् साधना के प्रति नम्रीभूत होता हुआ लम्बे जीवन की मंगल कामना करता हूं।

ब्र. पं. माणिकचन्द्र चँवरे
अधिष्ठाता, जैन गुरुकुल,
कारजा

दर्शन–ज्ञान, चारित्र की मूर्ति

आदरणीय पण्डितजी सरस्वती साधक है। प जी ने अपना सारा जीवन सरस्वती आराधना में लगाया है। प जी व्यक्तित्व के कुशल ज्ञानोपयोगी विद्वान् है। सन् १६८१ मे आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ के सम्पादन, प्रकाशन आदि में पं जी का मार्ग-दर्शन मिलता रहा है। आपने ग्रन्थ की प्रस्तावना भी लिखी है तथा हमारा मनोबल वढाया। आचार्य धर्मसागर अभिवन्दनग्रन्थ विमोचन के समय विहित सेमिनार के आप अध्यक्ष थे। आपका जीवन वास्तव मे साधुओ के समान है। आप व्रती जीवन व्यतीत कर दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को अंगीकार कर आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हैं। डा.सा ज्ञानाभिमान से रहित है। सदा धर्मचिन्तन मे निमग्न रहते हैं ऐसे महान्ज्ञानोपयोगी साधक श्री डा पन्नालाल जी शतायु होकर जैन समाज तथा सरस्वती की सेवा करते रहे।

ब्र. पं. धर्मचन्द्र जैन शास्त्री ज्योतिषाचार्य
आयुर्वेदाचार्य सहितासूरि
(आ धर्मसागर सघस्थ)

नाम के सर्वथा अनुरूप

पन्ना की वसुन्धरा मे 'रत्न'-प्रदायिनी क्षमता है किन्तु जो उन्हे गहरे बैठकर ईमानदारी से श्रमसाध्य बनाता है वही उन रत्नों की उपलब्धि कर सकता है।

प पन्नालाल साहित्याचार्य ने जैन वाड्मय की पावन गगा मे अवगाहन कर जिन चमकीले रत्नो की क्रांति को उजागर किया है वह उनके नाम के सर्वथा अनुरूप एव प्रशसनीय है। आपकी साहित्य साधना से बढ़ता हुआ यश दीर्घ जीवन के साथ जगत् मे प्रतिध्वनित होता रहे, यही मगल कामना है।

ब्र. जयसागर
गंज बसौदा

श्रद्धेय पं. पन्नालाल जी

प पन्नालालजी जैन समाज के एक विशिष्ट विद्वान् ही नही, प्रत्युत जैन समाज की विशिष्ट विभूति एव अनुपम धरोहर है। प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी सेवाओं से आपने समाज को लाभान्वित किया है। और विश्वास है कि भविष्य में भी आपसे इसी प्रकार यथेष्ट लाभ मिलता रहेगा। अन्त में भगवान् महावीर से यही प्रार्थना है कि आप शतायु होकर युग-युग तक जैन वाङ्मय और समाज की सेवा करते रहे।

पं. भुवनेन्द्र कुमार जैन शास्त्री

चारित्र के धनी पं. पन्नालाल जी

पं पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर,सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। प. जी ने जैन साहित्य का हिन्दी, सस्कृत भाषाओं में अनुवाद कर सर्वजनहिताय कार्य किया है। आप अनोखी प्रतिभा के धनी है। सस्कृत की पद्य रचना सरस एवं सरल है। आपकी पद्य रचना में जैसे सरस्वती स्वयमेव प्रवाहित प्रतीत होती है। आपकी साहित्य साधना सतत गतिशील रहती है। उपलब्ध पुराण साहित्य मे हिन्दी टीकाकार के रूप में प जी का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अगाध विद्वता के साथ सयमाचरण आपकी प्रमुख विशेषता है। ज्ञानाराधना के साथ संयम के पथ पर चलते हुये स्व पर कल्याण करते हुये प जी चिरायु हों यही मगल कामना है।

ब्र. दयासिन्धु
उदासीनाश्रम द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र

अभिनंदन का स्वागत

श्री डा पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर के अभिनन्दन का स्वागत करता हू । यह एक वास्तविकता है कि डा पन्नालाल जी समाज, सस्कृति और धर्म के प्रति कर्त्तव्यशील है । इस सबध में डा सा का जीवन निर्विवाद है । आपकी महती विद्वत्ता से समाज का प्रभावित होना स्वाभाविक है । 'न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति' मेरी हार्दिक कामना यही है कि डा सा शतायु हो और और समाज सस्कृति तथा धर्म की सेवा मे रत रहे ।

(सिद्धान्ताचार्य पं.) बशीधर व्याकारणाचार्य, बीना

सम्माननीय विद्वान्

मान्य प पन्नालालजी सा आ का जीवन विभिन्न दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है । वे सस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् है । उन्हे सागर विश्वविद्यालय ने डाक्टर की उपाधि से विभूषित किया है । वे भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मान-प्राप्त विद्वान् है । उन्होने जीवन्धर-चम्पू जैसे कठिन ग्रन्थो की सस्कृत टीका तो लिखी ही है साथही उन्होने जैनधर्म के कई उपयोगी विषयो को ध्यान मे रखकर सस्कृत भाषा मे पद्यमय ग्रन्थो की मौलिक रचना भी की है। उनके वहुविध कार्यो की जितनी प्रशसा की जाय वह थोड़ी है । वे शतायु हो और जैनधर्म तथा जैनसाहित्य का उन्नयन सदा करते रहे, इस मगल कामना के साथ मैं उनका अभिनन्दन करता हू ।

सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री
हस्तिनापुर

शुभकामना

पंडितजी ने समाज और जैनधर्म की जो महती सेवा की है, वह तो की ही है, शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र मेभी अभूतपूर्व योगदान दिया है। उनके मौलिक ग्रंथ जहा उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का परिचय देते है, वहा उनके द्वारा सपादित ग्रथ तथा टीकाए उनकी विद्वत्ता का बोध कराती है ।

भारतीय सस्कृति मै कृतज्ञता को विशेष महत्त्व दिया गया है । जिन्होंने यत्किंचित् सेवा भी की है, उनके प्रति भी कृतज्ञता-ज्ञापन करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है । पडितजी की सेवाए तो बहुत ही व्यापक है । उनका जितना सम्मान किया जाय, कम है ।

मैं बधुवर पन्नालालजी का हृदय से अभिनदन करता हू और उनके उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायु की कामना करता हू ।

यशपाल जैन,
मन्त्री-सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

शुभकामना

मैं जीवन के जिस रास्ते पर लगभग १५ वर्ष भूलता, भटकता, लडखडाता और गिरता पडता चलता रहा, मुझे हर्ष है कि लगभग मेरे साथ ही, मेरे आसपास की भूमि पर ही उछलते, खेलते, कूदते और अपनी साधना की मधुरवाणी से लोगो का प्रेम और आदर अर्जित करते हुए प पन्नालालजी साहित्याचार्य साफल्य के शिखरो को पार करते हुए सत्य के मदिर की सीढियो के निकट पहुच गये । मुझे हर्ष है कि आप सब स्नेही-गण उनका अभिनदन कर रहे है । मै ऐसे अभिनदन मे सत्य के उन समस्त शोधियो के अभिनदन का आनद अनुभव करता हूँ । मै प पन्नालालजी का इस अवसर पर अभिनदन कर उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ । कल्याणमस्तु !

पं. ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी,
भू. पू. ससद सदस्य एवं विधायक, सागर

अभिनन्दनम् डॉ. पन्नालाल-जैन-महाभागस्य

सागरस्य वैदुष्यरत्नस्य डॉ पन्नालालजैन महाभागस्य सान्निध्यं चिरकालमनुभूय न केवलं शान्ति-सौरभमपितु ज्ञान-विज्ञानलावण्य सागरानन्तरमपि सततमनुभवामि । स महोदय. सच्चारित्र्य-सन्दोहेन शिष्याणामाश्रवाणा मानसिकपरिमल विधत्ते । तदिद सागरनगरस्य सौभाग्यमेव प्रतिफलति यन्न केवलं भारतमपितु विश्वमखिल स स्व-तपसा कर्मणा च प्रभासयति । तस्य तपोनिष्ठ व्यक्तित्व प्रागाढ वैदुष्य सुचिन्तत-कृतित्वञ्च भूयो भूयोऽभिनन्दनीयम् । जीवेत् शरद शतम् भूयश्च शरदः शतात् ।

डॉ. रामजी उपाध्याय.

एम. ए., डी. फिल., डी. लिट्,

प्राध्यापकाध्यक्ष. (सेवा निवृत्त)

सस्कृतविभागस्य सागर विश्वविद्यालयस्य

प्रधान सम्पादक. 'सागरिका' शोध-त्रैमासिकी, वाराणसी

अद्भुत व्यक्तित्व के धनी

मैं अभिनदन जैसे अवसर पर नमन करता हूं श्रद्धा के साथ उन महाविद्वान् डा पन्नालाल साहित्याचार्य सागर के चरणो में, जो अद्भुत व्यक्तित्व और प्रतिभा के धनी है । जिन्होने एक साधक की तरह समर्पित कियाहै अपने जीवन को स्वय के विकास के लिये और मा भारती की सेवा के लिये ।

माननीय पडितजी सरल स्वभावी, सयमी और निर्मल चारित्र के धारी एक सद्गृहस्थ है । आपमे मानवता के दर्शन होते है । न आपमें अभिमान है न किसी प्रकार का दभ या अहकार । 'सादा जीवन और उच्च विचार'ही आपके जीवन का लक्ष्य है।

आप दि जैन समाज के आदर्श व्यक्तित्व के धनी महान् विद्वान् है जिन पर हमें गर्व है ।

ऐसे महान् विद्वान् के लिये मेरी शुभ कामनाए है कि वे चिरजीवी होकर इस जैन शासन की सेवा करते रहे ।

पं. सत्यन्धरकुमार सेठी

उज्जैन

भारतीय मनीषा के मूर्तरूप :

आचार्य डॉ पन्नालाल जैन भारतीय मनीषा के मूर्त रूप है। विद्या-विनय-सम्पन्न ज्ञानवृद्ध के रूप में उन्होंने इस देश की परम्परा को जागृत रखा है। जैन साहित्य,धर्म और दर्शन के वे असाधारण विद्वान् है। विद्वता के दर्प से वे किसी प्रकार आक्रांत नही हुए। अपनी अगाध ज्ञानराशि को विविध रूपों में वितरित कर उन्होंने अपना बौद्धिक जीवन सार्थक किया है।

पडितजी की समन्वयात्मक दृष्टि उनके प्रवचनों तथा प्रकाशित रचनाओं में द्योतित है। उन्होंने अपनी कृतियों में पाण्डित्य के साथ उस व्यापक दृष्टिकोण को अपनाया है जो समवाय तथा अनेकात का परिचायक है। व्याकरण, साहित्य और दर्शन के वे अधिकारी विद्वान् है। पर अपनी रचनाओं को वे दुरुह होने से बचाते है। विद्यार्थियों तथा साधारणजनों के लिए भी उनकी सरस-सरल व्याख्या दुर्बोध कृतियों को सुबोध बनाती है।

अनेक मौलिक ग्रथो तथा शोध लेखो के प्रणयन के अलावा डॉ पन्नालाल जी ने पुराण, काव्य, चंपू, चरित तथा कथा-साहित्य आदि का सपादन कर अथवा उनकी टीकाएँ लिखकर हिंदी का ज्ञान भडार समृद्ध किया है। उनकी इन बहुसंख्यक रचनाओं का लाभ उठाकर अनेक गवेषको ने उच्च उपाधियाँ अर्जित की है।

स्वनामधन्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के उपदिष्ट मार्ग का अवलबन कर पडितजी ने उदात्त भारतीय जीवन दर्शन को स्पष्ट कर दिया है।

ऐसे मेधावी विद्वान् को मेरी सम्मानाञ्जलि समर्पित है।

प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी
टैगोर प्राध्यापक तथा अध्यक्ष (सेवा निवृत्त),
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग
सागर विश्वविद्यालय सागर म. प्र.

त्याग और साधना की अनुपम गाथा

साहित्याचार्य प पन्नालाल जी जैन का सपूर्ण जीवन साधना एवं तपस्या की एक अनुपम गाथा है। जैन दर्शन एव साहित्य के क्षेत्र मे उन्होंने जितना किया, उतना आधुनिक युग में विरल है। उन्होने जैन विद्वानो की एक पूरी पार्टी का निर्माण किया है और अपनी प्राचीन परम्परा के उदात्त मूल्यो को आत्मसात् कर वे प्रेरणा के अक्षय-स्रोत सिद्ध हुए है। शोध के क्षेत्र मे एक चलते-फिरते सदर्भ-कोश जैसे हैं। विश्व-कोशीय ज्ञान के कारण विभिन्न विषयो के शोधछात्र उनसे निरतर लाभान्वित होते हैं। उनके नाम के पूर्व जो आचार्य एवं पडित के आस्पद जुडे हैं वे पूरी तरह सटीक-सार्थक हैं। उनका अभिनदन ज्ञान की साधना का अभिनदन है। मेरी विनम्र आदराजलि

डा० कान्तिकुमार जैन,
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष-हिन्दी विभाग,
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)

जिनवाणी के क्रियात्मक उपासक

आदरणीय डा प पन्नालालजी जैसे महान् विद्वान् का अभिनदन कर वस्तुत. हम और आप उपकृत हो रहे है। पूज्य प जी जिनवाणी के क्रियात्मक उपासक हैं। उन्होने व्रत-सयम के मार्ग की कभी भी अवहेलना नही की है। मुनियो को आहार देते हुये उनकी श्रद्धा को देखकर हार्दिक हर्ष होता है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र का उनके जीवन मे विशिष्ट सगम है। वस्तुत· जैनधर्म की सेवा ऐसे ही विद्वान् करने के अधिकारी है। प जी सरस्वती माता के मौन धार्मिक और मनस्वी साधक है। उन्होने दीर्घकाल तक जैन समाज, साहित्य और सस्कृति की सेवाए की है।

मै ऋषभादि-वीरान्त चौबीस तीर्थंकर भगवान से प्रार्थना करता हू कि प जी दीर्घायु हो, स्वस्थ रहे, और स्वपर-कल्याण के अपने पवित्र मिशन मे सलग्न रहे।

डा० सुशीलचन्द्र दिवाकर,
अध्यक्ष-वाणिज्य विभाग,
गोविन्दराम सेक्सरिया वाणिज्य महावि., जबलपुर

मंगल कामना

साहित्याचार्य पडित पन्नालाल जी दिगम्बर जैन समाज मे प्रतिष्ठा-प्राप्त गणनीय विद्वान् है। इन्होंने जिनवाणी की महती सेवा की है। सेवारत रहकर जैन दर्शन, जैन साहित्य के क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। वर्तमान नई पीढी को शिक्षा-दीक्षा देकर धर्मनिष्ठ एव सुसस्कृत बनाया है। अपनी अनवरत साधना और जैन वाड्मय के अध्ययन—अनुशीलन ने उनकी सेवा का क्षेत्र काफी व्यापक बनाया। वे कुशलवक्ता, सुयोग्य लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक के रूप मे समादृत हुए। वे साहित्य जगत की विविधमुखी प्रवृत्तियो एवं योजनाओ में योगदान करने में सदैव क्रियाशील रहे। संस्कृत-प्राकृत के अनेक ग्रंथों का इन्होंने सरल हिन्दी भाषा मे अनुवाद कर जिज्ञासु सामान्य श्रावको को कठिन विपय को बोधगम्य बनाया। इन्हें इनकी रचनाओ पर पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं। बुन्देलखण्ड के महान संत पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी के स्नेहभाजन रहे। उनका इनके ऊपर आशीर्वादात्मक वरद-हस्त रहा। वे धर्म सेवा के प्रेरणा स्रोत रहे।

पंडित जी सरल एव संयमी जीवन यापन करते हैं। वे आदरास्पद है। मेरी मंगल कामना है कि वे दीर्घकाल तक जैन जगत् को अपनी सेवाओं से उपकृत करते रहे।

स. सिं. धन्यकुमार जैन, कटनी

गहन अध्येता

जिनका जीवन धर्म, साहित्य, व्याकरण, सस्कृत, प्राकृत के गहन अध्ययन से परिपूर्ण है, मूर्धन्य विद्वानों की धवल पंक्ति में जो ससम्मान अधिष्ठित है। जिन्होंने जैन वाड्मय के गहरे समुद्र मे गोते लगाकर अनुपम रत्नों का अन्वेषण किया है। रत्नत्रय की पावन गगा में स्नानकर जिन्होंने स्वयं को पवित्र बनाने के साथ महापुराणों की हिन्दी टीका के माध्यम से जैनधर्म की विशेषताओ को शीतल निर्झर की तरह सभी के लिए सुपेय बना दिया है जिनका जीवन सामाजिक उत्थान एवं जैन संस्कृति के उद्धार के लिये निः स्वार्थ भाव से समर्पित है उन निरभिमान, सरलहृदय, ज्ञानमूर्ति, धर्मज्ञ श्री प. पन्नालाल साहित्याचार्य को सविनय विनयाञ्जलि अर्पित करता हुआ उनके परोपकारी जीवन के दीर्घायु की कामना करता हूं।

महेन्द्रकुमार भलैया
अध्यक्ष
साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन अभिनन्दन समारोह समिति

वस्तुतः अभिनन्दनीय

श्रीमान डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य सम्पूर्ण विद्वत्परंपरा में अग्रगण्य मनीषी हैं। उनमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चरित्र की त्रिवेणी का 'मणिकाञ्चन सयोग' हैं। वे 'स्वार्थो यस्य पदार्थ एव सततं स स्यान्नृणामग्रणी:'—सूक्ति को चरितार्थ करते है। अतः वे वस्तुत अभिनदनीय है। ऐसे महामनस्वी मनीषी को हार्दिक अभिवादन।

डा० जीवनलाल जैन
उपाध्यक्ष,
भा. दि. जैन परिषद् म. प्र, सागर

गुण-गरिमा का अभिनन्दन

श्री डा. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के अभिनदन का निश्चय कर नि:सदेह समाज नें प्रशसनीय कदम उठाया है। विद्वान समाज रूपी मदिर के स्वर्ण कलश है। कलश के बिना मंदिर की और विद्वान् के विना समाज की गरिमा मे निखार नही आता। कसौटी पर कसे गये सोनें की तरह उनका व्यक्तित्व नि.सदेह खरा है। विद्वत्ता के साथ सयम-साधना मणिकाञ्चन की तरह महनीय है।गुण-गरिमा-मण्डित अगाध पाण्डित्य और चारित्र के धनी पं. जी का मैं हृदय से अभिनदन करता हू और उनके यशस्वी दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

सेठ शिखरचन्द्र जैन,
इटारसी

शुभकामना

श्री पन्नालाल जी देश के अधिकाश बुद्धिवादियों के समक्ष आदरणीय से ऊपर 'पूज्य' के क्षितिज पर जा पहुँचे हैं। उनके कर्तृत्व एव व्यक्तित्व से कौन न अभिसिंचित हुआ होगा ? उन्होने आदमियो का निर्माण किया है। व्यक्ति मे व्यक्तित्व जगाया है। अतः वे सामान्य पडित नही हैं।

वे स्वस्थ्य जीवन पाएँ और समाज को वर्षो-वर्षो तक ज्ञान-दान देते रहे, यही कामना है।

सुरेश सरल
सहायक अभियन्ता, जबलपुर

शुभकामना

गोलापूर्व जैन अन्वय के कुलदीपक, जैन दर्शन के वरिष्ठ-मूर्धन्य विद्वान्, जैनविद्या के अप्रतिम मनीषी, उच्चकोटि के सहृदय, लब्धप्रतिष्ठ, समर्पित और जागरूक शिक्षक, आदर्श एव सफल शिक्षक के राष्ट्रीय पुरस्कार से पुरस्कृत, अप्रतिम, अद्वितीय, अलौकिक प्रतिभा एव महान् व्यक्तित्व के धनी, विद्वत् जगत के जाज्वल्यमान नक्षत्र, बहुरंगी आदर्श एवं सराहनीय व्यक्तित्व के धनी, क्षमा-मार्दव और चतुर्मुखी प्रतिभा सम्पन्न, प्रगाढ़ विद्वत्ता-सौम्य व्यक्तित्व के कर्तृत्वशील, जैन जगत के गौरव, जैन जगत की अमूल्य—निधि जैन समाज के भूषण, विद्वत्-विभूति, निःस्पृह साहित्य और समाज सेवक, समाज के मार्गदर्शक, समता-ममता के अनुरंजक, जीवन मूल्यों के प्रति आस्थावान, सरल-सहज एवं स्नेही विनम्रता की साकार जीवन्त प्रतिमूर्ति, जीवनपथ-प्रदर्शक, प्रेरणा और स्फूर्ति के स्रोत, निश्चल और अध्ययनशील, कर्मयोगी, मधुर व्यवहारी, युग-प्रणेता, धर्मानुरागी, साहित्यसेवी, तत्त्वज्ञान के भाण्डारी, महामनीषी, कर्मठ, गहरे और उदार, निर्लोभी, युगपुरुष, गुणपारखी, जैनधर्म को स्वयं जीवन में उतारने वाले, मुनिभक्त साहित्यचार्य डॉ. (पं.) पन्नालालजी सदा जयवत रहें। उनकी अप्रतिम सेवाएँ, अविस्मरणीय योगदान तथा ज्ञान का अखिल अखण्डदीप जलाये रहने की प्रवृत्ति के कारण वे जन-जन की श्रद्धा के आस्पद है। उन्हें मेरे शत-शत नमन।

सिघई हुकुमचन्द्र सांधेलीय
प्रचारमंत्री
श्री दि जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी)
पाटन, जबलपुर

[श्री सांधेलीयजी इस अभिनंदन समारोह समिति के संस्थापक-महामंत्री थे। उनके प्रयत्नों से समिति का कार्य पर्याप्त प्रगति कर सका, किन्तु खेदपूर्वक सूचित करना पड़ता है कि दिनांक १८-११-८६ को उनका देहावसान हो गया] —संपादक

सदा अध्यापक की भाव—भूमि में निरत

सामाजिक जीवन मे विगत ४० वर्षो से निरन्तर सक्रिय रहने के कारण सपूर्ण देश के विद्वद्वर्ग, कार्यकर्त्ताओं और श्रीमतों का सदैव सान्निध्य प्राप्त किया है। विविध प्रसगो में अनेक बार माननीय प पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर से भेट करने के सुअवसर प्राप्त किये। प्रसग कैसा भी हो, उनमे समता, तटस्थता, सवेदनशीलता और समाधान के लिए सूझबूझ सदा मौजूद पायी है। वृत्ति से अध्यापक माननीय प जी सा को मैने सामाजिक परिवेश की विविध भावभूमि मे आदर्श अध्यापक की भूमिका निर्वाह करते हुए पाया है। पूज्य सत वर्णी जी की शिक्षाओ और उद्देश्यों को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए कटिबद्ध कर्त्तव्यारूढ और सक्षम व्यक्तित्व के रूप में मै उन्हे देखता-जानता आ रहा हूँ। वास्तव मे उनका अभिनदन बहुत पहले हो जाना चाहिए था, पुनरपि 'देर आयद दुरुस्त आयद' की उक्ति के अनुसार साहित्याचार्यजी का अभिनदन कर सपूर्ण समाज अपने कर्त्तव्य की आशिक पूर्ति ही कर रहा है। इस पावन प्रसग पर उनके चिरायुष्क की मगल कामना करता हुआ मै अपनी ओर से, श्री भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास की ओर से और माननीय प जी के अभिनदन समारोह हेतु गठित समिति की ओर से सादर प्रणाम अर्पित करता हूँ।

जयकुमार इटोरया,

कोषाध्यक्ष—साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अभिनदन समारोह समिति, दमोह

नमन सुमन-सुरभित 'बसन्त' को

पूज्य पण्डित जी के अभिनदन ग्रन्थ के प्रकाशन के शुभावसर पर मै वीर प्रभु से प्रार्थना करता हू कि पण्डित जी चिरायु एव स्वस्थ्य रहकर धर्म समाज और साहित्य की सेवा करते हुये 'सत्य-शिव-सुन्दर' के पथ के पथिक बने। द्वादशाग वाणी के विकास के लिये किये गये उनके योग प्रदान की सच्चे मन से प्रशसा करता हुआ 'आ-चन्द्र-दिवाकर' उनके यशस्वी जीवन की कामना करता हू एव अपनी श्रद्धावनत प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हू।

डॉ० सुशील जैन, मैनपुरी

गुणाः पूजास्थानम्

जीवन को समुन्नत एव निर्लिप्त बनाने के लिए जिन समीचीन गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हे प्रत्येक व्यक्ति आत्मसात् नही कर पाता; किन्तु जिसने उन्हे अपने जीवन का अंग बना लिया वह निश्चित ही आदरणीय एव सम्मान का पात्र बन जाता है। राजा का सम्मान अपने ही राज्य मे होता है किन्तु 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' की सूक्ति के अनुसार विद्वान् देश और विदेशों मे भी पूजा जाता है। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु लिङ्गं न च वय.' को गभीरता से विचारने पर यह आस्था दृढ़ होती है कि व्यक्ति की पूजा उसके धन-वैभव या शारीरिक सौन्दर्य से नही किन्तु गुणों के कारण होती है।प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य अपनी स्वाभाविक गुण-गरिमा से केवल जन्म-क्षेत्र में ही आदरणीय नही हुये अपितु भारत के कोने-कोने मे उनके सम्मान की झलक दिखाई देती है। उनके चित्र भले ही सर्वत्र न हो किन्तु अनुवादित और स्वरचित ग्रन्थों के भीतरी पृष्ठ पर उनका नाम अवश्य ही गौरव के साथ अकित पाया जाता है। मंदिर की लाइब्रेरी से अचानक पुस्तक उठाकर देखे तो सम्पादक टीकाकार या रचनाकार के रूप में उनका नाम अवश्य दृष्टिगत होगा। प.जी का साहित्याचार्य पद अब साहित्य का पर्यायवाची बन गया है। साहित्यसर्जक समाज-धर्म और राष्ट्रसेवक के विविध रूपों मे सर्वत्र सम्मानित पूज्य पं जी के प्रति मैं सादर नमन कर उनके चिरायु होने की कामना करता हूँ।

सिंघई संतोषकुमार जैन (बैटरी वाले)
महामत्री—साहित्याचार्य डॉ पन्नालाल जैन
अभिनदन समारोह समिति, सागर

वर्णी जी की विशिष्ट देन

पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी ने राष्ट्रीय विकास के क्रम मे आजीवन बहुविध सार्थक प्रयत्न किये। उनकी उपलब्धियाँ गौरवपूर्ण है, किन्तु श्रद्धेय प पन्नालाल जी उनकी विशिष्ट देन है। यत: वर्णी जी के दर्शन और मिशन को वे पूर्णत. चरितार्थ करते है। ऐसे विद्वान् जयवन्त हों।

—स. सिं. स्वरूपचन्द्र जैन,
'कोतमा

जीवन–सरिता के जीवन्त प्रतीक :

पडितप्रवर श्रद्धेय श्री पन्नालालजी साहित्याचार्य जीवन की प्रवहमान सरिता के जीवन्त प्रतीक है, जिन्होने जैन साहित्य और सस्कृति के प्रवाह को गतिशीलता प्रदान की है। वे निश्छल स्नेह के प्रतीक है, जिनका सादाजीवन, सरल स्वभाव, प्रतीक बन गया है जैन सिद्धातो का। न्यास के गठन सेलेकर आज तक जिनका हार्दिक आशीष हमे प्राप्त है। सन् १९८६ में न्यास के प्रणेता स्व श्री भागचद्र जी इटोरया के पावन स्मृति समारोह के मुख्य अतिथि के रूप मे पधारकर श्रद्धेय पडितजी ने न केवल न्यास के कार्यो की सुखद सराहना की थी अपितु मानव मात्र के कल्याणार्थ जैन सिद्धातों का विशद विवेचन करते हुए स्व सत विनोबा भावे की सल्लेखना-समाधि-मरण पर गँभीर विश्लेषण करते हुए यह सद्उपदेश दिया था कि जीवन की सध्या काल में हमे समस्त माया मोह का त्याग कर मृत्यु को 'जयमाला' पहनाते हुए–'आध्यात्मिक मानस' बनाकर स्वीकार करना चाहिए जिससे हमारे अगले जीवन का चमकदार मार्ग प्रशस्त हो सके।

ऐसे उद्भट विद्वान् का अभिनदन कर समस्त जैनसमाज गौरवान्वित है। श्रद्धेय पडित जी का उपकार सपूर्ण जैन समाज एव जैन दर्शन के लिए है। हम समस्त न्यासीगण उनके श्रीचरणो मे अपना नमन अर्पित करते हुए उनका अभिनदन करते है तथा उनके गरिमामय उज्ज्वल दीर्घ जीवन की कामना करते है।

वीरेन्द्र इटोरया
मंत्री
श्री भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास, दमोह

धर्म समाज संस्कृति के संरक्षक

आदरणीय डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य जाने-माने व्रती एव महान ख्याति प्राप्त प्रकाण्ड विद्वान है। अध्यापन, ग्रन्थ लेखन और विद्वत्तापूर्ण प्रवचनो के माध्यम से जिन-वाणी के प्रचार प्रसार हेतु जैन समाज और जैन साहित्य को दी गई आपकी सेवाए अनुपम है। अनेक वर्षो से अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन वि त्परिषद् के मत्री एव अध्यक्ष के रूप मे भी आप समाज की सेवा करते आ रहे है। मैं समाज, धर्म और सस्कृति के प्रति समर्पित अनुपम व्यक्तित्व के स्वस्थ दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

डॉ० कपूरचन्द्र जैन
प्रधानमंत्री
श्री दि. जैन सिद्धक्षेत्र अहार जी, टीकमगढ

आलोक पुञ्ज

धार्मिक समारोह हों या सामाजिक उत्सव, कवि गोष्ठी हो या साहित्य परिषद, सेमीनार हो या छात्र सम्मेलन सभी जगह जो अपने अनोखे व्यक्तित्व एवं गहन चिन्तन से जन-जन का मन अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, अपनी आन्तरिक शुचिता से दूसरों के मन में नव शक्ति का सचार करते हैं, जिनकी उपस्थिति से मच उल्लास और हर्ष से जग--मगाते प्रतीत होते हैं, जो समय की पाबन्दी के प्रतीक एवं सम्यगाचरण के स्वच्छ आदर्श है। उन साहित्य-मनीषी अप्रतिम प्रतिभा के धनी डा पन्नालालजी साहित्याचार्य को शत-शत अभिवादन करता हू। धर्म समाज और राष्ट्र की सेवा में रत उनका जीवन चिरायु हो, इस मंगल कामना के साथ आलोक पुञ्ज को बहुतबहुत नमन।

सिंघई कोमलचन्द्र रांधेलीय
मंत्री—जैन उ. मा. विद्यालय एवं
उपाध्यक्ष—श्रीगणेश दि. जैन सं. म. वि., सागर

स्वनाम-धन्य पण्डितजी

वस्तुतः पण्डितजी का देवसम सरल वा सौम्य आकार प्रभावक है और वे हम सभी के आदरणीय हैं। आपने अनेक दार्शनिक व धार्मिक विषयों पर समाज का मार्गदर्शन किया है। प्रथमानुयोग विषयक ग्रन्थो का अनुवाद व सम्पादन कर समाज को चारित्र-धर्म अपनाने की ओर प्रेरित किया है।

मै वीर प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि पण्डितजी दीर्घ-जीवी हों और हम सभी को सद्मार्ग प्रशस्त करते रहे।

डा० सुपार्श्वकुमार जैन
अध्यक्ष—जैन प्रचार समिति, बड़ौत, उ. प्र.

मेरे गुरुजी

ससार-रूप कारागार मे 'बन्दी' जीव को मुक्ति दिलाने में सम्यक् रत्नत्रय ही सर्वोत्तम साधन है। भूले-भटके हुये प्राणी को कुमार्ग से निकालकर सुमार्ग पर लाने में गुरु ही समर्थ होते है। निष्कपट एव सरलहृदय गुरुजी श्री प पन्नालाल जी ने निरन्तर स्वाध्याय के माध्यम से आत्मकल्याण के साथ परकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करते हुये कल्याणकारी उपदेशों को अपनी मौलिक कृतियो-सम्यक्त्व चिन्तामणि, सज्ज्ञान चद्रिका, सम्यक्चारित्र-चिन्तामणि मे निबद्ध हितेच्छुओ के लिये मोक्षमार्ग का प्ररूपण किया है। कर्त्तव्यपरायण, धर्मनिष्ठ, जैनवाङ्मय की धारा को आगे बढाने वाले महानतम अपने गुरुजी का शत-शत अभिनदन करता हुआ उनके चिरायु की कामना करता हू।

माखनलाल 'बन्दी'
स्वतत्रता संग्राम सेनानी तथा
मत्री—साहित्याचार्य डॉ पन्नालाल जैन अभिनदन समारोह समिति, सागर

धर्म–समाज–राष्ट्र–सेवी

जीवन केवल स्वय के जीने के लिये नही, अपितु धर्म समाज और देश हित की साधना के लिये है। जो दूसरे के काम नही आया, वह विद्वान और धनवान होकर भी लोक मे महत्त्वपूर्ण नही होता। हमारे पूज्य आचार्यो ने 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के मर्मस्पर्शी सूत्र द्वारा न केवल समाज और राष्ट्रकी अपितु प्राणिमात्र की सेवा करने की ओर प्रेरित किया है। इतना ही नही, परोपकार को जीवन का महत्त्वपूर्ण अग माना है। प जी ने अपना जीवन धर्म की उपासना मे तो लगाया ही है, साहित्य की साधना द्वारा सर्वसाधारण का भी महान् उपकार किया है। प जी सादा जीवन उच्च विचार के पोषक एव अनुगामी है। उन्होने उपदेश की अपेक्षा उसे जीवन मे उतारकर जन साधारण को प्रभावित किया है। धर्म-समाज की तन-मन-कर्म से वे सदा सेवा करते आये है। साहित्यिक परम्परा को वृद्धिगत कर उन्होने लेखनी के माध्यम से राष्ट्र की भी महान् सेवा की है। विद्वान् सेवाभावी सहृदय डा पन्नालाल साहित्याचार्य के चिरायु होने की कामना के साथ मैं उनका शत-शत वन्दन करता हू।

सिं. मुन्नालाल जैन 'वीर',
मत्री—श्री गौराबाई दि जैन मदिर, कटरा, सागर

'बसन्त' जी, व्यक्तित्व–संस्मरण

डा. पं. पन्नालाल जी 'बसन्त' साहित्याचार्य पी-एच.डी. हैं, सिद्धान्त शास्त्री हैं। वे सुकवि, सुलेखक, सुचिन्तक सुविचारक हैं। वे सुयोग्य शिक्षक और सुव्यवस्थापक हैं, सुटीकाकार और सुसम्पादक हैं। आपकी सहजता सरलता ने आपको विवादरहित विद्वान् बना दिया। आपकी सरस्वती की आराधना प्रशंस्य है। आपने पुराण काव्य प्राकृत साहित्य धर्मशास्त्र न्याय साहित्य और मौलिक रचनाओं के रूप में लगभग पचास ग्रन्थ लिखे हैं। आप तत्त्वबोधक, पारदर्शी, टीकाकार हैं और स्वाध्यायशील, अनुभवसम्पन्न अध्यवसायी ग्रन्थकार हैं। आपका हिन्दी और संस्कृत पर समान अधिकार है। आपकी भाषा-शैली सरल सुबोध विषयानुरूप स्पष्ट प्रवाहमयी है। जब उन्हें शिक्षक के रूप में राष्ट्रपति पुरस्कार मिला तो मैंने बधाई देते लिखा था—पुरस्कार से आपका सम्मान उतना नहीं बढ़ा जितना आपसे पुरस्कार का सम्मान बढ़ा।

बसन्तजी शताधिक 'बसन्त' देखें और धर्म-समाज की सेवा की प्रेरणा देते रहें, यही सद्भावना और शुभकामना है।

लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'
एम. ए., जावरा

शुभकामना

डॉ. पं. पन्नालाल जी भारतवर्षीय जैन समाज में अग्रणी विद्वान् हैं। उनका धर्म-साहित्य-साधना तथा वर्णी साहित्य के सृजन में विशेष योगदान है। आप निःस्पृह जीवन तथा उच्चविचारों के महान् प्रतीक हैं।

अखिल भारतीय आदर्श अध्यापक गणों में उन्हें प्रतिभा,साहित्य-सृजन आदि कार्यों के फलस्वरूप राष्ट्रपति द्वारा राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

वे शतायु होवे तथा इसी प्रकार जैन-धर्म व साहित्य साधना के कार्य करते रहें।

गौरवशाली सरस्वतीपुत्र के चरणों में मेरा शत शत प्रणाम।

रतनचंद्र पटोरिया
सेवानिवृत्त स. आयुक्त (आबकारी),
दुर्ग

शुभाशंसनम्

इस बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे विद्यमान अभिनवप्रतिभा-सम्पन्न अनेक ख्यातिप्राप्त विद्वानो में श्रीमान् प पन्नालाल जी साहित्याचार्य का नाम आदर के साथ गिना जाता है। आपने साहित्य के क्षेत्र मे रहकर सस्कृत भाषा के अनेक दुरूह ग्रन्थो की सस्कृत एव हिन्दी टीकाए लिखकर धर्म में रुचि रखने वाले सामान्य जनो को भी शास्त्रो के स्वाध्याय तथा पठन-पाठन के योग्य बना दिया है।

आपने सामाजिक, धार्मिक एव शिक्षा क्षेत्र में अपनी अमूल्य सेवाये दी हैं जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग आपका आभारी है।

यशस्वी वक्ता, सफल साहित्यकार एव कुशल सम्पादक श्री प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर के दीर्घ जीवन की कामना करता हुआ सर्वतोभावेन भद्र भावनाए व्यक्त करता हू।

पं. भगवानदास शास्त्री
रायपुर म. प्र

शुभाशीष

आदरणीय श्रद्धेय डा. प पन्नालाल साहित्याचार्य सागर का अभिनदन राष्ट्रस्तर पर सम्पन्न होने जा रहा है। यथार्थतः प पन्नालालजी हमारी पीढी के श्रेष्ठतम विद्वान् तो है ही, एक अच्छे साहित्यकार भी है। उन्होने जिनवाणी की अपूर्व सेवाकर उसके प्रचार प्रसार मे अपना ऐतिहासिक कार्य किया है। आदरणीय प पन्नालाल जी जितने अशो मे सरस्वती-पुत्र हैं उतने ही अशो मे आचरण के भी धनी है। उनकी नित्य-नैमित्तिक क्रियाऐं उनकी परिमार्जित विशुद्ध ज्ञानाचरण की प्रतीक है। मैं उनके दीर्घ धर्ममय जीवन के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

सि. पं. जम्बूप्रसाद जैन शास्त्री
मडावरा (ललितपुर)

जैन समाज के रत्न

पूज्य प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् है। आपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन, सम्पादन तथा अनुवाद करके भारत-विख्यात मनीषियो मे अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर जैन समाज का मस्तक ऊँचा किया है। राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित पडित जी ने श्री गणेश जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर की अथक सेवा कर सैकड़ों विद्वान् तैयार किए है जो समाज सेवा करते हुए उनकी कीर्ति-पताका फहरा रहे है।

सचमुच डाक्टर प पन्नालाल जी साहित्याचार्य जैन समाज के रत्न है। अभिनदनीय है।

सिंघई राजेन्द्रकुमार जैन
पनागर (जबलपुर)
संरक्षक—श्री पाश्र्वनाथ दि. जैन अतिशय क्षेत्र पटेरिया, गढाकोटा (जिला सागर)

आकर्षक व्यक्तित्व

गौर वर्ण, चमकता ललाट, मुस्कराते अधर, धवल परिधान यह है उनका बाह्यरूप। सतत् गतिशील लेखनी, सीमा में बंधे सन्तुलित नपेतुले शब्द, मोहकवाणी, ग्रथो के परिशीलन मे रमी दृष्टि जिनके अतर की गहराई को प्रकट करती है। घड़ी के काटे के साथ दिनचर्या में लीन, अहर्निश स्वाध्याय-पूजन मे निरत नित्य नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा से मण्डित प पन्नालाल जी साहित्याचार्य का दर्शन किसके आकर्षण का केन्द्र नही बनता है। उनके सामीप्य के लिये बढ़ते कदम, अभिवादन में पुजीभूत कर-युगल, प्रणाम मे मुखरितअधर स्वय ही अपने को धन्य पाते है। झुकता हुआ शीष गर्व से उन्नत हो जाता है। कृतज्ञता, विनय और हितैषणा/हितैषिता से प्रेरित उनके हृदय का स्पन्दन हर दर्शक के मन में हर्ष और आल्हाद की पीयूष वर्षा से भीग जाता है। ऐसे आकर्षक व्यक्तित्व के धनी, पूजीभूत ज्ञान की उस साकार प्रतिमा को मेरा शत-शत नमन।

सि. देवकुमार रांधेलीय,
अध्यक्ष—मानवता शान्ति पथ दर्शन रथयात्रा समिति म. प्र, कटनी

सृजनशील प्रेरक

मान्यवर डॉ पन्नालालजी हमारे गुरु है। उनकी प्रभावोत्पादक अध्यापन—प्रवचन और लेखन शैली से तो अधिकांशजन परिचित है ही, किन्तु इन गुणों के अतिरिक्त आपमे एक और विशिष्ट गुण है—वह है सृजनशीलता हेतु प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति। वे अपने विद्यार्थियो को निरन्तर प्रेरणा देते कि—'रचना-कर्मणि व्यापृतो भव'। विद्यार्थियो को भाषण और कविता रचना के निमित्त विषय देना और सामग्री सुझाना, रचना को सशोधित-परिमार्जित करना, उसके प्रकाशन के लिए मार्गदर्शन देना। छात्र स्वाध्याय-प्रवचन और समाज सेवा मे पटु बने, इसके लिए यथेष्ट अवसर प्रोत्साहन मच साहित्याचार्य जी सदैव देते-दिलाते रहे है। सामान्य छात्र तो उनकी इस प्रवृत्ति से विनत है ही, अनेक व्रतीजन भी अपने को एतदर्थ उनके द्वारा उपकृत (Obligated) मानते है। माननीय साहित्याचार्य जी के इस सृजनशील प्रेरक रूप से हम श्रद्धाभिभूत है और उनके अभिनंदन के अवसर पर अपने शत-शत नमन उन्हे समर्पित करते हैं।

—प्रो० सुखानन्द जैन, एम. काम.,

तथा

—प्रो० राजकुमार जैन, एम. काम,

वाणिज्य महाविद्यालय, सतना

अनुकरणीय आचार्य

मै पूज्य गुरुवर्यजी के चरणो मे अपनी नतमस्तक विनम्र भक्त्यञ्जलि प्रस्तुत कर कामना करता हूँ कि भारत की जैन समाज को आपके सदुपदेशो एव आदर्शो द्वारा निरन्तर तक लाभ मिलता रहे।

पं. खुशालचंद्र बड़ेराय जैन, शास्त्री

तेजगढ़ (दमोह)

बहुमुखी-प्रतिभा के धनी

साहित्याचार्य प पन्नालाल जी जैन, समाज के बहुश्रुत विद्वान्, विद्वत् परिषद के आधार-स्तंभ और सामाजिक एकता की निरन्तर चिन्ता किये हुए अप्रतिम मनीषी है। समाज पर उनके अनन्त उपकार है। उनका अभिनदन करके वस्तुत· समाज स्वय अपना अभिनदन कर रहा है। उनके दीर्घ जीवी होने की शुभकामना के साथ।

लालचन्द्र जैन,
प्रधानमत्री,
दि जैन समाज, टिकैतनगर

जन-जन की दृष्टि में

सरलता-सौम्यता और सादगी के धनी श्रद्धेय प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य का सपूर्ण जीवन जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के लिये समर्पित हुआ है। आप दया, सज्जनता और विनम्रता की मूर्ति है। आप भारतवर्षीय जैन समाज मे एक कर्मठ विद्वान् एव प्रभावशाली वक्ता के रूप मे जाने जाते है। आप लोकप्रिय है। परमपूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णीश्द्वारा स्थापित वर्णी दिगम्बर जैन महाविद्यालय सागर मे बहुत समय प्रधानाचार्य के पद पर रहकर आपने विद्यालय को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया है। मै श्री डॉ. पन्नालाल जी के दीर्घ-जीवी होने की कामना करता हूँ।

शीलचन्द्र जैन,
पठा

अटलनिश्चयी गुरुवर

साहित्याचार्य जी सम्बोधन प पन्नालाल जी के नामान्तर के रूप मे शिष्य समुदाय में तब भी प्रचलित था और अब भी यथावत् है। हम उन्हे 'ज्ञान-ध्यान-तपो रक्त' का प्रतीक मानते है।एक बार यात्रा के क्रम मे हमे उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ। सदर्न एक्सप्रेस के कडक्टर ने 'चेयर कार' मे आसदी देने के बाद साहित्याचार्य जी से कहा कि—यह ट्रेन आपको ३ बजे रात्रि मे बीना पहुँचावेगी, मैं आकर आपको जगा दूँगा। प जी के द्वारा उसे दिया गया उत्तर अब तक हमारे स्मृति-पटल पर ज्यो का त्यो अकित है। वह उत्तर था कि—"मै शयन के पूर्व सकल्प कर लेता हूँ कि मुझे कब उठना है ? तदनुसार उठ जाता हूँ। आपके सौजन्य के लिए धन्यवाद।"

रात्रि के २.४५ बजे हमारी नीद टूटी थी। हमने देखा—मान्यवर साहित्याचार्य जी उससे पूर्व ही निद्राशय्या का परित्याग कर सामायिक मे निरत थे।

उनके अटलनिश्चय के सैकडो-सैकडो प्रसग उनके कार्यो मे प्रतिभासित हुए है। कितना कार्य-कितना लेखन उस दिन उन्हे पूर्ण करना है ?यह सकल्प वे पूर्वत कर लेते है और यथासमय-यथाविधि उसकी पूर्णता होती है। यह उनके अटलनिश्चय, दृढसकल्प और चारित्रिक निष्ठा का ज्ञापक है।

साहित्याचार्य जी तो अनेकश अभिनन्दित हो चुके है। इस अखिल भारतीय अभिनदन समारोह और अभिनदन ग्रन्थ समर्पण के अवसर पर हम उनके शताधिक गुणो की अभ्यर्थना करते हुए उनके चिरायुष्क हेतु कामना करते है।

(१) सिं. सुरेश जैन
शाखा-प्रबंधक,
भारतीय स्टेट बैंक, जबलपुर
(२) नरेन्द्र जैन
अध्यक्ष—युवक कांग्रेस (इ) कमेटी एव
सदस्य-बीस सूत्रीय कार्यक्रम समिति
विकासखंड, रीठी

दर्शन–ज्ञान–चरण आराधक

ज्ञानी के पूजन वन्दन से सदा ज्ञान की पूजा होती ।
ज्ञानी की वाणी जनजन के मनमें शिव के अंकुर बोती ।।

आजीवन, साहित्य सेवा एव ज्ञान दान मे निरत डॉ पन्नालाल साहित्याचार्य संपूर्ण जैनसमाज के सम्माननीय मूर्धन्य विद्वान है। सयम की साधना से पावन उनका जीवन, सूर्य की तरह प्रकाशमान एव चाद की तरह शीतल एव सौम्य है । सतत प्रवहमान उनकी ज्ञान गगा मे अवगाहन करने वाले निश्चित रूप से मन के मैल को धोकर सहज सरस स्वच्छ हो जाते हैं, यह सच है ।

कठोर से कठोरतम व्यक्ति को सरलता से झुकाने की शक्ति से सम्पन्न प.पन्नालाल जी अद्भुत आकर्षक एव प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी है । जैन समाज की इस अनुपम विभूति पर हमें गर्व है । उनका अभिनदन शरीर का नही गुणों का अभिनदन है ।

ज्ञान-साधना-तप-सयम के धनी प जी को मेरा प्रणत नमन ।

चौ. सुभाष जैन,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

जिनवाणी सेवक

पूज्य पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य उन वर्तमान युग के विद्वत् रत्नो में से है जिन पर पूज्य वर्णीजी का अपार वरदहस्त रहा है। प. श्री कैलाशचद्रजी सा ने यदि स्याद्वाद महाविद्यालय काशी को सीचकर पुष्पित पल्लवित किया तो पंडितजी सा ने वर्णी विद्यालय सागर को सीचा है ।

वे निरतर अपनी लेखनी चलाकर अनेकानेक ग्रथो की टीका व मौलिक रचनाएं कर मां जिनवाणी की अपूर्व सेवा कर रहे है ।

उनको राष्ट्रीय शिक्षक का पुरस्कार देकर स्वय सरकार गौरवान्वित हुई है, एवं सागर विश्वविद्यालय भी उन्हे डाक्टरेट देकर । पंडित जी का व्यक्तित्व तो इन सबसे महान् है ।

'पंचपरमेष्ठी भगवंतों' को स्मरण कर उनके नीरोगता की कामना करते हुए सहस्रायु होने की शुभकामना करते है ।

कपूरचन्द्र भाईजी,
वण्डा वेलई, सागर

जैनधर्म के प्रकाण्ड विद्वान्

विनम्रता की साक्षात् मूर्ति, सरल स्वभावी, आदरणीय डॉ पन्नालालजी साहित्याचार्य विद्वज्जगत में जैनधर्म के एव जैन समाज के ख्यातिप्राप्त विद्वान् है। साहित्य उनका प्रमुख विपय होते हुये भी आपने अनेक प्राचीन ग्रन्थो का सुन्दर, सुबोध सम्पादन एव अनुवादादि किया है। मौलिक ग्रन्थो के भी आप रचयिता है।

उनका जीवन प्रेरणा का स्रोत है और वात्सल्य से आप्लावित है। वे अपने विद्यार्थियो के प्रति तन-मन-धन से समर्पित रहते है। यही नही, साहित्य-जगत मे कार्य करने वाले प्रत्येक विद्वान् एव विद्यार्थियो को प्रोत्साहित करते रहते हैं। वे सरल और चारित्रवान् विद्वान् है।

उन्होनें अपने भाषण, लेखन, अनुवादन और अध्यापन द्वारा जैन समाज मे अखण्ड ज्ञान का दीप जलाया है।

इस अभिनदन के अवसर पर वे शतायु होकर इसी प्रकार श्रुत की सेवा करते रहे, यही मगल कामना है।

डा० हेमचन्द्र जैन 'फणीन्द्र'
उपमत्री—श्री दि जैन सिद्धक्षेत्र
द्रोणगिरि (छतरपुर)

जियें हजारों साल

हमारी समाज का अहोभाग्य है कि उसे पण्डित जी जैसे महान् व्यक्ति का आशीर्वाद एव प्रशस्त मार्गदर्शन प्राप्त है। श्री पण्डित जी का अभिनदन कर हम वास्तव मे जीवन के उच्चतम मूल्यो एव मानवीय आदर्शो के अस्तित्व मे अपनी आस्था प्रकट कर रहे है। अच्छा होता कि नई पीढी को भी पण्डित जी के नेतृत्व मे धर्म, साहित्य आदि पढने का अवसर मिलता। भगवान महावीर से प्रार्थना है कि पण्डित जी को सदा स्वस्थ बनाये रखे तथा वे, समाज व आज की युवा पीढी को मार्गदर्शन देते हुए मुक्ति मार्ग पर बढते रहे। मैं उनका हार्दिक अभिनदन करता हुआ शायर की इस भावना को-

खुदा करे वह जियें हजारों साल।
साल के दिन हों पचास हजार॥

अपनी भावना मे गूथता हुआ पण्डित जी को शत शत नमन करता हूँ।

निर्मलकुमार जैन सेनानी
सिरोज

साहित्य-जगत् की महान् विभूति

बुन्देलखण्ड विद्वानों की निर्माण-स्थली रहा है। विद्वानों की बुन्देलखण्डीय वर्तमान परम्परा में प पन्नालाल साहित्याचार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। आज से लगभग १०-१५ वर्ष पूर्व मैने अपने जन्मस्थान मडावरा मे उन्हे देखा था, जबकि वहाँ पर पू गणेशप्रसाद वर्णी सस्थान की स्थापना की रूपरेखा विद्वत् परिषद् के माध्यम से बनाई गई थी और निश्चय किया गया था कि वर्णी जी का स्मारक भी मडावरा में बनाया जायेगा। यद्यपि यह कार्य किन्ही कारणों से सम्पन्न नही हो सके, लेकिन पडित जी द्वारा किया गया प्रयास सराहनीय रहा। उनके इस प्रयास से यह सिद्ध होता है कि विद्वानों, समाजसेवियों एव महान् व्यक्तियों का वे अत्यधिक सम्मान करते है।

साहित्य जगत मे विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पंडित जी भी अछूते नही रहे। चाहे वह सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश हो चाहे हिन्दी। सभी प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं पर उनका समान अधिकार है। यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत संस्कृत के महान ग्रन्थों का सम्यक् सम्पादन, अनुवादन किया है। अत. वे साहित्य जगत की महान विभूति है।

आज जबकि व्यक्ति में प्राचीन भाषाओं यथा सस्कृत, प्राकृतादि का ज्ञान नगण्य रह गया है, पडितजी ने उक्त भाषाओं में स्थित ग्रन्थों का सम्यक् अनुवाद कर समाज पर जो उपकार किया है, उसे कभी भुलाया नही जा सकेगा। अभिनदन ग्रथ समर्पण के अवसर पर हम उनका हार्दिक अभिनदन करते हुए उनके दीर्घ जीवन की कामना करते है।

नरेन्द्रकुमार सोंरया, एम. ए. शास्त्री
मडावरा

आगम उपासक

आगम की उपासना के साथ-साथ सयमी जीवन की उपासना का सामञ्जस्य प. पन्नालाल जी में मिलता है

साहित्य साधना के वरिष्ठतम विद्वान्, श्रुतसेवा के महाव्रती, सहधर्मी वात्सल्य के साक्षात् अवतार प.जी के श्रीचरणों में अपनी उज्ज्वल कामनाएं प्रस्तुत करता हुआ उनके यशस्वी जीवन की मंगल कामना करता हूं।

राजवैद्य पं. भैयाशास्त्री
काव्यतीर्थ, आयुर्वेदाचार्य, शिवपुरी

मन को 'पन्ना' सा चमकाया

जिस पुस्तक का पन्ना पलटा, छिपा 'लाल' सा उसमें पाया।
सारा भ्रमतम मेंट हृदय से, मन को 'पन्ना' सा चमकाया ।।

जब से मैने देखा, ठीक इसी तरह देखा । जग बदला, वेशभूषा बदली, रहन-सहन बदला, लेकिन प. जी को जैसा पहले देखा था, वैसा ही आज देखता हूँ । न बनाव-ठनाव न कृत्रिमता, जो सहज सरलता है वह बाहर भीतर एक सी है । अगाध ज्ञान, सुसस्कृतवाणी ओजपूर्ण वक्तृत्व एव खोजपूर्ण लेखन। यही सब तो आपके विशिष्ट गुण है। आपको देखकर लोग स्वयं नम्रीभूत हो जाते है और प्रभावित हुये विना नही रहते ।

प. जी के दीर्घ जीवन के लिये मगल कामना करता हुआ, इस ज्ञान-दीप के चिर प्रकाशित रहने की प्रार्थना करता हूँ ।

डा० हुकुमचन्द्र जैन
B. A. M. S.
सदस्य—बीस सूत्रीय क्रियान्वयन-
विकास खंडीय समिति, जवेरा (दमोह)

सरस्वती के हे आराधक

प जी सरस्वती के वरद-पुत्र है । उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन पठन-पाठन तथा जिनवाणी की सेवा में बिताया है, वे भारतवर्ष के मूर्धन्य विद्वानो मे हैं, तथा सरलता, निराभिमानता की प्रतिमूर्ति है । ऐसे अध्यात्म के उत्कृष्ट प्रवक्ता, श्रमण सस्कृति के उन्नायक तथा जैनागम के उपासक डा. पन्नालालजी के यशस्वी दीर्घजीवन की मगलकामना करता हूँ ।

ज्ञानचन्द्र जैन
सम्पादक 'तारणबन्धु'
भोपाल

शत–शत वंदन

अध्यात्म के पुज, साहित्य-मनीषी, समाज-रत्न पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सदा ही अभिनदनीय रहे हैं। उनकी समाज एवं साहित्य की सेवायें प्रशंसनीय है। उन्होने जैन दर्शन के गूढ रहस्यों को समाज के सम्मुख विचारार्थ-मनन हेतु विश्लेषित किया है। उनकी इस सेवा का मूल्य समाज कभी भी नहीं चुका सकती। समाज अभिनदन ग्रन्थ भेंट कर मात्र औपचारिकता की ही पूर्ति कर रहा है। हम आदरणीय पडित जी का हार्दिक अभिवादन कर शत-शत नमन करते हुये उनके दीर्घ जीवन की कामना करते है।

महेन्द्रकुमार सिंघई
सदस्य—बुन्देलखंड कला परिषद्, दमोह

▣

मेरे पूज्य गुरुदेव

जैन आगम के सर्वोच्च ज्ञाता और टीकाकार, जैन साहित्य के माध्यम से समाज में नव चेतना को जागृत करने वाले, मुमुक्षु-प्राणियों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देने वाले, पूज्य गुरुवर्य डॉ. पन्नालाल जी के पुनीत चरणों में मेरा शत-शत वार नमन।

डॉ० अविनाश शास्त्री
शिवपुरी

▣

मनीषी विद्वान्

अगाध पाण्डित्य के धनी, साहित्य-साधना के गम्भीरतम विद्वान्, जिन्होने अपनी साहित्य-साधनासे जैन समाज में ही नही, समूचे देश में कीर्ति स्थापित की है। ऐसे साहित्याचार्यजी के पवित्र चरणों में अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हुआ उनके लम्बे जीवन की कामना करता हूँ।

डा० शरदचन्द्र शास्त्री
शास. कन्या महाविद्यालय
कुक्षी (धार) म. प्र.

अभूतपूर्व सामाजिक व्यक्तित्व

परम आदरणीय श्रद्धेय डा. प. पन्नालालजी साहित्याचार्य जैन समाज के मूर्धन्य एव अद्वितीय विद्वान् हैं।

आपने अपने जीवन में साहित्य सेवा के माध्यम से जो अनेक कठिन भाषी ग्रन्थो को सरल किया है, वह एक प्रशसनीय कार्य है ।

आपकी लेखन शैली अद्वितीय है। साथ ही सरल एव बोधगम्य है। जिन ग्रथो का पठन-पाठन बहुत समय से उन के दुरूह होने के कारण नही हो पा रहा था, उन ग्रन्थो का पठन-पाठन आज जन- साधारण करते है। वे धर्मामृत का पान कर रहे हैं, तथा जैन सिद्धन्तों का प्रसार-प्रचार तीव्र गति से हो सका हैं।

प जी कर्मठ एव समाज सेवी उच्च कोटि के मार्ग दर्शक होने के साथ-साथ त्याग में भी बहुत आगे है ।

प जी की विद्वत्ता की जहाँ तक प्रशसा की जावे वह कम है। क्योंकि आप तो सरस्वती के वरद पुत्र हैं ।

आपकी समाज सेवा से हमारी क्षेत्रीय युवा विकास समिति गिरारगिरि जी भी चिर ऋणी रहेगी ।

शाह एम. एल. जैन
श्री दि जैन क्षेत्रीय युवा विकास समिति
गिरारगिरि (ललितपुर) उ प्र

आगमनिष्ठ पं. पन्नालाल

अभिनन्दन के शुभ अवसर पर मे आर्षमार्ग के परम उपासक, जैन वाड्मय के पूर्ण ज्ञाता पूज्य प जी के शतायु जीवन की कामना करती हूँ ।

राष्ट्रभाषा-कोविद पं. शान्ति देवी शास्त्री
शिवपुरी

शुभकामना

आदरणीय पडितप्रवर डा. पन्नालाल जी 'वसन्त' साहित्याचार्य, भारतवर्ष के गिने-चुने जैन विद्वानों में से है। आपने अपने जीवनकाल में, जैन साहित्य की जो महान सेवा की एव कर रहे है, उससे जैन समाज सदा उपकृत रहेगा।

आपने चारो अनुयोगों के ग्रन्थों का सम्पादन,अनुवाद,व लेखन कार्य किया है,आप सम्पादन व लेखन मे जितने सिद्धहस्त है, प्रवचन मे भी उतने ही पटु।

आपकी प्रवचन शैली सरल,सुबोध व हृदयग्राही है।आप जहाँ भी पहुँचते है,वहाँ की जैन समाज आपके हृदयग्राही प्रवचनो से अपने को वहुत ही गौरवान्वित अनुभव करती है। बुन्देलखण्ड का तो कोई भी उत्सव,चाहे वह वार्षिक मेला हो, कोई विधान हो व गजरथ पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा हो, आपके विना सम्पन्न नही होता।

ऐसे जिनवाणी के मर्मज्ञ व चारित्र के धनी विद्वान् के प्रति आदरभाव प्रगट करते हुए जिनेन्द्र देव से दीर्घायु एव स्वस्थ जीवन की मगल कामना करता हूँ।

पं. अमरचन्द्र जैन शास्त्री
व्यवस्थापक,
श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र, खजुराहो

▣

शुभकामना

विद्वान् किसी स्थान या समाज या देश विशेष का नही होता। वह स्वच्छ नीर की तरह जन-जन को जीवन एव प्रेरणा देनेवाला, सुपथ दर्शाने वाला, आदरणीय एव पूज्य होता है। राजा-महाराजाओ की मान्यता उनके शासित प्रदेशों मे ही होती है, किन्तु विद्वान् सूर्य के प्रकाश की तरह सर्वगामी एव सर्वग्राह्य सर्वमान्य,आराधनीय होता है। प जी ने सागर को ही नही,सम्पूर्ण भारतीय जैन समाज को उपकृत किया है, जैन वाङमय की अपूर्व सेवा की है। ऐसे महान् विद्वान् का अभिनदन समाज के गौरव को बढ़ाने वाला है। मै उन्हे अपने प्रणाम अर्पित करता हुआ उनके चिरजीवन की कामना करता हूँ।

सेठ दयाचन्द्र जैन
अध्यक्ष—सेठ गिरधारीलाल राजाराम जैन, पारमार्थिक ट्रस्ट, गढ़ाकोटा (सागर)

▣

सरस्वती-पुत्र

विचारो मे उदारता, हृदय मे विशालता, प्रवचन शैली सरल, सीधी, साधारण श्रोताओ को मन्त्रमुग्ध करने वाली, माधुर्य पूर्ण, ओज से भरी वाणी के सरस्वती-पुत्र प पन्नालाल जी के पुनीत चरणो मे मेरे श्रद्धा-सुमन सादर अर्पित है। उनके शतायु होने की मगल कामना है।

पं. रतनचन्द्र शास्त्री
बामौर कलां (शिवपुरी)

▣

महिमा-मण्डित मधुर-मूर्ति

गहन ज्ञान-गरिमा से मण्डित पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य की महानता को मेरे जैसा अल्पज्ञ व्यक्ति व्यक्त करने में नितान्त अशक्त है। प जी सम्पूर्ण गुणों के पुजीभूत मूर्त रूप है। धर्म, तप, त्याग, सयम, के पुनीत आदर्श हैं।

सस्कृत पुराण ग्रन्थों की टीकाएं,सम्पादन, मौलिक सृजन आपके अथक व सजग प्रयत्नो का प्रमाण है।इस अल्प जीवन में इतनी महान् रचनाओं का सर्जक होना बहुत बडे विस्मय एव अलौकिक प्रतिभा का परिचायक है। वृद्ध होते हुए भी जिस लगन, उत्साह, उमग से वे सृजन कार्य मे सलग्न रहते है, वह युवा पीढी के लिये अनुकरणीय एवं प्रेरणाप्रद है।

'ओल्ड इज गोल्ड' के तथ्य के आधार पर मैं उस महिमामण्डित मधुर मूर्ति के चरणाम्बुजो मे अपनी विनम्र आदराञ्जलि अर्पित कर, उनके दीर्घ-जीवन की प्रार्थना करता हूँ।

डा० हुकुमचन्द्र जैन
बड़ा बाजार, सागर

मेरे उपकारी गुरु साहित्याचार्य जी

श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन संस्कृत पाठशाला द्रोणगिरि से अध्ययन समाप्त करने के बाद मेरे पूज्य पिताजी (श्री प. गोरेलाल जी शास्त्री), जो उस समय उक्त विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे, ने मुझे सागर विद्यालय में अध्ययन हेतु भर्ती कराया और सरक्षण का दायित्व आदरणीय साहित्याचार्य जी पर सौपा। मैं ग्रामीण वातावरण से एकाएक शहरी वातावरण मे पहुँचा स्वभाव सीधा और सकोची था ही। सागर का वातावरण मुझे अनुकूल नही लगा। पं. जी साहित्याचार्य जी ने मुझे बहुत समझाया कि अभी कुछ दिन और रहो, सब ठीक हो जावेगा। लेकिन मेरा दुर्भाग्य था कि मुझे सागर विद्यालय में पढ़ना भाग्य में था नहीं। स्वास्थ्य खराब हो गया और प. जी के भारी समझाने के बावजूद भी मुझे घर ही वापिस आना पडा। सहृदय साहित्याचार्य जी के वात्सल्यपूर्ण स्नेह से वंचित तो हुआ ही, अध्ययन भी समाप्त करना पड़ा। मैंने अल्पकाल मे भी प. जी में अनेकों गुणों को पाया। मैं पं. जी के प्रति शत-शत नमन करता हुआ, उनके यशस्वी दीर्घजीवन की मगल-कामना करता हूँ।

अजित कुमार जैन,
द्रोणगिरि

▣

हमारे आदर्श

पडित जी में जो व्यक्तित्व और प्रतिभा की अलौकिक शक्ति है वह अन्यत्र दृष्टि-गोचर नही होती। इतना ही नही वलिक ज्ञान के अनुपम भण्डार होने के साथ चरित्र के भी वे धनी है। मै माननीय पडित जी के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

श्रवण कुमार जैन,
एम. ए., शोध, छात्र, सागर

▣

निर्मोही शास्त्रज्ञ विद्वान्—डा. पन्नालाल जैन

मन और इन्द्रियों पर सयम की लगाम लगाये,मोह की धारा को निर्मोह वनाने मे सलग्न-डा पन्नालाल जी साहित्याचार्य जैन समाज के शास्त्र मर्मज्ञ एव यशस्वी विद्वान् हैं। उन्होने अपने ज्ञान का सदुपयोग जैन समाज के सन्मार्ग प्रदर्शन मे किया है। गृहस्थ होते हुए भी उन्होने अपने जीवन को अध्ययन, लेखन, मनन, चिंतन से उत्तरोत्तर निखारा है। उन्होने अपने अनुरूप अपने परिवार को भी धार्मिक सुखद सस्कार प्रदान किये है। उनका अध्ययन गहन है, उपदेश शैली सरल एव सुबोध है। रत्नत्रय पथ के आराधक एव रत्नत्रयी के सृष्टा है। प्रशान्त मन एव सौम्य मूर्ति है। सादा-जीवन उच्च-विचार के प्रतीक है। सासारिक विकल्पो से परे प. जी शीघ्र ही वर्णी पद को प्राप्त कर, शिवपुर के प्रशस्त मार्ग पर चलते हुये, चिरजीवी रहे, यही मगल कामना है।

डा० मोतीलाल जैन
खुरई, (सागर)

▣

शुभकामना

श्री साहित्याचार्य जी, जिन्होने जैन जगत्मे ही नही, अपितु सम्पूर्ण बुन्देलधरा मे अपनी साहित्यिक एव धार्मिक धारा प्रवाही-भाषा-शैली के द्वारा सामाजिक एव धार्मिक प्रगति का दीप प्रज्ज्वलित किया। आपने बुन्देलखण्ड वसुन्धरा को नई राह एव नई दिशा देकर नव पथ प्रशस्त किया। ऐसी चतुर्मुखी प्रतिभाओ के धनी, जैन जगत के दैदीप्यमान नक्षत्र डाक्टर विद्वत्रत्न श्री साहित्याचार्य जी के प्रति हम अपनी मगल-कामनाये अर्पित करते हुए, हार्दिक अभिनदन करते है।

चौ० रामलाल जैन ज्योतिर्विद
घुवारा (छतरपुर) म. प्र.

▣

द्वितीय खण्ड

उनका व्यक्तित्व : कृतित्व

उनका जीवन : उन्हीं के शब्दों में

(१) आत्मकथ्य :
(२) भेंटवार्ताएँ :
(३) वर्णीजी के पत्र : उनके नाम
(४) उनका अभिनन्दन.

आत्म - कथ्य
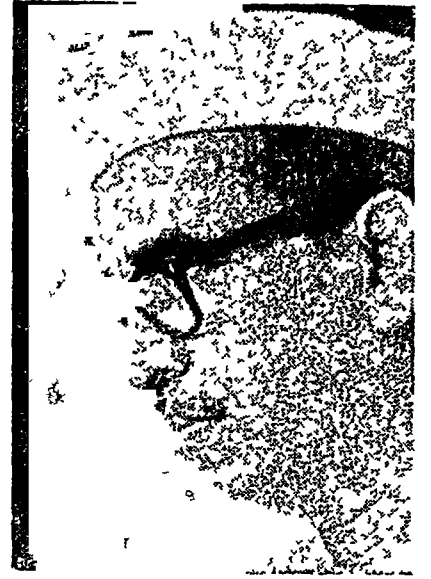
उत्थान और पतन प्रकृति का नियम है। इस नियम पर क्रूरकाल कभी भी अपना कठोर अकुश नही लगा सका। जहा कभी विशाल राजभवन, उन्नत-प्रासाद, विद्युत् प्रकाश मे चमकते भवन, मुस्कराते राजमार्ग महकते उपवन थे वहा आज खण्डहरो के सिवाय कुछ भी शेष नही है। मुगलो के आक्रमण ने नगर की शान-शौकत को धूलि धूसरित कर दिया। उदासी के कुहरे मे डूबा धामौनी खण्डहरो के बहाने अपनी करुण कहानी कहता-सा प्रतीत होता है। आज उसका वैभव उसके पास भले ही न हो, किन्तु इतिहास के पन्ने उसके महत्त्व को बड़ी ममता से अपने सीने से चिपकाए बैठे हैं। मै अपने पूर्वजो के आश्रयदाता, पितृ-तुल्य जन्म स्थान की इस दुर्दशा को डबडबाई आँखो से कातरता के साथ देख रहा हूँ।

धामोनी—२४° १०° उत्तर और ७८°, ४५° पूर्व मे स्थित सागर से २९ मील उत्तर की ओर भासी मार्ग पर स्थित है। इस गाँव का अत्यधिक ऐतिहासिक महत्त्व है। यद्यपि अब यह उजाड पडा है फिर भी गढा-मण्डला के राज्य-काल मे महत्त्वपूर्ण होने के कारण गढ बनाया गया था और इसके साथ-साथ ७५० मौजे थे। धामौनी के साथ अनेक वीर-बाकुरो की शौर्य गाथाए भी जुडी है। इसके विशाल खजाने की ओर, अनेक शक्ति-शालियो ने ललचाई आँखो से उसके ऊपर आक्रमण किये किन्तु इसकी रक्षा मे अपने प्राणो की आहुति देने वाले वीर-बाकुरे भी उसे नही बचा सके। अपने अवशिष्ट खण्डहरो के कारण धामौनी नि·सन्देह पुरातत्त्व की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और ५२ एकड़ भूमि मे त्रिकोणात्मक स्थिति धारण किये हुये है। इसका परकोटा ५० फुट ऊचा और १५ फुट चौड़ा है। जिस स्थान पर कभी मानव समूह अपने सहज परिधानो मे सजे भवनो मे निवास करते थे, वहा अब झाड़ी-झंखाड़ो और खूखार जंगली जानवरो का क्रीडा केन्द्र बन गया है। किन्तु गाव के समीप कुछ जैन मन्दिर है जिनका निर्माण १८१५–१९ के बीच हुआ था और जो जैन धर्म की यश -पताका उन्नत गगन मे फहराये हुये गौरव से उन्नत मस्तक खड़े है। इसके पतन की पीडा से कराहते मेरे मन के दर्द को मैं ही जानता हूँ। काश ! मै इसके उत्थान काल को भी अपनी उत्सुक आँखो से देख पाया होता।

अपने जीवन की सुरक्षा एवं आजीविका की तलाश मे धामौनी को अन्तिम प्रणाम करते हुये नागरिको के मन ने ममतामयी माता की सुखद गोद छिन जाने का दर्द अवश्य झेला होगा। मेरे पूर्वजो ने भी ऐसी ही विषम एव करुण परिस्थिति मे बेहाल हुये, धामौनी के धाम को छोड़ा और भटकते-भटकते पारगुवा ग्राम के घरौदो मे अपने क्षीणकाय, साधनहीन शरीरो को किसी तरह छिपाकर सन्तोष की सास ली। जीवन लाख कष्टो से

भरा हुआ क्यो न हो, किन्तु उसे सहसा समाप्त करने के लिये कोई भी उद्यत नही होता। मेरे पितामह सि लीलाधर जी ने सकट की आधी से अपने जीवन की ज्योति को किसी तरह बचा के रखा और अपनी आजीविका के उपार्जन मे उद्यत रहने लगे। अब उनका यह साधनहीन ग्राम ही व्रज की तरह उनका जीवन धाम वन गया। समय बीतता गया,साहस को सम्वल बनाकर उन्होने अपने पैरो पर खडे होकर, गृहस्थी को व्यवस्थित किया कि अब वे तीन पुत्रो के जनक का सौभाग्यशाली पद पाने के अधिकारी वन गये। वालक खेत की धूल मे खेलकूद कर पले-पुसे-बड़े हुये और उन्हे ग्रामीणजन गल्लीलाल, नन्दलाल और प्यारेलाल के नाम से वडे प्यार से पुकारने लगे।

समय ने करवट ली। शैशव की दहलीज को पार कर शिशु अब वालक से जवान हुये और पितामह का मन बहू को घरमे लाने के लिये ललक उठा। उनका मन सुन्दर सुशील गृहकार्य मे कुशल वहू की तलाश मे राहे नापने लगा। सुशील, कुलीन, सच्चरित्र वहू ही घर की सच्ची गृहलक्ष्मी होती है, वही घर गृहस्थी का शृगार करती है। वहू की तलाश मे कदम उठ चले। मेहनत का दूध मीठा होता है। मेरे पितामह की दृष्टि सागर नगर के धर्मज्ञ श्रावक शाह त्रिलोकचन्द्रजी की पुत्री जानकी पर पड़ी जो जनक की पुत्री जानकी की तरह ही सुयोग्य थी। बहुत सोचने समझने के बाद उसके गुणो पर रीझकर अपने ज्येष्ठ पुत्र गल्लीलाल को उसके स्नेहपाश मे बाध दिया।

साधारण साधनो के बीच घर के मौन वातावरण मे उक्त दम्पती का गार्हस्थ्य जीवन बीतने लगा। दिन और राते सूर्य चाद की गति के साथ ही घूमने लगे। पूर्व से पश्चिम की ओर वढती हुई सूर्य की छाया की तरह वर्षे लम्बी होती गई। और कालक्रम से उक्त दम्पती ने तीन पुत्रो को जन्म दिया। वह तीनो सहोदर सतानें आलमचन्द्र, लटोरेलाल और 'पन्नालाल' के नाम से जनजन से परिचित होकर विकसित एव परिवर्द्धित होती गई।

पारगुवा आज की स्थिति की तरह आधुनिक साधनो से सम्पन्न गाव नही था। लोग दिन मे सूरज की रोशनी मे और रात तेल की डिबिया के उजेले मे किसी तरह निकालते थे। बालको की शिक्षा-दीक्षा के लिये कोई स्कूल नही था। ग्रामीणो मे भी शिक्षा के प्रति कोई ऐसा लगाव नही था कि लोग स्कूल की ओर कदम वढाते। सौभाग्य ही मानिये कि एक पढे-लिखे दशरथ पुजारी गाव के बच्चो को एक पेड के नीचे कच्चे चबूतरे पर एकत्रित कर क ख ग का अभ्यास कराते थे। यही गाव का स्कूल था यही विद्यार्थियो की पाटशाला थी। मुझे तो इन पुजारी जी की पूजा का अवसर नही मिला किन्तु मेरे बड़े भाई आलमचन्द्रजी इतना कुछ सीख गये थे कि वही हम दोनो भाईयो के आद्य गुरु वने और उन्होने ही लकड़ी की पाटी पर काष्ठ लेखनी के सहारे कुरेदे गये अक्षरो की आकृतियो के सहारे अक्षराभ्यास कराते रहे।

समय कब कैसी करवट ले इसका पूर्वानुमान कभी कोई नही कर सकता। विक्रम सवत् 1972 का वर्ष था। मैंने लगभग 7-8 बसन्त ही देखे होगे। इसी बीच लाल बुखार विकराल लाल ने पारगुवा के दरवाजे खटखटाना प्रारम्भ कर दिये। लाल बुखार की भयावह काली छाया मृत्यु का रूप लेकर वाजपक्षी की तरह मानव शरीरो पर झपटने लगी। विनाश की आशंका से मानव ही नही, पक्षी भी घोसले छोड छोड कर भागने लगे। बालक-वालिकाओ की मनहर आमोद-प्रमोद से भरी क्रीडाओ से चहकते आगन, उदासी के अधेरे से भर गये। गलिया सुनशान एव घर वीरान होने लगे। लाल वुखार की चपेट मे माताओ की गोदी के लाल वेहाल होने लगे। रक्त से चलते फिरते मानव शरीर प्राणहीन होकर धरती पर गिरने लगे। मोहक वातावरण करुण क्रन्दन मे बदल गया। सुरीले ग्राम्य गीत चीख पुकार की अमागलिक ध्वनियो से आच्छादित हो मौन हो गये मृत्यु की विजय और जीवन की पराजय के आगे जैसे आसमान भी झुक गया। इसी बीच हमारे पितामह, पितामही, छोटे चाचा, चाची और अन्त मे हमारे पिता श्री गल्लीलाल जी का स्वर्गवास हो गया।

अपने वच्चो की सुरक्षा की चिन्ता मे मेरी मा का मोहक शरीर पाला से मुर्झाये पेड की तरह सूखने लगा। उदासी और वेचैनी ने उन्हे पारगुवा छोड़ने को विवश कर दिया। साधन विहीन और विधि के हाथो लुटी मेरी मा पारगुवा को छोड कर सागर की ओर चल पड़ी। अस्त-व्यस्त जीवन और ऊवड-खावड मार्ग की थकान ने उसके जीवन को समय से पहले थका दिया था। केवल एक आशा, एक अटूट विश्वास, अपने भाई के सहारे का ही उन्हे आगे बढाता रहा। अपनी टूटी-फूटी गृहस्थी को एक बैलगाडी मे सजोकर किसी तरह सागर के किनारे आ गयी। सागर की असीम लहरो पर तैरता जीवन सागर की तरह सीमाहीन निराशा से भर गया। अब सागर मे एक मात्र सहारा मेरी मा के भाई मेरे मामा कुदनलाल जी भड्डर का ही शेष था। डूबते को तिनके का सहारा भी भारी होता है। मामा ने पूरा सहारा ही नही दिया, साहस और संयम का सवल भी दिया। 'धर्मो रक्षति रक्षित' के सूत्र ने धार्मिक श्रद्धा की पूजी दी।

सागर नगर की प्राकृतिक रमणीयता एवं सरोवर की शीतलता ने बाह्य शान्ति ही नही आन्तरिक शान्ति भी प्रदान की। मुझे ऐसा लगा कि हमारे पूर्वजो ने जिस साधनसम्पन्न, शौर्य के धनी धामौनी का विवशता वश परित्याग किया था, उसके बदले जीवन का नूतन पथ सृजन एवं उसके विकास मे सहायक, सर्व साधनो से सम्पन्न सागर को अपनी धरोहर के रूप मे ही हमे दे दिया है। मैंने स्वय को बहुत भाग्यशाली माना कि मैं अंधेरे से निकलकर प्रकाश के पथ पर आ गया था।

सागर शहर मध्यप्रदेश के उत्तर मध्यभाग मे स्थित है। यह जबलपुर राजस्व संभाग का हिस्सा था। ब्रिटिश काल में यह अग्रेजी मे Saugor अथवा Sagar लिखा जाता था। यह 23. 10 और 24 27, उत्तर अक्षाश और 780.3' और 78 21 पूर्व रेखाश के बीच स्थित है। इस जिले के दक्षिणी भाग से कर्क रेखा गुजरती है। यह नगर मध्यरेलवे की बीना-कटनी रेल शाखा पर स्थित है। बम्वई दिल्ली मुख्य रेल मार्ग पर स्थित बीना से 47 मील 75, 64 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस जिले का नाम हिन्दी शब्द 'सागर' के आधार पर पडा है, जिसका अर्थ होता है सरोवर या समुद्र। इसका निर्माण एक विशाल सरोवर के चारो ओर किया गया है। जिसका क्षेत्रफल लगभग एक वर्ग मील है।

इसका मोहक वातावरण पाकर मन ने सतोप की सास ली। साधनो के समूह से भरे नगर की शिक्षा सस्था से लाभ उठाने को मन आतुर हो गया। मन की मलिनता, और अज्ञान का अधेरा मिटाने के प्रयत्न मे हम दोनो भाइयो ने स्कूल की सीमा मे प्रवेश किया। सहृदय शिक्षको के प्यार ने हमे लगन और उत्माह के साथ चौथी कक्षा के अन्तिम छोर तक पहुँचा दिया। जीवन ने किञ्चित् सफलता की साम ली। मन आगे बढने को आतुर होने लगा।

साधनहीन व्यक्ति की इच्छाए कभी पूर्ण नही होती, किन्तु पूर्वोपार्जित भाग्य उसे न जाने कहा से कहा पहुँचा देता है। शासन ने छात्रवृत्ति की घोषणा की। घोषणा मे चौथी कक्षा मे उत्तीर्ण शहरी एवं ग्रामीण छात्रो को क्रमश ३, और ६ रुपये मासिक छात्रवृत्ति देने का प्रावधान था। मैने प्रतियोगिता परीक्षा मे भाग लिया और उसमे उपार्जित ८२% अको की उपलब्धि से ३ रुपये मासिक छात्रवृत्ति पाने का अधिकारी वन गया। मैंने अपने भाग्य को सराहा और लगन से पढने मे निरत हो गया। धार्मिक शिक्षा से प्रेम होने के कारण मे शासकीय शिक्षा की अग्रिम कक्षाओ मे प्रविष्ट नही हो सका। इसे भले ही कोई दुर्भाग्य कहे, किन्तु मैं अपनी मानसिकता से लाचार था।

वर्णीजी का सान्निध्य—

उन दिनो बडे पण्डित जी के नाम से सम्बोधित किये जाने वाले पूज्य पं. गणेशप्रसाद जी वर्णी मेरे घर के समीप ही रहते थे। उनका स्वभाव मक्खन की तरह कोमल एवं गगा की तरह निर्मल था। वह निश्छलता के पावन प्रतीक और परोपकार की जीती-जागती लुभावनी मूर्ति थे। उनके समीप जाकर मैंने विनम्र जिज्ञासु

विद्यार्थी की तरह हाथ जोडकर निवेदन किया कि "महाराज ! मैं धर्म की शिक्षा लेना चाहता हूँ। स्कूली शिक्षा में मेरा लगाव नही है, कृपाकर मुझे इस ओर सहारा एव मार्गदर्शन दे।" यद्यपि मैं जैन धर्म का प्रारम्भिक ज्ञान पाने के लिये कटरा बाजार के मध्यभाग मे स्थित गौराबाई दिगम्बर जैन मन्दिर मे स्थापित रात्रि पाठशाला मे पढने के लिये जाया करता था। किन्तु इतने मात्र से मेरा मन सन्तुष्ट नही था। पूज्य वर्णीजी का प्रवचन सुनकर जब मैं बाहर आता तो मेरे मन मैं भी यही भावना उठती कि यदि मैं भी ऐसा ही बन जाऊँ तो मैं समाज का बडा उपकार मानूगा। भावना भवनाशिनी होती है और मेरी भावना के अनुकूल ही मुझे साधन मिलता गया। पूज्य वर्णीजी का यो तो सभी बालको से स्नेह था किन्तु धर्म के प्रति रुचि रखने वालो को वे सब तरह आगे बढाने का प्रयत्न करने मे लग जाते थे। पूज्यवर्णीजी को बच्चो से बडा आकर्षण था। जब कभी वे शास्त्र प्रवचन के बाद अपने दलबल के साथ पाठशाला मे आ पहुँचते तो छात्रो से पूछे बिना उन्हे चैन नही मिलता। वे प्रश्न प्रत्येक छात्र से करते। जो उनकी परीक्षा मे पास हो जाता। वह उनकी विशेष कृपा का पात्र बन जाता। कल्पतरु की इस कृपापूर्ण शीतल छाया का पात्र मैं बन गया। उन्होने मेरी उत्कट अभिलाषा देखकर स्व. कमरया लक्ष्मणदास जी द्वारा निर्मित ट्रस्ट की ओर से भर्ती किये जाने वाले ३० छात्रो मे अनपेड छात्र के रूप मे मेरा नाम अकित करा दिया। चतुर लोगो द्वारा कही जाने वाली यह बात "जब भाग्य अच्छा होता है तो साधन भी अच्छे ही मिल जाते है" मुझे बहुत भली लगी। मेरा मन इस बात का दृढ विश्वासी बन गया कि 'भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्' मुझे हाथ खर्च के लिये ऊपर से २ आने पैसे मिलने लगे। उस समय सुकाल था। उस समय के दो आने आज के १०) के बराबर थे। मै फूला नही समाया।

मैने प्रथम वर्ष शब्दरूपावली छहढाला रत्न करण्ड श्रावकाचार अष्टाध्यायी और अमर कोष को मूल रूप मे ही पढने का अभ्यास किया। पत्थर पर बार-बार घिसी गई चटनी की तरह उक्त ग्रन्थ मेरी जबान पर चढ गये और मुझे स्वादिष्ट चटनी की तरह स्वाद देने लगे। मेरे इस स्वाद के प्रसाद से मैं अब उस सत्तर्क सुधा तरगिणी दिगम्बर जैन सस्कृत पाठशाला का विद्यार्थी बन गया जो पाठशाला स्व श्री ढाकनलाल जी के मदिर के खण्डहर के ढक्कन के रूप मे स्थित थी। और यही पाठशाला मेरे सौभाग्य से ४ माह बाद मोराजी के दर्शनीय भवन मे स्थानान्तरित हो गई।

उस समय की पढाई 'आगे पाठ पीछे सपाट' के आधार पर नही होती थी किन्तु गुरु की प्रसन्नता ही अग्रिम शिक्षा का आधार बनती थी। पूज्य वर्णी जी का रात्रि का समय मोराजी मे ही व्यतीत होता था। वह स्वय अध्ययन तो करते ही थे, जब उनका जी चाहता वे मोराजी मे अध्ययन करने वाले छात्रो के पास अचानक जा पहुँचते और उनसे प्रश्नोत्तर करने लग जाते। अत पढने वाले विद्यार्थी बडी सावधानी से अपने-अपने विषयो को तैयार करते थे। मैं भी अपने पठित विषय को जाप की माला की तरह सौ बार दोहराता था। अत. मुझे सब विषय कण्ठस्थ रहते थे। 'जिह्वाग्रे ऽस्ति सरस्वती' के सूत्र को मैं अपनी सफलता का मन्त्र मानता हूँ।

तीसरा वर्ष गवर्नमेट सस्कृत क्वीन्स कालेज बनारस की प्रथम—परीक्षा दिलाई गई। परीक्षा के १–२ माह शेष ही थे कि प लोकनाथजी शास्त्री ने सूचना दी कि जो प्रथम परीक्षा मैं न बैठे वह अगले वर्ष सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा मे एक साथ बैठ सकता हे। यह सूचना मेरे लिए बडी रुचिकर प्रतीत हुई। मैने प्रथमा परीक्षा की ओर से अपना मन मोड लिया और मै अगले वर्ष की मध्यमा परीक्षा मे बैठने की कल्पना मे डूब गया। वर्णी जी को इस बात की भनक लग गई। वर्णी जी छलांग मार कर छत पर चढ़ने के पक्षपाती नही थे। वे जानते थे कि जरा सी चूक होने पर हाथो पैरो

की हड्डिया साबित नही बच सकती । अत. अपना भला चाहने वाले को ऐसी आतुरता श्रेयस्करी नही हो सकती । सीढी दर सीढी चढना ही सफलता का दृढ साधन है । उन्होने मुझे बुलाकर मुस्कराते हुए कहा "हापड़ा मारना चाहते हो ? परीक्षा का सर्टीफिकेट ही हाथ रहेगा, बोध कुछ नही होगा । अधिक पढने से कोई पण्डित नही बनता, क्रम क्रम से पढकर उसे आत्मसात् करनेवाला ही पण्डित बनता है।' व्याकरण मध्यमा के चारखण्ड चार वर्ष मे पढो और परिश्रम से पढो ।" पूज्य वर्णी जी की यह देशना प्यासे को अमृत पिलाने की तरह बहुत ही हितकर लगी और मैं विना ननु न च किये उनके आदेश को शिरोधार्य कर उनके पद चिह्नों पर चलनेलगा।पूज्यवर्णीजी का अनुभूत उपदेश रोगी को अमोघ औषधि सिद्ध हुआ। सफलता मेरे समीप आने लगी। संस्कृत भाषा मे मेरी गति बढ़ गई ।"

धर्म साधक,धार्मिक साधनो को जुटाने का सतत् प्रयत्न करते है । स्व०रज्जीलाल जी कमरया धार्मिक सँस्कारो मे पले थे । उनके मन मे विद्यालय भवन निर्माण कराने का शुभ भाव आया। फलस्वरूप उन्होने मोराजी मे एक भवन बनवा दिया । भवन बन जाने के बाद उन्होने सोचा मेरे द्वारा स्थापित ट्रस्ट फण्ड से ३० छात्र लाभान्वित हो रहे है तो फिर क्यो न उन्ही छात्रो को लेकर मैं नव निर्मित अपने विद्यालय भवन मे पाठशाला चलाऊँ ? यद्यपि यह विचार उनके मन मे बार-बार उठते और समाप्त हो जाते, किन्तु उसे मूर्तरूप देने का साहस उनमे नही था । बार-बार चलनेवाली हवा आग को प्रज्वलित कर ही देती है । उनके विचारो ने जोर पकडा और वह साहस बटोर कर वर्णी जी के समक्ष उपस्थित हो गए । उनकी उपस्थिति देखकर मनोविज्ञानी वर्णी जी पूछ बैठे—कहो कमरया जी क्या कहने आये हो ? हाथ जोडकर कुछ विना छिपाये कमरया जी ने कहा महाराज मै चाहता हूँ कि भवन का निर्माण हो चुका है क्यो न विद्यालय इसी भवन मे सचालित किया जाय । मै चाहता हूँ कि मेरे ३० छात्र मुझे दे दिये जाय, मैं अपनी अलग पाठशाला चलाना चाहता हूँ । वर्णी जी की पैनी दृष्टि ने देखा, कमरया जी के अन्तर मे दान के मान का बीज अंकुरित हो गया है,जो अच्छा नही है । पर इस समय उनकी बात को मानने मे ही कुशलता है, काटने मे नही । दूरदर्शी पूज्य वर्णी जो ने तत्कालीन सुपरि० प. मूलचन्द्र जी बिलौआ को आदेश दे दिया कि ट्रस्ट के ३० लड़को मे से पन्नालाल को छोडकर शेष की सूची कमरया जी को दे दी जाय । सूची देने के आदेश के साथ ही पं० मूलचन्द्र जी के कान मे वर्णी जी ने कुछ कहा। पर क्या कहा।यह कमरया जी नही जान पाये । मान के झूले पर बैठे कमरया जी अपने भवन मे ट्रस्ट द्वारा प्रविष्ट छात्रो को लेकर पाठशाला का सचालन करने लगे ।

वर्णी जी जानते थे कि शिक्षा सस्था का सचालन हँसी खेल नही । शिक्षा शास्त्री ही शिक्षा सस्था का सचालन कर सकता है । हल्दी धनिया का व्यापार करने वाला व्यापारी भला शिक्षा की गहराइयो को क्या जाने । सोने की परख सुनार ही कर सकता है, बुनकर नही । प मूलचन्द्रजी को अलग से बुलाकर वर्णी जी ने कहा कि "पन्नालाल का नाम अलग कर अन्य छात्रो की सूची मे लिख लो। कमरया जी अलग से पाठशाला नहीचला सकेगे । यह मेरा विश्वास है सिर्फ छात्रो का भविष्य खराब करेगे । वर्णी जी ने उनकी मानसिकता का जैमे पहले से ही अध्ययन कर लिया था ।

रज्जीलालजी कमरया दोवर्ष तक सस्था का सचालन करते रहे। इस बीच उन्हे यह अनुभव हो गया कि शिक्षा सस्था का सचालन सरल नही, टेढ़ी खीर है । इस अल्पकाल मे ही वे उत्साहहीन हो गये थे । संचालन की कठिनाइया उन्हे परेशानी मे डालने लगी । निराश होकर वर्णी जी के सामने उपस्थित होकर कमरयाजी कहने लगे "महाराज मुझसे गलती हुई । क्षमा करे, संस्था चलाना मेरे वश की बात नही है । मैंने जो गलती की है उसके

प्रायश्चित्त स्वरूप मैं मोराजी मे एक भवन और बनवाये देताहू'।वर्णीजी की मौन स्वीकृति से कमरयाजी ने विद्यालय तथा पीछे भाग मे धर्मशाला एव भोजनालय का भवन बनवाकर विद्यालय को समर्पित कर दिया। प्रेरणा को प्रेरणा जन्म देती है—के अनुसार भद्र-परिणामी सि कुदनलाल जी ने भी एक भवन का निर्माण कराया जिसे सरस्वती भवन के नाम से कहा जाता है। पूज्यवर्णी जी की प्रेरणा से सिंघई कुदनलाल जी ने दक्षिण से धवल, जय धवल औरमहाधवल की प्रतिलिपि कराकर इस सरस्वती भवन को भेट की जो अभी भी रखी हुई है। इसी भवन के उपरिम भाग मे एक मदिर है जिसमे पाषाण प्रतिमाओ के साथ धातु की मनोज्ञ प्रतिमाए भी स्थापित हैं। इतन। ही नही, वर्णीजी की प्रेरणा से सिंघईजी ने विशाल मानस्तम्भ का निर्माण भी कराया जो अपनी कलात्मक सुन्दरता सँजोये प्राङ्गण के मध्य भाग मे अवस्थित होकर भगवान के समवशरण की याद दिलाता है। सिंघईजी अतिशय उदार एव करुणावान् व्यक्ति थे। गरीबो की सहायता करने एव विद्यादान मे धन का सदुपयोग करना उनकी सहृदयता एव उदारता का परिचायक था।

विद्यालय के शान्त-एकान्त वातावरण मे रहकर मैंने धार्मिक अध्ययन के साथ व्याकरण मध्यमा भी उत्तीर्ण की। 'काव्यतीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये वाराणसी मे रहना मुझे अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ और पूज्यवर्णीजी का आदेश पाकर मैं वहा चला गया। दीपावली से लेकर वैशाख तक का समय श्रीमान् प कैलाश चन्द्रजी के सान्निध्य मे बडी तल्लीनता से बीता। और उन्ही के समीप राजवार्तिक 1 से 4 अध्याय तक अध्ययन किया। प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय की परीक्षा भी वाराणसी से दी। वाराणसी से वापिस आकर पुन सागर विद्यालय मे श्री प दयाचन्द्र जी सिद्धात-शास्त्री से एक वर्ष तक प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री यथा पञ्चाध्यायी का अध्ययन किया। अध्ययन काल मे प जी का हार्दिक स्नेह मिला उनके अध्यापन की शैली मेरी रुचि के अनुकूल थी। अत मैंने भी बडी लगन से पढा। मुझे अपनी पढाई से सतोष था। अब मैं कार्यक्षेत्र मे उतरना चाहता था।

घर-गृहस्थी की देखभाल एव आर्थिक व्यवस्था बडे भाई ही करते थे। मै बिल्कुल निश्चिन्त था,किन्तु अध्ययन की समाप्ति ने मुझे आजीविका की चिन्ता मे डुबो दिया। घर की आर्थिक स्थिति तो पहले से कमजोर थी ही इसलिये बड़े भाई के काम मे सहयोग देना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा और आजीविका की तलाश मे प्रयत्न-शील हो गया। सच्चे मन से किया गया प्रयत्न कभी विफल नही होता और मैं प्रसन्न था कि मेरे परिश्रम का फल मुझे शीघ्र ही मिल रहा है।

सन 1931 की बात है। श्री पार्श्वनाथ दि. जैन विद्यालय उदयपुर मे मेरी नियुक्ति हो गई। मैं वहा पहुँचने की तैयारी कर चुका था। सागर से कर्मस्थली की दूरी द्रौपदी के चीर की तरह लम्बी थी फिर भी मै जाने को उत्सुक था। आजीविका स्थान और उसके अन्तर को नही देखती। रोकने वाला भी कोई नही था।

पूज्यवर्णीजी उन दिनो बरुआसागर मे निवास कर रहे थे। मुझे स्वप्न मे आशा नही थी कि मेरी बात मेरे सिवाय किसी दूसरे के कान मे पड सकती है किन्तु तब मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहा जब पूज्य वर्णी जी ने प. दयाचन्द्रजी को तार से सूचित किया कि-पन्नालाल को रोको मै आ रहा हू। मैं सोचने लगा कैसी विचित्र बात है कि मेरी यात्रा का सूत्र दूरस्थ वर्णी जी से जुड गया। क्या कोई वायरलैस लगा था जिसने वर्णी जी को मेरी यात्रा से स्पन्दित कर दिया।

मै प्रसन्न था कि मेरे ऊपर एक महान सन्त का वरदहस्त है । ऐसा सौभाग्य विरले ही व्यक्तियो को प्राप्त होता है । मेरे लिये यह असामान्य घटना थी । मै रुक गया । पूज्य वर्णी जी दूसरे दिन ही सागर आ गये और उन्होने सागर विद्यालय मे ही मेरी नियुक्ति कर दी । पारिश्रमिक 25 रु मासिक था। समय अच्छा था । आज की तरह वस्तुओ के भाव आसमान पर नही चढे थे । 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की उक्ति भली-भाति चरितार्थ होती थी । आवश्यकताओ की पूर्ति वस्तुओ के आदान-प्रदान से होती थी । अनाज के भाव भी सस्ते थे जो आज के युग मे चौकाने वाले हैं । गेहू 1रु मे १८ सेर' चावल 10 सेर, दूध 8 सेर, घी सवा सेर, सोना 21 रु. तोला, चादी छह आने आज के40 पैसे तोला थी। धोती जोडा 3रु मेउपलब्ध था। वस्तुओ के इन मूल्यो को पढकर वर्तमान मूल्यो से गुजरने वाला व्यक्ति सहसा इन पर विश्वास कर लेगा ऐसा विश्वास नही होता ।

'संतोष परमं सुखं'की उक्ति उपदेशकाल मे हितावह भले ही हो किन्तु क्रियात्मक रूप मे उसे स्वीकार करने मे मानव तिलमिला उठता है । उदयपुर मे मेरी नियुक्ति 50 रु. मासिक पर हुई थी । कहा 50 और कहा25 इस अन्तर से मेरा मन डोल उठा । प्रसन्नता ने उदासी का रूप ले लिया । वर्णीजी का पारदर्शी मन मेरी स्थिति को भाप गया । मेरे कधे पर हाथ रख कर वह बोले देखो वेतन कम है अत खिन्न न होओ, इतने वेतन से ही फूलोगे-फलोगे । वर्णीजी के पुनीत आशीर्वाद ने मेरे मन के भार को हल्का कर दिया । उदासी काफूर हो गई तृष्णा की खाई भर गई । 'सतोषामृततृप्ताना यत् सुख' की उक्ति ने मेरे मन मे आनद की लहर लहरा दी । मैं उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर चुपचाप समर्पित भाव से अध्यापन कार्य मे जुट गया । उस समय प० दयाचन्द्र जी प्र अ , प. कमल कुमार जी, प माणिक चन्द्र जी न्यायतीर्थ एव मैं कुल चार शिक्षक थे । लगन एव निष्ठा से कार्य करते हुये धीरे धीरे जीवन के 52 वर्ष कैसे बीत गये यह मैं नही जान सका । मैने विद्यालय की ईमानदारी से सेवा की तो विद्यालय से मुझे यश और प्रतिष्ठा मिली यह मै नि.संकोच स्वीकार करता हू ।

पूज्य वर्णी जी का यह विद्यालय अपनी सीमा से बहुत दूर तक ख्याति प्राप्त कर चुका था । मध्यप्रदेश मे ही नही, किन्तु सपूर्ण भारतवर्ष मे सागर विद्यालय का नाम महनीय हो गया था । अब तक विद्यार्थी सागर छोडकर बनारस अध्ययन के लिये जाते थे किन्तु अब दूर दूर से छात्र सागर विद्यालय मे पढने आने लगे । विद्यालय की प्रतिष्ठा के अनुरूप छात्रों की सख्या उत्तरोत्तर बढने लगी । जिन कक्षाओ मे छात्रो की सख्या नगण्य थी अब उन कक्षाओ के दो-दो वर्ग प्रारभ हो गये।समय की माग देखते हुये सागर विद्यालय ने छात्रोपयोगी पाठ्यक्रम का निर्माण किया और धार्मिक शिक्षण के साथ उसे लौकिक शिक्षण से भी सुनियोजित किया गया । पाठ्यक्रम के साथ पठन काल मे भी परिवर्तन कर दिया गया । सस्कृत विषयो की पढाई प्रात' काल होती और दिन का समय हाईस्कूल या विश्वविद्यालयो मे पढने के लिये छात्रो को दे दिया गया । मेट्रिक से लेकर एम ए तक की शिक्षा का अवसर पाकर अब छात्र प्रसन्नता से झूम उठे । कलकत्ता एव बनारस परीक्षाओ का केन्द्र भी विद्यालय बन गया । यह काल विद्यालय का स्वर्णकाल रहा । श्रीप.मुन्नालालजी राधेलीय ने इस काल को अपने मत्रित्व से सुशोभित किया।

निरन्तर गतिशील रहना ही जीवन है । मैंने अपने अध्ययन को आगे बढ़ाया और अध्यापन के साथ ही अध्ययन की तैयारी मे जुटा रहा । सन् 1931 के समय मेरा अध्ययन नगण्य था किन्तु 1936 के किनारे आते आते मैं साहित्याचार्य के पद का अधिकारी बनगया और लोग नाम को भूलकर साहित्याचार्य के नाम से संबोधित करने लगे । इस परीक्षा के काल मे बनारस मे पं मुकुन्द शास्त्री खिस्ते से रस गंगाधर पड़ते हुये जो रसानुभव मिला वह चिरस्मरणीय है । अब तक का सारा नीरस जीवन सरसता के रस से सराबोर हो गया ।

श्री प. दयाचन्द्र जी सि. शा. के सेवा–निवृत्त होने पर उनके पद का भार मेरे निर्बल कन्धो को सम्हालना पडा। जिन विषयो को वह सहज भाव से पढा देते थे उन्हे श्रमपूर्वक पढाते मे श्रान्त होने लगा। विद्यालय का स्तर बढ गया। सपूर्णानन्द स वि वि ने महाविद्यालय की मान्यता दे दी। आचार्य परीक्षा का केन्द्र भी इस महाविद्यालय को वना दिया गया।

विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती 1957 समारोह तथा वर्णी भवन मे 1965 मे स्थापित 1008 बाहुवलि स्वामी की पन्चकल्याणक प्रतिष्ठा के समय मुझे अपनी सपूर्ण शक्ति सफलता के लिये लगानी पडी जिससे मुझे आनन्द का ही रसास्वादन मिला।

अब तक मैं गृहस्थी की चिन्ता से मुक्त था किन्तु सन् 1947 मे मझले भाई एवं भाभी के देहान्त ने मुझे गृहस्थी के चक्कर मे फँसने के लिये बाध्य कर दिया। जब तक मेरे बच्चे एव भतीजे कार्य भार वहन करने मे सक्षम नही हुये तबतक मुझे अवश्य सक्लेश का भार उठाना पडा। यह दश पन्द्रह वर्ष का काल मेरी अग्नि परीक्षा का काल था।

'नहि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति' इस सूक्ति का पालन करना मानव मात्र का कर्त्तव्य है। मैं अपने हितैषी मलैया बालचन्द्र जी के उपकार को कभी नही भूल सकता। उन्होने सन्1951 मे 'महेश किराना भडार' की स्थापना कराकर व्यापारिक क्षेत्र मे मेरा प्रवेश कराया। और सदा उचित सलाह देते रहे हैं। साहित्य का अध्यापक व्यापार के दाव पेंचो को नही समझ सकता अत समय समय पर वह मुझे व्यापारिक निर्देशन देकर सजग करते रहते।

विद्या के क्षेत्र मे मेरे मार्गदर्शक पूज्य वर्णी जी, विद्यागुरु प दयाचन्द्र जी सि शा और प कैलाशचन्द्र जी शास्त्री रहे है। साहित्य सर्जना मे मैं 1936 से ही रुचि लेने लगा था किन्तु उसकी परिपक्वता स्व डा. महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के सौजन्य से ही आयी। भारत की लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशन सस्था, भारतीय ज्ञानपीठ से मेरा सम्पर्क उन्ही के माध्यम से हुता।

विवाह

अध्ययन मे लगन रहने के कारण मुझे यह समझ मे नही आया कि मैं बड़ा हो गया हू और मेरी मा मेरे आगे की चिन्ता कर रही है। बालक के जन्म के साथ ही माता-पिता के बालक के लालन-पालन, भरण पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि न जाने कितने प्रकार के दायित्व होते हैं जिन्हे पूरा करने की वह नित नई योजनाए सजोते रहते है। अपने अपने साधनो के अनुसार लोग कोई अपने बालक को कलेक्टर, कोई डाक्टर, कोई मिनिस्टर, कोई प्रोफेसर, कोई इजीनियर,वकील बैरिष्टर बनाने के स्वप्न सजोये रहते है और कोई अपने बच्चे को शिक्षक बनाकर ही संतोष कर लेते हैं। शिक्षा-दीक्षा समाप्त होने के बाद उसे वैवाहिक बन्धन मे बाधकर उसे सद्गृहस्थ बनाने मे रुचि लेने लगते हैं। पर यह सब काम वह मौन साधक की तरह चुप चाप करते रहते हैं। यह उनकी बात है जिनकी प्रदर्शन, विज्ञापन मे रुचि नही होती। मेरी मा की भी इसी तरह की अनन्त आशाए रही होगी किन्तु वे अप्रकट रुप से स्वत. ही पूर्ण होती गई यह उनके पूर्व सुकृत कर्मों का ही फल है।

विवाह अनिवार्य है यह मेरे मन ने कभी नही स्वीकारा। किन्तु लोक लाज एव सामाजिक मर्यादा का अतिक्रम मैं कभी नही कर सका। खास तौर से अपनी ममतामयी मा और स्नेही भ्राता की बात को टालने का साहस मै कभी नही कर सका। कब कितनी चर्चाएं इस विवाह सबध की चली और कव उनकी परिणति हुई इसमे मेरी कोई अभिरुचि नही रही।

मैं केवल इतना ही जानता हू कि मुझे इसका पता तभी चला जव द्वार पर विवाह की प्रथम रस्म पूरी करने की घोषणा वाद्यो से विनिर्गत मनोहर प्रतिध्वनि ने की। पाठक समझ गये होगे कि यह सगाई की वात है। दो बच्चो को व्याहने के लिये पचो के समक्ष मा बाप के बीच हुए कौल करार को सगाई कहते है। सगाई मे वर कन्या का कोई संबध नही रहता। अक्सर दोनो को उसका पता तक नही रहता। यह मेरे समय की वात है आज की नही। आज की रस्मो का तो निराला ही माहौल होता है जो खर्चीला ही नही आडम्बर और प्रदर्शन की भावना से पूर्ण होता है। वर कन्या के मा बाप उसके पीछे मिट जाते है। पैसा और समय दोनो बरबाद करते है। कपड़े, गहने बनते हैं। बिरादरी भोज के खर्च के हिसाब बनते है पकवान के प्रकारो की प्रतिद्वन्द्विता होती है। कमोवेशी के रूप मे सर्वत्र यही होता है होता आया है पर अब अधिक बढ गया है।

ठीक तिथि तो याद नही,किन्तु इतना याद है कि ज्येष्ठ भाई की शादी के कुछ ही समय वाद १९वर्ष की अवस्था मे मुझे भी दूल्हा वन कर अश्वारोहण का शुभ अवसर मिला (पर्वतारोहण का नही)। आज तो पर्वतारोहण भी प्रतिष्ठा का कारण बन गया है।सागर से 28मील पूर्व जबलपुर मार्ग पर सुनार नदी के स्वर्ण तट पर बसे गढाकोटा नगरमे मेरा विवाह मास्टर काशीरामजी की सुपुत्री सुन्दरवाई के साथ सन्१९३१ मे सपन्न हुआ मास्टर शब्द शिक्षक अर्थ का सूचक है। शिक्षक का शिक्षक से संपर्क होना समानादर का द्योतक है। मैं इस संबध से प्रसन्न था। मेरे ससुर के तीन पुत्र थे–वडे का नाम प्रेमनारायण और छोटे का नाम जिनेश्वरदास था। मध्यवाले का नाम भोगचन्द्र था। परिस्थितिवश कालान्तर मे गढाकोटा का परकोटा छोडकर सागर आ वसे थे। सभी शिक्षित एव सरल थे। वड़े साले को मास्टर प्रेमनारायण तथा द्वितीय को जिनेश्वरदास एडवोकेट के नाम से लोग जानते रहे है–मानते रहे हैं। उन तीनो मे से अब कोई शेष नही है। हा उनके पुत्र पौत्र अवश्य फल–फूल रहे है। दमोह मे ही भोगचन्द्र की पत्नी अध्यापिका कस्तूरी बाई जी हैं जो वैधव्य जीवन को शिक्षिका के रूप मे विताकर सेवा–निवृत्त जीवन विता रही है।

पारिवारिक जीवन :

मैंने शिक्षित होते हुये भी अपने जीवन की घटनाओ को कही किसी कागज के पन्ने पर नोट नही किया। इसलिये यह मैं दावे से नही कह सकता कि अमुक दिन अमुक समय मे किस कार्य का प्रारम्भ या घटना घटी। इस कमी का अनुभव मुझे अब होने लगा है। विवाह सभी के होते है किन्तु पति के अनुरूप उसके सुख-दु.ख तथा विचारो मे समानता तथा समन्वय स्थापित कर गृहस्थी को सन्तुलित वनाकर चलने वाली पत्नी का मिलना वड़े ही पुण्य का फल है।मेरी पत्नी मे वे सभी गुण मिले जो एक गृहिणी में होना चाहिये। मेरा वैवाहिक जीवन सुखी रहा। समय सयम के साथ धीरे धीरे बीता और पत्नी ने मातृत्व के भार को वहन किया। सयोगवश मेरे ६ लडके और तीन लडकिया है। लडके सभी आज्ञाकारी एव सुशिक्षित हैं। सबसे वड़े लडके को छोड़कर शेष सब आधुनिक शिक्षा पद्धति के साचे मे ढले फले फूले हैं। सभी शासकीय सेवाओं मे सलग्न हैं। अन्तिम सुपुत्र डा. राजेश जबलपुर मेडिकल कॉलेज मे प्रशिक्षण ले रहा है। लडको के नाम क्रमश. प्रकाशचन्द्र

महेश, अशोक, पवन, राकेश एव राजेश है । प्रकाशचन्द्र सागर मे ही महेश किराना भण्डार का सचालक है । महेश और पवन इंजीनियर हैं। अशोक सागर मे ही शासकीय सेवा मे है, राकेश दमोह मे भूसर्वेक्षण अधिकारी है। तीन पुत्रियाहै कमला, कचन, शरद। कमला का विवाह मेरे ही नाम राशि सि पन्नालाल मोटर वाले के सुपुत्र देवेन्द्रकुमार के साथ हुआ है । द्वितीय पुत्री राजवैद्य प. बारेलाल जी पठा वालो की पुत्रवधू हैं । तृतीय पुत्री शाह पन्नालाल जी रजवास वालो के भाई बाबूलाल जी के सुपुत्र नेमिचन्द्र के साथ परिणीत है सभी को लौकिक सुख सुविधा सम्पन्न घर, वर प्राप्त है । मैं पुत्रियो से पूर्णतया निश्चिन्त हू । एक महाकवि द्वारा वर्णित —

पुत्रीति जाता महतीति चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः ।
दत्वा सुखं प्राप्स्यति वा नवेति कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ।।

के मर्मस्पर्शी क्लेश का मुझे कभी अनुभव नही करना पडा । बच्चियों की शादिया सहजभाव से निष्पन्न हो गई । सब सुखी है । पाचो लडको के सबंध भी कुलीन, धार्मिक परिवारो मे हुये । बहुए भी मर्यादा-पालक सुशील एव व्यवहार-कुशल हैं । प्रसन्न है ।

मेरे मझले भाई की चार सतानें थी । श्रीचन्द्र, सुरेशचन्द्र, रमेशचन्द्र और श्रीमती जिनमे से अब केवल दो सताने शेष है। द्वितीय पुत्र सुरेशचन्द्र एडवोकेट है व तृतीय पुत्र जिसे सभी लोग बड्डा के नाम से जानते हैं फोटो ग्राफर है । उन सब से भी मै निश्चिन्त हू । मेरे बडे भाई आलमचन्द्रजी का स्वर्गवास बहुत पहले सन् १९२३ के लगभग हो गया था । मझले भाई लटोरेलाल तथा उनकी पत्नी का देहान्त सन् १९४७ के लगभग हो गया था । उनकी चार सतानो का पालन मेरी पत्नी ने बडी ममता और आत्मीयता के साथ किया । वे सभी मेरे ही परिवार के अभिन्न अग रहे । अपने पैरो पर खडे हो जाने तक मैंने उन्हे अपनी ही सतान की तरह स्नेह दिया । और आज भी हैं ।

इस प्रकार मेरा परिवार पारगुवा छोडने के बाद सागर मे वट-वृक्ष की तरह फला फूला है। सामाजिक प्रतिष्ठा भी अच्छी मिली है । अपने अपने सुकृत एव धर्म के प्रभाव से ही व्यक्ति सुखी होता है शेष पर-निमित्त तो पर ही है । हा उत्पादन की अनुकूलता मे निमित्त भी कारण हो जाते हैं । धर्म की शरण को प्राप्त व्यक्ति का मरण भी सद्गति को देता है। 'धर्म एव सदा बन्धु. स एव शरण मम । इह वान्यत्र संसारे इति त पूजयेऽधुना ।' इस महामन्त्र पर मेरी पूर्ण एव अटल आस्था है । मेरी ही नही मेरा परिवार इसी सूक्ति की छाया मे सुख-शान्ति से रह रहा है ।

साहित्य सृजन :

मेरी मान्यता है कि अनवरत किया गया अभ्यास सुखद फल अवश्य देता है । जैन सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म के क्षय क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न उपादान साधन ज्ञान की निर्मलता का कारण होता है । इसके विपरीत जो लोग मौलिक सृजन धर्मिता को ईश्वरीय वरदान मानते हैं उन्हे कवि की इस सूक्ति को गहराई से जीवन मे उतारना चाहिए । "करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान, रसरी आवत जात तें सिलपर परत निशान" यह सूक्ति जीवन मे सफलता के उन्नत भवन पर चढने के लिये सोपान का काम देती है और अनवरत श्रम को ही सफलता का श्रेय प्रदान करती है । सस्कृत अध्ययन पूज्य वर्णी जी के आशीर्वाद से मुझे मिला और मैंने उसमे योग्यता अर्जित की । सस्कृत भाषा की रचनाओ मे छिपे रसो का रसास्वादन कर

मुझे जो आनन्द मिलता उसी की अनुभूति स्वरूप मैंने अपने भावो को रचनाओ का आकार दिया। जिन रचनाओं को लिख, पढकर कभी सकोच का अनुभव करता था उन्ही रचनाओ ने मुझे पुनरावृत्ति के माध्यम से नि.शंक और निर्भीक रचनात्मक शक्ति प्रदान की। मेरी सफलता के पीछे पूज्य महामना सन्त वर्णी जी का वरद हस्त रहा है। एक बार सम्मानित होने पर मानव मस्तिष्क आगे छलाँग मारने मे नही हिचकता। मेरे अध्ययन के मधुर रसीले फलो ने मुझे सम्मान का मीठा सजीवन रस पिलाया है। आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों मे अपनी अल्पज्ञता के प्रकाशन ने भी मेरे पथ को प्रकाशित किया है। उन सभी सन्तो आचार्यो और गुरुओ के प्रति नम्रीभूत हूँ। इस शृखला मे मैं डॉ० रामजी उपाध्याय, अध्यक्ष सस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय सागर को नही भूल सकता। उनकी सस्कृत के प्रति अच्छी लगन थी तथा प्राच्यसस्कृत शिक्षार्थियो के लिये भी विश्वविद्यालयीन उपाधिया दिलाने की ओर प्रयत्नशील रहते थे। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप सन् १९७३ मे सागर विश्वविद्यालय सागर ने मेरे शोध प्रबन्ध 'महाकवि 'हरिचन्द्र' एक अनुशीलन' को डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि से अलकृत किया।

मैं समाज मे होने वाले उत्सवो, विधि-विधानो मे सदा अभिरुचि लेता रहा हूँ। व्यक्ति की पूर्णता सिर्फ स्वयं की प्रगति तक सीमित नही होती, समाज व धर्म की प्रगति के प्रयत्नो से जुडना भी उसका अनिवार्य अग होता है। व्यक्ति के निर्माण से ही समाज का निर्माण होता है और समाज का निर्माण राष्ट्र की रचना का आधार बनता है। जैनसमाज मे जहाँ कही भी सिद्धचक्र विधान या अन्य कोई विधान होते थे मै उनमे हमेशा आमन्त्रित होता रहा और उससे मुझे लोकप्रियता मिली। पच कल्याणक प्रतिष्ठाओ से भी मै उतना ही जुडा रहा, जितने अन्य उत्सवो से पर्युषण पर्व तथा महावीर जयन्तियो मे भाग लेने के लिये मुझे दिल्ली कलकत्ता बम्बई आदि बडे बडे शहरो से आमन्त्रण मिलते रहे और मैंने उनमे सम्मिलित होकर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का मे लगभग ३० वर्ष तक संयुक्त-मन्त्री एवं मन्त्री रहा। विद्वत्परिषद् की स्थापना के दो वर्ष बाद सन् १९४८ से संयुक्त मन्त्री बना दिया गया था। तभी से इस परिषद् की गरिमा के अनुरूप उसके मन्त्री एव अध्यक्ष पद पर रहकर मैंने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया है और अब संरक्षक एव कोषाध्यक्ष के अनुकूल अपनी सेवायें परिषद् को दे रहा हूँ। समय समय पर सर्वत्र मुझे सम्मान मिला यह मेरे पूर्व पुण्य एव गुरुओ के आशीष का फल है।

व्यक्ति का जीवन सदा एकसा नही रहता। काल क्रम से उसमे क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। बचपन से लेकर बुढापे की सीमा मे पग रखने तक किस दिन वह कितना घटा बढा, यह वह प्रत्यक्ष रूप से नही जान सकता। आम का पौधा बढकर ही वृक्ष का रूप होता है, किन्तु किस दिन यह कितना बढा, बौर से बौराये आम ने किस क्षण फूल मे फल का आकार लिया कहा नही जा सकता। अनुभव अवश्य होता है। मेरे जीवन के लम्बे सफर मे ७७ वर्ष कैसे बीत गये यह एक विस्तृत कथा है किन्तु इस काल मे मैंने जो कुछ किया उसका सक्षिप्त लेखा, जोखा मेरे द्वारा, अनूदित सम्पादित या रचित ग्रन्थ ही दे सकते है मेरा शरीर और लेखनी,मेरे भावो की अनुगामिनी बनी रहे, मैं अपने पग, संयम मार्ग पर बढाता रहूँ यही कामना है।

यदतीतमतीतमेव तत् यत् आगामिनि को विनिश्चयः।

मेरी अन्तिम अवस्था का वर्तमान जीवन आचार्यप्रवर श्री विद्यासागर जी के निर्देशानुसार श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल पिसनहारी की मढ़िया जबलपुर मे व्यतीत हो रहा है। मुझे विश्वास है कि पूज्य आचार्यश्री का निर्देश उनके लक्ष्य तक पहुँचाने मे मुझे सहायक सिद्ध होगा।

जैन-वाङ्मय की सेवा मे मुझसे जो कुछ बन पडा है, ग्रन्थो का अनुवाद, सम्पादन, आदि के माध्यम से यत् किंचित् लिखा गया है; वह इस प्रकार है—

ग्रन्थों की सूची :
प्रथमानुयोग के ग्रन्थ

	ग्रन्थ नाम	प्रकाशन संस्था
१	आदि पुराण, प्रथम भाग	भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी
२	आदि पुराण, द्वितीय भाग	"
३	उत्तर पुराण	"
४	पद्मपुराण, प्रथम भाग	"
५.	पद्म पुराण, द्वितीय भाग	"
६.	पद्म पुराण, तृतीय भाग	"
७.	हरिवश पुराण	"
८.	गद्य चिन्तामणि, सस्कृत हिन्दी टीका सहित	"
९	पुरुदेव चम्पू, सस्कृत हिन्दी टीका सहित	"
१०	वर्धमान पुराण	सूरत
११	चौवीसी पुराण (मौलिक)	जिनवाणी प्रेस,कलकत्ता
१२	पार्श्वनाथ चरित	शान्तिवीर सस्थान, महावीर जी
१३.	सप्त व्यसन चरित	"
१४	वर्धमान चरित	जैन सस्कृति संरक्षक सघ सोलापुर
१५	शान्तिनाथ चरित	"
१६.	महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन (शोध प्रबन्ध)	भा० ज्ञानपीठ, वाराणसी
१७	जीवन्धर चम्पू, सस्कृत हिन्दी टीका सहित	"
१८	धन्य कुमार चरित	शान्तिवीर नगर महावीर जी
१९	धर्मशर्माभ्युदय सस्कृत हिन्दी टीका सहित	भा० ज्ञानपीठ, वाराणसी
२०	धर्मशर्माभ्युदय, मात्र हिन्दी अनुवाद	"
२१	विक्रान्त कौरव, हिन्दी टीका सहित	चौखम्बा सस्कृत सीरीज,वाराणसी
२२	वादिराज ग्रन्थावली (प्रेस मे)	जैन संस्कृति सरक्षक संघ, सोलापुर
२३	यशोधर चरित	जैन पुस्तकालय, सूरत
२४	मेरी जीवनगाथा, प्रथम भाग	वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
२५	मेरी जीवनगाथा, द्वितीय भाग	"

करणानुयोग के ग्रन्थ :

२६. धर्म कुसुमोद्यान (मौलिक) सानुवाद	जिनवाणी प्रेस, कलकत्ता
२७ कुन्दकुन्द भारती (सानुवाद)	आ० शान्तिसागर प्रकाशन, फलटण
२८. करणानुयोग दीपक प्रथम, द्वितीय भाग	महासभा का प्रकाशन विभाग,कोटा
२९. त्रिलोकसार की प्रस्तावना	,,
३० कर्मकाण्ड की प्रस्तावना	,,
३१ जीवकाण्ड गुजराती की प्रस्तावना	,,
३२ चैतन्य कर्म चरित	सूरत

चरणानुयोग तथा स्तोत्रादि के ग्रन्थ

३३ रत्न करण्डक श्रावकाचार सस्कृत, हिन्दी टीका सहित	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
३४. अशोक रोहिणी व्रतोद्यापन (मौलिक)	सूरत
३५. सहस्रनामाकित वृषभ जिन पूजा (,,)	,,
३६ भक्तामर सानुवाद	वम्वई
३७. कल्याण मदिर (–,,–)	वम्वई
३८. एकीभाव (–,,–)	,,
३९. विषापहार (–,,–)	,,
४० जिनचतुर्विशतिका (,,)	,,
४१. सामायिक पाठ (मौलिक)	वर्णी ग्रन्थमाला,वनारस
४२ मन्दिर वेदी प्रतिष्ठा और कलशारोहण विधि	,,
४३. स्तुति विद्या	वीर सेवा मदिर, दिल्ली
४४ स्वयभू स्तोत्र	शान्तिवीर संस्थान महावीरजी
४५. रविव्रत कथा और पूजा (मौलिक)	,,
४६ सुभाषितावली	,,
४७. सुभाषित मजरी, १ भाग	,,
४८. सुभाषित मजरी, २ भाग	,,
४९ पच स्तोत्र संग्रह	सूरत
५० क्रिया कोष (भावसिंह रचित) अनुवाद व सपादन	राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास
५१. सहस्र नामाकित जिन पूजा (मौलिक) (सहस्र नाम विधान)	ज्ञानोदय प्रकाशन, जवलपुर

द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ :

५२. मोक्ष शास्त्र	सूरत
५३. आराधना सार	शान्तिवीरनगर महावीरजी
५४ तत्त्वार्थसार	वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी
५५ समयसार	,,
५६. अष्ट पाहुड	शान्तिवीरनगर महावीरजी
५७ द्रव्यानुयोग प्रवेशिका	,,
५८ अध्यात्मामृत तरगिणी	अहिंसा मदिर,दिल्ली
५९. लघु तत्व स्फोट	श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी
६० सम्यक्त्व चिन्तामणि (मौलिक)	श्री वीर सेवा मदिर ट्रस्ट,वाराणसी
६१. सज्ज्ञान चद्रिका ,,	,,
६२ सम्यक्चारित्र चिन्तामणि,	,,
६३. समयसार (सपादन)	राजचन्द्र ग्रन्थमाला अगास
६४. मूलाचार, भाग १/२	भा० ज्ञान पीठ

६५. उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त मेरे द्वारा सम्पादित और सयोजित स्मृतिग्रन्थ व स्मारिकाए–

१. श्री वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ	वर्णी हीरक जयन्ती समिति सागर
२ आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रन्थ	शान्तिवीर शोध सस्थान महावीरजी
३. गणेश दि० जैन स० महाविद्यालय स्वर्ण जयती अक	जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर
४ पच कल्याणक प्रतिष्ठा समारोह स्मारिका सागर	प्रतिष्ठा समिति सागर
५ षट्खण्डागम प्रथम वाचना स्मारिका 'सागर मे विद्यासागर'	प्रवध का स सागर
६ श्री गणेश वर्णी स्मृति ग्रन्थ	अ भा व दि जैन विद्वत्परिषद्
७ भारत वर्षीय दि० जैन विद्वत्परिपद् (रजत जयती पत्रिका)	,,
८. श्रुत सप्ताह नवनीत	,,

मेरे जीवन निर्माता :

मेरे जीवन निर्माण मे जिनका हाथ रहा है, उनकी चर्चा भिन्न-भिन्न लेखो मे यथास्थान आ चुकी है।

मेरी मां :

हमारी मा जानकीवाई का ९२ वर्ष की अवस्था मे सावधानीपूर्वक स्वर्गवास हो गया। वे विपत्तियो से न घवडाने वाली कर्मठ महिला थी। साधारण स्थिति मे रहकर भी उन्होने कभी आत्मगौरव का घात नही किया। आज से पचास वर्ष पूर्व हमारे पिता का देहान्त हो गया था। उनके बाद माताजी ने अपने तीन पुत्रो का भलीभाति पालन कर उन्हें सुमार्ग पर लगाया। वैधव्य का भार पडते ही वे अपने निवास स्थान पारगुवा का घर छोडकर सागर आ गयी। उस समय हमारी अवस्था ७ वर्ष की थी और मैं सबसे छोटा पुत्र था। हिन्दी की चार कक्षाओ की स्कूली शिक्षा पूरी होने पर उन्होने मुझे पूज्य वर्णीजी को सौपकर सस्कृत विद्यालय मे पढवाया। इसी बीच मेरे बड़े भाई का देहान्त हो गया शेष दो पुत्रो का पालन करते हुए उन्होने गृहस्थी का स चालन किया। आई हुई विपत्ति को समता से झेलना, यह उनका मूल मत्र था। वे अभिमान से सदा दूर रहती थी तथा हम लोगो को भी इस दोष से दूर रखने का सदा प्रयत्न करती थी। इस विषय का एक प्रकरण बडा ही सुन्दर है—

पारगुवा से हमारी मा हम लोगो को लेकर एक बैलगाड़ी मे सामान लादकर सागर आई थी। उस सामान मे मिट्टी की एक मटकिया थी जिसमे वे आटा रखकर साथ लाई थी। वह मटकिया आगे चलकर बहुत समय बाद किसी बहू की असावधानी से फूट गई इस पर उन्होने बडा हल्ला मचाया तथा असावधानी करने वाली पुत्र-वधू को बहुत डाटा। मैने कहा—चार छह पैसे की मिट्टी की मटकिया को लेकर इतना हो-हल्ला मचाना अच्छा नही। उत्तर मे उन्होने कहा—वेटा, मै जानती हू कि तुम्हारे पास सव कुछ है उसके सामने मिट्टी की मटकिया क्या कीमत रखती है ? पर मै इसे इसलिये सुरक्षित रखना चाहती थी कि तुम लोग अपने पिछले दिन याद रख सकते कि हमारी मा भी एक दिन इस मिट्टी की मटकिया मे आटा लेकर सागर आई थी, वही उसकी वडी पूजी थी। विपत्ति के दिन याद रखोगे तो कभी अहकार नही आवेगा। सागर मे हमारे मामाजी रहते थे,जो सम्पन्न थे। पर मा ने सागर आने पर उनके घर डेरा रखना उचित नही समझा और बारह आने माहवार पर एक कोठा किराये से लेकर उसमे सामान उतारा। उनका कहना था कि विपत्ति के समय किसी के घर डेरा डालना अपना अनादर कराना है। पीछे चलकर सन् १९३६ मे जव घर का मकान बन गया और उसमे निवास के लिये सामान जाने लगा तव उन्होने धीरे से कहा था कि कभी तुम वारह आने किराये वाले मकान मे भी रहे हो। मकान वन जाने का अहकार न करना।

हम दोनो भाई छोटे थे और वडे भाई का देहान्त हो गया। उनके क्रियाकाज करने के वाद मा की सिलक मे नगद के नाम पर सिर्फ आठ आने शेष रह गए थे, पर फिर भी उन्होने कभी साहस नही छोडा। इस प्रकरण को जव वे कभी सुनाने लगती थी तव आखो से अश्रु-धारा रोकना कठिन हो जाता था।

वे २ माह १४ दिन बीमार रही। उनका पित्त विलकुल वैठ गया था। उन्हे खाने की इच्छा विलकुल नही होती थी। सिर्फ छटाक आधा पाव दूध के आश्रय ही उनका लम्बा समय निकला। शरीर त्वगस्थि-शेष रह गया था, फिर भी चित्त मे कभी अशाति नही आने दी। वे पढ़ी नहीं थी पर मौखिक ही उन्हे प्रथयानुयोग के वहुत शास्त्रो की कथाएं याद थी। भक्तामर, सूत्र, सहस्रनाम तथा पूजा सुनने की उन्हे बड़ी रुचि थी। वीमारी के समय जव यह सब उन्हे सुनाए जाते तव बड़ी श्रद्धा से सुनती थी।

एक दिन मैंने दान के विषय मे जिक्र किया तो उन्होने कहा कि हमारी पेटी मे जो नगद हो उन्हे दान कर देना, मैंने कहा और भी कुछ। उन्होने उत्तर दिया कि दान तो अपने परिग्रह मे से ही करना ठीक होगा। तुम्हारे परिग्रह मे से मुझे दान करना कैसा ? अतिम समय तक उनके परिणामो मे पूर्ण शाति रही, प्रातः ५.१५ बजे मैं घर से विद्यालय गया, तब ठीक थी। ६ बजे विद्यालय खबर पहुंची कि मा का स्वास्थ्य गडबड हो रहा है जब तक मै पहुचा तब तक उनके कुछ श्वास ही शेष रह गए थे। णमोकार मन्त्र का पाठ हो रहा था, उसे सुनते-सुनते उन्होने अतिम श्वास छोडी।

उनके तीन पुत्र थे जिनमे एक मै ही शेष हू। ६ पौते और १२ पड़पौते उन्होने छोड़े। वे शरीर से बलिष्ठ थी तथा संयम से रहती थी। उनके पीसने की चक्की अलग निकाल कर रख दी गई है उसे चला सकना उनकी बहुओ और नतबहुओ के वश का काम नही है। इसी प्रकार उनके पानी भरने की गुण्ड (पीतल का बर्तन) भी अलग रख दी गई है उससे पानी भरना किसी अन्य के वश की बात नही है। ६२ वर्ष की अवस्था मे भी उनके दात पूरे थे तथा मोतियाबिन्द का आप्रेशन कराने के बाद वे बिस्तर पकडने के पहले तक गेहू चावल आदि की शोधन क्रिया अच्छी तरह करती थी। अधिकाश वे एक बार ही भोजन करती थी।

उनका जीवन साधारण होने पर भी एक आदर्शपूर्ण था। उनके स्वर्गवास पर जिन संस्थाओ ने शोक प्रस्ताव और सवेदना के प्रस्ताव भेजे तथा प्रत्यक्ष आकर सवेदना प्रकट की उन सबके प्रति मैं नम्र आभारी हू। माताजी की स्नेहमयी छाया से यद्यपि मैं वञ्चित हो गया हू तथापि दो बड़े भाईयो और भौजाइयो के देहावसान हो जाने से मेरे हृदय मे जो एक शल्य थी कि कही इन्हे मेरे वियोग का भी दु:ख न उठाना पडे। वह निकल गई। उनके जीवित रहते मैं घर से बिलकुल निश्चिन्त रहा मुझे कभी किसी बात की चिन्ता नही रही। उनकी परिणति को देखते हुए लगता तो यही है कि उन्हे सद्‌गति की प्राप्ति हुई होगी।

—पन्नालाल

[जैन सन्देश, मथुरा, २१ मार्च १९६८ से साभार]

साहित्याचार्य डॉ॰ पन्नालाल जी का जीवन : चित्रमय प्रस्तुति

साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी का जीवन : चित्रमय प्रस्तुति

पं. पन्नालाल जी की पूजनीया माँ :
श्रीमती जानकीबाई जी
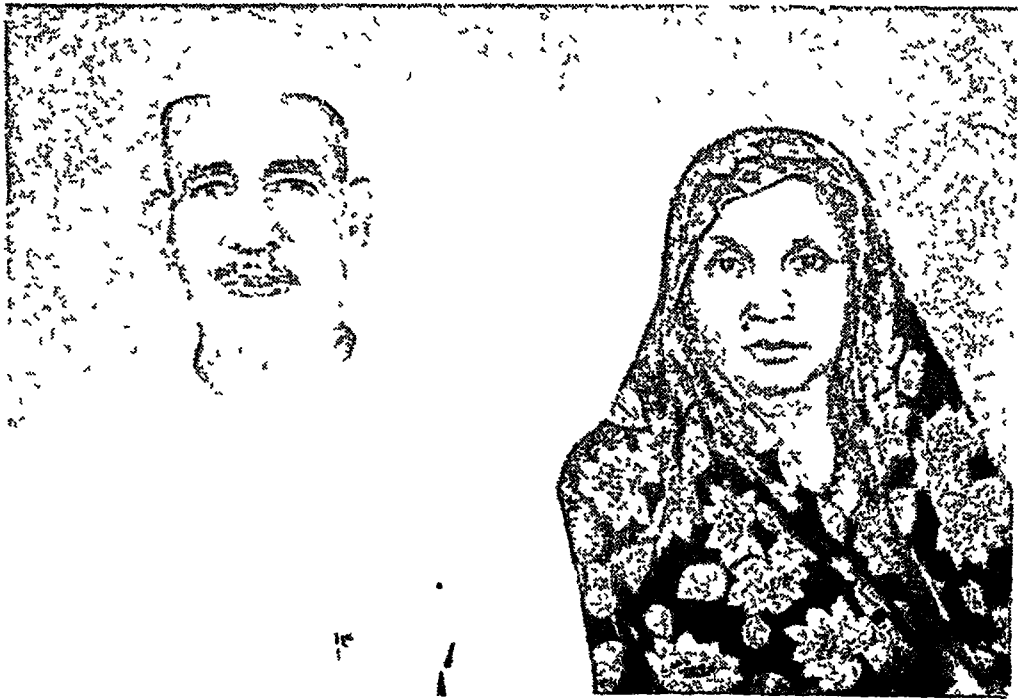
डॉ. पन्नालाल जी एवं उनकी धर्मपत्नी सौ. सुन्दरबाई जी

'महाकवि हरिचन्द्रः एक अनुशीलन' विषयक शोध प्रबन्ध पर सागर विश्वविद्यालय से 'डॉक्टरेट' की उपाधि प्राप्त करते हुए डॉ. पन्नालाल जी.
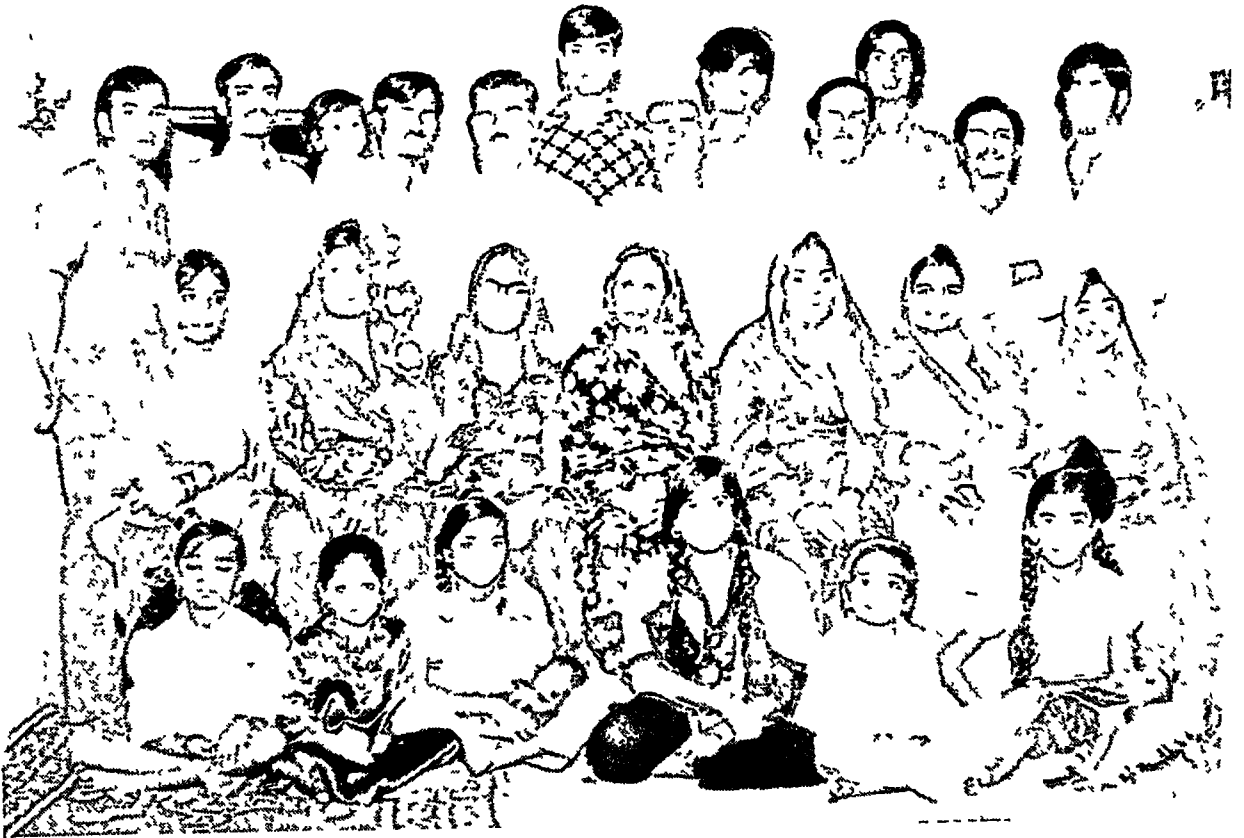
डॉ. पन्नालाल जी अपने परिवार–जनो के बीच ।
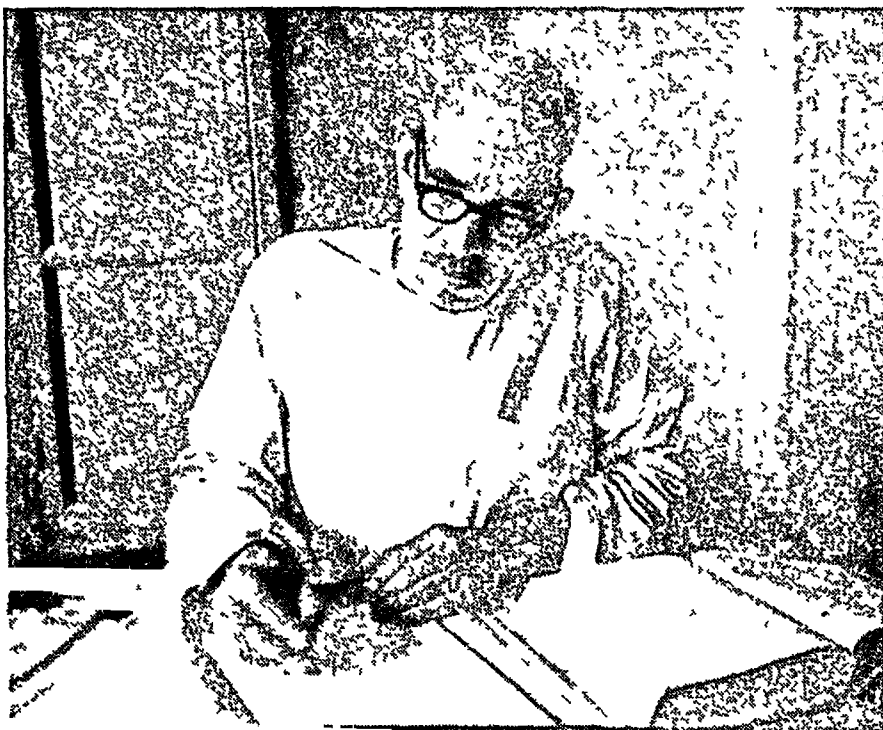
अध्ययन–अनुशीलन मे निरत डॉ. पन्नालाल जी ।

पं. जी अपने अभिन्न साथियों–पं. गोपीलाल अमर एवं डॉ. दरबारीलाल जी —कोठिया के साथ ।

ऐतिहासिक प्रसंग :

साधु-व्रती, विद्वज्जन और गणमान्य समाजनेता :

पूज्य क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी, क्षु. चिदानन्द जी ब्र. सुमेरुचन्द्र जी भगत आदि त्यागीवर्ग तथा पूर्णचन्द्र जी बजाज, शिवप्रसाद जी मलैया, श्रीमत सेठ भगवानदास जी, नाथूराम जी गोदरे, सिं. रज्जोलाल जी, सिं. डालचन्द्र जी, प. दामोदरदास जी तथा प. दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री के साथ ऊपर की पक्ति (बायें) मे प्रथम स्थान पर खडे हुए प पन्नालाल जी साहित्याचार्य ।

भारतीय गणतत्र के प्रथम महामहिम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी को स्व-रचित साहित्य भेंट करते हुए डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य ।
[अप्रैल १९६०]

भारतीय गणतत्र के महामहिम राष्ट्रपति माननीय श्री वी. वी. गिरि
डॉ पन्नालाल जी को राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित करते हुए।

राष्ट्रय पुरस्कार प्राप्ति के अवसर पर
राजघाट दिल्ली मे महात्मा गाँधी की
समाधि पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए
डॉ. पन्नालाल जी (म प्र के अन्य साथियो
के साथ)

भगवान महावीर के निर्वाण रजत शती महोत्सव पर सागर मे आयोजित समारोह मे राष्ट्र के भू. पू. प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देशाई का स्वागत करते हुए डॉ पन्नालाल जी ।

धर्मचक्र प्रवर्तन समारोह के अवसर पर सागर मे आयोजित सभा को उद्‌बोधित करते हुए डॉ. पन्नालालजी : मंच पर आसीन है म प्र. शासन के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी एवं सेठ डालचन्द्र जी ।

श्री गणेश दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर के तत्कालीन प्राचार्य प. दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ की सेवानिवृत्ति पर उनके अभिनन्दन हेतु आयोजित 'विदाई समारोह' मे सभा को सबोधित करते हुए—डॉ. पन्नालाल जी। मचासीन हैं—(बाये से दायें) प दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, सागर विश्वविद्यालय के तत्कालीन सस्कृत विभागाध्यक्ष—डॉ रामजी उपाध्याय एव महाविद्यालय—ट्रस्ट समिति के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत सेठ भगवानदास जी।

इन्दौर मे आयोजित अभिनन्दन समारोह मे डॉ. पन्नालाल जी का सम्मान करते हुए माननीय श्री मिश्रीलाल जी गंगवाल (८ जन. १९७४)
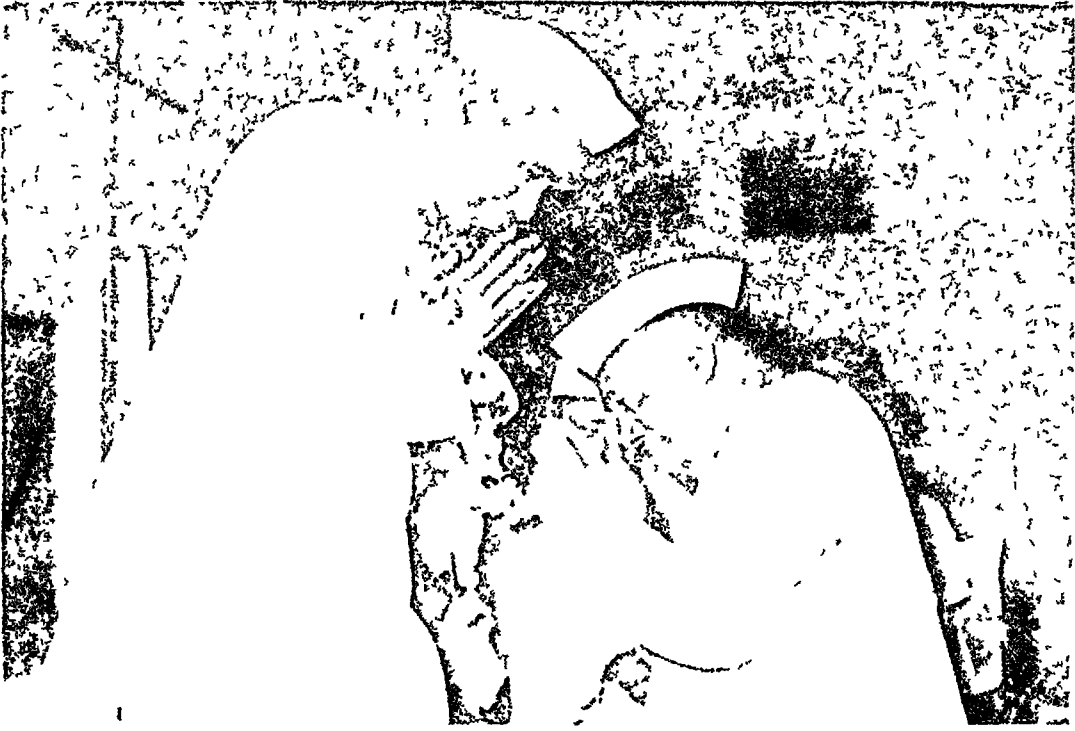
भगवान महावीर के निर्वाण रजत शती के सन्दर्भ मे डॉ पन्नालाल जी के अभिनन्दन समारोह मे अभिनन्दन करते हुए श्री सागरचन्द्र दिवाकर एडवोकेट। [१९७४]

डॉ. पन्नालाल जी का अभिनन्दन करते हुए श्रीमन्त सेठ डालचन्द्र जी सागर
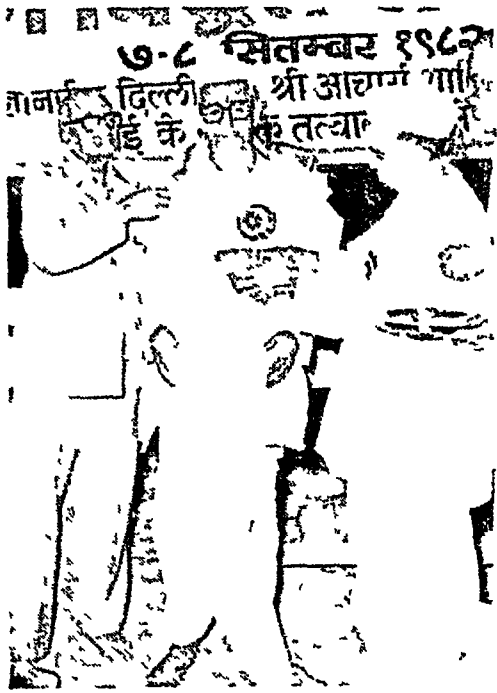
बम्बई मे—भारतीय ज्ञानपीठ एव आचार्य शान्तिसागर ट्रस्ट के सयुक्त तत्त्वावधान मे सम्पन्न विद्वद् सगोष्ठी मे डॉ पन्नालाल -जी का अभिनन्दन करते हुए माननीय साहु श्रेयासप्रसाद जी एव श्री चाँदमलजी मेहता। [सितम्बर १९८२]

महाकवि अर्हद्दास-विरचित 'पुरुदेव चम्पू' ग्रन्थ की टीका के उपलक्ष्य में श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इन्दौर द्वारा आयोजित अभिनदन समारोह मे अ. भा दि जैन विद्वत्परिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. दरबारीलाल जी-कोठिया प पन्नालाल जी को सम्मान-निधि व प्रशस्ति अर्पित करते हुए। साथ मे हैं—श्री राजकुमारसिह जी. [जनवरी १९७४]

खजुराहो मे विद्वत्परिषद् के चतुर्दश अधिवेशन मे नव निर्वाचित अध्यक्ष डॉ. पन्नालाल जी अध्यक्षीय अभिभाषण देते हुए।

राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्ति पर मध्यप्रदेश शासन की ओर से पं. पन्नालाल जी का अभिनन्दन करते हुए तत्कालीन मुख्यमंत्री माननीय श्री श्यामाचरण शुक्ल. [जनवरी 1970]

प पू श्री १०८ आर्यनन्दी जी मुनि महाराज डॉ. पन्नालाल जी को 'विद्यावारिधि' की उपाधि एवं प्रशस्ति प्रदान करते हुए [१९७६]

आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती-जी के सान्निध्य मे सम्पन्न— 'सम्यग्ज्ञान प्रशिक्षण शिविर दिल्ली' के कुलपति डॉ. पन्नालालजी का अभिनन्दन करते हुए श्री रमेशचन्द्र जैन (पी एस. जैन कम्पनी) [२ नवम्बर १९८०]

खजुराहो मे सम्पन्न अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के अधिवेशन में डॉ. पन्नालाल जी के साथ स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी मूडबिद्री एव प. कैलासचन्द्र जी शास्त्री ।

भारतवर्षीय दि जैन विद्वत्परिषद् के खजुराहो अधिवेशन मे निवर्तमान अध्यक्ष–प नाथूलाल जी शास्त्री इन्दौर, नवनिर्वाचित अध्यक्ष डॉ. पन्नालाल जी को 'अध्यक्षीय बैज' से सम्मानित करते हुए । [१९८१]

जैनागम वाचना - षटखण्डागम धवल ग्रंथों का स्वाध्याय

स्थान - वर्णी भवन मोराजी, सागर म.प्र.

आचार्य श्री विद्यासागर जी के सान्निध्य मे श्री षट्-खण्डागम धवल ग्रन्थो की वाचना करते हुए
डॉ. पन्नालाल जी (१९८०)

सुप्रसिद्ध कोश ग्रन्थ—'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रचयिता श्री क्षु. जिनेन्द्र वर्णी का अभिवन्दन करते हुए डॉ. पन्नालाल जी।
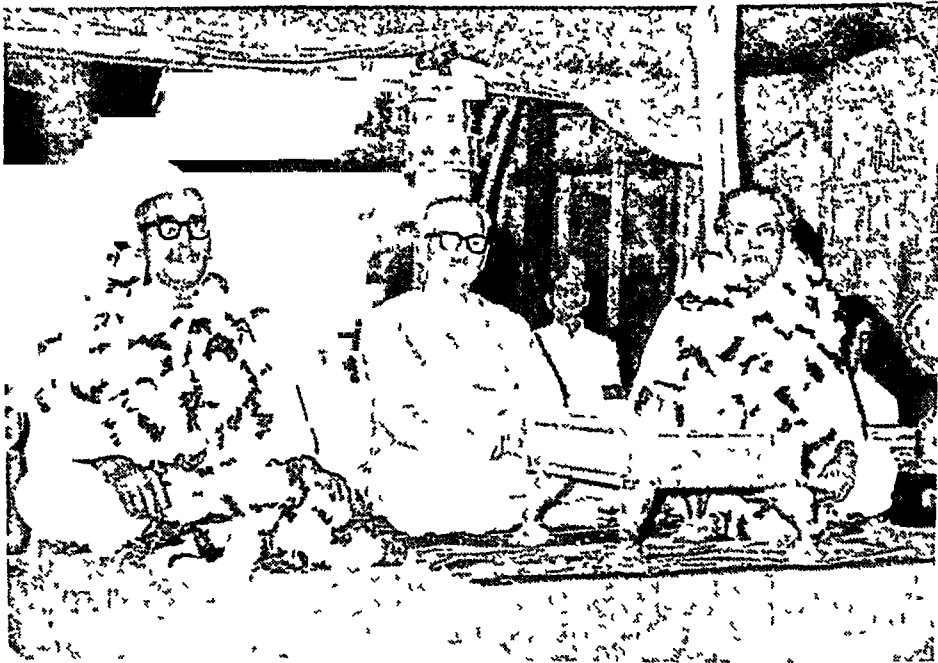
प्राच्य विद्याओ के विश्वविख्यात अग्रगण्य मनीषी डॉ हीरालालजी जैन की अध्यक्षता मे इन्दौर की विविध सस्थाओ की ओर से सम्मानित डॉ. पन्नालाल जी एव प. विनयकुमार 'पथिक' मथुरा।
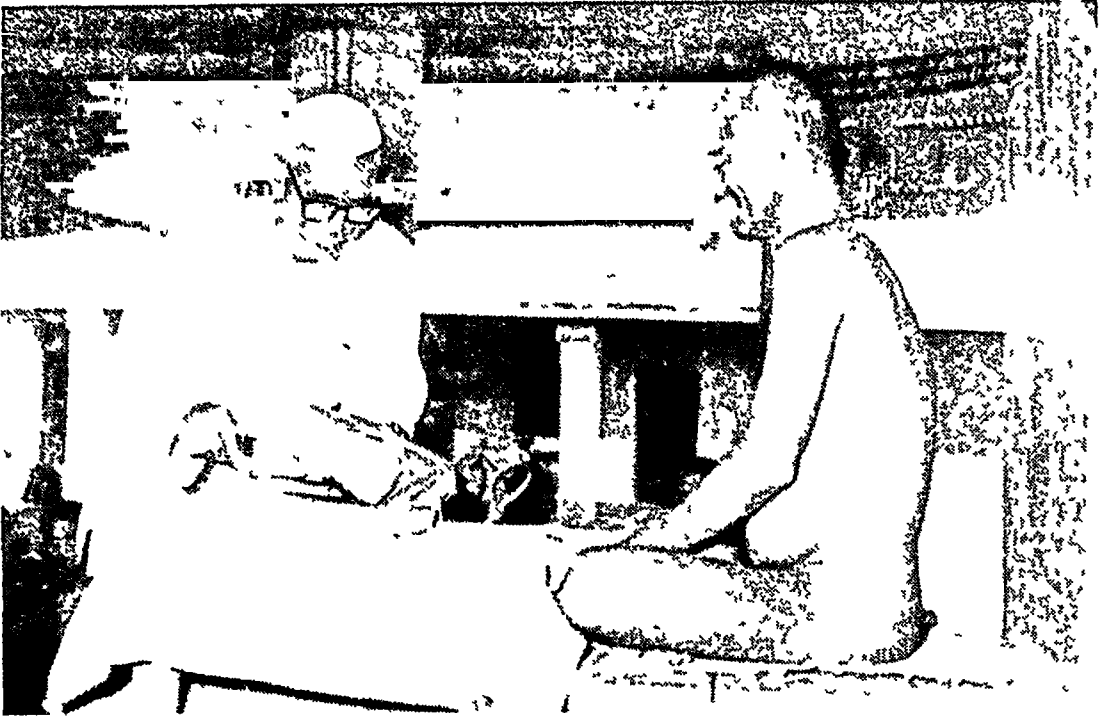
वर्णी भवन सागर में आचार्य श्री विद्यासागर जी को स्व नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य की कृति "भारतीय सस्कृति के विकास मे जैन वाड्मय का अवदान" (प्रथम भाग) विमोचनार्थ प्रस्तुत करते हुए डॉ पन्नालाल जी।

भारतवर्षीय दि जैन विद्वत्परिषद् द्वारा चार जिल्दो मे प्रकाशित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'–ग्रन्थ के विमोचन समारोह (दिल्ली) में एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनि को ग्रन्थ का सेट भेंट करते हुए विद्वत्परिषद् के महामंत्री डॉ पन्नालाल जी।
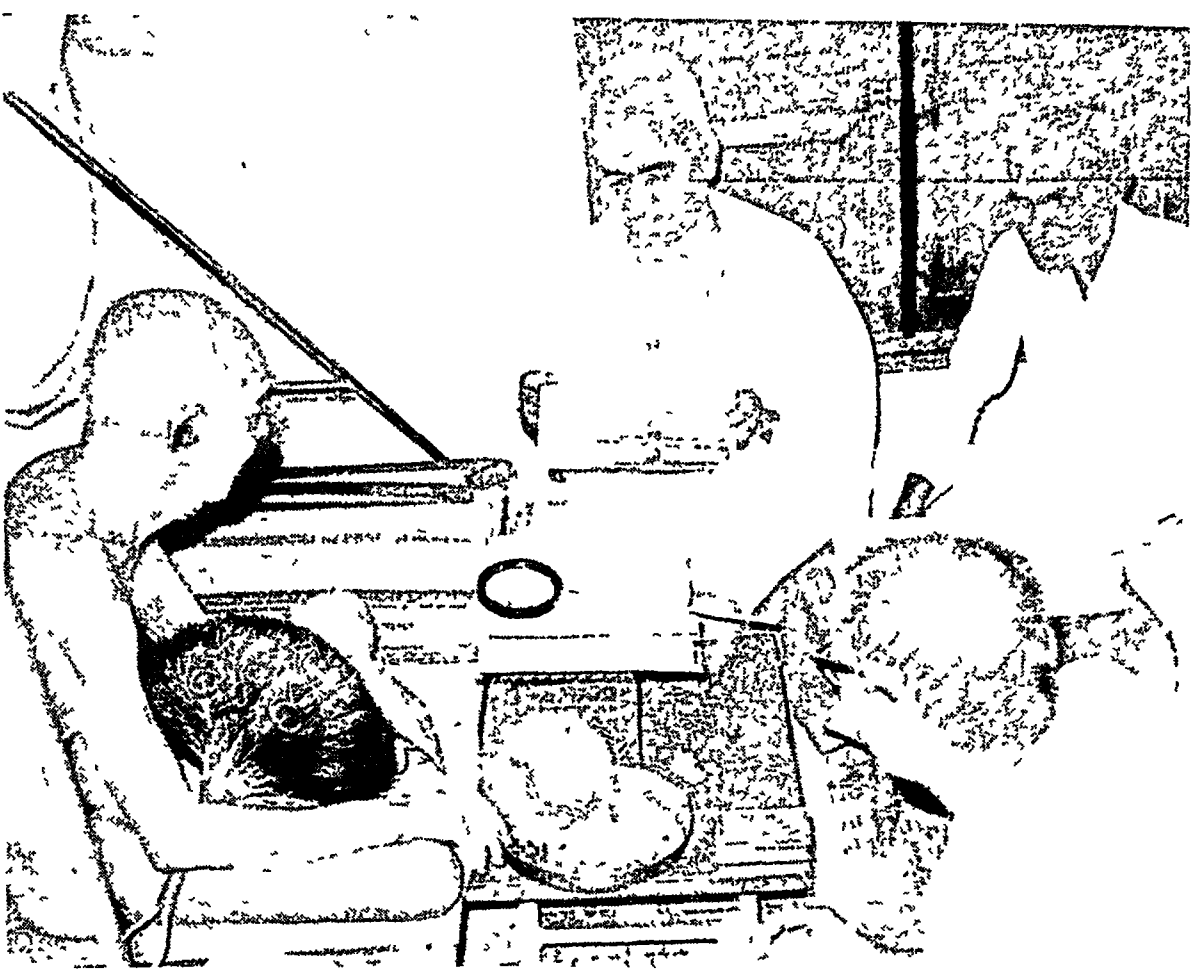
कुम्भोज बाहुबली मे आचार्य समन्तभद्र जी महाराज के समक्ष अपनी सपादित कृति “लघु तत्त्व स्फोट” प्रस्तुत करते हुए डॉ. पन्नालाल जी ।

राजिम (दुर्ग) मे मुनि पुष्पदन्तसागर जी से तत्त्वचर्चा मे निरत डॉ पन्नालाल जी।

आचार्य श्री विद्यासागर जी के सान्निध्य में अ. भा दि. जैन महासभा की मध्य-प्रान्तीय शाखा की स्थापना पर सिद्धक्षेत्र नैनागिर मे जनसमूह को उद्बोधित करते हुए–डॉ. पन्नालाल जी। समीप में है महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मल कुमार जी सेठी। [१ नवम्बर १९८१]

अपनी मौलिक कृति 'सम्यक्त्व-चितामणि' आचार्य श्री विद्यासागर जी को विमोचनार्थ समर्पित करते हुए डॉ. पन्नालाल जी
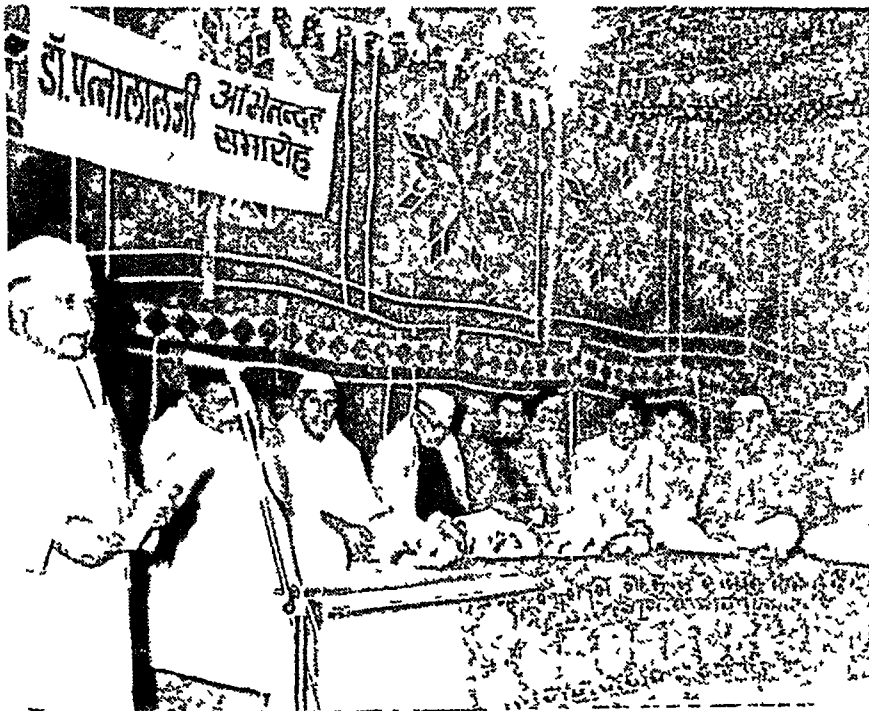
'डॉ पन्नालाल जी अभिनन्दन समारोह इंदौर'–में श्री बाबूलाल जी पाटौदी अपने उद्गार व्यक्त करते हुए। साथ मे डॉ. पन्नालाल जी के साथ मच पर अन्य प्रख्यात विद्वज्जन आसीन है।
[८ जनवरी १९७४]

श्री गणेश वर्णी जन्म शताब्दी एव धर्मचक्र प्रवर्तन समारोह पर वर्णीभवन सागर मे आयोजित सभा मे श्री मिश्रीलाल गगवाल से विचार-विमर्श करते हुए डॉ. पन्नालाल जी (साथ में अन्य विद्वज्जन मचासीन हैं।)

सिद्ध क्षेत्र नैनागिर मे सरोवर के मध्य 'समवशरण मन्दिर' के शिलान्यास हेतु नौका से जाते हुए—श्री निर्मलकुमार जी सेठी (अध्यक्ष—अ. भा दि. जैन महासभा) के साथ डॉ. पन्नालाल जी। [२ नवम्बर १९८१]
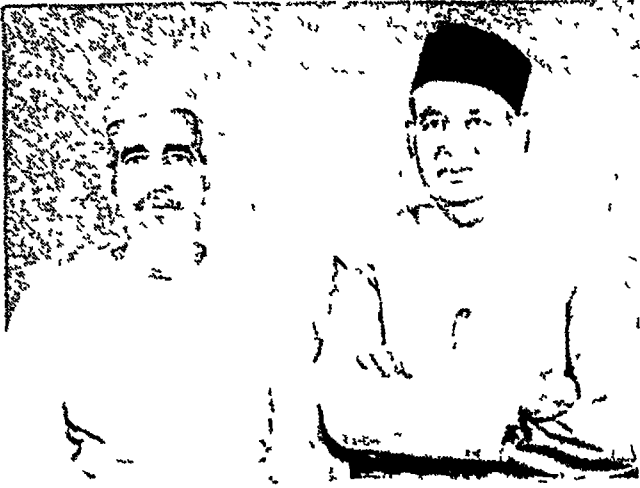
समाज के मूर्धन्य नेता, अ. भा. दि. जैन महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष सर सेठ भागचन्द्र जी सोनी के साथ प. पन्नालाल जी.

राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना के अग्रगण्य उन्नायक—सर्व श्री (स्व.) ब्र० शीतलप्रसाद जी, पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ एव श्री भागचन्द्र जी इटोरया की स्मृति मे दमोह मे आयोजित गौरवपूर्ण समारोह मे दीप प्रज्ज्वलित करते हुये— प्रमुख अतिथि – डॉ. पन्नालाल जी, तथा नीचे समारोह को उद्बोधित कर रहे हैं—श्री भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास दमोह के निर्देशक डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' (प० जी तथा अन्य पदाधिकारी साथ मे मंचासीन हैं)। 16 जनवरी 1986

शिवपुरी मे डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया की अध्यक्षता तथा डॉ० पन्नालाल जी के महामन्त्रित्व मे निष्पन्न—

अ भा दि जैन विद्वत्परिषद् का रजत जयन्ती अधिवेशन ।

शिवपुरी महोत्सव के स्वागताध्यक्ष (स्व०) पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ स्वागत भाषण कर रहे हैं

□

श्री वर्णी दि० जैन गुरुकुल मढिया जी जबलपुर मे मदर टेरेसा का स्वागत करते हुए गुरुकुल के निर्देशक— डॉ० पन्नालाल जी.
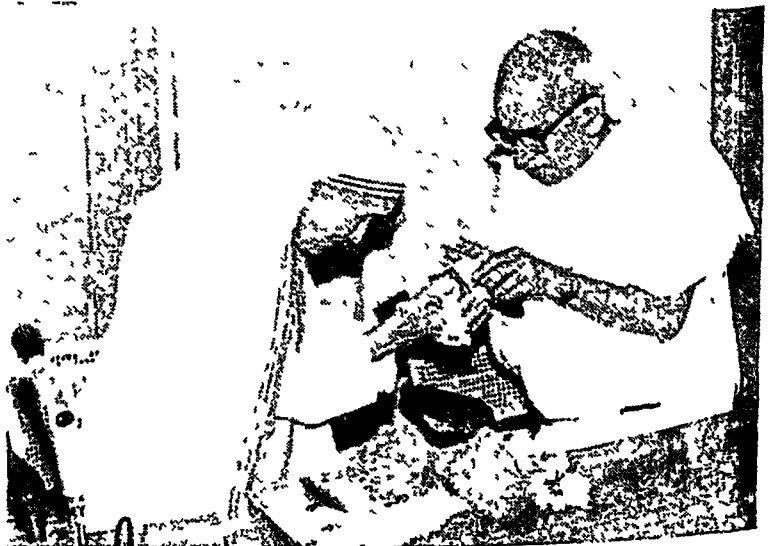
विद्यागुरुओं के प्रति चिर कृतज्ञता

ले. ब्र. राकेश जैन

आदरणीय श्री पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य की सन् १९३४ की अभ्यास पुस्तिका का अवलोकन करते समय उसके एक पृष्ठ मे निम्नलिखित चार पद्य मिले, जिनमें उन्होने अपने जीवन-निर्माता विद्यागुरुओ का अतिशय भक्तिपूर्वक स्मरण किया है —

येषां कृपाकोमल–दृष्टिपातैः, सुपुष्पितामून्ममसूक्तिबल्ली ।
तान् प्रार्थये वर्णिगणेशपादान्, फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना ।।
यस्यार्जवो वै सततं मनो मे, धिनोति शिष्यैरुपसेव्यमानम् ।
बोधाधिकं धर्मगुरुं नमामि, दयासुधादीधितिमालिनं तम् ।।
कैलासचन्द्रोपि हजारिलालो, माणिक्यचन्द्रोऽपि मुकुन्दशास्त्री ।
छेदीप्रसादोऽपि च लोकनाथो, ब्रह्मण्यशास्त्री कपिलेश्वरश्च ।।
स बाबुरामोऽपि सुबोधशाली, महेन्द्रदत्तोऽपि गुरुप्रकल्पः ।
स बालचन्द्रोऽपि च मूलचन्द्रो गुरून् यथायोग्यमिमान्नमामः ।।

इन सबका परिचय पूछते समय प०जी ने फ्रेक्चरके कारण पलंग पर लेटे लेटेबतलाया'पूज्यवर्णी गणेशप्रसादजी का क्या परिचय दूँ' वे तो सूर्य के समान जगत् प्रसिद्ध महनीय पुरुष थे। इतना ही कह सकता हूँ कि उन्होने सागर विद्यालय में प्रविष्ट कराने से लेकर उसी मे अध्यापक नियुक्त करने मे पूर्ण उदारता दर्शायी थी । विद्यालय मे प्रविष्ट होने के बाद मुझे सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमरकोष और अष्टाध्यायी पढाई । वे अमरकोष और रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की परमाच (सततृपाठ) कराते थे और त्रुटि होने पर छात्रो को बड़े प्रेम से सचेत करते थे । एक बार मैं पठित अमरकोष की परमाच करा रहा था,धीवर्ग का प्रथम श्लोक था,कुबद्धिर्मनीषाधिषणा,धी:प्रज्ञाशेमुषीमति: उन्होने तत्काल त्रुटि पकडकर समझाया कि ऐसा कहो–बुद्धिर्मनीषाधिषणा, धीः प्रज्ञाशेमुषी मति । रहस्य बतलाते हुए उन्होने कहा यह अनुष्टुप् छन्द है, इसमे आठ अक्षर पर यति होती है पर तू ९ अक्षरो पर कर रहा है । इसी तरह रत्नकण्डश्राकाचार की परमाच के समय केमैं बोल रहा था-ससार दु.खत सत्त्वान्यो,धरत्युत्तमे सुखे।उन्होने बतलाया कि ऐसा बोलो–संसार दु खतः सत्त्वान् , यो धरत्युत्तमे सुखे ।तात्पर्य है कि वे छोटे छोटे बालको को शुद्ध उच्चारण-कर अभ्यास कराते थे । सायंकाल की सामायिक के बाद सब कक्षा के छात्रो को अपने पास बुलाकर उनसे प्रतिदिन पिछला पाठ पूछा करते थे । लघुसिद्धान्तकौमुदी के कितने ही प्रकरण वे सरलता से समझा दिया करते थे । वर्णी जी का आदेश रहता था थोड़े ग्रन्थ पढो पर उन्हे पूर्ण मनोयोग से पढ़ो । बनारस की प्रथम परीक्षा पास होने के बाद उन्होने मुझे सिद्धान्त कौमुदी और सर्वार्थसिद्धि ये दो ग्रन्थ ही पढ़वाये । जैन न्याय और जैन साहित्य की बात आने पर उन्होने कहा कि, ये ग्रन्थ तो तुम अपने-आप पढ लोगे । उनका कथन था कि मूल ग्रन्थ पर से ही छात्रो को पढना चाहिए तथा स्वयं हाथ से लिखकर पढ़ना चाहिए । उन्होने मुझे तथा मेरी कक्षा के विद्यार्थियो को विद्यालय से सुपुष्ट कागज दिलवाकर कहा कि इन पर सर्वार्थसिद्धि लिखो । आज्ञा पाकर कुछ अध्याय मैंने काली स्याही से लिखे भी थे, और स्मृति के रूप में वे आज मेरे पास सुरक्षित हैं ।

एक बार मैंने दस धर्म के ऊपर कुछ सस्कृत श्लोक लिखकर उन्हें दिखाये तो वे बड़े प्रसन्न हुए। श्लोक त्रुटियो से भरे थे, पर उनकी दृष्टि त्रुटियो पर न जाकर गुणो की ओर गई और उन्होंने वे श्लोक शास्त्र-सभा मे मुझसे पढवाकर मेरी बहुत प्रशसा की। उनका प्रोत्साहन पाकर ही मुझे लिखने का साहस प्राप्त हुआ। इसीलिए मैंने लिखा है कि जिनकी कोमल-कृपा-दृष्टि-पात से मेरी सूक्ति रूपी लता सुपुष्पित हुई थी, मैं उन वर्णीजी के चरण कमलो से सूक्ति रूपी लता पर फलोदय—ज्ञान वैराग्य समुत्पत्ति रूप फल की आकाक्षा करता हूँ।

पूज्य वर्णी जी विषयक अनेक सस्मरण पं. जी ने ९ दिसम्बर १९८४ के ७.३० बजे आकाशवाणी केन्द्र छतरपुर से प्रसारित होने वाली २० मिनट की वार्ता मे सुनाये थे जिन्हे सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

आपने अपने द्वितीय जीवन-निर्माता के रूप मे श्रीमान् स्याद्वादवाचस्पति प दयाचन्द्र जी शास्त्री न्यायतीर्थ का सम्मानपूर्वक समुल्लेख किया है। आपने बतलाया कि प दयाचन्द्र जी सागर विद्यालय मे प्रथम धर्माध्यापक और बाद मे प्राचार्य पद पर अधिष्ठित थे। धर्म और न्यायशास्त्र के अपूर्व विद्वान् थे। इन्हे आगम की अनेक गाथायें कण्ठस्थ थी। इनकी अध्यापन शैली इतनी सरल थी कि उससे विद्यार्थी गहनतत्त्व को सहज ही हृदयगत कर लेता था। अध करण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणादि परिणामो की जिन संदृष्टियो को हम अन्य ग्रन्थो मे बड़े विस्तार से देखते है, उन सदृष्टियो को आप छोटे-२ दृष्टातो द्वारा सहज ही समझा देते थे। मैंने इनके पास मोक्षशास्त्र से लेकर शास्त्री कक्षा तक के समस्त धर्मशास्त्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा अष्टसहस्री का अध्ययन किया। इनकी सरलता, निश्छलता और परोपकार की भावना से सपर्क मे आने वाला प्रत्येक मानव प्रभावित हुए विना नही रहता था।

तृतीय जीवन निर्माता के रूप मे प. जी ने स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के प्राचार्य प कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का सस्मरण किया है। प कैलाशचन्द्र जी की शिष्य परपरा समस्त भारतवर्ष मे फैली हुई है। ये वहुत ही सहृदय विद्वान् है। इनके पास राजवार्तिक चार अध्याय का अध्ययन किया है। प. जी का वरदहस्त मेरे ऊपर सदा रहा है'।

'प. हजारीलाल जी न्यायतीर्थ सागर विद्यालय के एक उच्चवर्गीय छात्र थे। अध्यापक की कमी होने कारण वर्णी जी ने इनके पास कुछ प्रारम्भिक कक्षाओ का पाठन आयोजित किया था। वडे ही सरल और कुशाग्र वुद्धि वाले विद्वान् थे। इनका वनाया हुआ 'ढलाचला' अधिक प्रचलित था। मैंने इनके पास रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अमरकोष और अष्टाध्यायी का अध्ययन किया था। ये अल्पायु रहे। सनाई के रहने वाले थे।

प. माणिकचन्द्र जी सागर विद्यालय के उच्चवर्गीय छात्र रहे। स्व. प. हजारीलाल जी न्यायतीर्थ के सहाध्यायी थे। जब इनकी सागर विद्यालय मे अध्यापक रूप से नियुक्ति नही हुई थी,तब मैंने इनके पास क्षत्रचूडामणि चार लम्ब का अध्ययन किया। प माणिकचन्द्र जी की अध्यापन शैली से विद्यार्थी को सस्कृत का अच्छा ज्ञान हो जाता था। ये बडे अध्यवसायी विद्वान् है। पीछे चलकर ये अध्यापक रूप से विद्यालय मे नियुक्त हो लगभग ५४-५५ वर्षों तक अध्यापन का कार्य करते रहे। इन्हें अध्ययन की अत्यधिक रुचि रही। जिससे इन्होने अध्यापन काल में काव्यतीर्थ तथा जैन दर्शनाचार्य की परीक्षा पास कर संपूर्णानन्द स विश्वविद्यालय से स्वर्ण-पदक प्राप्त किया। ये शाहपुर के रहने वाले है, वर्तमान मे सागर मे ही निवास कर रहे हैं।

श्रीमान् प. मुकुद शास्त्री खिस्ते वनारस के रहने वाले थे। वडे ही व्युत्पन्न तथा सहृदय विद्वान् थे। स्याद्वाद विद्यालय मे साहित्याध्यापक थे। मैंने आपके पास काव्यतीर्थ के ग्रथो का अध्ययन किया था। और पश्चात् उन्ही के निर्देशानुसार साहित्यशास्त्री तथा साहित्याचार्य का अध्ययन कर परीक्षा देता रहा। प. जी ने इन्हें अपने द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'गद्य चिन्तामणि' समर्पित की है। अब वे जीवित नही है।

प. छेदीप्रसाद जी शर्मा सागर विद्यालय मे व्याकरणाध्यापक होकर आये थे। बड़े ही सहृदय विद्वान् थे। मेने इनके पास लघुसिद्धातकौमुदी तथा सिद्धात कौमुदी के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड (मध्यमा) का अध्ययन किया था। इनके द्वारा लिखाई हुई सिद्धात कौमुदी की पंक्तियां अब भी मेरे पास है। अब ये जीवित हैं या दिवंगत हो गये, इसका पता नही।

प, लोकनाथ शास्त्री सागर विद्यालय के प्राचार्य थे। ये उडीसा के रहने वाले थे। इनके पास मैने बनारस प्रथमा के रघुवंश के चार सर्ग, मेघदूत पूर्वखण्ड तथा श्रुतबोधादि का अध्ययन किया था। ये इन ग्रन्थो की व्याख्या स्वयं लिखाते थे। और छात्रो से कण्ठस्थ सुनते थे। समास–विग्रह–कोषादि का परिज्ञान इनके द्वारा लिखाई हुई व्याख्या से सहज ही हो जाता था। ये सागर विद्यालय से काम छोडकर जबलपुर चले गये थे। अब इनका स्वर्गवास हो चुका है।

पं. कपिलेश्वर झा मिथिला के रहने वाले थे। पं.छेदीप्रसाद जी के बाद व्याकरणाध्यापक होकर सागर विद्यालय मे आये थे। मैंने इनके पास सिद्धात कौमुदी के तृतीय एव कुछ चतुर्थ खण्ड का अध्ययन किया था। काव्यप्रथमा एव मध्यमा का भी अध्ययन इन्ही से किया था।

प ब्रह्मण्यशास्त्री स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस मे व्याकरण के प्रारम्भिक अध्यापक थे। वृद्ध थे। जब मै काव्यतीर्थ की परीक्षा देने १९३० मे बनारस रहा, तब उनके पास सिद्धात कौमुदी मध्यमा चतुर्थ खण्ड का अध्ययन किया था। बहुत ही सरल और छात्रो से प्रेम करने वाले थे।

श्री प बाबूराम जी शास्त्री सागर विद्यालय मे व्याकरण और साहित्य के अध्यापक होकर आये थे। मैंने आपके पास सिद्धात कौमुदी चतुर्थ खण्ड मध्यमा का कुछ भाग और काव्यतीर्थ के कुछ ग्रंथो को पढा पश्चात् मैं बनारस चला गया।

प. महेन्द्रकुमार जी काव्यतीर्थ मुझसे अग्रिम कक्षा के विद्यार्थी थे। बहुत ही कुशाग्र–बुद्धि थे। इनके सहयोग से मुझे काव्य और साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त हुई और एक प्रबुद्ध मित्र के नाते हमेशा मार्गदर्शन करते रहे। हमारा इनसे पत्र व्यवहार सस्कृत मे कभी पद्यमय तथा कभी गद्य मे होता था। इनके पास मैंने व्यवस्थित अध्ययन तो नही किया फिर भी मैं इन्हे गुरुकल्प मानता रहा। ये दमोह के पास फतेहपुर के रहने वाले थे। ये सागर से अध्ययन कर आरा मे बहुत समय तक रहे। अब दिवंगत हो चुके हैं।

प. बालचन्द्र जी किसी समय सागर मे चलने वाली गोलापूर्व सभा के क्लर्क थे। वे रात्रि मे जैनमदिर कटरा मे लगने वाली पाठशाला मे भी पढाते थे। मैंने इनके पास बालबोध जैनधर्म चारभाग तथा अनेक पूजापाठो का अध्ययन किया था। इन्होंने स्वाध्याय द्वारा अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था और हमारी शास्त्र सभा मे प्रतिदिन उपस्थित रहते थे। अब ये जीवित नही हैं।

पं. मूलचन्द्र जी बिलौआ सागर विद्यालय के जब गृहप्रबधक थे तब मैंने आपके पास छहढाला का अध्ययन किया था। बिलौआ जी परिश्रमी एवं सुयोग्य व्यवस्थापक थे। अब ये जीवित नही है।

पं. जी का कहना है कि मैं अपने इन छोटे-बड़े समस्त गुरुओ का अपने जीवन निर्माण मे परम सहयोग समझता हूँ।

भेंट-वार्ताएँ:बातचीत :
(१)

भेंट वार्ता : डॉ० (पं.) पन्नालाल साहित्याचार्य/कमलकुमार जैन, छतरपुर

वार्ता स्थल—सागर
तिथि—२६ जून १६८६

पूज्य वर्णी जी की प्रेरणा एवं उपकारी संस्था के प्रति कर्त्तव्य निष्ठा सागर को कार्यक्षेत्र बना सकी ।

१ **कमलकुमार :**

प जी ! आपसे जिज्ञासावश यह पूछना चाहता हूँ कि आपका जन्म कब, कहाँ हुआ, आपकी पारिवारिक स्थिति क्या थी ?

डॉ० पन्नालाल :

मेरा जन्म ५ मार्च १६११ को पारगुवाँ नामक एक छोटे से ग्राम मे हुआ था । मेरे परिवार मे माता-पिता और मुझसे बडे दो भाई थे । आर्थिक स्थिति खराब थी । पिता जी देहातो मे जाकर ग्रामीणो के लिये दैनिक उपयोग की वस्तुएँ बेचकर (बन्जी) अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे ।

२— **क कु. :**

आपकी शिक्षा का प्रारम्भ कब, कहाँ से हुआ, उस समय शिक्षा व्यवस्था क्या थी ?

प ला :

मेरी शिक्षा का प्रारम्भ सागर से ८ वर्ष की आयु मे हिन्दी की प्रथम पुस्तक से हुआ । अग्रेजो का जमाना था । देहातो मे शिक्षा की व्यवस्था नही थी । मैंने १२ वर्ष की आयु मे प्रायमरी शिक्षा पूर्ण कर श्री गणेश दि जैन सस्कृत विद्यालय मे प्रवेश लिया था ।

३— **क कु. ·**

जन्म स्थान पारगुवाँ छोडकर आप किन परिस्थितियो मे सागर आये ?

प. ला. :

सन् १९१९ मे जब पिता जी का स्वर्गवास हो गया, आर्थिक स्थिति खराब थी ही, मा पर गृहस्थी का भार आया, देहात मे शिक्षा की व्यवस्था थी नही, जिस कारण मा ने पारगुवाँ छोडा और सागर बस गयी। यद्यपि सागर मे मा के भाई का घर था, परन्तु आर्थिक स्थिति स्वयं की खराव होने के कारण मा वहाँ न रहकर स्वतत्र-रूप से किराये के मकान मे ही रही। मा का कहना था कि विपत्ति के समय किसी पर बोझ बनकर नहीं रहना चाहिए।

४— क. कु. :

आपका विद्यार्थी जीवन परतत्र देश का था, स्वतत्रता आन्दोलन मे आपकी क्या भूमिका रही।

प. ला. :

स्व-राज्य सवंधी सभाओ मे सम्मिलित रहता था और तत्सम्वधी विचारधारा का प्रचार करता था। अप्रत्यक्ष रूप मे ही कार्य करता था।

५— क. कु. :

आपके समय मे अग्रेजी शिक्षा का महत्त्व होते हुये भी सस्कृत शिक्षा ग्रहण करने का उद्देश्य क्या था ?

प. ला. :

आन्तरिक रुचि धर्म की ओर थी।

६— क. कु. :

शिक्षा प्राप्ति के क्षेत्र मे आपके प्रेरणा स्रोत कौन थे ?

प. ला. :

पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी।

७— क. कु. :

आपके गृहस्थाश्रम प्रवेश के समय सामाजिक स्थिति कैसी थी ?

प. ला. :

मेरा विवाह सागर जिले के गढाकोटा नगर मे हुआ था, १९३१ मे। उस समय दहेज-प्रथा थी नही, ठहराव भी नही होता था। रिस्तों मे पारस्परिक स्नेह का महत्त्व अधिक था। पर्दा प्रथा थी। बालिकाओ की शिक्षा भी कम होती थी। मेरे विवाह के समय मेरी पत्नी चौथी कक्षा तक पढी थी।

८— क. कु. :

आप मे धार्मिक सस्कार कैसे आये ?

प. ला. :

माता-पिता से विरासत मे प्राप्त हुए।

९— क. कु. :

आपने किस योग्यता से शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया ?

प. ला. :

सन् १९३१ मे पूज्य वर्णीजी की प्रेरणा से श्री गणेश दि. जैन सस्कृत विद्यालय मे ही शिक्षक के रूप मे नियुक्त हुआ। उस समय मैं काव्यतीर्थ, व्याकरण, मध्यमा और धर्मशास्त्री था। वाद मे साहित्यशास्त्री और १९३६ मे साहित्याचार्य भी किया।

१०— क. कु. :

शिक्षण के साथ क्या अन्य कार्य भी आप करते थे ?

प. ला. :

मेरे घर मे वडे भाई व्यापार करते थे। उसी मे सहयोग करता था।

११— क. कु. :

आपने अपना कार्य क्षेत्र सागर चुना, जवकि अपनी विद्वत्ता के कारण अन्य वड़े-वडे विद्यालयो मे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर सकते थे ?

प. ला. :

पूज्य वर्णी जी की प्रेरणा एव उपकारी सस्था के प्रति कर्तव्यपूर्णनिष्ठा के कारण सागर के वाहर नही जा सका।

१२— क. कु.

आपकी सामाजिक कार्यो मे रुचि है ?

प. ला. :

स्थानीय एव अचल के सभी सामाजिक कार्यो मे मेरा प्रमुखता से योगदान रहता रहा है, अभी भी है।

१३— क. कु. :

पूजा-प्रतिष्ठा के कार्यो मे भी आपकी रुचि है ?

प. ला. :

वरावर रुचि है, आन्तरिक रुचि के कारण पूजा-प्रतिष्ठा से सबधित ग्रथो की रचना, सकलन, सपादन भी किया है। त्रैलोक्यतिलक व्रतोद्यापन, रविव्रतोद्यापन, अशोक रोहणी व्रतोद्यापन की रचना एव मन्दिर वेदी प्रतिष्ठा और कलशारोहण विधि पुस्तक का सम्पादन भी किया है।

१४— क कु :

पूज्य वर्णी जी से आपके अच्छे सम्वन्ध रहे हैं ?

प. ला. :

अत्यन्त निकट के, उनकी ही छत्र-छाया मे प्रगति की है।

१५— क. कु. :

पं. जी आप समाज के श्रेष्ठ विद्वानो मे गिने जाते है। समाज मे विद्वानो की क्या स्थिति है, इस पर भी कुछ कहेगे ?

प. ला. :

अवश्य, सन्तोषजनक नही है। सम्मानजनक भी नही है।

१६— क. कु. :

विद्वानो की आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक उपेक्षा के सबंध मे आपकी क्या धारणा है ?

प. ला. :

जो विद्वान् विद्यालयो मे शिक्षण कार्य करते हुये, व्यापार अथवा अन्य कार्य करते है वे तो अपनी आर्थिक स्थिति को संभाल सके हैं, समाज मे उनकी प्रतिष्ठा हुई है। परन्तु विद्वानो को समाज का सरक्षण नही मिला है। लोग विद्वानो से कार्य तो अवश्य लेना चाहते है, किन्तु समुचित पोषण हो सके इसके लिय अनुदारता वर्तते है। इसका कारण है संचालकगण ऐसे होते है जो विद्या के महत्त्व से अनभिज्ञ होते है।

१७— क. कु. :

प० जी यह बतायें कि आपने श्री गणेश दि. जैन महाविद्यालय को समुन्नत करने मे भारी प्रयास किया है, इसमे प्रबन्ध संचालको का क्या योगदान मिला ?

प. ला. :

मेरे काल मे अनेक मत्री बने। लेकिन श्री पं. मुन्नालालजी राधेलीय का मंत्रित्व-काल सस्था की प्रगति के लिये सर्वश्रेष्ठ एव महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। क्योकि प० जी अध्यापको का सम्मान करते थे। संस्था के हित मे सलाह लेते थे, मानते भी थे। उनके कार्यकाल मे छात्रों को सुविधाये तथा शिक्षको को आदर-सम्मान मिला है। सागर संस्था कलकत्ता एव वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की परीक्षाओ का केन्द्र बनी।

१८— क. कु. .

आपने किन परिस्थितियों मे विद्यालय छोड़ा ?

प. ला. :

तत्कालीन सचालको के वातावरण से अरुचि होने के कारण स्वेच्छा से १९८३ मे त्यागपत्र दे दिया।

१९— क. कु. :

विद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के वाद आपको कैसा अनुभव हो रहा है ?

प. ला. :

बन्धन वाले को जैसा अनुभव बंधन से मुक्त होने पर होता है, वैसा ही अवकाश ग्रहण करने के वाद मुझे भी भारहीनता का अनुभव हुआ। साहित्य सेवा के लिये पर्याप्त समय मिला है। इस वीच सम्यक्त्वचिन्तामणि, सज्ज्ञान चन्द्रिका, चारित्र चिंतामणि,-मौलिक रचनाएँ कर सका हूँ।

२०— क. कु. :

आप विद्वत् परिषद् के प्राण माने जाते है। आपका उक्त सस्था के प्रति क्या योगदान रहा ?

प. ला. :

सस्था के संगठन मे पूर्ण मनोयोग से कार्य किया। सभी सदस्यो को बराबर साथ लेकर चला। इसी कारण पहले सयुक्त मत्री, अनेक वर्षो तक मत्री और अत मे अध्यक्ष पद तक के महत्त्वपूर्ण पद का दायित्व बिना विवाद के वहन किया। विघटन के अवसर पर कार्य मे मदता आई, लेकिन स्थिति ठीक होने पर कार्य मे पुन गति का सचार रहा। सस्था की प्रतिष्ठा बढाने मे तन-मन-धन से योगदान दिया ।

२१— क. कु. :

प्राय सरस्वती और लक्ष्मी मे विरोध देखा गया, आपकी क्या राय है ?

प. ला. :

अपने जीवन मे मुझे अनुभव नही हुआ।

२२— क. कु. :

एक बात देखने मे आई कि प्राय सस्कृत के विद्वान् अपने बच्चो को सस्कृत शिक्षा नही दिलाते । प जी यह आपके साथ भी है, क्या कारण है ?

प. ला.

आर्थिक दृष्टि से सस्कृत शिक्षा की ओर स्वय आकर्षित नही होते, फिर भी हमारे सभी बच्चो मे सदा--चार की ओर पूर्ण रुचि है। सस्कृत पढे लोगो के प्रति समाज की अनुदारता भी एक कारण है।

२३— क. कु. .

प्राय विद्वान् पारिवारिक परिस्थिति से परेशान रहते है। आपका पारिवारिक जीवन तो सुखी होगा ?

प. ला. :

अवश्य, पत्नी की सहनशीलता और उदार मनोवृत्ति के कारण पारिवारिक जीवन पूर्ण सुखद है।

२४— क. कु

आपको अपनी विद्वत्ता के कारण राष्ट्रीय शिक्षक के रूप मे राष्ट्रीय सम्मान मिला है, क्या विद्वत्ता का सही मूल्याकन है ?

प ला

सम्मान करने वाले सोचे, विद्वत्ता का मूल्याकन तो होता नही।

२५— क कु ·

सामाजिक सगठन के सबध मे आपका क्या सोचना है ?

प ला .

समाज को सगठित करने के लिये मात्र एक ही सगठन आवश्यक है, पर कुछ ईर्ष्यालु व्यक्ति अपनेपन की अहंकारपूर्ण मनोवृत्ति से अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिये छोटे-छोटे संगठनो को बनाये रखना चाहते हैं।

२६— क कु

वर्तमान पीढी मे जो धार्मिक सस्कारो का अभाव देखा जाता है, उसके सवंध मे आपके क्या विचार है ?

प. ला .

प्राय बच्चे कुसगति मे ही धार्मिक प्रवृत्ति से विमुख होते हैं। उन्हें अच्छे सम्पर्क मे लाने का प्रयास करना चाहिये। घर का वातावरण भी इसको प्रभावित करता है।

२७— क कु

जैन शिक्षण सस्थाओ मे कार्य करने वालो को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, आप अनेक वर्षो तक रहे हैं, आपकी क्या राय है ?

प. ला .

प्राय प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती, प्रबधको की दृष्टि साफ नही होती। सहनशीलता, उदार मनोवृत्ति वाले ही सस्थाओ का सचालन कर सकते है।

भेंट—वार्ता—बातचीत :

(२)

भेंटवार्ता : डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य/कमल कुमार जैन, छतरपुर

वार्ता स्थल — सागर

वार्ता तिथि — ३० जुलाई १९८६

साहित्य सृजन स्वान्तः सुखाय हुआ है।

१— कमलकुमार जैन :

पडित जी, आपके द्वारा रचित सस्कृत के काव्य सुन्दर और सारगर्भित होते है, यह प्रतिभा आपमे कब से आई ?

डॉ पन्नालाल

सस्कृत की प्रथम परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद से ही मैने संस्कृत मे छन्दो की रचना शुरू कर दी थी, सस्कृत के प्रति विशेष रूचि थी ही। पूज्य वर्णी जी का प्रोत्साहन आगे बढने मे सहायक हुआ।

२— क कु.

सस्कृत काव्य रचना की प्रथम कृति आपकी कौन सी है ?

प ला. :

स्फुट एवं मुक्तक सस्कृत कविताएँ छात्रावस्था से ही लिखता रहा हूँ। हिन्दी मे भी कविताएँ लिखता आया हूँ। सस्कृत काव्य की मौलिक रचनाओ मे सम्यक्त्व चिन्तामणि, सज्ज्ञान चन्द्रिका, चारित्र चिन्तामणि एव सहस्रनामाकित ऋषभ जिनेन्द्रपूजा आदि प्रमुख है।

३— क कु.

आप सफल टीकाकार, अनुवादक माने जाते है। इसके लिये क्या सावधानियाँ रखनी आवश्यक हैं ?

प. ला.

किसी ग्रन्थ के अनुवाद मे मूल का भाव आना चाहिये, अनुवाद के पहले ग्रन्थ को हस्तलिखित प्रतियो से मिलान कर शुद्ध कर लेना आवश्यक है। अनुवाद मे व्यर्थ का विस्तार न हो तथा ग्रन्थ का कोई भाव छूटना नही चाहिये।

४— क कु :

आपने सम्पादन, अनुवाद के लिये जैन ग्रन्थो को चुना है, क्यो ?

प ला :

सस्कृत एव प्राकृत के प्रति रुचि होने के कारण।

५— क कु ·

अनुवाद और सम्पादन मे आपको सबसे प्रिय ग्रथ कौन सा लगा और क्यो ?

प ला. :

महापुराण। सस्कृत साहित्य की सभी विधाये पूर्णरूप से इस ग्रन्थ मे परिलक्षित होती है।

६— क. कु :

प जी, क्या मैं भी अनुवादक-टीकाकार बन सकता हूँ ? यदि हाँ, तो क्या योग्यताएँ अनिवार्य है ?

प. ला :

सम्पादक के लिये विषय का परिज्ञान, भाषा पर अधिकार एवं कार्य मे नियमितता आवश्यक होती है। यदि यह योग्यता आपमे है तो निश्चित रूप से आप सम्पादक बन सकते हैं।

७— क कु :

क्या हर व्यक्ति (शिक्षित) सम्पादक बन सकता है ?

प ला :

नही।

८— क. कु. :

आपकी सर्व प्रथम मौलिक रचना कौन-सी है ?

प. ला. :

सम्यक्त्व चिन्तामणि ।

९— क. कु. :

आपकी सर्वप्रिय अनुवादित काव्य रचना कौन सी है ?

प ला. :

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य ।

१०— क. कु. :

आप हिन्दी मे भी काव्य रचना करते है ?

प. ला. :

अवश्य, हिन्दी मे कविता करने की रुचि भी बचपन मे रही है, अनेक स्फुट रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती रही है, पृथक् से हिन्दी कविताओ का कोई सकलन नही है ।

११— क. कु. :

साहित्य सृजन, अनुवाद के वाद क्या आपको ऐसा लगता है कि कृति का प्रकाशन हो ?

प. ला. .

क्यो नही, हर लेखक या सम्पादक की इच्छा होती है कि उसकी रचित या सपादित कृति मुद्रित होकर लोगो के हाथो मे आवे, वह रुचि मेरी भी है । प्रकाशको से सम्पर्क करना पडता है । अच्छी रचनाओं के लिये प्रकाशक स्वय ही प्रकाशित करने के लिये प्रयास करते है । मेरे अधिकाश प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुये है, इसमे श्री पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का विशेष सहयोग रहा है ।

१२— क. कु. :

प जी मेरी उत्सुकता इसकी जानकारी के लिये हो रही है कि आपका साहित्यिक क्षेत्र मे जो प्रवेश हुआ है, उसके पीछे क्या आर्थिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है ?

प ला. :

नही, साहित्य रचना प्रथमत तो स्वान्त' सुखाय ही की है । रचनाएँ श्रेष्ठ होने पर प्रकाशको ने प्रकाशित की और उसके लिये पारिश्रमिक मिलने लगा जिससे आर्थिक लाभ भी होने लगा ।

१३— क. कु. :

प जी, भेंट-वार्ता समाप्त करने के पूर्व एक प्रश्न और आपसे करना चाहता हूँ । आपकी साहित्यिक, सामाजिक सेवाओं से प्रभावित होकर समाज अखिल भारतीय स्तर पर आपका अभिनन्दन कर रही है, एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भी बनाया जा रहा है । क्या इससे आपको प्रसन्नता हो रही है ?

प. ला. :

नही, कदापि नही । इसे मैं अच्छा भी नही मानता । अभिनन्दन-ग्रन्थो के प्रकाशनो मे जो विपुल धनराशि व्यय होती है, उससे यदि जिनवाणी के किसी अप्रकाशित ग्रन्थ का प्रकाशन हो तो यह कार्य प्रशस्य होगा ।

१४— क. कु. :

अन्तिम प्रश्न है । वर्तमान मे आपका साहित्यिक क्षेत्र मे क्या कार्य चल रहा है ?

प. ला. :

पूज्य आ० विद्यासागर जी महाराज के गुरु पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज की कृति 'जयोदय महा-काव्यम्' उत्तरार्ध का सम्पादन कार्य कर रहा हूँ । यह कृति पाण्डित्यपूर्ण है ।

भेंट वार्ता : बातचीत :

(३)

वार्ता स्थल—सागर,
तिथि—२९अगस्त, १९८५

पूजा का लक्ष्य : पूज्य से तादात्म्य :

पं (डॉ) पन्नालाल साहित्याचार्य/डॉ नेमीचन्द जैन :

डॉ. नेमीचन्द जैन . 'पूजा' के क्षेत्र मे काफी वैविध्य है, उसमे विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित हो गयी है ; अतः एक सामान्य आदमी को यह बताना आवश्यक है कि पूजा का उद्देश्य क्या है, पूजा का स्वरूप क्या है ? जिस तरह की पूजा आज प्रचलित है, उसमे क्या किसी परिवर्तन की आवश्यकता है ? सबसे पहले मैं यह पूछना चाहूँगा कि पूजा के परम्परित होते हुए भी क्या उसकी कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि है ?

प पन्नालाल साहित्याचार्य : पूजा का उद्देश्य यदि हम समझ लें, तो पूजा की विधि और उसकी आवश्यकता सहसा समझ मे आ सकती है ।

ने. . पूजा का उद्देश्य क्या है ?

प. · पूज्य के साथ तादात्म्य । जैनधर्म मे पचपरमेष्ठी पूज्य माने गये है। उनके साथ हमारा तादात्म्य बने, इसी उद्देश्य से पूजा की जाती है ।

ने. यह 'तादात्म्य' क्या होता है ?

प. इसका अर्थ मै यह करता हूँ कि भगवान् का जो स्वरूप है, उसे मैं प्राप्त हो जाऊँ । पूजा इसका एक मार्ग है । भगवान् की मुद्रा के समक्ष ही यह हो सकता है; क्योकि साक्षात् भगवान् तो आज हैं नही, उनकी प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ ही है । इन प्रतिमाओ के सामने भक्त खडा होकर पूजा करता है, अपना लक्ष्य बताता है और अनुचिन्तन करता है कि जैसी शान्त/सौम्य मुद्रा इनकी है, ऐसा ही शान्त/सौम्य स्वरूप मेरा है । यही मुझे प्राप्त करना है । इस तरह वह भगवान् के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। भगवान् के दर्शन को, पूजा को अथवा नमन को समन्तभद्रस्वामी ने, पूज्यपाद स्वामी ने, यहाँ तक कि धवलाकार (वीरसेनाचार्य) ने भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे एक प्रमुख कारण माना है ।

ने. : इसे थोडा और स्पष्ट कीजिये ।

पं. भगवान् के दर्शन से वीतरागता की ओर लक्ष्य बनता है कि मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है; आज मैं भटक रहा हूँ, कल सुस्थिर हो सकूँगा ।

ने. : एक आत्मबोध होता है ।

प. : हाँ; स्व-रूप की ओर उसकी दृष्टि जाती है ।

ने. · सम्यग्दर्शन क्या है ?

पं . आत्मरुचि या आत्मश्रद्धान होना यही सम्यग्दर्शन का सबसे प्रमुख लक्षण है । देव-शास्त्र-गुरु उसमे निमित्त बनते है । सात तत्वो की चर्चा भी निमित्त बनती है । मुख्य लक्ष्य है . आत्मा-की आत्मा-मे रुचि ।

ने. : तो फिर पूजा की दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या हुई ?

प. . इससे आपका क्या आशय है ?

ने. : पूजा केवल भक्ति है, या उसके पीछे कोई विचार है ?

प. . विचार है · तद्रूप होना ।

ने. अध्यात्म और दर्शन मे कोई अन्तर है ?

पं. 'दर्शन' साधन है और 'अध्यात्म' है साध्य । व्यक्ति अध्यात्म की ओर दर्शन द्वारा अग्रसर होता है । दर्शन के माध्यम से आत्मस्वरूप को समझ कर आत्म प्रतीति करना अध्यात्म है । मानव का मन दुनिया-भर मे फैला हुआ है । जैसे-जैसे वह अपना लक्ष्य उभारते-उभारते अपने स्वरूप मे आता है । अध्यात्म की दिशा मे उसके कदम जाते है ।

ने. : दर्शन यानी बोध और अध्यात्म यानी आत्मा की ओर अग्रसर होना । अध्यात्म का शब्दार्थ क्या है?

प . 'आत्मनि इति अध्यात्म' । अध्यात्म मे बात यहाँ तक आ पहुँचती है कि आत्मा के साथ लगे जो नोकर्म है, यानी शरीर, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भाव-कर्म इनसे आत्मा (को हटाना है ।) क्योंकि आत्मा इनसे भिन्न द्रव्य है

ने. : नोकर्म, यानी शरीर ।

पं. : हाँ. ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म मेरे नही है, रागादि भावकर्म भी मेरे नही है; और मेरे ज्ञान मे आये हुए जो सासारिक पदार्थ है, वे भी मेरे नही है । मैं इनसे भिन्न हूँ ।

ने. : आत्मा मे लौटना इस तरह, यही न ?

प. सासारिकता से हट कर आत्मा मे लौट आना, वापिस होना ।

ने. यह अध्यात्म है । क्या पूजा से इसका कोई सम्बन्ध है या हो सकता है ?

पं. . हो सकता है यदि पूजा को साधन बना लें और अध्यात्म को साध्य ।

ने. जो लोग पूजा को ही साध्य मानते है; उनका क्या हो ?

प. : वह तो नासमझी है ।

ने. : आप क्या सोचते है, इन दिनो लोग पूजा को साधन मान रहे है, या साध्य ?

पं. लोगो की रुचि तो अपने-अपने सस्कार, ज्ञान, अनुभव, आवश्यकता के अनुसार बनती है, लेकिन हमे तो परमार्थ पर ही विचार करना चाहिये।

ने. पूजा को साधन मानना चाहिये।

प. जैसे-जैसे व्यक्ति का विवेक जागृत होता जाता है, उसकी दृष्टि मे यह अन्तर आता जाता है। उसका चिन्तन प. दौलतराम-कृत-स्तुति 'सकल ज्ञेय' की तरह विकसित होने लगता है :

'मुझ कारज के कारण सु आप,
शिव करहु हरहु मम मोह-ताप।'

हे भगवन्, मेरे कार्य के आप कारण हैं। कार्य तो मुझमे होता है और उसे मैं ही करूँगा, आप सिर्फ कारण हैं। आपका निमित्त पा कर मैं अपनी क्षमता उद्घाटित कर सकता हूँ।

ने. जैनधर्म मे ईश्वर मे कर्तृत्व नही माना गया है, लेकिन ऐसा लगता है, पूजा मे, स्तुति आदि मे कर्तृत्व का स्वर प्रधान है। माँगने या याचना करने की सगति कहाँ बैठती है ?

पं. भक्तिवाद की बात जुदी है। उसमे इस प्रकार याचना/प्रार्थना होती है कि आप ही ऐसा काम/उपकार कर सकते है। यह तो भक्तिवाद है।

ने. लेकिन क्या इसकी जैन अध्यात्म से कोई सगति है ?

पं. प्रारभिक अवस्था मे है।

ने. प्रारभिक अवस्था यानी ?

पं. जब तक जीव अध्यात्म मे दृढ नही हुआ है तब तक। यदि हम गुण-स्थान की दृष्टि से कहे, तो भक्तिमार्ग ज्यादा-से-ज्यादा चलेगा तो दसवें गुणस्थान तक।

ने. उसके बाद ?

प. उसके बाद भक्ति का मार्ग नही है।

ने अध्यात्म का है ?

प. फिर शुद्ध अध्यात्म की दशा आ जाती है। भगवान् और भक्त दोनो मे एकाकार स्थापित हो जाता है।

ने. यह जो कर्तृत्व का स्वर है, वह भक्ति का स्वर है।

प. वह प्राथमिक स्तर है।

ने. परिपक्वता इसमे से जन्मती है।

प. यथा

"तव पादौ मम हृदये मम हृदय तव पदद्वये लीनम्।
तिष्ठतु जिनेन्द्र, तावद्यावन्निर्वाण-सप्राप्तिः ॥"

तुम पद मेरे हिय मे, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में।
तब लौं लीन रहो प्रभु,जब लौं पाया न मुक्तिपद मैंने ॥

(हे भगवन् ! आपके दोनों चरण मेरे हृदय में, और मेरा हृदय आपके चरणों मे रहे, कब तक ? जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति न हो जाए।)

बारहवे गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान की निर्विकल्प दशा आती है, हाँ अपने आप आ जाता है—मै ही साध्य हूँ; मै ही साधक हूँ, मैं ही पूज्य हूँ, मै ही पूजक हूँ, और पूजा का फल भी मुझे ही प्राप्त होना है। इस तरह अद्वैत-जैसी स्थिति उभर आती है।

ने. पूजा का जो उत्तरार्ध है, वह अद्वैत ही हो गया है; भले ही पूर्वार्ध उसका भक्ति हो।

प. हाँ; उत्तरार्ध तो अद्वैत ही होगा।

ने. होना ही चाहिये। नही होगा तो उसका जो परिणाम हम चाहते है, वह निकलेगा नही।

प. सही है।

ने. भक्ति रागात्मक वृत्ति है, क्या वीतरागता से इसकी कोई सगति है ?

पं. भक्ति रागात्मक है, सो तो ठीक है, भक्ति या भगवान् की पूजा मै करूँ, या ये हमारे आराध्य है, इनकी पूजा हमे करनी चाहिये—यह राग है। इस राग से पुण्य-बन्ध होगा, लेकिन भगवान् की पूजा करते समय इस जीव का लक्ष्य अपने वीतराग स्वभाव की ओर झुक जाता है, अत वह मात्र पुण्यबन्ध का कारण न हो कर निर्जरा का कारण भी बन जाता है।

ने यानी भक्ति के माध्यम से पुण्यबन्ध भी हो सकता है, और कर्म-निर्जरा भी हो सकती है।

पं. कर्म-निर्जरा भी हो सकती है, यदि लक्ष्य आत्मस्वरूप की ओर हो तो।

ने. सूक्ष्म घटना है यह ?

प. हाँ, और यदि यही रहा कि भगवन्, आप चाँदी के है, सोने के है, हीरे-जवाहरात के है, आप कुशाणकालीन है, गुप्तकालीन है, यही लक्ष्य रहा, तो इससे सिर्फ भक्ति होगी, लेकिन निर्जरा का योग उपस्थित नही होगा।

ने. पुरातत्त्व मे-से तो मुक्ति का प्रश्न ही नही है। प्रतिमा सुन्दर है, यह वीतरागता को स्फूर्त करती है, लेकिन यदि कभी सोचें कि यह धातु की है; या पाषाण की है तो यह बडी स्थूल चर्चा होगी। इसमे से वीत--रागता की स्फूर्ति नही होगी। अब यह बतलाइये, उपासना का क्या अर्थ है ?

पं भगवान् के समीप होना। जब किसी की सेवा की जाती है, तब वह पास से बैठ कर ही तो संभव होगी, दूर रह कर वह नही होगी।

ने. सान्निध्य ?

पं. उपासना यानी सान्निध्य प्राप्त करना।

ने. वीतरागता से सान्निध्य।

पं यही उपासना है। आराधना मे 'आ' यानी सब ओर से 'राधन' करना।

ने. : राधन यानी ?

प. : सेवा करना, 'राधन' के और भी कई अर्थ है, किन्तु यहाँ सेवा है। सब ओर से भगवान् की सेवा करना—उस तरफ अपना उपयोग लगाना—आराधना है। राधन = सम्पन्न या पूर्ण होना, कामयाब होना, समृद्ध अनुकूल होना, प्रसन्न होना,

ने. : और अर्चना ?

पं. : 'अर्च्' धातु पूजा के अर्थ में आती है संस्कृत में। अर्चना यानी पूजा।

ने. क्या पूजा और अर्चना को पर्यायवाची मानें ?

पं. पर्यायवाची ही हैं।

ने. . एक शब्द और है 'वन्दना'।

पं. यह बड़ा व्यापक है। पूजा भी नहीं कर रहे हैं, तब भी वन्दना शब्द का प्रयोग होगा। आगम में यदि श्रद्धापूर्वक मिलते हैं, तो भी पूज्य पुरुषों के प्रति वन्दना शब्द का प्रयोग होगा।

ने. : श्रद्धा की अभिव्यक्ति है वन्दना में।

पं. : गृहस्थ को ब्रह्मचारियों के प्रति वन्दना करना होता है। जब गृहस्थ भी व्रती बन जाता है, और उसे किसी व्रती से बोलना होता है, तो 'इच्छामि' (इच्छाकार) कहता है, और फिर साधु-साध्वी इनके पास जाते हैं, तो उनसे 'नमोऽस्तु' (मुनि से) या 'वन्दामि' (आर्यिका से) शब्द का प्रयोग करते हैं।

ने. : आप पूजा करते हैं ?

पं. : करता हूँ।

ने. कब से ? किस उम्र से ?

पं. जबसे होश संभाला है, पढ़-लिख कर आया हूँ तबसे, सन् १९३१ से।

ने. : नियमित कर रहे हैं ?

पं. . हाँ।

ने. अस्वस्थ होने की स्थिति में ?

पं. : अस्वस्थ अवस्था की बात जुदी है।

ने. तब पूजा का क्या स्थानान्तर होता है ?

पं. महावीर स्वामी की फोटो टँगी है यहाँ पर, पिछले तीन-साढ़े तीन महीनों से पैर में फ्रैक्चर के कारण इसी बिस्तर पर लेटा रहा, उसका दर्शन करता रहा। जब भाई आते थे, उनके साथ साथ महावीर स्वामी की पूजा पढ़ता था।

ने. इसे आप 'भावपूजा' नहीं कहेंगे ? द्रव्यपूजा और भावपूजा में क्या अन्तर है ?

पं. 'द्रव्यपूजा' का सामान्य अर्थ होता है कि अष्टद्रव्य से पूजन करना। एक जगह पर भी लिखा है कि मन वचन, काय-उनका जो संकोच है, वह 'भावपूजा' है, और हाथ जोड़ना, सिर नवाना—शारीरिक क्रियाओं के द्वारा भक्ति प्रकट करना 'द्रव्यपूजा' है। अष्टद्रव्य से पूजन करना 'द्रव्यपूजा' है ही।

ने. पूजा आदमी एक पैतृक संस्कार के रूप में सीखता या ग्रहण करता है ? आप जो करते हैं, सांस्कारिक है या शायद आपको लगा कि पूजा करनी चाहिये ?

पं. हमारे कुल के संस्कार पैतृक हैं। हमारे जो दादा थे बाबा, वे व्रती थे।

ने.   व्रती यानी ?

प.   त्यागी-जैसे थे । पिताजी भी पूजा निश्चित/नियमित करते थे । सन् १९१९ मे सागर आये थे, जहाँ पढते रहे, सात साल विद्यालय मे रहे । संस्कार अच्छे पडते रहे ।

ने.   पिताजी पूजा करते थे, इसलिए आपने भी शुरू की ?

पं.   ऐसी बात नही है ।

ने. : तो ?

प.   सस्कार है । वह जब उभरा, तब अपने-आप समझ मे आ गया ।

ने.   सबसे अच्छी पूजा कौन-सी है ?

पं.   पूजाएँ तो सभी अच्छी है ।

ने.   आप कौन-कौन-सी पूजाएँ करते है ?

पं.   देव-शास्त्र-गुरु की पूजा नियमित करता हूँ ।

ने.   इसके बाद ?

पं   यदि समय रहता है, तो और भी कर लेता हूँ ।

ने.   यह नवदेवता पूजा कौन-सी है ?

पं.   नवदेवता मे पाँच परमेष्ठी आते है; जिनधर्म, जिनशास्त्र, जिन-चैत्यालय और जिन-प्रतिमा भी ।

ने.   नवदेवता पूजा ज्यादा श्रेयस्कर होगी या देव-शास्त्र-गुरु की पूजा ?

पं.   देव-शास्त्र-गुरु की पूजा मे सब समा जाते हैं ।

ने.   कितने समय तक पूजा करते है ?

प.   जब जैसी अनुकूलता होती है, उसके अनुसार चलता हूँ । आधा घण्टा तो लग ही जाता है ।

ने.   कम-से-कम आधा घण्टा और अधिक-से-अधिक ?

पं.   जैसा समय हुआ, तदनुसार और दो पूजाएँ कर लेता हूँ ।

ने. . समय हुआ यानी व्यस्तता के अनुसार ?

पं. . हाँ ।

ने.   अभी तो पैर मे फ्रैक्चर हो गया था, लेकिन जीवन के उत्तरार्ध मे व्यस्तता कम हो जाती है, तो क्या पूजा मे अधिक समय देते है ?

पं. : उसमे यह चलता है कि जैसे पूजन के बाद प्रवचन भी करना है और घर से मन्दिर पहुँचने मे थोड़ा-सा विलम्ब हो गया, तो पूजा के समय मे संकोच भी हो जाता है । एक-के बाद-दूसरी पूजा करना है, तो अर्घ्य चढ़ा कर सक्षिप्त कर देता हूँ । (एक पूजा तो नियमित होती ही है; अन्य पूजाओ के अर्घ्य चढा लेता हूँ ।)

ने. : क्या आप यह नही मानते कि प्रवचन भी एक तरह की पूजा है ?

पं. पूजा नही, स्वाध्याय है।

ने यह मैंने इसलिए पूछा कि प्रवचन के कारण आप पूजा को सक्षिप्त कर देते है; तो लगा कि संभव है वह पूजा का ही एक हिस्सा होगा।

पं. पूजा तो व्यक्तिगत चलती है। स्वाध्याय मे चार-छह व्यक्ति बैठे होते है। उनको बाधा न हो, असुविधा न हो, वे व्यर्थ प्रतीक्षा न करें।

ने. उनका ध्यान रख कर आप पूजा को सक्षिप्त कर देते है ?

प. हाँ।

ने. पूजा मे आप अपना ध्यान रखते है, या दूसरो का ?

पं. पूजा मे दूसरो का ध्यान आ जाता है, क्योकि प्रवचन भी एक महत्त्व का कार्य है।

ने. पूजा तो एक तरह का कर्म-काण्ड ही है।

प. कर्म-काण्ड अर्थात् क्रिया-काण्ड है। यज्ञादि कर्म-काण्ड और जैन पूजा मे बुनियादी अन्तर है।

ने. क्या अन्तर है ?

प. बहुत अन्तर है। वहाँ तो लक्ष्य पूरा करना यानी स्वार्थ सिद्ध करना है, जबकि जैनपूजा मे परमार्थ सिद्ध करना है।

ने. लेकिन स्वार्थ का अर्थ जैनागम मे परमार्थ भी है।

प. है तो, लेकिन जब इतनी गहराई मे घुसे तब न।

ने. 'स्वार्थ' शब्द मे श्लेप है।

प बराबर है, परन्तु उसके भीतर घुस कर विचार करें तब तो।

ने. जो जैनेतर पूजा है, उसमे 'स्वार्थ' का एक अर्थ है और जैन पूजा मे 'स्वार्थ' का दूसरा अर्थ है।

प. : (हाँ, और फिर इस बात को स्वीकार करने मे हमे सकोच नही होना चाहिये कि जैनो के भी आचार मे, विचार मे, भक्ति मे, बहुत-सी बातें दूसरे धर्मो के सपर्क के कारण आ गयी है। आपने कहा था कि कर्तृत्ववाद घुस आया है हमारी भक्ति मे, पूजा मे, यह सब दूसरो के सम्पर्क का फल है)।

ने. इसका शुद्धीकरण किया जा सकता है ?

पं. शुद्धीकरण का लक्ष्य तो होना चाहिये, लेकिन वह बन नही पाता है। शुद्धीकरण की तरफ प्रयत्न तो है ही। बहुत भारी क्रिया-काण्ड था बीसपंथ मे, तेरापथ मे यह क्रिया-काण्ड अब कम हुआ है, या किया गया है।)

ने. यदि पूजा के लिये कोई 'सगीति' आमन्त्रित करें—दिगम्बर लोग करें, श्वेताम्बर लोग करें—अपने-अपने क्षेत्रो मे एक सगीति बुलाये, जिसमे पूजा के भावी स्वरूप पर विचार हो, तो वह कैसी होनी चाहिये ? वह तो एक तरह का विशुद्धीकरण ही है। कौन-कौन से मुद्दे हो सकते हैं शुद्धीकरण के ?

पं. . यह कहना मुश्किल है। आजकल लोगो की विचारधारा इतनी रूढ हो गयी है कि वे अपने से विपरीत बात सुनना ही नहीं चाहते।

ने. : पढना चाहते हो शायद ?

पं. · लेकिन पढने के बाद भी उस पर विचार नही करना चाहते।

ने. : इसमे पहला काम हम क्या करे ?

पं. · यही कि हम सब इकट्ठा हो कर विचार करे, चिन्तन करें, सोचे कि इस काम मे अधिक 'आरभ' है, अधिक 'हिंसा' है। इससे बचकर हम भगवान् के निकट सरलता से कैसे पहुँच सकते हैं ?

ने. · यानी जैनधर्म की मौलिकताओ का ध्यान रखते हुए, हमे पूजा का पुनरीक्षण करना चाहिये। जैनधर्म की जो मौलिकताएँ है, उन पर आँच न आये और पूजा बनी रहे, भक्ति बनी रहे। ऐसे प्रयत्न के लिये सगीति बुलाना बहुत जरूरी है। इसमे किन लोगो को बुलाना चाहिये, जैसे पण्डितवर्ग है।

प. पण्डितवर्ग है, कुछ प्रबुद्ध श्रेष्ठिवर्ग है।

ने. . क्या साधुवर्ग को इसमे सम्मिलित करेगे ?

पं. साधुवर्ग को भी शामिल किया जा सकता है। साधुओ मे बहुत-से पक्ष हैं, जैसे, कुछ परम्परावादी है।

ने. : सब अपने-अपने आग्रह को लिये हुए है। इन आग्रहो को मिटाने मे समय भले ही लगे, लेकिन विचार-विमर्श तो किया ही जाना चाहिये। यह जो द्रव्यपूजा होती है, तो उसमे अष्टद्रव्य क्या प्रतीकात्मक है ?

पं. दूसरे लोग इसे अष्टपुष्पी पूजा कहते है।

ने. अष्टपुष्पी यानी क्या ?

पं. आठ फूल चढ़ाकर भगवान् की पूजा होती है। 'अष्ट' पुष्प ही होते है उनकी पूजा मे। इधर हमारे यहाँ अष्टद्रव्य द्वारा वह होती है। हमने अष्टद्रव्य निश्चित कर लिये है—जल, चन्दन, अक्षत आदि। जयपुर मे कभी शिवसागर महाराज का प्रवचन सुना था। किसी ने उनसे पूछा था कि पूजा मे गेहूँ क्यो नही चढाते, चावल (अक्षत) ही क्यो चढाते है ? तब उन्होंने कहा था कि चावल और धान, जिस तरह ये दो है, जैसे धान मे से चावल निकाला जाता है, इसी तरह यह लक्ष्य बनाना चाहिये कि शरीर और आत्मा —ये दो चीजें जुदी है—भेदविज्ञान का लक्ष्य बनाने के लिए अक्षत चढ़ाते है।

ने. : फिर अक्षत उगता भी नही है, इसलिये हम कर्म की ऐसी निर्जरा करें कि वह फिर कभी ऊगे न, इसके पीछे शायद यह भूमिका भी रही हो।

पं. . है।

ने. : हमारी जो पूजाएँ है, उनमे कही-कही स्त्रियो के लिए टिप्पणियाँ आ गयी है, जैसे, 'संसार मे विषवेल नारी'।

पं. : इसे सशोधित किया गया है—'संसार मे विषयाभिलाषा'।

ने. · किसने बता दिया कि ऐसा करना चाहिये ?

पं. यह पाठ-भेद भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'पूजाञ्जलि' मे दिया है।

ने. : क्या किसी रचनाकार की पूजा को हम इस तरह वदल सकते हैं ?

पं. टिप्पणी मे तो दे दिया पुराना पाठ—'ससार मे विषवेल नारी' और यहाँ रख दिया 'ससार में विषयाभिलाषा तज गये जोगीश्वरा'।

ने किसी भय के कारण कि कही स्त्रियाँ वगावत न कर वैठे ?

पं डर तो क्या, जरा अच्छा लगता है। अपने शब्दो द्वारा किसी को हीनता का अनुभव न हो, इसलिए। कुदकुद स्वामी ने 'प्रवचन-सार' मे एक जगह दृष्टात दिया है कि स्त्रियाँ स्वभाव से मायाचारी होती हैं। प्रकरण यह चला कि तीर्थंकर भगवान् का समवसरण चलता है, उपदेश होता है, यह तो अपने-आप होता है, स्वभाव से होता है, जैसे स्त्रियाँ स्वभावतया मायाचारी होती है। अमृतचन्द्र स्वामी ने जब उसकी टीका की, तो उन्होने कुदकुद स्वामी की वात को ध्यान मे रख कर एक नया दृष्टात दिया कि मेघ आते है, वरसते हैं। मेघ विहार भी करते है—एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं, उनमे कोई इच्छा नही होती स्वभावत यह मेघ का परिणाम है, इसी तरह से तीर्थंकर भगवान् मे यह स्वाभाविक परिणमन है, यानी जो स्त्रियो के लिए दृष्टात दिया है, वह खटकता है, जैसे मायाचार स्त्रियो का स्वभाव है। धर्मसभा मे स्त्रियाँ भी वैठी है, पुरुष भी बैठे है, अत अमृतचन्द्राचार्य ने दृष्टात ही बदल दिया।

'ज्ञानार्णव' मे शुभचन्द्राचार्य ने एक सर्ग मे तो स्त्रियो की बुराई-ही-बुराई की है। जब हम 'ज्ञानार्णव' पर प्रवचन करने वैठते हैं, तो वह सर्ग छोड देते है, जिसमे आलोचना है; साराश यह कि इसे वाचने से क्या फायदा है?

ने. ; पुरुषो की भी वुराई की है उन्होने ।

प. की है।

ने : किन्तु इतनी नही, जितनी स्त्रियो की की है, पक्षपात हो गया उनसे ।

प. पक्षपात तो क्या है, ऐसा ही है। अब स्त्रियाँ भी शास्त्र लिखने लगी है, वे भी खवर लेगी।

ने क्या यह ठीक है कि स्त्रियाँ भी शास्त्र लिखें ?

प. इसमे आपत्ति क्या है ?

ने पहले नही लिखा, इसलिए पूछ रहा हूँ।

प. वह बात जुदी है।

ने. क्या उन्हे लिखना चाहिये ?

पं जरूर लिखना चाहिये। वे अब ज्ञान का सदुपयोग कर रही है। दिगम्बर जैन समाज मे कुछ माताएँ तैयार हुई है, विशुद्धमतीजी, ज्ञानमतीजी, सुभाषमतीजी, जिनमतीजी आदि। उन्होने आगम पर काम शुरू किया है, अच्छा लिखा है।

ने . मूर्ति का क्या स्थान है पूजा मे ?

प. आलम्वन चाहिये प्रारभिक अवस्था मे, इसलिए मूर्ति को सामने रखते है।

ने. क्या मूर्ति को अनुपस्थित कर दें, तब भी पूजा बनी रह सकती है।

पं. नही, यह बात जुदी है, पूजा परोक्ष मे भी होती है; लेकिन सामने मूर्ति मौजूद होती है, तो उपयोग ज्यादा लगता है ।

ने. मूर्ति की उपस्थिति उत्तरोत्तर कम हो सकती है; यानी आलम्बन से मुक्त हो कर पूजा करना धीरे-धीरे यह अधिक श्रेष्ठ होगा ।

पं. यह ठीक है, लेकिन प्रारभिक अवस्था मे तो आलम्बन आवश्यक है । आलम्बन है कि मूर्ति सामने है, उनके गुणो का स्मरण होता है—जैसा मेरा स्वरूप है, भगवान् का भी वैसा ही है । यह लक्ष्य बनता है ।

ने. यानी मूर्ति हमारे लिए आदर्श है ।

पं. है ही ।

ने. वैसे गुण हममे भी आये—'तद्गुण-लब्धये' ।

प. : बराबर ।

ने. पूजा मे भाषा और शैली की क्या महत्ता है ।

प. भाषा तो साधन है, जो जिस भाषा मे समझता हो वह उसमे पूजा करे ।

ने. : लगता है, मध्यकालीन भाषा मे जो पूजाएँ है, उनमे माधुर्य अधिक है ।

पं. हाँ, है तो । पहले सस्कृत मे पूजाएँ थी, बाद को प्राकृत-अपभ्रंश मे जयमालाएँ लिखी गयी ।

ने. क्या प्राकृत मे पूजाएँ हैं ?

पं. : पूजाएँ तो नही देखी, जयमालाएँ मिलती हैं । पूजा सस्कृत मे है, उनकी जयमालाएँ प्राकृत मे, अपभ्रश मे है ।

ने. : ऐसा क्यो ?

पं. ऐसा इसलिए कि सस्कृत के साथ सगीत बराबर बैठ नही पाता, और प्राकृत मे कुछ लय बन जाती है—चौपाई वगैरा है ।

ने. : जयमालाएँ प्राकृत मे और अपभ्रश मे, मूल पूजा संस्कृत मे, क्या ऐसा एक ही रचनाकार ने किया है ?

प. देव-शास्त्र-गुरु की पूजा सस्कृत मे है, जिसे बडी पूजा कहा जाता है । पूजा सब सस्कृत की है, लेकिन तीनो जयमालाएँ प्राकृत में हैं ।

ने. : ऐसा कहें कि यह समन्वय की कोशिश है ।

पं. : रही हो, लेकिन इससे मैं यह समझता हूँ कि पढने के लिए प्राकृत मे सुविधा है ।

ने. : ऐसा भी हुआ है कि दोनो प्रकार के लोग बैठे हो समुदाय मे—कुछ सस्कृत समझ सकते हैं, कुछ प्राकृत, तो सस्कृत वाले सस्कृत की पूजा समझ लेंगे, और जो बच गये उन्हे जयमाला मे—से ज्ञान मिल जाएगा ।

प. : यह भी हो सकता है ।

ने. समन्वय की दृष्टि से । आपको हिन्दी की पूजाओ मे से कौन-सी सबसे अच्छी लगती है ?

प : सभी पूजाएँ अच्छी है।

ने. . मैं ऐसा नही कह रहा हूँ कि किसी को अच्छी बता देंगे, तो दूसरी बुरी हो जाएगी। ऐसा सो कर प्रश्न मैं नही कर रहा हूँ।

प. देव-शास्त्र-गुरु की जो सस्कृत पूजा है, वह वेजोड है।

ने. क्यो है वेजोड ?

प. इसलिए कि उसमे भाव अच्छे भरे है।

ने. उसमे हमारे जो मौलिक सिद्धान्त है उनकी स्पष्ट झलक मिल जाती है।

प उसी का सार हिन्दी मे कवि द्यानतरायजी (१७ वी सदी) ने लिया है। उन्होने भी पूजा के क्षे मे वहुत काम किया है। तमाम पूजाओ को हिन्दी मे रूपान्तरित कर दिया है। वहुत वडा काम है यह।

ने उन्होने हिन्दी मे पूजाओ की सर्वाधिक रचना की है ?

प. हाँ, हिन्दी मे उन्होने सवसे ज्यादा पूजा लिखी है।

ने. मध्यकाल मे भैया भगवतीदास, आनन्दघन, भूधरदास, वृन्दावन, बुधजन आदि कवियो ने पूजाओ की रचना की है, उनमे द्यानतराय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वर्णी जी के पत्र : उनके नाम :

श्रीयुत महाशय पंडित पन्नालाल जी,

योग्य इच्छाकार !

पत्र आया । आपका उत्साह प्रशसनीय है । परन्तु मैं अव अकिंचित्कर हूँ। मेरी भावना तो उच्च है, परन्तु उसके अनुकूल साधन नही । लोगो के पास धन हैं, वे परायी योग्य भी वात सुनने को प्रस्तुत नही अत. मौन ही रहना श्रेयस्कर है—अपनी आत्मा मे उतनी पवित्रता नही जितनी चाहिए ।

श्री दि. जैन वर्णी गुरुकुल, — आ० शु० चि०
मढिया जी (जबलपुर) — गणेश वर्णी
अगहन सुदि १२, सं. २००३ — ६-१०-४६

卐

श्रीयुत महाशय पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धिः ।

पत्र आया, वृत्त जाने । भैया ! ससार दुःखमय है । इसमे सुख कहाँ ? आपका तो औरस भाई था उनके वियोग का दु.ख हुआ । यह तो उचित ही है परन्तु हमको भी इष्ट-वियोग तथा इष्ट को आपत्ति आने से दु ख हो जाता है । परन्तु बुद्धि का उपयोग यही है कि आपत्ति आने पर समता रखना चाहिए । समय पाकर स्वय शोक दूर हो जावेगा । आप स्वय ज्ञानी है अत. पहले ही शोक त्यागो । शोक से कोई लाभ नही । "बुद्धेः फलं ह्यात्महित-प्रवृत्तिः ।" खेद है कि आप सदृश निर्मल आदमी भी आपत्ति का पात्र बन गया । परन्तु यह विश्वास है कि आप अन्तरग से खिन्न न होगे ।

सहारनपुर, — आ० शु० चि०
चैत्र सुदि ७, सं. २००६, — गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धि. ।

पत्र पाकर प्रसन्नता के साथ खेद भी हुआ । आज समाज मे कोई ऐसा व्यक्ति नही जो पण्डितो को निश्चिन्त कर दे । उन्हे आजकल गृहस्थी का भार बहुत ही कष्टप्रद हो गया है । सागर विद्यालय मे पुष्कल द्रव्य नही अन्यथा इतनी व्यग्रता की बात न थी । मै इतना संकोची हूँ कि कुछ भी न कह सका । बरयासागर ने जितना रुपया दिया सो

लिखना। अनुवाद यदि मुद्रित हो तभी छात्रादि को लाभ है। प. सुन्दरलालजी ने 'नीतिवाक्यामृत' की हिन्दी वनायी है। आपने देखी होगी।

कैराना,
जेठ वदि ८, सं. २००६.

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धिः।

क्या लिखू ? मेरा जीवन विद्वानो के उत्कर्ष से है। किन्तु खेद इस वात का है कि अधिकारीवर्ग प्रयोजन से मेरा नाम सरक्षकतादि मे रखते हैं, किन्तु वात आपकी न मानी जायगी। यही सव संस्थाओ की दशा है। कुछ हो मेरी भावना निरन्तर ज्ञानी पुरुषो के कल्याण की है।

देहली,
आषाढ़ सुदि ३, स. २००६

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धि ।

आपका पत्र आया। आप जयन्ती के विषय मे कुछ न लिखिए। मेरी आत्मा इससे खिन्न होती है। मैं नही चाहता कि मेरा कुछ उत्कर्ष हो। उत्कर्ष स्वयं करू तो हो सकता है। सो ७५ वर्ष वीत गए, नही कर पाया। दूसरो के द्वारा उत्कर्ष चाहने वाला जीव नियम से अधोगति का पात्र है। आशा है आप किसी से भी अव इस विपय की चर्चा न करे। आप मेरे हितैषी है। अत इस विपय मे कुछ भी उद्योग न करें।

देहली,
भाद्र वदि २, स. २००६

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य !

योग्य दर्शन विशुद्धि.।

'जैन गजट' आदि मे जो कुछ मेरे विषय मे लिखा है सो तथ्य है, क्योकि मेरे जो कुछ श्रद्धा है वह जा ही नही सकती और वैसी श्रद्धा वहुत से जैनियो को आगम विरुद्ध जचती है। अव यदि वह मुझे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी समझें, इससे मेरी कौन सी क्षति है ? यदि मुझे उनका कहना दुखकर है तव अपनी श्रद्धा छोड दूँ तव आज वह सम्यग्दृष्टि वना देंगे ? सो हो नही सकता। इसका तात्पर्य यह है कि श्री पन्नालाल जी अग्रवाल ने मेरा पत्र छपवा दिया तव कुछ वेजा नही किया। क्योकि मेरा ही लिखा था। मेरे अभिप्राय को व्यक्त कर दिया। प्रत्युत

क्या कर सकता हूँ ? पुस्तक के विषय मे लिखा सो क्या लिखूँ ? प्रवास मे हूँ अन्यथा कुछ करता। पाठशाला वालो को यहा आने पर कुछ कहूँगा। लिखने का कोई प्रभाव न पडेगा।

भिण्ड, आ० शु० चि०
फाल्गुन सुदि २, स. २००७. गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत महाशय पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धि ।

हम पपौरा से द्रोणगिरि की यात्रा करते हुये मलहरा आये। वहुत ही दीन दशा यहा के मनुष्यो की है। इसका उद्धार होना आवश्यक है। शिक्षा की महती त्रुटि है। यह काम प्रत्येक का नही, धनी वर्ग का है। सो इस प्रान्त मे नही। विद्वान् भी कर सकता है परन्तु तभी कर सकता है जव वह नि शल्य हो। यहा कम से कम हाई-स्कूल तक तो लौकिक शिक्षा रहे और प्रथमा तक सस्कृत हो। द्रोणगिरि तथा मलहरा इस कार्य को उपयुक्त हैं। दोनो स्थानो पर १०० छात्रो का पठन-पाठन हो तथा धर्मशास्त्र की शिक्षा छात्रावास मे दी जावे। सव जातियो के छात्र शिक्षा पावें। व्यापक प्रचार की आवश्यकता है। नैनागिरि विद्यालय के उद्धार की भी आवश्यकता है, परन्तु वहाँ तो नवीन मन्दिर वन कर प्रतिष्ठा हो रही है, अच्छा है। इस ओर दृष्टि नही। अत इस ओर ध्यान रखना। आप तो विद्वान् हैं क्या लिखें ? मलैया जी ही एक ऐसे है जो उस प्रान्त का वहुत अशो मे उपकार कर सकते है।

मलहरा, आ० शु० चि०
माघ वदि २, सं २००८. गणेश वर्णी

卐

श्रीयुत महाशय पंडित पन्नालाल जी !

योग्य दर्शन विशुद्धिः।

मैंने कमेटी को पत्र लिखा था, परन्तु कमेटी ने विचार नही किया। अतः अव मैं पाठशाला से सम्पर्क छोडता हूँ। संसार की दशा यही है। मैं हृदय से विद्वानो का स्वागत करता हूँ। खेद इस वात का है कि जो कार्य-कर्त्ता है वे इस विद्या के रसिक नही। अत विद्वानो को अनुचित वर्ताव सहना पडता है। परन्तु मेरा अभिप्राय यह कि भिल्लजन मुक्ताफल का अनादर करे तव क्या महाराणियो के हृदय मे उनको स्थान नही मिलता ? अत आप कोई विकल्प न करना। आपके द्वारा हमे कष्ट पहुचे ऐसी सम्भावना करना ही आकाशपुष्प के तुल्य है। मेरा जीवन विद्वानो के उपयोग मे आवे इससे उत्तम और कौन कार्य होगा ? आप सर्वथा सानन्द रहिए। मै अच्छी तरह से जानता हूँ कि आपके पास गृहस्थी भार के योग्य द्रव्य होता तव आप स्वप्न मे भी वेतन न लेते। आप, पंडित दयाचन्द्र जी तथा माणिकचन्द्र सव ही मे मेरी अकथ श्रद्धा है। अभी मैंने कमेटी को पत्र स्तीफे का नही भेजा है। आप लोगो का अभिमत आते ही पत्र भेज दूगा। जिससे पाठशाला का अहित न होना चाहिए।

खेखड़ा, आ० शु० चि०
(जिला-मेरठ) गणेश वर्णी

श्रीयुत महाशय पंडित पन्नालाल जी !

योग दर्शन विशुद्धि. ।

आपके प्रयत्न से शिविर कार्य सम्यक् सम्पन्न हुआ । सागर समाज की महती प्रतिष्ठा हुई इसके मूल कारण आप है । क्या कहे श्री रामचन्द्र जी ने हनुमान जी से कहा था वही स्मरण आता है—

'मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे !
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवांछति ।।"

यदि प गण हो तव मेरा यह सन्देश कहना । उस प्रान्त का गौरव व कल्याण आप लोगो से ही है । हम तो सुन करके ही प्रसन्न रहते है ।

ईसरी बाजार,
आषाढ़ वदि १०, स. २०१२

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी

卐

कर्मठ विद्वान् एवं सफल साहित्यकार : पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य

—डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी,
पूर्व-विधायक, छतरपुर

संस्कृत साहित्य की सेवा एव सस्कृत शिक्षा के क्षेत्र मे अनवरत पचास से भी अधिक वर्षों से सलग्न, संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् तथा साहित्य-मनीषी श्री प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, संस्कृत जगत् के वह देदीप्यमान रत्न हैं जिनकी साहित्यसेवा को ६ मई सन् १९६० मे देखकर भारत के नररत्न-पारखी, भारत-रत्न राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी आश्चर्यचकित रह गये थे । न केवल सस्कृत साहित्य, विविध दार्शनिक चिन्तन, विचारधारा का तुलनात्मक अध्येता इतना सीधा-सादा और प्रचार की दुनियां से दूर कैसे ? अपने करकमलो मे समर्पित ग्रन्थो के ढेर को देखकर उनमे से एक को छाटकर विद्या-विशारद डॉ. राजेन्द्रप्रसाद जी ने धडाधड़ प्रश्नो की बौछार लगा दी । जैसे मानस राजहस नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति सार्थक कर रहा हो, और पं श्री साहित्याचार्य जी ने तडातड प्रश्नोत्तर देना प्रारम्भ कर दिया जैसे कोई डी. लिट् कराने वाला निर्देशक बोल रहा हो । राष्ट्रपति महोदय ने अपने गले लगाकर संस्कृत के प्रति, सस्कृत साहित्य के प्रति, संस्कृत साहित्य सेवी मनीषी के प्रति अपने सौजन्य का परिचय दिया । दोनों की आखें वात्सल्य रस की वर्षा करने लगी । पत्रकारो के कैमरे ने पलक झपाया कि उस क्षण का यह —"साहित्य सेवी-साहित्य पारखी" का मधुर मिलन चित्रित हो गया ।

साहित्याचार्य जी के अनेको शिष्य भारतवर्ष के कोने-कोने मे सस्कृत की सेवा विविध रूपो मे कर रहे हैं। कोई शिक्षक है, कोई ग्रंथ सम्पादक तो कोई विश्वविद्यालयों तक के प्रोफेसर भी हैं । महिला शिष्याएँ भी आज समाज की प्रतिष्ठित विदुषियाँ बनकर नारी जागरण के क्षेत्र मे स्तुत्य कार्य कर रही हैं ।

साहित्याचार्यजी का जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिले मे एक छोटे से ग्राम-पारगुवाँ मे फाल्गुन शुक्ल ११ वि. स १९६७ को हुआ । आपके पिता श्री गल्लीलाल जी जैन साधारण परिस्थिति के व्यापारी थे । उनके असामायिक निधन और ग्रामीण शिक्षा की पूर्ति ने उन्हे अपनी गरीब माँ और बडे भाई के साथ सागर शहर चले जाने की प्रेरणा दी । पुत्र के लिये असहाय माँ का सहारा, और बडे भाई का भोलापन-भरा अपने से कुछ ही बड़ा बचपन आपत्ति सागर का किनारा था । साहस की नौका को उनका धैर्य एवं उद्योग के पतवार पार लगा ले गये । वह जैन पाठशाला (वर्तमान श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर)की छत्रच्छाया मे थे । अपने विद्या गुरुओ से विद्या को वैसे ही ग्रहण किया जैसे गौवत्स अपनी जननी से दुग्ध को । माँ और बडे भाई अपने अथक श्रम से अर्जित न्यायोपात्त द्रव्य की सलिल-सुधा से तुलसी-बिरवा को सीचते रहे और वह बढता रहा—काव्यतीर्थ, शास्त्री आदि परीक्षायें उत्तीर्ण की ।

साहित्याचार्य जी ने अपने अध्ययनकाल से ही संस्कृत तथा हिन्दी मे विविध समाचार-पत्रों मे निवन्ध लिखना प्रारंभ कर दिया था । फलत अध्ययन के समय से ही वह संस्कृत के गहन ग्रथो की टीका तथा सम्पादन कार्य करने मे भी प्रवृत्त हो सके । उस क्रमिक वृद्धिगत परिश्रम के कारण ही वह एक सफल सम्पादक तथा कुशल टीकाकार बने ।

कोई भी विषय हो, कोई भी शंका हो, सभी का समाधान साहित्याचार्य जी कही भी, कभी भी दे सकते है । कभी प्रश्नकर्त्ता को यह सुनने नही मिलता कि "देखकर फिर वतावेंगे" । उनसे प्राप्त उत्तर को बाद मे ग्रंथो से मिलान कर देखिये वही मिलेगा । अत आपसे अपनी शका का समाधान पाने वाले जिज्ञासु और भाषण तथा प्रवचन श्रोता आपके द्वारा प्रस्तुत उद्धरणो को सुनकर आपको'चलती-फिरती लायब्रेरी 'या चल-पुस्तकालय'कहते है।

इसी प्रकार आपके एक-एक विभाजित क्षण का उपयोग कराने वाली आपकी समय की पावन्दी को देखने वाले लोग आपको मार्ग से जाते देखकर अपनी गडवड घडियो को मिलाकर ठीक करते है ।

इसी विद्वत्ता एवं व्यवस्थित तथा प्राभाविक व्यक्तित्व के धनी, सादी-खादी की वेशभूषा मण्डित पूज्य गुरु-देव प श्री साहित्याचार्य जी को छात्रो के बीच पढाते देखकर प्राचीन गुरुकुल पद्धति का स्मरण हो आता है। आपके पास पढने वाला छात्र कर्मठ, परिश्रमी एवं सच्चरित्र होता है । इसका कारण गुरू परपरा से प्राप्त सस्कार है । साहित्याचार्य जी अपने दृढतम चरित्र पालन के लिये समाज मे विख्यात है । वस्तुत ऐसे सम्यक् श्रद्धानी, ज्ञानी और चारित्र के धनी गुरु ही छात्रो के सर्वतोमुखी समुज्जवल भविष्य के निर्माता होते है ।

पूज्य साहित्याचार्य "बसन्त" जी अपने सस्कृत साहित्य कुसुमोद्यान के अनेक शत बसन्त देखें, यही हमारी शुभकामना है ।
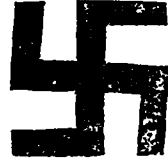
अभिनन्दनीय का अभिनन्दन :

—राकेश जैन,
एम. टेक, कटरा, सागर।

भूतल पर कुछ ऐसे प्राणियो का जन्म होता है, जिनका जन्म से लेकर मरण तक समाज से, धर्म से, अटूट नाता रहता है। उनका जन्म समाज, धर्म और राष्ट्र की सेवा के लिये, उसके उत्थान के लिये ही होता है। ऐसे व्यक्तियो के प्रति राष्ट्र और समाज भी कृतज्ञता ज्ञापित करती है। "न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति"—के अनुसार सज्जन पुरुष किये हुए कार्यो के प्रति निश्चित रूप से कृतज्ञता प्रकट करते हैं। साहित्याचार्य के नाम से ही विख्यात प पन्नालाल जी भी इसी श्रेणी के व्यक्ति है, जिनका जन्म ही समाज, राष्ट्र और धर्म की उन्नति के लिये हुआ है। जन्म से लेकर ७५ वर्ष का जीवन इससे जुडा हुआ है।

विद्या प्राप्ति के वाद ही प जी ने विद्यादान का पवित्र कार्य किया और हजारो दिग्भ्रान्त व्यक्तियो को दिशा-बोध दिया, उनका जीवन निर्माण किया। आज प जी की विशाल शिष्य-परम्परा की गणना करना वहुत आसान नही है। प जी ने अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ छात्रो के पढाने मे ही नही किया अपितु साहित्य सृजन के क्षेत्र मे भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन पुराण, कथा, काव्य, स्तोत्र, पूजन आदि के क्षेत्र मे आपने वह कार्य किया जो अन्य नही कर पाया। अभी तक की विद्वद् पीढी मे आपका कार्य अग्रणी है।

विद्वान् समाज के लिये देता है और तव तक देता है, जव तक उसकी श्वास रहती है, परन्तु समाज से वह लेता नही। समाज विद्वान् का मूल्याकन कर ही क्या सकती है, उसका मूल्याकन तो होता ही नही। फिर भी समाज अभिनन्दनो के माध्यम से अपना कर्त्तव्य निर्वाह करती है। प पन्नालाल जी के प्रति समाज ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए अनेक सम्मान समारोह आयोजित किये है। उन सभी सम्मानो का लेखा-जोखा यदि आज हम करे, तो करना सम्भव नही है। हा, प्रमुख सम्मान जिन्हे विस्मरण नही किया जा सकता, अवश्य ही उल्लेखनीय है और उनका लेखा-जोखा किया जाना अनिवार्य भी है।

प जी के महत्त्वपूर्ण सम्मान उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर, आदर्श सस्कृत शिक्षक के रूप मे, प्रभावक वक्ता के रूप मे, ग्रथो के सम्पादक के रूप मे आयोजित हुये हैं।

स्मरणीय सम्मानो की शृखला मे—सबसे प्रथम सम्मान उनकी साहित्यसाधना पर आयोजित हुआ है। महाकवि हरिचद द्वारा रचित जीवन्धर चम्पू ग्रथ के सम्पादन पर म. प्र. शासन साहित्य परिषद् भोपाल ने नवम्बर १९६० को "मित्र पुरस्कार" से सम्मानित किया है।

विद्वत्ता एव प्रभावक वक्तृत्व से प्रभावित होकर अप्रैल १९६५ मे महावीर-जयन्ती के पावन अवसर पर श्री दिगम्बर जैन समाज बण्डा ने आपका वड़ी ही श्रद्धा के साथ अभिनन्दन किया।

पर्वराज पर्युषण-पर्व पर आपके प्रवचनो के लिये स्थान-स्थान की समाज लालायित रहती है, लेकिन हर जगह पहुँच पाना तो सम्भव नही । जहाँ भी आप पहुँचे और १० दिन आपने जो अमृत की वर्षा की, उससे सारी समाज भाव-विभोर हो गई और उसने अपनी अपार श्रद्धा प.जी का सम्मान कर प्रकट की । १९६८मे श्री दिगम्बर जैन समाज जेबलपुर एव १९६९ मे जैन समाज सिवनी द्वारा आयोजित सम्मान समारोह अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है।

२२ नवम्वर १९६९ की उस पावन वेला का विस्मरण नही किया जा सकता जवकि विज्ञान भवन दिल्ली मे आयोजित विशाल सम्मान समारोह मे आपका सम्मान **आदर्श संस्कृत शिक्षक के रूप में महामहिम राष्ट्रपति** द्वारा विशाल जन-समुदाय के बीच किया गया । यह सम्मान अपने आप मे महत्त्वपूर्ण इसलिये है कि राष्ट्रीय सम्मान है, जो विरले ही विद्वानो को प्राप्त होता है ।

राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित विद्वान् का सम्मान अनेक स्थानो पर विभिन्न सगठनो द्वारा आयोजित किया गया । जनवरी १९७० मे माध्यमिक शिक्षा मंडल म. प्र. भोपाल एव २६ जनवरी १९७१ मे सम्भागीय शिक्षक समारोह सम्मान समिति के तत्वावधान मे जबलपुर संभाग मे प. जी को सम्मानित किया ।

अनेक जैन सगठनो ने भी पण्डित जी को राष्ट्रीय पुरस्कार के सदर्भ मे विशाल आयोजन कर सम्मानित किया है । जिसमे दिगम्बर जैन समाज जयपुर, सागर, जवलपुर आदि प्रमुख है ।

१९७२ मे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् ने धौलपुर (राजस्थान) मे प जी द्वारा सम्पादित कृति 'गद्य चिन्तामणि' को पुरस्कृत किया और इस पर श्री गणेश वर्णी पुरस्कार दिया गया ।

२६ जनवरी१९७३ मे नगरपालिका परिषद् सागर द्वारा सम्मान समारोह आयोजित किया गया । फरवरी १९७३ मे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् की रजत जयन्ती श्रीमज्जिनेन्द्र पच कल्याणक जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठा महोत्सव शिवपुरी मे मनाया गया, उस समय पं जी को रजत–पत्र पर प्रशस्ति–पत्र समर्पित कर सम्मानित किया गया ।[1] वास्तव मे यह प. जी के मत्रित्व काल का भी रजत जयन्ती उत्सव था और प जी द्वारा समर्पित सेवा भावना की दृष्टि से विद्वत् परिषद् के प्रति नि स्वार्थ-भाव से सेवा करने का प्रतिफल है । १९७३ मे ही श्री दिगम्बर जैन समाज सतना एव मडावरा मे भी पं जी का शानदार सम्मान हुआ ।

८ जनवरी १९७४ को प जी की एक कृति को फिर सम्मान प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इन्दौर ने भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव के पावन अवसर पर प. जी द्वारा सम्पादित कृति "पुरुदेव चम्पू" को सम्मानित कर पं जी का साहित्य-सम्मान किया । सन् १९७५ मे प. जी को पर्युषण पर्व के अन्तिम दिन दिगम्बर जैन समाज दुर्ग ने सम्मानित किया ।

नवम्वर १९७६ मे प. जी का सम्मान गृहनगर सागर मे किया गया और इस समय "विद्यावारिधि" की उपाधि से अलकृत किया ।

सिद्धक्षेत्र अहार व द्रोणगिरि पचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय आपको प्रतिष्ठा महोत्सव समितियो ने सम्मानित किया । इसके अलावा जैन समाज सनावद, जैन समाज विदिशा, दिल्ली, गढाकोटा,कलकत्ता,वम्बई,इदौर,

१–समर्पित किये गये प्रशस्ति पत्र के मूलपाठ हेतु देखिए—इसी अभिनन्दन ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ क्र.-२/५१

हस्तिनापुर, दमोह, वण्डा, मुगावली, आदि स्थानो पर सम्पन्न विभिन्न महत्त्वपूर्ण आयोजनो के अवसरों पर प. जी का सम्मान किया गया ।

१९८१ मे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र खजुराहो मे आयोजित श्रीमज्जिनेन्द्र पचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा एव गजरथ महोत्सव पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् का चतुर्दश अधिवेशन सम्पन्न हुआ । अधिवेशन के सर्वानुमति से निर्वाचित अध्यक्ष माननीय डॉ प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य थे । उस अवसर पर आपका विशाल जनसमूह के बीच महोत्सव समिति की ओर से शानदार अभिनन्दन किया गया। यह सम्मान समारोह युवाचार्य पूज्य विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य मे स्वास्तिश्री पण्डिताचार्य भट्टारक चारुकीर्ति जी महाराज मूडबद्री एव विशाल विद्वन् समूह, जनसमूह के बीच किया गया, जो अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण सम्मान है ।

१९८२ मे बम्बई मे भारतीय ज्ञानपीठ एव श्री शान्तिसागर जैन ट्रस्ट द्वारा आयोजित जैन विद्वद् गोष्ठी मे प जी का सम्मान किया गया ।

युवाचार्य पूज्य सन्तप्रवर विद्यासागर जी के सान्निध्य मे षट्खण्डागम जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रथो की वाचना जो सागर, जबलपुर, खुरई, पपौरा एव ललितपुर मे आयोजित की गई, उसमे पं. जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहाँ तक कि १९८३ मे, खुरई मे, जबकि प जी को फ्रेक्चर हो गया था, चलने-फिरने मे भी असमर्थ थे, फिर भी वाचना मे सम्मिलित हुये । इन अवसरो पर आयोजन-समितियो द्वारा प जी का वाचना समाप्ति पर सम्मान किया गया, पूज्य विद्यासागर जी महाराज का षट्खण्डागम वाचना अनुकरणीय प्रयास है । विभिन्न स्थानो पर इसके सात आयोजन हो चुके हैं । इसके पूर्व ये ग्रन्थ जैन शास्त्र भण्डारो की आलमारियो मे ही बन्द रहे हैं । विद्वानो तक ने भी (कुछ विद्वानो को छोडकर) इन ग्रथो का अन्तस्तत्त्व नही देखा था । इन अनमोल सिद्धान्त ग्रथो की वाचना से विद्वानो की रुचि इन ग्रन्थो की ओर बढी है ।

१९८३ मे ही प जी की एक मौलिक कृति को फिर सम्मानित होने का अवसर प्राप्त हुआ । श्री जैन विद्या शोध संस्थान श्री महावीर जी द्वारा प जी की कृति 'सम्यक्त्व चिन्तामणि' को महावीर पुरस्कार के लिये चुना गया जिसके फलस्वरूप पडित जी को ५०००/– की राशि से सम्मानित किया गया ।

उपर्युक्त सम्मानो के अतिरिक्त प्राय प्रतिवर्ष ही जब भी प. जी कही किसी भी आयोजन मे सम्मिलित हुये, वहाँ की समाज ने आपका सम्मान कर अपने को सौभाग्यशाली ही माना है । प जी का सम्मान वस्तुत प जी के गुणो का, विद्वत्ता का सम्मान है, जिससे सभी समाज गौरव का अनुभव करती है । इस प्रकार के विद्वान् को पाकर निश्चित ही सपूर्ण समाज, प्रदेश और राष्ट्र धन्य है ।

अभिनन्दन के विशेष प्रसंग :

संस्कृत में तीन अभिनन्दन-पत्र

(१)

विविध - विद्या - विभूषितानां राष्ट्रपति-पुरस्कार-गौरव-गुम्फितानां सरस्वती समाराधक - वरेण्यानांतत्रभवतां विद्या - वारिधि - साहित्याचार्य - काव्यतीर्थ— श्रीमत् डॉ. पन्नालाल जी जैन-सागर-बुध-वर्याणां

शुभाभिनन्दनम्

साहित्ये गगनाङ्गणे शशिधरा पीयूष-वर्णाकरः
कान्तारे दृढ कर्मजाल जटिले निर्भीक-पञ्चाननः ।
लोकानां निजमार्गदर्शनविधौ मार्तण्ड-तुल्यो महान्
ब्रह्माण्ड प्रतिभासयन् विजयते पन्नाभिधानो बुधः ।।१।।

संसारो रसहीन-दीन-विटपी रक्षार्थ-मास्कन्दति
हेमन्तेन निपीडितो विमथितो सञ्जीवने चाक्षम ।
त्राणार्थं परिराजितोऽस्ति सतत संगृह्य पुष्पावलिं
भूत्वा त्वं मधुरो वसन्त-समयः श्रीमान् वसन्तः कविः ।।२।।

नाभोगैश्चिर-राज्य-लाभ-ललितैः पीयूष-पानै र्न वा
स्वर्गे चापि कदापि कोऽपि पुरुषः प्राप्तः प्रतिष्ठां पराम् ।
ग्रन्थानां च सुलेखनैः सुचरितैः शालीनता-पालनैः
लक्ष्मीं कामपि संबिभर्ति भुवनेऽस्माकं वसन्तो यथा ।।३।।

विश्व-श्लाघित-पूजनीय तपसां राशिर्दिशां मण्डनं
सौभाग्यं भरताभिनन्दित-भुवः पुण्याङ्कुरो ज्ञानिनाम् ।
वाग्देव्या हृदयं श्रियः सुललितः शृङ्गार-चूडामणि
जैनं मान-निकेतनं विजयते कश्चिद् विपश्चिद् भवान् ।।४।।

साहित्यं परिरच्यता नव-नवं निस्संख्य-संख्यानकैः
पन्नालाल-सुसंज्ञकं जिन-गुरुं को वा खलो लङ्घयेत् ।
ताराश्चापि हसन्तु चन्द्रसहिताः खद्योत-मालाकुलाः
श्रीमद्भास्कर-गौरव-प्रहरणे कश्चित्समर्थोऽस्ति किम् ।।५।।

रम्याहार-सुपाठ-पाठभवना-लङ्कार-रत्नात्मका
प्रेयासो वटवो विनम्र-मनसः शालीनता-भामिता ।
विद्वांसो वहुबोध-वारिधि-समुत्तीर्णा प्रवीणाः सम
भाषन्ते भवदीय-शुभ्र-यशसा सुस्वागत पावनम् ।।६।।

अभिनन्दयिता

समस्त दि० जैन पञ्चान एव स्वागतकारिणी तथा प्रवन्धकारिणी समिति. विश्ववन्द्य श्री १००८ भगवान् महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव, पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा श्री १००८ दि जैन सिद्धक्षेत्र अहार जी ।
दि. १५-३-१९७४

(२)

अनेक मौलिक ग्रंथों के प्रणेता, सुविख्यात टीकाकार, राष्ट्रपति पुरस्कार विभूषित, मध्यप्रदेश शासन 'मित्र पुरस्कार' द्वारा सम्मानित, महामनीषी, विद्यावारिधि, साहित्याचार्य-काव्यतीर्थ, श्रीमान् डॉ० पन्नालाल जी जैन "वसंत" सागर (म. प्र.) के कर-कमलों में सादर समर्पित—

अभिनन्दन पत्रम्

रत्नानि तानि जठरात् प्रकटी-कृतानि
यान्यर्चितानि भुवनेषु समृद्धिमत्सु ।
रत्नाकरं तमतुल भुवि सागराख्य
ध्यायाम्यनर्घ्यमणि-सम्भव-गौरवाढ्यम् ।।

दुरधिगमरहस्योद्भेदने शास्त्रवाच प्रथित विवि लेखोद्गीत वैदुष्यसार ।
कवि-सहृदय-विद्वद्वृन्द-सम्मानित-श्री जयति जगति पन्नालाल-नामा विपश्चित् ।।

व्यरचि रुचिर-टीका-गद्य चिन्तामणेर्यै सुकवि सुलभकीर्त्याऽऽयोजि वादीभसिंह ।
अनुपम-कृति-रत्नोत्कृष्ट-मालार्पणेन प्रतिदिन-मभिराम वाङ्मयी देवताऽर्चि ।।

सुकवि-विवुध-वन्धून् धन्य-धन्यान्सुधीन्द्रान् गुणगणगणनीयान्प्राप्त-विद्या प्रसादात् ।
अभिनव - रचनाभिस्तान् समृद्धान् यशोभिर्मधुरमदिरवाग्भिर्नन्दयामोऽर्चयाम ।।

यदपि निज-सपर्यां प्रत्युदासीन-चित्त स्तदपि विहित् मस्मत्पूजन स्वीकृथास्त्वम् ।
निखिल भुवनगर्भ पूरयन्नात्मभासा रविरुपहृतदीर्घ सर्वदाङ्गीकरोति ।।

विद्वन्नुदात्त-हृदयं प्रति तेऽनुरक्ता
भक्त्या वयं वचन-पुष्पमुपाहराम. ।
आशास्महे तव चिरायु-रनामयं च
येनान्वहं गुण-गणो द्विगुणत्वमेतु ॥
वाग्देवता तव मुखं सदनं विधाय
नृत्यत्पदेन सुधियो मुदितान् करोतु ।
वेद्यानादं विगलितं सहसैव कृत्वा
सामाजिकान् प्रति रसं विशदीकरोतु ॥

कुमार मेडिकल स्टोर्स,
टीकमगढ़ (म. प्र.)
दि. ५-३-७४

अभिनन्दयिता
बारेलालो जैन· राजवैद्यः
आनरेरी मन्त्री

श्रीमज्जिनेन्द्र पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव श्री १००८ दि० जैन सिद्धक्षेत्र अहार जी.

(३)

भा. दि. जैन विद्वत्परिषन्मन्त्रिणां श्रीमतां-पन्नालाल शास्त्रिणां साहित्याचार्याणां करकञ्जयोः समर्प्यमाणं—

प्रशस्ति—पत्रम्

मान्या !

नव्याचार-विचारचुम्बितहृदो भोग-प्रसक्तान् निजान्,
सप्राणांस्तरुणान् स्वधर्म-विषये कर्तुं सदा सुस्थिरान् ।
येनाश्रान्त-परिश्रमेण सुधियां तोषाय दोषान्तकं,
साहित्यं हितसाधनं निरुपमं निर्व्याजमारच्यते ॥१॥

लोकत्राण-परायण सुमनसामग्रसरैरर्चिता,
नम्योपेन्द्र इव श्रिया विलसितो यः सागरे संस्थितः ।
मातुर्दुग्ध-मिवाति-मुग्धवचनोपन्यास-जन्यामृतं,
प्रेम्णा पाययति प्रकाम-मखिलान् संरक्षितु प्राणिनः ॥२॥

जाड्यप्रत्न-सपत्नसंघ-दलने, ग्रथेन निस्त्रिंशतां,
प्राप्तेन प्रचुर पुरस्कृततमेनानेकधा शासनै ।
योऽद्यत्वेऽखिललेखकावलि-नमन्मौलि-प्रणामाञ्जलि-
प्रीतो विक्रमगीत-सौरभभरेणाभ्यर्चितो राजते ॥३॥

वाग्देवीं प्रणय-प्रवीण-हृदयोऽप्यानन्दयन्निन्दिरां,
वाणिज्येन कुलक्रमार्जित-परिस्पन्देन सम्पूजिताम् ।
कीर्ति प्रीतिमुखीं भृश मुखरयन् सर्वत्र नृत्योन्मुखी-
मालिङ्गन्नहृणानना च करुणा वन्द्योविदग्धैर्भवन् ।।४।।

सत्कर्माचरणे प्रवन्धपटुताक्षेत्रे समालोचने,
पाण्डित्येऽप्रतिम पराङ्मुखमनाचारात् सदा कल्मषात् ।
विंशत्या परिवत्सरैः परिषदामात्य प्रशस्याशय,
प्रेम्णा त्वामभिनन्दनीयमतुला, सस्था मुदे धीमताम् ।।५।।

स्थानम्—शिवपुरी (म. प्र)
श्री महावीर–जिनविम्ब–पञ्चकल्याण–
प्रतिष्ठा–महोत्सवः, दि. १४–२–१९७३

अध्यक्षाः सदस्याश्च—
अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषदः
रजत-जयन्त्याधिवेशनस्य ।

卐

द्वितीय खण्ड

उनका व्यक्तित्व : कृतित्व

वे सबकी नजरों में

व्यक्तित्व :

वे सबकी नजरों में

आदरणीय प पन्नालाल जी वर्तमान युग के विद्वानो मे अन्यतम वरिष्ठ विद्वान् है। उनकी शिक्षा मुख्यत श्री सत्तर्क सुधा तरङ्गिणी जैन पाठशाला (जिसका वर्तमान रूप श्री गणेश वर्णी सस्कृत महाविद्यालय सागर है) मे हुई है। पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी के सदाशय व सत्परिश्रम से सस्थापित यह विद्यालय अनेकानेक जैन विद्वान् समाज को दे चुका है। जिनमे पंडित जी का नाम अग्रणी है। श्रीमान् प पन्नालाल जी अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अनेक वर्षो तक मन्त्री व अध्यक्ष रहे है। श्री पंडित जी अनेक विषयो के विद्वान् है। व्याकरण, साहित्य, धर्मसिद्धात, न्यायदर्शन उनके प्रमुख विषय हैं। आप जहा एक ओर उत्तम लेखक, अनुवादक व सपादक है, वही दूसरी ओर सस्कृत और हिन्दी भाषा के श्रेष्ठ कवि भी हैं। सादगी और सरलता उनका स्वभाव है। सरलता तो उनको जन्म से ही घुटी के साथ उनकी माताजी ने पिलाई थी, ऐसा मालूम होता है। स्वस्थ्य-सुडौल-गौरवर्ण दमकता हुआ चेहरा, यह उनका बाहरी परिचय है। जैन समाज द्वारा उनका अभिनदन होने जा रहा है, यह आनद की बात है। वे तो भारत सरकार से भी अभिनन्दित है। ऐसे अभिनन्दनीय विद्वान् का अभिनन्दन करते हुए मैं अपने को गौरवान्वित मानता हूँ।

(सिद्धान्ताचार्य प.) ब्र. जगन्मोहनलाल शास्त्री,
कुण्डलपुर-कटनी

पण्डित–श्रेष्ठ बन्धुवर डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य का सार्वजनिक अभिनन्दन कर उन्हे एक उपयुक्त अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है, यह ज्ञातकर अत्यत प्रसन्नता है। साहित्य-मनीषियो का अभिनन्दन स्वय साहित्य-देवता का अभिनन्दन होता है। उससे अभिनंदित महानुभाव की सेवाओ के मूल्यांकन तथा उपकार की स्वीकारिता के साथ अन्य साहित्य-सेवियो को प्रोत्साहन भी मिलता है। प पन्नालाल जी साहित्य के प्रतिष्ठित आचार्य, शास्त्र-मर्मज्ञ, सफल अध्यापक, कुशल अनुवादक एव टीकाकार, सुकवि, सुवक्ता, कर्मठ साहित्य-सेवी एव समाजचेता सज्जन है, समाज की विभूति है। वह साथ ही सात्त्विक प्रकृति के नियम-संयम-सेवी विनम्र धार्मिक भव्य है। भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित सस्कृत के प्राय: सभी आर्ष पुराण ग्रन्थो तथा गद्यचितामणि, धर्मशर्माभ्युदय प्रभृति पौराणिक काव्यो के सम्पादन एव भाषानुवाद का श्रेय उन्हे है। अन्यत्र से भी उनके द्वारा अनूदित धन्यकुमार चरित्र, सम्यक्त्व कौमुदी आदि कई कथा ग्रन्थ प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त कुदकुद-भारती, समयसार, लघुतत्त्वस्फोट, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, सामायिक पाठ आदि के सरल-सुबोध अनुवाद और श्रुत-सप्ताह नवनीत आदि कई स्वतत्र रचनाएँ हैं। उनके

शोध-प्रबंध 'महाकवि हरिचंद्र एक अनुशीलन' पर उन्हे सन् १९७३ मे सागर विश्वविद्यालय, सागर ने पी एच. डी. की उपाधि प्रदान की थी। स्व. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री की विशाल कृति "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" के प्रकाशन एव प्रसार का प्रधान श्रेय पं. पन्नालाल जी को है। वास्तव में, भा दिग जैन विद्वत्परिषद् के अपने लगभग तीनदशक से अधिक समय तक सफल मन्त्रित्वकाल मे पण्डित जी ने उक्त सगठन को प्राणवान् बनाये रक्खा। यो उपाधिधारी आचार्य तो अनेक है, किन्तु उनमे से पन्नालाल जी जैसे विरले ही है जो अपनी 'साहित्याचार्य' उपाधि को सुष्ठु रूप मे सार्थक करते हैं। अपने इन चिर सहयोगी साहित्यिक वन्धु के अभिनन्दन मे हार्दिक योग देकर मै स्वय को गौरवान्वित मानता हूँ। मेरी शुभकामना है कि वह चिरकाल पर्यन्त स्वस्थ्य, सक्रिय रहकर जिन-भारती के भडार की अभिवृद्धि करते रहे। आशा है कि आचार्य जी का यह अभिनन्दन ग्रन्थ उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व को समुचित रूप से उजागर करने मे सफल होगा।

इतिहासरत्न डॉ ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

मेरा विद्वद्वर डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य से छात्रावस्था से ही नैकट्य है। वे सागर-विद्यालय मे पढते थे और मै स्याद्वाद महाविद्यालय, बनारस मे। वे जब गवर्नमेंट सस्कृत कालेज की, जो उस समय क्वीन्स कालेज के नाम से प्रसिद्ध था और अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय हो गया, व्याकरण-मध्यमा चतुर्थ खण्ड तथा काव्यतीर्थ की परीक्षा देने के लिए बनारस आये थे और स्याद्वाद महाविद्यालय मे ५-६ माह ठहरे थे, तभी मैं भी नव्यन्याय-मध्यमा के तृतीय खण्ड की परीक्षा दे रहा था। दोनो परीक्षा देने के लिए एक साथ क्वीन्स कालेज जाते थे। इस तरह दोनो का उत्तरोत्तर घनिष्ठ सम्बन्ध होता गया। यहाँ एक बात का उल्लेख करना अनुचित न होगा। हमे मालूम हुआ था कि सागर के पापड बड़े और बहुत अच्छे होते हैं। हमने सुहृद्वर पन्नालाल जी को लिख दिया कि वे एक रुपये के पापड लेते आये। आज लोग आश्चर्य करेंगे कि वे एक रुपये के चार सेर पापड ले आये। हमे याद है कि उन्होने एक रुपया भी नही लिया था।

दोनो परीक्षाओ के समय हमने देखा कि पन्नालाल जी अत्यन्त प्रतिभा-सपन्न हैं और साथ ही बहुत परिश्रमशील हैं। व्याकरण-सिद्धान्त कौमुदी का प्रत्येक स्थल उन्हे स्पष्ट है और वह मुखाग्र है। नि संदेह वे छात्रो मे व्युत्पन्न और प्रथम रहे हैं।

बाद मे व्याकरण-विषय छोडकर उन्होंने साहित्य-विषय लिया और उसमें अपनी प्रतिभा के बल पर शास्त्री और आचार्य किया। हमने नव्यन्याय छोड़कर प्राचीन न्याय लिया और उसी मे शास्त्री एव आचार्य किया। पर पन्नालाल जी हमसे तीन वर्ष पहले ही सागर-विद्यालय मे साहित्याध्यापक नियुक्त हो गये थे और हम उनके तीन वर्ष बाद सन् १९३७ मे पपौरा के वीर-विद्यालय मे धर्म-न्याय के अध्यापक हुए थे। सामाजिक कार्य क्षेत्र मे वे भी आये और हम भी आये। पर उन्हे क्षेत्र-परिवर्तन नही करना पडा — सागर-विद्यालय मे ही पूज्य वर्णी जी की आज्ञा से अथवा उन्हें दत्त वचन से आरम्भ से अत तक रहे। विद्यालय के लिए यह उनकी महान् सेवा है, जो ५० वर्ष से कम नही होगी। किन्तु हमे क्षेत्र-परिवर्तन करना पड़ा। पपौरा से मथुरा, मथुरा से सरसावा, सरसावा से दिल्ली, दिल्ली से बड़ौत और बड़ौत से बनारस—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे हम स्वत. गये। कहते है कि 'अन्त भला सो भला'।

सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी :

इस क्षेत्र-परिवर्तन के बावजूद साहित्याचार्य जी से भेंट होती रहती थी। दि जैन विद्वत्परिषद्, वर्णी जैन ग्रंथमाला, वीर सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट आदि सस्थाओ के माध्यम से इन संस्थाओ की प्रवृत्तियो मे निरन्तर मिलते रहे और परस्पर विचारो का आदान-प्रदान भी होता रहा। विद्वत्परिषद् का जब मै १९७३ मे अध्यक्ष हुआ और वे उसके प्रधानमंत्री, तब परस्पर सौहार्द से विद्वत्परिषद् को आगे बढाया तथा उसका आर्थिक एवं साहित्यिक उन्नयन किया। हमने अनुभव किया कि पण्डित जी ने जिस दायित्व को लिया उसे ईमानदारी और निष्ठा के साथ निभाया। कठिनाईयो मे भी वे गम्भीर रहे और सतुलन नही खोया। यह उनका बहुत बडा गुण है।

उनकी समाज-सेवा को छोड भी दें, पर उनकी साहित्य-साधना एवं सरस्वती-उपासना को नही छोडा जा सकता है। उन्होने इतनी साहित्य-सेवा की है जितनी कई संस्थाएँ या विद्वान् भी मिलकर नही कर सकते। हरिवश पुराण, महापुराण, पद्मपुराण, गद्य चिन्तामणि, जीवन्धर चम्पू, धर्मशर्माभ्युदय, कुन्दकुन्द-भारती, सम्यक्त्व-चिन्तामणि, सम्यग्ज्ञान-चिन्तामणि, सम्यक् चारित्र-चिन्तामणि आदि कई दर्जन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सपादन, अनुवाद, लेखन आदि किया है। इन ग्रन्थो के साथ सम्बद्ध उनकी विस्तृत प्रस्तावनायें उनके तलस्पर्शी ज्ञान एवं बहुश्रुतत्व की बोधक है।

राष्ट्रपति द्वारा जिन्हे सम्मान मिल चुका है और समाज के द्वारा भी कई जगह और कई बार जो सम्मानित हो चुके है उनका आज समाज सब से उच्च सम्मान '**अभिनन्दन-ग्रन्थ**' भेंट करके कर रही है, यह हार्दिक प्रसन्नता की बात है। यद्यपि ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान् का यह सम्मान भी बहुत पहले हो जाना चाहिए था। फिर भी '**जब जागे तभी सवेरा**' लोकोक्ति नही भुलाई जा सकती। हम अपने सुहृद् विद्वद्वर डॉ. प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को इस अवसर पर अपनी हार्दिक मंगल-कामनाएँ प्रकट करते हुए उनके शत-शत-जीवी होने की भावना करते है।

डॉ दरबारीलाल कोठिया,
सेवा-निवृत्त रीडर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सरस्वती के महान् उपासक :

श्री डॉ. प. पन्नालाल जी 'बसन्त' साहित्याचार्य ने अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के मत्री पद पर रहकर विद्वानो को स्वकर्त्तव्य के प्रति जागरूक रखते हुए विद्वत्परिषद् को अभी तक गौरवपूर्वक जीवित रखा है। वे विद्वत्परिषद् के कर्मठ मत्री रहे है। उनकी यह कर्त्तव्यनिष्ठा की पराकाष्ठा है, कि उन्होने सदैव अपने को मत्री ही बनाये रखने का संकल्प दृढ रखा, जो उनके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए अध्यक्ष के रूप मे परिवर्तित हुआ।

पं. जी का सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र काचनमणि सयोग के समान विद्वानो के लिये आदर्श बना हुआ है। वे हमारी अनुपम निधि है, जिनका जीवन उत्कृष्ट और सात्विक है। जो सहृदय, उदार, और सरलता की प्रतिमूर्ति हैं। उन्होने संस्कृत के विपुल साहित्य की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध बनाया है और जैनागम की आराधना के साथ साधना-त्यागमय जीवन व्यतीत कर रहे है, यह सब जैन समाज एव

सरस्वती के महान् उपासक :

विद्वत्वर्ग को गौरवान्वित करने वाले कार्य हैं। प. जी समाज के मूर्धन्य विद्वानो की कोटि मे हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रथ से प्राप्त होगा, जो गुण ग्राह्यता और कृतज्ञता का द्योतक है। प जी ने महासभा परीक्षालय की बड़ी सेवा की है। सरस्वती के महान् उपासक पडित जी की सस्कृत साहित्य की सुबोध टीकायें विद्यार्थियो का सदैव मार्गदर्शन करती रहेगी। आपका पुराण साहित्य भी विपुल मात्रा मे प्रकाशित है, जिसकी हिन्दी टीकायें साधारण स्वाध्याय प्रेमियों को प्रतिदिन लाभ पहुँचाती हैं। प जी नैष्ठिक श्रावक हैं औरदेव गुरु शास्त्र के परम भक्त है। वे स्वस्थ्य, यशस्वी एव दीर्घायु रहे इसी मंगलकामना के साथ उनका अभिनन्दन करता हूँ।

संहितासूरि प नाथूलाल शास्त्री,
प्राचार्य—सर हुकुमचंद दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय, जवरीबाग, इदौर

साहित्याचार्य जी का विद्याव्यसंग :

वर्तमान विद्वानो मे प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य का नाम विशेप उल्लेखनीय है। वे सुयोग्य अध्यापक कुशल वक्ता और लेखक भी हैं। विद्याव्यसन उनको प्रारम्भ से ही रहा है। विद्वत्ता के साथ जीवन उनका संयमपूर्ण है, यह भी उनकी विशेषता है।

शिक्षा को पूर्ण कर उन्होने सुदीर्घकाल तक श्री गणेश वर्णी सस्कृत महाविद्यालय, सागर मे सहायक प्राध्यापक और प्राचार्य के रूप मे उल्लेखनीय सेवा की है। अध्यापन के उत्तरदायित्व को सम्हालते हुए जो उनके पास शेष समय रहता, उसमे उन्होने अनेक ग्रथो का हिन्दी अनुवाद और कुछ की संस्कृत मे टीकायें भी की हैं। उनकी अनेक मौलिक रचनायें भी है। जिनमे 'सम्यक्त्व–चिन्तामणि' प्रमुख है। इसमे उनकी काव्य सृजनात्मक प्रतिभा तो प्रतिबिम्बित है ही, साथ मे जैनागम विपयक प्रखर पाण्डित्य भी प्रगट है। इसमे अधिकाश आगमोक्त तत्वो का समावेश हुआ है। विद्वानो मे साहित्याचार्य तो वहुत हैं, किन्तु उन जैसी प्रतिभा से सपन्न व सतत् अध्यवसायी अन्य कोई शायद ही मिलेगा।

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के तत्त्वावधान मे दो बार सागर मे व दो बार जबलपुर मे जो षट्खण्डागम की वाचना हुई है, उसमे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

विद्वत्परिषद् के लवे समय तक मंत्री रह कर जो उसकी सेवा उन्होने की, वह सराहनीय है।

पडित जी की विद्वत्ता, साहित्य-साधना और समाज-सेवा के अनुरूप सम्मान स्वरूप, अभिनन्दन ग्रन्थ के समर्पण करने की योजना स्तुत्य है। पडित जी दीर्घजीवी होकर स्वस्थ्य रहते हुए इसी प्रकार से धर्माराधनपूर्वक सार्वजनीन सत्कार्यो मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करते रहे, यही मेरी हार्दिक कामना है।

पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, हैदराबाद

विद्वद्वर्य पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य के जीवन को मै इस बात का उदाहरण मानता हूँ कि स्वाध्याय और चिन्तन से उपलब्ध ज्ञान की परिपक्वता और प्रभाव की कोई सीमा नही। वह निरन्तर विकासशील है। पचास वर्ष पहले पडितजी के जिन विद्यार्थियो ने साहित्य और दर्शन के मर्म को जिस श्रद्धा के साथ ग्रहण किया था, आज इतने लम्बे अन्तराल के बाद, स्वयं आयु तथा ज्ञानवृद्ध होने पर भी वे उनके विचारो और व्याख्याओं को उतनी ही तन्मयता से सुनते हैं और नया प्रकाश पाते हैं। जैन वाङ्मय के प्रति देश-विदेश के विद्वान धर्म, दर्शन, न्याय और अन्य गम्भीर विषयो की महत्ता को तो आदर देते रहे किन्तु सस्कृत साहित्य के निर्माण और उन्नयन मे जैन आचार्यो तथा कवियो ने कितने ऊँचे मानदण्ड स्थापित किये इससे प्राय· वे अपरिचित ही थे। पंडित जी का सबसे बड़ा अवदान जैन विद्या एव साहित्य की प्रभावना मे यह है कि उन्होंने जैन आचार्यों द्वारा रचित अनेक संस्कृत पुराणो,चरित काव्यो तथा अन्य साहित्यिक विधाओ से सम्बन्धित कृतियो के अनुपम वैभव को उजागर किया।

भारतीय ज्ञानपीठ से सम्बन्धित उनके अनेक शिष्यो ने मुझे बताया है कि पडितजी की कक्षाओ मे वे लोग बड़ी उत्सुकता और लगन से सम्मिलित होते थे। एक तो साहित्य का विषय ही रुचिकर होता है, किन्तु जब पंडित पन्नालालजी जैसे साहित्य मनीषी और मर्मज्ञ व्याख्या करते है तो एक-एक शब्द और एक-एक पद नया नया अर्थ ग्रहण करके मानो चमत्कार उत्पन्न करता चलता है। जैन पुराण काव्यो का साहित्यिक, सास्कृतिक,सार्दभिक अध्ययन जिस विपुलता और गहराई से उन्होंने किया है, अन्य विद्वानो ने शायद उतने तलस्पर्शी ढंग से न किया हो।

यह पंडितजी की विचक्षणता का प्रमाण है कि पारपरीण परिपाटी के विद्वान होते हुए भी ज्ञान और शोध की नयी परिपाटी को अपनाकर उन्होने डाक्टरेट (पी. एच. डी.) प्राप्त की। उनका महाप्रबन्ध "महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन" सागर विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. की उपाधि से सम्मानित हुआ। उनका यह कृतित्व अपने आप मे शोध-कार्य का नमूना है।

जैन सिद्धान्तो के प्रतिपादन और गूढ प्रश्नो के समाधान मे उनकी अपनी एक आकर्षक शैली है। मैंने हाल ही मे देखा है कि आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने "मूलाचार" का जो हिन्दी टीकानुवाद किया हैं उसे पडितजी द्वारा परिमार्जन का लाभ प्राप्त हुआ।

पडितजी आशु कवि भी है। अनेक अवसरो पर सस्कृत मे उनके द्वारा निवद्ध काव्य-रचनाओ ने धारावाहिक रूप से श्रोताओ को रस-निमग्न किया है।

आज पंडितजी जैन समाज की मनीषा के प्रतिनिधि है। उन्होने अनेक शिक्षण संस्थाओ की स्थापना और उनके संवर्द्धन मे सक्रिय योगदान किया है। जैन संस्कृत महाविद्यालय, वर्णी भवन सागर की प्रगति मे तो उन्होने अपना सारा जीवन ही समर्पित कर दिया।

पडित जी की संयम साधना, उनके आचार-विचार और जीवन पद्धति सब कुछ इतने निर्दोष है कि गृहस्थ वेश मे रहते हुए भी उनमे हमे साधुत्व के स्वरूप की झलक अनायास ही मिल जाती है।

वे चिरजीवी हो और धर्म-वृद्धि तथा समाज-सेवा के लिये हमें उनका आशीष मिलता रहे, यही मेरी हार्दिक कामना है।

पद्मश्री साहू श्रेयान्सप्रसाद जैन,
अध्यक्ष दिगम्बर जैन महासमिति एव
भारतवर्षीय दि जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि आदरणीय साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी जैन का अभिनन्दन समारोह आयोजित किया जा रहा है एव अभिनन्दन-ग्रथ का प्रकाशन किया जा रहा है।

आदरणीय डॉ. जैन भारतीय मनीषा के मूर्तरूप एव जैन परम्परा के मूर्धन्य विद्वान् है। अध्यापन, अनुशासन-प्रशासन, चिन्तन-सृजन-लेखन, भाषण-प्रवचन के माध्यम से उन्होने समाज मे ज्ञान का जो अखण्ड दीप जलाया है, वह अद्वितीय है।

आदरणीय डॉ. जैन ने १०-१२ मौलिक ग्रथो का प्रणयन एव लगभग ५०-६० ग्रन्थो का सपादन/अनुवाद/टीकाएं की है एव अनेको शोधपूर्ण आलेख लिखे हैं। उनका व्यक्तित्व एव कृतित्व समाज के लिये एक आदर्श है एवं समाज को इसका गर्व है।

आदरणीय डॉ. जैन दीर्घायु हो एव जिनेन्द्र देव के शासन का प्रसाद उनको देश, समाज, धर्म एव साहित्य सेवा करने के लिये सदा शक्ति प्रदान करे, ऐसी विनय है।

अभिनन्दन समारोह डॉ जैन के व्यक्तित्व के अनुरूप अद्वितीय एव अविस्मरणीय होगा, ऐसा विश्वास है। समारोह की सफलता की कामना करता हूँ।

अभिनन्दन ग्रथ आदरणीय डॉ. जैन के व्यक्तित्व एव कृतित्व के सम्बन्ध मे एक अद्वितीय सग्रह होगा जिससे राष्ट्र एव समाज को प्रेरणा मिलेगी एवं ज्ञानवर्धक होगा, ऐसा विश्वास है।

(श्रीमन्त सेठ) डालचन्द्र जैन
ससद सदस्य, एव
अध्यक्ष, अ० भा० दि० जैन परिषद्, दिल्ली

आर्यसंगति योग :

भारतीय सास्कृतिक जागरण के अग्रदूत पूज्यवर श्री १०५ गुरु गणेश वर्णी महाराज ने यद्यपि पूरे भारत को प्राकृत-सस्कृत की पाठशालाओ की दीपमालिका से सँजो दिया था, तथापि इनमे सागर की सत्तर्क सुधातरगिणी पाठशाला गुरुवर को अपने गुरुकुल स्याद्वाद महाविद्यालय के समान अधिक प्रिय थी। और एक लबी अवधि तक सागर के उच्च कक्षाओ के छात्र अपनी शिक्षा की पूर्णता के लिये, पहिले वाराणसी अवश्य आते थे, इसी प्रक्रम मे श्रीमान् भाई प पन्नालाल जी साहब भी 'साहित्याचार्य' की परीक्षाओ के लिये काशी आया करते थे, क्योकि उस युग के सर्वोपरि सफल साहित्य प्राध्यापक स्व प. मुकुद शास्त्री खिस्ते स्याद्वाद महाविद्यालय को अपना प्रमुख कार्यक्षेत्र बनाये थे, और वे बहुधा हम छात्रो से भाई पन्नालाल जी की व्युत्पन्नता और लगन की चर्चा करते थे। वह युग था, गुरुभक्ति का, फलत भाई सा को हमने अपने लिए अनुकरणीय-अग्रज रूप मे माना।

नहि कृतमुपकार साधवः विस्मरन्ति :

प. पन्नालाल जी ने अध्ययन पूर्ण होते ही घर की स्थिति के कारण दूसरी जगह नियुक्ति के लिये प्रयास किया । और सहज ही योग्य स्थान पा गये । प्रस्थान की सज्जा भी पूर्ण हो चुकी थी । किन्तु सहज मे सुलभ योग्य स्थान ने इनकी प्रथम परीक्षा या उत्तमर्णता को कसौटी पर रख दिया था । क्योंकि इनका गुरुकुल (सागर विद्यालय) कम पुरस्कार (वेतन) पर ही इनकी सेवाए चाहता था । इनके मन ने कहा 'केवल पैसे के लिये गुरुवर और गुरुकुल की उपेक्षा अक्षम्य अपराध होगा । क्योकि गुरुदेव न मिलते तो मैं भारवह ही होता । मैं 'आनगाव का सिद्ध' वनने क्यो जाऊँ ? जब कि मैं 'घर का जोगी' होकर भी 'जोगना' न रहकर, जोगी ही माना जा रहा हूँ ।" यह विचार आते ही अपने गुरुकुल की आजीवन सेवा का यम किया । और सर्वांग सफलता के साथ सानद निभाया है । इस एक निष्ठा के कारण सागर की शिक्षण-सस्थाए ही नही, अपितु समस्त बौद्धिक और सास्कृतिक प्रवृत्ति-माला के साहित्याचार्य जी पुष्ट मगल सूत्र वन सके हैं ।

गुरुभक्ति :

पूज्यवर श्री १०५ गुरुवर गणेश वर्णी सागर के श्रीमानो मे यदि कमरया जी (र ला) और सिंघई जी (कु. ला) को वहुत मानते थे । विद्वानो मे (स्व.) पं. दयाचन्द्र जी शास्त्री और पन्नालाल जी भी उनके अतिशय स्नेह भाजन थे । जव हिन्दी के विशेपज्ञो ने स्व. प्रेमी जी (नाथूराम) को अभिनन्दन ग्रन्थ देकर सम्मानित किया तो इन दोनो विद्वानो को भी अपने गुरु की बौद्धिक-कृतज्ञता प्रकट करने का भाव आया । और स्वयभू उद्योगपति श्री वालचंद मलैया ने अपने पूर्ण सहयोग का वचन देकर गुरुभक्ति को साकार करा दिया । किन्तु इसके सँयोजक साहित्याचार्य जी के वहुमुखी प्रयत्न के वावजूद वर्णी-अभिनन्दन-योजना को भारतीय रूप पाने मे विलम्व हो रहा था । और वहते पानी समान वर्णी जोगी भी 'पारस शरण सहायी' की निर्वाण भूमि की पग यात्रा पर चल पड़े थे । मैं भी गुरुवर के वाराणसी आने की प्रतीक्षा मे था क्योकि तीन वर्षो से अंग्रेजी कारागारवास के कारण उन चरणो की पदधूलि का भूखा था, जिन्होंने स्नेहमयी माता के देहावसान पर समवेदनार्थ अपने ग्राम मड़ावरा जाकर मुझे कानूनी-दलाली की ओर जाने से रोक कर उच्च प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षित वनने की वह भूमिकारची थी, जिसकी पूर्णा पर आर्य समाज को शास्त्रार्थो मे परास्त करके दिगम्वर धर्म की विजय पताका फहराने वाले शार्दूल पडित (स्व.) प. राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ ने एक अधकचरे युवक को पूरे जैन समाज द्वारा जैन समाज के "प्रथम परिपूर्ण विद्वान्" की प्रतिष्ठा दिलायी थी । किन्तु गुरुवर के वाराणसी पहुचने के पहिले भाई साहित्याचार्य जी काशी पहुचे । और स्याद्वाद-परिवार के परामर्श को मानकर अभिनन्दन ग्रन्थ की संयोजकता के प्रेय पद को स्वयं छोडकर मेरी अनुपस्थिति मे मुझे मय सग्रहीत-सामग्री के देकर चले आये । एक ओर यह मेरे लिए रातो-गुरुभक्ति का अनुपम अवसर था तो दूसरी ओर साहित्याचार्य जी के उस अंतरंग के आचरित रूप की विशद झलक थी, जिसमे मानव की अंतिम दुर्वलता (यशोलिप्सा) की परछायी भी न पड़ी थी । अथ प्रसग से सागर यात्राएँ वढी और साहित्याचार्य जी के परिवार की अभिन्न सदस्यता भी मिली । जिसके लिये मैं श्रीमती भाभी जी (सौ. सुन्दरबाई) का उतना ही ऋणी हूँ, जितना साहित्याचार्य जी को अपने अध्ययन,

लेखन तथा साधना के लिये होना चाहिये । वे परम स्नेहमयी लोकोत्तर गृहिणी हैं । जिन्हे अपनी सतान से ज्यादा अपने जेठ-देवरो के बच्चे प्यारे हैं । और इनको वे अपनी-आँखो से ओझल होने पर वैसी ही खिन्न हो जाती है जैसे वार्द्धक्य मे प्राप्त इकलौती सतान की माता होती है ।

नियमित कर्मठता की प्रतिमूर्ति :

घर के घर रहने पर साधारणतया व्यक्ति सुखशील हो जाता है, किन्तु साहित्याचार्य जी इसके विलोम है । छात्रावस्था के समान ब्राह्म मुहूर्त मे जागना, जाप-पाठ करके पढना या लिखना, निवास की सफाई करके प्रात कृत्यो से निवृत्त होकर मदिर में जाकर पूजन करना और स्वाध्याय करना, सामाजिक-धार्मिक प्रवृत्तियो मे मार्गदर्शन करना, भोजनोपरान्त विद्यालय जाना, अध्यापन के सिवा विद्यालय छात्रावास की व्यवस्था मे हाथ बटाना, सायकाल भोजन से निवृत्त होकर बच्चो के व्यवसाय मे परामर्श देने के बाद, सध्या वदना तथा शास्त्र प्रवचन करना अथवा महिला आश्रम मे पाठन अथवा विशेष जिज्ञासुओ के स्वाध्याय मे योगदान और सोने से पहले भारतवर्षीय संस्थाओ की प्रवृत्तियो मे योगदान । इतनी व्यस्त दिनचर्या रहने के कारण भी कोई थकान, उत्तेजना या उलझन के स्थान पर मुख पर सदैव सतोष और प्रफुल्लता ही रहती है । प्रत्येक कार्य जिस तेजी से करते हैं वह क्षिप्रकारिता सागर के इस मोती को अनुपम बनाती है ।

गुरुभक्ति के लिए ग्रहीत अभिनन्दन ग्रथ की तैयारी ने इन बहुश्रुत, सफल अध्यापक को लेखन की ऐसी आदत डाली कि फिर आज तक लेखनी अबाध गति से चल रही है । इनके द्वारा अनुदित सम्पादित तथा रचित ग्रंथो-पुस्तको को बाचने की बात तो क्या, उन्हे उठाकर यदि लम्बी दूर ले जाना पड़े तो ग्रहीता, वाहन या वाहक खोजे बगैर नही चल सकता ।

अनुपम जिज्ञासु :

वर्तमान पडित वर्ग मे साहित्याचार्य जी के चुपचाप सभा-संस्था-सचालन की धाक है । सहयोगी अधिकारी, कार्यकर्त्ता ही नही कर्मचारी भी ये मानते है कि मा० पडित जी उनकी कमी को पूरा कर देंगे । किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि वे 'पण्डा' के विकास की कीमत पर इस व्यस्तता का निर्वाह करते हैं। पठित-पाठित ग्रंथो का अनुप्रेक्षण एव आम्नाय चलती है, क्योकि स्मृति भी प्रखर है । तथा सहयोग की उत्कट अभिलाषा भी । पूज्यवर श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य मे सम्पन्न होने वाली बहुचर्चित सिद्धान्त-ग्रथो की वचनिकाओ के 'ओकार' का श्रेय भी साहित्याचार्य जी को है । क्योकि इनका स्वाध्याय करने पर इनके सरल एव विनम्र मन ने कहा कि मुनि संघ के साथ विद्वत्मण्डली को बैठाकर ही इनका हार्द समझाया जा सकता है । और भा दि जैन सघ द्वारा मथुरा मे आरम्भ विद्वत्परिषद् के प्रथम शिविर के समान सिद्धान्त ग्रथ-वचनिका का आरम्भ साहित्याचार्य जी के शात, सफल तथा जागरूक सयोजकत्व मे सागर मे ही हुआ था । और वह भविष्य के लिए एक आदर्श बन गया । तथा युग के एक मात्र आदर्श दिगम्बर आचार्य पूज्यवर श्री १०८ विद्यासागर जी का सान्निध्य पडने से श्रमण संस्कृति के परम उद्धारक-प्रात स्मरणीय सतत् वदनीय आचार्यवर वीरसेन के चरणो मे पहुँचने की सरल सारिणी बन गया है । इन

वंचनिकाओं मे बैठते ही मानस पटल पर उनकी (पू० वीरसेनाचार्य) दैदीप्यमान मूर्ति अंकित होती हैं। मुख से निकलता है—

'जो सुयणाण सरीरो जिणवयणाणु गामिणं मग्गो
धवलादि वित्तिकत्ता गुरु वीरसेणो चिर जयदु ॥'

माननीय भाई प. साहित्याचार्य जी के धर्म, समाज एव जिनवाणी सेवा के महाप्रासाद की ये आगम-वचनिका की योजना अनुपम कलश है। भय है कि मेरे इतने लिखने पर वे सकोच मे पड जाये और कह उठें, "तुम्हे घर के आदमी होकर यह नही करना था।" अतः सातिशय प्रणाम के साथ।

प्रो० खुशालचंद्रगो रावाला,
वाराणसी

डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य की गणना जैन समाज के प्रथम पक्ति के विद्वानो में की जाती है। उनकी साहित्यिक, सामाजिक एव शैक्षणिक सेवाओ की सूची बहुत लम्बी है जिस पर एक स्वतत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। सारा जैन समाज उनकी किसी न किसी सेवा से उपकृत है। वैसे इनका सारा जीवन ही खुली पुस्तक के समान है जिसमे समाज की विगत आधी शताब्दी का इतिहास पढा जा सकता है।

आपके व्यक्तित्व को विभिन्न मापदण्डो से देखा एव परखा जा सकता है। वे वर्षो तक श्री दि जैन गणेश वर्णी सं महाविद्यालय सागर के प्राध्यापक एवं प्राचार्य रहे। इस अवधि मे सैकडो हजारो विद्यार्थियो के जीवन निर्माण करने का उन्हे श्रेय प्राप्त है। आपकी शैक्षणिक सेवाओ से मध्यप्रदेश का जैन समाज एव विशेपत' बुन्देलखण्ड का जैन समाज अत्यधिक उपकृत है। समाज मे जो युवा विद्वान् दिखायी देते है इनमे से कितने ही विद्वानो को आपका शिष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त है।

पण्डित जी सस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् है। वे साहित्याचार्य हैं। पुराण ग्रंथों का उन्होने गहरा अध्ययन किया है। महापुराण, पद्मपुराण एव हरिवंश पुराण जैसे उच्चकोटि के पुराण ग्रथो का आधुनिक हिन्दी मे अनुवाद करके उनको जनसाधारण तक पहुँचाने मे आपका विशेप योगदान है। सस्कृत मे आपने स्वतत्र ग्रथो की भी रचना की है। इन सबमे "सम्यक्त्व चिन्तामणि" आपकी बहुचर्चित कृति है जिसमे उन्होने सम्यग्दर्शन पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सस्कृत भापा की यह एक मौलिक कृति है जिसमे आपकी विद्वत्ता की छाप देखी जा सकती है।

आपका तीसरा व्यक्तित्व भा दि जैन विद्वत्परिपद् की उल्लेखनीय सेवाओं मे देखा जा सकता है। आप इस सस्था के लगभग २५ वर्षो तक प्रधान मत्री रहे, अध्यक्ष पद को सुशोभित किया, फिर संरक्षक के रूप मे उससे जुडे हुए है। आपने विद्वत्परिषद् के माध्यम से समाज को मार्गदर्शन किया तथा कितनी ही

धार्मिक एवं सैद्धान्तिक समस्याओ पर अपने विचारों से अवगत कराया। विद्वत्परिषद् के सभी सदस्य आज भी आपके मार्गदर्शन मे चलना चाहते है क्योंकि आप निष्पक्ष रूप से विद्वानो की समस्याएँ सुलझाते हैं और सभी को अपने विश्वास मे रखते है।

प्रथम भेट :

मेरा उनसे विगत ३०-३५ वर्षो से लगातार पत्र व्यवहार होता रहा है। उनका स्नेह एव आशीर्वाद भी मिलता रहा है। पडित जी सा० को जव कभी सम्पादन के लिये प्राचीन पाण्डुलिपियो की आवश्यकता पडी तो उनका सहज भाव से पत्र मिलते ही मुझे भी उनको पाण्डुलिपियाँ भेजने मे प्रसन्नता होती है। वे उन लोगो के समान नही है जो सम्पादन के लिये प्राप्त पाण्डुलिपियो को वापिस लौटाना नहीं चाहते किन्तु वे तो कार्य समाप्त होते ही उसे वापिस भिजवा देते हैं। बहुत वर्षों तक उनसे पत्र व्यवहार होता रहा। लेकिन सन् १९७० मे जव हमने जयपुर मे भारतीय साहित्य ससद सेमीनार के समय विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणी के अधिवेशन को आमन्त्रित किया तो उसमे प पन्नालाल जी संस्था के मत्री के रूप मे पधारे। जयपुर स्टेशन पर उनसे सर्वप्रथम भेट हुई जिसकी स्मृति मुझे आज भी बनी हुई है। पडित जी के साथ मे सागर के और भी विद्वान् थे। उसके पश्चात् तो उनसे अनेक वार मिलना हुआ है। साथ-साथ बैठकर मीटिंगो मे चर्चा करने का अवसर मिला है। सागर मे ही तीन-चार वार उनके आतिथ्य को स्वीकारा है इसलिये कितनी ही बार उनको एकदम पास से देखने का अवसर मिला है और मैंने देखा है कि जैसे वे शान्त, सरल एव विनम्र स्वभाव के ऊपर से दिखायी देते है उससे भी अधिक अन्दर से भी है। किसी भी विद्वान् से मिलकर वे बडे प्रसन्न होते है और जहा तक हो सके उसको सहयोग देने का प्रयत्न करते है।

पडित जी का आज समाज मे अत्यधिक सम्मान है। उनका वक्तव्य निष्ठा से सुना जाता है। ऐसे विद्वान् का समाज द्वारा अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जाना निस्सदेह एक प्रशंसनीय कदम है। मैं उनके दीर्घ एव यशस्वी जीवन की कामना करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि वे सैकडो वर्षो तक इसी प्रकार समाज एवं विद्वानोका मार्गदर्शन करते रहे।

—डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

समाज के मार्गदर्शक :

विनम्र विनयाञ्जलि :

एक था पारस-मणि और बहुतेरे थे लौह-पाषाण। सामान्य पारस की तरह उसके स्पर्श से लौह का स्वर्ण ही बनता रहता तो वह पारस-न उल्लेखनीय होता न स्मरणीय। पर वह तो अनोखा ही पारस-मणि था। उसने अपने चमत्कारी स्पर्श से अनगिनते धूल-धूसरित लौह-खण्डो को स्वर्ण तो वनाया ही, पर जो अधिक सपर्क मे आ गये, जिन्होने निश्छल अतरग से उस महामणि का सस्पर्श कर लिया, वे उसके प्रभाव से स्वय पारस ही बन गये। अज्ञान तिमिराधो की भीड मे ज्ञानाजन शलाका का वह अकेला वितरक, अपने अनेको आस्थावान शिष्यो मे व्यापक होकर अमर हो गया। इसीलिये वह पारस जन-जन का प्रणम्य बना। आज वह युग-सस्थापक गणेश वर्णी मात्र स्मरणीय नही, वरन् प्रात' स्मरणीय बनकर, हमारी श्रद्धा के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है। इतिहास के गगन मे देदीप्यमान उस अक्षर पुरुष को शतश प्रणाम।

वर्णी जी के चरणस्पर्श से परिष्कृत व्यक्तित्व वैसे तो अभी समाज मे अनेक है, परन्तु उस गुरु की वह कुशलता प्राप्त करके जिन्होंने दूसरो का परिष्कार करने मे अपने आप को नियोजित कर दिया हो, पारस-मणि का गुण-धर्म धारण करने वाले, पूज्य वर्णी जी के ऐसे कुछ साक्षात् शिष्य भी, हमारे पुण्योदय से अभी हमारे बीच हैं। पवित्र अभिप्राय वाले उस महात्मा के निर्मल-वृत्ति वाले वे शिष्य, अपने गुरु के अनमासे ज्ञान-प्रसार के कार्य मे सतत् संलग्न है। ऐसे सरस्वती पुत्रो की माला के तीन शिखर-मणियो मे से एक का नाम है "पन्नालाल साहित्याचार्य"।

आचरण की प्रामाणिकता साहित्याचार्य जी के व्यक्तित्व की सबसे अधिक आबदार पहलू है। सारे लौकिक अनुशासनो से ऊपर "आत्म-अनुशासन" के प्रति ही वे सदैव सर्वाधिक समर्पित रहे है। सही अर्थो मे प्रशम, सवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा, यही उनकी धरती के चारों खूट है। श्रावक की परिभाषा पढना और याद कर लेना बहुत आसान है। उस पर प्रभावक शैली के आलेख या ग्रन्थ लिख देना भी सरल है, पर श्रावक का जीवन जी कर दिखाना आसान नही है। आज के भौतिक स्पर्धा भरे वातावरण मे तो वह और भी कठिन हैं। परन्तु पंडित जी ने गृहस्थ जीवन मे श्रावकोचित साधना को निरालस अगीकार करके अपने गुरु के उस आदर्श को रूपायित कर दिया है जिसमे कहा गया था कि—"आचरण आस्था का अनुगामी हो। और उपदेश प्रयोगसिद्ध हो तभी उसकी महत्ता है, अन्यथा वह कोरा नाटक है।" वर्णीजी के इस आदर्श वाक्य के एक एक शब्द का सही अनुवाद साहित्याचार्य जी के आचरण मे से झाकता दिखाई देता है। उनकी सरलता और सादगी, उनकी सहृदयता और उनका सौजन्य, उनकी निष्ठा और निस्पृहता, सब अपने आप मे अद्वितीय और अनोखी सी लगती हैं।

धरती पर किसी भी गुरु के लिये यह बडे गौरव की बात मानी जायगी कि जिन हाथो मे उसने कभी प्रवेशिका की पुस्तक पकडाई, एक दिन उन्ही हाथो ने पिच्छी और कमण्डलु लेकर अपनी शिक्षा को चरितार्थ कर दिखाया। अपनी नश्वर पर्याय को साधना का स्वर्ण-मंदिर बनाकर उस पर सयम का मणिमयी कलश जिन्होंने चढा लिया ऐसे अनेक साहसी और पुण्यवान व्यक्तित्व आज हमारे सामने है जिनकी नीव मे साहित्याचार्य जी का परिश्रम झलक रहा है। प्रारम्भ शायद विशुद्धमती माताजी से हुआ। फिर राजमती माताजी का नाम है और उसके बाद अनेक साधक हैं जो आज मोक्षमार्ग के पथ पर बढते हुये उस गुरु को गौरव दिला रहे है।

श्रेयोमार्ग मे सराहनीय सहयोग का यह श्रेय साहित्याचार्य जी को ऐसे ही नही मिल गया। इसकी जड मे बड़ी गहरी आस्था, लगन और परिश्रम है। वर्षो, नही युगो तक, उनका जीवन घड़ी के काटो की तरह अविश्रान्त चलता रहा है तब वे अपनी चतुर्दिक साधना में सफल हुए है। विशुद्धमती माताजी को पहले उनकी गृहस्थावस्था मे जब वे धर्मग्रथो का अध्ययन कराते थे तब प्रात चार बजे उनकी वह कक्षा महिलाश्रम मे प्रारम्भ होती थी। बाई बताया करती थी, कि तीव्र जाडा या भयंकर बरसात भी कभी पण्डितजी के उस कार्यक्रम मे बाधक नही बनी। यहा तक कि थोड़ा-बहुत अस्वस्थ्य होने पर भी वे ठीक समय पर पढाने पहुच जाते थे। इसी प्रकार कटरा के मदिर मे उनकी शास्त्र-सभा से लोग घडी मिला सकते थे। घर मे भी उनका यही अनुशासन चलता था। मैने देखा है कि मन्दिर से लौटकर भोजन के बीच यदि दस मिनट का भी अवकाश मिलता तो वे अपनी चौकी पर बैठ कर कुछ लेखन या अनुवाद उतने मे कर

लेते थे। समय का ऐसा सदुपयोग और अपने काम के प्रति ऐसा समर्पण बहुत कम लोगों मे देखने को मिलता है।

पण्डितजी के परिणामो की समता और कषाय की मदता भी साधकों तक को लज्जित करती है। परिस्थितिया सम हो या विषम, उनके मुख पर प्राय: मध्यस्थ भाव ही खेलता दिखाई दिया। मैंने उन्हे तब भी देखा जब स्वय वर्णीजी ने उनकी सराहना की, और तब भी जब एक तगदिल इन्सान ने "वेतन-भोगी कर्मचारी" कहकर उन्हे अपमानित किया। इन दोनो अवसरो पर मैंने देखा कि उनका आत्मनियत्रण जरा भी ढील नही ले पाया। वे वैसे ही शान्त और निरुद्विग्न बनकर इस निन्दा-प्रशसा का रसास्वादन करते रहे। एक साधक के नाते उनकी मानसिक तैयारी की यही कसौटी है। इसमे दो मत नही हो सकते कि इस कसौटी पर वे सदा खरे उतरे है और सदा खरे उतरेगे। ऐसे विद्वान् के प्रति विनयाजलि प्रस्तुत करने का अवसर सचमुच सौभाग्य ही है।

नीरज जैन, सतना

स्वच्छ, श्वेत, मोटी खादी की धोती, कुर्ता एव टोपी, लम्बा शरीर, कान्तिमय चेहरा, प्रोल्लसित मुख और वैदुष्यपूर्ण वाणी, यह है डॉ० प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य का व्यक्तित्व। प्रत्यक्ष शिष्य होने के कारण मुझे प० जी को अतिनिकट से देखने-समझने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत वे साधु प्रकृति के मनीषी हैं। मैं उन्हे बीसवी सदी का संस्कृत भाषा का अप्रतिम कवि, आलोचक, अनुवादक, साहित्यकार एव शास्त्रकार मानता हूँ। अभिमान और छल उनसे बहुत दूर है किन्तु सरस्वती ने तो मानो उन्हें वरण ही कर लिया है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी—पण्डित जी ने अपने जीवन का प्रतिक्षण ज्ञानार्जन, ज्ञानदान और साहित्य के प्रणयन मे व्यतीत किया है। प्रतिदिन नियमित रूप से सरस्वती की सेवा उनके जीवन का व्रत है। यही कारण है कि वे अपने जीवन मे अपार साहित्य का प्रणयन कर सके जिससे उन्हें राष्ट्रीय सम्मान के साथ अनेक पुरस्कार भी प्राप्त हुये।

जैन पुराणो एव काव्यो के तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक गवेषणापूर्ण प्रस्तावनाओ के साथ सुन्दर हिन्दी अनुवाद उनकी साहित्यिक सेवा के अनुपम उदाहरण है। मौलिक साहित्य सृजन मे "महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन" नामक उनकी कृति उल्लेखनीय है जिस पर उन्हे सागर विश्वविद्यालय से पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई है।

जैन शास्त्रकार—प० जी ने "सम्यक्त्व चिन्तामणि" नामक एक संस्कृत भाषा के पद्यबद्ध जैन ग्रन्थ को लिखकर बहुत काल से अवरुद्ध जैन शास्त्र-प्रणयन की एक प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार किया है। विभिन्न छन्दो के १८१६ पद्यो मे रचित इस ग्रन्थ मे जैन धर्म के समस्त सिद्धान्तो का अति सरल एव सक्षिप्त रूप मे निवेश है। प्रत्येक पद्य के साथ उसका सरल हिन्दी मे अनुवाद भी दिया गया है।

१९८५ मे, 'जैन विद्या संस्थान महावीर जी' ने 'सम्यक्त्व चिन्तामणि' को जैन साहित्य के लिए अद्भुत योगदान स्वीकार कर प० जी को पाँच हजार रुपया के 'महावीर पुरस्कार' से सम्मानित किया है।

महाकवि कालिदास ने कहा है कि जो व्यक्ति स्वयं व्युत्पन्न होकर अपने शिष्यो के हृदय मे पाठ्यवस्तु को प्रतिष्ठापित करने मे कुशल हो वही श्रेष्ठ शिक्षक है—

"श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रातिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव"।।

मालविकाग्निमित्रम् १–१६

अपने स्वय के अनुभव के आधार पर गुरुवर्य डॉ० पन्नालाल जी को मै उपर्युक्त श्रेष्ठ एव आदर्श शिक्षक मानता हूँ। भारत वर्ष के महामहिम राष्ट्रपति जी ने १९६९ मे, उन्हे श्रेष्ठ विद्वान् एवं आदर्श शिक्षक के रूप मे सम्मानित एव पुरस्कृत किया है।

विद्वत्परिषद के प्राण—प० जी ने 'अखिल भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद' के मन्त्रिपद को लगभग तीस वर्ष तक एव अध्यक्ष पद को लगभग चार वर्ष तक लगन, परिश्रम और योग्यता के साथ वहन कर परिषद् को प्रतिष्ठित पद पर प्रस्थापित किया है। मैने अपने, परिषद् के चार वर्ष के मन्त्रि-काल मे प० जी की कार्यशीलता एव विद्वानो के प्रति समर्पण भाव को अच्छी तरह से देखा और अनुभव किया है।

समस्त जैन समाज एव विद्वद्गण पं० जी की इस नि स्वार्थ सेवा से कभी उऋण नही हो सकते। अ० भा० दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने १९७३ के अपने शिवपुरी अधिवेशन मे पं० जी की अमूल्य सेवाओ के उपलक्ष्य मे उन्हे 'रजत पट्ट' पर प्रशस्ति देकर सम्मानित किया था।

यह बहुत ही उपयुक्त एव सामयिक बात है कि भारत के प्रबुद्ध वर्ग ने प० जी की साहित्यिक एव सामाजिक सेवाओ के उपलक्ष्य मे उन्हे 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट कर सम्मानित करने का निश्चय किया है।

मेरी कामना है कि ज्ञान और चरित्र के अद्भुत सयोग गुरुवर्य प० पन्नालाल जी शताधिक जीवन व्यतीत कर समाज एव राष्ट्र को आलोकित करते रहे।

डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन,
निदेशक—अनेकान्त शोधपीठ,
(बाहुबली—उज्जैन) उज्जैन (म. प्र.)

आशंसा

साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन ने श्रमण संस्कृति को अपने वैदुष्य, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा गंभीर गवेषणा से समृद्ध आयाम प्रदान किये हैं। वे अहर्निश विद्योपासना में दत्तचित्त होकर समर्पित भाव से कार्य करने वाले व्यक्ति हैं। उनकी जीवन यात्रा एक साधक की सारस्वत यात्रा है, जिसमे एक निष्ठता, आस्था, लगन एवं तपस्या का प्राधान्य है। उनके बहुमुखी अनेकानेक ग्रन्थ भारतीय वाङ्मय की शोभा हैं। उनसे हमारी संस्कृति तथा साहित्य की श्री वृद्धि हुई है।

प० जी का सात्विक, सदाशयी, सद्भावपूर्ण तथा सर्वमंगलकारी व्यक्तित्व उनको समाज के प्रत्येक वर्ग मे समादृत कर चुका है। उनके साधना कक्ष मे सदा सर्वदा ज्ञान, अनुशीलन तथा तप की ही अखण्ड ज्योति प्रज्ज्वलित रहती है। ऐसे समर्पित निष्ठावान् तथा मनस्वी पुरुष ससार मे विरल हैं। उन्होने नूतन अनुसंधान करके सारस्वत क्षेत्र को भास्वर एव प्रोज्ज्वल बनाया है। वे बुन्देलखण्ड की ऐसी निर्मल मशाल हैं जहाँ से सारे देश मे जैन विद्या को प्रसाद तथा सोपान मिले। उनका ससम्मान अभिवन्दन एव अभिनन्दन भारतीय प्रज्ञा परम्परा के मस्तक पर चन्दन का लेपन है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे,
राष्ट्रीय प्राध्यापक,
सागर विश्वविद्यालय,
(विजिटिंग प्रोफेसर-सेठ बख्तावर रिसर्च इंस्टीट्यूट मद्रास),
सागर

युगद्रष्टा वर्णी एवं युग पुरुष के प्रिय भाजन

सत्तर्क-सुधा तरंगिणी पाठशाला वर्तमान (श्री गणेश दि. जैन सं. महाविद्यालय) मोराजी भवन सागर की स्थापना के उपरान्त प्रमुख निर्माता एव कार्य-सचालन समिति के विचार वैषम्य मे निर्माताओ द्वारा अपनी पाठशाला पृथक एवं वर्णीजी द्वारा सस्थापित पृथक् करने का निर्णय लेने की स्थिति आने पर वर्णीजी बोले—"हमे दो छात्र दे दो।" इनमे एक थे वर्तमान लेख के चरित्र नायक प. पन्नालालजी साहित्याचार्य।

मैं भी पं पन्नालाल जी से बहुत समय से परिचित हूँ। वे पूज्य बाबा गणेशप्रसाद जी वर्णी के बनाये रत्न और सागर उनका बनाया सागर है। बाबाजी के मन मे इस नगर के प्रति जितना स्नेह था, जितना सागर विद्यालय के प्रति निःस्पृह अनुराग था, उतना सबका सब उनके जाने के बाद से लेकर आज तक सागर समाज एव सागर विद्यालय को पं. जी से मिलता आ रहा है।

प जी सरल है। बाहर भीतर जीता एक निश्छल सरल व्यक्तित्व हमेशा से मुझे आकर्षित करता रहा है। उनके जीवन क्रम को देखकर लगता है कि सचमुच एक धार्मिक जीवन्त पुरुष मे इतनी शालीनता और मृदुता होनी ही चाहिए, घर के आगन से लेकर राष्ट्रपति भवन के विशाल प्रागण तक उनके आचरण

मे जरा भी दुराव-छिपाव या अभिमान नही आया । उनमे राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित होने के उपरान्त भी धर्म के प्रति सम्मान मे जरा भी कमी नही आई । उनकी निःस्पृहता, उनका धर्म और धार्मिको के प्रति लगाव अटूट है ।

वे विनम्र हैं, उतने, उससे भी ज्यादा जितने एक पंडित को होना चाहिये । सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति मे उनका पांडित्य कभी भी बाधक नही बन पाया । ज्ञान का गांभीर्य उनकी वाणी मे कोई सुनना चाहे, तो जब चाहे तब सुन ले । इतना ही नही ये भी कि जब वे बाबाजी के प्रति कोई बात कहने को होते हैं, या पद्मपुराण मे सीताजी के वनवास की बात आती है तो उनकी संवेदनशीलता घनीभूत हो जाती है और अनायास कंठ अवरुद्ध हो जाता है । भर आता है । आसू बहने लगते है । उनका ये विनय और मृदुता से शोभित ये पाडित्य श्लाघनीय है । अनुकरणीय है ।

उनका लिखा पढने-समझने मे सरल है । संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ होने पर भी उनकी कलम मे कठिनाई नही । मुझे कई बार लगता है कि आदमी सहज सरल हो तो उसे समझना भी कठिन नही होता और शायद यही बात प. जी के साथ है । उनसे मिलना और मिलकर कुछ पा लेना, नया सीख लेना बड़ा सरल है । वे विवादमुक्त और सुलझे हुये है । मैंने उन्हे चर्चा गोष्ठी या भाषण व्याख्यान मे कभी भी उत्तेजित होते नही देखा । 'नयो' का अद्भुत सामंजस्य अपनी वाणी और लेखनी मे बनाये रखना उनकी साधना है । जैन धर्म, दर्शन और साहित्य के दीर्घकालीन अध्ययन, मनन और चिन्तन से उन्होंने बहुत कुछ पाया है । उसे समाज को और सारे देश को दिया है, दे रहे है । यह उनकी उदारता है ।

युगदृष्टा—वर्णीजी एव तत्कालीन पं. भूरामल जी (आचार्य ज्ञानसागर) जो वर्णीजी द्वारा संस्थापित स्याद्वाद विद्यालय बनारस के छात्र थे, की दृष्टि में दोनो मे दो ही आये । एक की दृष्टि मे पं. पन्नालालजी और दूसरे की मे आचार्य विद्यासागर, जो दोनो के अपने-अपने गुरुओ के दो नयनतारे हैं । एक दूसरे के निकट हैं। विचारो मे अद्भुत और विकट है ।

धवला, जयधवला जैसे महान् आर्षग्रन्थो के पठन-पाठन और वाचन की उनकी अपनी जिज्ञासा का यह प्रतिफल है कि आज परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य मे प्रतिवर्ष इन आर्षग्रथो का विधिवत् अवलोकन, अध्ययन, मनन पं. जी के उपकुलपतित्व मे होता आ रहा है ।

सागर नगर को इस वाचन की शुरूआत कराने का सौभाग्य मैं पं. जी का विनम्र प्रयास मानता हूँ ।

पथिक प्रयत्नरत है, पथारूढ होने को । दूसरी वाचना के समय वर्षो पूर्व से ब्रह्मचर्यव्रतधारी पं. जी ने सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये, उसी प्रागण मे (मोराजी भवन) जो उनके गुरूपूज्य वर्णीजी की थाती/धरोहर है । वर्तमान मे वे जबलपुर मे पूज्यवर्णी जी द्वारा संस्थापित एवं आचार्य विद्यासागर जी द्वारा पुनरुद्धारित गुरुकुल मे जिस तरह के संस्कार युवाओं मे डाल रहे हैं, उसका सुखद परिणाम आगामी वर्षो मे हमारे सामने आयेगा ।

युगपुरुष उनके प्रति धर्मानुराग रखते हैं । वर्ष १९७६ मे अस्वस्थतावश कुण्डलपुर से विहार न कर सकने की स्थिति मे कहते सुने गये—"शरीर ने साथ नही दिया, अन्यथा सागर चलते वहाँ आचार्य ज्ञानसागर जी के जयोदय काव्य ग्रन्थ पर पं. पन्नालाल जी से काम करवा लेते ।"

उनके प्रति मैं विनत हूँ । वे चिरायु हों। आत्म आनन्द मे अवस्थित हों मुक्त हो । स्व-पर प्रकाशक उनका ज्ञान कैवल्य तक वृद्धिगत हो ।

मि. जीवेन्द्रकुमार जैन, सागर

श्रीमान् डा पन्नालाल जी साहित्याचार्य से सम्बन्ध पिछले 50 वर्ष से है। जबकि समाज मे कार्य करने का उनका व मेरा प्रारम्भिक काल ही था। वे प्राचीन परम्परा के गुरु तथा अग्रणी व्रती विद्वान है, और प्रारम्भ से ही पठन-पाठन एव लेखनादि के द्वारा धर्म और समाज को उपकृत किया है।

आप गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय मे 41 वर्ष तक साहित्याध्यापक एवं 10 वर्ष तक प्राचार्य के पद पर प्रतिष्ठित रहे है। भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने आपको श्रेष्ठ विद्वान् तथा आदर्श राष्ट्रीय शिक्षक के रूप मे सम्मानित किया है।

आपने पद्म पुराण, हरिवश पुराण, समयसार, लघुतत्वस्फोट जैसे गहनतम 30 ग्रन्थो का अनुवाद एव सम्पादन किया है। जिन सस्कृत ग्रन्थो के अध्ययन मे पाठक कठिनाई का अनुभव करते थे, वे अब सरल एव सुबोध बन गये हैं। आपने केवल सम्पादन ही नही किया है, किन्तु मौलिक सस्कृत एव हिन्दी ग्रन्थो की रचना भी की है। आपके द्वारा अनेक अभिनन्दन ग्रथ भी सम्पादित हो चुके हे।

आपने ३० वर्ष से अधिक समय तक अ भा दि. जैन विद्वत्परिषद के मत्री के रूप मे निष्ठा एवं लगन के साथ कार्य करके उसे प्रभावी एवं गरिमामय बनाने का प्रयत्न किया है। सन् १९७३ मे शिवपुरी मे विद्वत्परिषद का रजत जयन्ती समारोह के अवसर पर सस्था के गौरवशाली मन्त्रित्व के २५ वर्ष पूर्ण होने पर रजत-मजूषा एव प्रशस्ति से सम्मानित किया गया था।

सन् १९८१ मे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र खजुराहो मे पञ्चकल्याणक गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर आयोजित अ भा. दि. जैन विद्वत्परिषद के चतुर्दश अधिवेशन के आप सर्वानुमति से अध्यक्ष चुने गये थे। चार वर्ष तक अध्यक्ष के रूप मे परिषद् को आपने गतिशील बनाया।

मुझे उनके साथ रहकर उन्हे निकट से देखने समझने का अवसर प्राप्त हुआ है। उनके आदर्श जीवन पर पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी का गहरा प्रभाव है। वे अत्यन्त परिश्रमी, गम्भीर अध्येता, सुविचारक, आर्ष मार्ग के पोषक, लगनशील एव समर्पित विद्वान् हैं। समय समय पर आचार्य सघो मे प्रवचन करते रहे हैं। पूज्य श्री १०८ आ विद्यासागर जी महाराज की षट्खण्डागम वाचनाओ मे आपकी सदैव उपस्थिति एवं सराहनीय योगदान रहा है।

डॉ पन्नालालजी मेरे निकटतम साथी है। मेरी हार्दिक भावना है कि आप दीर्घायु हो तथा स्वस्थ रहकर राष्ट्र, धर्म, साहित्य और समाज की सेवा करते रहे।

प हीरालाल "कौशल",
मन्त्री, अ भा. व. दि. जैन विद्वत्परिषद्,
देहली

■

सरस्वती के वरद पुत्र :

विद्वज्जगत् जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य से भली-भाँति परिचित है। मधुर वक्ता, सफल शिक्षक, सस्कृत और प्राकृत साहित्य के योग्य सम्पादक, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, साहित्य साधना समर्पित जीवन के रूप मे आप जैन समाज मे बहुचर्चित है। आप ज्ञान के क्षेत्र मे जितने अग्रगण्य है उतने ही सदाचार और जीवन निर्माण के क्षेत्र मे भी विश्रुत है।

"सादा जीवन उच्च विचार" की उक्ति आपके जीवन मे यथार्थ रूप मे चरितार्थ होती है। विद्यालय मे शिक्षण कार्य करते हुये आपने साहित्य साधना की है। आपका एक-एक क्षण का सदुपयोग साहित्य साधना मे होता है। उतार-चढाव की घाटियाँ आपने भी पार की है किन्तु आपकी साधना मे वे कभी व्यवधान नही बन सकी।

आप शिक्षक, लेखक, सम्पादक, प्रवक्ता, आदर्श के धनी के रूप मे चतुर्मुखी प्रतिभा की आभा से प्रकाशमान है। इस प्रतिभा के आलोक से जिन वाणी माता के विशाल क्षेत्र को आपने आलोकित किया है। अनेक धार्मिक कार्यो मे व्यस्त रहते हुए भी जितनी विशाल मात्रा मे आपने जैन साहित्य का उद्धार किया है वह आपकी अलौकिक क्षमता का परिचायक है।

आप विद्वत्परिषद के लगातार ३० वर्षो तक मत्री के पद पर प्रतिष्ठित रहे हैं। आपके ही मन्त्रित्व काल मे डॉ. नेमीचन्द्र जी द्वारा लिखित "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" के चार भागो का प्रकाशन विद्वत्परिषद के द्वारा हुआ है। श्री गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन भी आपके मत्रित्व काल की अनुपम कृति है। "महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन" शोध प्रवन्ध पर आपको सागर विश्वविद्यालय ने पी. एच. डी. की उपाधि से विभूषित किया है। आपकी कृतियाँ अनेक सस्थाओ द्वारा सम्मानित एव पुरस्कृत हुई है।

लगनशील, अध्यवसायी विद्वान् प. पन्नालाल साहित्याचार्य का शत-शत अभिनन्दन।

पं. प्रकाश हितैषी,
सम्पादक-सन्मति संदेश,
दिल्ली

'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते'

ईस्वीय १९५० के दशक मे सागर का श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय—विविध दृष्टियो से अपने विकास-उत्कर्ष के चरम उत्कर्ष का स्पर्श कर रहा था। जहाँ तक मैं अनुभव करता हूँ कि इसके मूल मे संतप्रवर पूज्य वर्णीजी महाराज का दिव्य सान्निध्य, तत्कालीन प्राचार्य (स्व.) प दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री का 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'-प्रशासन, एवं वरिष्ठ प्राध्यापक वर्ग–विशेपत सर्वश्री प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पं माणिकचन्द्र जी न्याय–काव्यतीर्थ, पं दयाचन्द्र जी साहित्याचार्य एवं प. लक्ष्मणप्रसाद जी 'प्रशात' की ज्ञानगरिष्ठ प्रभावोत्पादक आकर्षक अध्यापन शैली सन्निविष्ट रही है। सम्पूर्ण राष्ट्र मे संस्कृत शिक्षण एव जैन विद्या के सर्वांगीण अध्ययन–अनुशीलन के लिए इस महाविद्यालय ने

महती प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी। इसलिए समीचीन अध्ययन का इच्छुक प्रत्येक ज्ञानार्थी इस सस्था मे प्रवेश प्राप्त करना अपना गौरव समझता था।

पूज्य वर्णी जी महाराज की पावन चरण रज से मेरी जन्मभूमि—रीठी (कटनी) अनेकश उपकृत रही है। मेरे पूज्य पिता (स्व.) सवाई सिंघई अनन्तरामजी को भी वर्णीजी का शुभाशीष निकटत' प्राप्त था। अब तक मै हिन्दी-प्राथमिक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका था। चतुर शिल्पी की भाति पूज्य वर्णीजी की दिव्यदृष्टि सदैव अनगढ पत्थरो को तलाशती रहती थी। मेरे परीक्षा-परिणाम को सुन-देखकर पूज्य वर्णीजी ने मेरे पिताजी को कहा कि—'जौ मोगेन्दु आय ई खौ भौतऊँ पढ़ाउनै है।' "बाबावाक्य प्रमाणम्" के अनुयायी मेरे पिताजी ने वर्णीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर अग्रिम अध्ययन हेतु मुझे पूज्य वर्णीजी द्वारा सस्थापित संस्थाओ मे भेजने का सकल्प लिया। फलत मैं प्रारभिक दो वर्ष वर्णीगुरुकुल मढ़ियाजी मे अध्ययन कर १९५१ मे सागर के श्री गणेश दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय मे प्रविष्ट हुआ। इस अवधि तक जैन विद्वत्परम्परा और उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्रो से मेरी यत्किञ्चित् परिचिति हो गयी थी। परिचिति के क्रम मे पण्डितप्रवर पन्नालाल जी साहित्याचार्य के वैदुष्य का परोक्ष प्रभाव विविध माध्यमो से मेरे मानस-पटल पर अधिष्ठित था। अत अपने प्रवेश हेतु सागर पहुँचने पर जुलाई १९५१ के प्रथम दिन ही विद्यालय के मुख्य प्रवेश द्वार पर—अनायास उनके आभामडित दैदीप्यमान उन्नत ललाट, प्रशान्त गम्भीर मुख-मुद्रा, श्वेत परिधान मे आवेष्टित आकर्षक व्यक्तित्व, सौम्य प्रकृति और मधुरवाणी का प्रत्यक्ष-दर्शन/रसास्वादन कर मेरा मन-मयूर सविशेष आप्यायित हुआ। इसी समय उनके प्रति परिचितो द्वारा सादर प्रणति निवेदन, श्रद्धा की अभिव्यक्ति, अनुगमन की भावना और उनके द्वारा अभ्यागतो के अनुरोध को मनोयोगपूर्वक सुनकर सवात्सल्य समुचित दिशा निर्देशन ने मुझे उनका नैकट्य प्राप्ति हेतु प्रोत्साहित किया। इसी दिन से उनका सान्निध्य और शुभाशी प्राप्त कर वस्तुतः मैं अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हूँ।

सागर विद्यालय मे अपने अध्ययन के कालक्रम (१९५१-५८) मे साहित्य और व्याकरण सबधी उच्चकोटिक विविध ग्रन्थो का अध्ययन-अनुशीलन, उनके चरणारविन्दो मे बैठकर, करने का सौभाग्य प्राप्त किया। उनके अतलस्पर्शी वैदुष्य-मडित प्रकृष्ट आभा-मडल के कुछ परमाणुओ के विम्ब-प्रतिविम्ब-भाव को यथाशक्ति आत्मसात् करने का उपक्रम भी करता रहा, किन्तु 'वसन्त' के वहुआयामी दिव्य व्यक्तित्व की किरणो और सार्वत्रिक सुगन्ध को एक लघु पात्र कैसे केन्द्रित कर सकता था। पुनरपि मुझ जैसे सहस्रो छात्रो ने अध्ययन-अनुसन्धान, सम्पादन, सचालन, अध्यापन प्रभृति क्षेत्रो मे उनके दिव्य सस्पर्श से काफी कुछ सीखा और अपने आगामी जीवन क्षेत्रो मे उनकी चरितार्थता प्रमाणित की है।

विगत ३८ वर्षो से पूज्य प. जी से अपने अनवरत सान्निध्य के विविध सन्दर्भो के आधार पर मैं गौरवपूर्वक उल्लेख करता हूँ कि प्राध्यापकत्व एव प्राचार्यत्व के साथ-साथ राष्ट्र-धर्म-समाज-साहित्य और सस्कृति सम्वर्द्धक विविध कार्यो मे उनकी गहरी निष्ठा तथा तदनुकूल क्रियान्विति ने श्रद्धेय गुरुवर्य प पन्नालाल जी को सर्वत्र सम्माननीय वनाया है। सम्पूर्ण राष्ट्र के सस्कृतज्ञ और सस्कृत-सँस्थाएँ पडित जी के मौलिक अवदान के प्रति कृतज्ञ हैं, यत उन्होने सोते-जागते उठते-बैठते अहर्निश जो कार्यकलाप सम्पन्न किये हैं, वे एक व्यक्ति नही प्रत्युत संस्था के ही योजनावद्ध कार्य हो सकते हैं, ऐसा सभी अनुभव करते हैं। परन्तु वस्तुतः हैं वे सभी उन्ही अकेले के कार्यकलाप। इसीलिए वे आवाल-वृद्ध, पुरुष-नारी, श्रीमान्-धीमान्

और शासन-प्रशासन सभी की दृष्टि मे समान रूप से सर्वतोभावेन महनीय-पूजनीय है तथा उनके सृजनशील सार्थक कृतित्व से इस उक्ति की चरितार्थता प्रमाणित हुई है कि—

'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।'

भगवती श्रुतदेवता के ऐसे दिव्य ललाम-सुपुत्र को कोटिश प्रणति निवेदित कर उनको चिरायुष्क की मंगलकामना करता हूँ ।

डॉ भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
अध्यक्ष—संस्कृत विभाग,
स्नातकोत्तर शासकीय महाविद्यालय दमोह
तथा
संयोजक—सम्पादक—साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जैन—अभिनन्दन ग्रन्थ

गुरुदत्तादि मुनिवरो की निर्वाणस्थली, पूज्य वर्णी जी की साधना भूमि, पावन सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरि के विकास मे प्रान्तीय समाज का जो योगदान है, वही स्वनाम धन्य समाज भूषण सि० कुन्दनलाल जी सागर को प्राप्त है। पूज्यवर्णी जी की प्रेरणा से सिं० कुन्दनलाल जी का ध्यान सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरी की ओर गया और आपने सिद्ध क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष पद पर रहकर क्षेत्र के विकास के लिये समुचित प्रयास किया। सागर के सुप्रसिद्ध उद्योगपति शाह बालचन्द्र जी मलैया को मन्त्रित्व का भार सौपकर, पूज्यवर्णी जी ने वि० सं० १९८५ मे श्री गुरुदत्त दि० जैनसस्कृत पाठशाला का शुभारम्भ कर उसके सचालन का कार्य मुझे सौप दिया। विद्यालय के प्रारम्भ काल मे इसकी उपयोगिता बहुत अधिक थी क्योकि उस समय प्रान्त मे शिक्षा के लिये शासन की तरफ से कोई साधन जैन समाज के ही लिये नही, अपितु जन सामान्य के लिये भी उपलब्ध नही थे। इस संस्था के खुलने से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त करने का बहुत अच्छा साधन प्राप्त हो गया। प्रान्तीय जैन समाज के छात्रो ने इसमे प्रवेश लेना प्रारम्भ कर दिया और रुचिपूर्वक अध्ययन कार्य मे संलग्न हो गये। संस्था मे छात्रो के आवास एवं भोजन की सुविधा सुलभ थी, अत. जैन समाज ने अपने बालकों को इस सस्था मे प्रविष्ट कराकर, सस्था के कार्यो मे अच्छा योगदान दिया। संस्था का विकास किस प्रकार किया जाये इसके लिये पं० पन्नालाल जी का योगदान प्राप्त हुआ। शिक्षा मन्त्री के रूप मे आपने सस्था के विकास के लिये समयानुकूल योजनाए दी।

क्षेत्रो के विकास मे शिक्षा सस्थाओ का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वि. सं. २००० मे पूज्य वर्णीजी सिद्ध क्षेत्र सम्मेद शिखर की यात्रा करके इस क्षेत्र मे पधारे। उन्होने अनुभव किया कि यह क्षेत्र शिक्षा के अभाव मे बहुत अविकसित है, किसी का भी विकास ज्ञान के प्रकाश विना सभव नही है। अत उन्होंने बडा मलहरा मे श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन गुरुकुल की स्थापना कर दी। गुरुकुल के लिये उपयुक्त भवन सिं० वृन्दावनलाल जी ड्योढिया बडा मलहरा ने खरीद कर दे दिया। सिं० कुन्दनलाल जी सागर एव

श्री बालचन्द्र जी मलैया ने पूर्ण आर्थिक सहयोग देकर उसे स्थायित्व प्रदान किया । इस गुरुकुल मे गुरुकुल पद्धति से शिक्षा देने का क्रम प्रारम्भ हुआ । छात्रो के आवास एव भोजन की व्यवस्था की गयी। छात्रो ने दूर-दूर से आकर प्रवेश लेना प्रारम्भ कर दिया और देखते-देखते इस संस्था ने सम्मानित स्थान प्राप्त कर लिया । शिक्षा मन्त्री का दायित्व निभाते हुये पं० पन्नालाल जी ने शिक्षण कार्य में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये । तीर्थ क्षेत्र के विकास के लिये बडे-बडे धार्मिक समारोह आयोजित कराये। सन् १९५५ मे श्री मज्जिनेन्द्र पञ्चकल्याणक जिन बिम्ब प्रतिष्ठा गजरथ महोत्सव करने का निर्णय लिया गया । प्रान्तीय समाज ने इस विशाल समारोह की सफलता के लिये तन-मन-धन से सहयोग दिया। समारोह की शानदार व्यवस्था के लिये भिन्न-भिन्न समितियो का गठन किया गया जिसमे प० पन्नालाल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा । प० जी ने इस विशाल समारोह को व्यापक रूप प्रदान करने मे प्रचार-मन्त्री के रूप मे बडी लगन एव अद्भुत उत्साह का परिचय दिया । यह गजरथ महोत्सव अनेक महत्त्वपूर्ण साँस्कृतिक कार्यक्रमो से परिपूर्ण था । अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्, अ० भा० दि० जैन महिला परिषद्, विश्व जैन मिशन जैसी सुप्रसिद्ध सस्थाओं के अधिवेशन हुये । द्रोण प्रान्तीय सेवा सघ, जैन भ्रातृ-सघ आदि के महत्त्वपूर्ण अधिवेशन भी हुये, जिनमे देश-विदेश के विद्वान् मनीषियो ने भाग लेकर इस उत्सव को अभूतपूर्व सफलता प्रदान की । तत्कालीन विन्ध्यप्रदेश शासन के सभी मन्त्रियो ने इसमे सम्मिलित होकर अपने आपको सराहा । प्रबन्ध व्यवस्था एवं सास्कृतिक कार्यक्रमो के आकर्षणो ने इस उत्सव की सफलता मे चार चाँद लगा दिये । गजरथ महोत्सवो की शृंखला मे सन् १९५५ का यह गजरथ आज भी बडे गौरव के साथ स्मरण किया जाता है । पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य का हार्दिक सहयोग कार्यक्रमो की सफलता का प्रमुख कारण रहा है।

सन् १९७४-७५ मे भगवान् महावीर २५०० वा निर्वाणोत्सव के पावन अवसर पर प्रवर्तित धर्मचक्रो का शुभागमन सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरि पर हुआ । इस पावन भूमि पर धर्मचक्रो का ऐतिहासिक सम्मिलन अभूतपूर्व था । इस उत्सव के त्रिदिवसीय सम्मेलन मे समागत विद्यालय के स्नातकों एव विद्वानो ने इसे अनोखी प्रतिष्ठा प्रदान की । प० पन्नालाल जी ने इस उत्सव को भी सुशोभित किया था । सन् १९७७ मे द्रोणगिरि मे गजरथोत्सव का आयोजन किया गया । श्री गुरुदत्त दि० जैन विद्यालय द्रोणगिरि का स्वर्ण जयन्ती समारोह भी हुआ । सभी कार्यक्रमो मे पं० पन्नालाल जी ने पूर्ण मनोयोग से साथ दिया ।

प० पन्नालाल जी का द्रोणगिरि क्षेत्र से निकट का सम्बन्ध रहा है । द्रोणगिरि क्षेत्र की शिक्षा सस्था के प्रत्येक कार्यक्रम मे पं० जी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । कुशल निर्देशन से उन्होने सभी कार्यक्रमो का सम्पादन किया है, उन सबकी सफलता का श्रेय पं० जी को जाता है । पूज्य वर्णी जी की कर्मस्थली होने के कारण भी वर्णी जी के श्रद्धालुओ को यह स्थान आकर्षण का केन्द्र रहा है । प० जी की इस क्षेत्र के प्रति अटूट श्रद्धा है, उनके कर्त्तव्यो के प्रति आभार व्यक्त करता हुआ मैं उनके सुदीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूँ ।

(पं०) ब्र० गोरेलाल शास्त्री, द्रोणगिरि

लब्ध प्रतिष्ठ मनीषी साहित्याचार्य डॉ. पन्नालाल जी लगभग दश वर्ष पहले शोलापूर श्राविका-आश्रम पधारे थे। तब यहाँ १०८ मुनि वीरसागरजी विराजमान थे। पहिली बार ही युवा विद्वान् मुनि श्री वीरसागरजी की कठोर जीवन चर्या से वे प्रभावित हुए। उस समय का प्रसंग मेरे मानस पट पर जो अंकित हुआ है वह अमिट है। डॉ. साहित्याचार्य पन्नालाल जी द्वारा सम्पादित कृति-कुंदकुंद भारती ने मुनि श्री वीरसागरजी के जीवन का चित्र पृष्ठ बदला था। गृहस्थाश्रम मे सफल यशप्रद डॉक्टरी पेशा छोडकर युवा अवस्था मे ही दिगम्बरी मुनि दीक्षा लेने के लिए साहस और बल उन्हे कुदकुंद भारती से प्राप्त हुआ था। इसलिए डॉ पन्नालाल जी को वे गुरु का स्थान देकर आदरणीय व्यक्ति समझते थे। दीक्षा के बाद साक्षात् उनका परिचय पाकर उनके प्रति कृतज्ञता के भाव जाग उठे।

मुनि श्री का शोलापूर के बाहर भारत भवन निवास मे जैन बोधक की सम्पादिका कुमुदिनी बेन और पंडितवर्य वर्धमान शास्त्री के आग्रह से विहार हुआ था। अतिथि पंडित जी भी साथ आये। महाराज ने प्रवचन के बाद अपने वैराग्य का कारण वस्तु स्वरुप का ज्ञान कुदकुद भारती द्वारा हो सकता है, यह बतलाया। प्रवचन के बाद माननीय अतिथि प पन्नालाल जी का सत्कार भी हुआ था। पडित जी उस समय इतने भाव विव्हल हो गये थे कि उनके आँखो मे आँसू आ गये। उन्होने कहा था "मेरे द्वारा संपादित किया हुआ ग्रंथ पाकर पूज्य वीरसागरजी तो भवसागर तैर कर किनारा गाठ रहे हैं। मेरा कार्य ब्रिज [पुल] जैसा है। उस पर से न जाने कितने यात्री तैरने मे समर्थ होगे। आज पूज्य रत्नत्रय सम्पन्न महाराज जी का पावन दर्शन पाकर मैं अब ब्रिज रहना नही चाहता हूँ। मेरा चारित्र्य मोहनीय कर्मशिथिल पडकर "मैं भी किनारा गाठने के लिए आगे बढ़ूँ ऐसी आतरिक भावना है"। इन शब्दो मे नम्रता, लघुता और सयम के प्रति अनुराग टपक रहा था। सारा श्रोतावृद भावपूर्ण उद्गार सुनकर मत्र मुग्ध हो गया। पंडित जी की सरलता की सबके दिल पर अमिट छाप पड गई।

श्री पन्नालाल पडित जी वर्तमान मुनि और आर्यिका के विद्यागुरु माने जाते है। पूज्य स्व. आचार्य शिवसागर जी सघ के प्राय सर्व त्यागीवृद के वे विद्यागुरु हैं। स्व. पूज्या चन्द्रमती माताजी वहाँ अनेक विदुषी आर्यिकाओ के साथ अध्ययन तप मे लीन रहा करती थी। मोहवश मुझे स्व. १०८ आचार्य शिवसागर जी मुनि सघ मे बार-बार जाने के प्रसग मिले। सघ मे पूज्य विदुषी आर्यिका विशुद्धमतिजी उनके प्रति गहरी श्रद्धा प्रगट करती थी। क्योकि वे सागर महिलाश्रम की भूतपूर्व संचालिका थी। उनके द्वारा त्रिलोकसार, तिलोयपणत्ती आदि कृतियाँ सपादित है। पूज्य माताजी पडितजी के मार्गदर्शन मे अहोरात्र स्वाध्याय लेखनादि करती थीं। सघ मे सारे त्यागीवृद पंडितजी के प्रति मनोमन आदर देते थे। किन्तु पंडित जी विनम्र होकर हमेशा उन्हे ही वदनीय मानकर अपनी कमजोरी के बारे मे खेद खिन्न होते थे। पंडित जी की नम्रता देखकर और मुनि आर्यिकाओ के प्रति आदरभाव देखकर मुझे प्रश्न होता है कौन महान है ? ब्रिज या उस पर चलने वाले यात्री ?

श्री विद्युल्लता हिराचन्द्र शहा,
श्राविका संस्था नगर,
सोलापुर [महाराष्ट्र]

■

जो ज्ञान का दीपक जलाकर स्वय को प्रकाशित कर जन-साधारण के लिए पथ-प्रदर्शक वन जाते हैं, उनका जीवन आदर्श एव महान् वन जाता है। डॉक्टर प पन्नालाल जी साहित्याचार्य ऐसे ही महान् व्यक्तियो मे है, जिन्होने अपने जीवन मे सरस्वती की साधना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी वनकर की है। जैन समाज की जागृति और तत्त्व-ज्ञान के प्रचार-प्रसार मे जो सतत् जागरुक रहते है। पंडित जी कुशल लेखक, प्रभावी वक्ता, निर्विवाद विद्वत्ता, सरल स्वभावी, मधुरभाषी आदि अनेक गुणो के कारण वे श्रद्धेय हैं, सम्माननीय है।

आचार मे उनकी गहरी निष्ठा है। यही कारण है कि वे घर मे रहते हुए भी पूरी सजगता से श्रावक के व्रतो का पालन करते है तथा विशेष रूप से साधुओं के समागम मे रहते हैं। ऐसे महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धावनत होता हुआ उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

पं बालचन्द्र जैन, न्यायतीर्थ,
दुर्ग

मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे श्री गणेश दि जैन संस्कृत महाविद्यालय मे १९४८ से १९५९ तक अध्ययन करने का अवसर मिला। मैं श्रद्धा से नतमस्तक हूँ अपने उन आचार्यो के प्रति जिन्हे मैं रत्नत्रयी कहना चाहता हूँ अर्थात् स्वर्गीय प दयाचन्द्र जी न्यायतीर्थ प्राचार्य, पूज्य प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य 'वसन्त' तथा प माणिकचन्द्र जी धर्माध्यापक न्यायकाव्यतीर्थ। यथार्थ मे यही वे तत्कालीन महान् स्तम्भ थे जिन पर सागर का विद्यालय और उसकी ख्याति निर्भर थी। यद्यपि सर्वोपरि तो पूज्यपाद १०५ वर्णी गणेशप्रसाद जी महाराज का प्रभाव था।

दृष्टि की विमलता, ज्ञान की कुशाग्रता और चारित्रिक दृढता का नाम है प पन्नालाल साहित्याचार्य। अपने अध्ययन काल के पूज्य प पन्नालाल जी से सवद्धित कुछ प्रसंग है जिन्होने मुझे प्रभावित किया है —

(१) एक छात्र श्री ताराचन्द्र एम. काम, पथरिया, ने जवलपुर मे किसी प्रसंगवश आत्महत्या कर ली। विद्यालय के छात्रो ने एक शोकसभा आयोजित की जिसमे अन्य सभी प्राध्यापक आये किन्तु प. पन्नालाल जी आग्रह करने पर ही अन्यमनस्क भाव से आये। क्योकि आत्महत्या पं. जी के अनुसार गर्हणीय थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नरभव की जो कीमत नही कर सकता है वह शोकसभा मे स्मरण के लिये भी पात्र नही था।

(२) हम लोग प जी से अध्ययन कर रहे थे। सस्कृत साहित्य मे इतना अधिक श्रृङ्गार रस का चित्रण देख एक दिन प्रश्न कर वैठे—पडित जी इतना अधिक श्रृङ्गारिक चित्रण किस कारण से है? पडित जी का सहज और सक्षिप्त उत्तर था - श्रृङ्गार तो रसराज है, इससे कोई कवि कैसे वचा रह सकता हैं? उसका चित्रण तो अधिक होगा ही।

(३) पडित जी शहर मे रहते है और वहाँ से विद्यालय काफी दूर स्थित है । उन दिनो अतिरिक्त पढाई प्रातः ४ बजे से होती थी । पंडित जी विद्यालय प्रात शीतकाल मे भी समय पर उपस्थित हो जाते थे और हम लोग रजाईयों मे सो रहे होते थे । आहट पाकर हडबड़ाहट मे यद्वा तद्वा कक्षा मे पहुँचते थे । पंडित जी समय के महान प्रतिष्ठापक है । यथार्थ मे उनका प्रतिक्षण समय था आत्मा की प्रतिष्ठा का द्योतक है ।

(४) प्राय पंडित जी पढाते–पढाते लेखनकार्य मे और लेखन कार्य करते–करते अध्यापन कार्य मे लगे ही रहते थे । उनके अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग के हम लोग प्रत्यक्षदर्शी है । जिस प्रकार महान् दार्शनिक प्लेटो अध्ययनरत रहता था और निद्रा निवारण हेतु एक थाली अपने हाथ मे लिये रहता था कि यदि निद्रा आये तो थाली गिरकर झनझनाकर निद्रा भग कर दे उसी प्रकार पडित जी भी अक्सर कार्य करते करते निद्रालीन हो जाया करते थे । अतिश्रान्त होने पर ही वही गद्दी पर कुछ देर विश्राम करके पुन. कार्यतत्पर हो जाते थे । उनकी साहित्यसाधना इसी प्रकार के श्रम का परिणाम है । कभी यह पुराण, कभी वह टीका टिप्पणी, कभी विद्वत्परिषद् का कार्य, कभी अन्य कार्य । पडित जी और विश्राम दोनो विरोधाभास की बाते मालूम पडती थी । परन्तु जीवन मे सफलता इन्ही गुणो से मिला करती है, पंडित जी का जीवन इसका निदर्शन है । कार्य के आधिक्य के कारण ही पडित जी मितभाषी और मृदुभाषी भी हैं ।

(५) प. जी मलैया छात्रवृत्ति कोष के मंत्री थे । मुझे बी ए अध्ययन के अवसर पर तीन सौ रुपये की छात्रवृत्ति मिली, सेवा कार्य मे व्यवस्थित हो जाने पर सर्वप्रथम मैंने छात्रवृत्ति फण्ड के रुपये क्रमश तीन किश्तो मे वापिस कर दिये । सयोग से पडित जी का पत्र मुझे मिला कि एक किश्त १००/– की मेरे पर अभी बकाया निकलती है । मैंने उत्तर मे लिखा कि यद्यपि काफी समय बीत जाने के कारण मेरे पास रसीद का कोई प्रमाण शेष नही है परन्तु मैं रुपये दे चुका हूँ । पडित जी ने अपने रजिस्टर देखे और पाया कि रुपये जमा हो चुके थे । इस पर आपने लिखा कि मैंने अनावश्यक रूप से कष्ट दिया है ।

यथार्थ तो यह है कि 'अर्थस्य शुचिता शुचिताहि लोके' ससार मे धन के लोभ का अभाव ही शौच है और प्रकारान्तर से पडित जी उसके मूर्तस्वरूप है ।

(६) एक बार एक परीक्षा मे मैंने नकल की और वह पकड़ी गयी । मुझे बुलाया गया परन्तु मैं नही गया । बात आयी गयी हो गयी मैं फैल हो गया । मेरे उपस्थित न होने का कारण आर्थिक दण्ड या फैल हो जाना कम था । पडित जी के हाथो शारीरिक सजा पाने का भय अधिक था । पडित जी अपराध करने वालो को सख्त सजा देने से नही हिचकते थे । वास्तविकता यह है कि उनमे भीमकान्त गुणो का अद्भुत समन्वय है ।

रघुवंश मे एक राजा या शासक मे अपेक्षित गुणो का वर्णन किया गया है —

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स. बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णव ॥

अर्थात् जैसे समुद्र मे मगर और रत्न दोनो होते है इसके कारण वह अधृष्य और काम्य दोनो है । उसी प्रकार एक शासक मे दोनो गुण होना अपेक्षित है । पंडित जी जो कुशल प्रशासक भी हैं वह इन्ही गुणो के कारण ही है ।

(७) मैं एम. ए. का छात्र था साथ में साहित्याचार्य प्रथम वर्ष का भी। मैं धनाभाव के कारण ढाना मे एक कार्य करने लगा अतएव विद्यालय की आचार्य कक्षा मे अनुपस्थित रहने लगा। पडित जी ने इसकी सूचना प्राचार्य महोदय को कर दी, प्राचार्य महोदय ने मुझसे स्पष्टीकरण मांगा। मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की। पडित जी के प्रति मेरे मन मे काफी क्षोभ भी हुआ जब परिणाम शान्त हुए तो मैंने लिखित रूप से पंडित जी से क्षमा माँगी। पंडित जी ने कहा—ऐसा कुछ भी नही है। अस्तु।

(८) खजुराहो मे गजरथ के प्रसङ्ग मे पडित जी से साक्षात् हुआ मैंने उनके चरण स्पर्श किये आपने मुझे पक्षाघात ग्रस्त पाकर करुण भाव से कहा—"आपको बुढापे मे कष्ट हो गया है।" अस्तु, उनकी करुणा बह पडी।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी महान् आचार्यवर का हम सब पर वरदहस्त बना रहे श्री वीरप्रभु से यही कामना करता हूँ।

डॉ. वीरेन्द्र कुमार जैन,
प्राध्यापक—अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, छतरपुर

जब हम-पूज्य पडित पन्नालालजी साहित्याचार्य के अद्यावधि जीवन पर दृष्टिपात करते है तो एक कर्मयोगी की छवि आँखो मे उतर आती है। मानवपर्याय के अर्थ को जैसे उन्होने गर्भ मे ही हृदयगम कर लिया था। इसीलिए आरभ से ही वे जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक बनाने का महायज्ञ सम्पादित करते आ रहे हैं। कोई भी उन्हे अनवरत कर्म मे सलग्न देख सकता है। आलस्य, प्रमाद और आराम से तो उनकी जान-पहचान ही नही हुई। प्रात चार बजे से उनका कर्मयोग आरभ हो जाता है और सामायिक, स्वाध्याय, अध्यापन, प्रवचन,लेखन,मार्गदर्शन, विद्वत्परिषद् के उत्तरदायित्वो का निर्वहन इत्यादि गतिविधियाँ उनसे रात्रि के द्वितीय प्रहर मे ही छुटकारा पाती हैं। शारीरिक और मानसिक श्रम मे वे आज भी तरुणाई को लज्जित कर रहे है।

युक्ताहारविहार पडितजी का विशिष्ट गुण है। इसका परिणाम उनके स्वास्थ्य मे परिलक्षित होता है। पचहत्तर वर्ष की अवस्था मे भी पडितजी का शरीर एक मल्ल के शरीर का सादृश्य उपस्थित करता है। शुद्ध सात्विक आहार, सयम और समुचित श्रम का, इसके अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है? 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' के रहस्य को पडित जी ने सम्यग्रूपेण हृदयगम किया है। और

अथिरेण थिरा मलिणेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसार।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किं ण कायव्वा॥

यह शरीर अस्थिर है, अपवित्र है और गुणहीन है, तो भी इस अस्थिर शरीर से स्थिर मोक्षसुख प्राप्त किया जा सकता है, अपवित्र होते हुए भी इससे शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति सभव है तथा गुणहीन होने पर भी इसके द्वारा केवलज्ञानादि गुण उपलब्ध किये जा सकते है ।

इस उपनिषत् को आत्मसात् कर वे इसका शब्दश' अनुगमन कर रहे है ।

पंडितजी के ये गुण ही यथार्थ शिक्षक है । वास्तविक शिक्षा पुस्तकों के माध्यम से नही, जीवन के माध्यम से मिलती है । शिक्षक का जीवन ही सच्ची किताव है । यह शिक्षक को कक्षा मे खोलकर पढानी नही पडती । शिष्यो के द्वारा यह स्वय अज्ञातरूप से पढ ली जाती है । भगवद्गीता मे कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं । वह जिस परम्परा को चला देता है, लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं ।

कर्मयोग ही जीवन की वास्तविक शिक्षा है और यह कर्मयोगी से ही प्राप्त हो सकती है । गीता के अनुसार अनासक्ति एवं समभाव को योग कहते है । और योगपूर्वक कर्म करना कर्मयोग है—

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

लोकशिक्षण के लिए अनासक्तभाव से कर्म करना विद्वान् का कर्त्तव्य है । यह बात भी गीता मे कही गई है—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥

पडितजी मूर्तिमान कर्मयोग हैं । वे लौकिक फल की आकाक्षा के बिना जिनागम का सरल भाषा मे प्रतिपादन तथा शिष्यों एवं समाज को समीचीन मार्ग दिखलाने के कर्म मे निरन्तर संलग्न है । आलस्य, प्रमाद एव आरामतलबी से दूर रहकर निष्कामभाव से स्वपरहित के पौरुष मे जीवन के प्रत्येक क्षण को नियोजित करने का कौशल ही सीखने योग्य विद्या है । इसे सीखने के लिए पडितजी का सत्सगमात्र पर्याप्त है । पडितजी की छाया पारसमणि है ।

पडितजी की लेखनी से जहाँ अनेक ग्रन्थरत्न प्रकट हुए है,वही उनकी छाया से अनेक विद्वद्रत्नो का आविर्भाव हुआ है । उनमे से अनेक पी.एच डी एव डी.लिट् की उपाधियो से विभूपित हो देश के विभिन्न विश्व-विद्यालयो एवं महाविद्यालयों को अलंकृत कर रहे हैं । उनमे जो ज्ञानसागर के मन्थन की पिपासा एवं कर्म-ठता दिखाई देती है वह पंडितजी की पुनीत छाया के स्पर्श का ही परिणाम है ।

कर्मयोगी गुरु के दीर्घजीवन की कामनासहित चरणो मे शतश नमन । शतश वन्दन ।

डॉ. रतनचन्द्र जैन,
प्राध्यापक संस्कृत-प्राकृत विभाग, भोपाल विश्वविद्यालय,भोपाल

आदरणीय प पन्नालालजी मेरे गुरु है। उनके सान्निध्य मे चार वर्ष साहित्य का अध्ययन किया। गुरु की विद्वत्ता, अध्यापन के प्रति रुचि एव जागरूकता का वास्तविक मूल्याकन उनके शिष्य ही कर सकते हैं, संस्थाओ के पदाधिकारी आदि नही कर सकते है।

प. पन्नालाल जी को मैनें थोडा भी समय व्यर्थ खोते नही देखा है। उन जैसा परिश्रमी पुरुषार्थी भी किसी को नही देखा है। प. जी नियमित पूजन-पाठ, स्वाध्याय, सामायिक आदि करते है और त्यागियों-व्रतियो जैसी भोजन-पानादि की चर्या का पालन करते हुए प्रकृष्ट साहित्य साधना करते हैं। पंडितजी की एक-एक मिनट के समय की उपयोगिता, नियमित समय वद्धता प्रशसनीय एव अनुकरणीय है। आगत पत्रो के उत्तर तत्काल देने की बात भी पंडितजी मे है।

सम्मान्य पडित जी सादा जीवन उच्च विचार के मूर्तरूप है। उनका वस्त्रो का पहिनावा इकदम सादा है। उन्होने वहुत आरामदेह विलासिता की वस्तुओ अथवा प्रदर्शन वाली वस्तुओ का प्रयोग नही किया।

पडित जी सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ तो है ही, जैन साहित्य ग्रन्थो के अतिरिक्त जैन सिद्धान्त, सस्कृत व्याकरण और जैन न्याय के भी प्रौढ मनीषी है। ज्ञान के धनी होने के साथ-साथ देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अपार आस्था एव चारित्रवान् भी है। इसीलिए वे रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग के पथिक हैं।

बीना-वारहा के अधिवेशन मे विद्वत्परिषद् के मच से प्रस्ताव पारित हुआ कि जैन-धर्म मे नवदीक्षित कर्मणा जैन गृहस्थ के वच्चो के विवाह जैन समाज मे होना चाहिए। इस हेतु ऐसे एक जन्मना अजैन परन्तु कर्मणा जैन गृहस्थ विद्वान् को खण्डेलवाल जैन समाज ने अपने गोत्र भी प्रदान करने की उदारता दिखाई। उस समय अन्तर्जातीय विवाहो का समर्थन न करने वाले विद्वान् भी अधिवेशन मे उपस्थित थे। इसे मैं पण्डित जी के मन्त्रित्व की सफलता ही मानता हूँ।

पण्डित जी अपने से भिन्न विचारधारा वाले विद्वानो का भी उतना ही सम्मान करते हैं जितना अपनी विचारधारा वालो का। दूसरो को सम्मान देने वाले ऐसे ही विद्वान सम्मान एवं अभिनन्दन के अधिकारी हैं।

अभी जून मे सागर मे जयपुरवालो की ओर से एक शिविर का आयोजन था। आदरणीय पडितजी उसके समापन कार्यक्रम मे सम्मिलित हुए और उनके ज्ञान जागरण करने वाले कार्यो की सराहना की। पंडितजी के इस व्यवहार से यह बात सिद्ध होती है कि—वे समन्वयवादी विद्वान् हैं।

आदरणीय पंडित जी को जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विपक्ष मे एक भी मत है तो वे ऐसे कार्यो मे अगुवा नही वनते है। उन्होने एक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक का पद अस्वीकर कर दिया था। वे विद्वत्परिषद के अध्यक्ष तभी वने जव वे विना मतदान कराये निर्विरोध अध्यक्ष निर्वाचित किये गये।

कई लोग सोचते हैं कि समाज विद्यालयो द्वारा इतने विद्वान तैयार करती है, जवकि विद्वान शासकीय सेवा मे चले जाते हैं, इससे समाज को अपने व्यय का प्रतिफल नही मिल पाता है। आदरणीय पडित जी इस विषय मे उदार-विचार धारा के है। उनका कहना है कि समाज द्वारा प्रदत्त अल्प वेतन पर

हम लोगो ने किसी प्रकार निर्वाह कर लिया, सभी विद्वान समाज में कार्य करते तो समाज पर बोझ ही होता, वे विद्वान् अपने को तथा अपनी आगामी पीढी को भी उतना सुखी नही बना पाते। यह तो हमारे लिए गौरव की बात है कि ये विद्वान् समाज से वाहर प्रतिष्ठा और धन दोनों प्राप्त कर रहे है और यथायोग्य समाज की सेवा भी कर रहे है। समाज सेवा की तथा धार्मिक भावना इनमे वनी रहे, समाज के लिए यही वहुत वडा प्रतिफल है। अपने शिष्यो की योग्यता और सफलता से वे गदगद हो जाते हैं। वे सस्थाओ की निधि को अपनी निधि की तरह मितव्ययी बनकर, व्यय करते हैं तथा एक-एक पैसे का सही हिसाब रखते हैं।

उनका कहना है कि चम्मच दूसरो को भोजन परोसती है स्वयं उस भोजन के स्वाद से अपरिचित रहती है इसी प्रकार यदि हम दूसरो के लिए प्रवचन करते रहेगे, अपने जीवन मे संयम, चारित्र धारण नही करेंगे तो हमारी स्थिति चम्मच या दूसरो के वस्त्र धोने वाले धोबी जैसी बनी रहेगी।

पडित जी द्वारा सम्पादित विक्रान्त कौरव नाटक के तृतीय अक के पद्य क्रमाक १६ की सूक्तियाँ पंडित जी के जीवन पर चरितार्थ होती है।

निर्दोषा भणिति निसर्ग मधुरा निर्मत्सरा शेमुषी निर्दोषा चरितस्थिति ......
यत्सत्यं बहुनाऽपि भाग्य व सुना लभ्येत वा नैव वा ॥

निर्दोप स्वभाव से मधुर कथन, ईर्ष्या रहित वुद्धि, निर्दोप चरित सचमुच भाग्य से प्राप्त होते है।

ऐसे सद्गुणो को स्वयं मे चरितार्थ करने वाले अभिनन्दनीय विद्वान् के प्रति अपनी विनयाजलि अर्पित करता हुआ उनके दीर्घायु होने की भावना भाता हूँ।

डॉ. कन्छेदीलाल जैन,
एम. ए., साहित्याचार्य, पी. एच. डी.
स. सम्पादक 'जैन-सन्देश', शहडोल

श्री गणेश दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय के प्राण, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् के नि:स्वार्थ सेवक, मनीषी विद्वानो एव लेखको के परम सहायक, लाखो मनुष्यो को जैन वाङ्‌मय के सद्धर्मामृत का पान कराने वाले, हित-मित प्रियवादी, स्पष्ट वक्ता, निष्पक्ष समालोचक, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओ मे पारगत, जैन शास्त्रो मे निष्णात, सुललित छन्दोवद्ध कोमलकात पदावलियुक्त अनुपम काव्य रचना मे सिद्धहस्त, छात्रो के जीवन प्रेरणा स्त्रोत, कर्त्तव्यनिष्ठ, श्रेष्ठ आचार्य, तेजस्वी एव प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी, देश, राष्ट्र एव समाज भक्त, निर्लोलुप, अहिंसा एवं सत्य की साक्षात् मूर्ति, निखिल गुणो से विभूषित ऐसे है, हमारे श्रद्धेय गुरुजी। गुरुजी का सौजन्यपूर्ण व्यवहार और अगाध पाडित्य सामान्य-जन के हृदय पटल पर अपनी अमिट छाप छोड जाता है। विरोधी से विरोधी आपके समक्ष आते ही चरणो मे झुक जाता है। नि:स्पृह आदर्श चरित्र तथा मनमोहनी व्याख्यान शैली से उनका छात्र जगत ही क्या, सम्पूर्ण भारतीय समाज अत्यधिक प्रभावित है। आप समन्वय एवं एकता के सजग प्रहरी है।

७५ वर्ष की अवस्था मे भी आप 'स्व' के साथ साहित्यिक शोध मे संलग्न है। सरस्वती पुत्र श्रद्धेय गुरुवर्य साहित्याचार्य जी के अभिनन्दन के अवसर पर मेरी हार्दिक मगल कामना है कि वे पूर्ण स्वस्थ एव शतायु हो और सदा मार्गदर्शन करते रहे ।

डॉ. धर्मचन्द्र जैन,
प्राध्यापक प्राच्य विद्या संस्थान,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

"भीमकाय हाथी की देह कितनी ही विशाल क्यो न हो, किन्तु फिर भी वह अंकुश के वश मे रहता है। अन्धकार कितना ही गहन हो पर प्रकाश होने पर वह भागता ही है। विशालता लिए नगपति भी वज्र प्रहार सहने मे असमर्थ ही है। ऐसा क्यो ? राजपुत्र भी अपनी दूषित क्रियाओ (कुमार्गी होने) से राजकुमार कहलाने से वचित रह जाता है। ब्राह्मण वश मे जन्मा कुकर्मी मनुष्य प्रतिष्ठा का पात्र नही हो पाता है।" नीतिकार के इस कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तुत वही मानव श्रेष्ठ वदनीय होता है, जिसमे पैदा होते ही सद्लक्षण, सदाचार के शुभ लक्षण आभासित होने लगते हैं। इसीलिए कहते भी हैं "पूत के पाव पालने मे ही दिखाई देते हैं।" ऐसे मनुष्य अपने जीवन के हर क्षेत्र मे ऐसी दिव्यता धारण कर लेते है, जो जिन्दगी मे न भूख, प्यास, थकान, अभाव ही महसूस करते है, प्रत्युत सतत् देश-धर्म, समाज और प्राणीमात्र की सेवा मे ही अपने को होम कर देते है। ऐसे श्रेष्ठ नर रत्नो मे उल्लेखनीय है, हमारे पूज्य प डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य, जिन्होने ज्ञानाराधन, पढने-पढाने-सिखाने मे ही स्व को तपा दिया है।

"आलस्य हि मनुष्याणा शरीरस्थो महारिपु"

आलस्य, प्रमादता, किंकर्त्तव्यविमूढता, भाग्यवादिता, मनुष्य जीवन के महान् शत्रु माने गये हैं। लेकिन डॉ साहब इस बीमारी से कोसो दूर हैं। आज हम उनका अभिनन्दन नही, वल्कि उनकी कर्मण्यता, तत्परता, प्रत्युत्पन्नमतित्व के आदर्श गुणो को अपने जीवन मे उतारने, कर्मशील वनने की प्रेरणा ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त कर रहे है।

जहा श्रद्धेय पडित जी मे अलौकिक पुरुपार्थ है, वही उनमे गभीरता, दृढता, चिन्तनशीलता और उदारता भी है। सौजन्यपूर्ण वार्तालाप, जिनवाणी की महिमा के प्रचारक-प्रसारक श्रमजीवी डॉ. सा. ज्ञान गरिमा के अथाह-गम्भीर सागर मे डूवे रहते है। पट्खण्डागम की वाचना मे पूज्य श्री १०८ आचार्यवर्य विद्यासागर जी महाराज के ससघ मे आपने अभूतपूर्व ग्रन्थराज की व्याख्या विवेचना प्रस्तुत की। जिनवाणी के साधक स्वाध्याय प्रेमियो को गोम्मटसार जैसे अनेक ग्रन्थो को वे ज्ञानदान के रूप मे नि शुल्क वितरित करते हैं। यह उनकी विशालता और उदारता की नि सीमता तो है ही साथ ही उनका उन्नत ललाट और प्रकाण्डशीर्ष उनकी श्री सम्पन्नता तथा सरस्वती के वरद् पुत्र कहलाने का द्योतक है।

मैं २३ १.७६ को पूज्या माँ श्री (चन्द्राबाई जी आरा) की निर्माणाधीन मूर्ति का मॉडल देखने और उसे पास करने हेतु जयपुर गई। बंजी ठोलिया जी की धर्मशाला मे ठहरने गयी, किन्तु वहाँ श्री एलाचार्य विद्यानन्द जी महाराज एवं विद्वान्गण ठहरे थे। अतः महाराजश्री के दर्शन के पश्चात् अचानक श्री (स्व.) डाह्याभाई से मुलाकात हो गई। कुशल समाचारों के बाद उनसे ही पता चला कि यहाँ विद्वानो का समागम हुआ है, तभी देखा कि पूज्य पडित जी सा. कुएँ से पानी भरने हेतु आ रहे है। मै तुरन्त उनको जयजिनेश कहकर पानी खीचने हेतु आग्रह करने लगी, तब आपने कहा–यह तो कहो, कैसे आना हुआ ? कहाँ ठहरी हो ? मैंने अपने आने का कारण तो बताया पर उस कर्मठ-कर्मवीर ने मुझे पानी नही भरने दिया, यह कहकर कि-नही बाई जी, मै भर लूगा। सस्थादि का हाल-चाल पूछकर उन्होने कहा-वर्तमान मे सस्थाएँ चल तो रही है पर जैसा ध्येय-जैसा आदर्श होना चाहिए, वह अब कल्पनामात्र रह गया है। जैनधर्म-शिक्षा आज लौकिक शिक्षा के आगे मात्र औपचारिक बोझ रूप महसूस हो रही है, विद्यार्थी इससे भागते हैं। वडा चिन्तनीय विषय हो रहा है। विद्वानो की कमी खटकती है। नैतिकता, सदाचारिता वर्तमान युवा पीढी मे है ही नही। वर्तमान शिक्षा क्रम मे चरित्र गठन का कोई स्थान नही है, न महत्त्व ही दिया जाता है। गुरु शिष्य का महत्त्व अब है ही नही, हमारी सस्कृति कहा जा रही है ? सोचकर दु ख होता है। मैं शान्त-गम्भीर वनी उन श्रद्धेय पंडित जी साहब की बातें सुनने मे तल्लीन थी कि कितनी वास्तविकता उनकी वाणी, विचारो मे झलकती है। वास्तव मे आज के प्रत्येक जीवन मे हलचल और द्वन्द समाया हुआ है। चरित्र की नीव हम धर्म के माध्यम से ही मजबूत-सुदृढ़ बना सकते है। प्रत्येक मानव अपने जीवन के उत्थान की दीवाल इसी धर्म की नीव पर ही दृढ करता है। वरना वह समय के तीव्र कलुषित बहाव मे कहाँ जायेगा, कोई पता नही है। मनुष्य जीवन कर्त्तव्य, कर्मठता और धार्मिकता की छाया मे ही देश, समाज को शीतलता, स्थायी शाति प्रदान करा सकता है। अतः आत्महित और जगत्हित करना प्राणीमात्र का उद्देश्य होना चाहिए। श्रद्धेय पंडित जी के साथ वार्तालाप करते-करते मै तैयार हुई अपने अस्थायी-श्री पार्श्वनाथ भवन निवास जाने के लिए, जो कि नटौनियो के रास्ते मे है। आपसे बात / विचार करके वास्तव मे ऐसा लगा जैसा कि मैने सब कुछ पा लिया। देश-समाज-धर्म के उदात्त आदर्शो के प्रसार हेतु सुधारक नीतियों के प्रचारार्थ मेरे मानस-पटल पर तरह तरह की विचार--धाराएँ जन्म लेने लगी। सचमुच एक महान् आदर्श का सग हमारे लिए संसार-सागर मे एक ज्ञानपूर्ण देवालय के समान होता है, जो हमे सच्चे प्रेरणाप्रद पथ का ही निदेश नही देता, बल्कि ऊपर गौरवमयी शिखर पर पहुँचाने की क्षमता भी प्रदान करता है। उनका सहयोग हमारी प्रतिष्ठा और मर्यादा को बढाने मे तत्पर होता है। ऐसे आदर्शी ज्ञान के आलोक को आलोकित करते रहने की इस युग मे महती आवश्यकता है। श्रद्धेय प पन्नालाल जी इसी मिशन को कामयाबी देने मे निरन्तर जुटे हुए है। मैं उन्हे भगवती जिनवाणी का वरदपुत्र मानती हूँ और उनके निरामय शतायुष्क की मंगल कामना करती हुई उनका शतशः अभिनन्दन करती हूँ।

पं. शशिप्रभा जैन "शशाङ्क",
आरा

मार्च सन् १६११ की वासन्ती बयार की अठखेलियों से खेलते हुए पारगुवाँ जैसे दूर-दराज गाँव से हीरावत् "पन्ना" की यात्रा प्रारम्भ हुई। पिताश्री गल्लीलाल तथा मातुश्री जानकीबाई की गोदी मे पले-पुसे बालक ने समय पाकर गाँव की दीवाल लाघी और सागर की मनोरम माटी को अपनी शिक्षा-दीक्षा से सुरभित किया। अग्रेजी के मुखौटी वातावरण से कोसो दूर रहकर संस्कृत-प्राकृत जैसी प्राचीनतम भारतीय भाषओ को अपना अध्ययन-क्षेत्र बनाया और एक नये जोश और उमंग के साथ प्रात. स्मरणीय प गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा सागर और वाराणसी मे सस्थापित संस्कृत विद्यालयो को अपनी सृजनात्मक शक्ति के विकास केन्द्रो के रूप मे स्वीकार किया।

पारिवारिक उत्तरदायित्व के आग्रहपूर्ण आह्वान ने उन्हें बीस वर्ष की ही अवस्था मे अध्यापक बना दिया। फलत उन्होने गार्हस्थिक और शैक्षणिक क्षेत्र मे अपनी पूरी सक्रियता, ईमानदारी और साहस के साथ पैर जमाना प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर मे भयानक सकट आये, अनचाहे प्रसंग उपस्थित हुए, हिटलरी दरिंदो के जबडो मे फसी सस्था के अधिकारियो द्वारा अप्रिय प्रसग भी उपस्थित हुए, फिर भी पडित जी की निश्छलता, सादगी, सरलता और शातिप्रियता ने उन्हे टूटने से बचा लिया। सकट धराशायी हुए, मूल्य मे विश्वास की पुष्टि हुई, साहसिक और अडिगप्रतिरोध ने न्याय सगत वातावरण को जन्म दिया फलत वे खंडहर बन कर भी अजेय रहे, निर्भीक रहे और बन गये मील के पत्थर जिसे देखकर आगे आने वाली पीढी ने अपना मार्ग तय करने का निश्चय किया।

"बसत" आपके जीवन का अग बन गया। परस्पर समझ, सहयोग, उदारता और हित-मित-प्रिय वचनो ने आप पर चारो ओर से अथाह प्रशसा की वर्षा की। आपके विकास की प्रवृत्तियो से सगी-साथियो को गौरव का अनुभव हुआ, अध्यापनचातुर्य को छात्रवृन्द ने पूरे हृदय से सराहा और सम्मान दिया, सेवा-भागिता ने सामाजिक प्रतिष्ठा दी तथा साहित्यिक प्रतिभा ने वरिष्ठ साहित्यकार के रूप मे प्रतिष्ठित किया।

पडित जी का जीवन एक खुला दस्तावेज रहा है। उनकी कर्मठता, श्रमशीलता और स्वस्थ जीवन पद्धति ने नये-नये कीर्तिमानो का सस्पर्श किया है। तुष्टीकरण नीति से दूर रहकर जिस जुझारू मन से उन्होने अनचाहे वातावरण को सहा है, सकीर्णता की भयावह विभीषिका को झेला है, षड्यन्त्रो और गलतफहमियो को पाया है वह उनके जीवन का एक सुसगठित स्वरूप कहा जा सकता है। परिणामत विरोधी भी सहृदयी बन जाते है।

सरस्वती और लक्ष्मी का मणि-काचन सयोग आपके जीवन की एक असाधारण घटना आकी जा सकती है। आर्थिक ससाधनो को जुटाने मे उनकी साहसिकता और मेहनतकशी को कौन नही जानता? चुनौतियां से भरी भारी तगी ने उन्हे सस्कृत के अध्ययन की ओर मोडा जो जीवन के वास्तविक पाथेय को सजोने मे कामयाब हो सका। अर्थ को उन्होने सदैव साधन ही माना। साध्य बनकर वह कभी उनके पास नही फटका। जो कुछ भी मुहैया हुआ वह उनकी ईमानदारी, न्यायप्रियता तथा श्रमशीलता का परिणाम है।

आपको अध्यापन क्षेत्र मे प्रशंसनीय सेवा के लिए १६६६ मे राष्ट्रीय पुरस्कार, "जीवन्धर चम्पू" पर मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् से १६५६-६० मे मित्र पुरस्कार, तथा गद्य चिन्तामणि पर १६७१-७२ मे

दि. जैन विद्वत्परिषद् से, सम्यक्त्व चिंतामणि पर १९८४ मे जैन विद्या शोध संस्थान महावीर जी से पुरस्कृत किया गया। यह उनकी साहित्यिक सेवाओ की सार्वजनिक मान्यता का निदर्शन है। लगातार ५५ वर्षों का अध्यापन, तथा ३० वर्ष का विद्वत्परिषद का सचिव व अध्यक्ष काल उनकी सामाजिक सेवा का स्मरण दिलाता है।

हसमुख, मृदुस्वभावी पडित जी ने 'स्व' को पहिचाना है और आत्मिक जीवन के सभी पहलुओ का अध्ययन किया है। व्रती के कर्त्तव्य का दृढतापूर्वक निर्वाह करते हुए अनवरत साहित्यिक और आध्यात्मिक साधना मे अभी भी एकाकारता पूर्वक जुटे हुए हैं। उनके जीवन पथ की मंजिल यही है, चतुर्मुखी प्रगति के लिये यही सब उन्हे बसत बन गया है। उनकी जीवन-सध्या शत-बसतों से स्वस्थ व निरामय रहे, यही शुभकामना है। मेरे उन्हें शत-शत नमन।

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, डी. लिट्,
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय.

■

पूज्य ब्र० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर से, जैन-जगत भली-भाति परिचित हैं। उन्होने अनेकानेक मनीषियो के जीवन-चरित्र का सम्पादन, संकलन एवं प्रणयन किया है। जैन-जगत् द्वारा आयोजित अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन योजना, उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का ही प्रतिफल है।

अपने जीवन मे आपने जो श्रुत-सेवा की है, वह चिर-काल तक स्मरणीय रहेगी। आप साहित्याचार्य होते हुए भी धर्म, सिद्धान्त, व्याकरण एवं अनुयोगो के गहन-अध्येता है। जिन्होने भी आपके द्वारा सम्पादित ग्रन्थो का अवलोकन किया है, वे सरलता से उन्हे पहिचान सकते हैं।

सन् १९८२ मे भीण्डर मे आचार्य धर्मसागर अभिनन्दन-ग्रन्थ विमोचन समारोह में पं० पन्नालाल जी का शुभागमन हुआ था। मैं उन्हें निमन्त्रित कर अपने घर ले गया। मार्ग मे उन्होंने पूछा — आप जवाहरलाल जी के पुत्र हैं? मैंने कहा — मैं स्वय जवाहरलाल हूँ। बस, यही मेरे–उनके प्रत्यक्ष परिचय का आद्य क्षण था।

सन् १९८० मे आगम ग्रन्थों की (षट्खण्डागम) वाचना के समय मुझे सागर जाने का अवसर मिला था। विस्तृत जानकारी से ज्ञात हुआ कि यह सब गहन-अध्ययन के इच्छुक प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के श्रम का ही परिणाम है। पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य मे सम्पन्न इस वाचना मे ही पं० जी की विद्वत्ता एव सूझ-बूझ का परिचय मिला था। सागर से जबलपुर तक सम्पन्न हुई इन चार आगम वाचनाओ का श्रेय पूर्णतः पं० पन्नालाल जी को है, जिन्होने विभिन्न सिद्धान्त-मर्मज्ञ विद्वानों से सम्पर्क साधकर इस पुनीत योजना का शुभारम्भ किया था।

प्रथम आगम-वाचना परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के मंगल प्रवचन के साथ अक्षय तृतीया १९८० को प्रारम्भ हुई। जिसमे जैन-जगत के मूर्धन्य विद्वान पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त-शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त-शास्त्री, प० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त-शास्त्री,आदि अनेक विद्वान् उपस्थित थे। इस गहन वाचना के समय उपस्थित साधारण लोगो की अपार भीड की सिद्धान्त विषयक अभिरुचि सचमुच विस्मयकारी थी।

द्वितीय वाचना सन् १९८१ मे श्री दि० जैन गुरुकुल मढिया जी मे हुई। तृतीय वाचना सन् १९८२ मे पुन श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय के विशाल प्रागण मे पूज्य क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी की प्रतिमा के समक्ष हुई। वाचना-समय मे वर्णी जी का स्टेच्यू देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह स्वयं इस तत्त्व-चिन्तन गोष्ठी मे उपस्थित होकर उसकी सराहना कर रहे हो। चतुर्थ-वाचना पुनः जबलपुर मे सन् १९८४ मे सम्पन्न हुई।

इन वाचनाओ के माध्यम से मुनि-त्यागी-श्रावक-ब्रह्मचारी वर्ग को जो लाभ हुआ वह अचिन्त्य व अविस्मरणीय है।

जैन संस्कृत महाविद्यालय मे १९३१ से १९८३ तक के दीर्घकाल मे पं० पन्नालाल जी ने अनेकानेक विद्वानो को तैयार कर समाज को लाभान्वित किया है। साहित्याचार्य जी की लेखनी से लगभग ६० ग्रन्थ अनुवादित होकर मुद्रित व प्रकाशित हो चुके हैं। सस्कृत ग्रन्थो की हिन्दी टीका करके एव उस ग्रन्थ के सार को प्रस्तावना के माध्यम से लोगो को सरल एव सुबोध भाषा मे प्रदान कर प० जी ने जैन समाज का महान् उपकार किया है।

टीका एवं सम्पादन मे जहाँ तत्त्वार्थ-सार, मोक्ष-शास्त्र आदि की हिन्दी टीकाए आपकी सिद्धान्त--मर्मज्ञता की प्रकाशक हैं, वही अष्ट-पाहुड, समयसार, अध्यात्म-तरगिणी आदि की टीकाए द्रव्यानुयोग एव अध्यात्म विद्या के गहन अध्ययन की प्रतीक है। एक सिद्धान्तज्ञ मुमुक्षु कभी प्रथमानुयोग का उपेक्षी नही होता। इस दृष्टि की पोषक आदि-पुराण, उत्तर-पुराण, हरिवश-पुराण, पद्म-पुराण, जीवन्धर-चम्पू, पुरुदेव-चम्पू, धर्मशर्माभ्युदय, वर्धमान-चरित, शातिनाथ पुराण, धन्यकुमार चरित, पार्श्वनाथ चरित आदि की उत्कृष्ट हिन्दी टीकाएं, उनकी पुराण-पुरुषो के प्रति दृढ-आस्था की प्रतीक है।

वह टीकाकार ही नही सस्कृत ग्रन्थो के सफल रचनाकार भी हैं। 'रत्नत्रयी' की रचना उनके अन्तर्निहित विशाल धर्मानुराग एव सिद्धान्त प्रेम की सूचक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र का विशद विवेचन करने वाली ये रचनाए मोक्षमार्ग के पथिको को पाथेय प्रस्तुत करती हैं एव मोक्षमार्ग को आलोकित कर शिव-मन्दिर तक पहुँचाने मे सहायक सिद्ध होती हैं।

प० पन्नालाल जी ही नही, उनकी जीवन-सगिनी भी उनके अनुरूप सरल एव धार्मिक हैं। युगल-दम्पत्ति न केवल धर्म को समर्पित है, अपितु वात्सल्य के अगार भी हैं। राग की ओर से विरागता की ओर ही उनका झुकाव अधिक है। भीण्डर मे सम्पन्न आ० धर्मसागर अभिनन्दन-ग्रन्थ-विमोचन समारोह के अवसर पर लोक-कला-मण्डल की महिलाओ द्वारा कार्यक्रम के प्रारम्भ मे प्रस्तुत नृत्य को देखते

पंडित जी की सिद्धान्त सेवा :

ही पं० जी का मन उदासी से भर गया। वे अपनी पत्नी सहित रगस्थल छोडकर वाहर आ गये। यह एक घटना उनके विशुद्ध विरागी हृदय का परिचय देती है।

शास्त्र अध्येता जिज्ञासु के मन मे क्वचित् कदाचित् शंकाओ का उठना स्वाभाविक है। जव कभी किसी व्यक्ति के मन मे ऐसी शंका उत्पन्न होती हैं और वह प० जी से समाधान की आशा करता है तो पं० जी अपना सव कार्य छोडकर जिज्ञासु की शंका का समाधान करने मे विलम्व नही करते।

स्वय रचना-प्रेम होना अलग वात है और रचनाकार के सृजन मे परामर्शात्मक सहयोग देकर उसे आगे वढने का साहस प्रदान करना अलग वात है। जव कभी कोई नवीन रचनाकार अपनी रचना के शोधनार्थ आपके पास उपस्थित होता है तो आप नि:संकोच उसकी रचना को निर्दोष वनाने मे सहयोग देकर उसे कृतार्थ करते हैं।

मैंने स्वय स्वप्रणीत भावपचक, जिनोपदेश, वृहज्जिनोपदेश, करण दशक आदि पुस्तको की पाण्डुलिपियाँ आपके अवलोकनार्थ डाक से भेजी थी जो सूक्ष्मावलोकन एवं निर्देशन के साथ सुरक्षापूर्वक पं० जी ने यथाशीघ्र वापस लौटा दी। इस प्रकार आप नि स्पृह श्रुत आराधक, शका-समाधाता एव प्रणेतृ-सहयोगी मनीषी है। विगत अर्धशती से शिक्षण, प्रवचन, लेखन, प्रणेतृसाहाय्य, विविध ग्रन्थ सम्पादन, टीका आदि के द्वारा की गई आपकी सिद्धान्त-सेवा चिर-स्मरणीय रहेगी।

मैं इस जैन-सिद्धान्त-सेवी, ज्ञान-चरित्र के धनी विद्वान् के प्रति वहुश. विनीत वदनाञ्जलि अर्पित करता हुआ उनके चिर जीवन की कामना करता हूँ।

पं० जवाहरलाल मोतीलाल सिद्धान्त-शास्त्री,
भीण्डर, (राजस्थान)

◘

आर्षमार्ग के प्रकृष्ट उपदेशक :

श्रद्धेय प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य 'सम्यक दर्शन-ज्ञान-चारित्र' के प्रशस्त अनुगामी और उपदेष्टा हैं। उनकी वाणी मे आगम का सारतत्त्व रोचक शैली मे प्रस्फुटित होता है। उनका समग्र चिन्तन, लेखन और कृतित्व आर्ष मार्ग से अनुप्राणित है। मैं कोटिश नमन कर उनके सुदीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

सोहनलाल सेठी, डीमापुर (नागालैंड),
मंत्री—अ० भा० श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्
सोनागिर

सम्पूर्ण भारतवर्ष मे, धर्म एवं संस्कृत साहित्य के क्षेत्र मे, साहित्याचार्य जी की गौरव गाथा ध्वजा के समान फहरा रही है। आपने मात्र परोपदेश एवं साहित्य सृजन ही नही किया है वल्कि इस सृजन धर्मिता से अपने जन्म को धन्य किया है।

आपने जैन धर्म के महान् सिद्धान्त स्याद्वाद का निरूपण तो किया ही है, उसके माध्यम से जैन-धर्म का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से स्याद्वाद शिक्षण परिषद् की स्थापना मे भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। पूज्य श्री १०५ क्षु० सन्मति सागर "ज्ञानानन्द" (सम्प्रति मुनिवर) जी महाराज ने स्याद्वाद शिक्षण परिषद् की स्थापना आपके कर-कमलो से करायी है।

सन् १९७६ मे सागर नगर मे, वर्षायोग के अनन्तर पूज्य श्री १०८ मुनि आर्यनन्दि महाराज के सान्निध्य मे श्री गौरावाई दिगम्बर जैन मन्दिर कटरा के प्रागण मे आयोजित विशाल जन-समारोह के मध्य विद्वत्-शिरोमणि डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने ज्ञान-दीप प्रज्ज्वलित कर स्याद्वाद शिक्षण परिषद् की स्थापना की घोषणा की थी। पूज्य श्री क्षु० सन्मति सागर जी ने युवावर्ग मे नैतिक सस्कार जागृत करने एवं जगह-जगह चल रहे एकान्तवादी विवादो के समाधान हेतु तथा जन-सामान्य मे सम्यग्ज्ञान की किरणो के प्रसारणार्थ ही इस सस्था की स्थापना करवायी थी।

इस सस्था के उद्देश्यानुसार ही मैंने आदरणीय गुरुवर डॉ० सा० से शास्त्री पर्यन्त अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त किया। पं० जी की विद्वत्ता से आकर्षित होकर क्षु० गुणभद्र जी जयपुर से पदयात्रा कर सागर पहुँचे व उन्होने तीन वर्ष तक लगातार सागर में रहकर ही साहित्याचार्य जी से अध्ययन किया। स्याद्वाद शिक्षण परिषद् की सेवा हेतु समर्पित ब्र० जिनेश, ब्र० राकेश, तथा ब्र० कल्पना आदि विद्वान् आपके ही शिष्य हैं। पं० जी परिषद् के महनीय-अधिष्ठाता पद पर भी आसीन हैं।

सन् १९७८ मे स्याद्वाद शिक्षण परिषद् द्वारा संचालित श्री नगानंग विद्यालय सोनागिर की स्थापना भी प० जी के परामर्श से ही की गयी थी। १९७९ मे श्री सिद्धक्षेत्र सोनागिर पर आयोजित शिक्षण शिविर में स्याद्वाद परीक्षा बोर्ड की स्थापना भी प. जी के कर-कमलो द्वारा ही की गयी थी। स्याद्वाद शोध-सस्थान के सचालन मे भी प० जी का भी अपूर्व योगदान है। परिषद् की मुख-पत्रिका 'स्याद्वाद-ज्ञान गगा' की धारा को प्रवाहित कराने मे प० जी ही प्रेरणा एव परामर्श-दाता रहे हैं।

इस प्रकार प० जी न केवल साहित्य के सजग सृष्टा हैं अपितु समाज-सेवा और जन-जागृति के भी जनक हैं। उनकी सभी सेवाए चिर-स्मरणीय एवं गौरव-पूर्ण हैं। मैं उनके प्रबुद्ध व्यक्तित्व की चिर-कामना करती हूँ।

—ब्र० सुनीता शास्त्री,
सोनागिर

यथार्थतः साधुवाद के पात्र :

पडित जी यथार्थतः साधुवाद के पात्र है। उनकी सरलता, सहजता और सतत् लगन सराहनीय है। विद्वत्ता के जिस शिखर पर वे आसीन है, यथार्थ-लोक मे वही अभिनन्दनीय है। जिस गौरवपूर्ण ढंग से उन्होने अपने जीवन को शिक्षा और ज्ञान के वितरण हेतु समर्पित किया है, वह किंचित् ही दृष्टव्य होता है। मुझे, सागर और विदिशा मे उनकी निकटता का अनुभव अनेको वार हुआ। उनकी भद्रता और व्यक्तित्व की छाप हमेशा नवीन रूप मे लगी। जब वृक्ष फलो से लद जाता है तो नीचे अपने बीज की ओर/जड की ओर झुकता है, यही स्थिति आदरणीय पडित जी की है। वे आज भी निरन्तर ज्ञान-साधना मे निमग्न रहते हैं और ज्ञान-वितरण हेतु प्रयत्नशील रहते है। शरीर तो वास्तव मे एक उपकरण है, वह वृद्ध हो सकता है किन्तु मूल वस्तु "आत्मा" तो कभी बूढा होना जानती ही नही, वह तो अपने आप मे परिपूर्ण है। वही सत्तावान् है और इसी के आश्रय मे पडित जी की दृढ श्रद्धा है। इसीलिए वह बीज आज बाह्य मे उत्तरोत्तर प्रभावी है। श्री जिनेन्द्र देव उनकी इस श्रद्धा मे दृढता दें। उनके लोक जीवन का स्व-पर-कल्याण मे जैसा उपयोग हुआ है, वह चरमोत्कर्ष पर पहुँचे, यही यथार्थतः उनके प्रति मेरी भावाजलि है।

श्रीमंत सेठ राजेन्द्रकुमार जैन,
एम. ए., एल-एल. बी., विदिशा.

■

विनयाञ्जलि :

विद्वत् समाज के मूर्धन्य विद्वान् पं० (डॉ०) पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, जैन-समाज के जाने-माने विद्वान् तो हैं ही, जैनेतर समाज मे भी आप विश्रुत विद्वानो की कोटि मे उपाधि प्राप्त मनीषी है।

आपने सागर जैन विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त कर इसी विद्यालय मे अध्यापन कार्य कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया। आपकी पाठन शैली मनोरम और प्रखर है। आपकी प्रवचन कला इतनी मनमोहक और लुभावनी है कि जनता मे आपके प्रवचनो का समाचार पहुँचते ही जन-समुदाय प्रवचन सुनने उमड पडता है। चूँकि प० जी मे यह विशेषता है कि कठिन से कठिन विषय को भी वे अत्यन्त सरल शैली मे रोचक दृष्टातो द्वारा समझाते है, इसीलिये जन-साधारण उनके प्रवचन सुनने आकर्षित होता है। आपके हंसमुख सौम्य चेहरे से मृदुता लिये मधुर भाषण की गरिमा प्रस्फुटित होती है।

पं० जी मे ज्ञान की अगाधता ही नही है, बल्कि वह ज्ञान, चरित्र से मडित है। ज्ञानी होना महत्त्वपूर्ण नही है, ज्ञान-वान होकर विवेकशील, चरित्रवान, होना ही ज्ञान का फल है। आप महान् ज्ञानी है साथ ही चरित्रशील व्रती हैं, प्रतिमाधारी हैं।

प० जी अपने नियमो के पक्के हैं, अस्वस्थ आदि होने पर भी आप नियमो के पालन मे शिथिलता नही बरतते, अपितु और अधिक सतर्कता से अपनी क्रियाएं पूर्ण करते है। धन्य है यह स्वानुभूति जो आत्मानुभूति मे डुबाये रहती है। पूज्य वर्णी जी का प्रभाव आप पर है। पूज्य वर्णी जी के प्रभाव से ही साहित्याचार्य जी मे ज्ञान के साथ-साथ चरित्र का भी समुज्ज्वल प्रकाश है। प० जी सूर्य प्रकाशवत् प्रकाशित होते रहे, यही मेरी विनयाजलि है।

पं० बालचन्द्र जैन, शास्त्री काव्यतीर्थ,
नवापारा - राजिम.

मार्ग-प्रदर्शक पण्डित जी :

संयम की दिशा मे प्रातः स्मरणीय अध्यात्मयोगी श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी, विद्यार्जन की दिशा मे स्व. श्री प. शीलचन्द्र जी न्यायतीर्थ एवं स्व. श्री पं. प्रभुदयाल जी शास्त्री साढूमल के अतिरिक्त जैन दर्शन के महान् विद्वानों मे जो वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध एवं अनुभववृद्ध हैं, उन्हे मैं अपने जीवन मे गुरु मानता हूँ। उन्ही मे से एक सरस्वती के साधक व आराधक प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर है। धन्य है, पिता श्री गल्लीलाल व मातुश्री जानकीबाई, जिन्हें इस महान् विभूति को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। धन्य है पारगुवां ग्राम (सागर जिला) की भूमि, जहाँ के रज-कण मे इस होनहार के बचपन ने अठखेलियाँ खेली।

प. पन्नालाल जी ने प्रात स्मरणीय, वात्सल्य मूर्ति पूज्य श्री वर्णी जी का शुभाशीष प्राप्त कर सागर व वाराणसी मे जैन-दर्शन एव साहित्य का सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद सन् १९३१ से श्री गणेश दि जैन सस्कृत महाविद्यालय मे साहित्याध्यापक एवं प्रधानाचार्य का दायित्व निर्वहण करते हुए जिनवाणी के प्रसार व प्रचार का अनुपम कार्य किया। आप कुशल लेखक, प्रभावी वक्ता एव चरित्र की महान् त्रिवेणी के सगम हैं।

आपको मध्यप्रदेश शासन, राष्ट्रपति जी, विद्वत्परिषद आदि अनेक संस्थाओ ने सम्मानित किया है। सागर जैन समाज ने आपको "विद्या वारिधि" की मानद उपाधि से विभूषित किया है। अपने नियमित एवं व्यस्त कार्यक्रमो मे भी आपने जिन वाणी की जैसी सेवा की है, वह आपकी धर्म वत्सलता व उच्चतम विद्वत्ता की सूचक है। आप प्राकृत, संस्कृत एव हिन्दी ग्रन्थो के कुशल टीकाकार हैं। आपने अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थो की रचना भी की है।

आप दीर्घायु रहकर मार्ग-दर्शन देते रहे ऐसी हार्दिक भावना के साथ आपके प्रति भावाजलि समर्पित कर अपने को धन्य मानता हूँ।

(वाणीभूषण, प्रतिष्ठारत्न संहितासूरि,
धर्मरत्न, प्रतिष्ठातिलक)
पं. गुलाबचन्द्र जैन 'पुष्प',
टीकमगढ़.

◎

एक आदर्श पुरुष:

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्रद्धेय डॉ० (प०) पन्नालाल जी को अखिल भारतीय स्तर पर सम्मानित कर उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मैं अपने जीवन को सतुलित एव स्वच्छ रख पाने के लिए प० जी जैसे ही पुरुषो को आदर्श के रूप मे रखता हूँ, उन्हे शत-शत नमन।

बालचन्द छावड़ा, गोहाटी.

प्रसिद्ध कवि, साहित्यकार एव अनुवादक श्रीमान् पन्नालाल जी "बसन्त" साहित्याचार्य से प्रथम परिचय मेरे पूज्य काका जी पं. रविचन्द्र जी 'शशि' दमोह के माध्यम से जुलाई १९४९ मे हुआ था। उस समय मैं कक्षा चौथी की परीक्षा उत्तीर्ण करके श्री गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर मे प्रवेश प्राप्त करने आया था।

उन्नत ललाट, गम्भीर एवं भरा हुआ चेहरा, गोल-मटोल गौरवर्ण शरीर, मध्यम औसत ऊँचाई, कम बोलने की आदत एव अध्ययनशील व्यक्ति का नाम ही पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य है।

मैंने उक्त विद्यालय मे सन् १९४९ से १९५५ तक छात्रावासी छात्र के रूप मे तथा १९५८ तक विद्यालयीन छात्र के रूप मे अध्ययन किया है। पडित जी ने मुझे चन्द्रालोक, धर्मशर्माभ्युदय जीवन्धर-चम्पू तथा मध्य सिद्धान्त-कौमुदी को पढाया है। प्रतिदिन पढाये हुए विषय को दूसरे दिन सुनना, न सुनाने वाले छात्रो को छोटी सी बास की डण्डी से दण्डित करना, पडित जी की अध्यापन शैली थी। पढना-पढाना, लिखना एवं प्रवचन करना पंडित जी का नित्य कर्त्तव्य रहा है। मैंने देखा है कि पडित जी प्रात. ४.३० बजे महिलाश्रम मे धर्माध्यापन हेतु आते थे। प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक कटरा जैन मदिर मे प्रवचन १०.३० से ४ ३० बजे तक विद्यालय मे अध्यापन एवं लेखन कार्य, सायं ६ बजे से ७ ३० बजे तक श्री बालचन्द्र जी मलैया को पढाना, रात्रि मे पुन मंदिर जी मे प्रवचन करना, उपरान्त रात्रि मे ११ बजे तक लेखन कार्य करना नित्य कार्य था। उक्त नित्य चर्या ने हम सरीखे आलसी छात्रो को मूक रूप मे कर्मठता का पाठ पढाया है।

पडित जी ने ईमानदारी से सामाजिक एव धार्मिक सभी प्रकार के कार्यो मे सहयोग देते हुए, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का मत्रित्व पद सम्भालते हुए शोध-प्रबन्ध लिखकर सागर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी की महत्त्वपूर्ण उपाधि भी प्राप्त की। वृद्धावस्था मे भी पूज्य १०८ श्री आचार्य विद्यासागर जी की प्रेरणा से, अस्वस्थ होने पर भी, वाचनाओ मे नवयुवको की भाति कार्य करते रहते हैं।

वर्तमान मे विद्यालय कार्य से मुक्त होने पर भी उनके दैनिक कार्य यत्रवत् अध्ययन–अध्यापन प्रवचन एव लेखन मे चलते है जो मूक रूप मे कहते है कि "कर्मठता की राह पर चलकर ही उन्नति होगी।"

अन्त में, मैं पूज्य पंडित जी को नमन करता हुआ उनके शतायुष्क की कामना करता हूँ।

पं. नेमिचन्द्र जैन, एम. ए. [द्वय], साहित्याचार्य,
प्राचार्य
श्री पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल उ. मा. विद्यालय,
खुरई [सागर] म. प्र.

भारत-वर्ष मे जैन वाङ्मय के ज्ञाता, उच्चकोटि के विद्वान् गिने चुने हैं, उनमे पंडित जी का गौरवपूर्ण स्थान है। आपने जैन-साहित्य की विविध विधाओ पर कुशलता से लेखनी चलाई है। आप सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ के अधिकारी विद्वान् है। आपने जैन आगम के सस्कृत-प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ के अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थो का सरल राष्ट्र-भाषा मे अनुवाद किया है। आप अच्छे टीकाकार, संपादक, विचारक, चिन्तक, आदर्श शिक्षक एव कुशल लेखक/कवि हैं।

पंडित जी के जीवन दृश्य का प्रारम्भ पारगुवा ग्राम से हुआ। आपका जन्म ५ मार्च १९११ को इस ग्राम के साधारण परिवार मे हुआ था। आपके पिता का नाम श्री गल्लीलाल (गुलावचन्द्र जी) एव माता का नाम श्रीमती जानकीवाई था। पडित जी की वाल्यकाल की शिक्षा-दीक्षा किसी पश्चिमी सभ्यता पोषक सस्था से नही वरन् श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर से प्रारंभ हुई थी।

किसे ज्ञात था कि पारगु वा के साधारण परिवार का यह वालक एक दिन अखिल भारतीय स्तर का प्रतिष्ठित विद्वान् होगा। पर सच है कि "गूदड़ी मे ही लाल मिलते हैं।"

आपने सागर व वनारस मे अपना अध्ययन पूर्ण कर सिद्धान्त शास्त्री, काव्य-तीर्थ, साहित्याचार्य जैसी उत्कृष्ट उपाधियाँ अर्जित की। विद्याकाल से ही संत प्रवर पूज्य वर्णी जी के संरक्षकत्व के कारण पंडित जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा निखरती ही गई। वर्णी जी की छत्र-छाया के कारण ही जहाँ आपने उत्कृष्ट अध्यात्म विद्या प्राप्त की वही चरित्र-निधि को भी पल्लवित किया और इसीलिए आज पडित जी के व्यक्तित्व मे ज्ञान व चरित्र का मणि-काचन सयोग व्याप्त है।

पूज्य वर्णी जी की प्रेरणा से ही आप १९३१ ई० से श्री गणेश दि जैन संस्कृत महाविद्यालय से सम्बद्ध हुए और सच्चे सरस्वती साधक वनकर समाज मे प्रतिष्ठित हुए, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण समय सरस्वती की आराधना और साहित्य की साधना मे लगाया। पंडित जी ने अपनी प्रतिभा को बहुमुखी आयाम दिया है। सफल टीकाकार, मौलिक ग्रन्थकार, कवि एव सफल सम्पादक व्यक्तित्व ने, पडित जी को राष्ट्रीय-स्तर पर सम्मान प्रदान किया है।

सामाजिक व राष्ट्रीय सम्मानो के साथ ही पडित जी ने ५२ वर्ष तक अनवरत रूपेण सागर के सस्कृत महाविद्यालय की सेवा करके पूज्य वर्णी जी द्वारा रोपित वृक्ष को पल्लवित एव पुष्पित किया है और वर्णी जी के स्वप्न को साकार किया। सागर महाविद्यालय (श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय) मे पडित जी का कार्यकाल ऐतिहासिक माना जा सकता है। पडित जी के कार्यकाल मे महाविद्यालय सामाजिक, सास्कृतिक, साहित्यिक व शैक्षणिक गतिविधियो का अनूठा केन्द्र बन गया था। उसी समय युवाचार्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज का सागर आगमन हुआ व वे वर्णी भवन मे ही रुके। तव जैन-समाज के पुण्योदय एव पडित जी के सद्प्रयत्नो से षट्खण्डागम वाचना की योजना को आचार्यश्री ने सम्मति प्रदान की। और महाविद्यालय के स्थापना दिवस, अक्षय तृतीया के दिन १७ अप्रैल १९८० को प्रात. आचार्यश्री के मगलाचरण-पाठ के साथ ही वाचना का गभीर आयोजन आरम्भ हुआ। इस वाचना मे देश के कोने-कोने से जैन आगम के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् सम्मिलित हुए। इनमे पं फूलचन्द्र जी, प कैलाशचन्द्र जी, प. बालचन्द्र जी, प जगन्मोहनलाल जी प्रमुख थे। सयोजन का गुरुतर दायित्व पडित पन्नालाल जी निबाह रहे थे। वाचना पूज्य वर्णी जी की अष्ट-धातु निर्मित प्रतिमा के समक्ष सम्पन्न होती

थी। एक ओर आचार्यश्री ससघ उच्चासन पर विराजते, दूसरी ओर पंडित-वर्ग। नगर व बाहर के आगन्तुक श्रावक-श्राविकाएँ, एक ओर बैठते। सामने ब्राह्मी आश्रम की छोटी-छोटी बालिकाएँ बैठती थी। यह ऐसा मनोरम दृश्य था कि लगता था जैसे चतुर्थकाल के किसी तीर्थंकर का समवशरण हो।

इसी क्रम मे द्वितीय वाचना १९८१ की ग्रीष्म मे पिसनहारी मढिया जबलपुर मे हुई। तृतीय वाचना पुन सागर मे सन् १९८२ मे मोराजी भवन मे ही सम्पन्न हुई। चतुर्थ-वाचना १९८४ मे पुनः मढिया जी जवलपुर मे हुई और पंचम वाचना खुरई मे सम्पन्न हुई। इन सभी वाचनाओ मे पडित जी आरम्भ से अन्त तक उपस्थित रहकर अपना सक्रिय योग देते रहे। खुरई वाचना के समय तो अपनी अस्वस्थता के बावजूद पडित जी सा. का योगदान सगौरव उल्लेखनीय है।

पडित जी के व्यक्तिगत गुणो पर जो भी लिखा जावेगा, कम ही होगा। आप सरल, हसमुख प्रकृति के व्यक्ति है। "Simple Living and high thinking" की उक्ति के चरितार्थकर्त्ता है।

पडित जी श्रेष्ठ विद्वान् ही नही, श्रेष्ठ साहित्यकार भी है। आपने जैन साहित्य को, टीकाकार या अनुवादक के रूप मे तथा मौलिक ग्रन्थकार के रूप मे, बहुत समृद्ध किया है। दोनो रूपो मे आपकी भाषा सरल, सुबोध व विषयानुसार रही है। आपने अब तक लगभग साठ ग्रथ अनूदित व सम्पादित किये हैं। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी इसी मे सम्मिलित है। सभी रचनाओ मे कला एवं भाव-पक्ष मे अच्छा सामजस्य है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्न-करण्ड श्रावकाचार मे सम्यग्ज्ञान में भेदो के चार अनुयोगो को गर्भित किया है। उसी परम्परा के अनुसार पडित जी सा. ने चारों अनुयोगो के ग्रन्थों पर सम्पादक, अनुवादक एवं मौलिक ग्रथकार के रूप मे विशद प्रकाश डाला है। चारो अनुयोगो के ग्रंथो का सारभूत उद्देश्य "वीतराग-मार्ग" का प्रकटीकरण है। इसीलिए आपने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ प्रथमानुयोग ग्रथ की टीका से किया है।

वर्तमान युग मे पुराण साहित्य पर आपने जितना कार्य किया है/लिखन किया है, इससे आप इस क्षेत्र मे बीसवी शती के समस्त विद्वानों मे सर्व प्रमुख स्थान रखते है।

पडित जी सामाजिक सेवा मे भी अग्रणी हैं। आप निरन्तर २५ वर्षो तक अ भा. दि. जैन विद्वत्परिषद के मत्री और चार वर्ष तक अध्यक्ष रहे हैं। इस परिषद् द्वारा आपने सम्पूर्ण भारत के जैन विद्वानों को संगठित किया है। विद्वत्परिषद् द्वारा गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ "श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रथ एव भारतीय साहित्य के विकास मे जैन वाड्मय का अवदान (प्रथम व द्वितीय भाग) जैसे महत्त्वपूर्ण सग्रहणीय व उपयोगी ग्रन्थो का प्रकाशन भी परोक्षत. आपकी ही देन है।

इस तरह पडित जी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एव कृतित्व मे समाज-धर्म-साहित्य और सेवा समाहित है। पंडित जी के ज्ञान, गुण व सेवा व्रत से समाज दीर्घकाल तक लाभान्वित होता रहे। वे अपने व्यक्तित्व/कृतित्व की नित नयी प्रभा से समाज, देश, धर्म को सदैव आलोकित करते रहे ऐसी मेरी भावना है।

ध्यानदास जैन,
एम. ए., एम. जे. पी–एच. साहित्यरत्न
सागर

परम पूजनीय साहित्याचार्य जी :

जैन धर्म, साहित्य व दर्शन के मर्मज्ञ, संस्कृत के अधिकारी विद्वान्, मनीषी, चिन्तक, लेखक, टीकाकार, अनुवादक, सम्पादक, अध्यापक, श्रेष्ठ प्रवचनकार/वक्ता के समस्त श्रेष्ठ गुणो के सम्मिलन से जिस व्यक्तित्व का सृजन हुआ है, वह है—डॉ. प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य। हमको इस बात का गौरव भी है कि सागर नगर की महती प्रसिद्धि का एक कारण पं. जी हैं।

जैन-धर्म की पताका चहुदिश फहराने वाले वर्तमान युग के इस 'गणधर' के अभिनन्दन में मैं अपने को सहभागी करता हुआ अपने विनम्र प्रणाम ऐसे परम पूज्य मनीषी के चरणो मे अर्पित करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि पूज्य प. जी का सान्निध्य, सरक्षण हमे चिर-काल तक प्राप्त होता रहे।

—विमल कुमार जैन,
युवा समन्वयक एवं
संयुक्त सचिव, म. प्र. युवक कांग्रेस (इ),
गोपालगंज, सागर

◻

समन्वयवादी पं. जी

जैन समाज के विद्वत्रत्न प. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य से अब कोई अपरिचित नही रह गया है। भारतवर्ष की सभी धार्मिक गतिविधियो से प्राय किसी न किसी रूप मे प. जी का सम्बन्ध अवश्य रहा है।

मुझे आपके द्वारा सम्पादित आदि पुराण, मोक्षशास्त्र, तत्त्वार्थसार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, अष्ट पाहुड जैसे विशालकाय ग्रथो के अवलोकन का अवसर प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा सस्कृत पद्यो में गुम्फित सम्यक्त्व चिन्तामणि भी आद्योपान्त पढी है। सभी ग्रंथो मे पडितजी की विद्वत्ता और गम्भीर आगमज्ञान के दर्शन होते हैं। समयसार, लघुतत्त्वस्फोट तथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ग्रन्थो मे आपकी लिखी प्रस्तावनाए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो आगम का अध्ययन करने वालो को चिन्तन की सामग्री प्रदान करती हैं।

पंडित जी को व्यवहार का पक्षधर और निश्चय का विरोधी माना जाता रहा है, जबकि ऐसा है नहीं। मैंने उन्हें कभी भी निश्चय का विरोध करते नहीं सुना। उनके लिये आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य नेमिचन्द्र, आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जिनसेन समान रूप से प्रिय हैं। जिससे प्रमाणित होता है उन्हें जिनवाणी के चारो ही अनुयोग और उनमे प्रतिपादित आत्मतत्त्व और वीतरागता समान रूप से प्रिय है।

उन्होने अपने जिनवाणी विषयक विवेचनात्मक व रचनात्मक कार्यों के द्वारा सदा ही जैन धर्म के स्वाधीनता, निरपेक्षता, सर्वज्ञता और वीतरागता के सिद्धातो का पोषण किया है। निमित्त उपादान, निश्चय-व्यवहार, कर्त्ता-कर्म और अनेकान्त का सदा आगम के परिप्रेक्ष्य मे ही प्रतिपादन किया है।

पं. जी का जीवन जिनवाणी की सेवा मे लीन है और हमेशा, धर्म और धर्मात्माओं के प्रति वात्सल्यपूर्ण रहा है। भावना है कि उनको दीर्घकाल तक जिनवाणी का संयोग बना रहे।

—मन्नूलाल जैन, एम. काम.,
आयकर सलाहकार,
अध्यक्ष
मध्यक्षेत्रीय दि. जैन मुमुक्षु मंडल,
सागर

मैंने कभी जैन शिक्षा संस्थाओ मे अध्ययन नही किया और न इस दृष्टि से डॉ. पन्नालाल जी मेरे साक्षात् आचार्य ही है। किन्तु पैतृक संस्कारो और परिवेशगत परिस्थितियो ने (राजनीति शास्त्र का प्रोफेसर होने पर भी) मुझे जैन–विद्याओ का अध्येता अवश्य बना दिया। ज्ञान की मेरी इस विधा को समृद्ध कराने मे आदर. डॉ. भागचन्द्र जी 'भागेन्दु' का योग महत्त्वपूर्ण है। उनके माध्यम से जैनधर्म के विविध ग्रन्थो, विद्वानो और विविध प्रवृत्तियो से सातिशय सम्पर्कित हुआ। इस शृंखला मे कई बार माननीय डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य जी से भी मिलने का मौका मिला। उनकी सरलता, सादगी, मधुरता और सूक्ष्म विश्लेषणी शैली ने मुझे बहुत प्रभावित किया। फलत मेरी स्वाध्याय की प्रवृत्ति दृढतर हुई।

कुछ वर्ष पूर्व हस्तिनापुर के त्रिलोक शोध संस्थान मे एक प्रशिक्षण शिविर आयोजित था। इसमे मैं भी सम्मिलित हुआ। इस शिविर के कुलपति माननीय प. पन्नालाल जी सा० सागर थे। इस दश दिवसीय प्रशिक्षण शिविर मे मैंने प जी के व्यक्ति, प्रवचनकार, रचनाकार, अध्यापक और प्रशासक को एक साथ बहुत निकट से देखा–परखा। उनकी सुव्यवस्थित दिनचर्या, पैनी दृष्टि, मर्म स्पर्शी विवेचना और गभीर ज्ञानगगा ने मुझे बहुत–बहुत प्रभावित किया। इस शिविर मे पं. जी के व्यक्ति में प्राचीन भारत के आर्ष कुलपति और प्रकृष्ट आचार्य के समन्वित रूप को देखा है।

हस्तिनापुर के शिविर के अतिरिक्त परमपूज्य आचार्य प्रवर श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के सान्निध्य मे निष्पन्न 'षट्खंडागम–वाचना' के विविध नगरो–क्षेत्रो के शिविरो मे माननीय पं. जी के कुलपतित्व को देखकर उनके प्रति मेरा हृदय श्रृद्धाभिभूत है।

उनके अखिल भारतीय अभिनन्दन की योजना प्रतीक रूप मे सपूर्ण आर्षमार्ग की अभिवन्दना है। अत. अभिनन्दन की इस वेला मे मैं अपनी आदरांजलि पडित जी के दिव्य कुलपति को समर्पित करता हुआ कामना करता हूँ कि वे युग–युग जियें, चिरजीवी हो।

डॉ. प्रेमचन्द्र जैन,
अध्यक्ष—राजनीतिशास्त्र विभाग,
शासकीय महाविद्यालय, गंज बासौदा

प्रात कालीन अपने अनूठे सौन्दर्य,अरुणिम आभा और मद्धिम तेज–प्रकाश को प्रसारतीं सूर्य रश्मियों के सहचार से अनन्त व असीम आकाश मे प्राची का जो भी अपना स्थान और महत्त्व है, ठीक वही स्थान और महत्त्व विश्वव्यापी मानव समूह मे साहित्यकार का होता है क्योकि सच्चा साहित्यकार जागतिक या आभ्युदयिक सौन्दर्य बोध को अर्थात् सत्य को अपनी नई नवेली कल्पनाओ के कलेवर मे संजोकर अपने श्रोता या पाठक के मन मे नाना रस रश्मियो का सचार कर देता है । वस्तुत. उन्हे राग या विराग जन्य आनद की अनुभूति करा देता है ।

जिस प्रकार प्राची की क्रोड को अपनी क्रीडा का आदिस्थल बनाकर प्रकाशपुञ्ज सूर्य अपने क्रियान्वयन से अन्धस्तम मोहनिद्रा मे सुषुप्त प्राणियो की चेतना को जगा देता है। तथा अपने वृद्धिगत प्रभाव से उनमे स्फूर्ति का सचार कर सभी को पुरुषार्थ साध्य जीवन जीने की प्रेरणा देता है, उसी प्रकार सभ्य समाज को अपने जीवन का व्यवहारस्थल बनाकर साहित्यकार भी अपने विचारो और व्यक्तित्व से वासना-वासित किन्तु पीड़ासतप्त जन जीवन को मोह–ममता की गहल से उबार कर उन्हें सत्योन्मुख पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है, दु खमुक्ति का रास्ता दिखाकर आनन्दानुभूति के लिये प्रेरित करता है । यदि अशुमाली अपने सार्वभौमिक प्रभाव से जगज्जनजीवन का नियामक है तो साहित्यकार भी प्राणीमात्र की यथार्थ दशा व दिशा का बोध कराने वाला प्रहरी होने से निखिल भूमण्डलीय मानव समुदाय के विचारो का नियामक होता है । वस्तुत साहित्यकार सृष्टि मे प्रवहमान समस्त भौतिक व आध्यात्मिक गतिविधियो का निर्देशक होने से महानतम होता है, शायद इसीलिये भारतीय वाड्मय मे कवि–साहित्यकार को विधाता से बढकर बताया है।

मैं पडित प्रवर डा पन्नालाल जी साहित्याचार्य को एक साहित्यकार के रूप मे अभिनन्दनीय मानता हूँ, क्योकि उन्होने अपने जीवन को आभ्युदयिक साहित्य की सेवा मे समर्पित किया है । उनकी साहित्य-साधना से जो भी साहित्य आविर्भूत हुआ है वह सारी मानवता के लिये सुख और शान्ति का सदेश देता है। उनके साहित्य मे सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह, जो आज विश्व मे शान्ति सस्थापना के मानक मानदण्ड हैं, की प्रेरणाप्रद अभिव्यक्ति हुई है । वस्तुत. उनकी लेखनी का उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है। जैन वाड्मय के उद्धार के लिये तो मानो उनने कमर ही कस ली है क्योकि उनके उद्देश्य की सम्पूर्ति मे वह अधिक सटीक और सार्थक सिद्ध हुआ है । अपने कर्तृव्य से वे समूची जैन समाज के नियामक और प्रहरी दोनो ही बन गये हैं।भारत सरकार और भारत की शान्तिप्रिय समाज ने उनके साहित्यिक अवदान व समाज सेवा का मूल्याकन कर उन्हे कई बार सम्मानित किया है । अपने व्यक्तित्व के गौरव से आज वे जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् और साहित्य मनीषी बन गये है । सारे भारत मे आज भी उनकी निर्विवाद प्रतिष्ठा है ।

शिक्षार्थी, शिक्षक, साधक और साहित्यकार के रूप मे पंडित जी का जीवन स्वयं मे एक सागर बन गया है, क्योकि अपने जीवन को उन्होने शिक्षार्थी के रूप मे लगन, परिश्रम और विनम्रता, शिक्षक के रूप मे कर्त्तव्य, अनुशासन और मृदुता, साधक के रूप मे सहजता, सजगता और निश्छलता तथा साहित्यकार के रूप मे युक्ति, आगम और अनुभव की त्रिवेणी का सगम बना लिया है। जब कभी भी मैं पडितजी से मिलता हूँ तो उनके जीवन के उक्त चारो ही रूप उनके जीवन सागर मे हिलोरें लगाते दिख जाते हैं । वस्तुतः आज भी वे शिक्षार्थी है क्योकि परमागम के रहस्य को हृदयङ्गम करने हेतु अध्ययन मे रत रहते हैं । अध्ययन-मनन से जो भी पाते हैं उसे दूसरो को सिखाते है अत शिक्षक है । वृद्ध होने पर भी सद्गृहस्थोचित यम-

नियम–स्वाध्याय–सामायिक आदि व्रतों का अनुपालन करते हैं अत साधक हैं। कभी टीका, कभी अनुवाद-सम्पादन व कभी मौलिक चिन्तन से आलोढित ग्रन्थों के प्रणयन मे अपनी लेखनी को गतिशील रखते हैं, अतः साहित्यकार भी है।

और भी कई रूप उनके जीवन मे देखे जा सकते है, क्योकि सागर सदा अमर्यादित होता है। उनके गभीर और अथाह व्यक्तित्व को मापने के लिये हमारे पास है ही क्या? जो कुछ भी है उसके सहारे कामना है कि मैं भी पंडित जी के जीवन सागर से कुछ रत्न प्राप्त कर पाऊँ अर्थात् परमागम की साधना मे ही अपनी बुद्धि नियोजित करने की प्रेरणा उनके व्यक्तित्व से पा जाऊँ। यदि ऐसा हुआ तो यही पडित जी का सार्थक अभिनन्दन होगा। वैसे पडित जी सा मेरे पितृकुलपूज्यपाद हैं,बाबाजी है अतः इस हैसियत से उनका स्नेह और आशीर्वाद तो पाता ही रहा हूँ अब साहित्य मनीषी की हैसियत से उनका स्नेह व आशीर्वाद पाने की तमन्ना जगी है। काश ! अपने को इस योग्य बना पाया तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न होगा। वस्तुतः यही होगा मेरे द्वारा उनका अभिनन्दन-अभिवन्दन और सार्थक हो सकेगा मेरा होना उनका लघुनदन।

प्रो० श्रीयांशकुमार सिंघई, जैनदर्शनाचार्य,
प्राध्यापक, जैनदर्शन,
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जयपुर

卐

डॉ. पन्नालाल जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी और प्रकाड विद्वान् होते हुए भी निरभिमानी, सरलता और सौम्यता की प्रतिमूर्ति है। उनका व्यक्तित्व व कृतित्व अपूर्व है। आप आर्ष ग्रन्थो के अनुवादक, प्रस्तावना लेखक व रचयिता भी हैं। आपको वर्षों तक विद्वत्परिषद् जैसी प्रबुद्ध सस्था के कर्णधार रहने का गौरव प्राप्त है। सागरस्थ श्री गणेश दि. जैन-संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापक/प्राचार्य पद पर आपने वर्षों कार्य किया है। आप धार्मिक शास्त्रों के गंभीर ज्ञाता है। ज्ञान का गाभीर्य आपके चारित्र से झलकता है। पडितजी देव-शास्त्र- गुरु के परम निष्ठ भक्त हैं। विद्वानो के प्रति आपका आदरभाव-प्रमोदभाव, धार्मिक वात्सल्यता का परिचायक है।

आप सुलेखक के साथ ही प्रखर प्रवक्ता भी है। आपकी वाणी मे ओज, मधुरता और सरलता का संगम है। आपके द्वारा प्रतिपाद्य गभीर विषय भी श्रोताओं को सहज ही हृदयगम हो जाता है। हमारी हार्दिक कामना है कि पडितजी चिरायु हो ताकि आपके ज्ञान का रसास्वादन जन साधारण को चिरकाल तक प्राप्त होता रहे।

समाजरत्न पं० राजकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य,
सम्पादक—'अहिंसावाणी' एवं 'अहिंसा'
संचालक—अखिल विश्व जैन मिशन, नवाई (राज०).

"जीवन का प्रथम सौभाग्य,
लो ! हमारा हृदय से श्रद्धा उपहार,
जयशील रहो सदा सदा के लिए
हम सबका करते रहो उपकार"

विचारो ने करवट ली, सहसा लेखनी किसी महान व्यक्ति के व्यक्तित्व को लिखने के लिए उद्यत हुई, परन्तु न जाने क्या हुआ ? लेखनी कुछ लिखने के लिए आनाकानी कर गई और विचार भी मस्तिष्क मे स्थगित हो गये, क्योकि हम सबके बीच वह चैतन्य व्यक्तित्व उपस्थित है जिनके जीवन रूपी प्रत्येक पृष्ठो पर उस अनदेखी महान विभूति वर्णी जी की सी आध्यात्मिक झाकी का दर्शन होता है। जिनके जीवन के व्यक्तित्व मे चन्द्र की शीतलता, वन की उदासीनता, सागर की गम्भीरता, साहित्य व्याकरण मे हिमालय सी उच्चता और अध्यात्म के प्रति अत्यधिक आस्था, हमेशा दिखने मे आया करती है और वात्सल्य की तो बात ही क्या कहे ? वह तो सदा इनके हृदय मे अठखेलियाँ किया करता है, और दया सदा खिलखिलाती अर्थात् मुस्कराती है, करुणा जिनके रोम रोम मे बहती है, और प्रत्येक क्षण जिनकी जिह्वा से पूज्यपाद की भक्तियाँ, समन्तभद्र की सूक्तियाँ, पचस्तोत्र की पक्तियाँ उच्चरित होती है । व्याकरण के सूत्रो की गुनगुनाहट मानो छदो के समान गान करती रहती है ।

'डॉ. पन्नालाल जी,' चूकि 'पन्नालाल' है, जो अपने आप मे स्वय परिचय है । लेकिन इनको भी किसी ने परखा है । वह जौहरी हैं, अपूर्व चारित्र मे निष्णात, अनुत्तर सूरि विश्व विख्यात "संत शिरोमणि-१०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज ।" जिनकी ही वजह थी कि सागर मे प्रथम वाचना का शुभारभ हुआ । जैन दर्शन मे उच्चस्तरीय स्थान को प्राप्त ऐसे महान् "षट्खण्डागम" को इतनी सहज, सरल शैली मे समझाना, जिससे कि आमूलचूल जैन सिद्धान्त मे अनभिज्ञ भी अनभिज्ञता का अनुभव न कर पाते थे । 'स्टाइल इज द मैन' यानि जैसा जो आदमी, वैसी उसकी शैली ।

ये ज्ञान और दर्शन के भण्डार होते हुए भी, इन दोनो को पुष्ट करने वाला जो सयम है, इनके जीवन से, वह अछूता न रहा । फिर क्या था ? वह सूक्ति चरितार्थ हुई "इट इज पैराडाइज ऑन अर्थ ।" जब से मैंने इनको निकटता से देखा, तो यही पाया कि इनकी प्रति-दिन की चर्या साधुवत् रही है, इनका जीवन सप्तम प्रतिमा के व्रतो से जुडा है । सम्यग्ज्ञान के विकास के प्रति सदा प्रयत्नशील रहते हैं, हमेशा पढना-पढाना, लेखन कार्य करना, चिंतन मे लीन रहना, यह इनकी चर्या है । इनकी सहजता / सरलता इनके विचारो से ज्ञात होती है । हम बहनो ने जब भी शका समाधान के लिए, सस्कृत अभ्यास के लिए अथवा कुछ भी पढने के लिए समय मागा तो हमेशा बडी सहज और बुदेलखण्डी भाषा मे उत्तर देते थे— 'टेम देख लो तो आ जइयो' कहने का तात्पर्य यही कि उन्होने कभी मना नही किया । साथ ही साथ हम लोगो के प्रति ज्ञान विकास की सदा भावना रहती थी ।

समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है, चूकि "जीवन का सार जन्म मे नही, कर्म मे हैं" "सर्जन का आनन्द ही जीवन का नियम है" ये पक्तियाँ इनके जीवन मे क्रियान्वित रूप मे देखने को मिली । कुछ न कुछ तो सदा लिखते ही रहते है किन्तु बडे बड़े ग्रन्थो की हिन्दी सस्कृत टीकाएँ करने मे भी आपकी लेखनी अनवरत चलती है ।

इन्होंने दर्शन और ज्ञान के साथ ही साथ अपने जीवन मे संयम का जो मंजुल समन्वय किया है उसने हम सबके लिए / समूचे जैन समाज के लिए अनुकरणीय / अनूठा आदर्श प्रदान किया है।

आ. पू. १०८ विद्यासागर जी महाराज की भावना है कि आपने जो जीवन भर संयम को सम्हाला है, जिस सयम का उपसंहार समाधि अर्थात् 'सल्लेखना' मे होता है, यह समाधि आपके जीवन का अग बने / प्रमुख स्थान बनें। मैंने आचार्यश्री के मुख से स्वय दो तीन बार सामाजिक प्रवचन के अवसर पर सुना कि 'पडित जी आप सब तरफ से तो वर्णी जी है पर वर्णी का भेप और हो जायें तो सचमुच ही वर्णी हो जाओगे'। अन्त मे मैं भी वीर प्रभु से यही प्रार्थना करती हूँ 'आचार्य श्री जी' की भावना जीवन्त बनें, आपके जीवन मे। जिससे यह आदर्श युगो युगों तक इतिहास के पृष्ठो पर स्वर्णाक्षरों मे अंकित रहे।

मेरे नयनो ने बहुत कुछ देखा, पर वे क्लान्त नहीं हुये।
मेरे कानो ने बहुत कुछ सुना, पर वे लालायित है।
मेरी लेखनी ने बहुत कुछ लिखा पर अभी और लिखने आतुर है।
मेरे मस्तिष्क ने बहुत कुछ सोचा पर अभी भी तरंगित है।

—ब्र० विमलेश
श्री दिग० जैन ब्राह्मी विद्याश्रम, सागर

परमपूज्य गुरुवर डॉ (पं.) पन्नालाल जी जैन 'वसन्त' सागर, विद्वत्ता के अगाध सागर है। उन्होने अपनी अद्भुत साहित्यिक एव शैक्षणिक साधना से सपूर्ण राष्ट्र विशेषत जैन जगत को गौरवान्वित किया है। वे एक दुर्लभ सरलता, सहृदयता, कर्मठता, कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा और प्रशासनिक क्षमता के धनी हैं। त्रियोग की उन जैसी एकरूपता प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदर्श और अनुकरणीय है। सरस्वती के इन महान् साधक ने जैन वाङ्मय के प्रचार-प्रसार मे जो अनुपम योगदान दिया है उसके लिए जैन-जगत् सदैव उनका ऋणी रहेगा। पंडित जी की कुशल अध्यापन शैली शिक्षक जगत् के लिए आदर्श एव अनुकरणीय है। छात्रो के प्रति उनका अगाध अनुराग और आत्मीय भाव रहा है। परमपूज्य गुरुवर प. 'वसन्त' जी के अभिनन्दन के सुअवसर पर मैं उनके चरणो में अपने श्रद्धासुमन समर्पित कर कामना करता हूँ कि भगवज्जिनेन्द्रदेव के शासन के प्रसाद से वे हजारो वसन्त देखें तथा समाज व राष्ट्र को उनकी अभूतपूर्व सेवाएँ सदैव सुलभ रहें।

प्रो० विनय कुमार जैन,
प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर म. वि, दमोह

साहित्य व जैन वाङ्मय के अध्येता

Fragrance of the flowers is an ending thing but the fragrance of Literature is an endless thing. It shall remain forever in the world whenever it would be.

जैन साहित्य व वाड्मय का मनन, पठन-पाठन व सृजन वही पुरुष कर सकता है। जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा उपासक, आत्मानुशासन के अनुकूल, आत्मसयमी, निर्भीक, स्वतत्र, सासारिक अभिलाषाओ से परे, चारित्रिक दृढता से युक्त,ईर्ष्या व विद्वेष की भावनाओ से पृथक सत्यता व कर्त्तव्य परायणता मे निमग्न, प्रपंच बुद्धि से रहित, उदारमना, वात्सल्य मूर्ति एव आध्यात्मिक रसिक हो।

उपरोक्त सदर्भित गुणो से प. जी समलकृत तो हैं ही साथ ही साथ अन्य विशेष असाधारण गुणो से भी। आपकी वाणी सरल, सुगम, मधुर, एवं हृदय-स्पर्शी है। आप माधुर्य एव ओजस्व गुण से युक्त हैं। आपका हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है। क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा वाले ग्रन्थो की टीका व अनुवाद बहुत सहज एवं सरल भाषा मे कर आपने ज्ञान-पिपासुओ की ज्ञान-पिपासा को संतृप्त किया है। आपकी इस अगाध साधना के लिए जैन समाज ऋणी रहेगा। आपका करुणा भाव 'सर्व जन हिताय' की भावना से सम्पन्न है। आप उत्तम श्रेणी के सत्पुरुषो मे से हैं।

एके सत्पुरुषा. परार्थघटका स्वार्थंपरित्यज्य ये।

अर्थात् जो अपना स्वार्थ छोडकर दूसरो का उपकार करते हैं, उत्तम श्रेणी के सत्पुरुष होते हैं। आपके यशस्वी, दीर्घ एव आरोग्यमय जीवन की मंगल कामना के साथ आपका हार्दिक अभिनदन करते हैं। आपका नेतृत्व जैन समाज को सदैव प्राप्त होता रहे, इस कामना से श्रद्धा-सुमन समर्पित है।

ज्ञानचन्द्र जैन, शिक्षक,
खुरई

आदर्श शिक्षक :

श्रद्धेय पडित पन्नालाल जी मानवता के सरक्षक उदात्त गुणो से ओत-प्रोत आदर्श शिक्षक के रूप मे सर्वत्र विश्रुत हैं। छात्र जगत्, सामाजिक परिवेश, धार्मिक क्रिया-कलाप, राष्ट्रीय प्रसग, संस्था-सचालन आदि विविध-भाव-भूमियो मे उनका आदर्श शिक्षक रूप प्रस्फुटित होता है। ऐसे सत शिक्षक को मैं अपनी विनम्र आदराञ्जलि समर्पित कर उनके सुदीर्घ जीवन हेतु कामना करता हूँ।

चौ० शिखरचन्द्र जैन, साहित्यरत्न.
मंत्री—श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर ट्रस्ट कमेटी,
रीठी

परम आदरणीय श्रीमान् डॉ. पन्नालालजी 'बसंत' साहित्याचार्य-सागर का अभिनन्दन करते हुए, जैन-जगत ही नही, सभी वर्ग के जन महान्-गौरव का अनुभव कर रहे है।

आपकी अलौकिक प्रतिभा, सशक्त रचनात्मक–लेखनी, संस्थाओं की अपूर्व-सेवा-लगन, समय की कठोर-पाबन्दी, आकर्षक-प्रभावात्मक व्यक्तित्व, स्मित-वदन, मधुर-वाणी, व्रतमय सादा सदाचरण, मणि-काचन सयोगवत बन गया है।

आपके व्यक्तित्व को परिभाषित करने वाले शब्द भी लघु-प्रतिभाषित हो रहे है। आपके मन-वाणी वीणा के तारो की झकार मे सारे स्वर-सरगमो का सगम है।

उन्नति के उच्चतम शिखर पर भी अभिमान आपको किंचित भी छू नही सका है। 'साहित्याचार्य' मात्र कहने से आपके नाम का बोध हो जाता है। उपाधि, साहित्य श्रेष्ठता की द्योतक एवं प्रतीक बन गयी है।

साहित्य–सृजन की अपूर्व क्षमता का परिचय आपके द्वारा अनूदित महान् काव्य-पुराण, अध्यात्म, दर्शन आदि अनेक गहन विषयो के ग्रन्थो का खोजपूर्ण, तुलनात्मक, सम्पादन एव अनेक रचनाओं के मौलिक प्रणयन से प्राप्त होता है।

आपके साहित्य-सृजन की गरिमा से प्रभावित 'महाकवि हरिचन्द्र. एक अनुशीलन'पर सागर विश्व-विद्यालय ने आपको डॉक्टरेट (पी. एच. डी.) उपाधि प्रदान की है। आपकी कृतिया विभिन्न संस्थाओं द्वारा एव शासन द्वारा पुरस्कृत हुई हैं।

आदर्श शिक्षक के रूप मे आपको महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मान प्रदत्त किया गया, जिससे शिक्षक जगत तो गौरवान्वित हुआ ही, जैन समाज भी गौरवान्वित हुआ है।

आप सस्थाओ के अपूर्व सेवक रहे हैं। श्रद्धेय प. दयाचन्द्र जी सि. शा. के सहयोगी एवं उनके पश्चात् विद्यालय के प्राचार्य रहकर आपने विद्यालय के उत्थान मे दिन-रात स्वय को समर्पित कर दिया। श्री गणेश वर्णी संस्कृत महाविद्यालय, सागर आपकी सेवाओ को कभी विस्मृत नही कर सकेगा।

गुरु-जनो के प्रति आपकी अटूट-भक्ति रही है। पूज्य १०५ क्षु. श्री वर्णी जी का आप पर अनन्य आशीर्वाद था। पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के हृदय मे आपके प्रति निरन्तर शुभाशीष भावना रहती है।

जिस तरह आप ज्ञान के भण्डार है, उसी तरह आपका आचरण भी विज्ञजनो को महान् प्रेरणा देता है। ऐसी महान् विभूति के प्रति श्रद्धा से उनके चरणों मे स्वत. ही मस्तक झुक जाता है। जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है कि आपका सान्निध्य एव मार्गदर्शन हमे कई सौ वर्षो तक प्राप्त होता रहे। इस मंगलकामना के साथ उनके चरणो मे शत-शत वन्दन।

पं. पूर्णचन्द्र 'सुमन', काव्यतीर्थ,
दुर्ग

जैन साहित्य के निष्ठ साधक डॉ पन्नालालजी 'वसन्त' को प्रत्येक साहित्य-प्रेमी भली-भाति जानता है। आपने जैन-साहित्य के सघन वन मे नयी हरियाली ला दी है। आप केवल स्वतंत्र लेखक ही नही, विचारक एव गहन चिन्तक भी हैं। अनेको लेखकों की प्रतियो का मनन, लेखन कर, उन्हे भी नव-जीवन दिया है। कई आधुनिक लेखको ने अपनी कृतियो की प्रस्तावना आप से लिखवाकर अपने को धन्य माना है।

आपने सस्कृत-प्राकृत एव पाली भाषाओ की ताड-पत्रीय प्रतियो का अनुवाद कर समाज व धर्म को नयी दिशा प्रदान की है। दुर्लभ ग्रन्थो की हिन्दी टीका कर आपने उन्हे अध्ययन करने का अवसर उपलब्ध कराया है। मन्दिरो की आलमारियो मे रखे पुराणो के पन्ने पलटते ही हिन्दी टीकाकार के रूप मे पं पन्नालालजी 'साहित्याचार्य' का नाम उन पर अकित पाया जाता है। ७५ वर्ष की आयु मे भी आपकी लेखनी अबाध गति से चल रही है।

भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय वम्वई, जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर, जैन साहित्य प्रकाशन फलटण, आदि सुप्रसिद्ध साहित्य प्रकाशक सस्थाओ ने आपके द्वारा रचित एव सपादित ग्रन्थो का प्रकाशन कर अपने को गौरवान्वित किया है।

साहित्याचार्य डॉ पन्नालालजी सागर जिले के साधारण ग्राम मे जन्मे। प्रायमरी तक शिक्षा प्राप्त कर सागर अध्ययनार्थ आये। पूज्य श्री वर्णीजी की महती कृपा से सत्तर्क सुधा तरगिणी दि. जैन सस्कृत विद्यालय मे प्रवेश प्राप्त कर आपने धर्म और सस्कृत साहित्य का अध्ययन बडी लगन से किया। विशेष अध्ययन हेतु स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस, गये। वहाँ से अध्ययन समाप्त कर सतर्क सुधा तरगिणी दि जैन सस्कृत विद्यालय मे ही आप अध्यापक नियुक्त हुये। जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, वैसे ही पूज्य वर्णीजी के स्पर्श से 'पन्ना' को 'लाल' बनने मे विलम्ब न लगा। आज वे विद्वत्‌रत्नो मे सिरमौर है।

यद्यपि प जी सागर विद्यालय से निवृत्त हो चुके हैं, किन्तु शिक्षा जगत मे उनका वही आदर है और वे वर्णी दि जैन गुरुकुल मढिया जी, के निदेशक पद को अलकृत करते हुए विद्यार्थियो के स्वर्णिम भविष्य को गढने मे रत है। आज युवा वर्ग-धर्म साहित्य के अध्ययन से विमुख होता जा रहा है, लेकिन प. जी उन्हे धार्मिक सस्कार देने मे सदा प्रयत्नरत हैं। जो भी छात्र उनके पुनीत सपर्क मे आता है वह नियम से विद्वान् वनता है।

धर्म को स्व-जीवन मे उतारकर आत्मसात् करने वाले प. जी जैन समाज व धर्म की प्रभावना करते हुये चिरकाल तक जयवन्त रहे, हम ऐसी कामना करते हुए उनके चरणो मे प्रणामाञ्जलि अर्पित करते है।

प. रविचन्द्र जैन 'शशि'
एवं
श्रीमती प्रेमलता कौमुदी
दमोह

राष्ट्रपति भवन, नयी दिल्ली, के प्रागण मे राष्ट्रीय अलंकरण समारोह के आयोजन के अवसर पर शुभ्र-स्वच्छ, स्वदेशी-खादी की धोती-कुर्त्ता-टोपी व जॉकिट धारी तथा अपूर्व ओज व स्नेहासिक्त गाभीर्य धारित मुखमण्डल वाले जिस व्यक्तिव को दिनाँक २२-११-६९ को भारतीय गणतत्र के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा "सस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ विद्वान एवं सर्वोत्तम-शिक्षक" के अलकरण से अलकृत किया गया, उस विभूति की विश्रुति विद्वत् विश्व मे 'डॉ. प पन्नालाल जी' साहित्याचार्य 'वसन्त' नाम से है।

पूज्य प. जी का समग्र जीवन जैन साहित्य-संस्कृति एव दर्शन को सर्मपित है।

प. जी सन् १९३१ मे पूज्य वर्णीजी के आदेश से श्री गणेश दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय, सागर मे साहित्य अध्यापक पद पर नियुक्त किये गये। सन् १९७२ तक उक्त पद पर आसीन रहने के उपरान्त १९७२ से १९८३ तक प्राचार्य पद पर पदस्थ किये गये। इस अन्तराल मे आपके द्वारा सस्कृत-साहित्य एव जैन-दर्शन को अनेक प्रकाश पुंज (शिष्य) प्रदान किये गये, जो भारत वसुन्धरा पर सर्वत्र अपना ज्ञानालोक बिखेर रहे हैं।

पं. जी की अध्यापन शैली अप्रतिम/अनूठी है। साहित्य के दुरूहतम-स्थलो को व्याख्यात्मक शैली द्वारा सरलतम बनाकर विद्यार्थी को हृदयगम करा देना आपकी अपनी सहज विशेषता हैं।

भारत के विभिन्न अंचलो मे आयोजित प्रायः प्रत्येक धार्मिक-सास्कृतिक एवं सामाजिक उत्सवो मे आपकी उपस्थिति अनिवार्य आवश्यकता वन गयी है। प्रतिष्ठा संबधी प्रामाणिक ग्रंथ तैयारकर आपने प्रतिष्ठाचार्यो का मार्ग भी प्रशस्त किया है। आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी के सान्निध्य मे श्री षट्खण्डा-गम जैसे गमीर ग्रन्थो की वाचना एवं विवेचना प्रत्येक जगह आपके ही सयोजकत्व मे सम्पन्न हुई। यह आपकी गहन आगम-अवगाहना का परिचायक है।

पूज्य पं. जी चारो अनुयोगो, जैन-दर्शन-न्याय-साहित्य-इतिहास तथा व्याकरण के तलस्पर्शी विद्वान् है। आपके कण्ठ से प्रवाहित सुधा स्रोतस्विनी सभी स्तर के श्रोताओ को मत्र-मुग्ध कर देती है। आपकी आगमोक्तचर्या तथा वक्तृत्व शैली की प्रशसा पूर्व मे श्री वर्णीजी तथा वर्तमान मे आचार्य श्री विद्यासागर महाराज बारम्बार किया करते है।

आपके वचनामृत का पान करने विभिन्न नगरो की जैन एवं जैनेतर समाज प्रायः लालायित रहती है। पर्यूषण-पर्व के अवसर पर प्रवचनो से प. जी ने, कलकत्ता, वम्बई, देहली, जयपुर, कानपुर, जवलपुर, अजमेर आदि-महानगरो की जनता को लाभान्वित किया है। सागर तो सदैव पूज्य प. जी द्वारा उभय सध्याओ मे किये जाने वाले धर्म प्रवचनो से लाभान्वित रहता ही है।

आप महिला-शिक्षा के प्रवल समर्थक है। पूज्यवर्णी जी की भावना को मूर्त्त-रूप देने के लिये सागर मे सिंघई रेवारामजी ट्रस्ट द्वारा दिगम्बरजैन महिला-आश्रम की स्थापना की गयी। इस संस्था मे जैन विधवा/निराश्रित महिलाओ को पं. जी के कुशल निर्देशन मे धर्म-शिक्षण व लौकिक शिक्षण प्रदाय होता है। ये विदुषी महिलायें अपनी शिक्षा समाप्ति के बाद शासकीय/अशासकीय संस्थाओ मे अध्यापन आदि कार्य कर ससम्मान अपना जीवन-यापन कर रही हैं। अनेक उदासीन महिलाओ ने आगमोक्तचर्या का अनु-

सरण कर आत्म-कल्याण के मार्ग का चयन किया है। ऐसी अनूठी महिला-रत्नों मे आर्यिका विशुद्धमती, आर्यिका विनयमती तथा आर्यिका कनकमती जी जैसे नाम उल्लेखनीय हैं।

पूज्य वर्णीजी की भावनानुसार आपने अपना समग्र जीवन श्री गणेश दि जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर को, अनेक अन्य प्रलोभनो के बावजूद समर्पित किया है। इस विद्यालय के प्रति समर्पण और आत्मीय भाव के कारण ही आपने विश्वविद्यालयो मे ख्याति के पदो पर नियुक्ति के आमत्रणो की भी अवहेलना की है। आप विश्वविद्यालयीन छात्रो को उनके शोध कार्यो हेतु, सदैव मार्गदर्शन देते है। 'महाकवि हरिचन्द्र एक अनुशीलन' नामक शोध-प्रबन्ध पर १६ नवम्बर १९७३ को पी–एच. डी उपाधि से विभूषित कर डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर ने स्वय गौरव का अनुभव किया है। अध्यापन, सपादन के साथ-साथ अनेक साहित्यिक संगोष्ठियो एवं सर्वधर्म-सम्मेलनो मे भाग लेकर प. जी ने जैन समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व किया है। आकाशवाणी केन्द्रो से भी आपकी वार्ताएं प्रसारित हुयी हैं।

सक्षेप मे पं जी यथा नाम तथा गुणागार हैं। अभिनन्दन के इस अवसर पर मैं विनम्र शब्दाजलि समर्पण द्वारा पूज्य पडित जी का अभिनन्दन करता हूँ।

पं. पूर्णचन्द्र शास्त्री, 'पूर्णेन्दु'
एम. ए.,
सागर

▩

डॉ (प) पन्नालाल जी साहित्याचार्य भारत राष्ट्र के प्रमुख विद्वानो मे अपना एक पृथक परिचय रखते हैं। उन्होने छात्रो, श्रावको और आराधको को विशेषत: जैन सस्कृति के प्रति सुसस्कारित कर उनका जो मार्गप्रशस्त किया है, वह सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

श्रद्धेय पडित जी ने सदैव अखिल भारतीय राष्ट्रीय धारा के सुसम्पृक्त होकर जैन धर्म के प्रचार व प्रसार हेतु समर्पित भाव से सेवा की है। विभिन्न जैन ग्रथावलियो के शोध, उनके अन्तस्तत्व तक पहुँचकर उन्होने सदैव अनुशीलनात्मक सुज्ञेय सामग्री पाठको के समक्ष प्रस्तुत की है।

गत वर्ष इदौर शहर मे आयोजित आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह मे उनके सहयोग से विद्वानो की गोष्ठी अभूतपूर्व एव अद्वितीय रही है।

मेरी हार्दिक कामना है कि पडित जी दीर्घायु हो एव भविष्य मे भी सदैव हमे उनका मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे, जिससे जैन समाज नित प्रगति के पथ पर अग्रसर होकर विभिन्न क्षेत्रो मे सफलता के नये आयाम प्राप्त करे।

देवकुमारसिंह कासलीवाल,
इंदौर.

कला की दृष्टि से खजुराहो का अपना महत्त्व है। चेदिकाल मे निर्मित यहा के कलात्मक मदिर केवल भारतवासियो के आकर्षण का केन्द्र ही नही है, अपितु विश्व के सभी कलाप्रेमी पर्यटक इस अनूठी कला के दर्शनार्थ खजुराहो अवश्य ही आते है। देशी पाषाण को बारीकी से तराशकर उस पर अद्भुत, कलात्मक मूर्तिया उकेरी गई हैं। सहज विश्वास नही होता कि ये मूर्तिया पत्थर पर उत्कीर्ण है या मोम से ढाली गयी है।

यहा न केवल हिन्दू मंदिरो का समूह है, वरन् जैन मदिरो की कलात्मक कारीगरी भी यहाँ देखने मिलती हैं। यहा जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ, शांतिनाथ तथा पार्श्वनाथ के असीम कलात्मक सुन्दरता वाले मदिर बहुप्रसिद्ध है। हाथ मे दर्पण लेकर आखो मे अंजन आजती नर्तकी, पैरो को माहुर से अलकृत करती नायिका एवं पायल के अलंकरण से अलंकृत शालिभंजिका अत्यन्त मनोरम है।

इस विशाल दर्शनीय किंतु पिछडे हुए क्षेत्र के विकास हेतु जैन समाज सदा चिंतित रही है। जैन समाज ने इसके विकासार्थ गजरथ महोत्सव पचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन करने का सकल्प किया। इन महोत्सवो मे जैन मतावलम्बी बड़ी संख्या मे सम्मिलित होते हैं और न केवल स्वय लाभान्वित होते हैं अपितु तीर्थ के विकास, जीर्णोद्धार कार्य आदि मे भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते है।

गजरथ की सफलता उसके आकर्षक कार्यक्रमो एव सुव्यवस्था पर निर्भर रहती है। इस गजरथ मे कौन-कौन से कार्यक्रम आयोजित हो, इसके मार्गदर्शन हेतु मैंने कार्यक्रमो के सफल सयोजक विद्वत्रत्न पं. पन्नालाल जी सागर से निवेदन किया और सहयोग मागा। इस क्षेत्र पर विगत लम्बे समय (लगभग ३५ वर्ष) से कोई विशाल आयोजन नही हुआ था। क्षेत्र के पदाधिकारी, कार्यकर्त्ताओ के अभाव मे, व्यवस्था के प्रति चिंतित थे। पं. जी ने सारी समस्याएं समझकर हमे अपना समर्पित सहयोग दिया, सार्थक योजनाएं दी, जिससे गजरथ सुव्यवस्थित रूप से सफल हो सका। पं. जी के प्रयासो से विभिन्न संस्थाओ के अधिवेशन यहा सम्पन्न हुए, साथ ही विद्वत्परिषद् का चतुर्दश अधिवेशन भी हुआ। जिससे हमे सुलझे हुए विद्वान् व निष्ठावान कार्यकर्त्ता भी प्राप्त हो गए। गजरथोत्सव के प्रत्येक विधि-विधान, शास्त्र-प्रवचन, धर्मोपदेश प्रभावना आदि कार्यों मे भी पं. जी ने असाधारण सहयोग दिया। जिससे तीर्थ के विकास को एक निश्चित दिशा प्राप्त हुई।

प. जी न केवल शास्त्र-मर्मज्ञ है अपितु पूजा, प्रतिष्ठा आदि के भी प्रकाण्ड ज्ञाता/विद्वान् है। उनका जीवन समाज व धर्म के प्रति समर्पित है। वे समाज के ही नही, विद्वानो के भी शिरोमणि हैं। अपनी हार्दिक श्रद्धा उनको अर्पित करता हुआ, उनके चिरायु होने की मंगल कामना करता हूँ।

दशरथ जैन,
(पूर्व मंत्री म. प्र. शासन)
अध्यक्ष,
श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र, खजुराहो

अक्षय तृतीया वी. नि. सं. २४३५, वि. स. १६६५ के शुभ मुहूर्त मे श्री शिवप्रसाद जी के गृह मे श्री सत्तर्क सुधा-तरगिणी पाठशाला की स्थापना हुई। यही पाठशाला वर्तमान मे मोराजी के भव्य भवन मे श्री गणेश दि. जैन सस्कृत महाविद्यालय के नाम से जैन-सस्कृति की वहु आयामी सेवा मे रत है। स्थापना के समय मुख्याध्यापक पद पर श्री सहदेव झा नैय्यायिक, सहयोगियो के रूप मे श्री छिगे शास्त्री वैय्याकरण एव प श्री मूलचद जी विलौआ को सुपरिटेन्डेन्ट के पद पर नियुक्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पाठशाला के प्रारभिक वर्ष विवाद एवं टीका-टिप्पणियो मे बीते, किंतु श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी की दृढ इच्छा-शक्ति से मिशन आगे वढता गया। प मुन्नालालजी रांधेलीय 'वर्णी' को विद्यालय का प्रथम छात्र होने का गौरव प्राप्त है। प्रथम पाच वर्ष के विद्यार्थियो मे पडित वने श्री पं निद्धामल जी, प दरवारीलाल जी वर्धा, प. दयाचन्द्र जी सि शा, पं. माणिकचन्द्र जी न्यायतीर्थ एवं पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य।

श्री वर्णी जी के सद् प्रयत्नो से आरभ इस विद्यातरु ने वुन्देलखण्ड के अज्ञान-तिमिर को भेदने मे, जैन-धर्म और सस्कृति के परिवेश मे, अनिर्वचनीय योगदान दिया। इसकी सार्थकता का इससे प्रत्यक्ष प्रमाण क्या होगा कि जिस नगर मे विधान पढने वाले न होने के कारण मन्त्रो के अर्थ पढकर द्रव्य चढाने की नौवत आ चुकी थी वही श्री वर्णी जी के कार्य से वह नगर आज सैद्धातिक तत्त्व-चर्चा की गुत्थियो को सुलझाने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देने लगा।

प. पन्नालाल जी ने पारगुवा ग्राम से आकर सत्तर्क-सुधा-तरगिणी दि. जैन पाठशाला में कमरया लक्ष्मणदास की ओर से नि शुल्क भर्ती होने वाले तीस छात्रो की सूची मे स्थान पा लिया। वर्णी जी तो पाठशाला के लिये समर्पित थे ही। विद्यार्थियो की अन्र्तप्रतिभा को परखने मे उन्हे देर नही लगती थी। विद्यार्थी पन्नालाल से पूछे गए प्रत्येक प्रश्न का क्रमवद्ध सही उत्तर पाकर वर्णी जी उसकी ओर आकृष्ट हुए, और कहने लगे—"इसे पढाना है।" उन्होने सुपरि. पं. मूलचंद्र जी को वुलाकर कहा—"पन्नालाल का नाम उनकी सूची से अलग कर अपनी सूची मे लिखो। इसका भविष्य खराव न हो।" समानान्तर पाठशाला दो वर्ष मे ही किस तरह मूल धारा मे समा गई, यह एक अलग विषय है। किंतु एक दूरदर्शी ताकीद ने होनहार, यशस्वी छात्र के दो वर्ष वरवाद होने से वचा लिये।

तेरहवें वर्ष का प्रश्न :

आयु के तेरहवें वसन्त मे प. जी, प्रवेशिका द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी थे। वर्णी जी की कर्म-स्थली हो जाने से विद्वानो की मिलन—स्थली सागर वन चुका था। सागर मे 'वर्णी-त्रय' थे। वर्णी दीपचन्द्र जी पूर्व मे विद्यालय के सुपरिटेन्डेन्ट होने से विद्यार्थियो के प्रिय थे। स्नेहवश सभी उन्हें वावूजी कहते थे। उन्हें भी इस सम्वोधन पर आपत्ति नही थी। छात्र पन्नालाल वर्णी जी के प्रवचनों मे वक्ता एव श्रोता के अद्‌भुत तारतम्य से अत्यन्त प्रभावित थे। फलत उन्होने एक दिन वावूजी से एक आत्मिक प्रश्न पूछा कि—आप वडे पडित जी (वर्णी जी) का जीवन—चरित्र क्यो नही लिखते ? एक छोटी कक्षा के विद्यार्थी का ऐसा प्रश्न सुनकर वे स्तब्ध रह गये एव फिर रुककर वोले कि "इनका जीवन चरित्र लिखना सरल कार्य है ? मैं इनके साथ रहता हूँ, इसलिए समझता है कि मैं उन्हें जानता हूँ ? उनका जीवन—चरित्र उनके सिवाय किसी को लिखना सरल नही है। ये इतने गभीर पुरुष हैं कि वर्षो के सम्पर्क से भी इन्हे समझ पाना कठिन है। संभव है तेरी इच्छा स्वयं ही ये कभी पूर्ण करें।" इतिहास साक्षी है कि तेरहवें वर्ष का यह स्वप्न और श्री दीपचन्द्र जी वर्णी का समाधान "मेरी जीवन-गाथा" रूप मे साकार हुआ, यह निश्चय ही विस्मयजनक भी है।

वर्णी जी के आदेश का पालन :

काव्यतीर्थ की सम्मानदायक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सन् १९३१ मे पं पन्नालाल जी को उदयपुर मे अध्यापक पद पर नियुक्ति का आमत्रण प्राप्त हुआ। प जी के जाने की तैयारी भी हो गयी, किन्तु वर्णी जी के दूर-लेख (तार) ने उन्हे सागर से बाध दिया। तार देकर ही वर्णी जी संतुष्ट नही हुये अपितु दूसरे दिन स्वय ही सागर आ पहुँचे और पच्चीस रुपये मासिक वेतन पर पं. जी को साहित्य-अध्यापक पद पर नियुक्त कर लिया गया। तब से जीवन-क्रम के विश्राम तक विद्यालय आप से और आप विद्यालय से गौरवान्वित होते रहे।

जैन-समाज के प्रथम साहित्याचार्य :

अध्यापन के साथ ही अध्ययन-क्रम भी जारी रहा। सन् १९३६ मे पं. जी ने साहित्याचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय तक समाज मे कोई भी विद्वान् साहित्याचार्य पदवी से युक्त नही था। अतः प जी को जैन-समाज का प्रथम साहित्याचार्य होने का गौरव भी प्राप्त हुआ। कालान्तर मे तो आप साहित्याचार्य के पर्यायवाची बन गये।

सन् १९३१ मे साहित्य और सामाजिक क्षेत्र मे प्रवेश के साथ ही आपका लेखन आरम्भ हुआ। इसके साथ ही आप सस्कृत और सस्कृति के विद्वान् के रूप मे जैनेतर समाज मे भी प्रतिष्ठित हो गये।

जैन सस्कृति एवं साहित्य का चलता-फिरता ज्ञानकोष :

प जी के निवास से विद्यालय तक जाने का मार्ग (स्व. पं) दामोदरदास जी (लेखक के पिताश्री) की दूकान के पास से जाता है, जो कोतवाली के सामने सागर मे स्थित है। नि स्वार्थ स्नेह एव प्रगाढ सम्बन्धो के कारण दूकान, यदा-कदा चर्चा का स्थल भी होती थी। जैन-मित्र सूरत से पूर्व मे सम्बन्ध रहे होने के कारण, पिताजी के पास यहाँ-वहाँ से शका-समाधान हेतु पत्र आते रहते थे। लेखक साक्षी है कि प्रश्न सामने आते ही पं साहित्याचार्य जी द्वारा शास्त्रीय प्रमाण सहित तत्काल समाधान किया जाता था।

कृतज्ञ विद्वान्—ज्ञान और आचरण मे एकरसता रखने वाले, अनेक ग्रन्थो के रचयिता, टीकाकार सम्पादक, अनुवादक, सरल प्रकृति के धीर और गंभीर, लेखन, समालोचना एवं वक्तृत्व कला मे कमान गति-धारी पडित जी पूज्यवर्णी जी को अपना जीवन निर्माता मानते हैं। उनके प्रति अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये "श्रीपाल चरित्रम्" मे वर्णी जी का स्मरण उन्होने इस प्रकार किया है—

येषां कृपा-कोमल-दृष्टिपातै
सुपुष्पिताभून्म सूक्तिवल्ली।
तान्प्रार्थये वर्णि-गणेशपादान्,
फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना।

ऐसे महान् गुणधारी वारम्बार अभिनन्दनीय के इस अभिनन्दन के अवसर पर मेरी हार्दिक मगल-कामना है कि वे युगो-युगो तक हमारा मार्गदर्शन करें। इन पूज्यनीय पंडित जी के चरणो मे मेरे कोटिशः प्रणाम।

डा. प्रकाशचंद्र जैन,
प्राध्यापक—गणित विभाग,
शासकीय बालक महाविद्यालय, सागर

अडिग धैर्य के प्रतीक पंडित जी :

जनसंख्या वाहुल्य से सागर अव पूर्ववत् शान्त नही अशाति व कोलाहल का स्थान हो गया है। यूँ तो सामान्यत. सागर की जनता शातिप्रिय है किन्तु कभी-कभार जातीय संघर्ष की चिनगारियाँ सुलग उठती है। इससे जनसामान्य तो प्रभावित होता ही है, सरल प्रवृत्ति वाले शाति प्रिय व्यक्ति भी इन लपटो मे झुलस जाते हैं। धार्मिक विद्वेष, प्रतिस्पर्धा, कट्टरता और धर्मशक्ति प्रदर्शन की हवा ने हमेशा से हिन्दू मुस्लिम दगो की आग भडकायी है। ऐसी ही एक घटना सागर मे घटित हुयी। सागर का शान्त वातावरण विक्षुब्ध हो गया। जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। परिस्थितियोंवश प्रशासन ने "कर्फ्यू" घोषित किया। सडकें सुनसान हो गयी, मानव समूह अपने-अपने घरो मे, पिंजड़ो मे वन्द पक्षी की तरह कैद हो गये। प० जी भी इस अनुभव को भोग रहे थे। घर मे बैठे हुये प० जी अध्ययन-मग्न थे, किन्तु बच्चे आपस मे जोर-जोर से बातें कर रहे थे।

सडक पर पुलिस की गश्त जारी थी, सिपाहियो के कानो मे प० जी के घर से आयी हुयी बातो की आवाज पहुँची, वे तपाक् से घर के दरवाजे पर आ-धमके और दरवाजा खटखटाया। प० जी की निश्छलता ने सरलता से द्वार खोल दिया। पुलिसियो ने प० जी को ही कोलाहल का कारण मानते हुये पकड लिया और कृष्ण-भवन ले गये। पं० जी इसके प्रायश्चित स्वरूप अन्न-जल का त्याग कर धर्माराधन मे लीन हो गये। जव सागर जैन-समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो को इस घटना की जानकारी हुयी तो वे भागे-भागे उच्चाधिकारियो के पास पहुँचे और उन्हें तथा-कथा से अवगत कराया व प० जी को मुक्त कराने का पुर-जोर प्रयत्न किया। धर्म का प्रभाव अचिन्त्य होता है, पं० जी को कारागृह से मुक्ति मिली। जैन समाज मे प्रसन्नता व्याप्त हो गयी। किन्तु प० जी इस घटना से जरा भी विचलित नही हुये। उनके मुख पर जो मुस्कान, पुलिस वालो के साथ जाते समय थी, मुक्ति के वाद भी उसी साहस और आभा से उनका मुख-मण्डल दमक रहा था।

साहस के अडिग प्रतीक उस ज्योति पुज को शत-शत नमन।

प्रतिष्ठाचार्य पं० अमृतलाल शास्त्री, दमोह.

शुभकामना

मुझे श्रद्धेय डॉ पन्नालाल जी के गृह जिले का निवासी होने का सौभाग्य प्राप्त है। अपने वचपन से ही आपकी सामाजिक सेवा व साहित्यिक योगदान के विषय मे सुनता रहा हूँ। उनके दर्शन करने एव प्रवचन सुनने का सौभाग्य भी अनेक वार मिल चुका है। वस्तुत. वे दिव्य हैं। ऐसे दिव्य व्यक्तित्व के कृतित्व का अभिनन्दन कर आप अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन करने जा रहे हैं। ऐसा जानकर मैं अपार सुख व आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। ऐसे ग्रन्थ प्रकाशन के शुभ अवसर पर मेरी अनेकानेक शुभकामनाएँ।

प्रो० प्रेमचन्द्र जैन,
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष—वाणिज्य विभाग,
शास. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह [म. प्र.]

पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेश प्रसाद जी वर्णी ने जो ज्ञान-यज्ञ समाज मे प्रारम्भ किया था। डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने उसे अपने ढग से आगे ही बढाया है। आपने इस ज्ञान-यज्ञ की अग्नि को शान्त नही होने दिया। अनेको संस्कृत-ग्रन्थो की टीका लिखकर, पठन-पाठन के लिये जन-साधारण को सुलभ कराने की साधना मे अपना सारा जीवन होम करने वाला महान् व्यक्तित्व वास्तव मे अभिनन्दनीय है, वन्दनीय है। अर्थोपार्जन की जगह ज्ञान-दान ही जिनके जीवन का अग बन गया हो, उनके जीवन की महानता को शब्दो मे व्यक्त करना सभव नही है।

उनसे सम्बन्धित ऐसी ही एक घटना है जो भुलायी नही जा सकती। उन दिनो अनेक धार्मिक-समारोहो मे मैंने पं० जी की कविताए, भाषण व प्रवचन सुने थे। मन उनके सादगी-पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित था। एक दिन मेरे पिताजी ने मुझसे कुछ धार्मिक-शिक्षण लेने को कहा, मुझे उनका आदेश हितकर लगा। मैंने पं० जी से अपना अभिप्राय प्रकट किया। प० जी की दिन-चर्या अत्यन्त व्यस्त थी, किसी को थोडा-सा भी समय देना सम्भव नही था। तो भी मेरी जिज्ञासा और उत्सुकता देखकर उन्होने प्रात: ६.३० से ७.३० बजे तक का समय मुझे देने का वचन दे दिया। मै दूसरे ही दिन से पंडित जी के पास अध्ययनार्थं जाने लगा। एक माह व्यतीत हो जाने पर पिताजी ने मुझे शिक्षण शुल्क देते हुये कहा कि पं. जी जितना कहें उतना दे आना, कोई अन्य बात न करना।

मैंने साहस बटोर कर पं० जी से शिक्षण शुल्क लेने का अनुरोध किया। पं० जी ने गभीरतापूर्वक कहा—"देखो, यदि तुम्हारा ऐसा ही आग्रह है तो उचित होगा कि तुम कल से आना वन्द कर दो। मैं जानते हुये भी तुम्हारे ऊपर आर्थिक बोझ नही लाद सकता। मैंने तुम्हारी रुचि देखकर ही स्वीकृति दी थी, अत जितना सभव हो, मेरे समय का सदुपयोग करो। मैंने किसी लालच मे स्वीकृति नही दी थी, तुम लाभ ले सको तो मैं प्रस्तुत हूँ।"

प० जी की इस उदारता, सरलता और निस्पृह वृत्ति को देखकर मेरा मन श्रद्धा से अभिभूत हो उनके चरणों मे झुक गया, और फिर दो वर्ष तक मैं उनकी ज्ञान गगा मे स्नान कर अपने को पवित्र करता रहा। ऐसे परोपकारी, शान्तमूर्ति को मेरा शत-शत नमन।

फूलचन्द्र 'मधुर'
स्वतंत्रता-संग्राम-सेनानी, सागर.

श्रद्धेय पंडित पन्नालाल जी का स्मरण आते ही मेरी दृष्टि तीस वर्ष पूर्व की यादो मे रम जाती है। मेरी आखो के सामने एक सरल व्यक्तित्व छा जाता है। पूज्या स्व० नानी (दलालन) के नमक-मंडी कटरा वाले मकान के समीपवर्ती मकान से धोती दुपट्टा पहने एक आकर्पक ऊँचा-पूरा व्यक्तित्व बाहर आ रहा है देखते ही नानी ने "पडित जी" कहकर मुझे उनका परिचय दिया। तब से उनके दो ही नाम सुनती रही हूँ–साहित्याचार्य जी और पडित जी।

पडित जी के सान्निध्य मे रहने के अवसर कई बार मिले। सर्वप्रथम मैंने उन्हें बुन्देलखण्ड के तीर्थो की यात्रा करते समय नजदीक से देखा था। पडित जी के साथ ही मैं भी उसी बस मे अपनी नानी के साथ थी। उस समय अविकसित बुद्धि के कारण उनके पाडित्य को तो उतना समझ न सकी, किन्तु उनकी सरलता, मृदु-भाषिता और धार्मिकता को देखकर भाव-विभोर अवश्य हो गयी थी।

समूचे दिन की नियमित/कठिन व्यस्तता के बावजूद पडित जी की प्रतिभा और श्रम-शीलता से अनेको ग्रन्थ प्रकाशित होकर सामने आये। इन ग्रन्थो की वृहदाकारता इतनी है कि एक व्यक्ति उन्हें एक साथ नही उठा सकता। यह आकार और वजन विषय-वस्तु की गहराई का है। इनमे कुछ अनुवाद और सस्कृत टीकायें हैं और कुछ मौलिक ग्रन्थ हैं। जिस समय प्राचीन जैन-सस्कृत ग्रन्थ अनुपलब्ध थे उस समय उनको अनूदित कर प्रकाश मे लाना, पडित जी का एक विशेप महत्त्वपूर्ण योगदान है।

मैंने उन्हे सगोष्ठियो मे पूरी तत्परता के साथ भाग लेते देखा है और अनुभव किया है कि उनकी अगाध विद्वत्ता मे एक निश्छल, सरल और सवेदनशीलता छिपी है। वे विपय के तल तक पहुँचते है। वे विषय की प्रस्तुति मे सिद्धहस्त हैं। शैली आकर्षक है। वे जिज्ञासुओ का समाधान बहुत आसानी से कर देते हैं।

नयी पीढी के मन मे उनके प्रति अगाध श्रद्धा है। नयी-पीढी उनके आदर्शो का आदर हृदय से करती है। नयी-पीढी के लिये वे अथक प्रेरणा है। अनेक राष्ट्रीय और सामाजिक पुरस्कारो से पुरस्कृत पडित जी महान्, ओजस्वी, गभीर व्यक्तित्व एव नि:स्वार्थ त्याग का प्रतीक हैं।

पडित 'वसन्त' जी ने ७५ वसन्त देख लिये है। आज भी वे पूर्ववत् स्वस्थ, निरामय रहकर अविराम साहित्य-साधना मे जुटे हुए है। प्रारम्भ मे जिस कर्मठता को उन्होने सहर्ष स्वीकारा था, बुढापा भी आज तक उसे परास्त नही कर सका है। अभिनन्दन के पावन प्रसग पर मैं यही अभ्यर्थना करूंगी कि पडित जी अतिम समय तक पूर्ण स्वस्थ बने रहे और साहित्यिक तथा आध्यात्मिक साधना मे लगे रहे।

डॉ० (श्रीमती) पुष्पलता जैन,
एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर.

व्यक्तित्व के विविध आयामों मे एक सी सहजता, सरलता जो प्रत्येक जाने-अनजाने आगन्तुक को अनायास प्रभावित करती है, बुन्देलखण्ड की सादगी और निश्छल आत्मीय व्यवहार जो सामान्य दैनिक कार्यक्रम मे झलकता है, उसमे प. जी पर परम पूज्य वर्णी जी के सान्निध्य का अमिट प्रभाव ही कारण है। प्रात स्मरणीय वर्णीजी अगाध ज्ञान के सागर होते हुए भी किसी विद्वान/मनीषी या अन्य सामान्य श्रावक के आगे अपने ज्ञान मद का प्रदर्शन नही करते थे और यही सस्कार उनके पट्टशिष्य पं. पन्नालाल साहित्याचार्य के हैं। पडित जी के उद्बोधन मे उच्चरित 'भैय्या' शब्द सम्बोधन, महान सन्त पूज्य वर्णी जी की स्मृति करा देता है।

एक साथ समर्थन और विरोध की सन्तुलित टिप्पणी पं. जी की बातचीत की सबसे बडी विशेषता है। मुझे स्मरण है कि एक बार कुछ सामाजिक व्यक्तियो के साथ चर्चा मे प० पू० आर्यिका ज्ञानमतीजी का सन्दर्भ चल रहा था। सामने वाले सज्जन प पू. माता जी की लोकप्रियता से कुछ अधिक नाराज थे, प जी ने अपनी इसी सहज 'भैय्या' वाली शैली में उक्त सज्जन का कुछ समर्थन किया तो वह सज्जन गद्-गद् हो उठे, लेकिन अगले ही क्षण प जी ने कहा कि भैय्या। आजकल श्रावको का काम सिर्फ छिद्रान्वेषण करना ही हो गया है। यदि समाज मे प्रभावक कार्य न हो और हमारे परमपूज्य साधुजन हमारा मार्गदर्शन न करें, तो हम दिशाहीन हो जावेंगे तथा अभी तक जो ज्ञान भण्डार बचा है वह भी इन साधुओ के अभाव मे लुप्त हो जावेगा। पूज्य वर्णी जी ईसुरी मे प्रवचन कर रहे थे, निमित्त और उपादान का प्रसंग चल पडा। एक सज्जन भी अपनी पुस्तक से गाथाओ का अनुवाद श्रोताओ को सुना रहे थे कि एकाएक उन्होने अपना चश्मा उतार-कर एक ओर रख दिया। इस प्रसग के पूर्व वे निमित्त और उपादान मे कुछ अधिक पूर्वाग्रह-ग्रस्त थे। वर्णीजी ने अपनी विनोद शैली मे उन प्रवचनकार सज्जन का चश्मा उठाकर अपने पास रख लिया। थोडी देर बाद उन सज्जन का गाथा पढने का क्रम आया तो वे चश्मा ढूढने लगे। वर्णीजी बोले—भैया। प्रवचन करो। सज्जन बोले—महाराज बिना चश्मा के मुझसे पढते नही बनेगा। वर्णीजी ने कहा—भैया! अभी तो आप कह रहे थे कि निमित्त कुछ नही है, तो आप अपना प्रवचन बगैर चश्मा लगाये क्यो नही करते? उन सज्जन को अपनी भूल समझ मे आ गई, अब वे बहुत सहजता से निमित्त और उपादान का पारस्परिक सबध समझ चुके थे।

प. जी का सरल व्यक्तित्व भी पूज्य वर्णी जी की सरलता एव समन्वय की सूझ से सन्तुलित है। मैं उनके यशस्वी जीवन की मगल कामना करता हूँ। आदरणीय पण्डित जी को मेरे विनम्र प्रणाम।

राजेशकुमार सिंह 'वत्सल',
एम. काम.,
जबलपुर.

अगाध विद्वत्ता की गरिमा को ओढे पंडित जी के बहुआयामी व्यक्तित्व को शब्दो की सीमा में समेटना दुरुह कार्य है। सागर की अतुल गहराईयों को छूने वाला उनका ज्ञान आचार की आभा से आलोकित होने के कारण मणिकांचन सयोग को चरितार्थ करता है। विद्वत्ता के साथ चरित्र तथा पुरातन के साथ आधुनिकता का समन्वय होने से वे परम्परावादी एव आधुनिक विद्वानो के मार्गदर्शक हैं। आचरणहीन ज्ञान एव निरी बौद्धिकता के इस युग मे चरित्र का पालन करते हुए आपने उन विद्वानो के समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है जो थोथी बौद्धिकता का प्रदर्शन कर जैन सिद्धातो के प्रसार तथा समाज सुधार की डीग हाकते हैं। आज का श्रोता तर्क प्रधान हो उठा है। जिज्ञासा हो, न हो, तर्क के आधार पर वक्ता के प्रभाव को क्षीण करने की प्रवृत्ति वढ रही है। पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा आचरण का सवल ही पाण्डित्य के प्रभाव को विगलित होने से वचाता है। आपके प्रवचन के दौरान श्रोता की 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' जैसी मनःस्थिति नही बनती। क्योकि जीवन मे उतारकर कही गई वात का प्रभाव गहरा होता है, उसमे कहीं उलझाव या भटकने जैसी स्थिति नही होती।

जीवन मे उतार कर ही तीर्थंकरो ने प्राणियो को जो उपदेश दिया वह निश्चयतः प्रभावोत्पादक एव कल्याणकारी रहा। यह वात आज भी उतनी ही प्रासगिक है। व्यक्ति की परिपूर्णता के लिऐ मात्र ज्ञान ही नही अपितु तदनुकूल आचरण आवश्यक शर्त है। पण्डित जी इस उच्च आदर्श की कसौटी पर खरे उतरते है। जन-जन मे आपने जो ज्ञान की गगा प्रवाहित की, इसमे कही अटकाव या उलझन नही। श्रोता के अंतर को झकझोरती है, आत्म कल्याण की प्रेरणा देती है।

साध्य की प्राप्ति हेतु साधनो का सुविचारित उपयोग करना उनकी विशेपता है। प्रमाद इन्हें छू नही सका, थकावट इनके जीवन मे स्थान नही पा सकी, गजव की कार्यक्षमता होने के कारण इन्होने वहुत से सामाजिक हितो को सपादित करने के साथ अमूल्य साहित्य का सृजन किया है। 'आयुषः क्षण एकोऽपि न लभ्यः स्वर्णको टिभि.म 'के मर्म को मानस मे रखकर जीवन जीने का जो अनवरत प्रयास आपने किया उसका प्रतिफल अनेक रूपो मे प्रस्फुटित हुआ। समय के महत्त्व को अंकित करने वाले आपके प्रेरणास्पद जीवन मे आडम्वर का महत्त्व नही, कथनी व करनी मे अतर नही, विवादो से परे रचनात्मकता का आग्रह है। सहज एवं सौम्य व्यक्तित्व मे न जाने कौन सा चुम्वकत्व है कि सहसा आपके सान्निध्य मे आने वाला व्यक्ति एक अगाध आदर की भावना से अभिभूत हो उठता है।

आपका सामाजिक, साहित्यिक एव धार्मिक गतिविधियो का क्षेत्र इतना विशाल है कि उनका मूल्याकन सहज नही। पठन-पाठन, समाज–सेवा तथा सामाजिक सगठनो मे सक्रियता, धार्मिक महोत्सवो मे सहभागिता, अनेकानेक ग्रन्थो का प्रवचन एव सपादन, दैनिक प्रवचन तथा आचार प्रधान दिनचर्या का निर्दोष पालन जैसे कार्यो का सतत निर्वाह एक हाड-मास के पुतले के लिये सहज कार्य नही। पर पण्डित जी करते हैं, केवल करते ही,नही पूर्ण मनोयोग पूर्वक करते है। पूरे मन से निष्ठापूर्वक कार्यो का सागोपाग निर्वाह आपकी प्रवृत्ति है। कोई भूल नही,कोई चूक नही,पानी के प्रवाह की तरह जीवन को निरन्तर गतिशील बनाये रखना आपका स्वभाव बन गया है। घडी के काटे की तरह अबाध दिनचर्या का निर्वाह होता है, गतिरोध नहीं, शिथिलता नही, विराम और विश्राम नही। व्यस्तताओ के बावजूद कभी क्रोध नही, कैसी भी विषमतायें उपस्थित हो कोई विकार उत्पन्न नही होता, इन स्वभावगत विशेषताओ के कारण आपने जो भी कार्य हाथ मे लिया निश्चित रूप से अपनी पूर्ण भव्यता के साथ सफल हुआ।

जिन-वाणी के संरक्षक, सम्वर्द्धक, समाज के श्रेष्ठ मार्ग-दर्शक विद्वानो का संगठन १९४४ मे कलकत्ता के जैन भवन मे वना। इसके पूर्व विद्वानों का कोई सगठित रूप नही था। जिसके कारण इसके पूर्व कभी भी समाज के इन मार्ग-दर्शक विद्वानो को न तो कभी एक साथ एक मच पर ही देखा गया और न ही कभी किसी गूढ समस्या के निदान हेतु एक साथ वैठकर विचार मथन करते ही देखा गया। कलकत्ता मे १९४४ मे यह सगठन अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के नाम से वना। यद्यपि इस परिषद् की स्थापना के समय विद्वानो की उपस्थिति कम थी और स्वाभाविक भी था, क्योंकि इसके पूर्व विद्वानो के लिए इस प्रकार के संगठन वनने की कोई जानकारी थी भी नहीं। फिर भी स्थापना के समय समाज के सभी मूर्धन्य विद्वान् थे जिन्होने एक मत से परिषद् की स्थापना की। स्थापना के वाद विद्वानो का प्रवेश परिषद् मे होने लगा और १९४५ मे जव विद्वानो के जनक पूज्य वर्णी जी के सान्निध्य में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैम विद्वत् परिषद् का प्रथम अधिवेशन कटनी मे हुआ। विद्वानो को एक साथ मंच पर समाज ने देखा, प्रसन्नता की लहर दौड गई और सर्वत्र इस सगठन की प्रशंसा होने लगी। विद्वानो को लगा कि हमारा भी एक सगठन है जिसके माध्यम से विद्वानो की गरिमा वढेगी और समाज को भी लगा कि हमारा जिनवाणी संरक्षक विद्वान् सगठित होकर जैन धर्म, समाज और सस्कृति की उन्नति करेगा। विद्वत् परिषद् की लोकप्रियता वढने लगी और समाज द्वारा आयोजित महान धार्मिक उत्सवो मे विद्वत् परिषद् को सम्मान के साथ आमन्त्रण प्राप्त होने लगा। विद्वानो ने संगठित होकर धर्म, सस्कृति, समाज की रक्षा, सम्वर्द्धन एव उन्नति हेतु कार्य करना प्रारम्भ किया। किसी भी सस्था को सचालित रखना, उसे जीवित वनाये रखना कार्यकर्त्ताओ पर निर्भर करता है। ४० वर्ष से भी अधिक समय से जो संस्था अनुप्राणित रही हो उसके पीछे सर्मपित कार्यकर्त्ताओ का ही योगदान है। किसी भी सस्था का सचालन उसके कर्मठ मन्त्रित्व पर अधिक निर्भर करता है। विद्वत् परिषद् का अनवरत रूप से वना रहना उसकी लोकप्रियता स्थिर रहने के पीछे विद्वत्वर प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य का सर्मपित योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। विद्वत् परिषद् को पडित जी का योगदान अनेक रूपो मे प्राप्त हुआ है। पडित जी के योगदान के सम्बन्ध मे विस्तार से चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सन् १९४६ मे विद्वत् परिषद् की कार्यकारिणो का गठन हुआ। श्री पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य को सयुक्त मत्री का दायित्व सौपा गया और इसके माध्यम से विद्वत् परिषद् का सचालन ही पडित जी के हाथो सौंप दिया गया। कार्यालय सागर आया और विद्वत् परिषद् को सचालन हेतु केन्द्र स्थान मिला। संगठन मे गति आई और विद्वानो की प्रतिष्ठा, सम्मान बढा। वर्णी भवन सागर मे जून १९४७ मे एक माह के शिक्षण-शिविर का आयोजन एवं पूज्य वर्णी जी की अध्यक्षता मे १० से १२ जून १९४७ तक विद्वत् सम्मेलन के वृहद् आयोजन मे आपकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विद्वत् परिषद् का चतुर्थ अधिवेशन १९४८ मे पूज्य वर्णी जी की अध्यक्षता मे बरुआसागर एवं पचम अधिवेशन १९४९ मे सोलापुर मे सम्पन्न हुआ। इस समय तक विद्वत् परिषद् पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी थी और समाज मे यह संगठन लोकप्रिय बन गया था।

विद्वत् परिषद् का कार्य सयुक्त मन्त्री के रूप मे कुशलतापूर्वक संचालित करने से सभी विद्वानों ने १९५३ मे एक मत से परिषद् का मत्री पद विद्वत्वर पडित पन्नालाल जी के सबल कधो पर सौपा। किसी सस्था को उन्नति पथ पर ले जाने के लिए कार्यालय का एव उसके सचालन हेतु कुशल मन्त्री का निर्देशन महत्त्वपूर्ण होता है। सस्था का मन्त्री कर्मठ होता है तो सस्था पनप जाती है और कर्त्तव्यशीलता के अभाव मे सस्थायें असमय मे ही काल-कलवित हो जाती हैं।

विद्वत् परिषद् को कार्यालय के लिए सागर योग्य स्थान और सचालन के लिए कर्मठ, कर्त्तव्य-निष्ठ, समर्पित व्यक्तित्व के रूप में पं. पन्नालाल जी की सेवाएँ प्राप्त हुईं। विद्वत् परिषद् मे गति आई और पडित जी ने विद्वत् परिषद् की गरिमा और लोकप्रियता बढाने मे पूरी क्षमता के साथ कार्य करना प्रारम्भ किया।

पडित जी के मन्त्रित्वकाल मे १९५३ में षष्ठ अधिवेशन खुरई, १९५५ मे सप्तम अधिवेशन पावन भूमि सिद्ध क्षेत्र द्रोणगिरि, अष्टम् अधिवेशन मढिया जी जबलपुर १९५८ मे, नवम् अधिवेशन १९५९ मे ललितपुर, दशम अधिवेशन १९६५ सिवनी, एकादश अधिवेशन १९६८ सागर एवं त्रयोदश अधिवेशन १९७८ बीना मे सम्पन्न हुये हैं। महत्त्वपूर्ण तो यह है कि जहाँ विद्वत् परिषद् ने अपना द्वादश अधिवेशन १९७३ मे शिवपुरी मे "रजत-जयन्ती" के रूप मे मनाया वही पडित जी के मन्त्रित्वकाल की भी रजत जयन्ती मनायी गई। इस अवसर पर विद्वत् परिषद् ने विशाल समारोह मे पडित जी का उनके दीर्घ-मन्त्रित्व काल मे विद्वत् परिषद् की अनुपम उपलब्धियो के उपलक्ष्य मे रजत-मजूषा मे प्रशस्ति प्रदान की। निश्चित रूप से वह सस्था सौभाग्यशाली मानी जाती है जो अपने प्रतिष्ठापूर्ण २५ वर्ष व्यतीत करले। यह कर्मठ, समर्पित, प्रतिभावान मन्त्री पर निर्भर करता है, निश्चित रूप से पडित जी का कर्मठ व्यक्तित्व एव परिषद् के प्रति समर्पण की भावना ही यह उत्सव देख सका। इसके अलावा १९६६ मे श्रावस्ती का नैमित्तिक अधिवेशन, खतौली, का नैमित्तिक अधिवेशन, भी इसकी लोकप्रियता का द्योतक है।

पडित जी के मन्त्रित्व काल की उपलब्धियाँ मात्र अधिवेशन ही नही रहे है, १९६२ मे सागर का शिक्षा सम्मेलन, कटनी एव बीना मे सम्पन्न गोष्ठियाँ कम महत्त्वपूर्ण नही हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पंडित जी के मन्त्रित्वकाल मे और उन्ही के निर्देशन मे गुरुणाम् गुरु गोपालदास जी बरैया की जन्म-शताब्दी समारोह एव बृहद् स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन तथा महामना पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी का शताब्दी समारोह एवं इस अवसर पर प्रकाशित गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति-ग्रन्थ साहित्य के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ है।

जब मैं पडित जी के मन्त्रित्वकाल मे सम्पन्न विद्वत् परिषद् के कार्यो पर विहंगावलोकन करती हूँ, तब मैं पाती हूँ कि विद्वत परिषद् द्वारा भगवान महावीर २५०० वा निर्वाण महोत्सव के पावन अवसर पर तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा चार भागो मे प्रकाशित ग्रन्थ अपूर्व जैन-साहित्य है। निर्वाण महोत्सव वर्ष मे मात्र यही ठोस और सग्रहणीय प्रकाशन विद्वत् परिषद् के साथ ही पडित जी की ही देन है। यद्यपि विभिन्न सस्थाओ/प्रकाशन सस्थाओ ने बहुत सारा साहित्य प्रकाशित किया है। भारतीय सस्कृति के विकास मे जैन वाङ्मय का अवदान भाग एक-दो भी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इसके अलावा छोटे-छोटे अनेको ट्रैक्ट विद्वत् परिषद् ने प्रकाशित कर जैन साहित्य भण्डार को समृद्ध किया है।

जैन विद्या निधि की स्थापना, विद्वानो का सम्मान, विद्वानो की साहित्यिक कृतियो का सम्मान एवं उस पर पुरस्कार योजना आदि अनेको कार्य पडित जी की देन हैं। एक बहुत लम्बा समय (१६४६ से १६८० तक) विद्वत् परिषद् का पडित जी के मन्त्रित्वकाल का रहा है। भारत मे विरली ही कोई सस्था होगी जिसमे इतने लम्बे समय तक कोई मन्त्री रहा हो और विरला ही ऐसा व्यक्ति होगा जिसने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक समर्पण की भावना से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए परिषद् को उन्नत-शिखर पर लाकर खडा किया हो, पं जी इसके अपवाद ही है।

किसी भी सस्था का सर्वोच्च पद अध्यक्ष का होता है, विद्वत् परिषद् मे तो अध्यक्ष की गरिमा ही अलग है। श्री दिगम्बर जैन अतिशय एव कलातीर्थ खजुराहो मे शताब्दी वाद श्रीमज्जिनेन्द्र पच कल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा एव गजरथ महोत्सव जनवरी १६८१ मे सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर विद्वत् परिषद् का अधिवेशन भी हुआ। इसी अवसर पर विद्वत् परिषद् को अनुप्राणित रखने वाले माननीय डॉ. प पन्नालालजी साहित्याचार्य को अध्यक्ष पद पर पदासीन कर परिषद् का सर्वोच्च शिखर सम्मान पं. जी को प्रदान किया गया। प जी की अध्यक्षता मे गरिमा के साथ परिषद् का अधिवेशन हुआ। १६८२ मे अहार जी मे श्री शान्तिनाथ अष्ट शताब्दि प्रतिष्ठापना समारोह के अवसर पर नैमित्तिक अधिवेशन भी प जी की ही अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ।

अध्यक्ष के रूप मे प जी ने १६८५ तक विद्वत् परिषद् का सम्वर्द्धन किया। कार्यालय भी सागर मे ही रहा। १६८१ मे प जी ने मन्त्रित्व का दायित्व डॉ. हरीन्द्र भूषण जी उज्जैन को सौंपा और मई १६८५ मे फिरोजावाद के पचदश अधिवेशन मे अपना अध्यक्ष पद पं भंवरलाल जी न्यायतीर्थ जयपुर को दिया। विद्वत् परिषद् लगभग 37 वर्ष तक प जी के पास फली-फूली और अब मत्री कार्यालय देहली एव अध्यक्ष जयपुर राजस्थान के कुशल-निर्देशन मे फलेगी-फूलेगी। बुन्देलखण्ड का लवा निवास विद्वत् परिषद् के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो से अकित रहेगा।

निश्चित रूप से प जी का समर्पण-भाव, कर्त्तव्य-निष्ठा विद्वत् परिषद् के लिए स्मरणीय रहेगा और उसका इतिहास स्वय प जी का ही इतिहास बनेगा।

नोट :—जनवरी १६८१ को श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र खजुराहो मे श्री मज्जिनेन्द्र पच कल्याणक जिनविम्ब प्रतिष्ठा एव गजरथ महोत्सव सम्पन्न हुआ था। मेरे पिता जी श्री कमल कुमार जैन मत्री थे। उस समय अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् का अधिवेशन था। माननीय पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य की अध्यक्षता मे यह अधिवेशन था। उस समय मैंने प. जी को देखा, उनके प्रवचन भाषण सुने, प्रभावित हुयी। अत उनके अभिनन्दन समारोह के अवसर पर उन पर कुछ लिखना चाहती थी। मैंने विद्वत् परिषद् की रजत जयती स्मारिका को देखा। अन्य प्रकाशित साहित्य भी देखा, उसके आधार पर मैंने उक्त निवन्ध लिखने का प्रयास किया है। मैं अपने लेखन मे कहाँ तक सफल हुयी हूँ, पाठको पर छोडती हूँ।

श्रीमती प्रमिला जैन, एम. एस-सी. [भौ.],
जयपुर

अनेक विध प्रतिभा–सम्पन्न आदरणीय डॉ प. पन्नालाल जी के सम्वन्ध मे क्या-क्या लिखा जावे। समाज का कोई भी क्षेत्र ऐसा नही है, जिसमे पडित जी का सक्रिय सहयोग न हो। अपने जीवनकाल मे करीव पचास वर्ष तक आपने श्री गणेश वर्णी सस्कृत महाविद्यालय, सागर की सहायक प्राध्यापक और प्रधानाचार्य के रूप मे अनवरत सेवा की और अपनी क्षमता और प्रतिभा के बल पर इसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। ३०–३५ वर्ष तक विद्वत्परिषद् के मत्री और अध्यक्ष के पद पर रहकर उसे लगन व समन्वय के साथ सम्हाला और निरन्तर गतिशील वनाये रखा। विद्वत्परिषद् के माध्यम से विद्वानो की श्रेष्ठ रचनाओ को पुरस्कृत करना, असहाय विद्वानो को आर्थिक सहयोग करना, अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन व धर्म-प्रसार की अनेक योजनाओ को सक्रिय रूप देने मे आपका वरदहस्त है। भारत की विभिन्न जैन सस्थाओं से आप किसी न किसी रूप मे जुड़े हुये हैं। भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी, जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर, आचार्य शातिसागर ग्रन्थमाला फलटन आदि प्रमुख प्रकाशक जैन सस्थाये भी आपके क्रियात्मक सहयोग के लिये उल्लेखनीय है। आप कुशल अध्यापक है, तो कुशल व्यवस्थापक और प्रवन्धक भी है। योग्य प्रवक्ता है, तो सुयोग्य लेखक भी है। सफल आगम अध्यात्म के ज्ञाता है, तो विधिवत् चारित्रवान् व्रती भी है। साहित्यिक है तो श्रमशील सुलभ सम्पादक, अनुवादक और समालोचक भी हैं। विचारवान् है तो क्रियाशील भी है।

आदरणीय पंडित जी ने महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, अष्टपाहुड आदि चारो अनुयोगो के अनेक ग्रन्थो का शोधपूर्ण प्रस्तावनाओ के साथ प्रामाणिक अनुवाद किया है। जिसके द्वारा जैन व जैनेतर विद्वत् जगत् उन ग्रन्थो से यथेष्ट लाभ ले रहे है।

सस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी इन तीनो भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार है। आप भाषाकार तो हैं ही, साथ मे शब्दो के अन्वेषक और व्युत्पत्तिकार भी हैं। कौन सा शब्द किस-किस धातु से बना है, चाहे वह हिन्दी का या सस्कृत का हो, उसका प्रयोग कहा किस-किस अर्थों मे होता है या हो सकता है, इस विषय मे आपकी रुचि व जानकारी भी अच्छी है। जैनागम के सभी अनुयोगो के आप मूर्धन्य विद्वान् हैं ही, सस्कृत साहित्य के अच्छे उच्चकोटि के रचनाकार भी हैं। आपकी साहित्य सेवा को अनेको बार भारत शासन, मध्यप्रदेश शासन व अनेक सामाजिक सस्थाओ ने समय-समय पर सम्मानित किया है। जो जैन समाज के लिये बडे गौरव की बात है। आदर्श शिक्षक के रूप मे उन्हें राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। सर्वत्र सम्मानित होने पर भी आप मे अहकार की भावना विलकुल भी नही है।

आपके प्रवचन सप्रमाण सयुक्तिक और आगम-सम्मत तथा सरल होते है। कठिन विषयो पर भी आप सरलता से प्रकाश डालते है, कि किसी को शंका या आलोचना का अवसर नही आ पाता है।

पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के सान्निध्य मे षट्खडागम ग्रन्थो की वाचना का आयोजन किया जाना आपकी ही पहल है। इन आयोजनो का संचालन आप जिस कुशलता एवं तत्परता से करते हैं, वह प्रशसनीय है।

पं जी को सकट मे भी सदा प्रसन्नचित्त और धीर-गंभीर देखा है। पिछले वर्ष एक दुर्घटना मे आपके पैर मे फ्रेक्चर हो जाने से ३–४ माह एक ही अवस्था मे लेटे रहना पड़ा। यह उनके सवसे अधिक

एक विशाल संस्था :

कष्टमय दिन थे। एक दिन जब अधिक पीडा बढ गई तो आप बोले—भुवनेन्द्र कुमार जी! अब तो मुझे लगता है कि हमारा जीवन समाप्त होने वाला है। किन्तु इसकी भी कोई चिन्ता नही है। क्योकि एक न एक दिन सभी को जाना ही है। मैंने कहा कि पडित जी! आप ऐसा न कहिये। आप शीघ्र ही स्वस्थ होगे। जिन भक्ति के प्रसाद से आप अल्प समय मे ही आरोग्य हुये। और पूर्ववत् उत्साह और लगन से सभी कार्य करने लगे।

खुरई वाचना के समय आप चलने मे असमर्थ थे। फिर भी पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के आदेश से आपने षट्खडागम वाचना के आयोजन का कार्य पूर्ण उत्साह और लगन से किया। वैशाखी एव अन्य लोगो के सहयोग से वाचना का कार्यक्रम बिलकुल नये रूप मे विभिन्न समारोहो के साथ डेढ माह तक सानन्द चलता रहा। यह सब आपके सक्रिय सहयोग का फलीभूत परिणाम है।

पडित जी के व्यक्तित्व मे यह एक बड़ी खूबी है कि आप जीवन भर कभी पक्ष-विपक्ष में नहीं पड़े। सदा आगम और न्याय-सगत बात का पक्ष रखा। जिसका परिणाम यह रहा कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र और वर्ग मे आप समान-भाव से आदर व सम्मान को प्राप्त हैं।

पं. भुवनेन्द्रकुमार शास्त्री, खुरई

□

प्राचीन वाङ्मय के उद्भट मनीषी :

हमारा परिवार आरम्भ से ही पूज्य बडे वर्णीजी का गुणानुरागी परमभक्त रहा है। हमारे माननीय काका श्रीमान् प. श्री मुन्नालाल जी रावेलीय न्यायतीर्थ जैन दर्शन के अग्रगण्य विद्वान् हैं। उन्ही के निकटतम पडौसी श्रीमान् डॉ पन्नालाल जी साहित्याचार्य का सान्निध्य–मार्गदर्शन तथा स्नेह हमारे परिवार को भी सहज ही सुलभ रहा है। अपनी शैशवावस्था से ही मैं पं. जी की नियमित दिनचर्या, स्वाध्याय, प्रवचन, श्रुत सेवा, प्रभावना अग के सम्वर्द्धक विविध कार्यक्रमो और अहर्निश लेखन के साथ ही साथ उनके सौम्य–शिष्ट–मधुर वार्तालाप से बहुत अधिक प्रभावित रही हूँ। आगम के हार्द को अपने जीवन मे मूर्तरूप प्रदान करते हुए देखकर उनके प्रति मेरा हृदय उत्तरोत्तर श्रद्धा से अभिभूत होता गया। प्रतिपल प्राचीन शास्त्रो के सरक्षण, सम्पादन अनुवाद और उनके स्वारस्य को नूतन शैली मे प्रस्तुत करते हुए उन्हे देखकर मैं उन्हे प्राचीन वाङ्मय का 'एनसायक्लोपीडिया' मानती आयी हूँ। उन्होने प्राचीन वाङ्मय की जो अभूतपूर्व सेवा की है, परिणाम स्वरूप वे ग्रन्थ आज सर्वजन सुलभ हुए हैं। अत इस पीढी को श्रद्धेय प. जी का शाश्वत और महनीय योगदान है। उस श्रुतसेवा से उनका उद्भट वैदुष्य प्रतिविम्बित होता है। भगवती श्रुतदेवता के ऐसे प्रकृष्ट आराधक माननीय प. जी का श्रद्धाभिभूत हृदय से कोटिश अभिनन्दन करते हुए उनके शतायुष्क की कामना करती हूँ।

सौ. सरोज सांधेलीय,
सरस्वती कालोनी, दमोह

बचपन मे मुझे आदरणीय पडित पन्नालालजी का फैलता हुआ सुयश परिचय अपने पैतृक ग्राम से हुआ। सागर जिला के पारगुवा नामक ग्राम मे पंडितजी का जन्म हुआ और हमारे पिता श्री शाह अर्जुनलालजी का जन्म भी पारगुवा मे ही हुआ था। बस, पारगुवा से जुडा हुआ मोह पंडितजी के प्रति आत्मीयता का कारण बना, मेरे लिए।

पहले पंडितजी अपने नाम के साथ 'वसन्त' उपनाम का भी प्रयोग करते थे, लगता है सभी कवियों की भाति पंडितजी का काव्य सृजन भी एक मोहक ऋतु से प्रेरित और प्रासंगिक है। 'वसन्त' की रसधारा से प्रवाहित और प्रचलित नाम कालातर मे तपकर निखरकर साहित्याचार्य मे प्रचलित हुआ और वर्तमान मे उनकी यही पहचान वन गई। इसका कारण जैन जगत् मे एक गौरवशाली मूर्धन्य विद्वान का उदयकाल है। पडितजी साहित्य के मनीषी, महारथी, महाविद्वान एक पूर्ण और समृद्ध व्यक्तित्व बने। इनके द्वारा आगम का सम्पादन अनुशीलन, अनुवाद, साहित्य-लेखन और मौलिक-सृजन आशिक नही जैन साहित्य की दुनिया मे अपार-सा ही है। इनके ओजस्वी भाषण और प्रभावशाली प्रवचन, सम्बोधन एवं तत्वचर्चा कीर्ति स्थापित करती हैं।

साहित्याचार्य जी का नाम अब अपने आप मे पन्नालाल से उत्पन्न दिखाई देने लगा है। वैसे भी साधु सदृश सात्विक जीवनयापन करने वाले 'पन्ना' और 'लाल' ज्ञान और चरित्र के दो रत्नों का अनुपम सगम है, ऐसे मणियो से आभायुक्त व्यक्तित्व मे सादगी का प्रतीक सहज ही हमे आकर्षित करता है।

सरस्वती के आराधक विद्वान का कीर्तिमान युक्त जीवन सागर को अलंकृत किए हुए है। विद्या के क्षेत्र मे सागर अग्रणी है और जैन विद्या सस्थान मोराजी से जुडा हुआ अनेक वर्षो का नाम पन्नालाल साहित्याचार्य, विद्यासागर है।

पडितजी का समूचा जीवन जो अब पौन शताब्दी को लाघ रहा है, समाजसेवा मे अग्रणी, तत्पर और सक्रिय है। अनेक सस्थाओं और समाजसेवी संगठनो के जनक, सस्थापक, संचालक अथवा कार्यवाहक व्यक्ति की छवि मे पडितजी यत्र तत्र दिखाई देते है।

घटनाओं मे पडितजी का जीवन खण्ड ढूँढना अत्यन्त कठिन है, यद्यपि वे बहुत ही साधारण स्थिति से असाधारण प्रतिभा के धनी बने, यही यश की पूजी आज अक्षयकुम्भ मे भरकर अभिनन्दन के क्षणो मे सागर मे छलकने लगी है, ऐसे साहित्याचार्यजी का अभिनन्दन कर समाज उनके मानवीय गुणो की चर्चा करने का अवसर दे रहा है। यह समाज और पडितजी दोनो के लिए अभिनन्दनीय और वन्दनीय है।

अभिनन्दन के इस पावन अवसर पर मैं उनके स्वस्थ्य एवं दीर्घायु की मगल कामना करता हूँ।

—प्रेमचंद शाह, बीना

पं. पन्नालालजी का शुभाशीर्वाद :

श्रद्धेय पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर से मेरा अनेक वर्षों से परिचय है। एक वार वे मडावरा आए थे। मेरे पूज्य पितामह श्री सिं भागचन्द्रजी सोरया ने मेरे अध्ययन के विषय मे उनसे सलाह ली थी, तब उन्होने तथा स्व. पं. दयाचन्द्रजी सिद्धातशास्त्री ने मुझे अध्ययन हेतु बनारस जाने की प्रेरणा दी थी। एक वार बनारस मे विद्वत्परिषद् की बैठक मे भी प जी के दर्शनो का सुयाग प्राप्त हुआ था। इसके वाद तो विद्वत्परिषद् एव शास्त्री परिषद की बैठको मे अनेक वार उनसे मुलाकात का सुअवसर प्राप्त हुआ।

उन्होने अनेक प्राचीन प्राकृत व सस्कृत भाषा के जैन ग्रन्थो की हिंदी टीका कर जैन जगत् का महान उपकार किया है। अनेक वर्षों तक लगातार विद्वत्परिषद् के मत्री रहने पर भी कभी उनके विरुद्ध कोई स्वर सुनाई नही पडा। उसके वाद वे विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष भी रहे।

एक वार खतौली मे एक धार्मिक उत्सव मे वे पधारे थे, मैं भी वहा आमन्त्रित था। उत्सव समाप्ति पर जब हम लोग अपने-अपने निवास पर जाने लगे तो मैंने पडितजी से आशीर्वाद मागा, तब पडितजी बोले—"भैया, तुमने जैन–धर्म पढा है। आत्म कल्याण करो।" पडितजी का यह आशीर्वादात्मक आदेश मुझे सदैव स्मृत रहता है। उनके आदेश मे मुझे आ. हरिभद्र सूरि की कल्याण कामना ध्वनित होती है, जो अपने शिष्यो को भव-विरह होने का आदेश देकर, भव-विरह सूरि के नाम से विख्यात हो गए थे।

—डॉ. रमेशचंद्र जैन,
विजनौर.

□

श्रद्धास्पद—"वसंत" जी :

बुन्देलखड की माटी के ग्रामीण अंचलस्थ पारगुवा मे जन्मे आदरणीय डॉक्टर पं. पन्नालालजी जैन 'वसत' साहित्याचार्य से, बुन्देली जनमानस के बाल, युवा एव वृद्ध सभी पूर्णत परिचित और प्रभावित हैं। आदर्श जीवन और उच्च विचार की जीती जागती तस्वीर, 'पहनिये खदा और निवाहिये सदा' मे जिसकी निष्ठा और आस्था हो, उस सौम्यमूर्ति को सतत् सहज, सरल तथा सदा प्रफुल्लित मुद्रा मे ही देखा परखा जा सकता है।

गहन-गभीर विचारक, उद्भट और मूर्धन्य विद्वान् होकर भी इतना विनम्रशील व्यक्तित्व जो छोटे-वडे का समुचित समादर करे, विरले ही देखने मे आते हैं। इन्हे अभिमान छू तक नही गया है।

यह महान गौरव की बात है कि जिस सस्था मे आप परिश्रमनिष्ठ, अध्ययनशील रहकर प्रखर अध्येता रहे, वही अनेको दशाब्दियों तक आपने सफल अध्यापन का सौभाग्य पाया। इसका प्रत्यक्ष परिणाम, आपके द्वारा शिक्षित अगणित विद्वान् यत्र-तत्र-सर्वत्र हैं।

श्रद्धास्पद 'वसंत' जी :

आपकी समझाने की शैली और वाक्पटुता से मै अत्यधिक प्रभावित हूँ। बात १९३३ की है। मोराजी भवन मे सतर्क सुधा तरगिणी सस्कृत विद्यालय की कक्षा मे पंडितजी का अध्यापन जारी था, निकट ही मैं जा बैठा। आपकी अध्यापन शैली, विषय को छात्रो के गले सहज ही उतारने—हृदयंगम कराने का अद्भुत कौशल देखकर मैं विस्मित रह गया।

पंडितजी गद्य-पद्य के सिद्धहस्त लेखक, सहृदय कवि, कुशल व्याख्याता, प्रवचनकार, समालोचक, सशोधक, अनुवादक, टीकाकार और श्रेष्ठ मार्गदर्शक है। अपनी चर्मोत्कर्षी सेवा साधना से मोराजी महाविद्यालय सस्था को 'वट' स्वरूप प्रदान करने वाले विद्वद्वर 'वसत' जी आप स्वस्थ रहे, दीर्घायु हो। मैं आपका सतत् हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—छोटेलाल 'भास्कर'
स्वतंत्रता संग्राम सेनानी,
दमोह

■

समर्पित श्रद्धा-सुमन :

सागर की सीपी मे मोती सा स्निग्ध डॉक्टर पन्नालाल जी का व्यक्तित्व हम सभी के लिए विगत अनेक वर्षो से आकर्षण का केन्द्र रहा है। उनकी नि:स्वार्थ सेवा-भावना, उदात्त चरित्र तथा अहिंसात्मक विचारधारा ने उस आदर्श-पथ का निर्माण किया है जिस पर चलकर न केवल हम बल्कि आने वाली पीढियाँ भी अपने मे सुन्दरतम, कल्याणकारी तथा शाश्वत मार्ग खोजने मे प्रवृत्त होती रहेगी।

एक आदर्श अध्यापक के रूप मे श्री पन्नालाल जी ने वर्तमान की विसंगतियो को दूर करने के लिये अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर अपने विचारो को पुष्पित किया है।

विज्ञान और दर्शन परस्पर विरोधी दिखते हुए भी यथार्थ मे, उनकी दृष्टि मे परस्पर अनुपूरक हैं और वर्तमान को सुखी तथा समृद्ध बनाने के लिए दोनो का साहचर्य आवश्यक है। उनकी इस मान्यता ने जहाँ उन्हे वैज्ञानिक चिन्तन प्रदान किया है, वही उन्हे अध्यात्म की गहराइयो मे डूब कर नये-नये रत्नो की खोज मे समर्थ भी बना दिया है। यही कारण है कि वे एक ओर तो नयी-नयी उद्भावनाओ के सर्जनहार है और दूसरी ओर सामयिक नेतृत्व तथा मार्गदर्शन की क्षमता मे भी अप्रतिम है।

ज्ञान और कर्म के एक साधक के रूप मे श्री पन्नालाल जी का जीवन प्रेरणादायी है। दोनो की सम्यक्-साधना जीवन की महानता के लिये आवश्यक है। जहाँ उन्होने ज्ञान की उपासना कर उच्च कोटि के ग्रन्थो की मौलिक रचना एव अनेक ग्रन्थों को अनूदित किया है, वही कर्म के मर्म को पहिचानते हुए उसकी साधना से, कर्म-निष्ठा से अपने जीवन को उत्कृष्ट व सयमी बनाने मे सफल हुए हैं। वे वीर-व्रती हैं। आचार-संपृक्त व्यक्तित्वो मे से एक है, वे सरल, शुद्ध, एक और अखण्ड हैं। उनका

समर्पित श्रद्धा सुमन :

विश्वास है कि कोरे उपदेशो से समाज मे परिवर्तन नही किया जा सकता, समाज चरित्र की विशेपताग्रो से उद्वेलित होता है । ग्रन. कुशल वक्ता ग्रौर प्रभावी विद्वान् होने के साथ ही वे उन गुणो के मूर्तिमन्त रूप है जो समाज ग्रौर राष्ट्र को गाधी जी के सर्वोदय मे रूपान्तरित करने की क्षमता रखते है ।

हमारी कामना है कि उन्हे दीर्घ जीवन प्राप्त हो, जिससे वे ग्रौर ग्रधिक समाज-सेवा कर सकें तथा ग्रपनी ग्राराधना ग्रौर साधना से ग्रन्धकार मे प्रकाश दिखा सकें ।

सिंघई कुंदनलाल जैन,
ब्लॉक ग्रध्यक्ष, दि. जैन महासमिति,
हटा [दमोह]
तथा
सिंघई राजाराम जैन
ग्रध्यक्ष—श्री दि. जैन समाज, हटा

मम गुरुवर :

इतिहास के पन्नो पर एक कथा ग्रकित है कि एकलव्य नामक भील को गुरु—श्रद्धा के ग्रवलम्बन से धनुष विद्या का कुशल ज्ञान हो गया था । गुरु के प्रति ग्रटूट श्रद्धा मात्र से ही वह भील वालक इस कठिन विद्या मे पारगत/निष्णात हो गया था । मैंने भी ऐसा ही प्रयास पूर्ण श्रद्धा सहित विद्यार्जन हेतु किया । मुझे सौभाग्य भी मिला, महान् गुरु प पन्नालाल जी के सान्निध्य का । उस समय मैं जितना ज्ञान ग्रहण कर सकती थी, उससे ग्रधिक प्राप्ति की कोशिश की । उनके ही प्रमुदित वचन गोचर मेरे शोध का विपय था, उन्होने ही मुझे सुझाया कि किसी एक महान् ग्राचार्य के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर शोध करूँ । मैंने गुरुवर के ग्रादेश का पालन किया ग्रौर ग्रपेक्षा है कि गुरु के ग्राशीष से मैं शोध मे श्रेष्ठ सफलता प्राप्त करूँगी ।

मुझे ग्रादरणीय गुरुवर से वहुत कुछ सीखने मिला है । वे ज्ञान के ग्रथाह सागर है । इस सागर से मैंने ज्ञानामृत की ग्रधिकतम बूदें ग्रास्वादित करने का प्रयत्न किया है, इसके मधुर स्वाद को मैं जीवन मे कभी विस्मृत नही कर सकती । मुझे तो इससे नवजीवन प्राप्त हुग्रा है । वे मुझे जव वहुत स्नेह से 'विटिया' कहकर पुकारते हैं, तव मेरा रोम—रोम प्रफुल्लित हो उठता है ।

ग्रादरणीय पडित जी ग्रसीम—वात्सल्यता, सरलता, करुणता,ग्रपार ज्ञान, विनय, समय की उपयोगिता ग्रादि महान् गुणो के सिंधु है । मेरे गुरु जैसे गुरु सवको मिलें व मुझे तो ऐसे गुरु युग—युगातरो तक मिलते रहे, ऐसी मेरी ग्रतिम कामना है ।

डॉ. श्रीमती भारती जैन
एम. ए., पी. एच—डी., सागर

मानवता के कीर्तिमान :

भारत वसुन्धरा का यह सौभाग्य है कि यहा महान् वीरो ने जन्म लेकर देश-हित मे अपने प्राण उत्सर्ग किए है तथा इसी धरा पर महान् ज्ञानविद् व शिक्षाविद् सन्त भी हुए हैं। जिन्होने अपनी प्रखर बौद्धिक शक्ति से सिद्धान्त, अध्यात्म, साहित्य आदि क्षेत्रो मे अनुपमेय गति प्राप्त की है। महान् शिक्षाविद् एव ज्ञानविदो मे सागर मे जन्मे डॉ. पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य का नाम उल्लेखनीय है।

प जी अत्यन्त कुशल मार्गदर्शक हैं। जब भी मैं विद्यालय की प्रगति के बारे मे, विद्यालय की किसी व्यवस्था के सम्बन्ध मे या अपनी निजी समस्या के सम्बन्ध मे पं जी से परामर्श लेता तो मुझे ऐसा अनूठा, अकाट्य व सुलझा हुआ सुझाव मिलता कि मै उस पर अविरल गमन कर देता एव अपेक्षित सफलता प्राप्त करता था। प. जी के जीवन ने समय को सच्ची प्रतिष्ठा दी है। पं जी की दिनचर्या समयानुसार निश्चित थी। जिसमे उन्हे समय से किसी प्रकार की छूट नही मिलती थी। ऐसा भी कह सकते है कि पं. जी समय मे नही किन्तु समय प. जी मे बंध गया था। प. जी ने समय की कीमत का सच्चा आकलन किया था।

प. जी की शास्त्र सभा मे जरा सी भी अप्रामाणिकता का दर्शन होने का प्रश्न ही नही उठता। एकदम प्रामाणिक, सरल, सुबोध एव सुलझे हुए उनके विचार होते हैं।

प. जी की जीवनचर्या हमे बहुत कुछ सिखाती है, ऐसे मानवता के कीर्तिमान पं. जी के प्रति मेरे शतशः नमन।

—पं. हरिश्चंद्र जैन, प्रभाकर, साहित्यरत्न,
सागर

जैसा देखा-जैसा गुना :

दिसम्बर १९८४। सागर प्रवास-प्रसंग-स्याद्वाद शिक्षण शिविर। उस समय पडित-प्रवर पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पैर मे फ्रेक्चर आ जाने से लगभग दो माह से अस्वस्थ्य विस्तर पर पड़े थे। प्रथम दिवस ही मिलने निवास पर पहुँचा। पण्डित जी एक धवल स्वच्छ चादर से अपनी वेदना को ढांके, मुख से ही नही, आँखो से मुस्कराते स्नेहासिक्त लहजे मे बोले-"आओ भैया बैठो"। इस वाणी से, वर्णी जी मानो जीवन्त हो उठे। साथ मे गये ब्रह्मचारी जी ने कुछ विशेषणो सहित जब मेरा परिचय दिया तो हँसकर बोले-'मैं निहालचन्द को जानता हूँ"।

वाणी मे मिसरी घोले पडित जी से जब मैंने पूछा-"यह सब कैसे घट गया?" तब पैर न हिला पाने की सहज टीस को छिपाते हुए कहने लगे-'यह कर्म का उदय था, जो कट गया। अब यही पलग सभी नैमित्तिक क्रियाओ के साथ पूजन-पाठ जाप और ध्यान की आसन बना हुआ है। फिर कुछ रुककर बोले—शरीर कितना निमित्त है हमारी भावो की प्रक्रियाओ के सृजन के लिए। शरीर निरोग है तो धर्म निराकुल सधता जाता है, लेकिन जब अशक्त है तो भावो को ज्ञान और विवेक की वैशाखियो से सहेज सहेजकर सुदृढ करना पडता है। उनकी यह बातचीत एक प्रवचन सा लग रहा था और मैं कुशलता की औपचारिकता से विस्मृत सा हो विचारो की गहराईयों मे उतर गया।

जैसा देखा—जैसा गुना :

साहित्य–सृजन के सकल्प के लिए समर्पित साहित्याचार्य जी का सारा जीवन–सयम की शलाका से भी सुशोभित है। जिनके चारित्र की उज्ज्वलता दर्पण सी झलकती है। उस समय मुझे प्रतिभासित हो रहा था कि सम्यक्दर्शन की अकम्प लौ से मण्डित ज्ञान की मशाल है पण्डित जी। साहित्याचार्य पद की गुणात्मकता मूर्तवत् होकर, जिनकी नाम सज्ञा बन गई ऐसे पण्डित जी वुन्देलखण्ड के तो हृदय स्पन्दन/प्राणहैं।

जिनके चिन्तन मे आगम की प्राकृत गाथायें और सस्कृत देव भाषा की काव्यात्मकता गुंथी है। जिनकी वाणी मे विनम्रता और सरलता उद्‌भासित होती है और जिनकी क्रिया–देवागम गुरु सम्मत सयम साधक और न्यायनिष्ठ है/रही है।

आपके शतायु की मगलकामना सहित यह विनम्र प्रणामाञ्जलि शब्दो के मूँगो से गुंथी चरणो मे समर्पित है।

निहालचन्द जैन, एम. एस–सी.
व्याख्याता – बीना [म. प्र.]

पितातुल्य गुरु :

पूज्य पडित जी को लोग सस्कृत साहित्य की सेवा की दृष्टि से एक अवतार पुरुष के रूप मे स्वीकार करते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि पूज्य पडित जी मेरे गुरु है। सात वर्ष मैं विद्यालय मे रहा हूँ, इस दौरान मैंने यह पाया कि पडित जी न केवल एक विद्वान् हैं अपितु एक उच्चकोटि के मानव भी है। उनका हृदय दया, उदारता व सवेदनशीलता से हमेशा भरा हुआ ही मैंने देखा। अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे शकुन्तला की विदा का वर्णन पढाते समय पूज्य पडित जी स्वय रो पडते थे। उनकी सवेदनशीलता का इस उद्धरण से सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

जहाँ तक मेरी व्यक्तिगत मान्यता है मैं उन्हें पिता तुल्य मानता हूँ क्योकि उन्होने मुझे न केवल ज्ञान दिया अपितु समय-समय पर आर्थिक मदद भी की। अपने अभी तक के जीवन की वह घटना मैं कभी नही भूल सकता जव सन् १९६६ मे परीक्षाफीस के लिये इतजाम किये गये पैसो की विद्यालय से चोरी हो गयी। उससे हम दोनो भाईयो की फीस भरी जानी थी तथा इंतजाम वडी मुश्किल से हुआ था। फीस भरने की तारीख निकट थी, कही से कोई सहयोग की उम्मीद नही थी। अतएव हम लोग काफी असहाय जैसी स्थिति मे थे। पूज्य पडित जी को इस वात की जानकारी हुई तो उन्होने तुरत हम लोगो की फीस का इतजाम कर दिया और जव सन् १९८१ मे मैंने पडित जी को राशि लौटायी तो उन्होने उसी राशि से मुझे विद्वत्परिषद् का स्थायी सदस्य बना दिया। उनकी उदारता व निस्पृहता का वर्णन शब्दो मे सभव नही है। मेरा रोम-रोम पूज्य पडित जी का आभार मानता है। भ० जिनेन्द्र देव के शासन का प्रसाद उन्हे स्वस्थ व दीर्घायु बनाये रखे जिससे साहित्य व समाज की अधिकाधिक सेवा हो सके।

हीरालाल जैन [बम्हौरी]
यूनियन बैंक ऑफ इडिया, सागर.

बीसवीं सदी के दो "लाल" (पं. जवाहर पं. पन्नालाल)

देश को आजाद कराकर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी ने प. जवाहरलाल नेहरू के हाथो देश की बागडोर सौंपकर जो स्वप्न संजोये थे, वही स्वप्न जैन जगत् के महान आध्यात्मिक सत पूज्य वर्णी जी ने पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य के हाथो सागर के महाविद्यालय को सौपकर सजोये थे, दोनो के स्वप्न पूर्ण भी हुये, होते क्यो नही, अपने लाडले 'लालो' के हाथो से यह कार्य पूर्ण होने मे शंका की गुंजायश ही नही रहती । दोनो महात्मा थे, लगोटीधारी थे, दोनी को दो पंडित मिले, वे भी टोपीधारी ।

प. नेहरू का सम्पूर्ण जीवन देश सेवा मे सर्मपित रहा प साहित्याचार्य जी का सम्पूर्ण जीवन मे समाज सेवा मे समर्पित है । प नेहरू गाधी जी के आदर्शो और सिद्धान्तो पर चलकर देश को सुदृढ और मजबूत करते रहे । साहित्याचार्य जी वर्णी जी के सिद्धान्तो और आदर्शों पर चलकर समाज को सुदृढ और मजबूत कर रहे हैं । दोनो ही कुशल वक्ता, उपदेष्टा, प्रशासक एवं लेखक है साथ ही धर्म और देश के सच्चे भक्त भी हैं । दोनो के मार्गदर्शक महात्मा सत रहे हैं। मैं दोनो के चरणो मे मार्गदर्शको सहित सदैव नतमस्तक हूँ ।

साहित्याचार्य जी इस भौतिकवादी युग मे महान आदर्शवादी आध्यात्मिक दार्शनिक सिद्ध हुये है, जिन्होने व्याकरण, न्याय, साहित्य और दर्शन पर अधिकार पाने मे कोई दाव नही छोडा, प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग सभी अनुयोग के ग्रन्थो के लेखक व्याख्याकार तथा टिप्पणीकार आप है । आपके लिखित ग्रन्थो की सख्या शताधिक है । महाकवि हरिचद्र एक अनुशीलन शोध-प्रबध पर आपको सागर वि वि से डाक्टरेट उपाधि प्राप्त हुई,आप सन् १९६९-७० मे आदर्श शिक्षक के रूप मे भारत के महामहिम राष्ट्रपति वी वी. गिरि के कर कमलो से राष्ट्रपति पुरस्कारसे सम्मानित हुये है । आपके जीवन वृत से सम्पूर्ण समाज अवगत है, आपकी गरिमा अधिक है, शब्द कम हैं ।

इस शुभ भावना के साथ कि प. जी दीर्घायु प्राप्त करे ताकि आप जैसे सद्गुरु से आत्म कल्याण का मार्ग सभी जीवो को सुलभ होता रहे ।

उदय जैन, शास्त्री, एम. ए., सागर [म. प्र.]

ऐसे थे पण्डित जी :

बुन्देलखण्ड की पावन वसुन्धरा आज भी अपनी गौरवमयी विरासत को अक्षुण्ण वनाये हुए है । इस माटी ने ऐसे रत्नो को नि सृत किया है, जो आज भी अपनी प्रखर ज्ञान किरणो से अज्ञानाधकार को हटा मानव हृदय को ज्ञान-प्रकाश से आलोकित कर रहे है । इसी माटी के, पूज्य सन्त श्री वर्णी जी ने जो ज्ञान-दीप प्रज्वलित किया था, उसके आलोक मे विद्यार्थी पन्ना को परखा और सचमुच "पन्ना" वना दिया ।

जहाँ सागर को डॉ० सर हरिसिह गौर एव पद्माकर कवि जैसे महान् शिक्षाविदो का सौभाग्य मिला वही सस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान्, श्रेष्ठ ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, कवि, करुणा एव सरलता की सौम्यमूर्ति, राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत पण्डित श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य का सौभाग्य भी प्राप्त है ।

प० जी के जीवन का आकलन किया जावे तो दो विशेषताए प्रमुखता से उजागर होती है—(१) सरलता, (2) समय का सदुपयोग। एक प्रसग उनकी सरलता का याद आता है। प० जी अपने निवास कटरा से मोराजी प्रातः अध्यापन हेतु ५ बजे जाते थे। एक दिन उनकी नीद समय से पूर्व खुल गयी, और उन्होने रात्रि ३ बजे ही मोराजी की ओर प्रस्थान कर दिया। मोराजी का रास्ता नगर कोतवाली के सामने से है। जब प० जी वहा से गुजरे तो एक पुलिस कास्टेबिल ने उन्हें रोका और पूछा—कहाँ जा रहे हो ? प० जी ने कहा—मोराजी विद्यालय। कास्टेबिल—इतनी रात मे कही नही जा सकते, इधर आओ। और प० जी को उसने कोतवाली मे बैठा लिया। प० जी ने सोचा 'सामायिक करना थी, सो कही भी करलो।' और वे वही कोतवाली मे सामायिक पर बैठ गये। जब ५ बजे तब प० जी वहाँ से मोराजी आये और हम लोगो से कक्षा मे बोले—आज मैं कोतवाली से आ रहा हूँ। हम लोगो ने पूछा—क्यो प० जी ? प० जी बोले—कुछ नही, मैंने अनधिकार चेष्टा की थी, रात्रि ३ बजे यहाँ आ रहा था, सो उन्होने बैठा लिया। ऐसे सरल है प० जी।

समय का उपयोग करने मे तो पडित जी की सानी नही है। आपकी घड़ी चाहे फेल हो जावे किन्तु पडित जी के अन्तर की घड़ी सही समय ही बताती है। यदि प्रात.काल पडित जी के शयन कक्ष का बल्ब जल गया तो समझ लीजिए कि चार बज गये। यदि वे मोराजी मे शिक्षण कक्ष मे पहुँच गए तो समझिये ५ बज गये, कटरा मदिर पहुँचे कि ८ बजा, कहने का अर्थ यह कि पडित जी समय के कट्टर पाबन्द हैं। पडित जी ने समय की उपयोगिता का मूल्याकन किया है।

घोर विषम परिस्थितियो से जूझकर यह व्यक्तित्व निखरा है। प० जी को विद्यार्थी जीवन मे कमरया ट्रस्ट की ओर से तीन पैसा वजीफा मिलता था, जिसमे उन्होने माह भर खर्च चलाकर विद्यार्जन किया है। ऐसे सघर्षों की भट्टी मे तपकर ही यह कुन्दन अपनी चमक पा सका है।

प० जी इतने करुणावान् हैं कि कक्षा मे 'अभिज्ञान-शाकुतलम्' पढाते-पढाते, शकुन्तला की विदा-प्रकरण के समय, प० जी के अश्रु बह जाते थे।

ऐसे महान् गुणो को सजोये, 'सादा जीवन-उच्च विचार' की सूक्ति को अपने मे आत्मसात् किये, महान् परोपकारी, श्रेष्ठ-वक्ता, कुशल लेखक-कवि, तार्किक, सस्कृत के विद्वान्, कर्मठ-समाजसेवी, विद्यार्थियो के हितकारी, सौम्य, सरल, मृदुभाषी मेरे गुरुणा गुरु, जिन्होने कई जीवन्त काव्यो को रचा, जो अनवरत रूपेण जिनवाणी सेवा मे तत्पर है, ऐसे महान् व्यक्तित्व एव कृतित्व के धनी पडित जी के अभिनन्दन पर मैं यही कामना करता हूँ कि यह भव्य आत्मा युग-युगान्तो तक अपने ज्ञान आलोक से अज्ञानतम को दूर भगा शुभ्र आलोक प्रदान करती रहे। इस भावना सहित उनके चरणो मे मेरा शत-शत नमन।

राजकुमार जैन, शास्त्री, रजपुरा,
क्षेत्रीय पर्यवेक्षक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक,
सुरखी (म० प्र०)

बुन्देलखण्ड का अनमोल रत्न

मध्यप्रदेश का हृदय-स्थल सागर, एक छोटा-सा ग्राम पारगुवा, साधारण परिवार में एक असाधारण बालक का ५ मार्च १९११ को जन्म हुआ। पिता श्री गुलाबचन्द्र जी एव माता श्री जानकी बाई थी। बाल्यकाल से ही आप विलक्षण प्रतिभा के धनी रहे। अर्थाभाव के कारण आपने बाल्यकाल से सघर्ष किया, किन्तु आप अपनी लगन एव परिश्रम के कारण प्रत्येक क्षेत्र मे पूर्ण रूप से सफल हुये।

आपके विद्यार्जन का प्रमुख केन्द्र मध्यप्रदेश की हृदय-स्थली सागर एव विद्वानो की जननी काशी रही हैं। आध्यात्मिक संत-प्रवर पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी के सान्निध्य मे आप बहुत समय तक रहे हैं।

आप सस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध लेखक, कवि, सफल टीकाकार, चिन्तक, विचारक, एवं आदर्श शिक्षक के रूप मे सुप्रसिद्ध हैं। आपका हिन्दी, प्राकृत एवं सस्कृत भाषा पर एकाधिकार है। आपका कार्य क्षेत्र सागर (बुन्देलखण्ड) रहा है। समय-समय पर आपने जैन समाज के विभिन्न संगठनो मे विभिन्न पदो पर रहकर ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं निष्पक्षता से उनकी गरिमा को बढाया।

आपने जीवन मे जितनी साहित्य सेवा की है, उसका मूल्याकन सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है। भारत शासन, मध्यप्रदेश शासन एवं अन्य सामाजिक सस्थाओ की ओर से पडित जी को अनेको बार सम्मानित किया गया है। आपने भारतीय सस्कृति के अनूठे जैन साहित्य जो कि सस्कृत और प्राकृत भाषा मे हैं, अपनी लेखनी द्वारा हिन्दी अनुवाद कर उसे जन मानस तक पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। आपकी साहित्य-सेवाओ के लिये जैन जगत् हमेशा ऋणी रहेगा।

सम्प्रति गुरुवर्य सरस्वतीपुत्र के साथ ही लक्ष्मी-पुत्र है। इस प्रकार की उपलब्धि विद्वत्समाज मे विरली ही होती है। पंडित जी की साहित्य-साधना एव समाज-सेवा का मूल्याकन राष्ट्रीय स्तर पर करने के उद्देश्य से उन्हें सम्मान-स्वरूप अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पण किया जाना, उत्तम है। मैं पंडित जी के दीर्घ जीवन की मगल कामना करता हूँ।

बालचन्द्र जैन शास्त्री,
नाप तौल निरीक्षक,
कटनी, म. प्र.

माँ जिनवाणी के सपूत

पंडित-प्रवर आशाधरजी ने लिखा है .—

"जैन-श्रुत तदाधारौ तीर्थद्वावेव तत्ववत ।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवक· ।।"

अर्थात् जिनवाणी और जिनवाणी के ज्ञाता पण्डित ये दो ही वास्तव मे तीर्थ है, क्योकि ये दोनो ही इस जीव को संसार से तारने वाले है। जो इनकी सेवा करते हैं, वे ही सच्चे तीर्थसेवक कहलाते है।

श्रद्धेय पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य ने जैनागम और जैन समाज की जितनी सेवा की है, उतनी सेवा अनेक व्यक्ति मिलकर भी नही कर सकते थे। वह स्वय मे एक सस्था है। उनका क्षयोपशम

आश्चर्यजनक है। एक कुशल कवि, लेखक, सम्पादक, वक्ता, टीकाकार, अनुवादक आदि के रूप मे उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रसाद विपुल मात्रा मे समाज को मिलता रहा है। उनके बहुमूल्य कृतित्व को अनेक बार राष्ट्रीय एव सामाजिक स्तर पर पुरस्कृत और सम्मानित किया गया है। अखिल भारतीय दि. जैन विद्वत्परिषद के तो वह प्राण ही रहे हैं। उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति अभिनन्दनीय है। अब तक लगभग ६० पुस्तको का सम्पादन-प्रणयन वह कर चुके हैं। कितना भव्य और विराट् है उनका यह रचना-ससार। उनकी विवादरहित विद्वत्ता और एकनिष्ठ साहित्य-साधना का कोई जोड नही है।

वह समाज के सच्चे मार्गदर्शक हैं। आगम के अनुकूल जीवन जीने की प्रेरणा लोगो को ऐसे ही विद्वानो से मिलती है। अपने शान्त स्वभाव, सरल व्यक्तित्व और व्रती सरीखे आचरण से पण्डितजी जन-जन की श्रद्धा के पात्र बन गए है। साधुओ के वह अनन्य भक्त है। किसी के कठोर वचनो को सुनकर भी वह अपने प्रशम भाव से कभी विचलित नही होते। निरन्तर ५२ वर्षो तक वह श्री गणेश वर्णी दि जैन सस्कृत महाविद्यालय, सागर (म प्र) से सम्बद्ध रहे हैं। जर्जर आर्थिक स्थिति से उबार कर इस सस्था को आत्म-निर्भर बनाने मे उनका जो अमित, बल्कि कहना चाहिए कि एकमेव योगदान रहा है, उससे वह सस्था के पर्याय ही बन गए हैं। सस्था के इतिहास मे उनका नाम स्वर्ण पुरुष के रूप मे लिखा जाएगा।

सुप्रसिद्ध लेखक श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने एक बार यह प्रश्न उठाया था—हमारे ही बीच है वे, जो धर्मशाला बनाते है और हमारे ही बीच है वे, जो मन्दिरो का निर्माण करते है, पर क्या किसी एक ग्रन्थ का निर्माण धर्मशाला अथवा मन्दिर के निर्माण से कम पवित्र है? श्रीमान पण्डितजी ने तो साहित्य का सृजन भी विपुल मात्रा मे किया और विद्वान भी पचासो बनाए। उनके महान् अवदान की पवित्रता को कौन आक सकता है?

विद्वानो के सम्मान मे ही समाज की शोभा है। विद्वत्ता के साथ-साथ यदि जीवन मे सम्यक् चारित्र का भी पुट हो तो इसे मणि-काचन-सयोग ही कहा जाएगा। श्रद्धेय पण्डित जी के व्यक्तित्व मे हमे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की त्रिवेणी के दर्शन होते हैं। कविवर श्री दिनकर सोनवलकर का यह कथन उनके बारे मे पूरी तरह सही है —

"मन से, वचन-कर्म से जो हो सत्पथ का अनुगामी,
कथनी अरु करनी मे जिसके रहे न कोई खामी।
'पण्डित' संज्ञा सार्थक करते, ऐसे साधक जहाँ मिलेंगे,
वहाँ साम्य, आनन्द, शान्ति के शत-शत फूल खिलेंगे"।

मान्यवर पण्डितजी माँ जिनवाणी की सेवा अहोरात्रि इसी तरह करते रहें, श्रीमज्जिनेन्द्र प्रभु से हमारी यही प्रार्थना है।

—(आचार्य) नरेन्द्रप्रकाश जैन,
फिरोजाबाद.

बहुमुखी-प्रतिभा सम्पन्न एवं राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित डॉ प पन्नालाल साहित्याचार्य के शिष्य होने का मुझे बचपन मे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों मैं मिडिल कक्षा मे पढता था। दिगम्बर जैन मन्दिर कटरा बाजार, सागर मे रात्रि के समय पाठशाला लगती थी। जैसे ही गर्मी की छुट्टियाँ प्रारम्भ होती, मेरे पिताजी मुझे पाठशाला भिजवाते। रात्रि को पडितजी मुझे दो से चार पक्तियाँ, अभिषेक पाठ, विनयपाठ आदि को याद करने दिया करते थे और उनका उच्चारण भी सिखाया करते थे। बडी मुश्किल से मै प्रात. उठकर उन्हें याद कर पाता। याद करने की मुझे कभी आदत नही रही, किन्तु मेरे लिये, यह एक नया एवं कठिन परीक्षण था। पडित जी का व्यक्तित्व इस मामले मे, 'वज्रादपि कठोराणि,मृदूनि कुसुमादपि' था, जो महापुरुषो का लक्षण हुआ करता है, और मुझे वह सब याद करना ही पडता था।

इस प्रशिक्षण से मैं जैन धर्म के सम्बन्ध मे कुछ जानने लगा और एक सहज रुचि दिनो दिनो इसकी गहराई को समझने की होती गयी। इसी रुचि से मैं द्रव्य सग्रह एव तत्त्वार्थसूत्र की परीक्षाओ मे बैठा और अनेक वर्ष बाद डाक्टर हीरालाल जैन के सम्पर्क मे आकर जैन धर्म के करुणानुयोग ग्रथो, कर्म साहित्य ग्रथो के गणित की गहन लीला मे डूबता चला गया।

आज भी जैन धर्म के अपने प्रथम शिक्षा गुरु के रूप मे मुझे उनकी कृपा याद आ जाती है। कितने अनुशासनप्रिय किन्तु दयार्द्रहृदय से भरपूर वे स्वय बहुत ऊँचाई पर पहुँच गये। अपने कठोरतम परिश्रम से अनेकानेक ग्रथो की रचनाएँ करते हुए वे राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किये गये, जिस मात्र से उनके विद्या वैभव का आकलन, मूल्याकन नही किया जा सकता है। उनका कार्य अपने आप मे दिव्य एव अप्रतिम है।

श्री जिनेन्द्र प्रभु से हमारी सतत प्रार्थना है कि वे दीर्घायु हो, स्वस्थ रहे और अपने पद पर रहते हुए देश को, समाज को तथा श्री दिगम्बर जैन वर्णी गुरुकुल, जबलपुर को उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त करते रहे।

—प्रोफेसर लक्ष्मीचंद्र जैन
मानद निर्देशक—आ विद्यासागर शोध संस्थान जबलपुर
एवं
विजिटिंग प्रोफेसर—जबलपुर वि. वि. जबलपुर.

मेरे विद्यागुरु :

मेरे विद्यागुरु पूज्यवर डॉ (पं.) पन्नालाल जी साहित्याचार्य है। मैंने उनका कृपापूर्ण मार्गदर्शन श्री गणेश वर्णी जैन सस्कृत महाविद्यालय सागर मे पाया। उनका मोहक व्यक्तित्व एवं प्रेरणा प्रद कृतित्व मेरे मानस पटल पर अब भी यथावत् अकित है। आप सुयोग्य प्राध्यापक, सम्पादक, कवि एव प्रशासक हैं। आपने सागर एव जबलपुर में सम्पन्न प्राचीन ग्रन्थों-षट्खण्डागम-की वाचना मे कुलपति की भूमिका निर्वाह-कर जैन वाड्मय की अभूतपूर्व सेवा की है। आप सस्कृत एव प्राकृत भाषाओ के उद्भट् कवि तथा मूर्धन्य पडित है। आपने जैनागम के जटिल ग्रन्थो का सरल तथा सरस भाषा मे प्रणयन कर विषय सामग्री को रोचक बना दिया है।

डॉ पं पन्नालाल जी अग्रगण्य मनीषी हैं। ऐसे महनीय आचार्य का शिष्यत्व प्राप्तकर मैं गौरवान्वित हूँ। हमारी भावना है कि पूज्य प जी की छत्र-छाया एवं शुभाशीष सुदीर्घकाल तक उपलब्ध रहे।

—गुलाबचन्द्र जैन शास्त्री,
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत), बी. एड्.,
नवीन विद्याभवन, जबलपुर

■

सहृदय पंडित जी :

आदरणीय प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य उन इन-गिने विद्वानो मे एक हैं। जिन्होने अपनी प्रतिभा से साहित्यिक क्षेत्र मे अभूतपूर्व कीर्ति अर्जित की है। उनकी लेखनी मे बल है। जितना साहित्यिक कार्य उन्होंने अकेले किया है। यदि चार-पाच विद्वान् मिलकर भी करना चाहते तो नही कर सकते थे। उनका हृदय विशाल है और सरलस्वभावी भी है।

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् को जीवनदान दिया है। अपने मंत्रित्व काल मे जो दिशा दी है। वह बेमिसाल है। उनकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है वे महान् हैं। मेरे प्रति उनका सहज स्नेह है।

ऐसे महान् विद्वान् के प्रति उनके अभिनन्दन के अवसर पर श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। वे दीर्घजीवी हो और इसी तरह साहित्य की सेवा करते रहे यही कामना है।

पं. बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

परम श्रद्धेय डा. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य केवल अपनी जन्म भूमि, जिले या प्रदेश के ही नही; अपितु समूचे देश के प्रिय हो गये हैं। कैसे ? क्यो ? उत्तर सहज है कि– वे जैन समाज के शीर्षस्थ विद्वानो की प्रथम पक्ति के मनीषी तो है ही, प्राचीन वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान् भी हैं। एक आदर्श एव सफल शिक्षक होने से महामहिम राष्ट्रपति महोदय द्वारा उन्हे पुरस्कृत किया जा चुका है। उन्होने अनेक मौलिक ग्रंथो का प्रणयन, सपादन एव टीकाएँ की है। उनके द्वारा रचित 'सहस्त्रनाम विधान' तो अद्भुत एव श्रद्धा को जागृत करने का ज्वलंत प्रमाण है, जिसका अनुभव जबलपुर जैन समाज कर चुका है। जैन समाज की अ. भा. विद्वत् परिषद की प्रसिद्धि मे शीर्ष पदो के दायित्वो का सफलतापूर्वक निर्वहण करते हुये समाज को उपकृत किया है।

पं. जी अनेक वर्षों तक श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय सागर मे अध्यापन कर प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त हुए है। इस आयु मे अस्वस्थ होते हुए भी अपने कर्मठ तथा प्रतिभावान सुपुत्रो की राय न मानते हुए भी संत शिरोमणि परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी के परामर्श को शिरोधार्य कर श्री दि. जैन गुरुकुल पिसनहारी मढिया जबलपुर के निर्देशक का उत्तर दायित्व स्वीकार कर गुरुकुल को सजीवनी देकर नवीन परिवेश मे जीवन प्रदान किया है। अनेक ब्रह्मचारी छात्रो को सैद्धान्तिक शिक्षा प्रदान कर वीतरागता की ओर अग्रसर कर रहे हैं। विद्वत् परिषद के सदस्य होने के नाते पं. जी से मेरा संपर्क अनेक वर्षों से है। मेरे लेखन, साहित्यिक रुचि तथा समाज सेवा की भावना की अभिवृद्धि पं. जी की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन का ही प्रतिफल है–जिसे मैं इस भव मे तो नही चुका सकता। न जाने ऐसे कितनो को आपने प्रभावित कर सुमार्ग पर लगाया है।

इतने महान् होते हुए भी पं. जी का संयमी, सरल सहज स्वभाव मृदुल पर स्पष्ट व्यवहार आपके संपर्क मे आने वालो को प्रभावित एवं आकर्षित करता है। ऐसे महान व्यक्तित्व का अभिनदन एवं सम्मान समाज को स्वयं गौरवान्वित करता हैं। इस अवसर पर मैं वीर प्रभु से पं. जी के दीर्घ स्वस्थ सफल एवं यशस्वी जीवन की कामना करता हूं।

भूरमल जैन,
महामंत्री अ. भा. दि. जैन महासभा जबलपुर संभाग
एवं
पूर्व महामंत्री जैन पंचायत सभा जबलपुर

लम्बाकद, गोरा वदन, भरा हुआ चेहरा, सुगठित शरीर, सफेद धोती और कुर्ते के साथ सफेद टोपी पर झलकता हुआ व्यक्तित्व स्वभाव मे सज्जनता,व्यवहार मे सरलता और शालीनता सहज ही देखकर आप पहचान लेंगे—श्रद्धेय पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य को ।

मेरा निकट से परिचय ३६ वर्ष पूर्व जब हुआ था तब सन् ५२ में मैंने अपना निवास सागर मे बनाया था । सौभाग्य की बात थी उन दिनो सागर मे पूज्य प्रात. स्मरणीय पं. गणेशप्रसाद जी वर्णी का चातुर्मास भी हो रहा था ।

जैसे मनुष्य के कार्य करने के लिए दो हाथ होते हैं उसी तरह पूज्य वर्णी जी के दोनो ओर बैठने वाले पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य एवं पं. दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री थे । वर्णी जी के अधिकाश ग्रन्थ पं. पन्नालाल जी के सम्पादकत्व मे ही प्रकाशित हुए हैं ।

आपने दो विद्यालयों को ही अपना अध्ययन और अध्यापन केन्द्र बनाया सागर एव बनारस विद्यालय । सागर विद्यालय को तो अपना सम्पूर्ण जीवन ही समर्पित कर दिया है ।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी :

प. जी का समग्र जीवन निरतर प्राचीन जैन वाङ्मय—सस्कृत ग्रन्थो के अध्ययन, चिंतन, मनन एवं उनके हिन्दी अनुवाद और सम्पादन मे लगा है । मुझे तो आश्चर्य है कि कब इनको समय मिलता होगा इन ग्रन्थो के अनुवाद के लिये । ऐसा जीवन क्रम शायद ही किसी विद्वान् का रहा हो । वे रात को सोते हैं या नही यत हमेशा अध्ययन और लेखन चलता रहता है । प्रात ४ बजे प्रतिदिन उठने से लेकर एक मिनट भी व्यर्थ नही बीतता,प्रात ५बजे से प्रात ८बजे तक महिलाश्रम मे अध्यापन के लिए पहुँचना। प्रात· ९बजे मदिर कटरा मे पूजन एव शास्त्र प्रवचन । ११ बजे विद्यालय मे अध्यापन के लिये पहुँचना । ५ बजे घर आकर भोजनोपरान्त मलैया—मिल मे धार्मिक शिक्षण के लिये और पुन ८ बजे कटरा मदिर मे शास्त्र प्रवचन के लिए । इसके बाद विद्वत्—परिषद् के मत्री होने के नाते उसका कार्य, पत्र लेखन, साहित्य प्रकाशन आदि । इस कार्य के लिये भी कोई दूसरा सहायक नही, स्वय सब कार्य अपने हाथो से ही करते हैं । न कभी थकान और न कभी आराम । साहित्य के क्षेत्र मे जिनका कदम कभी रुका नहीं, अन्याय के लिए कभी कदम उठा नही, किसी अभिलाषा और अभाव मे कभी मस्तक झुका नही ।

सतत् साधना मे जिनका जीवन व्यतीत हुआ और आज भी लगा है । आपने ही अपने समय का सच्चा सदुपयोग किया है, फलस्वरूप अनेको ग्रन्थो की टीका कर समाज को समर्पित की और अपनी मौलिक रचनाओ से श्रुतदेवता के भण्डार की अक्षय्य श्रीवृद्धि की है । आपको 'महाकवि हरिचन्द्रः एक अनुशीलन' विषय पर सागर विश्वविद्यालय ने पी—एच डी. की उपाधि से विभूषित किया है ।

विद्वद् शिल्पी :

प. पन्नालाल जी को न केवल अपने लिए ही कुछ करने के भाव रहे हैं किन्तु आपको अनेकों विद्वानों के लिए भी सतत् चिन्तित पाया है । पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी के मन मे विद्वानो के प्रति जो आदरभाव था, वे सोचा करते थे और उन्होने अनुभव किया था कि कैसी—कैसी मुसीबतो को झेलकर जैन विद्वान् बन

पाते हैं और अन्त मे समाज उनकी क्या कदर करती है ? वृद्ध अवस्था मे तो इन विद्वानों की जो दुर्दशा होती है उसे वे ही जानते है । उस समय न समाज पूछती है और न घर कुटुम्ब के लोग ही ! अतः बेचारे परेशान होते है और हमेशा समाज को कोसा करते हैं कि जिन्होंने विद्वान् के जीवन का सारा रस निचोड़कर छाट की तरह उन्हे फेंक दिया अब वे क्या करे । अतः इसी समस्या को लेकर पूज्य वर्णी जी के सान्निध्य मे विद्वद् परिषद् की स्थापना हुई जिसका मुख्य उद्देश्य था कि विद्वत्परिषद् के सदस्यो और उन विद्वानो की मदद की जायेगी जो साधन विहीन होंगे / और उन छात्रों को सहायता भी दी जायगी जो साधनविहीन किन्तु मेधावी हैं ।

वर्णी जी कहा करते थे कि विद्वान् ऐसे ही नही बन जाते । जिस प्रकार एक शिल्पी पत्थर के एक डौर को छैनी और हथौड़े की हल्की–धीमी और कड़ी चोटें देकर कहा कैसी आवश्यकता है इसका ध्यान रखता है, प्रस्तर के खण्ड को तरास–तरास कर सुन्दर मूर्ति गढता है जिसमे वह अपने सारे भावो को उड़ेल देता है, जब तक उस मूर्ति मे उतनी वीतरागता सौम्यता नही ला देता तब तक अनवरत साधना मे लगा रहता है । इसी प्रकार से विद्वान् भी अपने ही समान विद्वान् बनाने के लिए मूर्ख से मूर्ख विद्यार्थियो के साथ दिन–रात जूझते हैं और एक दिन उन्हें विद्वान् बनाकर समाज को समर्पित करते हैं । ऐसे ही अनेको छात्र जो आज समाज मे मान्य विद्वानो की कोटि में बैठते हैं, इनकी ही देन है ।

प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य जितने उच्च कोटि के विद्वान् है उतने ही अगाध श्रद्धालु एवं चरित्र निष्ठ भी हैं । दर्शन, ज्ञान और चारित्र का अनूठा सगम आपमे देखने को मिलता है । आप सहजता और सरलता की प्रतिमूर्ति है । मैं उनके दीर्घजीवन की मंगल कामना करता हूँ ।

पं. कमलकुमार शास्त्री,
टीकमगढ़ (म. प्र.)

■

श्रद्धेय पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य मेरे जीवन के आदर्श एवं प्रेरणास्रोत हैं । समाज की विविध संस्थाओ तथा गतिविधियो से निकटतः जुड़े होने के कारण पूज्य पं. जी का सान्निध्यमुझे निरतर सुलभ रहा है । विभिन्न प्रसगो मे मैंने उनके हृदय की साधुता के दर्शन किये है । उन्होने कठिन से कठिन क्षणो मे भी हमे धैर्यपूर्वक मार्ग–दर्शन कराया है । हम उनके चिरायुष्क की कामना सहित उन्हें प्रणाम करते हैं ।

गुलाबचन्द सर्राफ (पटना वाले) सागर
स्थायी अधिष्ठाता
अ. भा. श्री स्याद्वाद शिक्षण परिषद्,
सोनागिर.

आदर्श विद्वान :

अखिल भारतवर्षीय जैन विद्वानों मे मूर्धन्य आदर्श विद्वान् श्रद्धेय पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य सरलचित्त, मृदुहृदय, स्वयं संतुष्ट, स्वमवेदनशील जिनवाणी भक्त, शिष्यवृन्दप्रिय, अनुकरणीय चारित्रवान्, अद्वितीय विद्वान् हैं। पूज्य पंडित जी के शुभाशीर्वाद से उनके समस्त गुण प्राप्त कर ही हम उनका सच्चा अभिनन्दन करें। सप्तम प्रतिमा धारी मोक्षमार्ग के सच्चे पथप्रदर्शक विद्वान् की तन-मन-धन से वैयावृत्ति करके हम अपना जीवन सफल बनाते हुये कृतज्ञता प्रदर्शित करें।

हमारी भावना है पूज्य पंडित जी सदा सुखी-शतायु हो। स्वस्थ रहकर अज्ञान-अन्धकार से ग्रस्त शिष्यो की आँखें अपनी ज्ञानाञ्जनशलाका से उघाडते रहें, पथ देखने वाली बनाते रहें।

पूज्य चरण कमलेषु शत शतवन्दन—

पं. बालमुकुन्दशास्त्री,
प्राचार्य,
श्री गोपाल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, मोरेना

गुरुकुल के प्राणदाता :

जबलपुर नगर मे गुरुकुल की स्थापना पूज्य बडे वर्णीजी ने १९४६ मे की थी। १९६० के दशक मे गुरुकुल की हालत चिन्तनीय हुई और १९८० के दशक मे तो वह एक छात्रावास मात्र शेष रहा। परम-पूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज ने इस गुरुकुल को अपनी चरणरज से पवित्र किया और यह शस्य श्यामला वसुन्धरा की भाति हरा-भरा हो उठा। १९८५ का वर्ष। आचार्य महाराज का निर्देश। गुरुकुल का संचालन-पुनर्जीवन प्रयत्न और श्रद्धेय प. जी द्वारा 'गुरोराज्ञा गरीयसी' के अनुशरणपूर्वक गुरुकुल का निदेशकत्व स्वीकार करना मानो गुरुकुल मे जीवनी शक्ति का सचार करना था। उनके अहर्निश प्रयास से गुरुकुल अपना अन्वर्थ सार्थक कर रहा है।

गुरुकुल संजीवनी शक्ति के प्रदाता श्रद्धेय पं. जी को शतशः अभिवादन।

सुरेशचन्द्र जैन, (जैन प्रतिष्ठान),
उपाध्यक्ष—जैन पंचायत सभा, जबलपुर.

प्रज्ञा-पुरुष : पंडित जी

डॉ (पं) पन्नालाल जी साहित्याचार्य उस व्यक्तित्व का नाम है जिसने राष्ट्र/समाज के उत्थान हेतु, विद्वानो की उन्नति हेतु, समाज सुधार हेतु एवं भगवती श्रुतदेवता की आराधना मे अपना जीवन समर्पित किया है।

पंडित जी ने सागरस्थ श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय की सेवा कर उसे शिखर पर पहुँचाया और अब आप गुरु आज्ञा से श्री दि जैन गुरुकुल पिसनहारी मढ़िया की बहुविध सेवा कर उसे प्रगति पथ पर ले जा रहे हैं।

ऐसे प्रज्ञा-पुरुष, महा-मनीषी के अभिनन्दन प्रसंग पर मेरे शत-शत प्रणाम उनके चरणों में अर्पित है।

मुलायमचन्द्र जैन, विशारद,
[कल्याण कटपीस केन्द्र]
तिलकभूमि तलैया, जबलपुर

■

वर्णी विचारधारा के चरितार्थकर्त्ता

मान्यवर पं. पन्नालाल जी पूज्य वर्णी जी के विचारो के चरितार्थ कर्त्ता है। समीचीन श्रद्धान, आगमज्ञान और आचरण के सम्वाहक, पोषक और व्याख्याता के रूप मे उनकी ख्याति सर्वत्र है। बालक, युवक, गृहस्थ, विद्वान्, साधु-सभी समान भाव से प जी को आदर देते हैं। ऐसा अद्‌भुत समन्वय विरला ही होता है। हम उनके दिव्य ललाम गुणो की अभिवन्दना करते है।

इंजीनियर चौ. अजित जैन,
एस. डी. ओ., सिंचाई विभाग
रीवा.

उच्च कोटि के विद्वान्

अखिल भारतीय जैन समाज मे डॉ. पन्नालाल जी का उच्चकोटि के विद्वानो मे अग्रगण्य स्थान है। मुझे कई बार उनके विचार सुनने का अवसर मिला, पास बैठकर सामाजिक चर्चाएँ भी हुई। उन्होने दिगम्बर जैन समाज को संगठित, शक्तिशाली बनाने मे सदैव अपना सहयोग प्रदान किया। वह सरल-स्वभावी विद्वानो मे हैं। उन्होंने जहाँ भी कार्य किया, अपना प्राथमिक उत्तरदायित्व समझते हुए उसे पूर्ण किया। मैं अपने हार्दिक श्रद्धा--सुमन उनके चरणो मे अर्पित करता हूँ।

भगतराम जैन,
मंत्री-अ. भा. दि. जैन परिषद्, दिल्ली

■

अग्रगण्य सपूत

श्रद्धय पं. पन्नालाल जी भारतमाता के उन अग्रगण्य सपूतो मे से एक हैं जिन्होंने संस्कृति, साहित्य, संयम, समाज और मानवता के हित-संरक्षण के लिए अपने प्रतिपल का सदुपयोग किया है। ऐसे महामनीषी के दिव्य कृतित्व को मेरे शतश· नमन।

भगनलाल गोइल,
पूर्व विधायक, टीकमगढ़.

रत्नत्रय के समीचीन साधक

आदरणीय पंडित जी ने जैनदर्शन एवं साहित्य की जो सत्सेवा की है, वह चिरस्मणीय रहेगी। पंडित जी मे जैनदर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष के विवेचन की अपूर्व क्षमता और आस्था के साथ तद्नुसार आचरण का सामंजस्य एक विलक्षण साधुता का अनुपम गुण है जो अन्यत्र प्रायः दुर्लभ है। अत ऐसे मनीषी विद्वान् एवं साधु प्रकृति के सरस्वती आराधक का अभिनन्दन एक स्तुत्य कार्य है।

आदरणीय पडित जी दीर्घजीवी हों और हम सबको प्रेरणा स्त्रोत बने रहें, यही कामना है।

श्रीनन्दनलाल जैन दिवाकीर्ति
एम. ए., एल-एल. बी., एडवोकेट,
सदस्य—कार्य परिषद् भोपाल वि. वि., भोपाल
प्रधान सम्पादक—बेतवा पुत्र-बासौदा
उपाध्यक्ष—जिला पत्रकार सघ, विदिशा
गंज बासौदा [विदिशा]

गुरुरेव हि देवता

गुरु की महिमा को श्रद्धा-भक्ति-पूज्यता-मान्यता-आदर-सम्मान आदि विभिन्न रूपों मे सभी स्वीकार करते है। गुरु, भटकते हुए अज्ञानी प्रमादी जीवो को दोषो से बचाते हुए सम्यक् रूप से ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा आत्म-प्रकाशित कर परमात्मा से परिचित कराते है। गुरु की महिमा-प्रदर्शक कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख इस प्रकार हैं .—

"ते गुरु मेरे उर वश्यो, जे भवजलधि जहाज।"
"जगमंहि गुरु सम कहैं बनारसि और न दूजो पेखिये।"
"गुरु की महिमा वरनी न जाय, गुरु नाम जपों मन-वचन-काय।"

मैं विद्यागुरु या संस्कार गुरु कहूँ......जो भी हो मेरी भावनावत् सभी शिष्यो को डॉ. (पं.) पन्नालालजी साहित्याचार्य 'वसन्त' के व्यापी चैत्र-वैशाख माहों की तरह ऊर्जा और उमगोत्सवो के महत्त्वपूर्ण स्रोत बने हुए हैं। उनकी अन्तर्ध्वनि हम सबके कर्णविवरो मे प्रतिध्वनित हो शब्दाकृति को प्राप्त होकर हम सबके द्वारा कृतज्ञता और सम्मानपूर्ण उनके हार्दिक अभिनन्दन को साकार कर रही है।

अपने गुरु पन्नालाल के गुण-गौरव की गाथा गाऊँ।
उनसे उन समान बनने का ये प्रेममयी आशीष मगाऊँ॥

अंत में उनके चिरायु होने और आत्मकल्याण करने की वीर-प्रभु से प्रार्थना करता हुआ,कामना करता हूँ--

पं. प्रेमचन्द्र जैन 'दिवाकर'
सा. शास्त्री, बी. काम.,
पूर्व अध्यापक--श्री गणेश जैन सं. महाविद्यालय
सागर.

■

विद्वत्परिषद् के पर्यायवाची

समस्त भारतवर्ष के जैन विद्वानो को विना किसी भेदभाव के एक मच पर एकत्रित कर सकना और सुदीर्घकाल तक इस सस्था के मत्री-अध्यक्ष--कोषाध्यक्ष आदि पदो को अलकृत करते हुए संस्था को समृद्ध बनाना प. पन्नालाल जी की ही क्षमता की वात है। विद्वत्परिषद् के हित्सम्वर्द्धक कार्यों के कारण वे सर्वत्र विद्वत्परिषद् के पर्यायवाची के रूप मे समादृत हैं। वे चिरजीवी हो।

पं. उत्तमचन्द्र 'राकेश' एम. ए., शास्त्री,
ललितपुर

■

अभूतपूर्व व्यक्तित्व के धनी

श्रद्धेय पं. जी मेरे गुरुवर और जीवन निर्माता हैं। उन्होने मेरे सदृश सहस्रो युवको को शिक्षित और सुसंस्कारवान् बनाया है। 'यथा नाम तथा गुणा.' के आकर पं जी का सान्निध्य मात्र पाकर व्यक्ति उनके व्यक्तित्व से प्रेरणा प्राप्त करता है। उन्हें देखते ही हृदयकमल वैसे ही विकसित हो जाता है जैसे भानु की किरणो के सस्पर्श से कमल। उनकी प्रशान्त-गम्भीर मुखमुद्रा आतरिक अज्ञान को मिटाती सी जाती है। निर्धन व कुशाग्रबुद्धि बालको के वे 'मसीहा' हैं। आपके सुदीर्घ और निरामय जीवन की कामना के साथ--

पं. ऋषभकुमार शास्त्री 'पंकज' एम. काम., एम. ए.,
प्रधानाध्यापक
श्री महावीर जैन पाठशाला,
नवापारा-राजिम [रायपुर]

■

मातृवत् स्नेह प्रदाता

आज तक के जीवन में हमे सच्चा मार्गदर्शन देने में तीन आत्मायें सिद्ध हुई हैं । प्रथम मेरी माता, द्वितीय विद्यागुरु पडित जी, तृतीय परमपूज्याचार्य विद्यासागर जी महाराज । एतद्विषयक कतिपय सस्मरण श्रद्धा सुमन के रूप मे समर्पित कर रहा हूँ ।

सर्वप्रथम पडित जी का दर्शन सन् १९७१ मे किया, उन्होने प्राचार्य पद हमारे सामने ही प्राप्त किया था। हमारे मन मे विचार आया था कि ये श्री गणेश संस्कृत महाविद्यालय, मोराजी सागर पंडित जी के सिवाय किसी अन्य बिल्डिग का नाम नही है ।

श्रद्धेय पं. पन्नालाल जी, पं. माणिकचन्द्र जी, प. दयाचन्द्र जी चलते-फिरते मूर्तिमान रत्नत्रय है ।

सन् १९८० मे पंडितजी के चरण कमलो मे बनारस की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की थी । आपके आशीर्वाद से उसी समय टड़ा ग्राम में धर्माध्यापक पद पर नियुक्ति हुई थी । उस समय विद्यालय मे सभी सहपाठी बन्धुओं ने हमारा बिदाई सवारोह आयोजित किया । इस प्रसग पर अपना शुभाशीष प्रदान करते हुए पंडित जी की आखों से टपकती हुई आसुओ की दो बूंदे हमने देखी थी, जैसी कि 'शकुंतला के बिदा प्रसंग पर कण्व ऋषि की आखो में'-साहित्य मे पढने को मिलती हैं ।

पंडित जी अपने सान्निध्य मे समागत छात्रो को उचित छात्रवृत्तियाँ दिलाकर अध्ययन कराते हैं और उन्हें सक्षम विद्वान् बनाकर मातृवत् संतोष का अनुभव करते है ।

आपकी अध्यापन शैली हृदयावर्जक और प्रभावोत्पादक है ।

वर्तमान जीवन उन्ही के पादमूल मे व्यतीत हो रहा है, यह हमारा सौभाग्य है । एक शिष्य होकर अध्यापक के रूप मे उनके साथ कार्य करते हुए उनमे मैंने अनेक गुणो के दर्शन किये है । उनमे सच्चा न्याय करने की पूर्ण क्षमता है । छोटे व्यक्तियो का भी उत्साहवर्धन करते हैं । उनका जीवन वर्तमान मे अपूर्व कोषवत् है ।

मेरी सुदृढ भावना है कि मैं उनके शेष जीवन भर उनके ही चरणो मे समर्पित रहूँ और अंतिम क्षण तक पडित जी का मुझे ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होवे कि मैं स्व-पर हितकारी ज्ञान-चारित्र का पुञ्ज बनूँ ।

पं. गुलाबचन्द्र शास्त्री, एम. ए., साहित्याचार्य,
अध्यापक— श्री वर्णी जैन गुरुकुल पिसनहारी मढ़िया,
जबलपुर.

■

उनका जीवन प्रकाशस्तम्भ

यह परम संतोष की बात है कि विद्वद्वर डॉ. पन्नालाल जी जैन का अभिनन्दन समारोह आयोजित किया जा रहा है। इस आयोजन से उनके यशस्वी जीवन और कृतित्व के प्रति हम अपनी विनम्र और सात्त्विक विनयाञ्जलि देने का यत् किञ्चित् प्रयास कर रहे है।

वास्तव मे उनका कृतित्व इतना महान् और व्यापक है कि उसके सम्बन्ध मे साधिकार कुछ कहना 'सूर्य को दीपक दिखाना' होगा। ऐसे कर्मठ, लोकजीवन के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित आज के भौतिकता संकुल युग में अत्यन्त विरल हैं। बडी बात यही है कि वे भारतवर्ष मे हुए, और भारतीय जनता के लिए हुए। उनका जीवन हमारे लिए ही नही अपितु आने वाली अनेकानेक पीढियो के लिए एक 'प्रकाश स्तम्भ' की भांति मार्गदर्शन करता रहेगा। यदि उनके जीवन के कुसुमित कानन से हम केवल दो-चार फूल ही चुनकर अपनी हथेली मे रख सकें तो हमारा स्वयं का जीवन दीर्घकाल तक सुरभित होता रहेगा।

पाण्डित्य और कला का एक साथ अधिष्ठान उनके व्यक्तित्व में हुआ है। वे व्याकरण की रूक्षता को काव्य की सरसता से अभिसिञ्चित करने मे निष्णात हैं। उनकी प्रज्ञा केवल वैचारिक गगन मे उडान भर कर ही श्रान्त नही हुई, अपितु जीवन और जगत् के कठोर कर्मक्षेत्र मे भी उसने धीर पद संचार किया है। उनका जीवन आदर्श और अनुकरणीय है। यदि हम उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल सके तो इससे बढ़कर हमारी इतिकर्त्तव्यता और क्या होगी।

अपनी ओर से मैं उनके प्रति श्रद्धावनत होकर यही कहूँगा कि वे 'जीयाच्चिर गिरिमलं समलङ्करोतु' को सार्थक करें।

प्रो. चन्द्रभानुधर द्विवेदी,
प्राचार्य-शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दमोह.

द्वितीय खण्ड

व्यक्तित्व
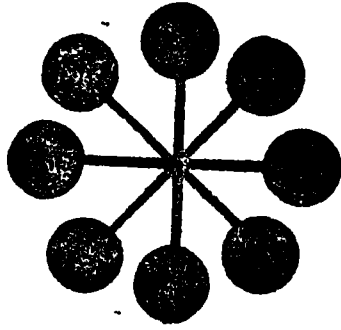
वे कवियों के नयनों में

व्यक्तित्व :

वे कवियों के नयनों में :

(१)

पन्नालालबुधप्रयत्नविशदा विद्वत्सभा भारते,
विख्यातास्ति सुजॅन–शासनविधौ श्रद्धापरा सर्वदा ।
आम्नाये च दिगम्बराख्यविदिते जैनैर्जनै· संकुले,
पन्नालाल–बुधोत्तमो विजयतां सिद्धान्तशास्त्रे सुधी· ।।

(२)

स्याद्वादस्य निरूपणेऽतिकुशलो ज्ञानाब्धि–पारंगत·,
अध्यात्मस्य रहस्य–वाचनविधौ धत्ते महत्कौशलम् ।
सत्यार्थाप्त–सुशास्त्रसद्‌गुरुषु यः सत्यार्थ–श्रद्धान्वित·,
पन्नालाल–बुधोत्तमो विजयता सिद्धान्तशास्त्रे सुधीः ।।

(३)

पन्नालाल–गुरुं समेत्य विविधा लोकाश्च विद्यार्थिनः,
जैनाचारमधीत्य श्रावक-पदं गृह्णन्ति श्रद्धान्विता : ।
विद्वासो हि भवन्ति केचन मुदा स्याद्वाद-विद्याश्रिता·,
पन्नालाल-बुधोत्तमो विजयता सिद्धान्तशास्त्रे सुधी· ।।

(४)

विद्वासोऽपि चमत्कृतास्तव महत्तत्त्वार्थ–बोधेन हि,
छात्राणा सुहितेच्छया च भवता ज्ञानप्रदान कृतम् ।
शास्त्राणा विशदार्थ–बोधनपरा यस्यास्ति सल्लेखनी,
पन्नालाल–बुधोत्तमो विजयता सिद्धान्तशास्त्रे सुधीः ।।

(५)

"पन्ना" 'लाल' इति द्विरत्नमिह सज्ज्ञानस्य रत्न खलु,
संश्रित्यास्य सुगौरवं प्रतनुते सर्वत्र लोके महत् ।
सम्यग्दर्शन–बोधवृत्त–सहितस्याप्यस्य रत्नत्रयम् ।
पन्नालाल–बुधोत्तमो विजयता सिद्धान्तशास्त्रे सुधीः ।।

पं० भुवनेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री,
जैन गुरुकुल, खुरई,

[श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक जिन बिम्ब प्रतिष्ठा एव गजरथ महोत्सव खजुराहो मे विद्वद् परिषद् के चतुर्दश अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत होने पर]।

(२१ जनवरी १६८१)

(१)

विद्वत् परिषद् की वीणा को, आज नया सुरताल मिला है।
सरस्वती के वरद् सुतो को, देखो पन्नालाल मिला है।
ओ! विद्वत्जन पूजनीय, मैं करता हूँ तेरा अभिनंदन।
वंदनीय तुम बने आज, इसके कारण मेरा भी वदन।
तेरे श्रम से लहराया, लहरायेगा परिखद का नदन।
आज बने अध्यक्ष, तुम्हारे ही श्रम का तो है ये चंदन।
चढना था जिस भाल उसे, वैसा ही उन्नत भाल मिला है।
सरस्वती के वरद सुतो को, देखो "पन्नालाल" मिला है।

(२)

"कैलाश" "कोठिया" "नाथू जी" ने,इस पद का बहुमान किया है।
अपना खून पसीना देकर, इसको जीवन दान दिया है।
बागडोर है हाथ तुम्हारे, अब ये बगिया लहरायेगी।
अब वसन्त के इस आगन मे, नव वसन्त किसलय लायेगी।
है वसन्त कुछ दूर हमें पर, देखो लाल गुलाब मिला है।
सरस्वती के वरद् सुतो को, देखो "पन्नालाल" मिला है।

(३)

तप. पूत पा तुम्हें प्रफुल्लित, विद्वत्जन की हृदय कली।
सागर के आबदार मोती, आदर देती हैं गली-गली।
नव जीवन की श्वास-श्वास, जिन आगम के अनुकूल चली।
मिष्ट-भाषी तेरे मुख से, निकली लगती हर बात भली।
आत्मतत्त्व से भरा हमे ये, रत्नत्रय का थाल मिला है।
सरस्वती के वरद् सुतो को, देखो पन्नालाल मिला है।

पं० विनयकुमार "पथिक"
मथुरा

विद्वानों के शीश मुकुट में, वो पन्ना सा जड़ा हुआ है।

गुरु का सत्सम्मान मनुज को, स्वयं मधुरतम फल देता है,
श्रद्धायुत देवार्चन जन को, सुलभ स्वर्गतल कर देता है ।।१।।

जैसी करनी, वैसी भरनी, पर जग का विश्वास अटल है,
सुलभ भोग, यश, पूर्वजन्म मे किये सुकृत कर्मों का फल है ।।२।।

जो श्रम से धरती को, गहरी निष्ठा से उर्वर करते है,
वे मन-चाहे धन-वैभव से, अपना रिक्त कोष भरते हैं ।।३।।

वही लाल पन्ना बनता, जिसने तराशने का दु.ख झेला,
मंजिल उसने ही पायी, जिसने विघ्नो को दूर धकेला ।।४।।

सुख के सब सगी होते है, पर दुख मे जो साथ निभाये,
पर ऐसा नर सुलभ नही जो, अंधकार मे कदम बढाये ।।५।।

मजिल उसे मिली है जिसने, पथ बाधाओ को ललकारा,
सागर के आधी तूफानो को जिसने, हर रोज दुलारा ।।६।।

हिम-गिरि के उन्नत शिखरों पर,वह चांदी सा चमक रहा है,
नव-साहित्य-सृजन की धारा मे, विद्युत सा दमक रहा है ।।७।।

पोथी के पन्नों के भीतर, जिसको हम सब वाच रहे है,
जिसकी काव्य कुशलता के, सकेतों पर स्वर नाच रहे है ।।८।।

संस्कृत को मनहर, हिन्दी की बिन्दी का अनुराग दिया है,
कुन्द कुन्द के कुन्दन को, मधुवन सा मधुर पराग दिया है ।।९।।

रत्नत्रयी की जलधारा मे, जिसने जी भर खूब नहाया,
मुक्ति पंथ के पदचारी को, शीतल अमृत पान कराया ।।१०।।

चलते-चलते वृद्ध हो गया तन, पर कदम नही हैं हारे,
थमी लेखनी नही, कांपते हाथ, दमकते हैं दृग तारे ।।११।।

तन पर है वसन्त की आभा, शरद नाचती है माथे पर,
छिपा कही हेमन्त, शिशिर चादर बन, चढा हुआ कांधे पर ।।१२।।

जैन वाड्मय की धारा को, अपने हाथों खूब सवारा,
आर्ष सम्पदा के दुरूह पथ को, जैसे मिल गया किनारा ।।१३।।

विद्वानों के शीश मुकुट में

जिसके द्वार बरसता हरदम, आदर का श्रद्धा का पानी,
मानी भी जिसके द्वारे पर, भरते हैं झुक-झुक कर पानी ।।१४।।

विद्वानो के शीश मुकुट मे, वो पन्ना सा जडा हुआ है,
लालो का सरताज लाल, अनुपम खराद पर चढा हुआ है ।।१५।।

उस आभा को नमन कि जिसमे, है 'प्रशान्त' कुन्दन सी ज्योति,
जो साहित्य माल गुम्फित कर, गूथ रहा नित-नूतन मोती ।।१६।।

पं. लक्ष्मण प्रसाद जैन 'प्रशान्त'
कटनी.

अमर रहैं वे पन्नालाल

सबसे ऊचौ भारत देस, ऊ मे साचौ मध्यप्रदेस ।
ऊ के ऊपर सागर जिलौ, जा तौ उनहौ जनम मिलौ ।।
जा के हुते हरीसिंह गौर, मईं के तो हैं जे सिरमौर ।
वे डाक्टर ते अर ते सर जी, जे डाक्टर हैं अर पंडज्जी ।।
पढ़े बनारस सागर रय, मनौं देस भर के जे भय ।
राष्ट्रपती ने दव समान, इनकी गाथा बड़ी महान् ।।
विद्वानो के भय सिरताज, पूजै इनहौ जैन समाज ।
ल्याय बनारस सैं ते गागर, भर दव इन्नैं कैसे सागर ।।
अचरज इनके थोरे नइया, जिनवानी बऊ इनकी कइया ।।
सिकछा कौ जो नरवा ब्याव, हज्जारो के हो गय ब्याव ।।
धरम ध्यान की जो दई सिकछा, कित्तऊ गय लै लैं कैं दिकछा ।
बैठक विद्वानो की करैं, सगैं सबहौ लैं कैं चलैं ।।
ससकिरत के ऐंसे सइया, प्रोफेसर लौं जैसे नइया ।
जैनो के जे वेद बियास, पुरान छपा दय हिन्दी भास ।।
घर मे जनक राज से रहैं, थोरो बोलैं मौतउ कहै ।
जैंनो मे जे साचे जैन, सूदे-सादे इनके नैन ।।
सास्त्र लिखैं अर वचनका करैं, बडौ-बड़ौ की सका हरैं ।
दुक्ख पीर की बात करैं कोउ, भरैं डबुरिया इनकी दोउ ।।
दिखा परे भर मुनी गुनी जईं, टोरे गिरमा इन्नैं तुरतईं ।
कोउ कय बुरय कोउ कय नौंनैं, इनहौ अपने मन की करनैं ।।
ई सैं मिल लय ऊ सैं मिल लय, दो पाटो के बीच बचे रयं ।
पंडित हो तो ऐंसो हो, मंडित हो तौ ऐंसो हो ।।
धन्य पिता वे गल्लीलाल, जिनके बेटा पन्नालाल ।
अमर रहैं वे पन्नालाल, चेला जिनकौ गोपीलाल ।।

आचार्य गोपीलाल अमर,
शोध अधिकारी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी-दिल्ली.

मैं इस लघु फूल के द्वारा,
सभी अभिनन्दनीयों की,
सहज अभिनन्दना करता ।
मैं इस इक पंखुड़ी द्वारा,
सकल पद-वन्दनीयो की,
सतत् पद-वन्दना करता ।

मुझे वे पंथ सब प्यारे, जो सच की शोध को निकले,
मुझे वे ग्रन्थ सब प्यारे, कि जिनके कण्ठ से सच के,
कभी दो बोल हो निकले ।
मैं उन सारे पदो की धूल, अपने शीश पर धरता,
कि जो सर से कफन कसकर, कभी सच ढूँढने को हो,
किसी भी पंथ से निकले ।

मैं इतना जानता हूँ, पंथ सारे ही,
हठीले सत्य को ही शोध के पथ है,
औ इतना मानता हूँ मैं, कि सारे ग्रंथ दुनिया के,
किसी अव्यक्त की अभिव्यक्ति के अथ है ।
मुझे कुछ भी नही मालूम, इति इस लोक-जत्रा की कहाँ होगी,
मुझे कुछ भी नही मालूम, कब जाकर कहाँ विश्राम लेवेगी,
ये चिर-अभियान की बोगी ।
है सच की प्रेमिका की, भई अजब आदत,
इसे जो चाहता है, वह उसी से भागती-फिरती ।

घने तम के दिगंचल मे, कभी क्षण-भर दमककर, बिज्जु सी दिखती,
अजानी प्रेयसी ये, रात या दिन के, किसी भी स्वप्न मे,
जब कब, कभी मेहताब जैसी जाग जाती है ।
जरा अगडाई सी ले, नैन कर तिरछे, औ थोड़ा मुस्कुरा करके,
हृदय मेरा-तुम्हारा क्या, अरे संसार भर का ले, घड़ी भर मे,

पता कुछ भी नही चलता, कहाँ पर भाग जाती है ।
रुनन झुन-झुन, रुनन झुन-झुन, दिशायें गूँजती रहती,
किसी पग-नूपुरी धुन से ।
तड़पते हाथ आचल को पकडकर, रोक लेने को, 'रुको' कहकर,
तड़पती चीख, पर कब रोक पाती है ।

सुनिश्चित है, सुनिश्चित है कि सच की रूपसी अब तक,
किसी की एक की वन-बाँह मे, निश्चित नही आयी ।
अलाउद्दीन इस ससार के मारे हुए रुखसत, अभी तक सब,
फकत एक आह ठंडी भर जरा सी देख दरपण मे,
पडी इस पद्मिनी को क्षीण सी झाई ।

न अब तक सत्य को साकार कर पायी,
किसी की कापती, तन मे भटकती, चीखती वाणी ।
थका शायद तमूरे पर अखिल ब्रम्हाण्ड के गा-गा, न गा पाकर,
लगोटी फेंक कर भागा, वो नारद नाम का प्राणी—वडा ज्ञानी ।
मुझे लगता, वही हर रात मे, आकाश मे दिव अचलो के पार जाता,
और आता, तारको से पूछता फिरता 'किसी ने क्या उसे देखा ?'
'किसी ने क्या उसे देखा ?'

युगो से वावला सूरज, हजारो तूलियो को हाथ मे लेकर,
लिखे जाता, लिखे जाता ।

न लिखने किन्तु पाता, रूप का माधुर्य्य का लेखा,
डुवकिया ले समुन्दर मे, गगन के कोटिश तारे,
विचारे हाय रे हारे ! विचारे हाय रे हारे !

किसी के हाथ मे आया नही, वह आज तक मोती,
भरोसा हो गया मुझको,उसी के वास्ते ही दिन तडपता,वावला सब दिन
उसी के वास्ते है रात, सारी रात भर रोती ।

मचलती खीझती वह वावली लडकी, पिता नभ से,
औ फिर माँ मेदिनी से भीख रो-रोकर, बहाकर अश्रु,
उसकी कचुकी, सारी, और गोदी को भिगोती है,
'ओ मा सच चाहिये मुझको!' 'ओ माँ सच चाहिये मुझको!'

मुझे लगता है,इस ससार की मेधा,युगो से चीखती है और चिल्लाती,
औ ये झंकार है जो, प्राण मे मेरे-तुम्हारे और सारी,
चिन्तना के-चेतना के ।
गूजकर मुझको, तुम्हें औ सत्य के सब शोधको को,
एक दीवाना बना जाती ।

मेरे ये प्राण सच की शोध में निकले,
पथो पर धूल बनकर आज विछने को विकल होते,
तडपते नैन हैं मेरे छलकते दो घडो जैसे सदा रोते ।

ये कितने दर्द की है बात,उफ रे! हम घुमडकर व्योम मे घिरने नही पाते,
कभी बन एक बदली सत्य के पथ के, चरण धोने नही पाते,
मैं अपने प्राण के इस फूल की हर पखुड़ी,उस पथ पर न्योछार करता हूँ,
कि जिससे कोई भी पंथी गया हो, जा रहा हो, या कभी जावे,
हृदय में साध लेकर सत्य की शुभ शोध करने को।
अमरता मानता हूँ आदमी की मै, निरत रह सत्य की अन्वेपणा मे,
सूर्य के जैसा उदित होकर उदय-गिरि से, प्रतीचि सिंधु मे चुपचाप
ढरने को।

ओ जीवन, वन मेरे चन्दन !
ओ जीवन वन मेरे वन्दन !
जरा मै पूज दूँ उस धूल को हीरें कि, जिसको व्योम मे ऊँचा उड़ाता
जा रहा,
सच शोधको की साध का स्यन्दन।
मैं कहता हूँ कि सत-पथ पर बढ़े, हर अश्व की, हर टाप,
मेरा देव-मदिर है।
वही मस्जिद मेरी, औ है वही गिरजा।
औ उस पद-चाप का वदन, मेरी अभ्यर्थना प्रभु की।
नमन उसका मेरा सिजदा।
मैं जय-जयकार कर हर सत्य शोधी का,
सनातन ब्रह्म को ध्याता।
प्रणव का स्वर यही ओंकार है मेरा।
यही है साम-स्वर की साधना-आराधना मेरी।
यही उद्गीथ है मेरा कि जिसका मैं स्वयं हूँ एक उद्गाता।
है सत ही ब्रह्म-निश्चित है, सुनिश्चित है।
औ सत की शोध ही है, ब्रह्म की पूजा,
यही उस ब्रह्म की अभ्यर्थना का, मत्र मेरे प्राण मे गूजा।

प. ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी,
पूर्व सांसद व विधायक,सागर.

पन्ना गद्यकाव्य

अमरों के गुरु बृहस्पति,
मानवो के गुरु वाचस्पति ।
गगन का आभूषण आदित्य,
पन्ना का आभूषण साहित्य ।

पिता कुटुम्ब के सरक्षक ।
पन्ना समाज के सरक्षक ।
ऋतुओ मे मुख्य वसन्त ।
कवियो मे मुख्य 'वसन्त' ।

मणिगण मे मणि पन्ना,
नरमणि मे मणि पन्ना ।
रत्नो का आकर पन्ना ।
गुणरत्नो का आकर पन्ना ।

द्रव्य का शोधक छन्ना ।
दोष का शोधक पन्ना ।
बरात का राजा वन्ना ।
विद्वान् का राजा पन्ना ।

पुस्तक का अग पन्ना ।
सिद्धान्त का अग पन्ना ।
व्यापार का मूल धन्ना ।
विद्या का मूल पन्ना ।

कुटुम्ब का दीपक मुन्ना ।
पारगुवा का दीपक पन्ना ।
शिष्यो के है प्राचार्य ।
साहित्य के है आचार्य ।

लिपि का गौरव पन्ना मे ।
आचार का गौरव पन्ना मे ।
रसमाधुर्य गन्ना मे ।
वाक् माधुर्य पन्ना मे ।

'पन्ना' है भारत के लाल ।
सागरवासी हैं पन्नालाल ।
दीर्घ जीवन की है कामना ।
स्वस्थ जीवन की है कामना ।

पं. दयाचन्द्र साहित्याचार्य,
प्राचार्य,
श्री गणेश दि. जैन, संस्कृत महाविद्यालय, सागर (म. प्र.)

मेरे गुरु महान्

श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य,
मेरे गुरु महान् ॥॥
दिया आपने शुद्ध हृदय से,
मुझको सच्चा ज्ञान ॥॥

आप ही के आशीर्वाद से,
मैंने पाया ज्ञान ॥॥
अब ऐसी आशीष दीजे गुरुवर,
करूँ आत्म-कल्याण ॥॥

सिंघई केशरचन्द्र जैन, विशारद,
देवरी कलां (सागर)

गुरुवर को मेरे हैं प्रणाम । शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

साहित्यकार आचार्य संन्त सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र धाम ।
सत्यं शिव सुन्दर-संगम को शत-शत वन्दन शत-शत प्रणाम ।।

(१)

पाच मार्च उन्नीस शतक दश,
एक ईसवी मे जन्मे ।
पारगुवा पावन भूमि पर,
गल्लीलाल पिता घर मे ।।
जिनवाणी के परमाराधक,
जैन संस्कृति के गौरव ।
फैल रहा तव दिग्-दिगन्त मे,
चन्द्र-रश्मि सम यश सौरम ।।

रही जानकीबाई जननी जिनका अमर रहेगा नाम ।
क्योकि पुत्र ऐसा जन्मा जो भारत भू का हुआ ललाम ।।

(२)

जन्मे है माताओ ने सुत,
धरती पर वैसे तो अनेक ।
पर धन्य धरा पर माता वह,
जिसने सुत तुम सा दिया नेक ।।
करते सब जिनका नित वन्दन,
प्रिय भक्त शिष्य तब माथ टेक ।
लगता है धरती पर मानो,
है ज्ञानसूर्य भू माहि एक ।।

रहते है घर मे गेही बन पर नही गेह से रहा काम ।
जल से ज्यो भिन्न जलज रहता निर्लिप्त आप त्यो हैं अकाम ।।

(३)

सम्पादन भाषण अध्यापन,
से आप परम पावन संगम ।
जिन-बैन सदा हिय मे धरते,
करके उनको नित हृदयङ्गम ।।
है सफल लेखनी लेखो से,
गुण-गौरव-गरिमा के सागर ।
सामीप्य आपका पा उसने,
भर ली तत्त्वों से निज गागर ।।

वर्णी गणेश के परमभक्त है ध्येय आपका आत्मराम ।
ध्याते जिन नाम नित्य प्रात मध्याह्न शान्ति से आप शाम ।।

(४)

पौराणिक पन्ना पन्ना मे,
पन्ना, पन्ना का नही किन्तु ।
सागर के सागर जनित नही,
हैं लाल, वहादुर नही किन्तु ।।
वे थे वसन्त अव आज सन्त,
दिखता न ज्ञान का जहाँ अन्त ।
जग से उदास जिनके हैं दास,
कर 'सु-मन' चले वनने अनन्त ।।
नित स्वस्थ रहे नित स्वस्थ रहे श्रुतदेवी का विश्राम-धाम ।
अभिनन्दन भारत-नन्दन का करता हूँ करता हूँ प्रणाम ।।

डॉ॰ कस्तूरचन्द्र 'सुमन', एम. ए. (त्रय) पी-एच. डी., काव्यतीर्थ.
जैन विद्यासंस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान)

गुरुवर को मेरे हैं प्रणाम

कमल-पत्र-वत् जिनने अपनाजीवन दिया निकाल,
अम्बर सहित दिगम्बर हैं, श्री पडित पन्नालाल ।

सागर मे जन्मे सागर सी गहराई को लेकर,
जीवन सफल वनाया सेवायें समाज को देकर,
वाधायें वरदान बन गयी झुका न पायी भाल,
अम्बर सहित दिगम्बर हैं श्री पडित पन्नालाल ।।

देश, धर्म की सेवा मे जीवन सम्पूर्ण विताया,
अध्यापक रहकर के वच्चो का भविष्य चमकाया,
जाने कितने छात्र हो गये पाकर तुम्हे निहाल,
अम्बर सहित दिगम्बर हैं श्री पडित पन्नालाल ।।

इनके प्रति है यही कामना कवि'काका'के मन मे,
सम्यग्दर्शन की शहनाई गूज उठे जीवन मे,
समता और शाति अन्तर को कर दे मालामाल,
अम्बर सहित दिगम्बर हैं श्री पडित पन्नालाल ।।

हास्य कवि हजारीलाल जैन "काका"
सकरार (झांसी)

अम्बर सहित दिगम्बर हैं श्री पंडित पन्नालाल

भ्रान्तियो के भार सहसा, आपको लखकर पलाये,
है वड़े सौभाग्य, ज्ञान-सरोज को बन सूर्य आये।
आप आये ज्ञान के, पावन-जलद बन मेघ धारा,
आज हर्षित कर रहे है, बन्धु अभिनन्दन तुम्हारा ॥१॥

सौम्यता, गुरुता, सदाशयशीलता पावन तुम्हारी,
सौम्य वाणी सींचती है, धर्म की मनुहार क्यारी।
क्या अतुल, मृदु-सादगी-मय, बन्धु जीवन को उभारा,
पडित-प्रवर ! हर्षित हृदय से, आज अभिनन्दन तुम्हारा ॥२॥

स्वार्थमय-युग किन्तु किंचित, अर्थ लोलुपता न आई,
जब जहाँ पहुँचे वहाँ जिन धर्म की, धारा बहाई।
सुप्त विद्वद्वर्ग परिषद् से, जगा कीन्हा उजारा,
आज हर्षित कर रहे हैं, बन्धु अभिनन्दन तुम्हारा ॥३॥

धन्य सागर नगर, जिसमे अवतरित हो आप आये,
ज्ञान–अनुभव ज्योति के, निर्धूम नव–दीपक जलाये।
धन्य परिषद् के जनक हे, धन्य जन-जन का दुलारा,
श्रद्धेय पन्नालाल पडित, नमन स्वीकारो हमारा ॥४॥

सिं नेमीचन्द्र जैन, गोंदवाले,
शिवपुरी.

(१)

पाच मार्च उन्नीस सौ ग्यारह, पुलकित होकर आई ।
सागर मंडल पारगुवा ग्राम मे दिव्य छटा प्रगटाई ।।
मातुश्री "जानकीवाई" ने, मानव "पन्नालाल" यह चमका ।
श्री गुलावचद्र गृह मंदिर मे, सौरम वन कर महका ।।
सागर वाराणसी मे जव ज्ञानामृत पी नित चन्दन ।
वहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(२)

सस्कृत प्राकृत विद्याएँ पढ, उद्‌भट् विद्वत्ता पाई है ।
श्री गणेश वर्णी का आश्रय ले, स्याद्वाद वाणी मन भाई है ।।
जैन धर्म मे निष्णात हुए जव अनुपम आभा चमकाई है ।
काव्यतीर्थ शास्त्री साहित्याचार्य की सर्वोच्च उपाधि पाई है ।।
श्री गणेश सस्कृत महाविद्यालय मे चमके नित ही स्यंदन ।
वहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(३)

अपनी निष्ठा कर्मठता से आत्म उजागर कर डाला ।
साहित्य क्षेत्र मे बढ़े निरन्तर राष्ट्र व्यापी जीवन ढाला ।।
सरस्वती के आराधन से गौरवतामय जैन धर्म पाया ।
कुशल प्रवक्ता सफल लेखनी से कुदन सम चमकाया ।।
अभीक्ष्ण ज्ञान उपयोग से महके नव वसन्त से नन्दन ।
वहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(४)

गुणग्रहणता साम्य भाव से, जीवन सरस बनाया ·
वावीस वर्ष तक विद्वद् परिषद् को मन्त्री पद से महकाया ।।
महाकवि हरिचन्द्र पर पी-एच. डी. कर गौरव पाया ।
जीवन्धर चम्पू चिन्तामणि पर पुरस्कार पा जग हर्षाया ।।
सन् उन्नीस सौ उनन्हत्तर मे जब, राष्ट्र पदक से अलकरन ।
वहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(५)

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ समिति से, प्रशस्ति पत्र भी पाया ।
सागर और जबलपुर आदि नगर से सम्मान शिरोमणि पाया ।।
अखिल भारतीय विद्वद् परिषद से रजत पदक चमकाये ।
चतुर्थ अनुयोगो मे जब सुरम्य लेखनी से महकाये ।।
मौलिक ग्रन्थो की रचना कर किया गजब का कुन्दन ।
बहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(६)

उद्‌भट् दिग्जता के कारण, आत्मोधार का पथ अपनाया ।
रत्नत्रय और अनेकान्त से मानवता को राह लगाया ।।
स्याद्वाद से सहस्त्र बालको का जीवन सरस बनाया ।
गागर मे "सागर" जैसा भर नैतिकता का ज्ञान पिलाया ।।
कथनी करनी एक ही आपकी अनुश्रुत बन दमकी दर्शन ।
बहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

(७)

जब तक नभ मे चन्दा सूरज, तब तक जीवन पाओ ।
तब तक नीर भरा गङ्गा मे, सरस्वती का पद पाओ ।।
सरक्षक पद से विद्वद् परिषद को, निष्ठा से दमकाओ ।
सरस्वती की वदना बन कर, "पन्नालाल" से चमकाओ ।।
महावीर के पथ पर चलकर, भर दो ज्ञान सूर्य मकरदन ।
बहुमुखी प्रतिभा के विद्वद् को, कोटि-कोटि अभिनन्दन ।।

पं. बाबूलाल 'फणीश' शास्त्री, एम. ए.
प्राचार्य, श्री महावीर दि. जैन गुरुकुल, ऊन

◉

मन कहता है नमन करो, उस समता-सुधा सिक्त सागर को ।
श्रुत, सयम परिपूर्ण दया से भारी, ममता के गागर को ।।१।।

जिसमे सिमट गया सागर, वह गागर है मगल घट पावन ।
जिसके द्वारे लहराता है, सुषमा पूरित मनहर सावन ।।२।।

कुन्दन-वर्ण, धवल वस्त्रो से जिसका नश्वर तन मण्डित है ।
जिसके भीतर छिपा हुआ, अविनाशी अविनश्वर पण्डित है ।।३।।

श्रद्धा, ज्ञान और सयम की, प्रतिमा सी अद्भुत अनुपम है ।
जिसके आगे स्वय क्षीण-सा, हो जाता अतिशय विभ्रम है ।।४।।

सतत् साधना लीन लेखनी, सृष्टि पंथ गढती जाती है ।
आर्ष मार्ग पर अमर-बेल सी, रुक-रुक कर बढती जाती है ।।५।।

जिसकी वाणी मे कोयल की, कूक मूक करुणा स्पन्दन है ।
विनय वारि से भरे नेत्र, माथे पर गौरव का चन्दन है ।।६।।

विधि विधान के स्थान, जिसकी वाणी से गौरव पाते है ।
कवि-लेखक जिसकी गुण गाथायें, निर्विवाद सस्वर गाते हैं ।।७।।

चिन्तन, मनन, सृजन, लेखन मे, झाक रही जिसकी परछाई ।
सम्पादन की कुशल कला से, जो पाते हैं सदा बधाई ।।८।।

जो साहित्यधरा पर जैसे, ऋतु 'वसन्त' सा बिखर गया है ।
जिनका रोम-रोम चिन्तन मे, अवगाहन कर निखर गया है ।।९।।

उस साहित्य-प्रणेता, युग-सृष्टा को, मेरा शत-शत वन्दन ।
कान्त, शान्त, निर्भ्रान्त, मनुज प्रतिमा को, अर्पित श्रद्धा-चन्दन ।।१०।।

श्रीमती राजकुमारी रांधेलीय,
कटनी.

भौतिक युग के श्रेष्ठतम,
मानवता के हे अमर प्राण ।
पण्डित वृद्ध,
तुम मानव के करुणास्त्रोत,
सुकोमल/ममता से ओतप्रोत,
वीर प्रभु के,
परमधर्म को,
जन जन तक,
पहुँचाने वाले,
तरुण बाल,
पा आपसे,
विद्या का दान,
सहज ही वन जाते,
विद्वान,
सीख जाते
सस्कृत का ज्ञान ।
विद्वान वर्ग के बीच
हो सुशोभित
ज्यो उडुदल बीच
शशि ।
सहज/सरल/मधुर,
मनोहारिणी/हृदय विदारिणी,
वाणी से,

सागर वना,
ज्ञान का सागर,
अहो भाग्य है,
वुदेलखड की जैन जाति का,
जो,
उसने,
"पन्ना का लाल"
पाया ।
हे क्षमा/शान्ति के साधक
तुमने,
रत्न को/वीरेन्द्र को
गिरि की सीमा पर,
चमकाया,
जो आज
पा
विद्यासागर
वन गये 'क्षमासागर'
आप भी
उस पथ के
वन पथिक,
करो भव अन्त
वनो "लक्ष्मी" कन्त
रहो जयवन्त,

ब्र. लक्ष्मी,
ब्राह्मी विद्या आश्रम, सागर

हे गल्ली के लाल, जानकी के तुम नन्दन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।

पाच मार्च उन्नीस सौ ग्यारह जन्म लिया है,
'पारगुवा' धरती को तुमने धन्य किया है।
सागर के तट पर आकर के डाला डेरा,
पढे काव्य, सिद्धान्त, शास्त्र, मिल गया सवेरा।
तुम साहित्याचार्य बने, सब के मनरजन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।१।।

नाम तुम्हारा सार्थक पन्नालाल हो गया,
डॉक्टर पद मे गुण-समूह, सम्पूर्ण हो गया।
श्री गणेश विद्यालय, सागर मे सुखकारी,
पचपन वर्ष करी सेवा, तुमने हितकारी।
पुण्य पुराणो की टीकाएँ, पाप निकन्दन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।२।।

विद्वत्परिषद् के, वर्षों तक थे, तुम मन्त्री,
वनकर के अध्यक्ष, हुई मुखरित हृत्तन्त्री।
राष्ट्रीय सम्मान, प्रान्त से तुमने पाये,
राष्ट्रपति से सम्मानित हो, श्रेष्ठ कहाये।
जगह-जगह से मिला, तुम्हें आदर सुखकन्दन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।३।।

वर्णीजी के शुभाशीष से तुम लहराये,
धन-धान्यादि, पुत्र-पौत्र तुमने सब पाये।
विद्वज्जन के बीच, शोभते हो तुम ऐसे,
सचमुच पन्ना लाल, माल मे गूथे जैसे।
लगा तिलक सम्मान, माथ पर रोरी चन्दन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।४।।

जब तक सूरज चाद और नभ मे है तारे,
हे जिन-वाणी भक्त रहे गुणगान तुम्हारे।
गाता रहे समाज, विश्व मे हो यश भारी,
जीओ तुम शत वर्ष, कामना यही हमारी।
निर्मल नीर चढाकर करता है पद-वन्दन,
सरस्वती के पुत्र, तुम्हारा है अभिनन्दन ।।५।।

सेठ माणिक चन्द्र जैन, 'निर्मल'
बांसा-तारखेड़ा, (दमोह)

धन्य धरा बुन्देली जिसके, मूर्तरूप ज्ञानी नन्दन,
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर, मेरा भी है अभिवन्दन ।
शतशत वन्दन शतशत है नमन ।।

ग्राम पारगुंवा–धन्य हो गया, गुलाबचन्द्र के भाग्य जगे,
मात जानकी–पूर्व दिशा से, जैसे प्रभात मे सूर्य उगे ।
मात तात ने–व्यवहारो हित, 'पन्नालाल' यह नाम दिया,
जिसने भावी जीवन मे आ, सार्थकता से पूर्ण किया ।
आज उन्ही का करने जन जन, उमड़ पडा है अभिनन्दन,
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर, मेरा भी है-अभिवन्दन ।।
शत शत वन्दन ।।१।।

वाल्यकाल से ही विद्या पाने जब मचल पड़ा अंतर्मन,
पुरुषार्थी बन-वड़े कदम, पाने शिक्षा का विशद गगन ।
कर डाली अध्ययन सभी, संस्कृत, प्राकृत-हिन्दी पाली,
हो गये तभी निष्णात, वाटिका के सशक्त सतर्क–माली ।।
गणेश वर्णी जैसे सतों का पा सानिध्य सुरभि–चन्दन,
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर, मेरा भी है–अभिवन्दन ।।
शत शत वन्दन ।।२।।

साहित्याचार्य, सिद्धान्तशास्त्री,पी-एच डी. आदि उपाधियाँ भी,
मानद उपाधियां गरिमामय, चाहे प्रशस्तिया शत शत भी ।
वे किंचित भी महनीय प्रकृति मे, स्वाभिमान को डिगा न सकी,
सदाचरण उज्जवल व्यक्तित्व मे कोई न मलिनता मिला सकी ।।
अभिमान तो किंचित छू न सका, ऐसा गरिमामय है चिन्तन,
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर मेरा भी है–अभिवन्दन ।
शत शत वन्दन ।।३।।

साहित्य सृजन की शृखला मे, नई नई विधाओं को लेकर,
कर दिये अनूदित गहन ग्रन्थ, पौराणिक मे नूतन देकर।

कवि हृदय! तुम्हारी कवितायें, जनमानस को आदोलित करती।
उनमे 'वसन्त' की है बहार, अध्यात्म त्रिवेणी सी बहती,
मौलिक रचनाओं के माध्यम से, दे डाला जग को तन-मन धन।
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर मेरा भी है—अभिवन्दन ।।

शत शत वन्दन ।।४।।

पथ मोह के विसवाद में, आज मची खीचा तानी,
नये नये आयामो से, करते रहते हैं मनमानी।

हो इनसे निर्लिप्त, समन्वय का पथ अपनाया है,
इसीलिये तो विद्वद् जन में, उन्नत पद पाया है।

षड्सप्तति से कई सदियों तक, जयवत रहो जगदानन्दन,
तेरे ऐसे अभिनन्दन पर, मेरा भी है—अभिवन्दन ।।

शत शत वन्दन ।।५।।

हे सुधी! तुम्हारी वाणी से, अमृतमय झरने झरते हैं,
नये नये परिवेशो मे, श्रुत स्याद्वादमय ढलते हैं।
अनेकात की सरिता वहती, नय निक्षेपो का सगम होता,
मतमतान्तरो का निरशन होकर, सापेक्ष समन्वय जब होता।
गुण गरिमामय अजात शत्रु श्रद्धेय! 'सुमन' का पद वन्दन,
ऐसे तेरे अभिनन्दन पर मेरा भी है अभिवन्दन ।।
शत शत वन्दन ।।६।।

पं. पूर्णचन्द सुमन, शास्त्री, काव्यतीर्थ,
दुर्ग.

दुर्लभ आगम को सुगम किया
विद्वद्वर शिष्यो की कतार ।
तुम सत्य शिवम् सुदरम् के
हो मूर्धन्य साहित्य कार ।।

ओ जिनवाणी के उद्घोषक
वर्णी वाणी के मूर्तिकार ।
तुम समता, ममता, क्षमता की
शुचि धारा के पावन प्रसाद ।।

हो स्वय लपेटे अपने मे
सम्यक् दर्शन, चारित्र, ज्ञान ।
रहकर गृहस्थ जल कमल सदृश
निर्लिप्त भावना विद्यमान ।।

श्रद्धा से भक्ति से नत हो
हम करें आपका अभिनन्दन ।
अर्पित है अन्तर के स्वर के
मंगल, कुंकुम, अक्षत, चन्दन ।।

सरस्वती पूत पर युगो युगो
हम सब गर्वोन्नत भाल रहे ।
उन्नत मस्तक ज्ञानेन्द्र मुकुट मे,
मण्डित 'पन्ना-लाल' रहै ।।

वैद्यराज पं. ज्ञानचन्द्र 'ज्ञानेन्द्र',
ढाना.

श्री गुलाब के लाल जानकी के तुम नंदन,
पारगुवा, सागर मे जनमे करते हम अभिनंदन।

सागर से गहरा, सागर में ज्ञान लिया है,
गंगा सी पावन काशी मे मनन किया है,
साधु सन्तो के आशीषों का सम्बल लेकर के,
और उन्ही के वचनामृत को निज हृदयंगम करके,
कई, प्रमुख ग्रन्थो की टीकायें की तुमने।
सम्पादन जो किए सभी देखे है तुमने।
बहुत श्रेष्ठ हैं मौलिक सृजन किए जो तुमने,
खूब सराहा है उन सब को विद्वजनो ने।।

नगर निगम से, राष्ट्रपति तक सराहना की है,
पुरुस्कार मानद उपाधिया सबने मिल कर दी हैं।
कृतियाँ हैं अनमोल नाम को अमर कर दिया,
गागर मे तुमने सागर सा भाव भर दिया।।

जो भी लिखा सभी को वह आधार बन गया,
छदमस्ती जीवो को तारनहार बन गया।
टीकाकार, सृजक, सम्पादक बार बार वदन है,
स्वीकारो विद्वत्वर तुमको करता मन अभिनदन है।।

डॉ. हुकुमचद पवैया,
ललितपुर.

◻

तुम हो सचमुच सन्त

(१)

जितना सार्थक नाम है, द्विगुण सार्थक काम,
दिनचर्या अविचल, सतत अप्रमाद, विश्राम ।
अप्रमाद विश्राम निरत, पूजन सामायिक,
लेखन, पाठन, पठन, आत्मसाधक उन्नायक ।
सहज, सरलता,विद्वत्ता,निरभिमान, व्यक्तित्व,
जैनागम का प्रणयन, मौलिक सत्साहित्य ।।

(२)

शीर्षस्थ साहित्य के, मूर्धन्य विद्वान्,
मितभाषी, वक्ता, सुधी, अनुपम, प्रतिभावान।
अनुपम प्रतिभावान् शिष्य कई विद्याधारी,
वर्णी विद्यालय गाता, यश कीर्ति तुम्हारी ।
शान्त रसामृत काव्य के गौरव युक्त 'वसन्त',
गृहवासी कैसे कहे तुमहो सचमुच सन्त ।।

(३)

श्री वर्णी महाराज का मिला प्रचुर सत्सग,
पुरस्कार सत्कार के मिले अनेक प्रसग ।
मिले अनेक प्रसंग राष्ट्रपति गौरव पाया,
डॉक्टरेट भी मिली किंच अभिमान न आया ।
विपुल धनी कृतित्व के ज्ञानवान, गुणवान,
हो शतायु जिनधर्म की सेवा करो सुजान ।

गुलाबचन्द्र जैन, वैद्य
ढाना (सागर)

◆

उन्हीं पन्नालाल जी का हुआ अभिनन्दन

मौत के द्वार पर जीवन का प्रहरी
बूढा तन, ज्ञान-साधना गहरी
बोये हैं जिनने किताबो मे मोती
न होती प्रगति, जो कलम वो न होती.
सरिता सा निश्छल सरलता का जीवन
सहज ही जिया है तूफानो का जीवन.
सागर की लहरें किनारो को छूती

रही इनकी वृत्ति घमण्ड से अछूती
स्नेह की बदली जहा भी है बरसी
विद्या की बाली वहा फिर न तरसी
हिमालय खुद ऊचा क्या ताज पहनायें
अनन्त आकाश को सीमा बताये ?
भोगो के अट्टहासो मे विद्या का क्रदन
उन्ही 'पन्नालालजी' का हुआ अभिनंदन.

श्रीमती विजया लक्ष्मी जैन, एम. ए.,
जबलपुर.

(१)

हे ! विद्वद् वर सुयश आपका,
क्या हम गायें ।
हे ! गुरुओ के गुरु आपका,
गुण क्या गायें ॥

(२)

कोटि-कोटि मानव मदिर मे,
ज्ञान की ज्योति जलाई ।
भूले भटके पथिक जनो को,
सच्ची राह बताई ॥

(३)

सतत साधना, ज्ञान अर्जना,
जीवन लक्ष्य बनाया ।
आत्म साधना, सयम द्वारा,
आतम ज्ञान जगाया ॥

(४)

लगन शील, गभीर चेतना,
के बल कलम चलाई ।
जिन वाणी के सरक्षण मे,
सारी शक्ति लगाई ॥

(५)

कितने ग्रन्थ अनूदित कीने,
कितने सृजन किये ।
प्रखर लेखनी द्वारा मानो,
नव-नव रूप दिये ॥

(६)

सस्थाओ के प्राण,
और छात्रो के चिंतक ।
जन-जन के आधार,
जैन जग के शुभचिंतक ॥

(७)

शान्त चित्त मधुरस वाणी का,
जिनने श्रवण किया ।
सारभूत तत्वो को मानो,
उनने ग्रहण किया ॥

(८)

मणि मुक्ता मे जैसे 'पन्ना',
उत्तम माना जाता ।
विद्वानो मे नाम आपका,
पहले आँका जाता ॥

(९)

सरस्वती के वरद पुत्र !,
श्री 'पन्नालाल' कहाये ।
पिता 'गुलाब' 'जानकी' माँ के,
कुल मे 'लाल' सुहाये ॥

प. धरणेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री,
हटा (दमोह).

●

पन्ना-सा अनमोल रतन

सागर के अंचल में जन्मा, प्रिय पन्ना सा अनमोल रतन ।
सागर विद्या का बना स्वयं, सद्गुण का सागर अन्तंमन ।।१।।

मिश्री सी वाणी मधुर-मधुर, जब गुंजित होती कर्ण पटल ।
बनता पाषाण हृदय सदय, गहता सज्जनता निष्ठुर खल ।।२।।

पांडित्य प्रचुर अभिमान न डर,सारल्य चरित,उत्कृष्ट धवल ।
अध्यात्मवाद के अनुयायी, साधु सा पावन मन निश्छल ।।३।।

खारा सागर बन गया क्षीर, चंदा सा यशस्वी बना वतन ।
अधिमान मिला सर्वोच्च तुम्हे, साहित्य कला के शांति दूत ।।४।।

सेवा समाज की ग्रंथ भरे, करता पन्ना-पन्ना प्रसूत ।
जीवन जीकर तुम अर्थवान्, सामर्थवान युग के अकूत ।।५।।

तुम धन्य । धन्य तुमसे समाज, विख्यात किया 'बुन्देल' पूत ।
अवनत श्रद्धा से हृदय भाल,यश विशद असंभव कलम कथन ।।६।।

'किशोर' जैन, साहित्यरत्न,
बकस्वाहा (छतरपुर).

सुयश सुमन से सतत् सुवासित रहे आपकी जीवन क्यारी ।

सर्व श्रेष्ठ विद्वान्, डाक्टर, शास्त्री, पंडित पदवी धारी ।
सत् साहित्याचार्य, जैन दर्शन के ज्ञाता, जन हितकारी ।
विपुल धर्म ग्रन्थो के प्रणयनकर्त्ता–अनुवादक–सम्पादक ।
टीकाकार, प्रवक्ता, शिक्षक, जिनवाणी माँ के आराधक ।
सौम्य, सरल, समदर्शी,शासन से सम्मानित और पुरस्कृत ।
अभिनन्दन के योग्य, ज्ञान रत्नाभूषण से युक्त अलकृत ।
माननीय श्री गल्ली जी के पुत्र, जानकी माँ के प्यारे ।
जैन समाज सुधारक, सम्यग्ज्ञान प्रकाशक अनुपम तारे ।
माननीय श्री पन्नालाल, आपका हम करते अभिनन्दन ।
दीजे शुभ आशीष हमे, हम करते सादर शत-शत वन्दन ।
आप दीर्घ जीवी हो, होवे सदा आपका सुखमय जीवन ।
अभिनन्दन हो सदा आपका, मिले आपसे शुभ निर्देशन ।
आप अनेक सस्थाओ का करते रहे सतत् सचालन ।
नित सम्यक् चारित्र भाव से करें जिनागम आज्ञा पालन ।
सुयश सुमन से सतत् सुवासित रहे आपकी जीवन क्यारी ।
मनोकामना पूर्ण करें प्रभु, ऐसी शुभ कामना हमारी ।

वीरेन्द्र कुमार जैन, शिक्षक,
हटा (दमोह).

विद्वत्परिषद् का कोना-कोना हुआ सुशोभित तुमसे :

पण्डित पन्नालाल धन्य है, उनके मात-पिता को ।
जो उपकार किया है उनने, लाल दिया इस जग को ।।

चमक रहे हैं वह ऐसे, ज्यो सूरज चाद गगन मे ।
सरस्वती के वरदपुत्र हैं, सस्कृत काव्यागन मे ।।

बुद्धि, विवेक और कौशल से, जीत हृदय गुरुजन का ।
"वर्णी जी" का वरद-हस्त पा, सौरभ बने सुमन का ।।

विद्वत् परिषद् का मन्त्री पद, हुआ सुशोभित तुमसे ।
पाकर नीति धर्मयुत सुन्दर, सद् सचालन तुमसे ।।

बना अध्यक्ष सर्वसम्मति से, परिषद्-जन हरखाये ।
अद्‌भुत कार्य कुशलता लखकर, पद भी गरिमा पाये ।।

सुकवि, सुचिंतक तुम हो, लेखक देव-भाषा के ।
सम्पादित कर सद्ग्रन्थो को, भाव दिये भाषा के ।।

अधिकारी सस्कृत भाषा के, सफल व्यवस्थापक हो ।
पठन और पाठन हित तो, आदर्श प्राध्यापक हो ।।

सरल सुबोध गम्य टीकाएँ, जन-जन तक पहुँचाकर ।
जो साहित्यिक सेवा की, तुमने समाज मे आकर ।।

उनका तो प्रतिदान राष्ट्रपति, पुरस्कार भी कम है ।
इसीलिये शायद समाज, द्वारा यह अभिनन्दन है ।।

छद बद्ध कर सहस्र नाम को, दिखलाई जो ममता ।
करती है प्रत्यक्ष आशु कवि के, दर्शन की क्षमता ।।

सामायिक देते हैं नित ही, मोक्ष द्वार पर दस्तक ।
पा उनका सान्निध्य ज्ञानमय, "योगीराज" नतमस्तक ।।

योगीराज फूलचन्द्र जैन,
संचालक,
श्री स्याद्वाद योग-सस्थान,
छतरपुर.

मेरे कवित्व जीवन के गुरु ।
स्वीकार करो मेरा प्रणाम ।।

मैं द्वादश वय का बालक था
तब मिला तुम्हारा शुभाशीष ।
मोराजी के प्रिय प्राङ्गण मे,
हम स्नातक तुम गुरु मनीष ।।
तुम सदा 'वसन्त' बहार बने,
अध्ययनशील हम स्नातक ।
तुमसे पा कविता का सौरभ,
हम धन्य हुए हो नतमस्तक ।।

ऐसे महान गुरुवर को पा,
बन गया मेरा जीवन ललाम ।
मेरे कवित्व जीवन . . . . ।।

सन पैंतीस से अब भी जब तक
कुछ गीत छन्द लिख लेता हूँ ।
इस अभिनन्दन की वेला मे,
भावो की माल संजोता हूँ ।।
इस वार्धक्य मे अपने गुरु—
को मेरा साष्टाग नमन ।
हो कलुष हमारा सदा दूर,
बन जाये गुरु जैसा ही मन ।।

कुछ विनयाञ्जलि के सुमन आज,
अर्पित हैं मेरे गुरु महान ।।
मेरे कवित्व . . . . ।।

तुम ज्ञान गगन के धवल चन्द्र,
मेरा है उडुगण मे निवास ।
तन से कुछ दूर बसा हूँ गुरु ।
मन सदा तुम्हारे आस पास ।।

मेरे गुरुवर ! तुमको प्रणाम !!

हे विद्वद्वर, विद्यानिधान,
साहित्यकार, आचार्य प्रवर ।
भारती तुम्ही से धन्य हुई,
सागर तुमको पा रत्नाकर ।।

तुम "पन्नालाल" विशाल हृदय
हम शिष्य करें क्या यशोगान ।
मेरे कवित्व जीवन के गुरु !
स्वीकार करो मेरा प्रणाम !!

खूबचन्द्र "पुष्कल" सीहौरा (सागर)

हम करते हैं अभिनन्दन

ज्ञान सुधा की घुटी पिला कर, विद्वान अनेक बनाया ।
सस्कृत काव्य सृजन के द्वारा, आगम भन्डार बढाया ।।
द्वादशाग अनुवाद कार्य कर, जन जन तक पहुँचाया ।
विधान प्रतिष्ठा वाचन द्वारा, जन मानस हर्षाया ।।
श्रेष्ठ सुधी साधक सज्जन को, है मेरा शत शत वन्दन ।
पण्डित पन्नालाल प्रवर का, हम करते हैं अभिनन्दन ।।१।।

होते सागर मे जड मोती, इसको जिसने झुठलाया ।
पन्ना जैसी आभा अनुपम, बनी लाल सी काया ।।
ज्ञान रश्मि के द्वारा जिसने, मेटा अज्ञानी अधयारा ।
किया सर्मपित ज्ञान हेतु मन, तन धन जीवन सारा ।।
सदा सुवासित करें जगत् को, हैं ऐसे अनुपम चन्दन ।
पण्डित पन्नालाल प्रवर का, हम करते है अभिनन्दन ।।२।।

विद्वत्समाज मे बने अग्रणी, सरल स्वाभावी अति औदार्य ।
मोराजी विद्यालय सागर के, अनेक वर्ष रहे आचार्य ।।
कुशल मार्ग निर्देशक वाग्मी, सादा जीवन–उच्च विचार ।
आगम अध्यातम कुशल चितेरे, किया धर्म का मर्म प्रसार ।।
सद्गुण की जो खान अनूठी, हैं मानव कुल के मण्डन ।
पण्डित पन्नालाल प्रवर का, हम करते है अभिनन्दन ।।३।।

बिहारीलाल मोदी, शास्त्री,
बड़ा मलहरा.

जिनकी कलम धर्म ग्रन्थो का करती सदा सृजन है ।
पण्डित पन्नालाल डॉक्टर का बहु अभिनन्दन है ।। (टेक)

गल्लीलाल जानकीबाई—पारगुवा के हीरा ।
शुभ लेखक कविराज संस्कृत-नाशे जन जन पीरा ।।
सागर काशी के सुछात्र—साहित्याचार्य शास्त्री जी ।
काव्यतीर्थ हो न्यायतीर्थ पा तुम महान् पद डॉक्टर भी ।।
सागर विद्यालय के महँ गुरु—मंत्री विद्वत् परिषद हैं (पण्डित)

शान्तिमूर्ति साधक-सरस्वती—आराधनमय तुम जीवन ।
विद्वद्रत्न व्रती महँवक्ता—सागर के हीरा बन ।।
कई ग्रन्थ को लिखकर तुमने-पाय राष्ट्र से बहुसम्मान ।
सागर यूनिवर्सिटि ने भी दे-डाक्टर पद कर बहु मान ।।
प्रतिभामय तुम महँ मानव का-यश गाते जन जन है (पण्डित)

सागर अरु संभाग जबलपुर-विद्वन्परिषद कई समिति ।
तुम सरस्वतिसुत आगमज्ञान से-अभिनदन कर जैन जगत ।।
लगभग सौ ग्रथो के लेखक—सम्पादक निर्मानी ।
कर्मठ सन्त भक्त वर्णी तुम—कीर्ति पाई मनमानी ।।
सज्जन सरल धर्म प्रेमी—गुणसागर महारतन है (पण्डित)

महँश्रम निधि अमूल्य-तुम जनहितु-श्री वर्णीजी के प्यारे ।
धन्य वीर सैनिक महँमानव—अमर जैन जग के तारे ।।
जिनवाणी के 'लाल' कलमधनी, युग के नेता मृदुभाषी ।
अनुपमरत्न बुदेलखण्ड के—जिनकी अमर कीर्ति खासी ।।
पण्डितजी सकुटुम्ब सुखी रहे—जब तक'चन्द्र' गगन है ।
पण्डित पन्नालाल डॉक्टर का बहु अभिनन्दन हैं ।।४।।

वैद्य दामोदर 'चन्द्र', घुवारा,
छतरपुर.

भारत मां के लाल अनोखे, तुमको शत-शत बार नमन ।

(१)

गुरुदेव ! तुम्ही जीवन मेरे, तुम ही मेरे अर्जित धन,
भ्रमर-चक्र मे पडी नाव थी, दिया आपने आलम्बन ।
अज्ञान मोह के वशीभूत हो, ढूँढ रहा था वन-उपवन,
परम तत्व को दिया आपने, तुमको शत-शत वार नमन ।।

(२)

धन्य घड़ी, वह धन्य दिवस,जव पारगुआँ मे जन्म हुआ,
नही जानता था कोई तव, जन-जन तारणहार हुआ ।
लाल सभी हो रक न कोई,पतित वनो न अरे सृजन !
नाम सार्थक करते प्रतिक्षण,तुमको शत-शत वार नमन ।।

(३)

वुन्देलखण्ड का पन्ना है, शास्त्रो का पन्ना–पन्ना वोला,
चलती-फिरती घडी स्वयं हैं, ये कृतित्व जिनका वोला ।
नही जरूरत अन्य किसी की,जहा कि'पन्नालाल' चमन,
भारत माँ के लाल अनोखे, तुमको शत-शत वार नमन ।।

(४)

धौम्य-कौत्स, आचार्य द्रोण से, गुरु तत्वज्ञ मिले हैं,
अलिप्त स्वार्थ से हृदय सुकोमल, समता स्रोत वहे है ।
नही अर्घ्य और पुष्पाजलि, गुरु ! उऋण का कोई यतन,
भव-भव-भाव-प्रसून समर्पित,तुमको शत-शत वार नमन ।।

(५)

समयसारमय समय-समय मे, अलख विभूति है दिखती,
अहो ! असाता कर्म उदय मे, पर्यक पडी भी है हँसती ।
"यथा वीज तथा निष्पत्ति,"प्रगटित होते जिनदेव वचन,
भव्य जीव को चरण रेख ये, तुमको शत-शत वा रनमन ।।

(६)

ज्ञान और संयम का सगम, गुरुवर मे नित पाते है,
ज्ञानी-ध्यानी-मुनि–यति जन, कहते नही अघाते है ।
जीवन भर कठिन परिश्रम से,जिनवाणी का कर मथन,
ज्ञान-नेत्र को खोल दिया है, तुमको शत-शत वार नमन ।।

(७)

पग चिन्हो पर चल "वर्णी" के, ज्ञान कल्पतरु वढा किया,
तुम्ही सफल शिक्षक हो ऐसे, राष्ट्रपति सम्मान दिया ।
श्रम-सीकर से सीच, किया नित, जनोत्थान साहित्य-सृजन,
हे कर्मठ, निस्पृह, समदर्शी, तुमको शत-शत वार नमन ॥

(८)

हे सरस्वती के वरदपुत्र ! हे जिनवाणी के सतत भक्त,
हे रत्नत्रय के सवलघोष, सदाचारमय हे सशक्त ।
हर्ष समाता नही हमारा, देख आपका सौम्य-वदन,
रहें "चिरायु" यही कामना, तुमको शत-शत वार नमन ॥

पं आनन्दकुमार जैन शास्त्री,
जैनदर्शनाचार्य, एम. काम., एम. ए.
अध्यापक - जैन बहु. उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सागर.

▣

प्रवाह ।
शान्त, मौन
अविरल गतिमान
साध्य की साध मे
सदा सावधान
समय के
शक्ति के
अणु-अणु के
उपयोगवान्
अदृष्ट सघर्षवान्
प्रवाहमान, प्रवाहमान ।
रास्ते के तरुओ को,
खेतो को,
पथिको को
पयदान
महादान
तृप्तिदान
तुष्टिदान ।
विभ्रम के तम मे
विकारो के दम मे
उछलते जनो से
विशेषवान् !
महान् !!
भोगियो मे योगी !!!
तुम्हे
शत-शत प्रणाम ।

प्रेमचन्द्र जैन, एम. ए.
प्रधानाध्यापक, शा. मा. कन्या शा.
सिन्धी केम्प, दमोह.

▣

(१)

ज्ञानामृत का पान स्वय कर, किया धन्य निज जीवन,
पर उपकारी रहे सदा, हर्षित जिन आगम उपवन,
मात 'जानकी' पितु 'गुलाब' की आखो के तारे है,
'पारगुवा' की भूमि धन्यकर, वर्णी-पथ अनुगामी हैं ।
जिनवाणी उद्घोषक गुरुवर, हर्षित हृदय हमारा है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को, शत-शत नमन हमारा है ।।

(२)

कर्त्तव्य-परायण, शुभचिन्तक, जिनवाणी गङ्गा अवगाही,
सरस सुकोमल, बोधगम्य, शैली समरसता अवगाही,
सफल कवि, शुभचिन्तक मन के, गुरुवर टीकाकार हैं,
'विद्यासागर' सत्सगी बनकर, 'क्षमासागरी' भाव हैं ।
शुभाशीष पा शिष्य जगत का, हर्षित जीवन सारा है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को शत-शत नमन हमारा है ।।

(३)

सरल सुकीर्ति ज्ञान के धारी, बने 'वसन्त' महान् है,
जिन-आगम की कर विवेचना, सहज शुद्ध अभिराम हैं,
समता, ममता, क्षमता जिनके जीवन मे सुकुमार हैं,
'कपिलेश्वर' 'खिस्ते' 'छेदी' के 'दयाचन्द्र' अभिराम हैं ।
बुन्देली माटी के सुरभित जीवन सुमन सराहा है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को शत-शत नमन हमारा है ।।

(४)

'पन्नालाल' नाम के आगे 'साहित्य' आचार्य उपाधि है,
हिन्दी के 'बाबू गुलाब' सी सुस्मित सरस उपाधि है,
विद्वत् परिषद् पर्याय बनी, इस भावुक विनत विवेकी की,
जैन जगत कैसे भूलेगी, ज्ञान मूर्ति निज देश की ।
वर्णी गणेश का अभिनन्दन कर, जीवन सुयश सराहा है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को शत-शत नमन हमारा है ।।

(५)

धन्य आपका नियमित जीवन 'वासती' शुभभावो का,
'विद्या' 'गणेश' की कृपा प्राप्तकर, उपदेशक ज्ञानी दानी का
किस विधि करूँ वदना गुरुवर, है स्वर मे माधुर्य नही,
मन का भाव प्रगट, करने में, वाणी मे चातुर्य नही ।
मतभेदो से ऊपर उठकर, जीवन समरसता बाना है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को, शत-शत नमन हमारा है ।।

आज करे अभिनन्दन किस विधि, मन श्रद्धा से भर आया,
'सुशील' राष्ट्र के प्रहरी का, जीवन जागृत हमने पाया,
स्वकर्त्तव्य विवकी जीवन, हुआ प्रशंसित भारत मे,
सरस्वती के साधक गुरुवर, 'भागेन्दु' शिष्य आराधक मे ।
नीरोग रहें मेरे प्रिय गुरुवर, अनुपम भाव हमारा है,
बुन्देलखण्ड के ज्ञानसूर्य को, शत-शत नमन हमारा है ।।

शिखरचन्द्र जैन 'सुशील', एम. ए , बी. एड., शास्त्री,
प्रधानाध्यापक शा. मा. विद्यालय, टीला बुजुर्ग (सागर)

उठो, बढ़ो साहित्य भवन का, मगल घट से द्वार सजा दो ।
चलो, देवता के मदिर मे, अपने श्रद्धा-सुमन चढा दो ।।
उपकारी के प्रति, कृतज्ञ होना, मानव का प्रथम धर्म है ।
नित युग के अनुकूल सृजन, साहित्य-देव का पुण्य कर्म है ।।
वादल को बदले मे हम वोलो, क्या कर सकते है अर्पण ।
दूर-दूर से ही करते हैं, किंचित नीर-क्षीर से तर्पण ।।
जिसने अंधे को लाठी का सम्बल दे, सत्पथ दर्शाया ।
नेत्र दान से ज्ञान दान का, मन मे जगमग दीप जलाया ।।
पथ का तम हो दूर न,तो भी यदि अन्तर का तम छट जाये ।
तो भव-भव मे जन्म-मरण का, सारा ही झंझट कट जाये ।।
ऋषियो की पावन-वाणी का, जिसने सब रहस्य खोला है ।
अपने लघु जीवन की गागर मे, समता का रस घोला है ।।
अब तक नही समझ पाये थे, मेरा गुरु इतना महान् है ।
जिसकी गुरुता के महत्त्व से परिचित, यह सारा जहान है ।।
चिर कृतज्ञ संस्कृति के प्रहरी, अमर रहे तेरा यह जीवन ।
ज्ञानपुज निर्मल मानस के, चरणो मे मेरा अभिवन्दन ।।

कु० नीलम जैन,
कटनी.

युग-युग से होते आये हैं ।
जगती पर विरले गुण वृन्द ।।
पडित पन्नालाल हुये ' है ।
हम करते जिनका अभिनन्दन ।।१।।

जन्म लिया था "पारगुवा" मे ।
सागर जिला मझार ।।
माता जानकी वाई कहानी ।
गल्लीलाल थे पितृ महान् ।।
विशद ज्ञान धारक वनने ।
किया काशी मे अध्ययन ।।
पडित पन्नालाल हुये हैं ।
हम करते जिनका अभिनन्दन ।।२।।

दुर्लभ वक्ता पडित ऐसे ।
विरले ही होते हैं ।।
जिन्हे सुसज्जित कर उपाधि ।
से आनन्दित होते है ।।३।।

ऐसे समाज के ताज वने ।
विपुल ज्ञान का धारक मन ।।
पडित पन्नालाल हुये है ।
हम करते जिनका अभिनन्दन ।।४।।

वर्णी जी के सुमार्ग पर चल ।
धर्म-प्रसार का पन्थ बताया ।।
श्रावक मुनि-गण अरु शिष्यो को ।
धर्म-ज्ञान पर्याप्त कराया ।।
उनके चरित्र से अवगत हो ।
हम करते शत-शत वन्दन ।।
पडित पन्नालाल हुये हैं ।
हम करते जिनका अभिनन्दन ।।५।।

कुछ ग्रन्थो का सृजन किया ।
कुछ का सम्पादन-अनुवादन ।।
कुछ खोज परक अभिलेख लिखे ।
जिससे पाया है अभिनन्दन ।।
पडित पन्नालाल हुये है ।
हम करते जिनका अभिनन्दन ।।६।।

वीरेन्द्र कुमार जैन, शिक्षक,
र. प्र. मोदी रा. जैन उ. मा. शाला,
दमोह.

बुन्देलखण्ड की पावन भूमि ने,
महकाया साहित्यिक उपवन है,
पन्नालाल पंडित जी को,
शत-शत मेरा वन्दन है
.. .. अभिनन्दन है ।।१।।

जिनवाणी के वरद् पुत्र,
"पन्नालाल" तुम्ही हो,
जिनवाणी की चिररक्षा के,
सजग-प्रहरी आज तुम्ही हो ।

सद्साहित्य सरस्वती के,
अनुपम आप सदन है,
पन्नालाल पडित जी को
शत-शत मेरा वन्दन है,
.. .. अभिनन्दन है ।।२।।

तैराक कुशल तुम ज्ञानार्णव के,
अज्ञान तिमिर के तुम दीपक,

मन मनका के "पन्ना-लाल" आप,
राजा "वसन्त" से मन मोहक,

चिन्तक, प्रेरक, सरल भाव,
निष्कपाय सेवक मन है,
पन्नालाल पण्डितजी को
शत-शत मेरा वन्दन है,
· अभिनन्दन है ॥३॥

समालोचना, साहित्य समीक्षक
लेखक, अनुवादक, अन्वेषक,
तत्व प्रणेता, श्रद्धा साधक,
स्वात्म तत्व चिर आराधक।

त्याग तपस्या की प्रशम मूर्ति,
जन हित के सम्पादन है,
पन्नालाल पंडित जी को,
शत-शत मेरा वन्दन है,
··· ··· अभिनदन है ॥४॥

विनोद कुमार जैन, आयुर्वेद रत्न,
रजवांस, (सागर)

द्वितीय खण्ड
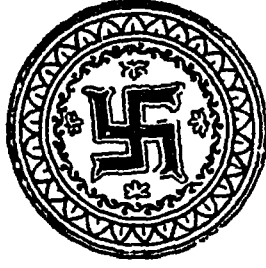
कृतित्व समीक्षा

कृतित्व–समीक्षा

साहित्याचार्य जी की साहित्य साधना :

—कमलकुमार जैन एम. ए

बुन्देलभूमि वीरो, विद्वानो, मनीषियो की जन्मस्थली है । इस भूमि मे ऐसे वीरो ने जन्म लिया जिनके त्याग और बलिदान पर भारतभूमि को गौरव है । विद्वानो से शिक्षा जगत् मे तो क्रातिकारी परिवर्तन हुआ ही, साहित्य-सृजन मे भी बड़ा योगदान मिला है । मनीषियो ने अपनी साधना और तत्त्व-चिंतन से ससार को आत्म-शाति का मार्ग प्रशस्त किया है । पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य बुन्देलखण्ड के उन विद्वानो की परम्परा मे है जिन्होने अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग कर जीवन का वास्तविक उपयोग किया है, और अपनी विद्वत्ता के आधार पर साहित्य सृजन मे विशेष ख्याति प्राप्त की है । पडित जी का जन्म एक साधारण से परिवार मे सागर जिले के पारगुवा ग्राम मे पाच मार्च, १९११ को हुआ । माता श्रीमती जानकीबाई, पिता श्री गल्लीलाल जी (गुलाब चन्द्र जी) के देहावसान के बाद अपना ग्राम छोडकर सागर आ गई । प्रारम्भिक शिक्षा धार्मिक विद्यालयो मे सस्कृत शिक्षा के माध्यम से हुई । पूज्य वर्णी जी के सम्पर्क मे आने पर पडित जी का वैसा ही सयोग हुआ जैसे पारस पत्थर के छूने से लोहा सोना हो जाता है । पूज्य वर्णी जी जैसे पारस से पडित जी सस्कृत के विद्वान् पडित बने-विद्वद् श्रेणी मे अग्रिम पक्ति के विद्वानो के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त की । पंडित जी को सागर और स्याद्वाद महा-विद्यालय वाराणसी मे अध्ययन करने का मौका मिला है । पडित जी जैसे ही साहित्याचार्य हुए कि 'साहित्याचार्य' आपका पर्यायवाची हो गया । और अधिकाश लोग आपको साहित्याचार्य के नाम से ही जानने लगे । आपको 'वसन्त' जी उपनाम से भी बहुत से व्यक्ति जानते हैं । अध्ययन के बाद आप सामाजिक, धार्मिक और शैक्षणिक क्षेत्र मे उतरे । अपनी कार्यकुशलता और विद्वत्ता के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त की । प्रतिभा के धनी पंडित जी न केवल सफल शिक्षक बल्कि सपादक, मौलिक चिन्तक, टीकाकार, सुस्पष्ट वक्ता और सगठक के रूप मे प्रसिद्ध है । आप एक बहुत लम्बे समय तक श्री गणेश वर्णी सस्कृत महाविद्यालय सागर मे साहित्याध्यापक रहे एवं १९७२ से उसी विद्यालय मे प्राचार्य के रूप मे ग्यारह वर्ष तक कार्य करते हुये सेवानिवृत्त हुये हैं । २७ वर्ष तक अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् को आपने मत्री के रूप मे उस सस्था को जीवन-दान दिया है । विद्वत् परिषद का सगठन और उसे गौरव प्रदान करने मे आपका बहुत बड़ा योगदान रहा है, जहाँ आपने अपने कुशल निर्देशन के द्वारा विद्वत् परिषद का संगठन किया है, वही आपने विद्वत् परिषद के माध्यम से अनेक महत्व-पूर्ण ग्रन्थो को प्रकाशित भी किया है, विद्वानो का गौरव बढाया है । साहित्याचार्य जी द्वारा सम्पादित/अनुवादित, टीका एव मौलिक साहित्य का विपुल भडार है । जिसका सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है —

साहित्याचार्य जी द्वारा की गई साहित्य साधना के सम्बन्ध मे जब हम विचार करते है तो साहित्याचार्य जी का साहित्य सृजन का क्षेत्र बहुत विशाल एव व्यापक पाते है । सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के क्षेत्र मे साहित्या-चार्य जी द्वारा जो महनीय रचना का कार्य हुआ है वह अपने आपमे एक कीर्तिमान है । साहित्याचार्य जी

साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त करने के पूर्व ही एक सफल कवि, लेखक, सम्पादक, टीकाकार के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। साहित्य सृजन की दृष्टि से जब हम साहित्याचार्य जी का मूल्याकन करते हैं, तो पाते हैं कि साहित्याचार्य जी का साहित्य सृजन से बहुत बडा रिश्ता है और उनके कार्यों से लगता है कि उनका जन्म ही साहित्य-सागर की समृद्धि के लिये हुआ है। सुबह से लेकर रात्रि (शयन के पूर्व) तक उनका अत्यधिक व्यस्त जीवन है। इसमे भी साहित्य सृजन के लिये सबसे अधिक समय निर्धारित है। क्षण-क्षण का सदुपयोग कैसे, कहाँ और किस कार्य मे किया जाता है यह सीखना हो तो पडित जी के एक दिन की दिनचर्या को देख लीजिये। समय का सही उपयोग समझ मे आ जावेगा। साहित्याचार्य जी की साहित्य-साधना को कई भागो मे वर्गीकृत किया जाता है। यह वर्गीकरण पुराण, काव्य, मौलिक चिन्तन, सपादन आदि के रूप मे द्रष्टव्य है —

पुराण साहित्य :

जैन वाङ्मय मे पुराण साहित्य का बहुत अधिक महत्त्व है। इसे जैन शब्दावली मे जैन-शास्त्र कहा जाता है। जो जैनधर्म के प्राण माने जाते है और यदि जैन वाङ्मय से जैन पुराणो को पृथक् कर दिया जाये तो जैन साहित्य की आधारभूमि ही शून्य हो जावेगी। जैन साहित्य मे पुराण साहित्य जिसमे तीर्थंकरो की वाणी, तीर्थंकरो के चरित्र है तथा जैन सिद्धान्त है क्लिष्ट हैं। प्राय· यह शास्त्र प्राकृत भाषा मे निबद्ध है क्योकि जैन साहित्य की प्राचीन भाषा प्राकृत है। जिस युग मे इन ग्रन्थो की रचना हुई है उस समय प्राकृत सर्वसाधारण की भाषा रही है परन्तु अब नही है। और अब तो वह भाषा जैनमतावलम्बियो को भी प्राय बोधगम्य नही है। फिर सर्व साधारण की तो बात अलग है। साहित्याचार्य जी की दृष्टि इस ओर गई और उन्होने अनुभव किया कि जैन सिद्धान्त को यदि जैन मतावलवी ही नही समझ सके तो उसका उपयोग ही क्या है। अत. उन्होने जैन शास्त्रो की टीका कर उसे सभी के लिए सुगम बनाया है। पडित जी द्वारा सम्पादित पुराण साहित्य इस प्रकार है·—

महापुराण :

जैन पुराण साहित्य मे महापुराण सर्वश्रेष्ठ पुराण माना गया है। इसके दो भाग हैं और रचना जिन-सेनाचार्य की है। इसमे ४७ पर्वो मे प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ का चरित्र है इसके साथ ही जैन सिद्धान्त राजनीति और अनेक जैन विद्याओ का वर्णन है। पडित जी ने इसकी हिन्दी टीका कर सर्वसाधारण के लिए पठनीय बना दिया है। प्रारम्भ मे शोधपूर्ण भूमिका मे ग्रन्थकार का परिचय एव ग्रन्थ का सार दिया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है।

उत्तरपुराण :

आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित इस ग्रन्थ मे भगवान् अजितनाथ से महावीर स्वामी तक तथा उस काल के शलाका पुरुषो का चरित्र निबद्ध है। उसकी हिन्दी टीका साहित्याचार्य जी ने कर इस ग्रन्थ का रसास्वादन सर्व-साधारण को सुलभ किया है। प्रस्तावना शोधपूर्ण है इसकी विशेषता यह है कि रामकथाओ की दो धाराओ पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा हुआ है। हिन्दी टीका रोचक और बोधगम्य है। इस पुराण को महापुराण के तृतीय भाग के रूप मे भी जाना जाता है।

पद्मपुराण :

पद्मपुराण पुराण साहित्य मे लोकप्रिय है और प्राय: जहाँ समाज कम पढी लिखी होती है वहाँ जिनालयो मे रात्रि मे होने वाली शास्त्र सभाओं मे प्राय: इसी शास्त्र का वाचन होता है। इसमे आगत रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता तथा विद्याधरो का वर्णन महिलाओं को, बच्चो को रुचिकर होता है और वे वचनिका को रुचि से सुनते है। इसके तीन भाग है। पंडित जी की भूमिका में उत्तरपुराण की रामकथा और विमलसूरि के प्राकृत ग्रन्थ पउम चरिउ की समीक्षा महत्त्वपूर्ण हैं। पद्मपुराण की मूल रचना रविषेणाचार्य की हैं और हिन्दी मे टीका साहित्याचार्य जी ने की है।

हरिवंश पुराण

जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हरिवंश पुराण, जैन पुराण साहित्य मे एक श्रेष्ठ पुराण है। प्रारम्भ मे त्रिलोक प्रज्ञप्ति के आधार पर तीन लोक का विस्तृत वर्णन है। काव्य दृष्टि से नेमिनाथ चरित्र रोचक है। बीच-बीच मे जैन सिद्धान्त की चर्चा भी रोचक और महत्त्वपूर्ण है। भूमिका मे ग्रन्थकर्ता का परिचय दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि हरिवश पुराण के रचनाकार जिनसेनाचार्य द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध है। भूमिका मे अनेक विशिष्ट आचार्यों के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला गया है। पडित जी की सरल सुबोव भाषा मे टीका के माध्यम से पुराण सभी के लिये उपयोगी हो गया है। सम्पादित ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है।

धन्यकुमार चरित्र

धन्यकुमार चरित्र पुराणो की शृंखला मे एक चरित्र ग्रन्थ है जिसके रचयिता गुणभद्राचार्य हैं। इसमे धन्यकुमार का चरित्र सरल सस्कृत भाषा मे आवद्ध है। पंडित जी ने इसकी हिन्दी टीका कर धन्यकुमार के शिक्षाप्रद चरित्र को सर्व साधारण के लिये उपयोगी बनाया है। प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है।

पार्श्वनाथ चरित्र :

पार्श्वनाथ चरित्र मे २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का चरित्र अनेक भवो के साथ अकित है रचना भट्टारक श्री सकलकीर्ति की है। डॉ० कस्तूरचन्द्र जी कासलीवाल जयपुर द्वारा लिखित विस्तृत प्रस्तावना से ग्रन्थकार एव ग्रन्थ का पूर्ण परिचय हो जाता है। पंडित जी द्वारा सरल सुबोध हिन्दी भाषा मे अनुवाद रोचक है। ग्रन्थ का प्रकाशन श्री शान्तिवीरनगर श्री महावीरजी से हुआ है।

समयसार :

समयसार आध्यात्मिक शास्त्रो मे प्रमुख शास्त्र है और इसकी रचना कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा की गई है। सौराष्ट्र के आध्यात्मिक चिन्तक कानजीस्वामी ने तत्त्वचिन्तन, अध्ययन और मनन की जो अविरल धारा प्रवाहित की है उसके कारण समयसार के अध्ययन और प्रवचन की परम्परा वढ गई है और पहले जिस ग्रन्थ को मुनियो का ग्रन्थ समझा जाता था इस समय वह ग्रन्थ श्रावको के अध्ययन और प्रवचन का प्रमुख ग्रन्थ वन गया है। इस पर बुन्देलखण्ड के महान् आध्यामिक सतप्रवर पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने महत्त्वपूर्ण प्रवचन दिये हैं। जिसका सम्पादन पडित जी ने कर उसे सरल सुबोध वनाया है मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा मे है। ग्रन्थ का प्रकाशन-वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से हुआ है।

अष्टपाहुड़ :

प्राकृत साहित्य का यह अत्यन्त सुन्दर तथा सरल ग्रन्थ है। इसके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य हैं। इस प्राकृत ग्रंथ की टीका श्रुतसागर सूरि ने सस्कृत मे की है। पडित जी ने इस ग्रथ का सरल हिन्दी अनुवाद कर कुन्दकुन्द का यह अनुपम ग्रंथ सभी को बोधगम्य बना दिया है। प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रथ का प्रकाशन शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से हुआ है।

कुन्दकुन्द-भारती :

कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टप्राभृत, वारहाणुपेक्खा तथा १० भक्तियो का प्राकृत गाथाओ के साथ पडित जी ने सरल हिन्दी अनुवाद दिया है। इसके माध्यम से एक साथ कुन्दकुन्द स्वामी के अनेक आध्यात्मिक ग्रथो का रसास्वादन पाठको को मिल जाता है। पडित जी की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना, जिसमे कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित साहित्य का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है, उपयोगी है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन आचार्य शान्तिसागर जिनवाणी प्रकाशन समिति, फलटण से हुआ है।

आराधनासार :

जैनधर्म के अनुसार सर्वोत्कृष्ट मरण सल्लेखना माना गया है। इसका यह अभूतपूर्व ग्रथ है। इसकी रचना देवसेनाचार्य ने की है। सल्लेखना का जो वर्णन इसमे है, अन्यत्र नही मिलता। पाठक पर विरक्ति का एव अपने शरीर के प्रति निर्मोही वनने का सीधा प्रभाव पड़ता है। पडित जी का हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सरल और रोचक है। इसका प्रकाशन शान्तिवीरनगर श्री महावीर जी से हुआ है।

तत्त्वार्थसार :

तत्त्वार्थसूत्र एव राजवार्तिक के आधार पर सप्त तत्त्वो का विशद वर्णन करने वाले इस ग्रन्थ की रचना समय–सार आदि महाग्रथो के टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि ने की है। पडित जी के हिन्दी अनुवाद के कारण ग्रन्थ सर्वोपयोगी वन गया है। पडित जी ने प्रस्तावना के माध्यम से तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके टीकाकारो का विस्तृत परिचय दिया है। ग्रन्थ का प्रकाशन वर्णीग्रन्थमाला वाराणसी से हुआ है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार :

समन्तभद्र स्वामी की यह रचना मुमुक्षुओ का कठहार है। सम्यग्दर्शन का विस्तृत वर्णन करने वाली यह अनुपम रचना है। आचार्य प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका है, पडित जी ने हिन्दी अनुवाद के माध्यम से ग्रन्थ को नवीन शैली मे प्रस्तुत किया है। वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट से इसका प्रकाशन हुआ है प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है।

मोक्षशास्त्र :

उमास्वामी द्वारा रचित मोक्षशास्त्र जैन धार्मिक ग्रथो मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। दशलक्षण पर्व मे इसका प्रतिदिन प्रवचन होता है। इस महान ग्रथ पर अनेक विद्वानो द्वारा हिन्दी टीकायें की गई है। साहित्याचार्य जी का सरल हिन्दी अनुवाद रोचक है। इस ग्रथ की विशेषता यह है कि जैन सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान्

सिद्धान्ताचार्य माननीय पडित फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा ५१ प्रश्न एवं उनके उत्तर भी परिशिष्ट मे दिये गये है। जिससे क्लिष्ट शास्त्र को समझने मे आसानी हो गई है। प्रकाशन सूरत से हुआ है। सप्त तत्त्वों का सुन्दर वर्णन करने वाली यह अनुपम रचना है।

स्तोत्र साहित्य :

जैन आम्नाय मे स्तोत्र साहित्य का बहुत महत्त्व है। अपने आराध्य देवो की स्तुति इनके माध्यम से ही श्रद्धालु जन करते है। जैन साहित्य प्राकृत और सस्कृत मे है। जिसे टीकाकारो ने हिन्दी रूपान्तरित कर सभी को सहज बोधगम्य बना दिया है। स्तोत्रो को भी प्राय पाठक श्रद्धालु मूल भाषा संस्कृत मे ही पढते है, स्वाध्याय करते है, प्राय. कंठस्थ याद करते है। बहुत से ऐसे श्रावक होते है जिन्हे संस्कृत स्तोत्र तो याद है परन्तु उसका क्या अर्थ है भाव है यह नही जानते। इसकी कमी को पूर्ण किया है विद्वानो ने। उसमे साहित्याचार्य जी का योगदान सातिशय महत्त्वपूर्ण है, जिन्होंने स्तोत्र साहित्य का सरल हिन्दी मे अनुवाद सुलभ कर स्तोत्र साहित्य की क्लिष्टता का निवारण किया है और उसके महत्त्व को उद्‌घाटित किया है। साहित्याचार्य जी द्वारा अनूदित स्तोत्र साहित्य इस प्रकार है :—

स्तुति विद्या :

स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित स्तुति विद्या मे २४ तीर्थंकरो की स्तुति की गई है। इसको जिनशतक के नाम से भी पुकारा जाता है। समन्तभद्र स्वामी की इस गूढ रचना पर पडित जी ने हिन्दी अनुवाद कर सरलतम बनाया है। प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर से हुआ है तथा प्रारम्भ मे स्वर्गीय पडित जुगल किशोर जी मुख्त्यार साहब की खोजपूर्ण प्रस्तावना मणि–काचन सयोग की भाँति जटित है।

स्वयंभू स्तोत्र :

चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति की यह अनुपम रचना स्वामी समन्तभद्र जी ने की है। प्रभाचन्द्र जी ने इस पर संस्कृत टीका तथा पडित जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। निमित और उपादान का भी इसमे सुन्दर वर्णन। है प्रकाशन शान्तिवीरनगर श्री महावीरजी से हुआ है।

अध्यात्मामृत-तरंगिणी :

सोमदेव सूरि की यह अत्यन्त गम्भीर रचना है। पडित जी ने इसका अनुवाद कर गम्भीर रचना को भी सरलतम बनाने का प्रयास किया। प्रकाशन वीर सेवा मन्दिर से हुआ है।

स्तोत्र संग्रह :

भक्तामर स्तोत्र, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, एकीभाव स्तोत्र, विषापहार स्तोत्र एव चतुर्विंशतिका ये पाँच स्तोत्र जैन आम्नाय मे विभिन्न तीर्थंकरो के गुण स्तवन से सम्बन्धित हैं जिनका अपना महत्त्व है। पडित जी ने पाँचो स्तोत्रो का हिन्दी अनुवाद कर पचस्तोत्र सग्रह के नाम से तैयार किया है। इसके माध्यम से संस्कृत को न जानने वाले तथा अल्पज्ञान वालों के लिये स्तोत्रो का अर्थ एवं महत्त्व समझने मे आसानी हो गई है। अनुवाद सरल और रोचक है।

काव्य साहित्य :

जैन वाङ्मय मे काव्य साहित्य की भी बहुलता है और ये काव्य ग्रन्थ सस्कृत साहित्य मे महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, श्रीहर्ष आदि द्वारा रचित काव्य ग्रन्थो के समकक्ष हैं। पडित जी ने काव्य साहित्य का हिन्दी अनुवाद कर उसको सुगम बनाया है। पडित जी द्वारा अनूदित काव्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं .—

शांतिनाथ पुराण :

महाकवि असग द्वारा रचित यह काव्य पुराण है। इसके १६ सर्ग मे भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र भवान्तरो की कथा के साथ अकित है। इसके साथ ही धार्मिक उपदेशो से युक्त इस काव्य का हिन्दी अनुवाद पडित जी ने रोचक शैली मे किया है।

जीवन्धर चम्पू :

सस्कृत साहित्य मे गद्य-पद्य मिश्रित रचना को 'चम्पू' कहा है। जीवन्धर चम्पू सस्कृत साहित्य का विशिष्ट चम्पू ग्रथ है। इसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र है। इसमे तीर्थंकर महावीर स्वामी के समकालीन जीवन्धर स्वामी का चरित्र अकित है। ग्यारह लम्बो का यह ग्रन्थ है। पडित जी ने सस्कृत और हिन्दी मे टीकाकर इसका रसास्वादन सभी को कराया है। पडित जी की प्रस्तावना से ग्रन्थ एव ग्रन्थकार का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये की अंग्रेजी प्रस्तावना से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ गई है। मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् ने इस ग्रन्थ पर पडित जी को "मित्र पुरस्कार" से सम्मानित किया है।

धर्मशर्माभ्युदय :

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य, काव्य साहित्य मे अनोखी रचना है। इसमे भगवान् धर्मनाथ का चरित्र उपमाओ कल्पनाओ के द्वारा चित्रित है। पडित जी की अभिराम टीका के साथ हिन्दी अनुवाद बहुत रोचक है, जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति काव्य के महत्त्व को समझ लेता है। प्रस्तावना इस ग्रन्थ की जान है।

पुरुदेवचम्पू :

यह कवि अर्हद्दास की चम्पू रचना है, इसमे भगवान् ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का चरित्र अकित है। अलकारो की बहुलता ने गद्यकाव्य को गूढ बना दिया है जिसे पडितजी ने अपनी सस्कृत और हिन्दी टीका के माध्यम से सरल कर दिया है। १० स्तवको मे यह ग्रथ पठनीय है। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इन्दौर ने इस रचना पर पडितजी को पुरस्कृत किया है।

वर्द्धमान चरित्र :

महाकवि असग द्वारा शक सम्वत् ९१० मे यह महाकाव्य रचा गया है। इसमे महावीर के चरित्र को विभिन्न प्रकार के छन्दो मे चित्रित किया गया है। पडितजी का हिन्दी अनुवाद उपयोगी और सरल है।

विक्रान्त कौरव

जैन साहित्य मे यह उत्तम नाटक के रूप मे प्रसिद्ध है, इसकी रचना कवि हस्तिमल्ल ने की है । भगवान आदिनाथ के समकालीन हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार और वाराणसी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का वर्णन इस नाटक मे है । गद्य पद्य दोनों ही मनोरम है । पंडित जी ने हिन्दी टीका कर इस नाटक को सर्वोपयोगी बनाया है ।

सम्यक्त्व-कौमुदी :

सरल सस्कृत गद्य एवं लगभग ५०० सुभाषितो का सुन्दर सकलन है । इसका हिन्दी अनुवाद पडितजी ने किया है । यह ग्रथ पूज्य १०८ अजितसागर जी महाराज द्वारा अनेक प्राचीन कृतियोके आधार पर संपादित है।

गद्य-चिन्तामणि

वादीभसिंह सूरि की यह गद्य रचना सस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध है । यह रचना बाणभट्ट की कादम्बरी के समकक्ष है । ११ लम्बो मे जीवन्धर स्वामी का चरित्र निर्दशित है । इसमे अलंकारो की छटा सर्वत्र द्रष्टव्य है । पडित जी द्वारा लिखित संस्कृत और हिन्दी टीका से ग्रन्थ सरल और उपयोगी हो गया है । प्रस्तावना के माध्यम से ग्रन्थकार और ग्रन्थ के सम्बन्ध मे पडित जी ने विस्तृत प्रकाश डाला है । भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के तत्वावधान मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा इस ग्रथ पर पडित जी को पुरस्कृत किया गया है ।

मौलिक सृजन

साहित्याचार्य जी की ख्याति ग्रन्थो के सम्पादन मे ही नही, उनके स्वयं मौलिक चिन्तन के रूप में भी है । उनकी मौलिक रचनाओ के माध्यम से उनके अपूर्व ज्ञान का परिज्ञान होता है । पडित जी नि सदेह एक मौलिक चिन्तक और सर्जक के रूप मे हमारे सामने है ।

महाकवि हरिचंद्र : एक अनुशीलन :

यह 'शोध प्रवन्ध' पंडित जी की अनुपम मौलिक कृति है । इस शोध प्रबन्ध को पडित जी ने महाकवि हरिचंद्र द्वारा रचित धर्मशर्माभ्युदय एव जीवन्धर चम्पू के आधार पर लिखा है । इस शोध प्रबन्ध पर पडित जी को सागर विश्वविद्यालय ने पी–एच. डी. की उपाधि से विभूषित किया है । मेरी जानकारी मे और सम्भवत. प्रथम उदाहरण है कि विना एम. ए. उत्तीर्ण किये किसी शोधार्थी के लिये शोध की सुविधा मिली हो और उस पर पी–-एच. डी. भी मिली हो । प. जी इसके अपवाद है जिन्हें बिना एम. ए. किये साहित्याचार्य परीक्षा के आधार पर पी-एच.–डी. के लिये महाकवि हरिचद्र पर शोध प्रबन्ध लिखने का अवसर मिला और पी–एच. डी. की उपाधि प्राप्त की । वैसे वस्तुत पंडित जी की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाओं से परिपूर्ण उनके द्वारा अनूदित सपादित प्रत्येक ग्रथ पृथक-पृथक शोध प्रबन्ध है । विश्वविद्यालय ने उन्हें पी–एच.डी की उपाधि प्रदान कर अपने को ही गौरवान्वित किया, और वस्तुत. ज्ञान का सम्मान किया है । यह शोध महत्त्वपूर्ण कृति के रूप मे है । इसकी विशेषता यह है कि सस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध कवियो —कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष की प्रसग के अनुसार तुलना की गई है । शोधसाहित्य मे अनुपम ग्रथ होने के कारण इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ ने किया है ।

सम्यक्त्व चिंतामणि .

साहित्याचार्य जी की अपनी मौलिक कृति है, जिसका प्रकाशन वीर सेवा मदिर से हुआ है। यह कृति श्री दिगम्बर जैन अति. क्षेत्र महावीर जी द्वारा सचालित जैन विद्या सस्थान द्वारा महावीर पुरस्कार १९८३ के लिये चुनी गई है। जिसमे पाच हजार का नगद पुरस्कार और सम्मान पंडित जी को प्राप्त हुआ है।

पूजन-प्रतिष्ठा-साहित्य

साहित्याचार्य जी कुशल शिक्षक, कवि, लेखक, सपादक, समीक्षक के साथ ही क्रियाकाण्ड के भी मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उन्होने अनेको पचकल्याणक प्रतिष्ठाओ, सिद्धचक्र विधानो को शुद्ध दिगम्बर—तेरह पथी आम्नाय के अनुसार सपादित कराया है।

व्रतोद्यापन एव वेदीप्रतिष्ठा आदि की सविधि रचनाओ को सकलित कर उसे प्रकाशित कराया है। उन्होंने त्रैलोक्य तिलक व्रतोद्यापन, अशोकरोहणी व्रतोद्यापन, रविव्रतोद्यापन, मदिर वेदीप्रतिष्ठा एव कलशारोहण विधि आदि पुस्तको का प्रकाशन कराकर जैन व्रतोद्यापन विधि को आम्नाय के अनुसार सम्पन्न कराने मे बहुत बडा योगदान दिया है। सामायिक पाठ के माध्यम से आत्मालोचन कराया है। ऋषभ जिनेन्द्र पूजा का सकलन, चौबीसी पुराण का हिन्दी अनुवाद आपकी अनुपम कृतिया है।

■ सम्पादन के क्षेत्र मे पडित जी के व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास है, उनके द्वारा संपादित वर्णी साहित्य मे पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी की आत्मकथा जिसे स्वय वर्णी जी ने समय समय पर अपनी डायरियो मे लिखी थी उसका सम्पादन पडित जी ने बड़ी कुशलता से मेरी जीवन गाथा (दो भागो मे प्रकाशित) के रूप मे किया है। सम्पादन मे कही भी घटनाओ का क्रमभग नही है और जो पाठक की जिज्ञासा को प्रोत्साहित करती चलती है। गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, गणेशप्रसाद वर्णी स्मृतिग्रन्थ, महावीर कीर्ति स्मृतिग्रथ आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ हैं जिनका सम्पादन पडित जी ने किया है और इसके माध्यम से उपयोगी सामग्री का सकलन कर उन ग्रन्थो को उपयोगी बनाया है। जिसके माध्यम से ग्रन्थ संग्रहणीय, पठनीय, और शोधार्थियो के लिये उपयोगी हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर सपादित स्मारिकाओ के माध्यम से आपने उपयोगी सामग्री देकर साहित्य के भडार की विपुल श्रीवृद्धि की है। स्फुटकाव्य रचनायें पर्याप्त मात्रा मे यत्र-तत्र मिलती हैं। समय-समय पर जैन पत्रो के माध्यम से आपने विद्वत्तापूर्ण जिनधर्म के पोषक लेख लिखे हैं। वे स्वय महत्त्वपूर्ण है। पंडित जी का कोई भी लेख, कोई भी भाषण, कोई भी प्रवचन ले लें सभी महत्त्वपूर्ण होते हैं और उनका जितना भी लेखन है, चिन्तन है, मनन है, सम्पादन है सभी जिनवाणी की समृद्धि एवं सरक्षण के लिये है। निश्चित रूप से साहित्याचार्य जी जैसे विद्वान् से जिनवाणी समृद्ध हुई है। जैन आम्नाय की रक्षा हो रही है और आगे की पीढी के लिये मार्गप्रशस्त हो रहा है। ऐसे विद्वान् से न केवल जैन समाज प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय समाज उनके द्वारा विहित विपुल साहित्य साधना के ऋण से अभिभूत है।

सम्मानों की शृंखला में साहित्याचार्य जी एवं उनका साहित्य :

'ज्ञान की सर्वत्र पूजा होती है'--इसके आधार पर साहित्याचार्य जी के प्रकाण्ड व्यक्तित्व का, अगाध ज्ञान का और विशाल साहित्य सृजन का सर्वत्र अभिनदन हुआ है। पडित जी द्वारा सम्पादित अनूदित ग्रन्थो को पडित जी की ज्ञान की विशेषता के कारण पुरस्कृत किया गया है। सन् १९६० मे जीवन्धर चम्पू पर म. प्र. शासन साहित्य

परिषद् की ओर से मित्र पुरस्कार,१९७२ मे,गद्य चिन्तामणि पर भारतवर्षीय दिगंबर जैन विद्वत् परिषद के तत्वावधान मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा गणेशप्रसाद वर्णी पुरस्कार एव प्रशस्ति, १९७४ मे श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इन्दौर ने पुरुदेव चम्पू ग्रन्थ पर आपको सम्मानित एवं पुरस्कृत किया। श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा संचालित जैन विद्यासंस्थान ने१९८३ के महावीर पुरस्कार के लिये सम्यक्त्व चिन्तामणि को चुना है। इस प्रकार पंडित जी द्वारा सम्पादित साहित्य का समादर हुआ है।पंडित जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एवं आदर्श शिक्षक के रूप मे १९६९ मे उन्हे सम्मानित किया है, १९७३ मे विद्वत् परिषद ने अपने रजत जयन्ती महोत्सव पर शिवपुरी मे पडित जी की सेवाओ के फलस्वरूप सम्मानित कर रजत पट्ट पर प्रशस्ति प्रदान की है। इसके अतिरिक्त प्रदेश स्तर पर सार्वजनिक संस्थाओ-सगठनों तथा सामाजिक अखिल भारतीय स्तर तक की सस्थाओ ने पडित जी की सेवाओं का मूल्याकन कर उन्हे सम्मानित किया है।

श्रद्धास्पद प पन्नालाल जी का सतत् साधनारत सर्जक व्यक्तित्व सदा जयवन्त हो और चिरायुष्क प्राप्त कर भगवती सरस्वती के भाण्डार की अश्रुतपूर्व समृद्धि करते रहें, इस मगलकामना के साथ विराम लेता हूँ।

जैन धर्मशाला के पास,
छतरपुर, (म. प्र.)

आर्जव-धर्मो जयति

आर्या

भवपाथोधिभ्रमरीं माया मोक्तुं समस्ति यदि ते धी.।
आर्जव धर्मं सुपोतं तर्ह्यविलम्वं समालम्वय ॥६२॥

माया शङ्कु सुपूरित चेतसि पुसः सरस्वती जैनी।
पादक्षतेर्भियेवादधाति पादं न कुत्रचिल्लोके ॥६३॥

पन्नगवेष्टितवित्तं यथा न लाभाय कल्पते पुंसाम्।
मायाचारयुतस्य तथा न विद्या धनं चापि ॥६४॥

हे भव्य! यदि तेरी बुद्धि ससार रूपी समुद्र की भँवर स्वरूप माया को छोड़ने के लिये उत्सुक है, तो शीघ्र ही आर्जव धर्म रूपी जहाज का आलम्बन कर।

पुरुष के मायारूपी कीलो से भरे हुए चित्त मे जिनवाणी, लोक मे कही भी पादक्षति के भय से ही मानो पैर नही रखती।

जिस प्रकार सर्प से वेष्टित धन, पुरुषो के काम के लिये नही होता। उसी प्रकार मायावी मनुष्य की विद्या और धन भी पुरुषो के लाभ के लिये नही होता।

सम्यक्त्व चितामणि, मयूख-८

डॉ. पं. पन्नालाल जी का मौलिक लेखन

[संस्कृत गद्य-पद्यात्मक]

पं. अमृतलाल जैन,
दर्शनाचार्य, साहित्यचार्य,
जैन विश्व भारती
लाडनूं

श्रीनाभिसूनुं प्रथमं जिनेन्द्रं नमामि सेन्द्रार्चितपादपीठम् ।
यत्पाद-सेवारत चित्तवृत्तिर्नरोऽस्तबाधं समुपैति मोक्षम् ।।

वर्तमान बीसवी शताब्दी मे जैन समाज के शिक्षा-क्षेत्र मे आशातीत विकास हुआ है । उन्नीसवी शती के अन्त मे विद्वानो का अभाव-सा हो गया था । उस समय 'तत्त्वार्थसूत्रम्' और 'भक्तामर-स्तोत्रम्' के मूल-पाठ करने वाले भी विद्वान् समझे जाते थे । पर बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जैन समाज के सौभाग्य से गुरुणा गुरु स्वनामधन्य श्रद्धेय प गोपालदास जी वरैया और न्यायाचार्य पू. प. गणेश प्रसाद जी वर्णी हुए । इन दोनो विद्वानो के भगीरथ प्रयत्न से सहस्राधिक जैन विद्वान् तैयार हुए । इनमे से कुछ अप्रतिम प्रतिभा के धनी उद्भट यशस्वी विद्वान् भी हुए । डॉ प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य इन्ही मे से हैं ।

आप पहले अपने नाम के आगे 'वसन्त' लिखा करते थे, जो सर्वथा सार्थक था । 'वसन्त' ऋतु मे सभी प्रकार के फूल खिलते हैं—'वसन्तः कुसुमाकरः' । आप मे भी सभी प्रकार के ज्ञान-पुष्प विकसित हैं । सिद्धान्त, दर्शन, व्याकरण और साहित्य के आप अधिकारी विद्वान् हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए आपके द्वारा आधुनिकतम पद्धति से सम्पादित और अनूदित ग्रन्थराशि पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त आपकी संस्कृत भाषा निबद्ध अनेक अनवद्य गद्य-पद्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं, जो प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ मे द्रष्टव्य हैं । यहा इन्ही मौलिक सस्कृत रचनाओ की विशेषताओ पर सक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है :—

(१) महाकवि हरिचन्द्रस्य धर्मशर्माभ्युदयम्

इस शीर्षक के नीचे लिखे सुन्दर लेख मे विद्वान् लेखक 'वसन्त' जी ने महाकवि हरिचन्द्र का इतिहास और उनके प्रशस्त महाकाव्य 'धर्मशर्माभ्युदयम्' का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जो लेखक के जैन व जैनेतर महाकाव्यो के गहन परिशीलन को अभिव्यक्त करता है ।

लेखक ने प्रारम्भ मे हरिचन्द्र का समय विक्रम की ११-१२ वी शताब्दी सिद्ध किया है । इसके पश्चात् कवि की कृतियो पर प्रकाश डालकर 'धर्मशर्माभ्युदयम्' मे काव्य-लक्षण का सङ्गमन किया है । तत्पश्चात् उदाहरण दे-देकर प्रस्तुत महाकाव्य मे श्लेष, उत्प्रेक्षा, रूपकोपमा समिश्रण, श्लेषोपमा (पूर्णोपमा), अर्थान्तरन्यास, परिसख्या और विरोधाभास आदि अलङ्कारो की छटा दिखलाई है । इसके उपरान्त जैनेतर महाकाव्यो से तुलना करते हुए प्रस्तुत महाकाव्य के विशिष्ट स्थलो पर विशद प्रकाश डाला गया है ।

लेख की संस्कृत अत्यन्त परिष्कृत है और विवेच्य विषय पाण्डित्यपूर्ण ।

(२) जैन संस्कृत साहित्ये राजनीति

शीर्षक से ही प्रस्तुत लेख के प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त हो जाता है।

इस लेख मे प्रतिभाशाली लेखक ने सोमदेवसूरि कृत 'नीतिवाक्यामृतम्', भगवज्जिनसेनकृत 'आदिपुराणम्' तथा अनेक जैन साहित्यिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर राजनीति का अच्छा परिचय दिया है। इस लेख की भी संस्कृत परिष्कृत है, पर प्रसादगुण होने से साधारण संस्कृत जानने वाले भी इसे समझ सकते हैं।

प्रस्तुत लेख मे यह भी बतलाया है कि राजाओं की आय का द्वार मुनियो के कमण्डलु के मुह की भाति वडा और व्यय का द्वार उसकी टोंटी की तरह छोटा होना चाहिए 'राज्ञामाय-व्यय-व्यवस्थाया निदर्शन कमण्डलुरस्ति'। आय को न देखकर व्यय करने वाला पुरुष कुबेर होता हुआ भी श्रमण का आचरण करने लगता है-धनिक होता हुआ भी मुनि-सा बन जाता है अर्थात् अकिञ्चन-निर्धन हो जाता है। 'आयमनालोक्य व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते'। इसी तरह राजनीति के प्रसङ्ग से कही गयी अन्य बातें भी अन्य लोगो को शिक्षाप्रद है।

पिछले लेख की भाति यह लेख भी लेखक के गहन अध्ययन को व्यक्त करता है और बहुज्ञता को भी।

(३) पार्श्वनाथ-स्तोत्रम् की संस्कृत टीका

यह स्तोत्र अभी तक कही से किसी स्तोत्र संग्रह मे प्रकाशित नही हुआ। इसकी खोज स्वय डॉ वसन्त जी ने की है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इसने सात श्लोक है। सभी मे यमक अलङ्कार का चमत्कार होने से अत्यन्त दुरूह है। इसका प्रथम श्लोक—

वरसंवरसंवरसवरसं भवदं भवदम्भवदं भवदम्।
समभा समभा समभा सभमा गमभं गमभं गमभंगमयम्॥

अन्य छह श्लोको की रचना भी इसी प्रकार की है। सभी मे यमकालङ्कार है। जहा वर्ण, पद, पाद या पूरे श्लोक की आवृत्ति (दुहराया जाना) हो, पर अर्थ भिन्न-भिन्न हो—वहाँ यमकालङ्कार होता है। प्रस्तुत स्तोत्र के सभी श्लोकों मे पद यमक है; क्योकि इनमे भिन्नार्थक पदों की आवृत्ति है।

ऐसे श्लोकों की रचना करना कठिन होता है। रचना करते समय स्वयं कवि उसकी टीका करदे या टिप्पण लिख दे तो वह उसे समझ सकता है और दूसरो को समझाया भी जा सकता है। अन्यथा वह स्वयं अपनी ही ऐसी रचना को नही समझ पाता। इन पक्तियो का लेखक एक ऐसे महाकवि से परिचित है जिसने अपने महाकाव्य की पाडुलिपि से ऐसे यमकालङ्कृत सैकड़ों श्लोको को निकाल दिया, जिनका अर्थ उनकी समझ मे नही आ सका।

प्रस्तुत स्तोत्र मे आदि से अन्त तक यमक-ही-यमक है। इस पर कोई टीका या टिप्पण भी नही है फिर भी सस्कृत टीकाकार डा. प. पन्नालाल जी ने इसकी विशद व्याख्या कर दी है। अर्थ की सङ्गति बैठाने के लिए यत्र-तत्र व्याकरण और कोष-ग्रन्थो के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

ऐसी क्लिष्ट रचनाओ मे जितना चमत्कार शब्दो का होता है, उतना अर्थ का नही। जान पड़ता है इसी

कारण से वसन्त जी ने इसका हिन्दी अनुवाद नही किया। वसन्त जी की प्रतिभा का ही यह चमत्कार है, जो उन्होंने टीका या टिप्पण के अभाव मे भी स्तोत्र के सभी पदो का स्पष्ट अर्थ सस्कृत माध्यम से कर दिया है, जो विद्वत्सवेद्य है।

(४) मरुदेवी-स्वप्नावली

'मरुदेवी-स्वप्नावली' श्री देवनन्दिमुनि की सरस अमरकृति है। यह इक्कीस श्लोको मे समाप्त हुई है। इसमे मधुमाधवी (वसन्ततिलका) छन्द प्रयुक्त है। प्रथम पद्य को छोडकर अन्य सभी अनवद्य पद्यो मे यमकालङ्कार की विच्छिति है। यमक के साथ प्रसाद गुण है—यह इस रचना की विशेषता है। इसमे आदि से अन्त तक वैदर्भी रीति विद्यमान है।

पहले श्लोक मे उन सोलह स्वप्नों के नाम दिये गये है, जिन्हे भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने रात्रि की समाप्ति के समय देखा था। दूसरे श्लोक मे वे अपने पति श्री नाभिराय से उन स्वप्नो के फल पूछती हैं—यह वर्णन है। इसके उपरान्त नाभिराय स्वप्नो का फल वतलाते है। जिसे सुन कर वे प्रसन्न होती हैं। यह प्रसङ्ग तीसरे पद्य से प्रारम्भ होकर बीसवें पद्य मे समाप्त हुआ है। अन्तिम श्लोक मे रचयिता की मङ्गल कामना है।

इस रचना का मूलानुगामी सुन्दर हिन्दी रूपान्तर प. पन्नालाल जी ने किया है और सस्कृत टिप्पण भी दिये हैं, जिनसे यमक के कारण क्लिष्ट समस्त पदो का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी रूपान्तर मे रूपान्तरकार ने मूल के एक शब्द को भी नही छोडा और न कही अपनी ओर से जोडा ही है।

(५) सामायिक पाठ

सामायिक पाठ मे (१) प्रतिक्रमण कर्म, (२) प्रत्याख्यान कर्म, (३) सामायिक कर्म, (४) स्तुतिकर्म, (५) वन्दना कर्म और (६) कायोत्सर्ग कर्म से सम्बद्ध श्लोको की सख्या ७३ है।

प्रस्तुत रचना लम्बी है, पर है भावपूर्ण। इसका पाठ हृदय को इतना अधिक प्रभावित करता है कि प्रत्येक श्लोक को पुन पुन पढे विना तृप्ति नही होती। प्रसाद गुण के कारण पढते ही इसका अर्थ हृदयङ्गत हो जाता है। आदि से अन्त तक प्रस्तुत रचना मे वैदर्भी रीति है। सर्वत्र अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है। अर्थालङ्कारो की विच्छिति भी मनोहारिणी है। २९ वें श्लोक मे रूपक, ३६ वें मे अतिशयोक्त अलङ्कार है तथा ४३ वें मे उपमा और अतिशयोक्ति इसी तरह प्राय सभी श्लोको मे कोई-न-कोई अलङ्कार है। इसका उल्लेख किया जाये तो एक स्वतत्र लेख वन सकता है। साराश यह कि डॉ. पं. पन्नालाल जी की यह अनूठी कृति भाषा, भाव और साहित्यिक सुषमा की दृष्टि से स्तुत्य है।

(६) मुक्ताहार :

'मुक्ताहार.' शीर्षक रचना २८ श्लोको मे समाप्त हुई है। इसमे ऋषभदेव आदि चौबीसो तीर्थङ्करो का हृदयाकर्षक स्तवन है। इसमे वसततिलका, उपजाति, इद्रवज्रा, भुजङ्गप्रयात, द्रुतविलम्बित, गीति, मालिनी, तोटक,

दोधक, उपेन्द्रवज्रा स्वागता, शालिनी, हरिणी और आर्या—इन चौदह छंदो का प्रयोग किया गया है। इनमे गीति और आर्या मात्रा छद है तथा शेष वर्ण छद।

रचना भावपूर्ण है और शब्दालङ्कारो एव अर्थालङ्कारो से अलङ्कृत है।

(७) महावीर-स्तोत्रम् तथा (८) महावीर-स्तवनम्

'महावीर-स्तोत्रम्' मे दश श्लोक है, जो भुजङ्गप्रयात छन्द मे रचे गये है और 'महावीर-स्तवनम्' मे पाच श्लोक है, जो मालिनी छन्द मे है। 'महावीर-स्तोत्रम्' मे छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास एव उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार है,और 'महावीर-स्तवनम्' के पाचो पद्यो मे अन्त्यानुप्रास की छटा द्रष्टव्य है। दोनो ही रचनाएँ भावगर्भ है।

(९-१०) बाहुबल्यष्टकम्

'बाहुबल्यष्टकम्' आठ श्लोको मे समाप्त हुआ है। इनमे भुजङ्गप्रयात छन्द है तथा अतिम मङ्गलकामनात्मक पद्य मे अनुष्टुप्।

इस रचना मे भगवान् बाहुबली के घोर तपश्चरण का सुन्दर चित्रण किया गया है। इसका भावात्मक हिन्दी पद्यानुवाद भी स्वय लेखक ने किया है, जो सस्कृत न जानने वाले पाठकों के लिए उपयोगी है।

(११-१७) आचार्य-वन्दना

आचार्यभक्त विद्वान् कविवर पं पन्नालाल जी ने स्व. चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के विषय में चार कविताएँ लिखी हैं,जिनके शीर्षक हैं—(१) 'आचार्य शातिसागर वदना' (२) 'आचार्य शातिसागर स्तुति' (३) 'आचार्य शातिसागरस्तुति' और (४) 'लोके सदा जयति कोऽपि स शातिसिन्धु'। आचार्य धर्मसागर जी को लक्ष्य करके लिखी गयी कविता का शीर्षक है—'त धर्मसिधु प्रणमामि नित्यम्' और आचार्यविद्यासागरजी के निमित्त से रचित कविता का शीर्षक—'विद्यासागराष्टकम्' है। इसी प्रकार आचार्यरत्न देशभूषणजी महाराज के प्रति रचित कविता 'तं देशभूषणमहर्षिमह समीडे' सातिशय निदर्शनीय है।

प्रस्तुत विद्वत्तापूर्ण सातो कविताओ मे, जो विविध छन्दो मे प्रणीत है,उक्त आचार्यो के गुणो पर भक्तिस्फीत विद्यासागरजो विशद प्रकाश डाला गया है। सभी कविताओ मे साहित्यिक सुषमा है।

(१८) शुभाशंसनम्

प्रतिभाशाली कवि ने 'शुभाशसनम्' शीर्षक कविता में अपने गुरु श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के दीर्घायुष्य की कामना व्यक्त की है। इसमे शार्दूलविक्रीडित और उपजाति छन्द प्रयुक्त हैं। श्लोको की सख्या केवल चार है, पर साहित्यिक वैभव अत्यधिक है।

(१९) विनयाञ्जलय:

कवि ने 'विनयाञ्जलय'—शीर्षक कविता, जिसमे अनवद्य पद्यो की सख्या उन्नीस है, न्यायाचार्य गणेशप्रसाद जी वर्णी के ८२ वे जन्मोत्सव के शुभ अवसर पर, उनके कर कमलो मे सभक्ति समर्पित की थी।

इस कविता मे वसन्ततिलका, गीतिका, मयूरगति, तन्वी, मालती, मञ्जुभाषिणी, इंद्रवज्रा, स्वागता,आर्या, अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, सोरठा और दोहक—ये तेरह छन्द प्रयुक्त हैं। इनमे गीतिका, सोरठा और दोहक—ये तीन हिन्दी छन्द है।

प्रस्तुत रचना साहित्यिक सुषमा की दृष्टि से चमत्कारजनक है । इसमें एक भी पद्य ऐसा नही है, जिसमें अलङ्कार न हो । अनुप्रास की छटा सभी मे है, विशेषत: प्रथम और द्वितीय पद्य मे । तीसरे से छठ पद्य तक रूपक, सातवें पद्य मे अतिशयोक्ति, भ्रान्ति, विभावना और विशेषोक्ति, दसवें पद्य मे रूपक, ग्यारहवें और बारहवें मे श्लिष्टोपमा, तेरहवें तथा चौदहवें मे श्लिष्ट रूपक, पंद्रहवें मे श्लिष्टोपमा, सोलहवें एव सत्रहवें मे वर्षा ऋतु का वर्णन और इसी के अत मे अन्योक्ति एव अतिम दो पद्यो मे रूपक अलङ्कार है । अत यह रचना अत्यन्त प्रशसनीय है ।

(२०) वृत्तहार:

'वृत्तहार.' शीर्षक रचना ३२ श्लोको मे समाप्त हुई है । ये श्लोक जिन छन्दो मे रचे गये हैं, उनके नाम उन्ही (श्लोको) मे दिये गये हैं । सभी छन्दो के नाम प्रतिपाद्य विषय से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि पृथक् सत्ता नही रहती—यही यहाँ एक चमत्कार है ।

वृत्त का अर्थ छन्द है । इन्ही से विरचित प्रस्तुत हार स्वनामधन्य स्व. पडित गोपालदास जी को समर्पित किया गया है ।

श्लोको मे जिन छन्दो के नाम जुडे हुए वे हैं, इस प्रकार हैं—

आर्या, गीति, उपगीति, आर्यागीति, अक्षरपक्ति, शशिवदना, मदलेखा, माणवकक्रीडित, विद्युन्माला, श्लोक (अनुष्टुप). चम्पकमाला, इद्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, स्वागता, रथोद्धता, शालिनी, दोधक, भुजङ्गप्रयात, तोटक, द्रुतविलम्बित, इद्रवशा, वशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, हरिणी शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा ।

इतने अधिक (तीस) छन्दो का प्रयोग तो अनेक महाकाव्यो मे भी दृष्टिगोचर नही होता, पर डॉ. प. पन्नालाल जी ने केवल बत्तीस पद्यो की कविता मे ही कर दिखलाया है । इससे स्पष्ट है कि डॉ. सा.अन्य शास्त्रो की भाति छन्द.शास्त्र के भी विशिष्ट विद्वान् हैं ।

(२१) गांधी–गणेशौ

'गाधी-गणेशौ' शीर्षक कविता मे आठ श्लोक हैं, चौथा श्लोक इंद्रवज्रा छन्द मे रचा गया है, तथा अन्य सभी उपजाति छन्द मे रचे गये है ।

इस कविता मे अर्थश्लेष का चमत्कार है । कवि ने अपनी इस कविता मे ऐसा अर्थ रखा है, जो गाधी जी और गणेश-(प्रसाद जी वर्णी) के पक्ष मे घटित हो जाता है ।

इस तरह विद्वान् कविवर की सस्कृत गद्य और पद्य दोनो की रचनाएँ चमत्कारजनक हैं । प्रस्तुत इक्कीस रचनाओ को जो भी सहृदय सस्कृतज्ञ ध्यान से पढ़ेगा उसे आश्चर्य का अनुभव अवश्य होगा । सोमदेवसूरि के शब्दो मे विरले पुण्यात्मा विद्वान् को ही कवित्वशक्ति प्राप्त होती है । डॉ. सा साठ वर्षों से कविता करते आ रहे हैं । मेरी दृष्टि से— **'वसन्त' जी अभिनव आशाधर है ।**

अन्त मे भगवान् से प्रार्थना है कि आप स्वस्थ्य रहते सहस्रायु हो,जिससे अन्य अधूरी रचनाएँ भी पूरी हों ।

जैन विश्व भारती,
लाडनूँ (राजस्थान)

▣

मौलिक संस्कृत साहित्य के सृष्टा : डॉ. पन्नालाल जी

डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

विद्वज्जगत् मे प. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य के नाम से जाने-पहचाने जाने वाले पं. जी अब डॉ पन्नालाल जैन नाम से अभिहित होने लगे हैं। अनवरत अध्ययन एवं लेखन से विद्वत्ता के विशाल क्षेत्र को उन्होंने अपने मे समाहित कर लिया है। जहाँ, धर्म, सिद्धान्त, साहित्य और व्याकरण के गहन अध्ययन ने उन्हें पण्डित शब्द से अलकृत किया है, वही महाकवि हरिचन्द्र पर लिखित शोध प्रबन्ध ने उन्हे डॉक्टरेट उपाधि के महत् परिधान से सुसज्जित किया है। अब वह पण्डितो की सीमित परिधि को लाघकर विशिष्ट विद्वानों की विस्तृत कर्मस्थली मे सम्मानित स्थान पा चुके हैं। पं जी सूझबूझ के धनी हैं, उनके द्वारा रचित साहित्य मे उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा के दर्शन होते है। पं. पन्नालाल जी 'वसन्त' हिन्दी कवि के रूप मे जाने जाते थे, किन्तु उनके साथ जुड़े 'वसन्त' उपनाम ने उन्हें विद्वज्जगत् का वसन्त बना दिया हैं। वे अब हिन्दी के ही कवि नही, सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश ग्रन्थो के अनुवादक, टीकाकार एवं संस्कृत के मौलिक रचनाकार के रूप मे हमारे सामने हैं। प्रस्तुत आलेख मे उनकी सस्कृत की मौलिक रचनाओ पर एक विहंगम दृष्टि डालना अभीष्ट है।

प जी की मौलिक रचनाएँ चार विधाओ मे विभक्त की जा सकती है :—

(१) विनयाञ्जलि, (२) देवस्तवन,
(३) विधि-विधान, (४) दार्शनिक ग्रन्थ।

प जी की लेखनी ने जिस विषय का स्पर्श किया वह सुविकसित-पुष्प की तरह सुवासित हो उठा।

(१) सर्वप्रथम उनकी गुरु विषयक विनयाञ्जलि का तनिक रसास्वादन कराता हूँ। जिसमे शब्दो का लालित्य, भाव-प्रवणता, एव आलंकारिकच्छटा पदे-पदे निदर्शनीय है। "वन्दो गुरु-पद-कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि" के रूप मे पं. जी ने पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी को अपना पथ-प्रदर्शक आदित्य एव विघ्नविनायक माना है। उन्हें विनयाञ्जलि अर्पित करते हुए वे कह उठते हैं .—

अमन्दानन्दकन्देन, तुन्दिलं नरनन्दनम्।
वन्दारुवृन्द–वन्द्याङ्घ्रिं वन्दे वर्णि–गणेश्वरम्॥

अनुष्टुप छन्द से अलकृत यह विनयाञ्जलि शब्द माधुर्य के साथ ही हार्दिक सरलता का परिचय देती है।

गुरुचरण, चिरकाल तक, अज्ञानान्धकार–पूरित पथ को अलौकिक ज्ञानालोक से आलोकित करते हुए जयवन्त रहे, ऐसी पुनीत भावना से वे कहते है —

पीयूष-निष्यन्दनिभा यदीया,वाणी बुधानां हृदयं धिनोति।
दीर्घायुषःसन्तुतरां महान्तस्ते वन्द्यपादाःवर-वर्णिनाथाः॥

पं. जी. ने विद्वद्रत्न पं. गोपालदास जी बरैया को वृत्तहार अर्पित करने के लिये उसे चतुर माली की तरह संस्कृत वृत्तों से सजाया है, जो उनकी काव्य कुशलता का परिचायक है। माली, जैसे पुष्पो की यथा-स्थान सजावट कर उसे सुन्दरतम बनाता है। पं. जी ने भी वृत्तहार को इसी रूप मे रचा है। भावाभिव्यञ्जना के साथ वृत्त, वर्णों मे संश्लिष्ट होकर श्लेष का रूप संजोकर उपस्थित हुये है

आर्या यं प्रणमन्ति क्षान्त्यनु-कम्पादि-सद्गुर्णैनिभृतम् ।
अक्षरपङ्क्तिर्यस्य गुणौघे।याति समाप्ति कोविदकामा ॥
शशिवदनागी प्रणमतिनित्यम् ।
यमिह गुरु त मनसि दधामि ॥

इस प्रकार पं. जी ने सभी छन्दो को रचना मे समाविष्ट कर 'रम्यै-रम्यै रमेशै रमित गुणयुतै' रूप अन्तिम छन्द से 'बरैयाकुल जलधि भवा चन्द्रमा. साधु जीयात्' की मंगल कामना की है। इस वृत्तहार मे ३२ पद्य-पुष्प गुम्फित हैं।

दूसरे प्रकार की रचनाएँ-निर्ग्रन्थ महाव्रती आचार्यों के स्तवन रूप मे रचित हैं। जीवन की सम्पूर्ण सफलता सम्यगाचरण मे ही सन्निहित है। ऐसा उनका भी सुदृढ विश्वास है। चरित्र के जीवन्त आदर्श आचार्यो के प्रति उन्होने अपने हार्दिक सुरभित पुष्प समर्पित किये हैं। आचार्य शान्तिसागर जी, आ. धर्मसागर जी, आ. देशभूषण जी, आ. शिवसागर जी, आ. विद्यासागर जी आदि पर कविता लिखकर 'सूरीणा शौर्य शालिनाम विदधे वरवन्दनाम्' आचार्यों की पद-वदना की है।

(२) द्वितीय कोटि की मौलिक रचनाएँ देवस्तवन, आत्म-चिन्तनपरक हैं। जिनमे पदे-पदे कवि का गम्भीर-अध्येता, सूक्ष्म विश्लेषक, एवं मौलिक सर्जक रूप उजागर हुआ है। उनमे से कुछ का परिचय देखिए —

(१) मुक्ताहार —यह चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति-परक रचना है। रचना २४ वृत्त छन्दो मे समाप्त हुई है एव विविध छन्दो की आकर्षक स्वर-लहरी से अनुप्राणित है। इस रचना मे प जी ने सस्कृत के सभी प्रसिद्ध छन्दो का प्रयोग किया है। आदिनाथ, एव संभवनाथ का स्तवन वसन्ततिलका छन्द मे किया है। अजित, अभिनन्दन, चन्द्रप्रभ, श्रेयान्स, अनन्त, नेमि जिन का स्तवन उपजाति छन्द मे किया है। पद्मप्रभ, पार्श्वनाथ, वर्धमान जिन को इन्द्रवज्रा छन्द के माध्यम से स्मरण किया गया है। सुपार्श्वनाथ का स्तवन भुजंगप्रयात, सुविधि, नमि जिन का द्रुतविलम्बित मे, वासुपूज्य का मालिनी, विमलनाथ, अरहनाथ का तोटक, शातिजिन का दोधक, कुन्थुनाथ का उपेन्द्रवज्रा, मल्लिजिन का स्वागता, मुनिसुव्रत का शालिनी छन्द मे प्रशस्त स्तवन कर 'मुक्ताहार. सोऽय विज्ञपुरुषाणा कण्ठे विराजताम् नित्यम्' के द्वारा सभी विज्ञ पुरुषो के कण्ठ मे यह मुक्ताहार मोतियो से गुम्फित हार की तरह सुशोभित हो, ऐसी मगल भावना के साथ इसकी समाप्ति की गयी है। प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति मे निबद्ध यह काव्य-गुच्छक प्रत्येक सहृदय पाठक श्रोता के चित्त को भाव-विभोर कर देता है।

(२) सामायिक पाठ —सद्गृहस्थ को कम से कम प्रात. सायं दो बार 'सामायिक' अवश्य करना चाहिये। सामायिक के काल मे व्यक्ति के द्वारा किये गये पाप क्रिया-कलापो की आलोचना 'निर्जरा' का कारण होती है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुये प. जी ने इसकी रचना की है। आत्मचिन्तनपरक, प्रेरक एव सुश्राव्य इस सामायिक पाठ की रचना ७३ श्लोको मे हुई है। रचनाकार ने भावात्मक पद्यो की सरचना अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, आर्या, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित छन्दो मे की है। रचना भावपूर्ण,

सरस एव गेय है। इसमे सामायिक के विभिन्न अंगों प्रत्याख्यान कर्म, सामायिक कर्म, स्तुति कर्म, कायोत्सर्ग कर्म का विशद वर्णन है।

अनन्तकाल से ससार परिभ्रमण के दु:खो को झेलते-झेलते परम सौभाग्योदय से ही यह सामायिक प्राप्त होती है। यह निम्नाकित पद्य से स्पष्ट है —

सौभाग्य–भागोदयतो मयैतत्।
सामायिकं सौख्यकरं सुलब्धम्॥

समस्त पापक्षय का कारण सामायिक से उपलब्ध साम्यभाव को, समस्त सफलता का कारण एव वैर-विरोध-विनाशक मूलमत्र मानते हुए, वे उसे त्रिलोक मे अनुपम प्रदर्शित करते हुये कहते है —

नास्ति नास्ति भुवनत्रये क्वचित्,
साम्यभाव–सदृशं सुखप्रदम्।
साम्यमेव विनिहन्ति वैरितां,
साम्यमेव विदधाति बन्धुताम्॥

सचमुच साम्यभाव समस्त विरोधों का शमन कर सुख-शाति प्रदान करने वाली अमोघ औषधि है, यही इस मौलिक रचना का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

(३) धर्म कुसुमोद्यान :- यह पुस्तक सम्यक्त्वचिन्तामणि के संवर प्रकरण मे आगत दशधर्मो का वर्णन करती है। इसमे उत्तम क्षमादि दशधर्मों पर ११० श्लोको मे अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्लोको का हिन्दी अनुवाद साथ मे दिया गया है।

पर्वराज पर्यूषण मे दशधर्मो के विवेचन हेतु इस रचना का बहुधा कई जगह उपयोग होता है। त्याग धर्म के वर्णन मे अन्योक्तियो का भी समावेश है। पुस्तक मे विविध छन्दो का प्रयोग किया गया है। इसका प्रकाशन जिनवाणी प्रेस कलकत्ता से हुआ है और अनेक संस्करण छप चुके हैं।

(३) विधि-विधान सम्बन्धी मौलिक कृतियाँ :—

रविव्रतोद्यापन .—रविव्रतोद्यापन की रचना 'रविव्रत' के प्रसंग मे हुई है। इसमे नौ वर्ष मे सम्पन्न होने वाले रविव्रत की विधि का दिग्दर्शन है। श्री पार्श्वनाथ भगवान् की भावपूर्ण पूजा भी दी गयी है। प्रारम्भ मे रविव्रत की महात्म्यदर्शक कथा हिन्दी मे दी गई है। रचना ललित एव भावपूर्ण है। इसका प्रकाशन शान्तिवीर नगर महावीर जी से हुआ है।

अशोक रोहिणी व्रतोद्यापन ·—'रोहणी व्रत' के उद्यापन के लिये इसकी रचना की गयी है। इसमे वासुपूज्य भगवान के गर्भादि पंच कल्याणको की पाँच पूजाए विविध छन्दो मे निवद्ध हैं। उद्यापन के प्रारभ मे हरिषेण कथा-कोष के आधार पर रोहिणी व्रत की कथा हिन्दी मे दी गई है। रचनासरस, मधुर एवं भाव पूर्ण है। इसका प्रकाशन सूरत से हुआ है।

त्रैलोक्य मण्डल व्रतोद्यापन .— जैन समाज मे प्रचलित 'रोट-तीज व्रत' के उद्यापन के लिये प. जी ने इसकी रचना की थी। इसमें संस्कृत के विविध छन्दो मे तीन लोक संबधी अकृत्रिम चैत्यालयो की तीन पूजाएँ हैं।

इनमें अकृत्रिम चैत्यालयो के अर्थ पृथक-पृथक दिये गये है । जयमाला की रचनाएँ हिन्दी मे प्रचलित पद्धति से और चौपाई छन्द मे की है । हिन्दी छन्दों मे सस्कृत की रचना वडी मनोहारिणी वन पडी है । इसका प्रकाशन विजय प्रिंटिंग प्रेस सूरत से हुआ है ।

मंदिर वेदी प्रतिष्ठा और कलशारोहण विधि :—प. जी के द्वारा सकलित प्रतिष्ठा विधि की यह पुस्तक विद्वत्समाज मे अत्यधिक समादृत हुई है । इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके है । इसमे पञ्चकल्याणक को छोड़कर अन्य मदिर-वेदी प्रतिष्ठा, मानस्तम्भ प्रतिष्ठा, कलशारोहण विधि तथा वास्तु विधान विधि आदि का संकलन किया गया है । इसका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से हुआ है ।

सहस्रनाम विधान :—महापुराण के अन्तर्गत जिनसेनाचार्य ने एक हजार आठ नामो के द्वारा समवशरण मे स्थित आदि जिनेन्द्र का स्तवन किया है । इन सव नामो के ऊपर स्वतंत्र श्लोक रचकर एक हजार आठ अर्घों के द्वारा आदि जिनेन्द्र की पूजा की गई है । प्रारम्भ मे आदि जिनेन्द्र की 'पञ्चचामर' छन्द मे पूजा की रचना की गई है । सहस्रनामो के दश शतको के १००८ अर्घ वनाये गये हैं । अभिषेक की विधि भी संकलित की गयी है । इसका प्रकाशन ज्ञानोदय ग्रन्थमाला, जबलपुर और श्री निरजनलाल रतनचन्द्र जी वैनाडा आगरा की ओर से सम्पन्न हुआ है । यह विधान सर्व अरिष्ट निवारक है ।

विधान के प्रारम्भ मे पच परमेष्ठी का स्तवन किया गया है। हिन्दी के हरिगीतिका छन्द मे संस्कृत पद्य--रचना बहुत ही मनोहर प्रतिभासित होती है । छन्द मे शब्द योजना, पदलालित्य के साथ की गई है । पढने मे बड़ी ही मनोहर लगती है ·—

गुणरत्न–भूषा, विगतदूषा सौम्यभाव–निशाकराः ।
सद्बोध–भानु–विभाविभाषित, विश्चया विदुषां वरा. ।।
निस्सीम-सौख्य समूह मण्डित योग खण्डित रतिवरा ।
अरहन्त इह कुर्वन्तु मंगलमंत्र–वीर–जिनेश्वरा ।।

विधान की सम्पूर्ण रचना सरस एव भावप्रवण है । प जी ने हिन्दी के छन्दो का प्रयोग संस्कृत रचना मे कर उसे अधिक सरस एव गेय वना दिया है । वर्णों की आवृत्ति ने अनुप्रासो की छटा को और अधिक मनोहारी वनाया है —

सुरम्य हीर हारि हार रम्यया सुशान्तया,
मुनीन्द्र चित्त शीलया मरापगाम्बु धारया ।
सुरेन्द्र वृन्द वन्दित महायतीन्द्र नन्दित,
सहस्रनाम सस्तुत जिनंयजे सदादिमम् ।।

सहस्रनामो की रचना मे आये हुये प्रत्येक नाम की निरुक्ति बड़ी ही कुशलता के साथ की गयी है। अर्थबोध सुगमता से हो जाता है। नाम-पद की व्याख्या उसके सही रूप को प्रस्तुत कर देती है। देखिये'श्रीमान्'को—

श्रियोऽतरङ्गा बहिरङ्गिकाश्च-ज्ञानादयोऽशोक महीरुहाद्या ।
सन्त्यस्य पार्श्वे जिनयस्य यस्य श्रीमान् जिनःसोऽस्तु सुखाय लोके ।।

वृत्त परिवर्तन का क्रम भी लुभावना है। इससे पूजक की भक्ति–भावना एव सुरुचि में और भी अभिवृद्धि होती है।

(४) दार्शनिक ग्रन्थ :

सम्यक्त्व चिन्तामणि :—यह महत्त्वपूर्ण अनुपम ग्रन्थ वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट वाराणसी से प्रकाशित है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध मे विशिष्ट जानकारी इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड मे कृतित्व समीक्षा के अंतर्गत एक अन्य आलेख के द्वारा दी गई है।

सज्ज्ञान-चन्द्रिका .—यह पं जी की रत्नत्रयी का द्वितीय अश है। इसे वीर सेवा मदिर ट्रस्ट वाराणसी ने प्रकाशित किया है। प. जी की इस कृति मे सम्यग्ज्ञान का सागोपाग विवेचन दश-प्रकाशो मे किया गया है। इस ग्रन्थ का विशेष परिचय भी इसी ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के कृतित्व समीक्षा के अतर्गत एक स्वतंत्र आलेख के माध्यम से निदर्शनीय है।

सम्यक् चारित्र चिन्तामणि :—रत्नत्रयी के प्रथम अग सम्यक्त्वचिन्तामणि और द्वितीय अंग सज्ज्ञानचन्द्रिका के वाद तृतीय अग सम्यक्चरित्रचिन्तामणि की रचना भी आपने की है इसमे सकल चरित्र के विविध अगो का वर्णन करते हुए अतिम परिच्छेद मे श्रावकाचार का भी विशद वर्णन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग १२०० श्लोको मे पूर्ण हुआ है। इन श्लोको की हिन्दी टीका भी आपने स्वय की है। यह ग्रन्थ भी वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट वाराणसी से प्रकाशित हुआ है।

उपसंहार :

अब से लगभग ६० वर्ष पूर्व पं. जी ने अपने लेखन/काव्यसृजन का प्रारम्भ किया था। उनकी सतत् साधनारत लेखनी से एक नही अनेक ग्रन्थो का सम्पादन एवं प्रणयन हुआ है। सस्कृत,प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ के युग मे तत्-तत् भाषाओं मे महनीय आचार्यो ने अपने ग्रन्थो की रचनाकर विवेकशील जिज्ञासुजनो की अभिलाषाओ को तृप्त कर चिर-कृतज्ञ बनाया है। पं. जी ने भी उसी आर्ष-परम्परा का अनुगमन कर हिन्दी के युग मे सस्कृत, प्राकृतनिष्ठ ग्रन्थो का हिन्दी अनुवाद कर स्वान्त: सुखाय के साथ सर्वजनहिताय का भी आदर्श प्रस्तुत किया है। प जी की लेखनी उनके जीवन की परिक्पवावस्था मे भी अबाध गति से प्रवर्द्धमान-गतिशील है। ऋजुकाव्य की रचना के समय अचानक उत्पन्न विरक्ति के कारण अपनी लेखनी से जैन-साहित्य के सृजन की जो प्रतिज्ञा उन्होने की थी,वह आज तक साकार होती आ रही है। निश्चय से अगाध ज्ञान के भाण्डार डॉ पन्नालालजी लगन और निष्ठा के साथ अपने जीवन को सयम जल से प्रक्षालित करते हुये 'शिव-पथ' पर वढ रहे हैं, उनका यह कार्य विद्वज्जनो की प्रतिष्ठा मे 'चार चाद लगाने' जैसा अनुकरणीय एवं भूय:-भूय. अभिवन्दनीय है।

अध्यक्ष—संस्कृत विभाग,
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह
आवास—२८, सरोज सदन, सरस्वती कालोनी
दमोह

◉

सम्यक्त्व चिन्तामणिः (समीक्षा)

डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन.

शास्त्र रचना परम्परा का पुनर्जीवन :

सस्कृत, भारतवर्ष की एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन भाषा है। प्राकृत भाषा मे शास्त्रो के प्रणयन के पश्चात् आचार्यों ने संस्कृत मे भी जैन शास्त्रो की रचना की। किन्तु बहुत समय से सस्कृत मे लिखने की परम्परा अवरुद्ध सी हो गयी थी। हमारा सौभाग्य है कि जैन सिद्धान्त के प्रकाण्ड पडित डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ, सस्कृत पद्यो मे लिखकर इस जैन शास्त्र की परम्परा को पुनर्जीवन-दान दिया है।

विषय सामग्री

ग्रन्थ का सम्पूर्ण विषय दश मयूखो मे वर्णित है, जिनमे क्रमशः सम्यग्दर्शन, जीवतत्त्व, गति-मार्गणा तथा द्वीपसमुद्र, चौदह मार्गणाएँ, अजीव तत्त्व, आस्रव, बन्ध, संवर, निरा तथा मोक्ष का वर्णन है। साथ मे प्रसङ्गानुसार जीव के भेद, ससारी जीव के पञ्चपरावर्तन, चौदह गुणस्थान और उसमे बन्धव्युच्छित्ति आदि का वर्णन है। अंत मे सिद्धो के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार लेखक ने एक ही ग्रन्थ मे तत्त्वार्थसूत्र और गोम्मटसार के विषयो का एकत्र समावेश कर दिया है।

ग्रन्थ की समग्रता के लिए ग्रन्थकार ने प्रारम्भ मे 'सम्यग्दर्शन' शीर्षक से सत्ताईस पृष्ठो मे विस्तार के साथ ग्रन्थ की सम्पूर्ण विषय-सामग्री को सक्षेप मे प्रस्तुत किया है। पश्चात् 'विषयानुक्रमणिका' मे दशो मयूखो का विषय छोटे-छोटे शीर्षकों के माध्यम से निरूपित किया गया है। इसके बाद ग्रन्थ मे प्रयुक्त उन्नीस छन्दो की नामावली है। ग्रन्थ के अत मे 'प्रशस्ति' शीर्षक से आठ श्लोको मे ग्रन्थकार ने अपना जीवन-परिचय एव ग्रन्थ रचना की तिथि बताते हुए जिन आचार्यों के ग्रन्थो के आधार मे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई है उन सबकी वन्दना की है। पश्चात् अकारादि क्रम से श्लोकानुक्रमणिका है। ग्रन्थ की श्लोक-सख्या १८१६ है। अत मे शुद्धिपत्रक है।

लेखन शैली :

प पन्नालाल जी की यह कृति, भाषा और विषय-दोनो दृष्टियो से मनोहर है। उनकी सस्कृत-रचना मे प्रसाद और माधुर्य-गुण विद्यमान है।

इसकी रचना-शैली प्राचीन-परम्परा के अनुरूप है। इसका प्रारम्भ 'मगलाचरण' से होता है, जिसमे पञ्च बालयति-तीर्थङ्करो को नमस्कार-पूर्वक पूर्वाचार्य तथा स्वकीय गुरु-स्मरण के साथ ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा की गई है।

प्रत्येक मयूख के अंत मे 'इति सम्यक्त्व चिन्तामणी सम्यग्दर्शनोत्पत्ति–माहात्म्य वर्णनो नाम प्रथमो मयूखः समाप्त.' इत्यादि रूप से समापन वाक्य मे उस-उस मयूख का विषय–परक नाम दिया गया है। इसी प्रकार प्रत्येक मयूख के प्रारम्भिक एवं अन्तिम श्लोकों मे उस-उस मयूख के विषय का अतिसक्षेप एव समारोप बताया गया है।

मुद्रण, साजसज्जा तथा प्रस्तुति :

३८६ पृष्ठो मे मुद्रित इस ग्रन्थ की छपाई-सफाई ग्रन्थ के प्रकाशक, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी की अपनी परम्परा के अनुरूप, उत्तम है। ग्रन्थ का गेट-अप भी आकर्षक है।

प्रारम्भ मे, पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज का एक मनोहर रेखाचित्र देकर ग्रन्थ उन्हे समर्पित किया गया है। इससे ग्रन्थ का सौन्दर्य और बढ गया हैं। यद्यपि सस्कृत भाषा के मुद्रण मे यत्र-तत्र कुछ अशुद्धिया दिखाई पडती हैं किन्तु अंत मे 'शुद्धिपत्र' देकर उनका परिमार्जन कर दिया गया है।

अभिमत :

जैन सिद्धान्त के प्रकाण्ड पंडित, सिद्धान्ताचार्य, कैलाशचन्द्र जी शास्त्री,वाराणसी ने इस रचना का 'प्राक्कथन' लिखा है जिसमे उन्होने ग्रन्थ के लेखक को प्राचीन-परम्परा के रचनाकार के रूप मे साधुवाद दिया है।

इसी प्रकार जैन दर्शन के अप्रतिम विद्वान् डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया, न्यायाचार्य ने ग्रन्थ की 'प्रस्तावना' मे प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकार डॉ पं. पन्नालाल जी को जैन परम्परा मे, सस्कृत-भाषा मे ग्रन्थ लिखने की धारा को जीवित बनाये रखने के लिए हार्दिक धन्यवाद दिया है।

विषय का महत्त्व एवं उपयोगिता :

प्रस्तुत ग्रन्थ मे विद्वान् रचनाकार ने जैन धर्म के सभी प्रमुख विषयो का समावेश कर दिया है। प्रथमानुयोग को छोडकर शेष तीन अनुयोगो का विषय इस ग्रन्थ मे समाविष्ट है। इसी कारण इसकी ज्ञानवर्धकता असदिग्ध है। इसमे यत्र-तत्र ग्रन्थकार की शोधदृष्टि के भी दर्शन होते है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण मे विविध छन्दो का प्रयोग हुआ है। छन्दो-वैविध्य से जहा ग्रन्थ के सौन्दर्य मे वृद्धि हुई है, वही हमे धर्मग्रन्थ मे काव्य का भी आनन्द प्रदान किया गया है।

ग्रन्थ को आद्यन्त मे सभी आवश्यक एवं उपयोगी बातों से (जिनका वर्णन हम विषय-सामग्री मे कर चुके हैं), विभूषित करके समग्ररूप मे उपस्थित किया गया है। सस्कृत श्लोको के नीचे उनका हिन्दी-अर्थ तथा विशेषार्थ देकर सामान्य पाठको के लिए इसे अत्यन्त उपयोगी बनाया गया है।

प्रसन्नता की बात है कि जैन विद्वत्समाज एवं साधारण जैन जनता ने 'सम्यक्त्व-चिन्तामणि' का अच्छा आदर किया है। अनेक स्थानो पर इस ग्रन्थ का शास्त्र-सभा मे प्रवचन होना प्रारम्भ हो गया है। मैंने स्वय सागर (म. प्र.) के जैन-मंदिर (कटरा बाजार) मे इस ग्रन्थ का प्रवचन सुना है।

निदेशक-अनेकांत शोधपीठ बाहुबली
१५-एम. आई. जी., मुनिनगर,
उज्जैन (म. प्र.)

●

सज्ज्ञान-चन्द्रिका : एक समीक्षा :

पं. अमृतलाल जैन,
न्यायतीर्थ, शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य, साहित्याचार्य.

सज्ज्ञानचन्द्रिका—ले. डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पृ. सं १७७, मूल्य १५ रुपये, प्राप्ति स्थल—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्लॉट नं. ४ भोगावीर कालोनी—लका—वाराणसी ५ (उत्तरप्रदेश)।

संस्कृत भारत की अत्यन्त प्राचीन भाषा है। अन्य भाषाओ पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, अमोघवर्ष, अवन्तिवर्मा, भोज और चौलुक्य कुमारपाल आदि के शासनकाल मे इसका बहुत अधिक विकास हुआ। कहा जाता है कि भोजराज की राजधानी धारानगरी के सभी नागरिकों की यह बोलचाल की भाषा थी। यवनो के शासनकाल मे भी यह भाषा जीवित रही। अंग्रेजो के राज्य मे इसका अत्यधिक उत्थान हुआ। इस समय वर्तमान सरकार भी इसकी प्रगति के लिए प्रयत्नशील है, और इसके लिए प्रतिवर्ष विपुल धनराशि खर्च कर रही हैं। पर अध्येताओ की रुचि और परिश्रम के अभाव मे इसकी जो प्रगति होनी चाहिए, नही हो रही है। इस भाषा के विशेषज्ञ कुछ पुराने विद्वान् अभी जीवित है, जो निरन्तर इसी भाषा के अभ्युत्थान मे प्राणपण से संलग्न है। प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ प पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर (म. प्र.) इन्ही विद्वानो मे मे एक हैं। इनके द्वारा सम्पादित, अनूदित एव प्रणीत ग्रन्थो की सख्या सौ से अधिक है। लगभग ७० ग्रन्थ तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। इसी निमित्त से आप राष्ट्रपति महोदय द्वारा सम्मानित एव पुरस्कृत भी हुए थे। प्रस्तुत ग्रन्थ—'सज्ज्ञानचन्द्रिका' अपरनाम 'सम्यग्ज्ञान-चिन्तामणि' आपकी ही अभिनव रचना है।

ग्रन्थ-परिचय :

प्रस्तुत ग्रन्थ की मूल भाषा सस्कृत है। यह अनुष्टुप्, आर्या, आर्यागीति, इन्द्रवज्रा, उपजाति, द्रुतविलम्बित, भुजङ्गप्रयात, मञ्जुभाषिणी, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, वंशस्थ, स्रग्धरा, स्वागता, शार्दूलविक्रीड़ित, शालिनी, शिखरिणी हरिगीतिका और हिन्दीगीतिका—इन अठारह छन्दो मे निबद्ध सात सौ सन्तान्नवे अनवद्य पद्यो मे समाप्त हुआ है।

अथ से इति तक सभी श्लोक प्रसादगुण से गुम्फित है। फलत' पढते ही उनका अर्थ समझ मे आ जाता है, फिर भी ग्रन्थकार ने सस्कृत न जानने वाले जिज्ञासु पाठको को ध्यान मे रखकर स्वयं ही इसका हिन्दी रूपान्तर भी श्लोको के नीचे दिया है। कठिन विषयो पर विशद प्रकाश डालने के लिए यत्र-तत्र विशेषार्थ दिये हैं। व्यञ्जनावग्रह और मन पर्यय ज्ञान का क्षेत्र आदि अनेक विषयो का विशेष बोध कराने के लिए यत्र तत्र 'धवला' के अवतरण सानुवाद प्रस्तुत किए हैं।

ग्रन्थ का क्रम इस प्रकार है :—

प्रकाशकीय (पृ. ३-४), उपोद्घात (पृ. ५-७) विषयानुक्रमणिका (पृ. ९-१५), सानुवाद मूल ग्रन्थ (पृ १-१४१), प्रथम परिशिष्ट (पृ. १४२-१४५), द्वितीय परिशिष्ट (पृ. १-१३), तृतीय परिशिष्ट (पृ. १४) और अन्तिम पृष्ठ पर शुद्धि-पत्रक मुद्रित है।

प्रतिपाद्य–विषय :

प्रतिपाद्य विषय का परिचय इस ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। सभी जीव सुखपूर्वक जीवित रहना चाहते है। वास्तविक सुख मोक्ष मे ही प्राप्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—ये तीनो दण्ड-चक्रचीवरन्याय से समुदित रूप मे ही मुक्ति के साधक है, न कि तृणारणिमणि न्याय से पृथक्-पृथक्। सम्यग्दर्शन का विशद विवेचन डॉ सा पं पन्नालाल जी अपने 'सम्यक्त्वचिन्तामणि' नामक संस्कृत पद्यात्मक ग्रन्थ मे कर चुके हैं, जो श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट से लगभग दो वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है और श्री महावीर शोध सस्थान, महावीर जी राज से पुरस्कृत भी। इसके पश्चात् (आपने रोगशय्या पर पड़े-पडे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की और इसका हिन्दी रूपान्तरण भी। इसमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय (श्वेताम्बर ग्रन्थो के अनुसार मन.पर्याय) ज्ञान और केवलज्ञान—इन पाँच सम्यग्ज्ञानो और इनके अवान्तर भेदो के साथ नय, ऋद्धि और ध्यान आदि सम्बद्ध विषयो पर विशद विवेचन किया है)

प्रथम प्रकाश मे—पञ्चपरमेष्ठियो के मङ्गल-स्तवन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान सामान्य, आत्मज्ञान, चार अनुयोगो तथा सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्गों का वर्णन है। द्वितीय प्रकाश मे—मतिज्ञान एवं उसके चार मूलभेद और ३३६ उत्तरभेद वर्णित हैं। तृतीय प्रकाश मे—श्रुतज्ञान और उसके भेद-प्रभेद चर्चित है। चतुर्थ प्रकाश मे—श्रुतज्ञान के भेद स्वरूप नयो का प्रतिपादन किया गया है। पञ्चम प्रकाश मे—अवधिज्ञान की चर्चा है। षष्ठ प्रकाश मे—मन·-पर्ययज्ञान और इसके भेदो पर विशद प्रकाश डाला गया है। सप्तम प्रकाश मे—केवलज्ञान और उसका विषय विवेचित है। अष्टम प्रकाश मे—चौसठ ऋद्धियो की विस्तृत चर्चा है। नवम प्रकाश मे—धर्मध्यान का विशिष्ट विवेचन है और अन्तिम दशम प्रकाश मे—शुक्लध्यान के चार भेदो के स्वरूप, स्वामी और कार्य का प्रतिपादन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में—धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान विषयक एक निबन्ध प्रकाशित है।

प्रतिभाशाली ग्रन्थकार ने तत्त्वार्थवार्तिक, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, धवला, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पञ्चाध्यायी और आलापपद्धति आदि शताधिक जैन ग्रन्थो का लगातार साठ वर्षो मे जो अध्ययन, अध्यापन और गहन मनन किया है, उसी का परिणाम है यह ग्रंथ 'सम्यग्ज्ञानचिन्तामणि'।

ग्रन्थकार ने उपोद्घात (पृ. ७) मे स्वय लिखा है कि 'ग्रन्थ नया है, विषय पुराना है। पूर्व शास्त्रो मे जो कुछ लिखा है, उसे ही नया रूप देकर पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया है।'

ग्रन्थकार का धर्म, न्याय, साहित्य और व्याकरण आदि अनेक विषयो पर समान अधिकार है, जिससे प्रस्तुत ग्रन्थ पदे-पदे प्रभावित है।

जो जिज्ञासु पाठक बड़े-बड़े ग्रन्थों से सम्यग्ज्ञान का ज्ञान पाने मे कठिनाई का अनुभव करते है, उनके लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है।

मनीषी ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषा मे लिखा है। इससे साधारण सस्कृत जाननेवाले भी पाठक इसे आसानी से समझ सकते हैं। जैसे—

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानमेव च।
मन.पर्ययसंज्ञानं केवलज्ञाननाम च ॥२०३॥

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। दशो प्रकाशो के प्रारम्भ के मङ्गल पद्यों की साहित्यिक–छटा द्रष्टव्य है। जैसे —

दीपः किं नैव दीपः किमिति स नियत क्षुद्रवायो· प्रणश्येत्,
चन्द्र किं नैव चन्द्रः किमिति स दिवसे दीनदीनो विभाति।
सूर्यः किं नास्ति सूर्यः किमिति स नियतं सायमस्तं प्रयाती–,
त्वेवं ध्वस्तोपमानं जगति विजयते केवलज्ञानमेतत् ॥७.१॥

सारांश—इस जगत् मे यह अनुपम केवलज्ञान सबसे उत्कृष्ट है। यह अनुपम इसलिए है कि इसके लिए कोई एक भी उपमान नही है। उपमान तो वही हो सकता है, जो उपमेय से उत्कृष्ट हो। यदि यह कहा जाए कि केवलज्ञान अन्धकार को दूर करता है तो दीपक, चन्द्रमा और सूर्य भी तो अन्धकार मिटाते हैं—इस दृष्टि से इनको उपमान क्यो न माना जाए ? यह कहना ठीक नही, क्योकि दीप, चन्द्र, और सूर्य केवल बाह्य-अन्धकार को ही मिटा सकते है, जबकि केवलज्ञान निविड आभ्यन्तर अज्ञान–अन्धकार का सर्वथा विनाश करता है, और एक बात यह भी है कि दीपक जरा से हवा के झोंके से बुझ जाता है, चन्द्रमा दिन मे अत्यन्त दीन प्रतीत होता है और और सूर्य प्रतिदिन शाम होते ही छिप जाता है, पर केवलज्ञान पर प्रचण्डतम वायु का भी प्रभाव नही पड सकता। दिन हो या रात, दोनो मे ही यह समान रूप से प्रकाशित होता रहता है। सूर्य प्रतिदिन अस्त होता है, पर केवलज्ञान कभी एकबार भी अस्त नही होता - उत्पत्ति के बाद वह अनन्तकाल तक ज्यो का त्यो प्रकाशमान रहता है। अत केवलज्ञान सर्वथा अनुपम है। उसे मेरा शत-शत नमन। यहाँ 'जयति' क्रिया से नमन व्यङ्ग्य है। है। इसी तरह अन्य पद्यो मे भी साहित्यिक छटा विद्यमान है।

ऐसी उत्तम रचना के लिए रचनाकार और प्रकाशक दोनो ही बधाई के पात्र हैं।

अध्यापक, श्री आनन्द संस्कृत–प्राकृत प्राच्य विद्यापीठ,
अहमदनगर [महाराष्ट्र]

□

सज्ज्ञान-चन्द्रिका : एक अनुशीलन

डॉ. सुषमा जैन, सागर
एम. ए. पी-एच. डी.

'रत्नत्रय' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है जिसे भारतीय दर्शनों मे 'त्रिरत्न' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा जाता है। जैन आम्नाय मे रत्नत्रय को मोक्ष हेतु स्वीकार किया गया है। अतएव जैन मनीषियो ने आगम ग्रन्थो के मध्य से, पृथक् विवेचन की निरन्तर आवश्यकता अनुभव की है, जिसे प्रतिपादित करने का श्रेय रत्नत्रय उपासक डॉ. पडित पन्नालाल जी को है। इन्होने दूध से नवनीत के समान जैनागमो से रत्नत्रय स्वरूप को तीन भागो मे रचने का सकल्प किया जिनमे प्रथम खण्ड सम्यक्त्व–चिंतामणि एवं द्वितीय खण्ड सज्ज्ञान–चन्द्रिका, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी से क्रमश. सन् १९८३ तथा १९८५ मे प्रकाशित है।

'सज्ज्ञान चन्द्रिका' मे सम्यग्ज्ञान की विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचना की गई है, जिसे लेखक ने दश प्रकाशो के ७९७ पद्यो मे विविध छन्दो के माध्यम से निबद्ध किया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन-अनुशीलन से सुस्पष्ट है कि लेखक ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत जैनागमों का गम्भीर आलोडन करने के उपरान्त मोक्ष-पथ को पृथक् रूपेण सरल, सरस, साहित्यिक, विशुद्ध संस्कृत भाषा मे प्रस्तुत किया है। जिनका विषय विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

प्रथम प्रकाश मे—मगलाचरण स्वरूप पच-परमेष्ठियो का स्तवन कर, सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता, सम्यग्ज्ञान सामान्य, आत्मज्ञान, चार अनुयोगो तथा सम्यग्ज्ञान के आठ अगो को निरूपित किया है।

द्वितीय-प्रकाश मे—मतिज्ञान, उसके मूलतः चार एव उत्तर ३३६ भेदो का वर्णन किया गया है, जिसके सूक्ष्म निरूपण हेतु लेखक ने विशेषत· आचार्य वीरसेन रचित धवला टीका के उद्धरणो का अवलम्बन लिया है।

तृतीय-प्रकाश मे—श्रुतज्ञान एव उसके प्रभेद अंग–प्रविष्ट और अगबाह्यो को समाविष्ट किया है। तदनुसार अंगप्रविष्ट के बारह भेद और अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। श्रुतज्ञान के विस्तार को देखकर पूर्वाचार्यों ने इसे केवल-ज्ञानतुल्य कहा है। इसमे मात्र परोक्ष और प्रत्यक्ष का अंतर है। यह पूर्व मे मुनियो के तपोवल–पूर्वक सुरक्षित रहा है परन्तु, पचमकाल मे स्मरण शक्ति की न्यूनता से इसका क्रमशः ह्रास होता जा रहा है।

चतुर्थ-प्रकाश मे—आ. उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर श्रुतज्ञान के भेदरूप नयो का निरूपण किया गया है।

पचम-प्रकाश मे—आ. नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक–देव विरचित गोम्मटसार जीवकाण्ड, अकलंकभट्ट रचित राजवार्तिक एव धवला टीका के आधार पर अवधिज्ञान के भेद-प्रभेदो की सूक्ष्म विवेचना है।

षष्ठ-प्रकाश मे—मनःपर्ययज्ञान, उसके दो भेद–ऋजुमति और विपुलमति मन.पर्ययज्ञान का विस्तृत वर्णन किया गया है।

सप्तम-प्रकाश मे —गुणस्थानो के क्रम से केवल ज्ञान की प्राप्ति, उसका स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर आगमोक्त प्रकाश डाला गया है।

अष्टम-प्रकाश मे—धवला टीका के आधार पर चौसठ ऋद्धियो का समीचीन निरूपण है।

नवम-प्रकाश मे मोक्षप्राप्ति मे परम्परा से सहायक धर्म्यध्यान के सागोपाग विश्लेषण के साथ-साथ शुक्लध्यान के भेद-प्रभेदो का वर्णन समाहित है। जिसमे विशेपत' आ. शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव एवं स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा की सस्कृत टीका का प्रश्रय लिया गया है।

दशम-प्रकाश मे—शुक्लध्यान के भेदो का सम्यक् रीत्या विवेचन सन्निविष्ट है ग्रन्थ के उपान्त्य मे लेखक ने ग्रन्थ के प्रति मंगलकामना के साथ अपना सक्षिप्त जीवन—परिचय प्रस्तुत किया है। तथा अंत मे मुक्तिसाधक धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान का हिन्दी भापा मे विवेचन किया है। इसके पश्चात् दो परिशिष्ट सलग्न हैं— (१) अकारादि क्रम से पद्यानुक्रमणिका, (२) ग्रन्थ मे प्रयुक्त छन्दो की नामावली।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने विवेच्य ग्रन्थ मे प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर विपयवस्तु ग्रहण करके नवीन शैली मे सम्यग्ज्ञान का लक्षण, स्वरूप, मूलतः पाँच भेद—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान तथा ज्ञान मे सहयोगी धर्म्यध्यान एव शुक्लध्यान का सागोपाग विश्लेषण किया है।

विषय के प्रतिपादन मे लेखक की सुवोध संस्कृत भाषा के अनुरूप सहज, वोधगम्य भाव स्पष्ट प्रस्फुटित होते है। भावो की अभिव्यक्ति मे लेखक की लेखनी से मुख्यत. विवेचनात्मक एव समाहार शैली का सफल प्रयोग हुआ है, इसके साथ ही इसमे दृष्टात शैली, सामासिक शैली और प्रश्नोत्तर शैली भी निदर्शनीय है।

माधुर्य एवं प्रसादगुण से ओतप्रोत सम्यग्ज्ञान जैसा सिद्धान्त विपय भी आपकी लेखनी से आलकारिक प्रयोगपूर्वक सातिशय रोचक एव सरस हो उठा है। इस वर्णन मे वैदर्भी रीति वहुधा निदर्शित है। तथा समग्र ग्रन्थ मे शातरस की अनुपम सुधाधारा से पाठकों की विचाराधारा भी मानो प्रवाहित होने लगती है।

सज्ज्ञानचन्द्रिका के आधार पर नि सदेह कहा जा सकता है कि पंडित जी को सर्वसुलभ ज्ञेय अनुष्टुप्-छन्द अतिप्रिय है। यत. इन्होने विशेषत वर्णन इस छन्द मे ही किया है। इसके अतिरिक्त अन्य सोलह छन्दो का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

श्रद्धेय पडित जी ने अपने गहन स्वाध्याय, गम्भीर चिन्तन, और उत्कृष्ट मनन के उपरान्त जैन साहित्य मे रत्नत्रय के व्यवस्थित विवेचन द्वारा सस्कृत साहित्य मे अक्षुण्ण श्रीवृद्धि की है। अतएव जैन वाड्मय के इस वर्णन मे आपका नाम सदैव स्मृत किया जाता रहेगा। साथ ही इसका तृतीय खण्ड भी शीघ्र पाठको के सम्मुख आत्मकल्याणार्थ प्रस्तुत हो जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

द्वारा श्री एम. एल. जैन,
भारतीय स्टेट बैंक सिविल लाइन्स,
सागर, म. प्र.

महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन : समीक्षा

डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन.

ग्रन्थ परिचय :

'महाकवि हरिचन्द्र : एक अनुशीलन' डॉ. प. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य रचित वह शोधप्रबन्ध है जिस पर उन्हें सागर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त हुई है। इसका प्रकाशन १९७५ मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा किया गया था।

महाकवि हरिचन्द्र सस्कृत-साहित्य जगत् के प्रख्याततनामा कवि है। कोमल-कात-पदावली द्वारा नवीन-नवीन अर्थ का प्रतिपादन करना कवि की विशेषता है। इनकी दो अमर रचनाएँ हैं—'धर्मशर्माभ्युदय' एवं 'जीवन्धरचम्पू'। 'धर्मशर्माभ्युदय' मे पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ और 'जीवन्धरचम्पू' मे जीवन्धर स्वामी का जीवन चरित वर्णित है। कथा पौराणिक है किन्तु कवि ने उसे काव्यमयी भाषा में ऐसा अवतीर्ण किया है कि उसे पढकर पाठक का हृदय भाव-विभोर हो जाता है। इन्ही दोनो ग्रन्थों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत ग्रन्थ मे की गई है। इसमे ग्रन्थकर्ता के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त ग्रन्थो की आभ्यन्तर-सामग्री का परिचय तथा शिशुपालवध,किरातार्जुनीय,नैषध एवं चन्द्रप्रभचरित आदि ग्रन्थो से तुलनात्मक उद्धरण भी अंकित किए गए हैं।

विषय निरूपण :

प्रस्तुत ग्रन्थ को चार अध्यायो मे विभक्त किया गया है।

प्रथम-अध्याय के दो स्तम्भ हैं—'आधार भूमि' और 'कथा'।'आधार भूमि'मे, १—काव्य धारा,२—महाकवि हरिचन्द्र-व्यक्तित्व और कृतित्व, ३—अभ्युदय नामात काव्यो की परम्परा और ४—महाकाव्य परिभाषानुसन्धान नामक चार भागो में पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और चम्पूकाव्यो की चर्चा करते हुए चम्पूकाव्यो का ऐतिहासिक क्रम से परिचय दिया गया है। नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू, जीवन्धरचम्पू और पुरुदेवचम्पू का कर्ता के साथ परिचय दिया गया है। अन्य प्रसिद्ध चम्पू काव्यो का उनके कर्ता के साथ नामोल्लेख किया गया है। महाकवि हरिचन्द्र के व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए उन्हे कालिदास, भारवि माघ आदि महाकवियों की श्रेणी मे बिठाया गया है। अभ्युदयनामात काव्यो मे 'पार्श्वाभ्युदय' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य अनेक अभ्युदयनामान्त काव्य भी सस्कृत-साहित्य की गरिमा बढा रहे हैं। साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेद की महाकाव्य की परिभाषा 'धर्मशर्माभ्युदय' मे पूर्णरूप से घटित होती है। ये सभी बातें 'आधारभूमि' के अन्तर्गत कही गई हैं।

'कथा' नामक स्तम्भ मे 'धर्मशर्माभ्युदय' एवं 'जीवन्धरचम्पू' की कथा के आधार, 'धर्मशर्माभ्युदय' का आख्यान, जीवन्धरचरित का तुलनात्मक अध्ययन एवं 'जीवन्धरचम्पू' के प्रमुख पात्रो का चरित्र-चित्रण वर्णित है।

द्वितीय अध्याय मे 'साहित्यिक-सुषमा' तथा 'आदान—प्रदान' नामक दो स्तम्भ हैं। 'साहित्यिक-सुषमा' मे

'धर्मशर्माभ्युदय' की काव्यपीठिका, काव्यवैभव एवं रसपरिपाक, 'जीवन्धरचम्पू' की काव्यकला, उत्प्रेक्षा, रसप्रवाह विप्रलम्भश्रृङ्गार और प्रणयपत्र, शांतरस की पावनधारा के निरूपण के साथ दोनो काव्यो के छन्दों की रसानुगुणता एवं छन्दोयोजना का वर्णन है ।

'आदान-प्रदान' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत सर्वप्रथम, जीवन्धरचरित को उपजीव्य बनाकर सस्कृत, अपभ्रंश कर्णाटक, तमिल एवं हिन्दी भाषाओं मे कितने काव्य उपजीवित हुए, उनका उल्लेख है । इसी संदर्भ मे यह सिद्ध किया गया है कि महाकवि हरिचन्द्र ने कालिदास, भारवि, बाण, दण्डी, माघ, वीरनन्दी आदि कवियो से क्या ग्रहण किया तथा श्रीहर्ष, अर्हद्दास आदि कवियो को क्या दिया ।

इस स्तम्भ मे 'धर्मशर्माभ्युदय' की 'शिशुपालवध' और 'चन्द्रप्रभचरित' से तुलना करते हुए यह प्रकट किया गया है कि किसने किससे क्या लिया है। वस्तुत. ये समीक्षात्मक लेख इस स्तंभ के महत्त्वपूर्ण अंग हैं ।

तृतीय अध्याय के तीन स्तभ हैं—१–सिद्धान्त, २–वर्णन तथा ३–प्रकृति निरूपण । 'सिद्धान्त' नामक स्तभ मे तीर्थङ्कर-प्रकृति का बन्ध कराने वाली सोलह-कारण भावनाओ के निरूपण के साथ भगवान् धर्मनाथ के सर्वज्ञ होने के पश्चात् उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोपदेश का वर्णन है । जीवन्धरचम्पू के जैनाचार का भी इसमे वर्णन है ।

'वर्णन' नामक द्वितीय स्तंभ मे दोनो काव्यो मे वर्णित देश, नगर, नारी सौन्दर्य, नेपथ्य रचना, राजा, देवसेना, सुमेरु पर्वत, क्षीर समुद्र तथा विन्ध्याचल का चित्रण किया गया है ।

'प्रकृति-निरूपण' नामक तृतीय स्तंभ मे 'धर्मशर्माभ्युदय' के ग्यारहवें सर्ग मे वर्णित छह ऋतुओ तथा 'जीवन्धरचम्पू' के चतुर्थलम्भ के वसन्त ऋतु के चित्रण के साथ दोनो काव्यो मे निरूपित तपोवन, प्रभात, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी आदि का चित्रण किया गया है । ग्रन्थकार का मत है कि—"जीवन्धर चम्पू" के प्रकृति वर्णन ने भवभूति के प्रकृति वर्णन को निष्प्रभ कर दिया है ।

चतुर्थ अध्याय के पाच स्तभ हैं—१–आमोद-निदर्शन(मनोरञ्जन), २–प्रकीर्णक निर्देश, ३–नीतिनिकुञ्ज, ४–सामाजिक दशा, और युद्ध निदर्शन तथा ५–भौगोलिक निर्देश और उपसंहार । इन सभी स्तभो मे उभय काव्यो मे निरूपित पुष्पावचय, जलक्रीडा, वसत-वैभव, शिशुवर्णन, प्रबोधगीत, स्वयवर वर्णन, चन्द्रग्रहण और जरा का वर्णन, सज्जन-प्रशसा एवं दुर्जन निन्दा, पुत्राभाव वेदना, स्वप्नदर्शन, सुभाषित, नीत्युपदेश, राज्यशासन, सामाजिक स्थिति, युद्धवर्णन और चित्रालकार, रत्नपुर और हेमाङ्गद देश तथा उनका भ्रमण आदि का वर्णन है। इसी अध्याय के अत मे 'धर्मशर्माभ्युदय' के संस्कृत टीकाकार यशस्कीर्ति के जीवन-परिचय पर भी विचार किया गया है ।

ग्रन्थ के परिशिष्ट मे ४४ सहायक ग्रन्थो और उनके ग्रन्थकारो की सूची दी गई है। प्रारम्भ मे 'प्रस्तावना' के अतर्गत समस्त ग्रन्थ का सार संक्षेप मे दिया गया है ।

ग्रन्थ की विशेषताएँ :

प्रस्तुत ग्रन्थ की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं —

१–चम्पूकाव्य की परिभाषा, सस्कृत मे चम्पूकाव्य-परम्परा, जैन चम्पूकाव्यो का निरूपण तथा चम्पूकाव्यो मे 'जीवन्धर चम्पू' का स्थान ।

२–हरिचन्द्र नामक अनेक विद्वान्, महाकवि हरिचन्द्र के समय का निर्धारण (११वी-१२वी शताब्दी), उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व का प्रामाणिक विवेचन तथा इस बात का निर्धारण कि 'जीवन्धरचम्पू' महाकवि हरिचन्द्र की रचना है ।

३–'धर्मशर्माभ्युदय' तथा 'जीवन्धरचम्पू' की रस, अलकार, गुण, रीति, ध्वनि एव छन्दो के माध्यम से शास्त्रीय-समीक्षा एव तुलनात्मक अध्ययन के साथ संस्कृत-साहित्य मे उनके स्थान का निर्धारण ।

४–प्रत्येक कथन एव प्रस्थापना का सयुक्तिक-सोदाहरण उपस्थापन ।

५–आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से नितान्त प्रामाणिक रूप मे, विषय-वस्तु का निरूपण ।

निष्कर्ष :

प्राचीन एव अर्वाचीन परम्परा के प्रतिनिधि कवि एव साहित्यकार डॉ. प. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य की अमर कृति 'महाकवि हरिचन्द्र . एक अनुशीलन' से इस बात की पुष्टि हुई है कि जैन कवियो की संस्कृत रचनाएँ न केवल महनीय एवं श्लाघनीय हैं प्रत्युत उन्होने संस्कृत-साहित्य के संपोषण मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।

इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि जैन कवि और उनकी सस्कृत रचनाओ का इसी प्रकार मूल्याङ्कन किया जाय और उन्हे संस्कृत-साहित्य के इतिहास मे उचित स्थान प्रदान किया जाय ।

निदेशक–अनेकान्त शोधपीठ [बाहुबली-उज्जैन],
१५-एम. आई. जी मुनिनगर
उज्जैन

पूज्य वर्णी जी की समयसार टीका के सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य प. जगन्मोहनलाल, शास्त्री.

श्री १०८ मुनि गणेशकीर्ति जी जब पूर्वावस्था मे क्षुल्लक प. गणेशप्रसाद जी वर्णी थे, तब उनके द्वारा समयसार जी की हिन्दी भाषा मे एक टीका लिखी गई थी। यद्यपि यह उन्होंने "स्वान्त. -सुखाय" ही लिखी थी अत. उसे प्रकाशन हेतु मागने पर भी नही दी तथापि उनके दिवगत हो जाने पर उनके श्रुत भडार मे उसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई तब उसके प्रकाशन का निर्णय अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने लिया।

श्रीमान् पडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर ने पूज्य वर्णी जी की जीवन-गाथा का सम्पादन बहुत सुन्दर ढग से किया था, अत उन्हें यह कार्य सौंपा गया। पंडितजी बड़े आल्हादित हुए। पूज्य वर्णीजी ने यह टीका प्रकाशनार्थ नही लिखी थी मात्र यह उनके एक प्रकार प्रवचनो का ही सग्रह रूप था—कलशो पर लिखे गए प्रवचनो पर कलशो का अकन न था, पर सम्पादकजी ने उसे अंकन कर टीका का सागोपाग सम्पादन कर प्रकाशन योग्य बना दिया तथा जो स्थल स्याद्वाद अधिकार का नही लिखा गया था, उसे पं जयचन्द्र जी छाबडा की टीका के आधार पर सम्पादक जी ने पूरा किया।

प्रारम्भ मे सम्पादकजी ने जब इसका सम्पादन कर लिया तो न्यायाचार्य डॉ.कोठिया तथा पं.कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री के पास भेजी। उन्होंने विचार किया कि एक बार इसे आद्योपान्त देख लिया जाय कि कही कोई त्रुटि तो नही रह गई। कोई विसगति न रह जाय इस विचार से प्रकाशन के पूर्व मेरे पास पत्र भेजा और लिखा कि आप पूज्य वर्णी जी के अन्यतम शिष्य हैं अत यह कार्य आपको हम लोग दे रहे हैं। पूज्य वर्णीजी की कृति मे किसी त्रुटि या विसगति की तो कल्पना की ही नही जा सकती थी तथापि प्रकाशनीय ग्रंथ को वर्तमान प्रक्रिया के अनुसार प्रकाशन-योग्य बनाने मे कुछ विशेष नियमो का पालन करना आवश्यक है।

काशी के इन प्रख्यात विद्वानो की आज्ञा का पालन मैंने किया और पाण्डुलिपि का मूल सस्कृत टीका के साथ मिलान कर पश्चात् प पन्नालालजी के साथ परामर्श भी किया। पंडित जी ने भी मेरे सुझावों को मान्यता देकर उनका योग्य स्थानो पर समावेश कर टीका को सागोपाग प्रकाशनयोग्य बनाने में पूरा श्रम किया और वह वर्णी ग्रन्थमाला बनारस द्वारा सन् १९६९ मे प्रकाशित हो गई।

इस टीका ग्रन्थ मे पूज्य वर्णी जी ने अनेक स्थल जो क्लिष्ट थे, जिनका समझना सुखसाध्य नही था उन्हे सरलतम भाषा मे जन-सामान्य के समझने योग्य बना दिया। समयसार की आचार्य अमृतचन्द्र कृत सस्कृत टीका भावो से अत्यन्त गम्भीर तथा भाषा-दृष्टि से अत्यन्त गूढ और प्रौढ है अत उसके भाव को समझना और उसे जन-भाषा मे समझाना अत्यन्त कठिन है, तथापि वर्णी जी की भाषा इतनी सरल है कि उस पर ग्रथ के कठिन गूढतम भाव नृत्य करते हैं। कुछ नमूने यहा उपस्थित कर रहा हूँ। पाठक उनका अवलोकन करें :—

गाथा ७—ववहारेणुवदिस्सइ इत्यादि गाथा मे जीव के दर्शन ज्ञान चारित्र है यह व्यवहार कथन है, परमार्थ से न ज्ञान है, न दर्शन, न चारित्र है किन्तु जीव शुद्ध ज्ञायक मात्र है। इस गाथार्थ को स्पष्ट करते हुए वर्णीजी ने लिखा कि जैसे—पुद्गल द्रव्य मे स्पर्श रस गध वर्ण चार गुण है, वे नाना हैं क्योकि भिन्न २ इन्द्रियो के विषय हैं

उनमे जो एकत्व व्यवहार हैं वह एकसत्ता होने से है अर्थात् उस पुद्‌गल द्रव्य से उनकी सत्ता पृथक् नही है। इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण है वे अपने स्वरूप से भिन्न–भिन्न हैं तथापि आत्मद्रव्य की सत्ता से भिन्न वे नही पाए जाते ।

यहा लवणादि द्रव्य मे रूप–रसादि जुदी-जुदी इन्द्रियो के विषय होने से उनके स्वरूप की भिन्नता सामान्य अपढ की भी समझ मे आजाती है और वे नमक से अलग नही है अत अभिन्नता भी समझ मे आती ही है इस तरह सरल दृष्टान्त द्वारा आत्मा और आत्म गुणो की भिन्नता व अभिन्नता का बोध करा दिया गया है ।

गाथा ८—मे जहा आचार्य व्यवहार को म्लेच्छ भाषा का उदाहरण देकर समझाते हैं । वहा टीका मे वर्णी जी ने लोक प्रचलित बच्चो के बचपन मे मिट्टी के आटा गूंथकर रोटी बनाने की अभ्यास की प्रक्रिया को दृष्टान्त बनाकर बताया है कि जैसे वे मिट्टी के खेल–खेल मे रोटी बनाना सीख लेते है वैसे ही व्यवहार परमार्थ वस्तु को समझा देता है।

गाथा ९–१०—मे श्रुतकेवली का जो वर्णन निश्चय व्यवहार से किया है वह स्थल भी दुरूह है कारण–गाथा मे बताया है कि जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह यथार्थ मे श्रुतकेवली है और सपूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है, वह व्यवहार से श्रुतकेवली है ।

(बिना द्वादशाग के ज्ञान वाला कैसे श्रुतकेवली है यह जनसाधारण ज्ञानी समझ नही पाता । जो द्वादशाग का वेत्ता है उसे मात्र–व्यवहार से श्रुतकेवली माना जाय और जो द्वादशाश का ज्ञाता नही है मात्र शास्त्र के आधार पर मात्र आत्मा को जाने उसे परमार्थ श्रुतकेवली माना जाय । कुंदकुंददेव की यह उक्ति गूढ है अत. उसका समझना सामान्यबुद्धि के परे है)।

(पूज्यवर्णी जी ने इसे दर्पण के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है । वे लिखते है कि परमार्थ से तत्त्व अनिर्वचनीय (वचन से न कहा जा सकने वाला) है– अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य मे सक्रमण नही होता,जब यह बात है तब आत्म द्रव्य का अनात्म रूप से तथा अनात्म (पुद्‌गलादि पाच द्रव्य) द्रव्य का आत्म द्रव्य मे सक्रमण नही हो सकता ऐसी स्थिति मे आत्मा द्वादशाग के विषयभूत पर–पदार्थों का ज्ञाता है यह मात्र व्यवहार है।दर्पण मे प्रतिबिम्बित पदार्थ का दृष्टा दर्पण ही देखता है पदार्थो को नही, पदार्थो का ज्ञान भले ही हो जाता है । उस समय दर्पण उसकी स्वच्छता के कारण तदाकार परिणमता है इसी से लोग कहते हैं कि दर्पण मे घट पटादि पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे है तत्त्व–दृष्टि से तो दर्पण मे दर्पण का ही परिणमन दृष्ट होता है। इसी तरह आत्मा पर पदार्थो को जानता है,यह व्यवहार होता है। पर परमार्थ से आत्मा आत्म–परिणाम को ही जानता है, अत आचार्य महाराज ने जो यह कहा है कि जो श्रुत के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है वह परमार्थ से श्रुत केवली है सो मनन करने योग्य तत्त्व है । इसी को यथार्थ जानने से हम अनादि विभ्रम से अपनी रक्षा करने मे समर्थ हो सकते है)।

इसी प्रकार गाथा १०५, १५४, १७२, १७७, १८१, १९३, २२०, २९२, ३०६, ३०७ आदि ग्रन्थोक्त अनेक गाथाओ का गूढ अर्थ सरलतम भाषा मे दृष्टान्तो द्वारा व व्याख्या द्वारा स्पष्ट किया है । इन सबका विवेचन करने मे लेख एक पुस्तक का रूप ले लेगा। अत यहाँ मात्र नमूने के तौर पर ऊपर मात्र दिग्दर्शन कराया गया है । जिज्ञासुजन उनके द्वारा लिखित उक्त टीका का अध्ययनकर उसकी विशेषताओ को जान सकते हैं ।

इस प्रकार उक्त ग्रथ का सम्पादन करने मे पं पन्नालाल जी साहित्याचार्य पूर्ण सफल हुए है । इसके सम्पादित रूप से वर्णीजी की विद्वत्ता के दर्शन तो होते ही है साथ ही सम्पादक पं. पन्नालाल जी की भी विद्वत्ता तथा श्रम के भी दर्शन होते है ।

अधिष्ठाता, श्री महावीर दि जैन उदासीन आश्रम,
कुण्डलपुर (दमोह) म. प्र.

आराधनासार : एक समीक्षा

सिद्धान्ताचार्य पं. बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री,

ग्रन्थकार :

प्राकृत–गाथाबद्ध यह आराधनासार ग्रथ उन देवसेन के द्वारा रचा गया है, जिन्होने धारा मे निवास करते हुये पूर्वाचार्यों की गाथाओ को एकत्रित कर माघ शुक्ला दशमी विक्रम सवत् ९९० मे अपने ऐतिहासिक ग्रथ दर्शनसार को रचकर समाप्त किया है[1]।

इन दोनो ग्रथो के रचयिता एक ही देवसेन है यह इन दोनो ग्रथगत आद्य मगलगाथा से स्पष्ट है, यथा—

विमलयर–गुण–समिद्धं सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा ।
णामिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासार ॥
आराधनासार १

पणमिय वीरजिणिंद सुरसेणणमसियं विमलणाणं ।
वोच्छं दंसणसारं जहकहियं पुव्वसूरीहिं ॥
दर्शनसार १

इन दोनो मगलगाथाओ का शव्दविन्यास और रचनापद्धति सर्वथा समान है—आराधना मे जहा सुरसेन-वन्दित महावीर को नमस्कार करके आराधनासार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है वहा दर्शनसार मे भी सुरसेन नमस्कृत उन्ही वीर जिनेन्द्र (महावीर) को नमस्कार करके दर्शनसार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है ।

उपर्युक्त दोनो गाथाओ मे प्रयुक्त 'सुरसेन' इस पर्यायवाची शव्द के द्वारा ग्रथकार ने प्रकारान्तर से अपने नाम (देवसेन) की भी सूचना कर दी हैं ।

दोनो ही ग्रन्थो के अन्त मे (आ. सा. गाथा ११५ व द सा गा. ४९) ग्रथकार ने स्पष्टतया अपने देवसेन नाम का उल्लेख कर दिया है ।

१— पुव्वायरियकयाइ गाहाइं सचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसतेण ॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥
द. सा. ४९-५०

इस समानता को देखते हुए इन दोनों ग्रन्थो के रचयिता एक ही देवसेन है इसमे सन्देह के लिये कुछ स्थान नही रहता ।

उनके द्वारा विरचित ग्रन्थो मे एक 'भावसंग्रह' भी है । उसके अन्त मे उन्होंने विमलसेन गणधर (गणी) के नाम से अपने गुरु का भी उल्लेख किया है[1]

आश्चर्य नही जो उन्होने आराधनासार मे महावीर के विशेषणभूत 'विमलयर गुण समिद्ध' पद मे उपयुक्त 'विमल' शब्द से और दर्शनसार मे उन वीर जिनेन्द्र के विशेषणभूत 'विमलणाणं' पद मे उपयुक्त उस 'विमल' शब्द से अप्रगट रूप मे गुरु का भी स्मरण किया हो ।

देवसेन विरचित तच्चसार (तत्त्वसार) की रचना मे भी यही पद्धति देखी जाती है वहा आद्य मगलगाथा मे सिद्धो को नमस्कार करके 'तच्चसार' के कहने की प्रतिज्ञा की गई है । वहा सिद्धों के विशेषणभूत 'णिम्मलसुवि सुद्धसब्भावे' पद मे 'निर्मल' इस पर्याय शब्द से अस्पष्ट रूप से कदाचित् अपने उन गुरु विमलसेन का स्मरण किया जा सकता है । अन्तिम गाथा (७४) मे अपने 'देवसेन' नाम का उल्लेख भी स्पष्टतया आराधनासार के समान कर दिया गया है ।

इसके अतिरिक्त उन देवसेन के जीवनवृत्त से सम्बन्धित अन्य कुछ परिचय प्राप्त नही है ।

ग्रंथ का प्रमाण व विषय

ग्रन्थगत समस्त गाथाओ की सख्या ११५ है । जैसा कि उपर्युक्त मंगलगाथाओ से स्पष्ट है ग्रथकर्ता ने मगलपूर्वक आराधनासार के कहने की प्रतिज्ञा की है । तदनुसार उन्होने आगे दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप इन चार के समुदाय को आराधनासार कहा है व उसे व्यवहार और परमार्थ (निश्चय) के आधार से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया है । पश्चात् अवसरप्राप्त उस व्यवहार आराधनास्वरूप उन सम्यग्दर्शनादि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उन्होने आगमानुसार पदार्थों के श्रद्धान को सम्यक्त्व विषयक आराधना सूत्रार्थ के चिन्तन या पदार्थो के अधिगम को सम्यग्ज्ञान की आराधना, परिणामविशुद्धिपूर्वक तेरह प्रकार के साध्वाचार के अनुष्ठान के साथ इन्द्रिय व प्राणि--विषयक दो प्रकार के असयम के त्याग को चारित्र की आराधना तथा यथाशक्ति बारह प्रकार के तपश्चरण मे उद्यत रहने को तपविषयक आराधना कहा है ।

गाथा १–७

तत्पश्चात् परमार्थ आराधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि निश्चयनय के अनुसार ससार परिभ्रमण के कारणभूत सब प्रकार के आलम्बन से रहित व समस्त विकल्पो से निर्मुक्त जो कर्म-कालिमा-से रहित सम्यग्दर्शनादि चतुष्टय स्वरूप निर्मल आत्मा है वही परमार्थ आराधना है । इसीलिये आराधक शुद्ध आत्म-स्वभाव का श्रद्धान करता है (सम्यक्त्व) अपनी आत्मा के आश्रय से उसी आत्मा को जानता है (सम्यग्ज्ञान), और इन्द्रियविषयों की ओर से विमुख होकर उसी आत्मा का अनुष्ठान करता है (सम्यकचरित्र) । यही परमार्थ आरा-

---

१– सिहिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेनो त्ति ।
अबुहजण बोहणट्ठं तेणेवं विरइयं सुत्तं ।।—गाथा ७०१

धना है। इसी के लिये क्षपक से प्रेरणा की गई है कि तू राग-द्वेष को छोडकर उन दर्शनादि चार स्वरूप शुद्ध आत्मा का आराधन कर व निश्चय से आराधन, आराधक, आराध्य और आराधनाफल इस सब को आत्मा ही समझ। पर्यायार्थिक दृष्टि से जो चार प्रकार की आराधना कही गई है वह साक्षात् मोक्ष की कारणभूत इस परमार्थ आराधना की कारण है। इस प्रकार वह भी परम्परा से मोक्ष की कारण है, इत्यादि प्रकार से (कार्य-कारण विभाग को जानकर) क्षपक को मरण के समय निश्चय आराधना मे निरत होने का उपदेश दिया गया है। - गा. ८-२१

ग्रन्थकार का लक्ष्य समाधिमरण मे उद्यत क्षपक या आराधक को सासारिक सुख की ओर से विमुखकर उसे शुद्ध आत्मा के आराधना मे सलग्न करने का रहा है। इसी से आगे यहा (२३-२४) पूर्ववद्ध कर्मों के क्षय के कारणभूत व क्षपक की योग्यता के परिचायक इन सात लिंगो (हेतुओ) का विशद विवेचन किया गया है—१ अर्हं (सन्यास के योग्य) गा. २४-२९, २ सगत्याग (३०-३३), ३ कपायसल्लेखना (३४-३९), ४परिषहजय (४०-४६) ५ उपसर्गसहन (४७-५२), ६ इन्द्रिय—विजय (५३-५७) और ७ मन प्रसरसयमन (५८-७५)।

यहा यह स्मरणीय है कि 'भगवती आराधना' मे भक्तप्रत्याख्यान के भेदभूत सविचार भक्तप्रत्याख्यान के प्रसग मे क्षपक की योग्यता के परिचायक 'अर्हं' आदि चालीस लिंगो का अन्य प्रासगिक चर्चा के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है (गा ७१-२०१०)।

प्रस्तुत आराधनासार ग्रथ मे 'भगवती—आराधना' मे प्ररूपित उन ४० लिंगो मे से सक्षेप मे उपर्युक्त सात लिंगो को ही लेकर उनका विशद विवेचन किया गया है। इससे इस आराधनासार को उस 'भगवती आराधना' का सक्षिप्त सस्करण समझना चाहिये। यह अभिप्राय ग्रन्थकार के इस वक्तव्य से भी ज्ञात होता है —

आराहणाइसारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं।
आराहियं च जेहिं ते सव्वेऽहं पवंदामि ॥—आ.सा.११३

इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहा क्षपक को उपर्युक्त सात लिंगो के स्वरूप आदि से परिचित कराकर आगे उसे शून्य ध्यान की ओर आकृष्ट किया है।

मन, वचन व काय की शुभाशुभ प्रवृत्ति मे शून्य होकर— उसे रोककर—समस्त सकल्पो से रहित होते हुए शुद्ध आत्मस्वभाव मे लीन होना, इसी का नाम शून्य ध्यान है। इस ध्यान मे ध्यान, ध्येय, ध्याता, चिन्ता और धारणा आदि का कुछ भी विकल्प नही रहता है (७६—७८)। इसे ही निर्विकल्पक समाधि समझना चाहिये।

ध्यान रहे कि ज्ञानार्णवादि कुछ पीछे के ध्यान विषयक ग्रन्थो मे[२] पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार ध्यानो का भी उल्लेख हुआ है[३]।

१— इसके लिये जयपुर से प्रकाशित 'महावीर जयन्ती स्मारिका' (१९८१) मे क्षपक का समाधिमरण शीर्षक लेख दृष्टव्य है [पृ. ३/४५-५३]।

२— इन चारो ध्यानो के नाम मात्रका उल्लेख योगीन्दु ई. ६ठी शताब्दि प्रणीत योगसार मे इस प्रकार किया गया है—

जो पिंडत्थु पयत्थु बुह रूवत्थु वि जिणउत्तु।
रूवातीतु मुणेहि लहु जिमि परू होहि पवित्तु ॥—यो.सा.९८

३— ज्ञानार्णव (जंन सं सं संघ, सोलापुर) १८७७—२१११

प्रस्तुत आराधनासार मे जिसे शून्य ध्यान कहा गया है उसे 'रूपातीत' ध्यान का नामान्तर समझना चाहिये ।

पद्मसिंह मुनि विरचित (विक्रम संवत् १०८६) णाणसार (ज्ञानसार) मे उपर्युक्त चार ध्यानो मे प्रथम तीन का ही नामनिर्देशपूर्वक उल्लेख किया गया है । (गा १८-२८) । वहा चौथे रूपातीत ध्यान का नामनिर्देश नही किया गया है। फिर भी वहा यह कहा गया है कि सालम्ब ध्यान को छोड़कर तत्पश्चात् निरालम्ब ध्यान का अभ्यास करना चाहिये । यह कहते हुए उन्होंने वहा शून्य ध्यान के रूप मे उस निरालम्ब ध्यान को विशद किया है। (३७-४५) ।

इसी शून्य ध्यान का उल्लेख आगे ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे रूपातीत नाम से हुआ है[१] । सम्भव है इसके पूर्व उक्त पिण्डस्थादि चार ध्यान यथेष्टरूप मे प्रसिद्धि न पा सके हो ।

आराधनासार के कर्ता ने आगे क्षपक को स्वीकृत समाधि मे स्थिर रहने के लिये शरीर, मन व व्याधि आदि को आत्मा से भिन्न बतलाते हुए व्याधिजनित वेदना आदि को समताभाव से सहन करने का विविध प्रकार से उपदेश दिया है ।

अन्त मे उन्होने जिन मुनिवरो ने आराधनासार का उपदेश दिया है तथा जिन्होने उसका आराधन किया है, उनकी वन्दना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि मैं न तो कवि हू और न छन्दशास्त्र को भी जानता हूं, मैंने तो निजभावना के निमित्त आराधनासार को रचा है । यदि तत्त्व से अनभिज्ञ रहने के कारण मुझ देवसेन के द्वारा इसमे कुछ प्रवचन के विरुद्ध कहा गया हो तो उसको मुनीन्द्रजन शुद्ध कर लें (११३-१५) ।

संस्कृत टीका

प्रस्तुत आराधनासार के ऊपर हेमकीर्ति के गुरुभाई रत्नकीर्ति ने सस्कृत मे एक विशद टीका लिखी है । रत्नकीर्ति का समय प्राय. विक्रम की १५वी शताब्दि का अन्त या १६वी शताब्दि का प्रारम्भ प्रतीत होता है । वे क्षेमकीर्ति के शिष्य रहे है[२] ।

टीकाकार रत्नकीर्ति आगम एवं इतर साहित्य के गम्भीर विद्वान् रहे है । यह उनके द्वारा अपनी इस टीका मे अनेक प्राचीन व अर्वाचीन ग्रन्थो से उद्धृत पद्यों से स्पष्ट है।इस टीका मे उन्होने आ.कुन्दकुन्द विरचित समयसार, वट्टकेराचार्य विरचित मूलाचार, आचार्य समन्तभद्र विरचित रत्नकरण्डक, पूज्यपाद विरचित समाधितत्र व इष्टो-पदेश, योगीन्दु देव विरचित परमात्मप्रकाश, गुणभद्र विरचित आत्मानुशासन, अमृतचन्द्र सूरि विरचित समयसार-कलश, अमितगति (द्वितीय) विरचित द्वात्रिंशतिका, वीरनन्दी विरचित चन्द्रप्रभचरित, शुभचन्द्र विरचित ज्ञानार्णव, वादिराजमुनि विरचित एकीभाव स्तोत्र और पद्मनन्दी विरचित पञ्चविंशति, इत्यादि ग्रंथो से प्रसगानुरूप अनेक

१- विशेष जिज्ञासुओं को इसके लिये ध्यानशतक (वीर सेवामन्दिर, दिल्ली) की प्रस्तावना पृ.१८-२५ और ज्ञानार्णव की प्रस्तावना पृ. ३२-३४ देखना चाहिये ।

२- देखिये टीकाकार की प्रशस्ति तथा 'भट्टारक सम्प्रदाय' (जैन स सं. संघ, सोलापुर) पृ. २२६-२७ व २४२, लेखांक ५८६, प्रशस्ति श्लोक ५५ मे 'क्षेमकीर्ति' के स्थान मे सम्भवतः 'क्षेमकीर्तेः' पाठ रहा है, उसके विना सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता ।

पद्यो को लेकर उद्धृत किया है। इनमे समय की दृष्टि से पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका ग्रन्थ सबसे पीछे का है,जिसका रचनाकाल प्राय· विक्रम की १२वी शताब्दि है। प्रकृत टीका मे इससे लगभग१५-२० पद्य लेकर उद्धृत किये गये हैं।

टीकाकार ने अपनी इस टीका मे मूल ग्रन्थकार के अभिप्राय को बहुत कुछ स्पष्ट करते हुए पदच्छेदपूर्वक शब्दार्थ को भी स्पष्ट कर दिया है। इससे यह टीका साधारण सस्कृत जानने वालो के लिये भी उपयोगी हो गई है। इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, टीकाकार ने अपने से पूर्वकालीन साहित्य का गम्भीर अध्ययन करके उसके आश्रय से ग्रथगत प्रत्येक गाथा के अर्थ व भाव को अभिव्यक्त करते हुए उसे विशद व विस्तीर्ण किया है इससे वह विद्वानो के लिये भी उपयोगी हो गई है।

इस टीका के साथ मूलग्रन्थ पूर्व मे (वि. स १९७३) मा दि. जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी टीका :

उपर्युक्त सस्करण के पश्चात् उसका एक सस्करण 'शान्तिवीर दि जैन सस्थान, श्री महावीरजी' से प्रकाशित हुआ है (वि स २०२८)। इसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान् प पन्नालालजी साहित्याचार्य है। इसमे पण्डित जी के द्वारा विधिवत् किया गया हिन्दी अनुवाद भी समाविष्ट है। साहित्याचार्य जी साहित्य के अधिकारी विद्वान् होने के साथ सिद्धान्त के भी मर्मज्ञ हैं। इससे उनका यह हिन्दी अनुवाद ग्रन्थगत गाथाओ के हार्दको तो स्पष्ट करता ही है, साथ ही उन्होने पूर्वोक्त सस्कृत टीका के आधार से प्रसगप्राप्त विषय का विशदीकरण भी अच्छा कर दिया है। सस्कृत टीका मे यथाप्रसग जो ग्रन्थान्तरो से प्रचुर पद्य उद्धृत किये गये हैं उन सबके अर्थ को स्पष्ट करते हुए मूल ग्रथ मे (गाथा ४९-५१) जो अचेतन, तिर्यंच, मनुष्य और देवो के द्वारा किये गये उपसर्ग के जीतने वाले शिवभूति[1], सुकुमाल, सुकोशल,गुरुदत्त,पाच पाण्डव, गजकुमार, श्रीदत्त और सुवर्णभद्र[2] इनके उदाहरण दिये गये है। उनके कथानको को भी हिन्दी अनुवाद मे सस्कृत टीका के अनुसार यथास्थान दे दिया गया है। इस प्रकार सस्कृतटीका के अन्तर्गत सभी विषय को अनुवादक ने स्पष्ट कर दिया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्रस्तावना के रूप मे पण्डितजी ने जिन प्रतियो के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन किया है। उनका परिचय कराते हुए सक्षेप मे मूल ग्रन्थकार और सस्कृत टीकाकार का भी परिचय करा दिया है। साथ ही सस्कृत टीका मे जो ग्रंथान्तरो से श्लोक आदि उद्धृत किये गये हैं उनकी अनुक्रमणिका भी दे दी गई है। इसके अतिरिक्त ग्रथ मे प्रतिपादित विषय का भी प्रस्तावना मे परिचय करा दिया गया है।

इस प्रकार से प्रस्तुत आराधनासार का यह सस्करण विद्वानो, स्वाध्यायार्थियो और शोधार्थियो सभी के लिये उपयोगी बन गया है। सस्कृत टीका मे जिन गाथाओ और श्लोको आदि को उद्धृत किया गया है उनमे से जिन्हे ग्रन्थान्तरो मे खोजा जा सका है, उनका उल्लेख यद्यपि पण्डित जी ने यथास्थान कर दिया है, फिर भी

१- भावप्राभृत (गाथा ५३) मे भावश्रमण के रूप मे एक उदाहरण शिवभूति का दिया गया है। उनसे प्रस्तुत आराधनासार में उदाहृत ये शिवभूति भिन्न प्रतीत होते हैं।

२- सुवर्णभद्र का कथानक सम्भवतः संस्कृत टीकाकार को भी उपलब्ध नहीं हुआ।

उनका सकेत यदि उस अनुक्रमणिका में उन-उन पद्यों के साथ भी कर दिया गया होता तथा परिशिष्ट में यदि विशिष्ट शब्दो की अनुक्रमणिका भी दे दी गई होती तो इस सस्करण की और भी उपयोगिता बढ जाती। शोधार्थी अधिक परिश्रम से वचने के लिये प्राय. ऐसी अनुक्रमणिकाओ की अपेक्षा किया करते हैं।

गूढार्थविवृति

इस सस्करण के परिशिष्ट मे पण्डित-प्रवर आशाधर विरचित प्रस्तुत आराधनासार की गूढार्थ विवृत्ति-गूढ पदो के अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाली टिप्पण-भी दे दी गई है। इसकी पाण्डुलिपि पण्डित जी को विलम्ब से प्राप्त हुई। इसीलिये उसे गाथाओ के साथ न देकर परिशिष्ट मे दिया गया है। इसमे वहुश्रुतशाली प. आशाधर ने कुछ दूरूह पदो के अर्थ को स्पष्ट किया है। स्मरण रहे कि प आशाधर ने शिवार्य विरचित 'भगवती आराधना' पर 'मूलाराधना दर्पण' नाम की टीका अपराजित सूरि की 'विजयोदया' टीका के आधार पर लिखी है।

यह भी ध्यातव्य है कि प. आशाधर ने श्रावक के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये है—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। इनमे साधक के लक्षण मे उन्होने कहा है कि जो मरण के समय शरीर से ममत्व को छोड़कर आहार और मन-वचन-काय की चेष्टा का परित्याग करता हुआ ध्यान की शुद्धि से आत्मशोधन करता है, वह साधक श्रावक कहलाता है[1]।

सागारधर्मामृत मे इस प्रकार आत्माराधक साधक श्रावक की प्ररूपणा के प्रसग का उपसहार करते हुए प आशाधर ने अन्त मे आराधक के उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदो को हृदयगम कर उतम आराधना का फल उसी भव मे मुक्ति की प्राप्ति, मध्यम आराधना का फल इन्द्रादि पद की प्राप्ति, और जघन्य आराधना का फल आठ भवो के भीतर मुक्ति की प्राप्ति निर्दिष्ट किया है।

इस प्रसग मे उन्होने सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका मे 'तथा ह्यागमः' ऐसी सूचना करते हूए प्रस्तुत आराधनासार की तीन (१०७-९) गाथाओ को उद्धृत किया है। (देखिये सागार धर्मामृत के अन्तिम आठवें अध्याय मे ११०वा श्लोक)।

इस सबका निष्कर्ष यह है कि प. पन्नालालजी साहित्यचार्य के द्वारा अनुवादित और सम्पादित आराधनासार का प्रस्तुत सस्करण बहुत उपयोगी रहा है। किन्तु इस उपयोगी संस्करण का जैसा मुद्रण और प्रकाशन होना चाहिये था वैसा वह नही हुआ है। अशुद्धियाँ भी अधिक रही है।

द्वारा सिद्धान्ताचार्य पं. बंशीधर जी शास्त्री, व्याकरणाचार्य,
बीना (सागर), म. प्र.

---

१ सागारधर्मामृत ८-१.

पं. पन्नालाल जी द्वारा सम्पादित-तत्त्वार्थसार :एक अनुशीलन

महामहोपाध्याय पं. नरेन्द्रकुमार न्यायतीर्थ, शास्त्री.

तत्त्वार्थ आ. अमृतचन्द्र सूरि का महान् ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे उन्होंने उमास्वामी के द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र के समान ही सात तत्त्वो का प्रतिपादन नौ अधिकारो में किया है। विषय वस्तु का प्रतिपादन संस्कृत श्लोको के द्वारा किया गया है। प्रथमाधिकार मे तत्त्वार्थसार को मोक्ष मार्ग का प्रकाश करने वाला बतलाया गया है क्योकि इसमे युक्ति और आगम से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चरित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। जीवादि तत्त्वो का क्रमशः प्रतिपादन करते हुए अन्तिम अधिकार मे सात तत्त्वो को जानकर मोक्ष मार्ग का आश्रय लेने का संकेत दिया गया है। ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलेवर७१८ श्लोक प्रमाण है। द्वितीय अधिकार से अष्टम अधिकार तक क्रमश जीवादि सात तत्त्वो का प्ररूपण किया गया है।

प कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने अपने प्राक्कथन मे लिखा है "तत्त्वार्थसार को हमने सर्वप्रथम निर्णय-सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित प्रथम गुच्छक मे ही देखा था। उसके पश्चात् सन् १६१६ मे पं वंशीधर जी के अनुवाद के साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था से उसका प्रकाशन हुआ। आधी शताब्दी के बाद पं पन्नालाल जी के हिन्दी अनुवाद के साथ श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी से उसका प्रकाशन हो रहा है। श्रीमान् प पन्नालाल जी एक सिद्धहस्त अनुवादक हैं। उन्होने जैन पुराणों के साथ अनेक सस्कृत काव्यो का अनुवाद भी किया है। प जी ने इस अनुवाद के प्रसग मे लिखा है कि यद्यपि इस संग्रह मे परम्परा से कुछ पाठ अशुद्ध हो गये है तथापि उन्हे राजवार्तिकादि ग्रन्थो के तुलनात्मक अध्ययन से ठीक कर लिया गया है। प जी अनुवाद की धुन मे यह नही भूलते कि जो कुछ लिखा गया है, उसका अनुवाद करना ही यथेष्ट है किन्तु विभिन्न पाण्डुलिपियो और पुस्तको के आधार पर उनके पाठो का शुद्धिकरण अधिक इष्ट है और उन्होंने बडी बारीकी से उसका तुलनात्मक निरीक्षण कर शुद्ध किया है। प जी को मूलानुगामी अनुवाद ही अधिक पसन्द है अत उन्होंने वही किया है। जहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिये विस्तार की आवश्यकता प्रतीत हुयी वहा गोमट्टसार,सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थो से सार लेकर भावार्थ मे उसे सग्रहीत किया है।"

मूल श्लोक मे जिस विषय-वस्तु का स्पष्टीकरण नही हो सका है उसे भावार्थ मे उन्होंने बड़ी चतुराई से स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ, प्रथमाधिकार मे-श्रुतज्ञान का स्वरूप व भेद प्रदर्शक श्लोक देखें—

मतिपूर्वं श्रुत प्रोक्त मविस्पष्टार्थतर्कणम् ।
तत्पर्यायादिभेदेन व्यासाद्विंशतिधा भवेत् ।।२४।।

इस श्लोक के भावार्थ मे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मतिज्ञान पूर्वक होती है। श्रुतज्ञान मे इन्द्रिय और मन का अवलम्बन रहता है, इसीलिये परोक्ष-प्रमाण कहलाता है। इसमे पदार्थ की तर्कणा प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह नही होती। क्रमिक वृद्धि की अपेक्षा इसके पर्याय, पर्याय-समास, अक्षर, अक्षर-समास, पद, पद-समास, संघात, सघात-समास,

प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिक-समास, अनुयोग, अनुयोग-समास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत-समास, प्राभृत, प्राभृत-समास, वस्तु, वस्तु-समास, पूर्व, पूर्व-समास, इस प्रकार २० भेद होते है। आदिरूप मे भेदो का स्पष्टीकरण करते हुए सभी की परिभाषाएं हिन्दी-टीका मे स्पष्ट की हैं। इन २० भेदो के अन्य जो भी उपभेद हैं, उनका भी नाम निर्देश टीका मे किया गया है।

इस प्रकार पं. जी ने हिन्दी टीका मे अपने गहन अध्ययन का पूर्णरूपेण उपयोग कर प्रस्तुत ग्रन्थ को सर्व-साधारण के लिये पठनीय एव मननीय बना दिया है।

सप्तमाधिकार मे ५८ वे श्लोक के भावार्थ मे साधुओ के भेदो का विस्तार-पूर्वक वर्णन करते हुए आपने अपनी साधु-विषयक श्रद्धा की ही पुष्टि की है। जन-सामान्य मुनियो के सबध मे केवल इतना ही जानता है कि पंच-परमेष्ठियो मे आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन प्रकार के साधु ही होते है, किन्तु पं. जी ने तत्त्वार्थ सूत्र मे वर्णित 'पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातकाः निर्ग्रन्था।' सूत्रानुसार प्रत्येक भेद की स्पष्ट परिभाषा हिन्दी भावार्थ मे देकर सर्व-साधारण को मुनि विषयक विशेष जानकारी दे दी है।

शुक्ल ध्यान :

इसी प्रकार का वर्णन भी उन्होने सप्तमाधिकार के श्लोक नं. ५४ के भावार्थ मे बहुत ही स्पष्टरूप से किया है जो बोधगम्य एव उपादेय है।

तत्त्वार्थसार के प्रारभ मे पं. जी ने खोज पूर्ण सुचिन्तित एवं उपयोगी प्रस्तावना देकर आचार्यो के विषय-वर्णन को स्पष्ट किया है। किस आचार्य का किस ग्रन्थ रचना पर प्रकाश पडता है, यह भी उन्होने दर्शाया है। ग्रन्थकर्त्ता श्री आ. अमृतचन्द्र सूरि का जीवन परिचय भी शोध खोज के आधार पर प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है। परिशिष्ट मे श्लोकानुक्रमणिका के बाद लक्षणकोष दिया गया है, जिससे किस पदार्थ का लक्षण कहाँ है, इसे पाठक अनायास खोज सकते है। प्रारंभ मे विस्तृत विषय सूची दी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी की ओर से हुआ है। इतना सब करने के बाद भी पं. जी ने अपनी अल्पज्ञता एव त्रुटियो के प्रति क्षमा-प्रार्थना की है, जो निश्चय ही उनकी महत्ता का परिचायक है।

जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापुर (महाराष्ट्र)

▣

पं. पन्नालालजी द्वारा सम्पादित-"विक्रान्तकौरव–नाटकम्"

डॉ. कन्छेदीलाल जैन, प्राध्यापक.

'विक्रान्त कौरव' नामक संस्कृत नाटक दि. जैन धर्मानुयायी महाकवि हस्तिमल्ल द्वारा लिखित है । दि. जैन कथानकों को आधार बनाकर सस्कृत मे केवल इनके ही नाटक उपलब्ध हैं । दि. जैन परीक्षालयो के शास्त्री के पाठ्यक्रम मे यह नाटक निर्धारित था, इसलिए जैन सस्कृत महाविद्यालयो मे इसका पठन-पाठन होता था । विक्रान्त कौरव नाटक माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला द्वारा सम्वत् १९७२ मे प्रकाशित हुआ था । उसमे हिन्दी टीका नही थी और मुद्रण सबधी अशुद्धियाँ होने के कारण अनेक स्थलो पर अर्थ की सगति नही बैठती थी ।

श्री प पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने उक्त नाटक का हिन्दी अनुवाद किया । अनुवाद सहित यह नाटक चौखम्बा सस्कृत सीरिज, वाराणसी द्वारा सन् १९६९ मे प्रकाशित हुआ । यद्यपि मुद्रण सबधी कुछ अशुद्धियाँ इसमे भी रह गयी हैं ।

नाटक के प्रारम्भ मे आदरणीय पडित जी द्वारा लिखित २३ पृष्ठ की प्रस्तावना है । इसके अनन्तर 'दश-रूपक' के आधार पर नाटक के पारिभाषिक शब्दो के लक्षण दिये गये हैं। यह नाटक लगभग २८० पृष्ठो मे मुद्रितहै।

हिन्दी मे अनुवाद सहित, इस नाटक के प्रकाशित हो जाने से न केवल अध्ययन करने वाले छात्रों को सुविधा हो गई है प्रत्युत अध्यापन करने वाले शिक्षको को भी सुविधा हो गई है । अनुवाद की उनकी वही शैली है जो अन्य पुराण आदि के अनुवाद मे मौजूद है ।

प्रस्तावना मे मूल लेखक हस्तिमल्ल के समय, उनकी रचनाओ, उनकी जीवनी, निवास-स्थान आदि पर संक्षेप मे प्रकाश डाला गया है । उसका आधार पूर्व मे प्रकाशित नाटको की भूमिका का आलेख है । प्रस्तावना मे हस्तिमल्ल के समय को १४ वी शताब्दी का बताया गया है । मैंने उनके नाटको पर शोध-कार्य किया है, फलस्वरूप मुझे इस सबध मे अधिक अध्ययन व छानबीन करना पड़ी । मैंने उनका समय तेरहवी शती माना है । इसकी पुष्टि मे अनेक प्रमाण भी हैं । विशेष विवरण का औचित्य यहाँ नही हैं । जिज्ञासुजन "रूपककार हस्तिमल्ल : एक समीक्षात्मक अध्ययन" का अवलोकन कर सकते हैं । यह ग्रन्थ जैन शास्त्र एवं अहिंसा-शोध-सस्थान, वैशाली (बिहार) से प्रकाशित हुआ है ।

रूपककार हस्तिमल्ल सस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड भाषा के विद्वान् थे । उनकी प्रतिभा संस्कृत नाटको के प्रणयन मे प्रस्फुटित हुयी है । उन्होने दि जैन शास्त्रो के आधार पर सस्कृत मे छह नाटक उदयनराज काव्य, श्रीपुराण, प्रतिष्ठा विधान एव कन्नड मे आदिपुराण की रचना की थी ।

'विक्रान्त कौरव नाटक' छह अको का नाटक है । इसमे वाराणसी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना द्वारा स्वयवर मे कौरवेश्वर जयकुमार को वरण किये जाने का वर्णन है । स्वयवर मे सुलोचना द्वारा जयकुमार के

गले मे वरमाला पहिनाए जाने के उपरात सुलोचना का जयकुमार के साथ कौतुकवन्ध होना था, परन्तु चक्रवर्ती राजा भरत का पुत्र अर्ककीर्ति तथा उसके पक्ष मे अन्य राजा, इस स्वयंवर मे जयकुमार के वरण किये जाने से ईर्ष्यालु हो उठे और युद्ध करने के लिये तत्पर हो गये। युद्ध में जयकुमार की विजय हुई। अर्ककीर्ति को बांध लिया गया। अकम्पन ने छोटी पुत्री रत्नमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ कर दिया और बाद मे जयकुमार के साथ सुलोचना का विवाह सम्पन्न हुआ।

इस नाटक की मूलकथा को आदि पुराण से लेकर नाटक के अनुरूप कथा-वस्तु को पल्लवित किया गया है। आदिपुराण के पर्व ४४ मे ४१वा श्लोक तथा विक्रान्त कौरव नाटक के चौथे अंक का छन्द क्रमाक ४४ एक ही है।

पुरस्सरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विशा प्रभो।
प्रायो दुःसाध्य-ससिद्धौ श्लाघते जयमेव सः॥

युद्ध के प्रसग मे जब जयकुमार के हृदय का वासनात्मक प्रेम जल गया और यह स्पष्ट हो गया कि वह केवल कामी नही, शूरवीर भी है तब काम पुरुषार्थ का वास्तविक मार्ग प्रशस्त हुआ। इसी प्रकार अन्याय पर उतारू चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति की पराजय एवं बन्धन द्वारा अपमान दिखाकर आदर्श एव न्याय की रक्षा की गई है। राजपुत्र के प्रभाव को ध्यान मे रखकर राजा अकम्पन ने अपनी छोटी पुत्री रत्नमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ पहले कर दिया एव स्वयंवर मे वरण किये गये जयकुमार एव ज्येष्ठा पुत्री सुलोचना का विवाह बाद मे सम्पन्न हुआ, यह बात लोक विरुद्ध है। परिस्थति की विवशता ही इस घटना मे कारण हो सकती है। इस प्रकार इसमे आदर्श और यथार्थ का समन्वय किया गया है।

स्वयंवर प्रथा का आरम्भ इसी सुलोचना के स्वयंवर से माना जाता है।

संस्कृत साहित्य मे अनेक प्रशस्त नाटककारो के बीच हस्तिमल्ल, और अनेक सस्कृत नाटको के मध्य उनके नाटक स्मरणीय रहेगे। सस्कृत के सशक्त नाटककार दशमी शताब्दी के पूर्व हुए हैं। मुरारि के बाद संस्कृत नाटक कमोवेश पाडित्य की प्रवृत्ति से आक्रान्त दिखाई पडते हैं। उसका कारण यह है कि सस्कृत का कला-पक्ष सबल होता जा रहा था, जो नाटक की अपेक्षा महाकाव्य के अनुकूल होता है। जयदेव का प्रसन्नराघव तेरहवी शताब्दी का माना जाता है, उसमे भी नाटकीयत्व की अपेक्षा कवित्व की सत्ता विशेष है। इस दृष्टि से तेरहवी शती का यह सशक्त नाटककार सस्कृत साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

संस्कृत नाटककारो ने अपने नाटको के लिए कथावस्तु का चुनाव रामायण, महाभारत तथा लौकिक कथाओं से किया है। हस्तिमल्ल ने अपने नाटकों की कथावस्तु को दिगम्बर जैनधर्म के पुराणो से चुना है, जिनको आधार बनाकर नाटक लिखने की ओर किसी का ध्यान नही था। इस दृष्टि से हस्तिमल्ल का जैन समाज के ऊपर विशेष ऋण हैं।

अश्वघोष ने 'शारिपुत्र प्रकरण' लिखकर नाटक निर्माण हेतु बौद्ध धर्म की कथाओ को आधार बनाने का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया था। सरस तथा उदात्त कथाएं चाहे लौकिक हो, चाहे किसी सप्रदाय विशेष के ग्रन्थों की हो, उनके द्वारा काव्य रचना यदि अपना रूप सजा सकती है तो उनका उपयोग करने वाला भी एक नवीन मार्ग का अन्वेषक है। शूद्रक का महत्त्व इसीलिए है क्योकि उन्होंने अपने मृच्छकटिक प्रकरण के लिए सामान्य जीवन की कथा को चुनकर नया मार्ग अपनाया था। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के लिए राजनीति के दाव-पेंचो से संवलित

कथा चुनी थी। इन्ही नवीनताओं के कारण ये नाटककार संस्कृत नाटककारो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना सके। हैं। जैन ऐतिहासिक कथाओ को आधार बनाने के कारण हस्तिमल्ल का अपना विशिष्ट स्थान है। यद्यपि इन कथाओं को आधार बनाकर नाटक लिखने के कारण हस्तिमल्ल का यश और नाम उतना व्यापक नही हो सका जितना अधिक यश वे महाभारत, रामायण या लौकिक कथाओ की कथावस्तु को चुनकर पा सकते थे। यही कारण है कि अधिकाश सस्कृत के इतिहास लेखको ने नाटककारो मे उनका नामोल्लेख भी नहीं किया, अनेक सस्कृत के विद्वान् उनका नाम और काम जानते ही नही हैं।

संस्कृत नाटककार दक्षिण देश मे नही के बराबर हुए है। दशम शताब्दी के (नाटककार) शक्तिभद्र द्वारा रचित 'आश्चर्य-चूडामणि' नाटक मे सूत्रधार के मुख से नटी ने दक्षिण देश के नाटक के अभिनय की बात सुनकर कहा था कि—यदि दक्षिण देश मे नाटक का निर्माण हुआ है तो समझो आकाश मे फूल उग आए हैं और बालू से तेल निकल आया है। इस प्रकार दक्षिण देश को नाटककारो की उत्पत्ति के लिए मरुस्थल माना जाता है। उस स्थिति मे हस्तिमल्ल का स्थान कम महत्त्व का नही है, क्योकि वे दक्षिण के ही थे। इनके नाटको की नवीनता यह है कि इन्होने स्वयवर की घटनाओ को अपने नाटको मे स्थान दिया है। नाटको से रत्नत्रय धर्म के पालन की शिक्षा प्राप्त होती है। साहित्य का मूल उद्देश्य भी काता-सम्मित उपदेश देना है। वह विक्रान्त कौरवादि नाटको में है।

जहाँ तक नाट्य कला का सबध है इस दृष्टि से हस्तिमल्ल के नाटक भी सफल नाटक हैं। भास और कालिदास के नाटक सरलता, सरसता के कारण सस्कृत साहित्य मे अपना विशेष स्थान बना सके हैं। हर्षवर्धन मे भी हम सरलता एव सरसता पाते है, उसके बाद सरलता का वह रूप नही दिखाई देता है। हस्तिमल्ल, हर्षवर्धन के बहुत बाद हुए हैं किंतु उनकी सुभद्रा नाटिका और अजना पवनंजय नाटक मे सरलता, सरसता एवं उदात्त भाव-भूमि के दर्शन होते हैं इसीलिए पं. वाचस्पति गैरोला ने लिखा है कि—जैन साहित्य के क्षेत्र मे हस्तिमल्ल का अनोखा व्यक्तित्व दृश्य काव्यो के प्रणयन मे प्रगट हुआ है। उन्होने तेरहवी शती का सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार हस्तिमल्ल को माना हैं।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि नाटकीय शैली, भाव, भाषा, छन्द, अलकार, चरित्र-चित्रण, कथावस्तु, कथोपकथन आदि सभी दृष्टियो से परीक्षण करने पर हस्तिमल्ल के नाटक खरे उतरते हैं। उनके नाटको का कवित्व, कल्पना की नवीन उद्भावनाए और सुन्दर सूक्तिया तो सहृदयो को अवश्य आकर्षित करेंगी।

उत्प्रेक्षा अलकार की उद्भावना देखिए :

> ख्यात पूर्वं जगति समरो भक्तृते भूपतीनाम्।
> काञ्चित् कन्यां प्रति रणमिदं तद् यशो मे प्रमार्ष्टि॥
> इत्युद्भूतात् प्रकृतिसुलभात् स्त्रीषु सापत्न्यवैरात्।
> क्वापि क्षोणी घनतमरजश्छद्मना गच्छतीव॥

विक्रान्तकौरव ४।३२

पहिले ससार मे राजाओ के युद्ध मुझ पृथ्वी के लिये होते थे, यह बात प्रसिद्ध है। अब यह युद्ध किसी सुन्दरी कन्या को पाने के लिए हो रहा है, इस कारण इस युद्ध से मेरा यश मिट रहा है। स्त्रियो मे सौतिया डाह स्वभावत. होता है, इस ईर्ष्या के कारण पृथ्वी युद्ध मे उठी हुई धूल के बहाने कही जा रही है।

प्राध्यापक–संस्कृत विभाग,
शासकीय संस्कृत महाविद्यालय,
रायपुर [म. प्र]

पन्नालाल जी द्वारा सम्पादित गद्य चिन्तामणि : एक अनुसरण

डॉ. वीरेन्द्रकुमार जैन.

किसी भी प्राचीन ग्रंथ का वह भी संस्कृत के गद्य ग्रन्थ का और उसमे भी जैन विद्या से सम्बन्धित ग्रंथ का अध्ययन-अध्यापन, टीकानुवाद आदि करना कितना कठिन कार्य है यह पंडित जी द्वारा इस ग्रंथ के लिये किये गये दैहिक, बौद्धिक, मानसिक परिश्रम से स्पष्ट है। जैन-विद्या से सम्बन्धित ग्रथ का उल्लेख इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-समाज एक व्यापारी समाज है तथा अन्य समाज को जैन-ग्रन्थो से कुछ लेना देना नही है। इसलिये जैन विद्या के ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन, टीकानुवादादि अति विरल है। पण्डित जी ने जैन विद्या के अनेक ग्रंथरत्नो का टीकानुवादादि करके जहाँ जैन विद्या को प्रकाश मे लाने का स्तुत्य प्रयास किया है वही इन ग्रन्थरत्नो को सर्वजन सुलभ भी बना दिया है। उनके विषय मे तो यह सूक्ति श्लोक सर्वथा घटित होता है :—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ।।

प्रस्तुत निबन्ध मे पण्डित जी द्वारा कृत संस्कृतमय और राष्ट्रभाषानुवाद से अलंकृत गद्यचिन्तामणि का एक अनुसरण मूलक अध्ययन प्रस्तुत किया गया जिससे उनकी साहित्यक एवं अन्य धारणाओ का ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

पण्डितजी ने सस्कृत भाषा मे निबद्ध जिन जैन महान् गद्य-पद्य कृतियो पर अपनी लेखनी, टीका-अनुवाद-टिप्पणी आदि के लिये चलाई है, उनमे गद्यचिन्तामणि विशिष्टतम है। गद्यचिन्तामणि का रसास्वादन विद्वानों को और अल्पज्ञो को समानरूप से सुलभ बनाने के लिये पडितजी ने न केवल इसका राष्ट्रभाषा हिन्दी मे अनुवाद ही किया अपितु देवभाषा सस्कृत मे भी टीका की है। भारतीयज्ञानपीठ काशी ने इस अनुपम ग्रन्थरत्न का सुन्दर प्रकाशन करके सरस्वती के भण्डार की श्रीवृद्धि की है।

टीकाद्वयालङ्कृत यह ग्रथ पंडितजी ने अपने साहित्यविद्यागुरु काशी मे स्थित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय के भूतपूर्व साहित्याध्यापक श्री मुकुन्दशास्त्री खिस्ते महोदय को समर्पित किया है। स्मरणीय है श्री खिस्ते सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय) के सेवा निवृत्त प्रमुख साहित्याध्यापक थे। पण्डित जी ने उनकी प्रशसा जिन शब्दो मे की है उनसे उनकी गुरुभक्ति का सम्यक् रूपेण परिचय मिल जाता है—यथा—सहृदय शिरोमणि, पाठन कला की अनुपम शैली के द्वारा विद्यार्थियो को वैसे ही तृप्त कर देने वाले जैसे कोई अमृत पीकर तृप्त हो जावे। पण्डित जी ने अपने गुरुवर का अपने ऊपर अनन्त उपकार माना है और अपनी श्रद्धा का यह सुमन गद्यचिन्तामणि उन्हे समर्पित किया है।

सम्पूर्ण ग्रथ का कलेवर लगभग ५०० छपे पृष्ठो मे विस्तृत है। इनमे से प्रारम्भ मे ३० पृष्ठो मे विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना तथा ४३७ पृष्ठो मे मूलग्रंथ पाठ और सस्कृत-हिन्दी-टीकानुवाद तथा लगभग २७ पृष्ठो मे अनुक्रमणिका परिशिष्ट आदि है। ग्रंथ के आदि मे स्वर्गीय डॉ० हीरालाल जैन और डॉ० ए. एन उपाध्ये जैसे महामनीषियो (प्रधान सम्पादक द्वय) के उद्गार दिये गये है।

गद्यचिन्तामणि क्या है ?

सस्कृत मे गद्य की परिभाषा 'अपाद पदसन्तानो गद्यम्' अर्थात् जिसमे छन्द जैसे चरण न हो और चाहे जितना छोटा या बड़ा स्पष्ट कथन किया जाये, उसे गद्य कहा गया है। इसी को 'गदितुयोग्य गद्यम्' भी कहा जा सकता है। गद्यचिन्तामणि के प्रारम्भ मे १५ श्लोक है और सम्पूर्ण कथावस्तु ११ लम्भो मे विभक्त है।

चिन्तामणि का अर्थ ऐसा रत्न होता है जो मनोवाञ्छित वस्तु को प्रदान कर सकता है। गद्य प्रेमियो के लिये जो अनुपम आनन्द दे सके, उसे गद्यचिन्तामणि कहना उचित है। इस ग्रथ की तुलना सस्कृत गद्य साहित्य के अनुपम गद्य ग्रथो यथा-कादम्बरी-हर्षचरित–तिलकमजरी-वासवदत्ता-यशस्तिलक चम्पू आदि से की गयी है।

गद्य चिन्तामणि मे जो जीवन्धर स्वामी की कथा निबद्ध है वह अन्य ग्रन्थो मे भी उपलब्ध है। इसका विस्तृत विवरण पडित जी ने अपनी प्रस्तावना मे दिया है। उनमे से एक है सस्कृत पद्यमय ग्रथ'क्षत्रचूडामणि'इसके रचयिता भी गद्यचिन्तामणि के लेखक श्री वादीभसिंह सूरि हैं। यह एक सूक्ति और नीति प्रधान सरल संस्कृत पद्यो मे रचित ग्रन्थ है और सस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने वालो को अत्यन्त उपयोगी है। यह ग्रंथ भी एकादश लम्भों मे विभक्त है। पण्डित जी ने मन्तव्य प्रकट किया है कि जो तेरह ग्रंथ जीवन्धर स्वामी की कथा से सम्बद्ध उपलब्ध है उनमे से कुछ ग्रथो का आधार आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण है किन्तु गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि, जीवक चिन्तामणि और जीवन्धर चम्पू का आधार कोई दूसरा ही स्रोत है। क्योकि उत्तर पुराण की घटनाओ, स्थानो, पात्रो के नाम आदि का प्रस्तुत कृति के घटनादि से वैषम्य है। पण्डित जी ने अपने मत के समर्थन मे विस्तार से जीवन्धर स्वामी की कथावस्तु का तुलनात्मक परीक्षण प्रस्तावना मे किया है। पण्डितजी ने गद्य और पद्य विधाओ की समीक्षा करते हुए उनकी प्राचीनता तथा परिमाण के आकार पर जो उद्गार प्रकट किये हैं वह दृष्टव्य हैं—
"हृदय यह स्वीकार करना चाहता है कि भाषा मे गद्य प्राचीन है और पद्य अर्वाचीन। शिशु के मुख से जब वाणी का सर्वप्रथम स्रोत फूटता है तब वह गद्य रूप मे ही फूटता हैं। पद्य का प्रवाह प्रबुद्ध होने पर जिस किसी के मुख से ही फूट पाता है सबके नही। गद्य मानव की निसर्गसिद्ध वाणी है, और पद्य कृत्रिम।

इतना होने पर भी पद्य के प्रति लोगो का जो आकर्षण है, उसका कारण है उसकी सगीतप्रियता। मनुष्य चाहे पढा हो चाहे अनपढ, सगीत की स्वरलहरी मे नियम से झूम उठता है। मनुष्य की बात जाने दो, पशु-पक्षी भी सगीत-सुधा मे विनिमग्न हो जाते हैं। वीणा की स्वरलहरी सुन छिपा हुआ सर्प बाहर आ जाता है और सस्यस्थली पालक बालिकाओ के अल्हड गीत सुन मृग चित्रलिखित से स्थिर हो जाते है। कोयल की कूक को आप बारीकी से सुनें तो पता चलेगा—कभी वह अपनी वाणी की मधुरिमा पचम स्वर से बिखेर रही है तो कभी साधारण स्वर मे ही कूक रही है। भले ही मनुष्य संगीत का नाम और स्वर रत्ती भर नही जानता हो, फिर भी सगीत सुन उसका सिर हिलने लगेगा और ताल देने के लिये कुछ नही होगा तो अपने हाथ की हथेलियाँ ही जंघाओ पर थपथपाने लगेगा।"

पडित जी गद्य पद्य के विपय मे अपना पर्यवेक्षण प्रकट करते हुए कहते है कि 'फल यह हुआ कि शारदा का सदन पद्य ग्रंथ रूप असंख्य दीपको के आलोक से जगमगाने लगा और गद्य ग्रन्य रूप दीपक उसमे निष्प्रभ हो टिमटिमाने लगे । तथापि 'गद्यं कवीना निकष वदन्ति' की सूक्ति के अनुसार विद्वानो की विद्वत्ता की परख कविता से न होकर गद्य से ही होती देखी जाती है ।

गद्य के भेदोपभेदों का वर्णन और विचार करते हुए पण्डित जी ने प्रसङ्गत लिखा है कि सस्कृत नाटको मे दीर्घसमास युक्त जो गद्याश हैं वे रसभङ्ग करते है । सस्कृत नाटको मे गद्य सरल और प्रसाद गुण युक्त होने चाहिये । इन सभी उल्लेखो से पण्डित जी की मार्मिक आलोचना की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है ।

कथा का काल और उद्देश्य :

इस कथाग्रथ के नायक का सम्बन्ध अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर के काल से है । यद्यपि वे त्रेसठ शलाका पुरुषो मे परिगणित नही है तथापि उनका घटनाबहुल श्रेष्ठ चरित्र लोगो को आकृष्ट करता है । विपुलाचल से ही कथानायक ने निर्वाण प्राप्त किया था । इसमे पुण्य और पाप के उदय से जीवो को जो जो सुख और दु ख भोगने पडते हैं, उनका जीवन्धर स्वामी की कथा के माध्यम से सुन्दर विश्लेषण है ।

टीकानुवाद कार्य में कठिनाइयाँ :—

संस्कृत ग्रन्थो की प्राचीनता के कारण टीकाकारो और सम्पादको को कई प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडता है । ऐसी ही अनेक समस्यायें टीकानुवाद करते समय पंडित जी के सामने आयी । सर्वप्रथम पडित जी ने इस बात पर दु ख प्रकट किया है कि गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ की नागरी लिपि मे लिखी हुई एक भी प्रति नही मिल सकी । जो ग्रन्य प्रतियाँ प्राप्त हुईं वे कन्नड और आध्रप्रदेश की लिपि सभवत तेलुगु मे लिखी हुई मिली । पडित जी कन्नड और तेलुगु नही जानते हैं इसलिये उनसे लाभ उठाने में स्वय असमर्थ थे । कल्पना की जा सकती है कि ऐसी परिस्थितियो मे भी उनने इस भगीरथ कार्य को सम्पन्न करके ही विराम लिया । 'न निश्चितार्थाद् विरमन्ति धीराः' पडित जी उन्ही उत्तम पुरुषो मे से है ।

इस सम्पादन-टीकानुवाद के कार्य मे उन्हे प. के भुजवली शास्त्री का पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है । क, ख, ग, प्रतियाँ उन्ही से प्राप्त हुई । 'घ' प्रति श्रवणवेलगोला से प्राप्त हुई किन्तु अति जीर्ण होने से उससे यथेष्ट लाभ नही उठाया जा सका । पडित जी ने इनके प्रति यथास्थान अपना आभार प्रदर्शन किया है ।

पडित जी श्री टी एस. कुप्पुस्वामी से उनकी टीकापद्धति के कारण प्रभावित हुए उनने उनकी पंक्तिया उद्धृत की हैं—

'अस्य काव्यपथे पदानां लालित्यं, श्राव्यः शब्द सन्निवेश , निरर्गला वाग्वैश्वरी, सुगम कथासारावगम , चित्तविस्मापिका. कल्पनाश्चेतः प्रसादजनको धर्मोपदेशो, धर्माविरुद्धा नीतयो, दुष्कर्मणो विषम-फलावाप्तिरिति विलसन्ति विशिष्टगुणा । अर्थात्—

इनके (वादीभसिंह के) काव्यपथ मे पदो की सुन्दरता, श्रवणीय शब्दो की रचना, अप्रतिहत वाणी, सरल कथासार चित्त, को आश्चर्य मे डालने वाली कल्पनायें, हृदय मे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला धर्मोपदेश, धर्म से अविरुद्ध नीतियाँ और दुष्कर्मो के फल की विषम फल प्राप्ति आदि विशिष्ट गुण सुशोभित हैं ।

पडित जी ने लिखा है कि गद्य चिन्तामणि के गद्य मे बाणभट्ट की श्रेष्ठ गद्य की कसौटी के सभी तत्त्व उपस्थित है, यथा–नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, स्पष्ट श्लेष, स्फुट रस और अक्षर की विकट-बन्धता । पडित जी काव्य की श्रेष्ठता मूलक रसानुभूति का वर्णन करते हुए लिखते हैं–'हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्राची मे सूर्योदय हो रहा है; आकाश मे रात्रि के समय असंख्य तारो का समूह और उज्ज्वल चन्द्रमा चमक रहा है, कल-कल करती हुई नदियाँ बह रही हैं, वन के हरे भरे मैदानो मे हरिणो के झुण्ड-चौकड़ियाँ भर रहे हैं, मकान के छज्जों पर बैठे कबूतरो को पकडने की घात मे बिल्ली दुबककर बैठी हुई है, पूँछ हिलाता और लीद करता हुआ घोडा हिनहिना रहा है और बिजली की कौंध से स्त्रियाँ तथा बच्चे भयभीत हो रहे हैं, पर उन सब दृश्यो मे आह्लाद कहाँ ? दर्शक के हृदय मे रस कहाँ उत्पन्न होता है ? किन्तु यही सब वस्तुयें जब किसी कवि की लेखनी रूपी तूलिका से सजाकर रख दी जाती हैं तो काव्य बन जाती हैं और श्रोताओ के हृदय मे एक अजीब सा-रस-आह्लाद उत्पन्न करने लगती है ।" इन पक्तियो मे पंडित जी का काव्यालोचक स्वरूप प्रकट हुआ है ।

पडित जी ने गद्य चिन्तामणि के गद्य को प्रकृति वर्णन के क्षेत्र मे प्रकृतिवर्णन मे प्रख्यात महाकवि भवभूति के वर्णन से श्रेष्ठतर माना है । प्रकृति के नाना रूपो का यथा—'निर्मल अन्तरिक्ष मे फैली हुई चाँदनी, रात्रि का घनघोर अन्धकार, सूर्योदय,सूर्यास्त, लहराता हुआ समुद्र,प्रात काल का शीतलमन्द-सुगन्ध समीर, पक्षियो का कलरव, हरे भरे कानन, आकाश मे छायी हुई घनघटा, दावानल और उसके बीच मे अवरुद्ध हाथियो के झुण्ड, जन जन के मानस मे आनन्द उत्पन्न कर देने वाला वसन्त, मेघवृष्टि के बाद बहता हुआ पानी का प्रवाह ग्रीष्म के रूक्ष दिन और पावस के सरस दिन–इन सबका कवि ने जितना सरस वर्णन किया है उतना हम अन्यत्र कम पाते हैं ।

गद्यचिन्तामणि की संक्षिप्त कथा :

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे हेमाङ्गद नामक देश है । राजपुरी उसकी राजधानी थी । वहाँ के राजा सत्यधर थे और उनकी पत्नी पट्टरानी विजया थी । राजा के मत्री का नाम काष्ठाङ्गार था । एक रात्रि को रानी विजया को तीन स्वप्न दिखायी दिये । १ एक विशाल अशोक वृक्ष, २. नष्ट होता हुआ वही विशाल अशोक वृक्ष, ३. उस नष्ट होते हुए अशोक वृक्ष से उत्पन्न एक छोटा अशोक वृक्ष, जिसकी आठ शाखाओ पर आठ मालायें लटक रही थी । राजा ने इन तीन स्वप्नो का फल क्रमश --१. स्वय राजा सत्यंधर २. राजा से उत्पन्न पुत्र जीवन्धर और ३. जीवन्धर की आठ पत्नियाँ बतलाया ।

राजा सत्यन्धर विषयासक्त रहता था । अवसर का लाभ उठाकर मत्री काष्ठाङ्गार ने उसे षड्यन्त्र करके मरवा डाला । मरने के पूर्व राजा ने मयूर यत्र के द्वारा आसन्नप्रसवा रानी को उड़ा दिया जो नगर के श्मशान पर आकर उतर गया । वही पर रानी ने पुत्र को जन्म दिया जो जीवन्धर कहलाया, जिसकी यह कथा है । उनका पालन पोषण उसी नगर के एक सेठ गन्धोत्कट ने किया । जिसके कई अल्पायु पुत्र हुए थे । उस दिन भी वह एक मृत पुत्र की अन्त्येष्टि करने आया था ।

जीवन्धर कुमार का जीवन घटना बहुल है । ऐसी अनेक घटनाओ मे से प्रमुख निम्न हैं—

१. एक बार एक भील राजा ने गायो का अपहरण कर लिया था। उनने उन्हें मुक्त कराया । नन्दगोप ने अपनी कन्या जीवन्धर को देनी चाही किन्तु उन्होने उसका पाणिग्रहण अपने मित्र पद्मास्य से करा दिया ।

२. उन्होने विद्याधर गरुडवेग की पुत्री गन्धर्वदत्ता को वीणावादन मे पराजित किया और विवाह किया । यही उनकी पट्टरानी थी ।

३. उन्होने एक घायल कुत्ते को णमोकर मत्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह सुदर्शन यक्ष हुआ ।

४. वे चूर्ण परीक्षा की विद्या मे निष्णात थे । उन्होने गुणमाला और सुरमन्जरी के चूर्णों की श्रेष्ठता की स्पर्धा मे गुणमाला के चूर्ण को श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया ।

५ वे सर्पविष उतारने की विद्या मे निपुण थे ।

६ धनुष-बाण के द्वारा लक्ष्य वेध मे वे निपुण थे । उन्होने चन्द्रकवेध किया था ।

७. मत्त हथियो को वश मे करने की विद्या मे वे चतुर थे ।

८. उन्होने अपने जन्मजात शत्रु काष्ठाङ्गार का वध करके अपना पैतृक राज्य प्राप्त किया था ।

९. अन्त मे जैनेश्वरी दीक्षा धारण की और मोक्ष प्राप्त किया । उनकी आठो पत्नियाँ भी आर्यिकाये हो गयी थी ।

पात्रसूची :

पुरुष पात्र	स्त्री पात्र
१. महाराज सत्यन्धर (जीवन्धर के पिता)	१. विजया रानी (जीवन्धर की माता)
	२. गन्धर्वदत्ता (,, की पत्नी,पट्टरानी)
२ काष्ठाङ्गार (राजा सत्यन्धर का मत्री, खलनायक)	३ गुणमाला ,, अन्य रानी
	४. सुरमञ्जरी ,,
३. जीवन्धर (कथानायक)	५. पद्मा ,,
	६. क्षेमश्री ,,
४. गन्धोत्कट (राजपुरी का सेठ जीवन्धर का रक्षक–पालक)	७. कनकमाला ,,
	८ विमला ,,
५. नन्दाढ्य (जीवन्धर का माना हुआ भाई)	९ लक्ष्मणा ,,
	१०. गोविन्दा (नन्दाढय की पत्नी)

गद्यचिन्तामणि का रसपरिपाक

गद्यचिन्तामणि मे वत्सल रस सहित सभी दशो रसो का परिपाक देखने को मिलता है । कथानायक जीवन्धर कुमार की आठ सुन्दर वधुयें हैं। उनके साथ पाणिग्रहण के अवसर पर शृङ्गार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है किन्तु अश्लीलता छूने नही पायी है । नवम लम्भ मे जर्जरकाय वृद्ध के रूप मे जब जीवन्धर कुमार

सुरमंजरी के घर पहुँचकर पूंछने पर कहते हैं कि 'कुमारी तीर्थ की प्राप्ति के लिये घूम रहा हूँ' 'तो हास्य रस की' सृष्टि होती है । विजया माता के चित्रण मे तथा माताओं के अभाव मे क्षुधा से पीडित दुधमुहे बछडे जब गोपियो के स्तनो पर मुँह लगा देते हैं तो द्वितीय लम्भ मे करुण रस की सृष्टि होती है । काष्ठागार की क्रूरता मे रौद्र रस जीवन्धर के युद्धो मे उत्साह और विजय मे वीर रस की सृष्टि होती है । अशनिघोष हाथी के प्रसङ्ग मे भयानक रस, श्मशान वर्णनो मे वीभत्स रस, चन्द्रकवेध के प्रसङ्ग मे अद्‌भुत रस, वनपाल के द्वारा वानरी के हाथ से तालफल छीन लेने के प्रसङ्ग मे निर्वेद और वैराग्य के कारण शान्त रस तथा विजया के चरित्र चित्रण मे वत्सल रस का यथास्थान चित्रण है । वैसे सम्पूर्ण ग्रन्थ मे शान्त रस अङ्गी और अन्य रस अङ्ग हैं ।

अन्य कवियों का प्रभाव

गद्यचिन्तामणि पर सस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ महाकवियो यथा-कालिदास, बाणभट्ट तथा विख्यात कृतियो का यथा-मनुस्मृति,वासवदत्ता,दशकुमार चरित आदि का यथेष्ट प्रभाव पडा है । यहाँ पर पडित जी का यह कथन दृष्टव्य है कि जो आलोचना बाणभट्ट की शैली पर पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने की है कि "बाण का गद्य भारतीय जगल हैं । इसमे यात्री जब तक अपने लिये स्वय झाडियो को काटकर मार्ग न बनावे तब तक उसके लिये मार्ग मिलना असभव है । इसके बाद भी अप्रचलित शब्दो के रूप मे भयकर जगली पशु उसे भयान्वित करते प्रतीत होते हैं । गद्यचिन्तामणि मे हम यह सब नही पाते हैं । इसमे कवि ने भाषा के प्रवाह को उतना ही प्रवाहित किया है जिससे रस-वृक्ष सीचा तो गया है परन्तु डुबोया नही गया है ।"पडित जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण कला यहा स्पष्ट हो जाती है ।

शब्द-वैभव

गद्यकाव्य मे पद्यकाव्य की अपेक्षा कवि का शब्द भण्डार पर असीम अधिकार अपेक्षित होता हैं । गद्य-चिन्तामणि मे वादीभसिंह का शब्द भण्डार देखने को मिलता है । उनने अनेक नये शब्द गढे हैं । अनेक शब्द ऐसे हैं जो शब्दकोषो मे भी उपलब्ध नही हैं । ऐसे अनेक शब्द पडित जी ने उद्‌धृत किये हैं यथा—खलूरी, तिरीफल, नाफल, चिक्रोड, शीफर, प्रतिष्क आदि ।

गद्यचिन्तामणि के लेखक

इसके रचयिता उत्कलदेश निवासी श्री ओडयदेव है । जहाँ तक इनके वादीभसिंह नाम का प्रश्न है वह एक पाण्डित्योपार्जित उपाधि है । इसके समर्थन मे पडित जी ने दो श्लोक उद्‌धृत किये हैं---

(१) श्रीमद्‌वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणि. कृत ।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थान भूषण: ।।१।।

(२) स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृत ।
गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापर· ।।२।।

यह बडे तार्किक विद्वान् थे यह बात उनके "स्याद्‌वादसिद्धि" नामक ग्रन्थ के मिल जाने से भी सिद्ध हो गयी है। पडित दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है । पडित जी ने तर्क, अनुमान तथा

अन्य प्रमाणों के आधार पर श्री वादीभसिंह का समय, आचार्य सोमदेव के पश्चात् अर्थात् दशवीं शताब्दी ई मे निश्चित किया है। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की रचना का काल शकाब्द ८८१ (ई. ६५६) है।

(डॉ.) पंडित पन्नालाल जी साहित्याचार्य, पी-एच. डी.

पडित जी ने गद्यचिन्तामणि की सस्कृत टीका आरम्भ करने के अवसर पर सस्कृत मे सात श्लोको का मगलाचरण किया है। हिन्दी टीकानुवाद के आरम्भ मे भी एक श्लोक दिया है। जिसमे वीरभगवान के चरणकमलो को नमस्कार करके टीकानुवाद करने की प्रतिज्ञा है। संस्कृत टीका के मगलाचरण मे भगवान महावीर एव अन्य समस्त तीर्थङ्करो की स्तुति की गयी है।

दिव्यध्वनि की वन्दना की गयी है। आचार्य कुन्दकुन्दादि के प्रति सन्मार्ग दिखाने की याचना है। गद्य-चिन्तामणि और उसके कर्त्ता वादीभसिंह की महिमा गायी गयी है तथा उनसे गद्यचिन्तामणि की टीका के निर्माण मे साहाय्य की अपेक्षा की गयी है।

टीका समाप्ति के अवसर पर अंतिम प्रशस्ति पद्यो मे पडित जी ने टीका समाप्ति की तिथि आदि का उल्लेख किया है और आत्मपरिचय दिया है। तदनुसार गद्यचिन्तामणि का यह टीकानुवाद वीर निर्वाण सवत् २४८४ के द्वितीय ज्येष्ठ मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी दिन सोमवार के प्रात.काल सागर नगर मे समाप्त हुआ। आपके पूज्य पिताजी का नाम श्री गल्लीलाल तथा मातुश्री का नाम जानकी देवी है। आपका मूल निवास स्थान ग्राम पारग्राम (पारगुआ), सागर से उत्तर दिशा मे बादरी नगर से चार मील दूर स्थित है। सागर से लगभग २१ मील दूरी है।

पडित जी ने ग्रन्थ के प्रथम परिशिष्ट मे ३३ शार्दूलविक्रीडित छन्दो मे गद्यचिन्तामणि का पद्यबद्ध साराश प्रस्तुत किया है जिससे उनकी संस्कृत पद्य-बद्ध रचना मे अप्रतिहतगति का परिचय मिल जाता है। द्वितीय परिशिष्ट मे गद्य चिन्तामणि की कुछ सूक्तियाँ सग्रहीत हैं।

तृतीय परिशिष्ट मे व्यक्तिवाचक शब्दकोष, चतुर्थ मे भौगोलिक शब्दकोष, पञ्चास मे पारिभाषिक शब्दकोष, तथा षष्ठ मे विशिष्ट शब्दकोष है।

उल्लेखनीय है कि इन परिशिष्टो से ग्रथ की जहाँ उपयोगिता बढ गयी है वही उसमें चार चाँद लग गये है।

पण्डित जी ने जिस प्रकार परिश्रम करके इस ग्रंथ के माध्यम से सरस्वती की श्रीवृद्धि की है तथा प्रकारान्तर से सम्पूर्ण समाज और धर्म-दर्शन का उपकार-उद्धार किया है, उसके लिये वे कोटिश. साधुवादो के पात्र हैं और उनका उपकार समाज को शिरोधार्य करना ही होगा।

प्राध्यापक तथा अध्यक्ष—संस्कृत विभाग,
शासकीय महाराजा स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
एम आई. जी. 13, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी,
छतरपुर

महापुराण : एक समीक्षा :

—डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन, 'सुमन'

जैन समाज मे विद्वान् तो अनेक है किन्तु ऐसे रत्न विरले ही हैं जो लेखन सम्पादन के रूप मे उदित हुए है। अनवरत साहित्य साधना के साधक, जिनश्रुत-सेवी विद्वान् तो और भी कम है। ज्ञान और आचरण का योग तो विरले ही मनीषियो मे दिखाई देता है, किन्तु साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जी एक ऐसे विद्वद्रत्न हैं जिन्होंने आजीवन निष्ठापूर्वक साहित्य सेवा की है, ज्ञान को जीवन मे उतारा है। वे केवल परोपदेशी नही है।

जैनदर्शन और इतिहास के क्षेत्र मे जैसे आदरणीय प० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, न्याय के क्षेत्र मे न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया का नाम सदैव स्मरणीय है और रहेगा, वैसे ही साहित्य के क्षेत्र मे साहित्याचार्य जी का। आपने जहाँ एक ओर महावीर पुरस्कार से पुरस्कृत सम्यक्त्व चिन्तामणि जैसे अनेक मौलिक ग्रन्थो को जन्म दिया है, दूसरी ओर प्राचीन पाण्डुलिपियो के सम्पादन मे भी आपका अभूतपूर्व योगदान है।

पुराण साहित्य के तो आप प्राण हैं। हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, शान्तिनाथ तथा महापुराण जैसे विशाल-काय ग्रन्थो के सम्पादन द्वारा आपने जैन जगत् की महान् सेवा की है। समीक्ष्य ग्रन्थ महापुराण आपकी अनूठी कृति है। सम्पादन कला मे निष्णात आपने इस ग्रन्थ का सम्पादन कर संस्कृति के नवीन तथ्यो को उजागर किया है। अनेक लोगो ने पी–एच डी जैसी उपाधियाँ प्राप्त की है। वैदिक सस्कृति मे मानस और गीता को जैसा स्थान मिला है, जैन संस्कृति मे वैसा ही स्थान इस पुराण को प्राप्त है। शोध–खोज के क्षेत्र मे यह एक सन्दर्भ ग्रन्थ है। अठारह हजार पाँच सौ बावीस श्लोक प्रमाण यह पुराण भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

समीक्षार्थ इस ग्रन्थ को चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) प्रस्तावना, (२) मूलग्रन्थ, एव हिन्दी अनुवाद, (३) पाठान्तर भेद, (४) परिशिष्ट।

(१) प्रस्तावना :

सम्पादन के क्षेत्र मे प्रस्तावना का विशिष्ट महत्त्व होता है। सम्पादन काल मे प्राप्त सहयोग-असहयोग तथा ग्रन्थ की विशेषताओ का इस भाग मे उल्लेख किया जाता है। श्री साहित्याचार्य जी ने इस भाग के आदि मे ही सम्पादन सामग्री शीर्षक के अन्तर्गत उन बारह पाण्डुलिपियो का पाठको को परिचय दिया है, जिनका इस ग्रन्थ के सम्पादन मे उपयोग हुआ है। इन पाण्डुलिपियो मे सम्पादक को तीन प्रतियाँ मूडबिद्री के सरस्वती भवन से, तीन प्रतियाँ जैनसिद्धान्त भवन आरा से, दो प्रतियाँ मारवाडी मन्दिर इन्दौर से, एक प्रति पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी से, एक प्रति दिल्ली से और दो प्रकाशित प्रतियाँ विभिन्न विद्वानो से प्राप्त हुई थी। प्रस्तुत सम्पादन कार्य मूडबिद्री से प्राप्त ताडपत्रीय पाण्डुलिपि को मूलाधार बनाकर किया गया था।

इसी भाग में सम्पादक ने विभिन्न समय में हुए संस्कृत भाषा के परिवर्तन-परिवर्द्धन को दर्शाकर प्राकृत भाषा की भी संक्षिप्त आत्मकथा दी है। जैन-जैनेतर पुराणनिधि पर भी प्रकाश डाला है। प्राचीन साहित्य और साहित्यकारो का परिचय लिखने के उपरान्त इस पुराण की विषयवस्तु का भी पाठको को रसास्वादन कराया है। कथानायक वृषभदेव और भरत के जैनेतर पुराणो मे प्राप्त उल्लेखो को देकर सम्पादक ने प्रस्तावना मे चार चाँद लगाये हैं। वृषभदेव और ब्रह्मा की अभिन्नता जैसे नवीन विषयो का समावेश सम्पादक की शोध-खोज दृष्टि के प्रतीक है।

पुराण के लेखक आचार्य जिनसेन और गुणभद्र का अन्वेषणात्मक परिचय अनुसन्धित्सुओ के लिए मार्ग-दर्शन करेगा। भौगोलिक स्थानो का वर्तमान नगरो से समीकरण पठनीय है। अन्त मे वर्ण व्यवस्था दी गयी है। इस प्रकार चौंसठ पृष्ठीय प्रस्तावना देकर सम्पादक ने 'गागर मे सागर' उक्ति को चरितार्थ किया है।

उत्तरपुराण के प्रस्तावना अश मे सम्पादक ने पुराण के रचना-स्थल का पाठको को परिचय दिया है, व्यवहृत छन्दो से परिचित कराया है। डॉ हीरालाल जी ने पुराण की विषय-सामग्री एवं पुराण के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। इस प्रकार प्रस्तावना अश मे बहुमूल्य सामग्री दी गयी है।

(२) मूलग्रन्थ एवं हिन्दी अनुवाद :

इसकी विषयवस्तु मूलतः त्रेशठ शलाका पुरुषो का जीवन चरित्र वर्णन करना है। परन्तु इसमे न केवल शलाका पुरुषो की जीवन झाकी चित्रित की गयी है अपितु उनके अनेक भवान्तरो को भी दर्शाया गया है। ऐसे आख्यानो को पढकर पाठको के हृदय मे धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न होती है, प्रेरणा मिलती है और पाठक निज कल्याण की ओर प्रवर्तित होते हैं।

स्व. डॉ. हीरालाल जैन ने यहाँ तक कहा है कि यह पुराण 'जैनधर्म का विश्वकोश' है। है भी यह विश्वकोश क्योकि इस महान् ग्रन्थ मे पौराणिक, धार्मिक, दार्शनिक, भौगोलिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व-पूर्ण सामग्री उपलब्ध है। जैनधर्म से सम्बन्धित प्रत्येक अग का इसमे वर्णन किया गया है। अन्य पुराणो की अपेक्षा विविध विषयों का निरुपण होना इसकी एक विशेषता है। इस संदर्भ मे इसे महापुराण कहा जाना युक्तिसगत प्रतीत होता है। पुरातन आख्यान और प्राचीन कवियो द्वारा उनका प्रसार होना, महाकल्याण की उपलब्धि का कारण या महापुरुषो का वर्णन इस ग्रन्थ के महापुराण कहे जाने मे कारण दर्शाए गये है (म.पु.१ २१-२४)।

इस पुराण का शुभारम्भ परिवार से हुआ है। परिवार के होने से विविध चिन्ताएँ हुयी और उन चिन्ताओ का निदान खोजा गया—श्रम। सभी को श्रम करने का उपदेश दिया गया है। गार्हस्थिक जीवन सुखमय हो इसके लिए असि-मसि-कृषि आदि षट्कर्म बताये गये हैं। जीवन सुसंस्कृत हो, इसलिए विविध संस्कारों की चर्चा की गयी है। गृहस्थ के कर्त्तव्य दर्शाए गये हैं। चतुर्विध वर्ण व्यवस्था का स्वरूप चित्रित किया गया है। मुख्य विषय वस्तु के साथ-साथ लगभग ४० - ५० अवान्तर कथाएँ भी दी गयी है, जिनसे गृहस्थो को सद्प्रेरणा प्राप्त होती है।

जीवन को सागार बनाये रहना ग्रन्थकार को इष्ट न था। उनका यह कथन हृदयग्राही है कि सागार हो या अनगार श्रम उभयत्र आवश्यक है। सागार भौतिक सामग्री जुटाने मे श्रम करे और अनगार भौतिकता से दूर

हटने मे। गार्हस्थिक जीवन बिताने मे ही जीवन की उपादेयता नही है। जीवन की सफलता इसी मे है कि दूषित परिणामो से जीव युद्ध करे, परीषहो से जूझे, तप और आत्मचिन्तवन से कर्मों का विनाश कर सच्चा अविनाशी सुख प्राप्त करे।

ग्रन्थ प्रणयन मे ग्रन्थकार का यही लक्ष्य रहा ज्ञात होता है। सभवत इसीलिए इस पुराण मे जहाँ एक ओर गृहस्थो को उनकी सुख सुविधाओ के उपायो का निर्देश किया गया है, दूसरी ओर मोक्ष-सुख के साधनो को भी कथा-प्रसगानुसार समझाया गया है। दर्शनविशुद्ध्यादि सोलह भावनाओ, द्वादश अनुप्रेक्षा, योग, तप, धर्म, व्रत, ध्यान जैसे विषयो का विश्लेषण तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमादादि तथा चतुर्गति भ्रमण का वर्णन इस तथ्य के प्रतीक हैं।

सगीत, नृत्य, वाद्य, स्थापत्य एव मूर्तिकला जैसे विषयो को भी वर्णन का विषय बनाया है। भौगोलिक साहित्यिक और सास्कृतिक अग वर्णन का तो भण्डार है ही, सुभाषितो का भी भण्डार है। समीक्षक ने स्वय ७६२ सुभाषितो को सकलित किया है। सम्पादक के शब्दो मे महापुराण सस्कृत साहित्य का अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नही है जिसका इसमे प्रतिपादन न किया गया हो यह पुराण है, महाकाव्य है, धर्मकथा है, धर्मशास्त्र है, राजनीति शास्त्र है, आचारशास्त्र है, और है युग की आद्य व्यवस्था को बनाने वाला इतिहास।

(इस समीक्ष्य ग्रन्थ के दो भाग है—आदिपुराण और उत्तरपुराण। आदिपुराण भी दो भागो मे विभाजित है। प्रथम भाग मे पच्चीस तथा द्वितीय भाग मे छब्बीस से सेंतालीसवें पर्व तक का वर्णन है, शेष वर्णन उत्तरपुराण मे किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पर्वों मे समाप्त हुआ है।) आदिपुराण के तेतालीसवें पर्व के तृतीय श्लोक तक का अश आचार्य जिनसेन और शेष अश उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित है। आदिपुराण मे ऋषभ और भरत दो ही शलाका पुरुषो का वर्णन विषयवस्तु है और (इकसठ शलाका पुरुषो के जीवन चरित्र का वर्णन उत्तरपुराण की विषयवस्तु है। सम्पूर्ण ग्रन्थ १८९९ पृष्ठो मे पूर्ण हुआ है)।

सम्पादक ने हिन्दी अनुवाद कर इस महान् ग्रन्थ को समाजोपयोगी बनाया है। आज इस ग्रन्थ के प्रत्येक जैनमन्दिर और जैन-जैनेतर पुस्तकालयो मे उपलब्ध होने का श्रेय श्री साहित्याचार्य जी को ही है।

(३) पाठान्तर

सम्पादक ने टिप्पणी के रूप मे पाठान्तर देकर विषय को सरल और सुबोध बनाया है। मूलभाग को पढकर भी जहाँ विषय स्पष्ट नही हो पाता है, पाठान्तरो द्वारा वह सहज ही समझ मे आ जाता है। उदाहरण के लिये मूलभाग मे शूद्रवर्ण के कारु और अकारु दो भेद किये गये है। इनमे स्पृश्य कौन है ? ऐसा निर्देश नही किया है, जबकि यह जानकारी पाठान्तर मे सहज ही उपलब्ध है (दे. म पु १, पृ ३६२ टिप्पणी ६)। इसी प्रकार कोष्ठ-बुद्धि, बीजबुद्धि आदि विद्याओ के मूल से तो केवल नाम ही ज्ञात होते है, वे क्या हैं अथवा उनका क्या महत्त्व है, इसका बोध तो पाठान्तर से ही प्राप्त होता है (दे म. पु १ ३५, टि ७-६)। अत सम्पादन मे पाठान्तर का दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है, जिसकी पूर्ति कर श्री साहित्याचार्य जी ने साहित्य जगत् मे एक सराहनीय कार्य किया है।

(४) परिशिष्ट भाग :

इस भाग मे सम्पादक ने अनुक्रमणिकाएँ दी हैं। ऐसे कार्यो मे श्रम और समय दोनो ही बहुत चाहिए। उन्हे अकारादि क्रम मे रखते समय बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। श्री साहित्याचार्य जी ने सम्पूर्ण श्लोको की अनुक्रमणिका तो ग्रन्थ के दोनों भागो मे दी है, किन्तु उत्तरपुराण से सम्बन्धित सूक्तियो, पारिभाषिक, भौगोलिक, साधारण, व्यक्तिवाचक, शब्दकोश उत्तरपुराण के परिशिष्ट मे दिए है, आदिपुराण के दोनो भागो की सामग्री भी वाञ्छनीय थी।

जैन विद्यासंस्थान श्रीमहावीरजी ने सूक्तियो का कार्य तो किया है। पुराणकोश के रूप मे अन्य शेष कार्य भी पूर्ण किये हैं। कोश निर्माण मे श्री साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित महापुराण से समीक्षक को अभीप्सित लाभ मिला है। जैन सस्कृति को समझने के लिए यह पुराण पठनीय है, और अनुकरणीय है—सम्पादक की सम्पादन शैली। समाज आपसे उपकृत है और सदैव रहेगा।

शोध सहायक,
जैन विद्या संस्थान,
श्री महावीर जी

वीर की जयंती

'वसन्त' जहा चर्चिल की चंचल कुचालो से
चित्रित हो चहुँ ओर रक्त लाली छाई है।
हिटलर औ मुसोलिनी की भारी बम-बाजी ने
नाजी की महत्ता जहा जग मे जमाई है।
हिंसा अधेरी जहा करती अखण्ड राज
आज वहा वीर की जयंती ज्योति लाई है।
अहिंसा औ सत्य से ही होगा जग-जीव प्राण-
त्राण यही बात एक उर मे समाई है॥

धन्यकुमार–चरित्र : एक अनुचिन्तन

पं मुन्नालाल जैन, एम. ए.

डॉ. पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य, जैनदर्शन तथा साहित्य के उच्चकोटि के विद्वान् हैं। आपमे प्रखर-पाण्डित्य, अद्भुतप्रतिभा, गूढचिन्तन, प्रगाढ सामाजिकता, कुशलअध्यापन तथा प्रशासन आदि के तत्त्व समाहित है, जिसका एक ही जगह सम्मिलन दुर्लभ सा प्रतीत होता है। ७० उच्चकोटि के ग्रंथो का अनुवाद तथा सम्पादन आपके सम्पादन–नैपुण्य के ज्वलन्त उदाहरण है।

साहित्य जगत् मे कथा-कहानियो के बढते हुये महत्त्व को देखकर सामाजिक कथा प्रेम स्पष्ट ही है। केवल मनोरंजन या समययापन के उद्देश्य से कथाएँ पढी जा रही हैं। सम्प्रति आवश्यकता है समाज को सन्मार्ग की ओर ले जाने की, आत्मकल्याण मे प्रवृत्ति करने की, इसके लिये चाहिये यह कि हम सहज सरलभाषा मे लिखित कथात्मक साहित्य समाज को दें। भविष्यदत्त कहा, जीवन्धर, प्रद्युम्न, चारूदत्त, भद्रवाहु, यशोधर, सुकुमार चरित आदि से इस आवश्यकता की पूर्ति हुई है। धन्यकुमार चरित भी इसी शृखला की एक अनुपम कड़ी है।

भदन्त गुणभद्र विरचित यह समीक्ष्य चरितकाव्य वीर निर्वाण सम्वत् २४६६ मे श्री चन्द्रसागर दिगम्बर जैन ग्रंथमाला शान्तिवीरनगर, श्री महावीर जी (राजस्थान) से प्रथम सस्करण के रूप मे प्रकाशित हुआ था।

समीक्षार्थ इस चरित काव्य को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है।

(१) प्रस्तावना, (२) मूल भाग, (३) प्रशस्ति।

(१) प्रस्तावना :

सम्पादन के अन्य प्रमुख भागो मे प्रस्तावना का एक अपना महत्त्व होता है। डॉ. साहित्याचार्य जी की शोधपरक प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि इस चरित काव्य की रचना भदन्त गुणभद्र नामक कवि ने विक्रम की १३वी शताब्दि के आरम्भ के शासन मे विलासपुर नामक ग्राम के जिनमन्दिर साहु शुभचन्द्र के पुत्र चल्हण की प्रेरणा से की थी। ग्रथ की निम्न अन्त्य प्रशस्ति से भी स्पष्ट होता है —

सैद्धान्तो गुणभद्रनाममुनिपो मिथ्यात्वकामान्तकृत्।
स्याद्वादामलरत्नभूषणधरो मिथ्यानयध्वंसक. ॥३॥
शास्त्रमिदं कृतं राज्ये राज्ञो हि परमर्दिन.।

पुरे विलासपूर्वे च जिनालयविराजिते ॥५॥
लम्बकचुकगोत्रेऽभूच्छुभचन्द्रो महामना।
साधुः सुशीलवान् शान्तः श्रावको धर्म्मवत्सलः ॥८॥

तस्य पुत्रौवभूवात्र वल्हणी दानवान् वशी।
परोपकारिचेतस्को न्यायेनार्जितसद्धनः ॥७॥
धर्मानुरागिणा तेन धर्म्मकथा निबन्धनम्।
चरित्रं कारितं पुण्यं शिवायेति शिवार्थिनाम् ॥८॥

मूलभाग :

धन्यकुमार का जीवन चरित इसकी विषयवस्तु है। कवि ने इस काव्य को सात परिच्छेदों मे विभाजित किया है।

प्रथम परिच्छेद :

धन्यकुमार की उत्पत्ति एव शिक्षा का इसमे वर्णन है। उज्जयिनी नगरी मे यह, सेठ श्रीदत्त और उनकी पत्नी देवश्री का आठवा पुत्र था। महापुण्यशाली तथा ऐश्वर्यवान होने से इसके गर्भ मे आते ही जननी देवश्री के जिनेन्द्र की आराधना, दान तथा जीवदया के भाव हुए थे।

द्वितीय परिच्छेद :

इसमे कथा के माध्यम से पुण्य का माहात्म्य दर्शाया गया है। धन्यकुमार पूर्वार्जित पुण्य के प्रभाव से कठिन से कठिन कार्यो मे भी सफलता प्राप्त करता है। वह हानि-कारक व्यापार करके भी लाभान्वित होता है। ५०० दीनारो से विभिन्न वस्तुएँ खरीदता है और वस्तु विनिमय करके पलग लेता है तथा उसका भाग्य है कि उसी पलग से उसे बहुमूल्य रत्न बीजक सहित प्राप्त हुए। पुण्य के प्रभाव से उस नगर का राजा भी इसे कृतपुण्य नाम से सम्मानित करता है। यम के यहाँ से लौट आना और वह भी निधियाँ लेकर, उसके पुण्य का ही माहात्म्य है।

तृतीय परिच्छेद

इस परिच्छेद मे कर्मो का प्रभाव बताया गया है। कर्मों ने ऐसे पुण्यशाली धन्यकुमार को भी नही छोड़ा। धन्यकुमार को बापी मे छोड़, वापी को पत्थर से ढककर भाइयो का भाग जाना, उसके दुष्कर्मो का ही प्रभाव है। हल चलाने से धन की प्राप्ति जैसे प्रसग उसके शुद्धोदय के प्रतीक है। वह भी इसी परिच्छेद मे बताया गया है कि जब पुण्य का क्षय हो जाता है तब ऐसा व्यक्ति कैसे-कैसे कष्टो का सामना करता है। अकृतपुण्य को प्राप्त स्वर्णाभूषणो का रस्सी हो जाना, मजदूरी मे प्राप्त चने भी गिर जाना, आदि इस लक्ष्य के ज्वलन्त उदाहरण है।

चतुर्थ परिच्छेद

आत्मोपलब्धि मे निमित्त का क्या स्थान है ? इस तथ्य को इसमे चित्रित किया गया है। जैसे लोहा पारस को पाकर स्वर्ण बन जाता है। उसी प्रकार मुनिराज के धर्मोपदेश से धन्यकुमार भी समाधिमरण पूर्वक मरकर देव-पर्याय को प्राप्त होता है। इस परिच्छेद मे भावो का माहात्म्य दर्शाया गया है। तत्त्वोपदेश, कषाय, कर्म-प्रकृतियाँ तप और ध्यान जैसे विषयो का भी निरूपण किया गया है।

पंचम परिच्छेद :

नरको की वेदना और तिर्यंचगति के दुःखो का वर्णन कर पाठकों को व्रतो की ओर इसमें आकृष्ट किया गया है । निदानपूर्वक मरण से इच्छित वस्तु का प्राप्त होना बताया गया है । पूर्वभव मे भागवती ने जिन पुत्रो का पालन किया था । निदानवश अगले भव मे धन्यकुमार आदि वे सभी पुत्र हुए ।

षष्ठ परिच्छेद

अनिष्टकारियो पर भी उपकार करने से प्राणी का धन्यकुमार के समान यशस्वी जीवन बन जाता है, इस तथ्य को इस परिच्छेद मे उजागर किया गया है । यह भी दर्शाया गया है कि अपने कल्याण के प्रति धन्यकुमार कितना सजग है, सफेद बाल देखकर शालिभद्र के साथ सयमी हो गया था ।

सप्तम परिच्छेद

कथा प्रसगानुसार जहाँ एक ओर यहाँ अनुयोगो का,ध्यान का, साधु के मूलगुणो का और तप का विवेचन किया गया है,वही दूसरी ओर धन्यकुमार का सयमपूर्वक मरण होने से उसका सर्वार्थसिद्धि मे उत्पन्न होना भी बताया गया है ।

इस प्रकार ७८५ श्लोको के अन्तर्गत कवि ने इस चरितकाव्य की रचना की है । इसके अध्ययन करने से यह समझते देर नही लगती कि पुण्य और पाप से प्राणी कैसे प्रभावित होते हैं । यद्यपि पुण्य-पाप दोनो ही जीव के संसार–भ्रमण के कारण हैं । फिर भी दोनो मे पुण्य सासारिक सुख का दाता होता है और यही से जीव सन्मार्ग की ओर आकृष्ट होकर आत्मशोधन के मार्ग मे लग जाता है, सर्वत्र इसी का उपदेश दिया गया है । पूर्व–भव मे किये गये अल्प शुभकार्य भी इस भव मे वटवृक्ष के बीज की तरह बढकर अत्यधिक धन, भोग सम्पदा देते हैं । इसके विपरीत अशुभ कार्य पाप, दारिद्र्य, दुःख, कष्टो आदि के प्रदायी होते है । रचनाकार अपने इस उद्देश्य मे पर्याप्त सफल हुआ है ।

इसके अतिरिक्त लेखक ने धर्मोपदेश के माध्यम से श्रावक के कर्त्तव्यो का बोध कराया है । जिनेन्द्र की आराधना और दान जैसे कार्यो की उन्होने भरपूर सलाह दी है । (५.४९-७८) श्रावको को नरक (५.१९-३२) और तिर्यंच (५.३६-३७) आदि गतियो के दु खो का वर्णन कर उनसे बचने के लिये उन्होने उपदेशो मे कहा है कि कषायो को रोको (४.५२-५३) जो कर्म दुख देते है उनकी निर्जरा के लिए तप और ध्यान करो (४-५५-५६) तथा चारो अनुयोगो का अध्ययन करो । (७.१-४) पूर्व–भवो को बताकर कर्मो के प्रति आस्था उत्पन्न की है (७.६) जो जैसा करेगा उसे वैसे ही फल भोगना पडेगा, इस तथ्य को भी ग्रथ मे भली प्रकार समझाया गया है । इस छोटे से चरित काव्य मे कवि ने चिताकर्षक शैली से धन्यकुमार का चरित चित्रित कर "गागर मे सागर" भर दिया है । निजकल्याण की ओर सहज ही प्रवृत्ति हो इस उद्देश्य मे कवि सफल दिखाई देता है ।

ग्रथकार जैन-रचनाकारो की परम्परानुसार जैनधर्म के मूल सिद्धातो का यथावसर प्रतिपादित करना भी नही भूला है । वीरमुनि का प्रवचन पूर्व–भव मे धन्यकुमार के जीवदेव द्वारा अपनी माता को बचाया जाना । (५.१३-४१) ससार का स्वरूप तथा देवो को मुनिराज द्वारा दिया गया उपदेश (५-४९-७८) आदि प्रसग इसके उदाहरण हैं । रोहणी (५.६०) जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति (५.७१-८२) तथा तत्वार्थ भावना व्रत की विधि से प्रतीत

होता है (५.११०) कि उस काल मे वाह्य-क्रिया-काण्ड का प्रभाव बढ गया था और सुगन्धदशमी के प्रसंग मे कहे गये वचनों से स्पष्ट होता है कि शासनदेवों की पूजा का प्रचार भी था। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि रचनाकार वनवासी साधु न होकर चैत्यवासी थे। इस काल मे द्यूत जैसे विषयो से सम्बन्धित शास्त्र भी थे। धन्यकुमार का उसमे प्रवीण होना इस तथ्य का प्रतीक है। (६.३८-४०)।

रचना की भाषा सरल सुबोध है जिसमे उपमादि अलंकारों और सूक्तियो का पर्याप्त प्रयोग होने से उसकी काव्यात्मकता मे वृद्धि हुई है। डॉ. साहित्याचार्यजी ने टिप्पणी के रूप मे सरल शब्द देकर कथा को बोध--गम्य बनाया है। परिणाम स्वरूप प्रारम्भ से अन्त तक पाठक की रुचि उसे पढने मे बनी रहती है।

इस चरित काव्य की सूक्तियाँ मार्मिक एव हृदयस्पर्शी है, उनसे प्रेरणा लिए बिना/प्रभावित हुए बिना पाठक रह नही सकता। कतिपय सूक्तियाँ निम्न प्रकार हैं :—

१. अदत्तं लभ्यते नैव (३.१२१)
   — बिना दिया मिलता नही।

२. अदृष्टे प्रतिकूले हि को न यात्यपमानताम् (३.१४)
   — भाग्य के प्रतिकूल होने पर कौन पुरुष अपमानित नही होता ?

३ अन्यो न तुष्टो विदधाति सौख्यं रुष्ट. परो वो, कुरुते हि दुःखम् (४.२१)
   — कोई दूसरा पुरुष सतुष्ट होकर किसी को सुखी नही कर सकता और कोई रुष्ट होकर किसी को दु.खी कर सकता है।

४. इष्टसिद्ध्या न कः प्रीतः (२ ६८)
   — इष्टसिद्धि से कौन प्रसन्न नही होता।

५. कामा दुर्लभलाभाश्च पापिनां पापपाकतः (१.६०)
   — पापोदय से पापी मनुष्यो को इष्टभोग दुर्लभ होते है।

६ कारणेन बिना कार्यं दृश्यते नहि भूतले (२.७०)
   — संसार मे कारण के बिना कार्य दिखाई नही देता।

७. कुवाणिज्यं सुवाणिज्यं जायते पुण्यपाकतः (१.६०)
   — पुण्य के उदय से छोटा-व्यापार भी अच्छा व्यापार हो जाता है।

८. जिनागमं न जानन्ति तेऽन्धा अपि सचक्षुषाः (६ २०)
   — जो जिनागम को नही जानते वे चक्षु सहित होने पर भी अन्धे है।

९. तदनुभवितुं कर्म नाभुक्तस्य विमोक्षणम् (३.६१)
   — बिना भोगे हुये कर्म का क्षय नही होता।

१० तपसा साध्यतेऽसाध्यं (३.६१)
– तप से असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं।

११. दूरभाग्यवतां भद्र हस्ते स्थितं विनश्यति (३.११४)
– भाग्यहीन मनुष्य के हाथ मे आई हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है।

१२. देवास्तस्मै नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः (६.७२)
– जिसका मन सदा धर्म मे सलग्न रहता है उसे देव भी नमस्कार करते है।

१३. धनं धान्यं निधानं च शुभसंचयसंभवम् (२.५६)
– धन, धान्य और निधान पुण्य-कर्म के संचय से उत्पन्न होते है।

१४ धर्मो मंगलमुत्कृष्टम् (६.६२)
– धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

१५. न खलु शक्यते कर्तु चिरदुष्कर्मवंचनम् (३.१५)
– पूर्वबद्ध दुष्कर्म का वंचन नही किया जा सकता।

१६ नहि पुण्यैर्विना धनम् (२.६६)
– पुण्य के विना धन प्राप्त नहीं होता।

१७. न हि पुण्यैर्विना लक्ष्मीं लभते कोऽपि भूतले (३.४२)
– संसार मे पुण्य के विना कोई भी लक्ष्मी को प्राप्त नही होता।

१८ निर्लोभः को न पूज्यते (२.६३)
– लोभ-रहित कौन मनुष्य सम्मान को प्राप्त नही होता।

१९. परमार्थेन जीवस्य नैव शत्रुर्न च प्रियः (३.२७)
– परमार्थ से जीव का न कोई शत्रु है और न मित्र।

२०. परेण दीयते लक्ष्मीर्नैषा गीः सत्यमाश्रिता (३.१२१)
– लक्ष्मी दूसरो के द्वारा दी जाती है, ऐसा कथन सत्य नही है।

२१. प्रज्ञावतां किमप्यस्ति विषमं भावितात्मनाम् (१.८०)
– प्रज्ञाशाली पुण्यात्मजनो को क्या कोई भी कार्य कठिन है, अर्थात् नही।

२२. प्रायश्चित्तं बिना धर्मो विशुद्धो नैव जायते (७.१६)
– प्रायश्चित के बिना धर्म विशुद्ध नही होता।

२३. पुण्यवान् पूज्यते यतः (६.६१)
– पुण्यवान् सब जगह पूजा जाता है।

२४. पुण्याधीना हि सम्पदः (२.६२)
– सभी सम्पदायें पुण्य के अधीन है।

२५. पुण्योदयेन जायेत लोकपूजा प्रशंसनम् (२.३३)
– पुण्य के उदय से लोक मे प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है।

२६. पुत्रार्थं सहते माता मोहात्कष्टपरम्पराम् (३.६१)
– माता मोहवश पुत्र के लिए बहुत कष्ट सहती है।

२७. फलहीना न शोभते वन्ध्या वल्लीव कानने (३ ७६)
– फल(पुत्र)से रहित वन्ध्यास्त्री वन मे फल-रहित लता के समान सुशोभित नही होती।

२८. बहुरत्ना वसुन्धरा (६.६१)
– वह पृथ्वी अनेक रत्नों को धारण करने वाली है।

२९. बुध्या बिना न लभ्यते मोक्षसौख्यं निरत्ययम् (६.१६६)
– बोधि (ज्ञान) के बिना अविनाशी–मोक्षसुख प्राप्त नही हो सकता।

३०. भावः प्रधानः खलु कर्मबन्धे (४.१८)
– निश्चय से भाव ही कर्मबन्ध मे प्रमुख कारण है।

३१. भावना भवनाशिनी (२.६६)
– भावना ही भव का नाश करने वाली है।

३२. भावेन धर्मो विहितो हितज्ञैर्हितं ददत्येव न कोऽपि दोषः (५.१५)
– हितैषी मनुष्यो के द्वारा किया हुआ धर्म हित को देता ही है,इसमे कोई सन्देह नही है।

३३ भावो हि मूलं शुभ-कर्मबन्धे (४.१६)
– भाव ही शुभ कर्म बन्ध मे मूल कारण है।

३४. भोगाद्विरक्तचेतस्का मन्यते तृणवच्छ्रियम् (६.१८४)
–जिनका चित्त भोगो से विरक्त हो जाता है,वे लक्ष्मी को तृण के समान मानने लगते हैं।

३५. भोगसारो हि संसृतो (१.१४)
– ससार मे भोग ही सार है। संसार दृष्टि से

३६ राजा ही लोकशिक्षाणां कारणं चेक्ष्यते बुधैः (१.४०)
– विद्वानो के द्वारा लोकशिक्षाओ का कारण राजा ही कहा जाता है।

३७. लब्धं धनं ब्रुवन्त्यार्या दानाय परिकल्प्यते (३.२५)
– प्राप्त हुआ धन दान किया जा सकता है, ऐसा आर्य पुरुष कहते है।

३८. लोकज्ञो हि तपोधनः (७.२)
– मुनिजन ही लोक व्यवहार के ज्ञाता होते है ।

३९. लोभो मूलमनर्थानां लोभनिष्ठस्य दुर्गतः (२ ६४)
– लोभ अनर्थो का मूल है और लोभी मनुष्य की दुर्गति होती है ।

४०. लोभो ह्यत्र मनुष्याणां सर्वानर्थस्य कारणम् (२ ४७)
– इस ससार मे लोभ ही मनुष्य के समस्त अनर्थो का कारण है ।

४१. विनयो भूषणं लक्ष्म्यालिंगितदेहिनाम् (६.९६)
– लक्ष्मीवन्त पुरुषो का आभूषण विनय ही है ।

४२. शुद्धस्य हि न शंकास्ति साध्यं साधयतो ध्रुवम् (६ ४२)
– शुद्ध मनुष्य को कार्य सिद्ध करते हुये कोई शका नही होती ।

४३. शोको हि पापं विदधाति (४.१७)
– शोक ही पाप–बन्ध को देने वाला है ।

४४. सधर्म्मः पूज्यते देवैरणिमादिगुणाकरैः (२.६७)
– धर्म्मयुक्त पुरुष अणिमादि गुणो की दान स्वरूप देवो के द्वारा पूजा जाता है ।

४५. सरसाः किं न कुर्वते (३.५८)
– सरस मनुष्य क्या नही कर सकते ।

४६. सहन्तेऽन्यप्रभा केऽत्र स्वसौन्दर्येण गर्विताः (१.३२)
– अपने सौन्दर्य से गर्वीले पुरुष, दूसरो के सौन्दर्य को कैसे सह सकते है ।

४७. सुचिरं कृतपुण्यानां सर्वत्रैव प्रिय भवेत् (२.२९)
– पुण्यात्माजनो को सब जगह चिरकाल तक प्रिय वस्तुए प्राप्त होती रहती है ।

◈

पंचस्तोत्रसंग्रहः एक समीक्षात्मक परिशीलन

—पं. दयाचन्द्र साहित्याचार्य,

भारत मे उपासना की विभिन्न पद्धतिया प्रचलित है और वर्तमान मे होरही है। अपने-अपने सिद्धान्त तथा परम्परा के अनुसार उपासना पद्धति अपना स्वयं स्थान सुरक्षित रखती है। वैदिक परम्परा मे यज्ञ का प्रमुख स्थान है और श्रमण परम्परा मे देवपूजा का प्रमुख स्थान है। वैदिक क्रियाकाण्ड का प्रयोजन यज्ञ के माध्यम से अग्नि आदि देवों को प्रसन्न करना है और श्रमण देवपूजा का प्रयोजन आत्मशुद्धि, पुण्योपार्जन, स्वर्गप्राप्ति और मोक्ष की प्राप्ति है। देवपूजा का प्रसार द्रविडदेश मे अधिक था, कारण कि दक्षिणभारत मे श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रसार था। अत: दक्षिणभारत श्रमण संस्कृति का केन्द्र कहा जाता है।

इतिहास कहता है कि सम्राट चन्द्रगुप्त के शासनकाल मे बारहवर्षीय अकाल के समय श्री भद्रबाहु आचार्य अपने सघस्थ बारह सौ मुनियो के साथ, धार्मिक प्रभावना, स्वात्मसाधना और उपसर्ग के निवारणार्थ विहार करते हुए दक्षिणभारत मे गये थे। वहा उन्होने अपने परम मुनिधर्म की साधना की। इससे सिद्ध होता है कि दक्षिणभारत जैनधर्म एव संस्कृति का महान् केन्द्र था। अन्यथा इतने विशाल मुनिसघ का निर्वाह होना कठिन था।

जैन साहित्य मे पूजन विधान का वर्णन प्रतिष्ठापाठो,श्रावकाचारो और आराधनाग्रन्थो मे पाया जाता है। श्रमण परम्परा मे उपासना या पूजा की पद्धति अनेक प्रकार की होती है, जैसे कि अष्टद्रव्यो से पूजन करना, द्रव्यो के बिना भावपूजन करना, स्तवनों या स्तोत्रो से गुणो के अर्चन, गुणो के स्मरण से भावपूजन और नमस्कार करने से पूजन करना, प्रत्यक्ष और परोक्ष पूजन करना, द्रव्यपूजन और भावपूजन करना, जाप के द्वारा पूजन करना आदि इसी विषय को सस्कृतज्ञ महाकवि धनञ्जय ने विषापहार स्तोत्र मे कहा है—

स्तुत्या पर नाभिमत हि भक्त्या, स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्यं, केनाप्युपायेन फलं हि साध्यम्॥[1]

साराश—भगवान की स्तुति द्वारा ही इच्छित फल की सिद्धि नही होती, किन्तु भक्ति (आठ द्रव्यो द्वारा पूजन) से,स्मरण,ध्यान जाप और नमस्कार से भी इच्छित फल की सिद्धि होती है,इसलिये मैं परमेष्ठीदेव की भक्ति (पूजा) करता हूं, आपका ध्यान एव स्मरण करता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। कारण कि इच्छित मनोरथ की प्राप्ति रूप फल को किसी भी उपाय से प्राप्त कर लेना चाहिये। इस पद्य मे कविवर ने पूजा के अनेक प्रकार दर्शाये है।

पद्मपुराण मे भी अनेक प्रकार से जिनेन्द्र पूजा का विधान है: —

जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य, न किंचिद् दुर्लभं भवेत्॥

(पद्मपुराण, अ. १४. श्लोक २१३)

---

१. (विषापहार स्तोत्र श्लोक—३२)

सारांश—जो मानव जिनबिम्ब प्रतिष्ठा को, जिनेन्द्र देव के ध्यान को, अष्टद्रव्य से जिनेन्द्रपूजा को और जिनेन्द्रदेव की स्तुतियाँ स्तोत्र को शुद्धभाव से करता है उस मानव को जगत् मे कोई भी श्रेष्ठ फल दुर्लभ नही है।

इन प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि जैन संस्कृति मे पूजा के अनेक प्रकार है। उनमे भी प्राचीन काल मे तथा भोगभूमि के पश्चात् कर्मभूमि मे सर्वप्रथम गुणस्मरण और स्तोत्र एव विनयपूर्वक नमस्कार करने से ही पूजाकर्म किया जाता था। इस विषय मे स्व श्री प. नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य ने भी कहा है—

"सिद्ध है कि आरम्भ मे गुणस्मरण और स्तवन के रूप मे भक्तिभावना प्रचलित थी। अष्टद्रव्य रूप पूजन का प्रचार उसके पश्चात् ही हुआ है।" [1]

स्तोत्रभक्ति के विषय मे एक अन्य प्रमाण और भी दिया गया है जिसको आचार्य समन्तभद्र ने श्री नमिनाथ तीर्थंकर के स्तवन मे श्री बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र के अन्तर्गत कहा है—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्य नमिजिनम्॥

अर्थात् स्तुति के समय स्तुत्य वर्तमान रहे अथवा न रहे, फलप्राप्ति उसके द्वारा होती हो अथवा न होती हो, पर भक्तिभाव पूर्वक स्तुति करने वाले को, शुभोपयोग के कारण पुण्य की प्राप्ति होती ही है। स्तुति करने से श्रेयोमार्ग सुलभ हो जाता है। इसलिये विद्वान् सर्वदा शुद्धभाव पूर्वक पूज्य नमितीर्थंकर का स्तवन करे।

श्रमण सस्कृति मे मुनि,आर्यिका,क्षुल्लक, ऐलक,आचार्य एवं उपाध्याय,भक्तिपाठो के माध्यम से भावात्मक देवपूजा करते है और गृहस्थ या श्रावक स्तोत्र तथा अष्टद्रव्यों के माध्यम से द्रव्यात्मक देवपूजा का कर्त्तव्यपूर्ण करते है। परन्तु श्रावको को शुद्धभावपूर्वक द्रव्य पूजा करना आवश्यक है। मुनि आदि रत्नत्रय की साधना करने वाले महाव्रती धर्मात्मा, भक्तिपाठो के द्वारा ही विना द्रव्य के अपने भावो को विशुद्ध करने की क्षमता रखते है। इसलिये श्री कुंदकुदाचार्य ने प्राकृत मे दश भक्तिपाठो की और पूज्यपादाचार्य ने सस्कृत मे दशभक्तिपाठो की रचना कर श्रेयोमार्ग की साधना को प्रशस्त किया है। इन भक्तिपाठो मे वीतरागदेव, शास्त्र,गुरु का, पचपरमेष्ठी देवो का और चतुर्विशति तीर्थंकरो का यथायोग्य गुण कीर्तन किया गया है।

भक्तिपाठो के पश्चात् स्तवन तथा स्तोत्र का क्रम वर्णित किया जाता है। भक्तिपाठो के समान स्तवन का भी अतिमहत्त्व एव उपयोग देखा जाता है। स्तवन,स्तव, स्तुति, नुति इन शब्दो का सामान्य रूप से एक ही गुणकीर्तन अर्थ जाना जाता है। विशेष रूप से इनका विचार करने पर स्तवन आदि शब्दो मे विशेषता ज्ञात होती है वह इस प्रकार है—सस्कृत व्याकरण के कृदन्त प्रकरण मे स्तुति अर्थ वाली 'स्तु' धातु से भाव मे अप् प्रत्यय संयुक्त करने पर स्तव शब्द सिद्ध होता है। 'स्तु' धातु से ल्युट् (यु-अन) प्रत्यय युक्त करने पर स्तवन शब्द सिद्ध होता है 'स्तु' धातु से ति प्रत्यय जोडने पर स्तुति शब्द और 'स्तु' धातु से त्र प्रत्यय सयुक्त करने स्तोत्र यह शब्द सिद्ध होता है। णू स्तवने-धातु से ति प्रत्यय जोडनेपर नुति यह शब्द सिद्ध होता है। इन सब शब्दो का सामान्य अर्थ गुणकीर्तन

---

१ भारतीय संस्कृति के विकास मे जैनवाङ्मय का अवदान, खं. १ पृ. ३८६

होता है। धर्मशास्त्रो की अपेक्षा विचार करने पर विशेषता यह है—अनेक पूज्य आत्मा के गुणों की प्रशसा, संक्षेप या विस्तार से करना स्तव तथा स्तवन कहा जाता है और व्यक्तिविशेष पूज्य आत्मा या एक महात्मा के गुणो का सक्षेप या विस्तार से गुणकीर्तन करना स्तुति या स्तोत्र कहा जाता है, नुति भी उसी को कहते है। इन सभी स्तवन और स्तोत्रो की जैन दर्शन मे न्यूनता नही है, सैकड़ो पाये जाते है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, गुजराती, मराठी, कन्नड, हिन्दी आदि भाषाओ मे स्तोत्र बहुसंख्यक है उनमे संस्कृत के स्तोत्र प्राचीन भक्तिरस पूर्ण, सरस,आकर्षक और मधुर छन्दो मे उपलब्ध होते हैं। खोज करने पर सस्कृत के प्राय ६०-६५ स्तोत्र उपलब्ध हुए है। सभी स्तोत्र भावपूर्ण सुन्दर छन्दो मे निर्मित सुन्दर रचना से परिपूर्ण हैं। उनमे भी पाच स्तोत्र अधिक प्रसिद्ध, सरस, चमत्कारपूर्ण, अलंकारो से अलकृत और आकर्षक छन्दो मे निर्मित है। जैनसस्कृति के उपासक अधिक संख्या मे इन पच स्तोत्रो का यथासभव निरन्तर पाठ करते रहे हैं, परन्तु उन उपासको को अर्थ का बोध न होने से भक्तिरस के साथ वीतराग जिनेन्द्र देव के गुणो का स्मरण कर वास्तविक आत्मानन्द नही मिल पाता था, केवल शब्दात्मक, प्रायः अशुद्धपाठ करके ही अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर लेते थे।एवं सार्थ व्यवस्थित मुद्रित पुस्तक उपलब्ध न होने से भी अधिकाश पाठ ही नही करते थे।

श्रीमान् प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य की विवेकपूर्ण दृष्टि इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर गई। आपने इस कमी की पूर्ति के लिये 'पञ्चस्तोत्र सग्रह' नाम की पुस्तक का सम्पादन कर अपना कर्त्तव्यपूर्ण किया है। इस पुस्तक मे प्रसिद्ध पाच स्तोत्रो का सग्रह किया गया है : १ भक्तामर स्तोत्र, २ कल्याणमन्दिर स्तोत्र ३ एकीभाव स्तोत्र, ४ विषापहार स्तोत्र, ५ जिनचतुर्विशतिका स्तोत्र। इन स्तोत्रो के प्रत्येक श्लोक का क्रमश. अन्वय अर्थ तथा भावार्थ, रोचक शैली मे प्रस्तुत किया गया है, जिसको पढकर कोई भी साक्षर व्यक्ति इन स्तोत्रो का तात्पर्य अच्छी तरह समझ सकता है और नित्य तथा शुद्धपाठ से आत्मा की विशुद्धि प्राप्त कर सकता है।

श्री पं पन्नालाल जी ने इस पुस्तक की भूमिका मे अपने विचार व्यक्त किये है जो ध्यान देने योग्य है—"ये पाचो स्तोत्र संस्कृत भाषा मे लिखे गये है इसलिये इनके मूलपाठ से भक्तिरस का पूर्ण अनुभव तो उन्ही को हो सकता है जो सस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् है। जैसे कि मेघ के शुद्धस्वादिष्ट पानी का अनुभव चातक ही कर सकता है अन्य साधारण प्राणी नही।' अपिच—

"यद्यपि जिनचतुर्विशतिका स्तोत्र को छोड़कर शेष चार स्तोत्रो का हिन्दी पद्यो मे भावानुवाद हो चुका है तथापि जो सस्कृत शब्दका अर्थ जानते हुए पद्य का भावगाम्भीर्य जानना चाहते हे उन उपासको को इन स्तोत्रो का अन्वयपूर्वक शब्दार्थ बतलानेवाली टीका की आवश्यकता का अनुभव होता रहता था। भक्तामर स्तोत्र और कल्याण मन्दिर स्तोत्र की हिन्दी टीकाये अन्वय अर्थपूर्वक प्रकाशित हो चुकी हैं परन्तु एकीभाव,विषापहार और चतुर्विशतिका स्तोत्र की हिन्दी टीका अभी तक अप्रकाशित है। मेरी इच्छा पचस्तोत्रो की सग्रह रूप से टीका लिखने की थी और अनेक महाशयो ने कईबार इस विषय की प्रेरणा भी की। अब अवकाश प्राप्तकर मैने इन स्तोत्रो की टीका लिखने का प्रयत्न किया है"।[1]

पचस्तोत्रसंग्रह मे पाच स्तोत्रो की सरल तथा सक्षिप्त टीका की गई है, ये स्तोत्रकाव्य के रूप मे एक धार्मिक ग्रथ हैं जो भक्तिरस से परिपूर्ण है। प्रत्येक श्रद्धालु मानव को इन स्तोत्रो का सार्थ नित्यपाठ करना चाहिये।

इन स्तोत्रो की टीका मे जो विशेषता है उनके कुछ महत्त्वपूर्ण अंश क्रमश इस प्रकार है—

---

१. पचस्तोत्रसग्रह (भूमिका-पृष्ठ ४-५)

(१) भक्तामर स्तोत्र के प्रणेता श्री मानुतंग आचार्य प्रसिद्ध है। आपने मालवदेश की राजधानी धारा नगरी के कृष्णमंदिर मे भक्तामर स्तोत्र की मौलिक रचना कर भक्ति मंत्रों का प्रभाव दर्शाया। इस स्तोत्र का द्वितीय नाम श्री आदिनाथ स्तोत्र है कारण कि इस स्तोत्र मे भगवान् ऋषभदेव। (आदिनाथ) का स्तवन किया गया है। इस स्तोत्र को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्परा मे पूज्यता की दृष्टि से देखा जाता है। इसकी रचना छठवी तथा सातवी शती के मध्यभाग मे हुई है। इस स्तोत्र के नित्यशुद्धपाठ सार्थ करने से परमार्थिक फल मुक्ति लक्ष्मी की प्राप्ति और लौकिकफल स्वर्ग, राज्य आदि की लक्ष्मी की प्राप्ति होती है प्रत्येक काव्य के दोनो फल सिद्ध होते है। उदाहरणार्थ अन्तिम काव्य इस प्रकार है—

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्रगुणं निबद्धां, भक्त्या मया रुचिरवर्ण–विचित्र पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्रं, त मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मी. ॥४८॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र!) हे जिनेन्द्र देव। (इह) इस ससार मे (य. जनः) जो मनुष्य (मया) मेरे द्वारा (भक्त्या) भक्तिपूर्वक (गुणैः) माधुर्य आदि काव्यगुणो से अथवा जिनेन्द्रदेव के गुणों से [माला के पक्ष मे–धागे से] (निबद्धा) रची गई [माला के पक्ष मे–गूँथी गई], (रुचिरवर्ण विचित्र पुष्पा) भक्तामर पक्ष मे–मनोहर अक्षर ही हैं विचित्र फूल जिसमे ऐसा स्तोत्र, [मालापक्ष मे–सुन्दररगवाले विविध फूलो से सहित], (तव) आपकी (स्तोत्रस्रज) स्तुतिरूप माला को (अजस्र) हमेशा (कण्ठगता धत्ते) भक्तामर पक्ष मे–याद करता है [माला पक्ष मे–गले मे पहिनता है] (तम्) उस (मानतुङ्ग) सम्मान से उन्नत पुरुष को [अथवा–स्तोत्र को रचनेवाले मानतुग आचार्य को] (लक्ष्मी) स्वर्गमोक्ष आदि की विभूति [मालापक्ष मे–लौकिक सम्पत्ति] (अवशा सती) स्वतंत्र होती हुई (समुपैति) प्राप्त होती है।

भावार्थ –हे जिनेन्द्र आदिनाथ भगवन्! जो मनुष्य निरन्तर आपके इस भक्तामर स्तोत्र का शुद्धपाठ करता है, उसे हर एक तरह की (अन्तरग तथा वहिरग) लक्ष्मी प्राप्त होती है। इस पद्य मे श्लेप–रूपक–स्वभावोक्ति अलकार हैं।

(२) उत्तरभारत के दि. जैन आचार्य श्रीवृद्धिवादि मुनिराज ने श्री कुमुदचन्द्र विद्वान् से शारीरिक शुद्धि–अशुद्धि के विषय मे तीन शास्त्रार्थ किये थे, उन तीनों शास्त्रार्थो मे श्री कुमुदचन्द्र ने पराजय प्राप्त की और शास्त्रार्थ के प्रसग मे ही स्वानुभव से अपनी भूल समझकर उसे दूर किया और श्रीवृद्धवादिसूरि से मुनि दीक्षा लेकर ही आचार्य पद पर आत्मसाधना करने लगे। इसी प्रसग मे श्री कुमुदचन्द्रआचार्य ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र की रचना करते हुए भ० पार्श्वनाथ का स्तवन किया है। इस स्तोत्र मे अर्थगाम्भीर्य और अलकारो की छटा से भक्तिरस की अनुपम एव आनन्दप्रद धारा प्रवाहित की गयी है। उदाहरणार्थ एक मनोहर पद्य को अन्वयार्थ तथा भावार्थ सहित प्रस्तुत किया जाता है—

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक! दुर्गतस्व
कि वाक्षर प्रकृति रप्यलिपिस्त्वमीश!
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु ॥३०॥[1]

अन्वयार्थ—(जनपालक!) हे जीवो के रक्षक! (त्व) आप (विश्वेश्वर. अपि दुर्गत) तीनलोक के स्वामी होकर भी दरिद्र हैं। (किंवा) और (अक्षर प्रकृति अपि त्व अलिपि.) अक्षर स्वभाव होकर भी लेखन क्रिया से

---

१. कल्याणमदिर स्तोत्र, श्लोक ३०, पृ ५६-५७

रहित है। (ईश) हे स्वामिन्! (कथंचित्) किसी प्रकार से (अज्ञानवति अपि त्वयि) अज्ञानवान होने पर भी आप मे विश्व विकास हेतु (ज्ञानं सदा एव स्फुरति) सब पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला ज्ञानहमेशा स्फुरायमान रहता है।

भावार्थ—इस श्लोक मे विरोधाभास अलंकार है, विरोधाभास अलकार मे शब्द के सुनते समय तो विरोध मालूम होता है पर अर्थ विचारने पर बाद मे उसका परिहार हो जाता है। जहा इस अलकार का मूल कारण श्लेष होता है, वहा बहुत ही अधिक चमत्कार पैदा होता है। देखिये विरोध का परिहार इस प्रकार होता है—भगवन्! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत (दरिद्र) है, यह पूरा विरोध है भला जो जगत् का ईश्वर है वह दरिद्र कैसे हो सकता है। इसका निराकरण है कि आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत है अर्थात् कठिनाई से जाने जा सकते हैं। इसी प्रकार आप अक्षर प्रकृति अर्थात अक्षर स्वभाव वाले होकर भी,अलिपि है अर्थात लिखे नही जा सकते है यह विरोध है परन्तु दोनो शब्दो का श्लेष विरोध को दूर कर देता है कि आप अक्षर प्रकृति अर्थात अविनाशीस्भाव वाले होकर भी अलिपि अर्थात आकारहित (निराकार) है। इसी प्रकार अज्ञानवाति अपि अर्थात् अज्ञानयुक्त होने पर भी आपमे विश्वविकास हेतु ज्ञानं स्फुरति अर्थात ससार प्रकाशक ज्ञान स्फुरायमान होता है। यह विरोध है कि जो अज्ञानयुक्त है उसमे पदार्थो का ज्ञान कैसे हो सकता है। पर इसका भी नीचे लिखे अनुसार परिहार हो जाता है कि अज्ञान अवति अपि त्वयि अर्थात् अज्ञानी मनुष्यो की रक्षा करने वाले आपमे हमेशा केवल ज्ञान जगमगाता रहता है।

(३) एकीभाव स्तोत्र के प्रणेता श्री वादिराज मुनिराज हैं। आप सस्कृत व्याकरण न्याय और साहित्य के परमवेत्ता होने के साथ अध्यात्म विषय के भी पारगामी विद्वान् थे। स्तोत्र के नाम से अध्यात्म रस झलकता है। तपस्या करते हुए आपको कुष्ठ की बाधा हो गई थी। इसी समय मे एकीभाव स्तोत्र की रचना करते समय भावो की विशुद्धि के कारण पुण्ययोग से कुष्ठ की बाधा नष्ट होकर सुन्दर शरीर हो गया था। इसी तात्पर्य का प्रतिपादक एक पद्य उदाहरणार्थ देखिये—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टः
तत्किं चित्रं जिन! वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि॥[1]

अन्वयार्थ—(देव) हे जिनेन्द्र! (भव्य पुण्यात्) भव्य जीवो के पुण्य के हेतु (त्रिदिवभवनात्) स्वर्गलोक से (इह) इस धरातल पर (एष्यता) आने वाले (त्वया) आपके द्वारा (प्राग् एव) छह माह पहले से ही जब (इदं पृथ्वी चक्र) यह भूमण्डल (कनकमयता) सुवर्ण रूपता को (निन्ये) प्राप्त कराया गया था अर्थात् सोने का बना दिया गया था, तब फिर (जिन) हे जिनेन्द्र! (ध्यानद्वार) ध्यानरूप दरवाजे से सहित और (रुचिकर) प्रेम उत्पन्न करने वाले (मम) हमारे (स्वान्तगेह) मनरूप घरमे (प्रविष्ट) प्रविष्ट हुए आप (इदं वपु) इस शरीर को (यत्) जो (सुवर्णीकरोषि) सुन्दर अथवा सुवर्णमय कर रहे हो (तत् किं चित्र) वह क्या आश्चर्य है! अर्थात् कुछ भी नही॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्रदेव! जब आपके स्वर्गलोक से भूलोक पर आने के लिये छह माह बाकी थे तभी आपके प्रभाव से यह समस्त पृथिवी सोने जैसी सुन्दर हो गई थी, फिर अब तो आप हमारे मनमन्दिर मे प्रविष्ट हो चुके है इसलिये यदि यह शरीर सुन्दर अथवा सुवर्ण जैसा हो जावे तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है। (यहाँ सुवर्ण शब्द के दो अर्थ हैं एक सुन्दर और दूसरा सुवर्ण/सोना)। इसपद्य मे मन्दाक्रान्ता छन्द और श्लेप, सभावना एवं आश्चर्य अलकारो की छटा से शान्तरस प्रवाहित हो रहा है। यह स्तोत्र २६ पद्यो मे पूर्ण होता है।

---

१. (एकीभाव स्तोत्र पं. स. श्लोक ४, पृ. ६९)

(४) संस्कृत भाषा मे द्विसन्धान महाकाव्य के प्रणेता महाकवि धनंजय विषापहार स्तोत्र के रचयिता हैं। इसमे उपजाति छन्द मे निबद्ध कुल चालीस पद्य हैं। इन पद्यो में अलंकारो की छटा, शब्दविन्यास, अर्थ की गंभीर कल्पना और भक्तिरस का प्रवाह विचित्र एवं अपूर्व है। भगवत्पूजन के पश्चात् इस स्तोत्र की रचना के कारण होने वाली आत्मविशुद्धि के प्रभाव से इनके इकलौते पुत्र का सर्पविषशान्त हो गया था, इसलिये इस स्तोत्र का नाम 'विषापहार' लोक प्रसिद्ध हो गया है। उदाहरणार्थ इस स्तोत्र का प्रथम पद्य प्रस्तुत है --

स्वात्मस्थित. सर्वगतः समस्त--व्यापार--वेदी--विनिवृत्त सग : ।
प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः, पायादपायात्पुरुषः पुराण' ॥१॥

अन्वयार्थ -- (स्वात्मस्थितः अपि सर्वगतः) आत्मस्वरूप मे स्थित होकर भी सर्वव्यापक, (समस्त व्यापार वेदी अपि) सब व्यापारो के जानकार होकर भी, (विनिवृत्त सग) परिग्रह से रहित, (प्रवृद्धकालः अपि अजर·) दीर्घ आयु वाले होकर भी बुढापे से रहित तथा (वरेण्य) श्रेष्ठ (पुराण. पुरुष.) प्राचीन पुरुष = भ० आदिनाथ, (न) हम सब को (अपायात्) विनाश या विघ्न से, (पायात्) रक्षित करे।

भावार्थ -- इस पद्य मे विरोधाभास अलंकार है। इस अलंकार मे सुनते समय विरोध मालूम होता है पर बाद मे अर्थ का विचार करने से विरोध का परिहार हो जाता है। देखिये -- जो अपने स्वरूप मे स्थित होगा वह सर्व-व्यापक कैसे होगा ! यह विरोध है, पर उसका परिहार यह है -- कि पुराणपुरुष (भ० आदिनाथ आत्म--प्रदेशो की अपेक्षा अपने स्वरूप मे ही स्थित हैं पर उनका ज्ञान सर्वलोक के पदार्थों को जानता है,इसलिये ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत (व्यापक) है। जो सम्पूर्ण व्यापारो का जाननेवाला है वह परिग्रहरहित कैसे हो सकता है, यह विरोध है, उसका परिहार है कि आप सर्व पदार्थों के स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिवर्तनो को जानते हुए भी कर्मों के सम्बन्ध से रहित हैं। इसी तरह दीर्घायु से सहित होकर भी बुढापे से रहित हैं, यह विरोध है, उसका परिहार यह है -- महा-पुरुषो के शरीर मे वृद्धावस्था का विकार नही होता अथवा आत्मस्वरूप की शुद्धता की अपेक्षा मे कभी भी जीर्ण (वृद्ध) नही होते। इस प्रकार के श्री आदिनाथ भगवान् उस लोक मे विघ्नबाधाओ से हम सब की रक्षा करें--यह प्रार्थना की गई है। इस पद्य मे विरोधाभास अलकार तीन प्रकार मे दर्शाया गया है।

इसी स्तोत्र के पद्य न. १२ का चित्त-आकर्षक-भाव सौन्दर्य इस प्रकार है--

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्, धर्माय पापानि समाचरन्ति ।
तैलाय बाला सिकतासमूह, निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥

अन्वयार्थ -- जिस प्रकार (बाला) बालक या मूर्ख, (तैलाय) तैल के लिये (सिकतासमूहं) बालु के समूह को (निपीडयन्ति) पेलते है। (स्फुट) स्पष्ट रूप से उसी प्रकार (अत्वदीया) आपके प्रतिकूल चलने वाले पुरुष (सुखाय) सुख के लिये, (दुःखानि) दु खो को, (गुणाय) गुण के लिये, (दोषान्) दोषो को और (धर्माय) धर्म पालन के लिये, (पापानि) पापकर्मो को (समाचरन्ति) आचरण मे लाते है।

(५) जिन चतुर्विंशतिका स्तोत्र श्री भूपाल कवि द्वारा प्रणीत है इसमे छब्बीस पद्य विविध छन्दो मे निबद्ध है, चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति होने से यह स्तवन काव्य है। कविवर साहित्य के उच्च कोटि के विद्वान् थे। इसलिये इस स्तोत्र मे विविध रुचिर छन्द, अलकार, गुण, रस और काव्य की रीतियो का सुन्दर समावेश चित्त को आकर्षित करता है। उदाहरणार्थ द्वितीय पद्य प्रस्तुत किया जाता है--

शान्तं वपुः श्रवणहारि वचश्चरित्रं, सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः।
संसारमारव महास्थल रुद्र सान्द्रच्छायामहीरुह ! भवन्तमुपाश्रयन्ते ।।२।।

अन्वयार्थ —(देव) हे जिनेन्द्र देव! (तव) आपका (वपु.) शरीर (शान्त) शान्त है (वच:) वचन (श्रवणहारि) कानो को प्रिय है और (चरित्र) चारित्र अथवा आचरण, (सर्वोपकारि) सबका भला करने वाला है। (तत:) इसलिये (ससार मारव महा स्थल रुद्र सान्द्रच्छाया महीरुह !) हे संसाररूप मरुस्थल मे विस्तृत सघन छाया वृक्ष ! (श्रुतज्ञा:) शास्त्रो के जानने वाले विद्वान् पुरुष, (भवन्तं उपाश्रयन्ते) आपका आश्रय लेते है ।।

भावार्थ — मरुस्थल प्रदेशो मे छायावाले वृक्ष बहुत कम होते है इसलिये मार्ग मे रास्तागीरो को बहुत तकलीफ होती है। वे थके हुए रास्तागीर जब किसी छायादार वृक्ष को पाते हैं तब बड़े खुश होते है और उसकी सघन शीतल छाया मे बैठकर अपना सब परिश्रम भूल जाते हैं। इसी तरह ससाररूप मरुस्थल मे आप जैसे शीतल छायादार वृक्षों की बहुत कमी है, इसलिये मोक्षनगर को जाने वाले पथिक रास्ते मे बहुत तकलीफ उठाते हैं, पर जब उन्हें आप जैसे छायादार शीतल वृक्ष की प्राप्ति हो जाती है तब वे बहुत ही खुश होते हैं और आपके आश्रय मे बैठकर अपने सब दु ख को भूल जाते है ।।

एक अन्य भक्तामर स्तोत्र नाम की पुस्तक का श्री प पन्नालाल जी सा.ने सम्पादन किया है। जिसमे श्रीचन्द्रकीर्ति कृत सस्कृत टीका, श्री गिरिधर शर्माकृत हिन्दी पद्यानुवाद, स्वकृत अन्वयार्थ तथा भावार्थ का समावेश है। इस पुस्तक का प्रकाशन श्रीसन्मति कुटीर, चन्दावाडी, सी. पी. टेक, बम्बई नं. ४ से हुआ है।

पंचस्तोत्रसग्रह का प्रकाशन स्व सेठ किशनदास पूनमचन्द्रजी कापड़िया (सूरत) स्मारक ग्रंथमाला नं ३ के द्वारा हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र इतना प्रिय और मनोहर है कि इसके प्रत्येक पद्य के चतुर्थ चरण को समस्या की पूर्ति के रूप मे लेकर, सस्कृत कवि श्री मुनिरत्न सिंह जी ने संस्कृत मे 'प्राणप्रिय काव्य' की रचना कर दी है। श्रीनेमिनाथ और श्री राजुलमती के विरह को इस प्राणप्रिय काव्य का वर्णनीय विषय बनाया गया है और मास्टर छोटेलाल जैन ने इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया है। उदाहरणार्थ एक नवम पद्य प्रस्तुत है—

तेत्रामृते सुहृदिनाथ निरीक्षतेऽपि, हृष्यन्ति यद्भुवि विशोऽत्र किमद्भुतं तत्।
मित्रोदयेऽपि च भवन्ति विचेतनानि, "पद्माकरेषु जलजानि विकासभञ्जि ।।९।।
स्वामी सुधानयन के तुम हो सनेही, तो क्यों नहीं मुदित हो नर देखके ही।
सूखे हुए कमल ही जल-आशयों के, होते प्रफुल्ल लखि ज्यों रविमित्र को वे ।।९।।

प्राचार्य,
श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय,
सागर [म. प्र.]

डॉ. (पं.) पन्नालाल जी साहित्याचार्य द्वारा रचित–
हिन्दी कविताओं पर एक दृष्टि

नेमिचन्द्र पटोरिया.

विद्वान् (प) डॉ. पन्नालाल जी साहित्याचार्य हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ के आचार्य तो है ही, साथ ही उनकी लेखन प्रतिभा ने गद्य, पद्य, चम्पू या मुक्तक आदि साहित्य के जिस किसी भी अङ्ग को स्पर्श किया है, उसमे अनोखी कान्ति निखर आयी । उनके अनेक स्वतत्र रचित, सम्पादित, अनुवादित या व्याख्यापरक ग्रन्थ सस्कृत और हिन्दी मे उपलब्ध हैं । ये सभी कृतिया पंडित जी की अद्वितीय प्रतिभा का सुन्दर परिचय हैं। इन्ही अप्रतिम गुणो के कारण सागर विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टरेट (विद्या वाचस्पति) की उपाधि से विभूषित किया है । सरस्वती के ऐसे लाडले सपूत के प्रति अपनी श्रद्धा की अजलि अर्पण करने किस मनीषी का हृदय नही मचलेगा ।

जैन साहित्य-जगत् ने विद्वान् प जी की रग-बिरगी गद्य-विद्या को देखा, पढा और बहुमान सराहा है। किन्तु हिन्दी मे रचित पद्य-विधा या काव्य-धारा से साधारण ही नही, अनेक विज्ञजन भी अनभिज्ञ हैं । इसका एक कारण तो यह है कि उनकी हिन्दी कवितायें एक ग्रन्थ मे गुम्फित नही है । ये कवितायें अनेक पत्र-पत्रिकाओं मे स्फुट प्रकाशित होकर बिखरी पडी हैं । साथ ही अब एक लम्बे अरसे से उनकी लेखनी पद्य-रचना प्रसूत करने मे उदासीन सी हो गयी है । लगभग ४०-४५ वर्ष पूर्व उनकी तरुण उमग ने अपनी पद्य-रचना को जैसा संवारा और सजाया था, उसमे उनकी प्रतिभा, कविता के अग-अग से अगडाइयाँ लेती प्रतीत होती है । प जी का कवि उपनाम 'वसन्त' है ।

श्री राकेश जैन द्वारा उनके पद्य-सग्रह को विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ से सकलित किया है, उसे मैंने देखा है और हृदय से सराहा है । मैं पं जी के कवि से बहुत प्रभावित हुआ हूँ और इसीलिये उनके कवि-कर्म की प्रशसा, विज्ञ पाठको के सम्मुख रखने का लोभ सवरित नही कर सका । यहाँ मैं उनकी कविताओ का कुछ परिचय देना अपना कर्त्तव्य मानता हूँ ।

उनके कविता-गुच्छ को हम विषयानुरूप चार भागो मे विभाजित कर सकते हैं । उनकी कविता वाटिका की चार भिन्न-भिन्न क्यारियाँ महक रही हैं । पहली क्यारी 'प्राकृतिक' या प्रकृति-सौन्दर्य की क्यारी है । दूसरी 'धार्मिक' या धर्म के गूढ सिद्धान्तो की क्यारी है, तीसरी 'सामाजिक' या समाज सबधी रचनाओ की सरस क्यारी है और चौथी व अतिम 'प्रकीर्णक' क्यारी है, जिसमे विभिन्न विषयो पर कवि के सुलझे हुए विचार-सुमन महक रहे है ।

प्राकृतिक या प्रकृति-वर्णन रचनाओं में 'वर्षा' 'शरद' 'ऊषा' 'प्रभातचन्द्र' और 'प्रभात-स्वागत' शीर्षक कविताएं प्रमुख हैं। शीर्षक के अनुरूप कवि ने प्रकृति का अपने दृष्टिकोण से वर्णन किया है जो अपूर्व है। 'वर्षा' मे कवि की पैनी दृष्टि ने वारिद-समूह, उनका गर्जन-तर्जन, विद्युत-कौंधना, जल-वर्षण, हरित परिधान ओढे मेदिनी आदि सब कुछ देखा है। कवि स्वयं गा उठा है—

"सघन–गगन के ठीक बीच में, कभी बलाका उठती है।
कविजन की तब परम कल्पना, दिव्य-काव्य को गढ़ती है।।"

'शरद' कविता मे प्रकृति का निरभ्र वर्णन है। स्वच्छ-गगन, स्वच्छ-रश्मियाँ, स्वच्छ-नदी-नद-सर, उनमे स्वच्छ-जल-ऊर्मियाँ, रात्रि मे स्वच्छ-चन्द्रिका को देख कवि हृदय भी कल्पना का स्वच्छ-रस बहाने लगता है—

जब निशाकर के शुभ योग में,
सिल विभा रजनी दिखती यहाँ।
तब कवीन्द्र नई निज कल्पना,
हृदय से रस-पूर्ण निकालते।।

'ऊषा' कविता मे उषा, रजनी के तम-परिधान को चीरती, पर्वत-शिखर पर रंग-बिरंगे चित्र खींचती, सरोवर की लहरों पर नृत्य करती हुई कितनी भली लगती है। साथ ही नटखट भी कितनी है कि प्राची के गालो पर गुलाबी रग मलने से नही चूकती है। उषा के आगमन पर कोयल कूकने लगती है, कुसुम खिल-खिला उठते है, भौंरे बीन बजाने लगते है और शीतल-मन्द बयार पंखा झलने लगती है। अर्थात् इस रचना मे ऊषा का सागोपाग सुन्दर वर्णन है।

ऊषा के सौन्दर्य से वशीभूत होकर 'प्रभात' खिचा आता है। 'प्रभात-स्वागत' मे कवि की हृदय-तन्त्री स्वयमेव झनझनाने लगती है। वस्तुतः कवि प्रभात सौदर्य को पीछे ढकेल अपने हृदय की भावनाओं को सामने रखता है—

'दिव्य-बोध मार्तण्ड प्रभा से,
भव्यों का मन-कंज खिलाओ।
बिछुड़े हुए बंधु–चक्रो को,
प्रेम-सूत्र से शीघ्र मिलाओ।।'

अब हम धार्मिक-कविताओं की क्यारी मे चलते है। इस क्यारी मे क्षमा, दशधर्म, एकान्त और अनेकान्त, आत्मभावना एवं जैनी-नीति आदि मुख्य पद्य-सुमन हैं। जैनी-नीति मे कवि ने स्याद्वाद-सिद्धान्त को गोपी के दधि-मन्थन का उदाहरण देकर भली-भाति समझाया है। इस गभीर पद्य-भाग मे विषय के गूढ रहस्यों को सरल व सरस भाषा मे जिज्ञासु/पाठक के हृदय मे उतारने का कवि ने सुप्रयास किया है। इन पद्यो मे धर्म-सिद्धान्त वर्णित हैं, जिनमें कवि-कल्पना का तत्त्व मिलाया नही जा सकता अतः इन पद्यो मे कवित्व प्रभा तो दब गयी है या गौण हो गयी है किन्तु धर्म-सिद्धान्त की आभा उजागर होकर उभरी है।

इन्ही कविताओ मे 'वीर-प्रार्थना','आओ महावीर भगवान्'और 'वीर-जयन्ती' पद्य भी है। जिनमे कवि की सूझबूझ व हृदय-भावना मुखरित हो उठी है। 'आओ महावीर भगवान्' मे कवि ने वर्तमान मे अधर्म के बढते बल, अशाति, जाति विद्वेष और हिंसा को मिटाने हेतु महावीर के अवतार की कामना की है। 'वीर जयन्ती' एक लघु कविता है, जिसमे द्वितीय महायुद्ध के दानव-हिटलर, मुसोलिनी व चर्चिल द्वारा मानव-रक्त की होली खेलने पर, कवि ने सताप प्रगट किया है। कवि के शब्दों ने"आत्म-भावना"मे अपने हृदय के सच्चे उद्‌गार ऐसे व्यक्त किये हैं—

गृहवासा से तजकर आशा, जाय तपोवन वास करेंगे।
द्विविध सग अभिसंग छोडकर, तोष-कोष निज माँहि भरेंगे॥
नग्न दिगम्बर धरकर मुद्रा, मदन-कदन का वेग हरेंगे।
जिन ! वह दिन कब होगा, जब हम मुक्तिवधू वर-कन्त बनेंगे॥

धार्मिक पद्यो का उद्देश्य ही है कि हमारी सुप्त आत्मा जागृत होवे, निर्मल होवे तथा हम वैराग्य की ओर बढें। इस उद्देश्य मे कवि सफल कहे जा सकते है।

सामाजिक कविताओ मे 'परिवर्तन', 'अंधेरी', 'लेखनी' 'समाज का अभाग्य', 'ज्योति जगाना है', आदि प्रमुख काव्य रचनाए हैं। 'परिवर्तन'मे भारत के प्राचीन सास्कृतिक वैभव और वर्तमान पराभव से कवि ने व्यथित होकर यह रचना लिखी है। 'लेखनी' शीर्षक कविता मे वर्तमान विसंगतियो से दुःखी होकर कवि निराशा के अंधेरे मे डूबकर लिखना ही बद करना चाहता है—

विश्व सुनता है कहाँ, तू बोल क्या क्या लिख रही है ?
लेखनी ! विश्राम ले, तू व्यर्थ में क्यो लिख रही है॥

'अंधियारी' मे कवि आज की परिस्थितियों से सघर्ष करने हेतु युवा वर्ग को प्रेरित करता है—

ऐसी अंधियारी मे सोते, नहीं युवाओ रहो।
सहो विघ्न बाधाएँ आगे को बढ़े चलो॥

'समाज का भाग्य' कविता मे कवि ने समाज मे व्याप्त कुरूढियो, यथा मृत्यु-भोज, विवाह में व्यर्थ खर्च, कन्या विक्रय, वृद्ध-विवाह, दहेज, गजरथ आदि पर सटीक व्यग्य किया है। इसी तरह 'जीवन मे ज्योति जगाना है' व 'जागो-जागो हे युग प्रधान' रचनाओ मे कवि ने युवावर्ग को ललकारा है व आगे आने को प्रोत्साहित किया है—

हे वीर युवक ! गुण-गौरव-घन, यश-सौरभ के मंजुल उपवन।
जग जाग उठा, तुम नहिं जागे, उठ जाग बढ़ो सबके आगे॥

युवा शक्ति को कवि स्फूर्ति देता है—

है शक्ति निहित सारी तुममें, तुम ही हो जग के नर महान्।
भरकर उर मे संदेश दिव्य, फैला दो जग मे अतुल ज्ञान॥

'प्रकीर्णक' पद्य रचनाओ मे विभिन्न विषयों पर भिन्न-२ कविताएं हैं। इनमे 'मेरा पुस्तक-प्रेम' 'पैसन का--लोभ,' 'शिक्षा,' 'स्वागत-सगीत,' 'काल की विकरालता,' 'शोकोद्‌गार,' 'शोक-बिन्दु' प्रमुख हैं।

मेरा पुस्तक-प्रेम मे कवि ने अपने सच्चे हृदयोद्गार प्रकट किये है। 'स्वागत-सगीत' बुन्देलखण्ड प्रान्तीय दि. जैन सभा के अधिवेशन सन् १९३५ मे आगत प्रतिनिधियो के स्वागत मे गाया हुआ गीत है। 'शोकोद्गार पूज्य चिरोजाबाई के देहावसान पर लिखित पद्य है। 'शोक-बिन्दु' पं. नेहरू की माताजी श्रीमती स्वरूपरानी के निधन पर लिखित शोक-गीत है। 'काल की विकरालता' सरकार पर व्यंग्य है। इस प्रकार प्रकीर्णक मे विभिन्न रग-रूप के भिन्न-भिन्न पुष्प खिले है।

इस सपूर्ण कविता उपवन मे कवि 'वसंत' वसन्त-ऋतु सा छाया है। तरह-तरह की कोमलकात-पदावली के नव पल्लव लहरा रहे हैं। अनुपम प्रतिभा युक्त सुरभि के कुसुम महक रहे हैं, सूझ-बूझ की लताए विचारो के द्रुम से लिपटी अनोखी शोभा बिखेरती है। वास्तव मे कवि ने कविता का बसन्त बिखेर दिया है।

पं. जी की कविताओ के इस भावपक्ष के पश्चात् हम अब कलापक्ष पर दृष्टिपात करें।

कवि 'वसन्त' की रचना प्रसाद गुण लिये है, सरस और सुबोध है। कही-कही व्यंजना भी है पर प्रसाद प्रमुख है। इनकी कविताओ मे प्रायः प्रत्येक रस पाया जाता है। प्राकृतिक कविताओ मे शृंगार और अद्भुत रस मुख्य है, धार्मिक कविता मे शात रस की प्रबलधारा है और उसमे करुण रस प्रवाह भी है। सामाजिक कविताए करुण, वीर, अद्भुत, हास्य—व्यंग्य आदि रस को लिये है।

अलकारो का प्रयोग भी सुन्दर ढंग से है। अनुप्रास, यमक और श्लेष अलंकारो का अच्छा प्रयोग है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा व्यतिरेक और अपन्हुति के प्रयोग भी दृष्टव्य हैं। यदि सूक्ष्मता से देखे तो और भी शब्द-अर्थ अलंकार देखने मिल सकते है। पुरातन छन्दो से कविता मुक्त है। कवि ने नूतन, आधुनिक छन्दो का प्रयोग किया है। मात्रिक और वार्णिक दोनो छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

साराश यह कि कवि की कविताएं, काव्य के समस्त अंगो से सुसज्जित है, समादृत है और आदरणीय है।

शोध सहायक
जैन विद्या संस्थान, श्री महावीर जी

साहित्याचार्यजी का पुरस्कृत साहित्य :

लक्ष्मणप्रसाद जैन.

साहित्यमनीषी डॉ. प. पन्नालाल जी साहित्याचार्य 'वसन्त' सागर उन साहित्यसृष्टाओ की श्रेणी मे अग्रणी हैं,जिन्होने अपनी लेखनी से मौलिक चिन्तन और सम्पादन के द्वारा साहित्यभण्डार की श्री वृद्धि की है। जैन समाज मे इतना विशाल साहित्य देने वाला विद्वान् अन्य नही है, जैन पुराण साहित्य जो सर्व साधारण को पढने के लिये सुलभ नही था हिन्दी टीकायें कर सुलभ कराया कठिन सस्कृत के काव्य, चम्पू जिनका रसास्वादन अच्छे-अच्छे सस्कृतज्ञ विद्वान् भी आसानी से नही ले पाते थे, प. जी ने उनका सम्पादन कर उन्हे आसान बनाया और उन काव्यो की काव्यगत विशेषताओ को उजागर किया। पं. जी का सम्पादन कार्य अपने आप मे बहुत अनूठा है।

प जी की इन विशेषताओ के कारण उनके द्वारा सम्पादित साहित्य समादरणीय हुआ है, विद्वानो ने मुक्त कठ से प्रशंसा की है और साहित्य मूल्याकन कर उसे सम्मानित और पुरस्कृत भी किया है। यहाँ हम सिर्फ प. जी के पुरस्कृत साहित्य पर ही विचार कर रहे हैं —

जीवन्धर चम्पू :

महाकवि हरिचन्द्र द्वारा रचित यह सस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण चम्पू काव्य है, जैन साहित्य मे तो यह काव्य अनूठा ही है। सस्कृत साहित्य मे चम्पू साहित्य क्लिष्ट माना जाता है। पं. साहित्याचार्य जी का ध्यान इस तरफ गया और उन्होने इस चम्पू की सस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद कर सर्वसाधारण को सुगम बनाया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन पर प जी को मध्यप्रदेश शासन हिन्दी साहित्य परिषद् ने १९६० मे मित्र पुरस्कार से पुरस्कृत कर कृति को सम्मानित किया है।

पुरुदेव चम्पू

महाकवि अर्हदास की यह रचना सस्कृत साहित्य मे अनूठी है। श्लेपालकारो युक्त गद्य-पद्य मिश्रित रचना अत्यन्त गूढ है, जिसे साहित्याचार्य जी ने हिन्दी-सस्कृत टीकाकार उसे सरलतम बना दिया है। इस सम्पादित कृति को वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति इदौर ने भगवान महावीर २५००वा निर्वाण महोत्सव के उत्सव पर पुरस्कृत किया है।

गद्यचिन्तामणि :

वादीभसिह सूरि की यह रचना सस्कृत साहित्य मे अनूठी है। वाणभट्ट की "कादम्बरी" की कोटि में इस ग्रन्थ को रखा गया हैं। प जी ने हिन्दी सस्कृत टीकाकार और सम्पादन द्वारा इस क्लिष्ट रचना को सर्व साधारण को सुगम बनाया है,रचना अपने आप मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस सम्पादित कृति को अखिल भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वद् परिषद् ने १९७२ मे भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रदत्त श्रीगणेश प्रसाद वर्णी पुरस्कार से पुरस्कृत किया है।

सम्यक्त्वचिन्तामणि

सम्यक्त्वचिन्तामणि प जी की मौलिक रचना है। इस रचना की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता के कारण इसे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा सचालित जैन विद्या सस्थान द्वारा सचालित महावीर पुरस्कार १९८३ प्रदान किया गया है।

प. जी द्वारा सम्पादित प्राय सभी साहित्य, साहित्य-मनीषी विद्वानो द्वारा प्रशसित है और सभी साहित्य पुरस्कार के योग्य है। नि सदेह प जी ने साहित्य के माध्यम से स्वय को तो गौरवान्वित किया है, साहित्य ने भी प जी के माध्यम से सम्मान प्राप्त किया है। ऐसे साहित्य मनीषी विद्वान् का समग्र जगत् चिर ऋणी रहेगा।

प्राचार्य,
शा. मा. वि., भगवां, (बड़ा मलहरा) जिला छतरपुर
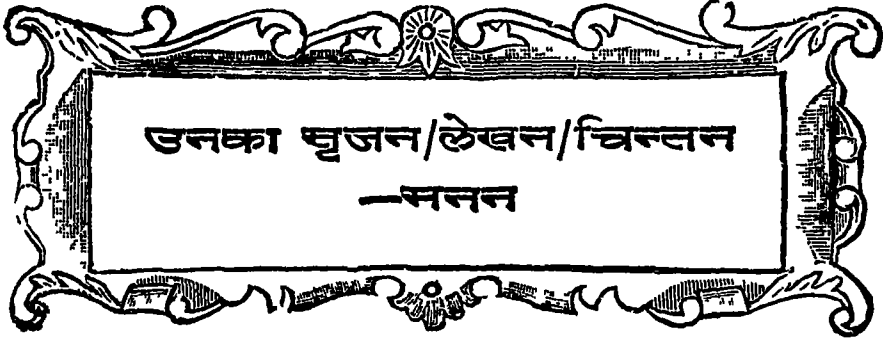
तृतीय खण्ड

पुराण एवं साहित्य

पुराण और काव्यः

भारतीय धर्मग्रन्थो मे पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास के साथ आता है । कितने ही लोगो ने इतिहास और पुराण को पञ्चमवेद माना है । चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इतिहास की गणना अथर्ववेद मे की है और इतिहास मे इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है । इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनो ही विभिन्न हैं । इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनो अपनी विशेषता रखते है । कोषकारो ने पुराण का लक्षण निम्न प्रकार माना है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

जिसमे सर्ग, प्रतिसर्ग वंश, मन्वन्तर और वंश परम्पराओ का वर्णन हो वह पुराण है । सर्ग, प्रतिसर्ग, आदि पुराण के पाच लक्षण हैं । इतिवृत्त केवल घटित घटनाओ का उल्लेख करता है; परन्तु पुराण महापुरुषो की घटित घटनाओ का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है । तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच बीच मे नैतिक और धार्मिक भावनाओ का प्रदर्शन भी करता है । इतिवृत्त मे केवल वर्तमानकालिक घटनाओ का उल्लेख रहता है, परन्तु पुराण मे नायक के अतीत, अनागत भवो का भी उल्लेख रहता है, और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है ? अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग और तपस्यायें करनी पडती है । मनुष्य के जीवननिर्माण मे पुराण का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है । यही कारण है कि उसमे जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है ।

वैदिक समाज का पुराण-साहित्य बहुत विस्तृत है । उसमे १८ पुराण माने गये है, जिनके नाम निम्न प्रकार है—१ मत्स्यपुराण, २ मार्कण्डेयपुराण, ३ भागवत्पुराण, ४ भविष्यपुराण, ५ ब्रह्माण्डपुराण, ६ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ७ ब्राह्मपुराण, ८ वामनपुराण, ९ वराहपुराण, १० विष्णुपुराण, ११ वायु वा शिवपुराण, १२ अग्निपुराण, १३ नारदपुराण, १४ पद्मपुराण, १५ लिङ्गपुराण, १६ गरुड़पुराण, १७ कूर्मपुराण और १८ स्कंदपुराण ।

ये अठारह महापुराण कहलाते है । इनके सिवाय गरुडपुराण मे १८ उपपुराणो का भी उल्लेख आया है जो कि निम्न प्रकार है—

१ सनत्कुमार, २ नारसिंह, ३ स्कान्द, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब १५ सौर, १६ पराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव ।

देवी भागवत मे उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान मे क्रमश शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वशिष्ठ इन नामो का उल्लेख आया है ।

इन महापुराणो और उपपुराणो के सिवाय अन्य भी गणेश, मौद्गल, देवी, कल्की आदि अनेक पुराण उपलब्ध हैं । इन सब के वर्णनीय विषयो का बहुत विस्तार है । कितने ही इतिहासज्ञ लोगो का अभिमत है कि इन आधुनिक पुराणो की रचना प्रायः ईस्वीय सन् ३०० से ८०० के बीच मे हुई हैं ।

वैदिक परम्परा मे पुराणो और उपपुराणो का जैसा विभाग मिलता है वैसा जैन परम्परा मे नही पाया जाता है । इस मे जो भी पुराण-साहित्य विद्यमान है वह अपने ढग का निराला है । जहा अन्य पुराणकार इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित नही रख सके हैं वहा जैन पुराणकारो ने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रखा है । इसलिये आज के निष्पक्ष विद्वानो का यह स्पष्ट मत हो गया है कि हमे प्राक्कालीन भारतीय सस्कृति को जानने के लिये जैनपुराणो से—उनके कथाग्रन्थो से जो साहाय्य प्राप्त होता है वह अन्य पुराणो से नही ।

यहाँ कतिपय दिगम्बर जैन पुराणो की सूची प्रस्तुत है

	पुराण नाम	कर्त्ता	रचना सवत्
१	पद्मपुराण—पद्मचरित	रविषेण	७०५
२	महापुराण (आदिपुराण)	जिनसेन	नवी शती
३	उत्तरपुराण	गुणभद्र	१० वी शती
४	अजितपुराण	अरुणमणि	१७१६
५	आदिपुराण (कन्नड)	कवि पप	—
६	आदिपुराण	भ० चन्द्रकीर्ति	१७ वी शती
७	"	भट्टारक सकलकीर्ति	१५ वी शती
८	उत्तरपुराण	" "	"
९	कर्णामृतपुराण	केशवसेन	१६८८
१०	जयकुमारपुराण	ब्र कामराज	१५५५
११	चन्द्रप्रभपुराण	कवि अगास देव	—
१२	चामुण्डपुराण (क)	चामुण्डराय	शक स० ९८०
१३	धर्मनाथपुराण (क)	कवि वाहुवली	—
१४	नेमिनाथपुराण	ब्र नेमिदत्त	१५७५ के लगभग
१५	पद्मनाभपुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	१७ वी शती
१६	पउमचरिय (अपभ्रश)	चतुर्मुख देव	—
१७	" "	स्वयभू देव	—
१८	पद्मपुराण	भ० सोमसेन	—
१९	"	भ० धर्मकीर्ति	१६५६
२०	" (अपभ्रश)	कवि रइधू	१५–१६ शती
२१	"	भ० चन्द्रकीर्ति	१७ वी शती
२२	"	ब्रह्म जिनदास	१५–१६ शती
२३	पाण्डवपुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४	" (अपभ्रश)	भ० यशकीर्ति	१४९७
२५	"	भ० श्रीभूषण	१६५७
२६	"	वादिचन्द्र	१६५८

	पुराण नाम	कर्ता	रचना संवत्
२७	पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्ति	९८९
२८	„ („)	कवि रइधू	१५–१६ शती
२९	„	चन्द्र कीर्ति	१६५४
३०	„	वादिचन्द्र	१६५८
३१	महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२	महापुराण (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	—
३३	मल्लिनाथपुराण (क०)	कवि नागचन्द्र	—
३४	पुराणसार	श्रीचन्द्र	—
३५	महावीरपुराण	कवि असग	९१०
३६	महावीरपुराण	भ० सकलकीर्ति	१५ वी शती
३७	मल्लिनाथपुराण	„	„
३८	मुनिसुव्रतपुराण	ब्रह्म कृष्णदास	—
३९	„	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	—
४०	वागर्थसंग्रहपुराण	कवि परमेष्ठी	आ. जिनसेन के महापुराण से प्रा० कर्ता
४१	शान्तिनाथपुराण	कवि असग	१० वी शती
४२	„	भ० श्रीभूषण	१६५९
४३	श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	
४४	हरिवंशपुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	शक संवत् ७०५
४५	हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	
४६	„ („)	चतुर्मुखदेव	
४७	„	ब्र. जिनदास	१५–१६ शती
४८	„ (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१५०७
४९	„	भ० श्रुत कीर्ति	१५५२
५०	„	कवि रइधू	१५–१६ शती
५१	„	भ० धर्मकीर्ति	१६७१
५२	„	कवि रामचन्द्र	१५६० के पूर्व

इनके अतिरिक्त चरित ग्रन्थ है, जिनकी संख्या पुराणों की संख्या से अधिक हैं और जिनमे 'वराङ्गचरित', 'जिनदत्तचरित', जसहरचरिउ', 'णायकुमारचरिउ' आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित है। पुराणों की उक्त सूची मे से रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का महापुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन का हरिवंशपुराण सर्वश्रेष्ठ पुराण कहे जाते हैं। इनमे पुराण का पूर्ण लक्षण घटित होता है। इनकी रचना पुराण और काव्य दोनों की शैली से की गई हैं। इनकी अपनी-अपनी विशेषताए हैं जो अध्ययन के समय पाठक का चित्त अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेती हैं।

जैन पुराणों का उद्भव :

यतिवृषभाचार्यने 'तिलोयपण्णत्ति' के चतुर्थ अधिकार मे तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, ज ,नगर पंच कल्याणक तिथि, अन्तराल, आदि कितनी ही आवश्यक वस्तुओं का संकलन किया है। जान पड़ता है। हमारे वर्तमान पुराणकारो ने उस आधार को दृष्टिगत रख कर पुराणो की रचनाएं की हैं। पुराणो मे अधिकत श्रेशठशलाका पुरुषो का चरित्र-चित्रण है। प्रसङ्गवश अन्य पुरुषों का भी चरित्र-चित्रण हुआ है।

इन पुराणो की खास विशेषता यह है कि इनमें यद्यपि काव्य शैली का आश्रय कि गया है तथापि इतिवृत्त की प्रामाणिकता की ओर पर्याप्त दृष्टि रखी गई है। उदाहरण के रामचरित ही ले लीजिए। रामचरित पर प्रकाश डालने वाला एक ग्रन्थ 'वालिमीकि रामायण' है और दूसरा रविषेण का 'पद्मचरित' है। दोनों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन कीजिये तो आपको तत्काल इस बात स्पष्ट अनुभव हो जायगा कि वालिमीकि ने कहाँ कृत्रिमता लाने का प्रयत्न किया है। श्री डाक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य एम ए पी-एच डी. ने 'पौराणिक जैन इतिहास' शीर्षक से एक लेख 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' मे दिया है उसमें उन्होंने जगह-जगह घोषित किया है कि अमुक विषय मे जैन मान्यता सत्य है। जैनाचार्यो ने स्त्री या पुरुष जिसका भी चरित्र-चित्रण किया है वह उस व्यक्ति के अन्तस्तल को सामने लाकर रख देने वाला है।

जैन काव्य :

पुराणो के बाद काव्य का नम्बर आता है। पुराणो मे जो बात सीधी-सीधी भाषा मे कही जाती थी वही काव्यो मे अलकृत भाषा के द्वारा कही जाने लगी। कवि-काल मे इस बात की होड सी लग गई कि कौन कवि अपनी रचना मे कितने अलकार ला सकता हैं। फलस्वरूप कविता कामिनी नाना अलंकारो से सुसज्जित होकर ससार के सामने प्रकट हुई। कवियो की चातुर्यपूर्ण भाषा के सामने पुराणो की सीधी-साधी भाषा प्रभावहीन हो गई। आचार्य जिनसेन आदि कुछ ऐसे प्रणेता हुए कि जिन्होने पुराण और काव्य दोनो की शैली अगीकृत कर अपनी रचनाए विद्वत्समाज के समक्ष रक्खी और कुछ ऐसे ग्रन्थकार भी हुये कि जिन्होने अपने ग्रन्थ काव्य की शैली से ही लिखे। उभय शैली से लिखा हुआ जिनसेनाचार्य का महापुराण है और विशुद्ध काव्य की शैली से लिखे हुये वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वादीभसिंह का गद्यचिन्तामणि, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू आदि ग्रन्थ है।

काव्य के दो भेद है (१) दृश्य काव्य और (२) श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य मे प्रधान नाटक हैं। इस साहित्य की रचना मे भी जैन साहित्यकारो ने पर्याप्त योग दिया है। हस्तिमल्ल के विक्रान्तकौरव, सुभद्राहरण, मैथिलीकल्याण और अञ्जनापवनञ्जय प्रसिद्ध नाटक हैं। रामचन्द्रसूरि के भी नलविवाह, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय आदि नाटक बहुत प्रसिद्ध है। यशपाल का मोहराज पराजय और वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय नाटक भी अद्‌भुत ग्रन्थ हैं।

श्रव्य-काव्य गद्य और चम्पू के भेद से तीन प्रकार का है। चरित-काव्य, चित्रकाव्य और दूतकाव्य भी इन्ही के अन्तर्गत हैं। गद्य काव्य मे वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी से किसी प्रकार कम नही है। धनपाल की तिलकमञ्जरी भी उच्च कोटि की रचना है। जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित, अभयदेव का जयन्तविजय, वादिराज का पार्श्वनाथ

चरित, वाग्भट्ट का नेमिनिर्वाण काव्य और महासेन का प्रद्युम्नचरित आदि उच्च कोटि के काव्य ग्रन्थ है।) चरित काव्य मे जटासिंहनन्दी का वरांगचरित, असग कवि का महावीरचरित और रायमल्ल का जम्बूस्वामीचरित उत्तम माने जाते है।

- चम्पू काव्य मे सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू बहुत ही विख्यात रचना है। उपलब्ध सस्कृत साहित्य मे इसकी जोड का एक भी ग्रन्थ नहीं है हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू तथा अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू भी उत्कृष्ट रचनाए है। चित्रकाव्य मे धनंजय कवि का द्विसन्धान काव्य अपनी श्लिष्ट रचनाओ के लिये आद्य ग्रन्थ माना जाता है। इसमे साथ ही साथ राघव और पाण्डव दो राजवशो की कथाए कही जाती है।

दूत काव्यो मे मेघदूत की पद्धति से लिखा गया वादिचन्द्र का पवनदूत, चरित-सुन्दर का शीलदूत, विनयप्रभ का चन्द्रदूत और विक्रम का नेमिदूत आदि काव्य प्रसिद्ध रचनाए है। मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप मे लिखा हुआ जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' तो एक अद्भुत ही ग्रन्थ है।

इस प्रकार जैन काव्य साहित्य सस्कृत-साहित्य की गरिमा बढाता है। पर खेद है कि यह साहित्य जिस शैली से विद्वत्ससार के सक्षम उपस्थित किया जाना चाहिए था, नही किया जा सका है। काश, वीतराग जिनेन्द्र के मन्दिरो मे तरह-तरह की रागवर्धक सामग्री एकत्रित करने वाले भक्तजन जिनवाणी का महत्व समझे और अपने दान की धारा का प्रवाह साहित्य-प्रकाशन की ओर मोड सकें तो विशाल जैन साहित्य एक बार फिर से अपनी अतीत की महिमा को प्राप्त कर ले।

—※—
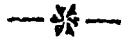
महापुराण – आचार्य जिनसेन और गुणभद्र :

महापुराण :

महापुराण के दो खण्ड है प्रथम आदिपुराण या पूर्वपुराण और द्वितीय उत्तरपुराण। आदिपुराण ४८ पर्वो मे पूर्ण हुआ है जिसके ४२ पर्व पूर्ण तथा ४३ वे पर्व के ३ श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्य के द्वारा निर्मित है और अवशिष्ट ५ पर्व तथा उत्तरपुराण श्री जिनसेनाचार्यके प्रमुख शिष्य श्री गुणभद्राचार्यके द्वारा विरचित है

आदिपुराण पुराणकाल के सन्धिकाल की रचना है। अत: यह न केवल पुराणग्रन्थ है अपितु काव्यग्रंथ भी है, काव्य ही नही महाकाव्य है महाकाव्य के जो लक्षण हैं वह सव इसमे प्रस्फुटित हैं। श्री जिनसेनाचार्य ने प्रथम पर्व मे काव्य और महाकाव्य की चर्चा करते हुए निम्नाकित भाव प्रकट किया है :

"काव्य स्वरूप के जानने वाले विद्वान्, कवि के भाव के भाव अथवा कार्य को काव्य कहते हैं। कवि का वह काव्य सर्वसम्मत अर्थ से सहित, ग्राम्यदोष से रहित, अलकार से युक्त और प्रसाद आदि गुणो से सुशोभित होता है।"

"कितने ही विद्वान् अर्थ की सुन्दरता को वाणी का अलकार कहते है और कितने ही पदो की सुन्दरता को, किन्तु हमारा मत है कि अर्थ और पद दोनो की सुन्दरता ही वाणी का अलकार है।"

"सज्जन पुरुषो का जो काव्य अलकार सहित, शृगारादि रसो से युक्त, सौन्दर्य से ओत-प्रोत और उच्छिष्टतारहित अर्थात् मौलिक होता है वह सरस्वती देवी के मुख के समान आचरण करता है।"

"जिस काव्य मे न तो रीति की रमणीयता है, न पदो का लालित्य है और न रस का ही प्रवाह है उसे काव्य नही कहना चाहिए वह तो केवल कानो को दु ख देने वाली ग्रामीण भाषा ही है।"

"जो अनेक अर्थो को सूचित करने वाले पदविन्यास से सहित, मनोहर रीतियो से युक्त एव स्पष्ट अर्थ से उद्भासित प्रवन्धो-महाकाव्यो की रचना करते हैं वे महाकवि कहलाते है।"

"जो प्राचीन काल से सम्वन्ध रखने वाला हो, जिसमे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषो के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते है।"

किसी एक प्रकरण को लेकर कुछ श्लोको की रचना तो सभी कर सकते है परन्तु पूर्वापर का सम्बन्ध मिलाते हुए किसी प्रवन्ध की रचना करना कठिन कार्य है।"

"जबकि इस ससार मे शव्दो का समूह अनन्त है, वर्णनीय विषय अपनी इच्छा के अधीन है, रस स्पष्ट है और उत्तमोत्तम छन्द सुलभ है तव कविता करने मे दरिद्रता क्या है।"

"विशाल शव्दमार्ग मे भ्रमण करता हुआ जो कवि अर्थरूपी सघन धनो मे घूमने से खेदखिन्नता को प्राप्त हुआ है उसे विश्राम के लिए महाकाव्यरूप वृक्षो की छाया का आश्रय लेना चाहिए।"

"प्रतिभा जिसकी जड है, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण जिसकी उन्नत शाखाए है और उत्तम शब्द ही जिसके उज्जवल पत्ते है ऐसा यह महाकाव्य रूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरी को धारण करता है।"

"अथवा बुद्धि ही जिसके किनारे है, प्रसाद आदि गुण ही जिसकी लहरे है, जो गुणरूपी रत्नो से भरा हुआ है, उच्च और मनोहर शव्दो से युक्त है तथा जिसमे गुरु-शिष्यपरम्परा रूप विशाल प्रवाह चला आ रहा है ऐसा यह महाकवि समुद्र के समान आचरण करता है।"

"हे विद्वान् पुरुषो, तुम लोग ऊपर कहे हुए काव्यरूपी रसायन का भरपूर उपयोग करो जिससे कि तुम्हारा यशरूपी शरीर कल्पान्तकाल तक स्थिर रह सके।"[1]

---

1. पर्व १, श्लोक ९४–१०५

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकर्ता की केवल पुराणरचना मे उतनी आस्था नही है जितनी कि काव्य की रीति से लिखे हुए पुराण मे—धर्मकथा मे । केवल काव्य मे भी ग्रन्थकर्ता की आस्था नही मालूम होती उसे वे सिर्फ कौतुकावह रचना मानते है। उस रचना से लाभ ही क्या जिससे प्राणी का अन्तस्तल विशुद्ध न हो सके। उन्होने पीठिका मे आदिपुराण को 'धर्मानुबन्धिनी कथा' कहा है और बडी दृढता के साथ प्रकट किया है कि 'जो पुरुष यशरूपी धनका सचय और पुण्यरूपी पण्य का व्यवहार—लेन-देन करना चाहते है उनके लिए धर्मकथा को निरूपण करनेवाला यह काव्य मूलधन के समान माना गया है।'

वास्तव मे आदिपुराण सस्कृत-साहित्य का एक अनुपम रत्न है। ऐसा कोई विषय नही है जिसका इसमे प्रतिपादन न हो : यह पुराण है, महाकाव्य है धर्मकथा है, धर्म शास्त्र है, राजनीतिशास्त्र है, आचार शास्त्र है, और युग की आद्यव्यवस्था को बतलाने वाला महान् इतिहास है।

युग के आदिपुरुष श्री भगवान् ऋषभदेव और उनके प्रथम पुत्र सम्राट् भरत चक्रवर्ती आदिपुराण के प्रधान नायक है। इन्ही से सम्पर्क रखने वाले अन्य कितने ही महापुरुषो की कथाओ का भी इसमे समावेश हुआ है। प्रत्येक कथानायक का चरित्र-चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि वह यथार्थता की परिधि को लाँघता हुआ भी हृदयग्राही मालूम होता है। हरे-भरे वन, वायु के मन्द-मन्द झकोरे से थिरकती हुई पुष्पित-पल्लवित लताएँ, कलकल करती हुई सरिताएँ, प्रफुल्ल कमलोद्भासित सरोवर, उत्तुँगगिरि मालाएँ, पहाडी निर्झर, बिजली से शोभित श्यामल घनघटाएँ, चहकते हुए पक्षी, प्राची मे सिन्दूर रस की अरुणिमा को बिखेरने वाला सूर्योदय और लोकलोचनाह्लादकारी चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक पदार्थो का चित्रण कवि ने जिस चातुर्य से किया है वह हृदय मे भारी आह्लाद की उद्भूति करता है।

तृतीय पर्व मे चौदहवे कुलकर श्री नाभिराज के समय गगनागण मे सर्वप्रथम घनघटा छायी हुई दिखती है, उसमे बिजली चमकती है, मन्द-मन्द गर्जना होती है, सूर्य की सुनहली रश्मियो के सम्पर्क से उसमे रग-बिरगे इन्द्रधनुष दिखायी देते है, कभी मन्द, कभी मध्यम और कभी तीव्र वर्षा होती है, पृथ्वी जलमय हो जाती है, मयूर नृत्य करने लगते है, चिरसन्तप्त चातक सन्तोष की साँस लेते है, और प्रवृष्ट वारिधारा वसुधातल मे व्याकीर्ण हो जाती है ''इस प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कवि ने जिस सरसता और सरलता के साथ किया है वह एक अध्ययन की वस्तु है। अन्य कवियो के काव्य मे आप यही बात क्लिष्ट बुद्धिगम्य शब्दो से परिवेष्ठित पाते हैं और इसी कारण स्थूल परिधान से आवृत कामिनी के सौन्दर्य की भाँति वहा प्रकृति का सौन्दर्य अपने रूप मे प्रस्फुटित नही हो पाता है परन्तु यहाँ कवि के सरल शब्द-विन्यास से प्रकृति की प्राकृतिक सुषमा परिधानावृत नही हो सकी है बल्कि सूक्ष्म—महीन वस्त्रावलि से सुशोभित किसी सुन्दरी के गात्र की अवदात आभा की भाँति अत्यन्त प्रस्फुटित हुई है।

श्रीमती और वज्रजघ के भोगोपभोगो का वर्णन, भोगभूमि की भव्यता का व्याख्यान, मरुदेवी के गात्र की गरिमा, श्रीभगवान् वृषभदेव के जन्मकल्याण का दृश्य, अभिषेक कालीन जलका विस्तार, क्षीर समुद्र का सौन्दर्य, भगवान् की बाल्य-क्रीडा, पिता नाभिराज की प्रेरणा से यशोदा और सुनन्दा के साथ विवाह करना, राज्यपालन, नीलाजना के विलय का निमित्त पाकर चार हजार राजाओ के साथ दीक्षा धारण करना, छह माह का योग समाप्त होने पर आहार के लिए लगातार छह माह तक भ्रमण करना, हस्तिनापुर मे राजा सोमप्रभ और श्रेयास के द्वारा इक्षुरस का आहार दिया जाना, तपोलीनता, नमि-विनमि की राज्य प्रार्थना, समूचे सर्ग मे व्याप्त नानावृत्तमय

विजयार्धगिरि की सुन्दरता, भरत और बाहुबली का महायुद्ध, सुलोचना का स्वयंवर, जयकुमार और अर्ककीर्ति का अद्भुत युद्ध, आदि-आदि विषयों के सरस सालंकार-प्रवाहान्वित वर्णन मे कवि ने जो कमाल किया है उससे पाठक हृदय-मयूर सहसा नाच उठता है। बरबस मुख से निकलने लगता है धन्य महाकवि धन्य ! गर्भकालीन वर्णन के समय षट् कुमारिकाओ और मरुदेवी के बीच प्रश्नोत्तर रूप मे कवि ने जो प्रहेलिका तथा चित्रालंकार की छटा दिखलायी है वह आश्चर्य मे डालने वाली वस्तु है।

यदि आचार्य जिनसेन स्वामी भगवान् का स्तवन करने बैठते है तो इतने तन्मय हुए दिखते है कि उन्हें समय की अवधि का भी भान नही रहता और एक-दो नही अष्टोत्तर हजार नामों से भगवान् का विशद सुयश गाते है। उनके ऐसे स्तोत्र आज सहस्रनाम स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। वे समवसरण का वर्णन करते हैं तो पाठक और श्रोता दोनो को ऐसा विदित होने लगता है मानो हम साक्षात् समवसरण का ही दर्शन कर रहे हैं। चतुर्भेदात्मक ध्यान के वर्णन से पूरा सर्ग भरा हुआ है। उसके अध्ययन से ऐसा लगने लगता है कि मानो अब मुझे शुक्लध्यान होने वाला ही है और मेरे समस्त कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्त हुआ ही चाहता है। भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का वर्णन पढते समय ऐसा लगने लगता है कि जैसे मैं गगा, सिन्धु, विजयार्ध, वृषभाचल, हिमाचल आदि का प्रत्यक्ष अवलोकन कर रहा हूँ।

भगवान् आदिनाथ जब ब्राह्मी सुन्दरी पुत्रियो और भरत बाहुबली आदि को लोककल्याणकारी विविध विद्याओ की शिक्षा देते है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो एक सुन्दर विद्या मन्दिर है और उसमे शिक्षक के स्थान पर नियुक्त भगवान् वृषभदेव शिष्यमण्डली के लिए शिक्षा दे रहे हों। कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने से त्रस्त मानव-समाज के लिए जब भगवान् सान्त्वना देते हुए षट्कर्म की व्यवस्था भारत-भूमि पर प्रचारित करते हैं, देश-प्रदेश, नगर, स्व और स्वामी आदि का विभाग करते हैं तब ऐसा जान पडता है कि भगवान् सत्रस्त मानव-समाज का कल्याण करने के लिए स्वर्ग से अवतीर्ण हुए दिव्यावतार ही हैं। गर्भान्वय, दीक्षान्वय, कर्त्रन्वय आदि क्रियाओ का उपदेश देते हुए भगवान् जहाँ जनकल्याणकारी व्यवहार कर्म का प्रतिपादन करते हैं वहाँ संसार की ममता माया से विरक्त कर इस मानव को परम निवृति की ओर जाने का भी उन्होने उपदेश दिया है। सम्राट भरत दिग्विजय के बाद आश्रित राजाओ को जिस राजनीति का उपदेश करते हैं वह क्या कम गौरव की बात है ? यदि आज के जननायक उस नीति को अपना कर प्रजा का पालन करें तो यह नि·सन्देह कहा जा सकता है कि सर्वत्र शान्ति छा जाये और अशान्ति के काले बादल कभी के क्षत-विक्षत हो जायें। अन्तिम पर्वो मे गुणभद्राचार्य ने जो श्रीपाल आदि का वर्णन किया है उसमे यद्यपि कवित्व की मात्रा कम है तथापि प्रवाहबद्ध वर्णन शैली पाठक के मन को विस्मय मे डाल देती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री जिनसेन स्वामी और उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने इस महापुराण के निर्माण मे जो कौशल दिखाया है वह अन्य कवियो के लिए लिए ईर्ष्या की वस्तु है। यह महापुराण समस्त जैन-पुराण-साहित्य का शिरोमणि है। इसमे सभी अनुयोगो का विस्तृत वर्णन है। आचार्य जिनसेन से उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने इसे बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। आगे चलकर आर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ है और जगह-जगह 'तदुक्त आर्षे' इन शब्दो के साथ इसके श्लोक उद्धृत मिलते है। इसके प्रतिपाद्य विषय को देखकर यह दृढता से कहा जा सकता है कि जो अन्यत्र ग्रन्थों मे प्रतिपादित है वह इसमे प्रतिपादित है और जो इसमे प्रतिपादित नही है वह अन्यत्र कही भी प्रतिपादित नही है।

कथानायक

महापुराण के कथानायक त्रिषष्टिशलाका पुरुष है। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलभद्र, ६ नारायण

और ९ प्रतिनारायण यह त्रेसठ सलाका पुरुष कहलाते है। इनमें से आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभनाथ और उनके पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत का ही वर्णन हो पाया है। अन्य पुरुषो का वर्णन गुणभद्राचार्यप्रणीत उत्तर-पुराण मे हुआ है। आचार्य जिनसेन स्वामी ने जिस रीति से प्रथम तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती का वर्णन किया है। यदि वह जीवित रहते और उसी रीति से अन्य कथानायको का वर्णन करते तो यह महापुराण ससार के समस्त पुराणो तथा काव्यो से महान् होता। श्री जिनसेनाचार्य के देहावसान के वाद गुणभद्राचार्य ने अवशिष्ट भाग अत्यन्त सक्षिप्त रीति से पूर्ण किया है परन्तु सक्षिप्त रीति से लिखने पर भी उन्होंने सम्पूर्ण समस्त वातो का समुल्लेख कर दिया है। वह एक श्लाघनीय समय था कि जव शिष्य अपने गुरुदेव के द्वारा प्रारब्ध कार्य को पूर्ण करने की शक्ति रखते थे।

भगवान् वृषभदेव इस अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरो मे आद्य तीर्थंकर थे। तृतीय काल के अन्त मे जव भोगभूमि की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी तव उस सन्धिकाल मे अयोध्या के अन्तिम मनु-कुलकर श्री नाभिराज के घर मे उनकी पत्नी मरुदेवी का जन्म हुआ था। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धारक थे। कल्प वृक्षो के नष्ट हो जाने के वाद विना बोये धान से लोगो की आजीविका होती थी परन्तु कालक्रम से जव वह धान भी नष्ट हो गया तव लोग भूख-प्यास से अत्यन्त क्षुभित हो उठे और सव नाभिराज के पास पहुँचकर त्राहि-त्राहि करने लगे। नाभिराज शरणागत प्रजा को भगवान् वृषभनाथ के पास ले गये। लोगो ने अपनी करुण-कथा उनके समक्ष प्रकट की। प्रजाजनो की विह्वल दशा देखकर भगवान् की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो उठी। उन्होने उसी समय अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर इस भरत-क्षेत्र मे वही व्यवस्था चालू करने का निश्चय किया। उन्होने असि (सैनिक कार्य), मषी (लेखन कार्य), कृषि (खेती), विद्या (सगीत-नृत्यगान आदि), शिल्प (विविध वस्तुओ का निर्माण) और वाणिज्य (व्यापार)—इन छह कार्यो का उपदेश दिया तथा इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, ग्राम आदि की रचना करवायी। भगवान् के द्वारा प्रदर्शित छह कार्यो से लोगो की आजीविका चलने लगी। कर्मभूमि प्रारम्भ हो गयी। उस समय की सारी व्यवस्था भगवान् वृषभदेव ने अपने बुद्धिवल से की थी। इसीलिए यही आदिपुरुष, ब्रह्मा, विधाता आदि सज्ञाओं से व्यवहृत हुए।

नाभिराज की प्रेरणा से उन्होने कच्छ, महाकच्छ राजाओ की वहने, यशस्वती और सुनन्दा के साथ विवाह किया। नाभिराज के महान् आग्रह से राज्य का भार स्वीकृत किया। आपके राज्य से प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। कालक्रम से यशस्वती की कूख से भरत आदि १०० पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनन्दा की कूख से वाहुवली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियो को अनेक जनकल्याणकारी विद्याएँ पढायी थी। जिनके द्वारा समस्त प्रजा मे पठन-पाठन की व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था।

नीलाजना का नृत्यकाल मे अचानक विलीन हो जाना भगवान् के वैराग्य का कारण बन गया। उन्होने बड़े पुत्र भरत को राज्य तथा अन्य पुत्रो को यथायोग्य प्रदेशो का स्वामित्व देकर प्रव्रज्या धारण कर ली। चार हजार अन्य राजा भी उनके साथ प्रव्रजित हुए थे परन्तु वे क्षुधा, तृषा आदि की बाधा न सह सकने के कारण कुछ ही दिनो मे भ्रष्ट हो गये। भगवान ने प्रथम योग छह माह का लिया था। छह माह समाप्त होने के बाद वे आहार के लिए निकले परन्तु उस समय लोग, मुनियो को आहार किस प्रकार दिया जाता है, यह नही जानते थे। अत विधि न मिलने के कारण आपको छह माह तक भ्रमण करना पडा। आपका यह विहार अयोध्या से

उत्तर की ओर हुआ और आप चलते-चलते हस्तिनापुर जा पहुँचे । वहाँ के तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे । उनके छोटे भाई का नाम श्रेयास था । इस श्रेयास का भगवान वृषभदेव के साथ पूर्वभव का सम्बन्ध था । वज्रजंघ की पर्याय मे यह उनकी श्रीमती नाम की स्त्री था । उस समय इन दोनो ने एक मुनिराज के लिए आहार दिया था । श्रेयास को जाति स्मरण होने से यह सब घटना स्मृत हो गयी इसलिए उसने भगवान् को देखते ही पडगाह लिया और इक्षुरस का आहार दिया । वह आहार वैशाख सुदी तृतीया को दिया गया था तभी से इसका नाम अक्षयतृतीया प्रसिद्ध हुआ । राजा सोमप्रभ, श्रेयास तथा उनकी रानियो का लोगो ने वडा सम्मान किया, आहार लेने के वाद भगवान वन मे चले चले जाते थे और वहाँ के स्वच्छ वायुमण्डल मे आत्मसाधना करते थे। एक हजार वर्ष के तपश्चरण के वाद उन्हें दिव्यज्ञान--केवलज्ञान प्राप्त हुआ । अब वह सर्वज्ञ हो गये, ससार के प्रत्येक पदार्थ को स्पष्ट जानने लगे ।

उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए । उन्होने चक्ररत्न के द्वारा षट्खण्ड भरतक्षेत्र को अपने अधीन किया और राजनीति का विस्तार कर आश्रित राजाओ को राज्य शासन की पद्धति सिखलायी । उन्होंने ही ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण इस भरत क्षेत्र मे प्रचलित हुए, इनमे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण आजीविका के भेद से निर्धारित किये गये थे और ब्राह्मण व्रती के रूप मे स्थापित हुए थे । सब अपनी-अपनी वृत्ति का निर्वाह करते थे इसलिए कोई दुःखी नही था ।

भगवान् वृषभदेव ने सर्वज्ञ-दशा मे दिव्य-ध्वनि के द्वारा ससार के भूले-भटके प्राणियो को हित का उपदेश दिया । इसका समस्त आर्य-खण्ड मे विहार हुआ था । आयु के अन्तिम समय वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वही से उन्होने निर्वाण प्राप्त किया । भरत चक्रवर्ती यद्यपि षट्खण्ड पृथ्वी के अधिपति थे फिर भी उसमे आसक्त नही रहते थे । यही कारण था कि जव उन्होने गृहवास से विरक्त होकर प्रव्रज्या-दीक्षा धारण की तब अन्तर्मुहूर्त मे ही उन्हे केवलज्ञान हो गया था । केवलज्ञानी भरत ने भी आर्य-देशो मे विहार कर समस्त जीवो को हित उपदेश दिया और आयु के अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया ।

भगवान् वृषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख :

भगवान् वृषभदेव और सम्राट् भरत ही आदिपुराण के प्रमुख कथानायक है । उनका वर्तमान पर्याय-सम्वन्धी सक्षिप्त विवरण ऊपर लिखे अनुसार है । भगवान् वृषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य पुरुष हुए हैं कि उनका जैनग्रन्थो मे तो उल्लेख आता ही है उसके सिवाय वेद के मन्त्रो, जैनेतर पुराणो, उपनिषदो आदि मे भी उल्लेख मिलता है । भागवत मे भी मरुदेव, नाभिराय, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण दिया है । यह दूसरी वात है कि वह कितने ही अंशो मे भिन्न प्रकार से दिया गया है। इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है ।

निम्नाकित [1]उद्धरणो से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है—

"अग्निध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः । ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ।। ३६ ।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थितः । तपस्तेपे महाभाग पुलहाश्रमसंशयः ।।४०।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ । तस्मात्तु भारत वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः ।।४१।।"

—मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ५०

१ यह उद्धरण स्वामी कर्मानन्द की 'धर्म का आदि प्रवर्त्तक' नामक पुस्तक से साभार ग्रहण किये गये है ।

"हिमाह्वयं तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः । तस्यर्तमोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥३०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रज । सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्रं भरतं पृथिवीपति ॥३८॥

—कूर्मपुराण, अध्याय ४१

"जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मो युगादिकम् । नाधर्म मध्यम तुल्या हिमादेशात्तु नाभित· ॥१०॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् । ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरि गत· ॥११॥
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।"

—अग्निपुराण, अध्याय १०

"नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युति । ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रज. । सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्र प्राव्राज्यमास्थित. ॥५१॥
हिमाह्वदक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत् । तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥५२॥"

—वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३

"नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ॥५२॥
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् । ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रजः ॥६०॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः । हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ॥६१॥"

— ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध अनुषङ्गपाद, अध्याय १४

"नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभ हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ।"

—वराहपुराण, अध्याय ७४

"नाभेर्निसर्गं वक्ष्याभि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत । नाभिस्त्वजनयत् पुत्र मरुदेव्यां महामतिः ॥१९॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् । ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज. ॥२०॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः । ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥२१॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् । नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि स. ॥२२॥
निराशस्त्यक्तसदेह. शैवमाप परं पदम् । हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ॥२३॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ।

—लिङ्गपुराण, अध्याय ४७

"न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा । हिमाह्वय तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥२७॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः । ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥२८॥"

—विष्णु पुराण द्वितीयाश ,अध्याय १

"नाभे पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् । तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥५७॥"

—स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड का कौमारखण्ड, अध्याय ३७

भगवान् वृषभदेव और ब्रह्मा

लोक मे ब्रह्मा के नाम से प्रसिद्ध जो देव है वह जैन-परम्परानुसार भगवान् वृषभदेव को छोडकर दूसरा नही है । ब्रह्मा के अन्य अनेक नामो मे निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयम्भू ।

इनकी यथार्थसगति भगवान् वृषभदेव के साथ बैठती है । जैसे :

हिरण्यगर्भ — जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ मे आये थे उसके छह माह पहले से अयोध्या नगरी मे हिरण्य-सुवर्ण तथा रत्नो की वर्षा होने लगी थी, इसलिए आपका हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है ।

प्रजापति कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मो का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी ? इसलिए आप प्रजापति कहलाते थे ।

लोकेश—समस्त लोक के स्वामी थे, इसलिए लोकेश कहलाते थे ।

नाभिज —नाभिराज नामक चौदहवे मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाते थे ।

चतुरानन समवसरण मे चारो ओर मे आपका दर्शन होता था, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे ।

स्रष्टा —भोग भूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार, विवाह-प्रथा आदि के आप आद्य प्रवर्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे जाते थे ।

स्वयभू — दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ से अपने आत्मा के गुणो का विकास कर स्वय ही आद्य तीर्थंकर हुए थे, इसलिए स्वयभू कहलाते थे ।

आचार्य जिनसेन और गुणभद्र[1]

ये दोनो ही आचार्य मूलसघ के उस 'पचस्तूप' नामक अन्वय मे हुए है जो कि आगे चलकर सेनान्वय या सेनसघ नाम से प्रसिद्ध हुआ है । जिनसेन स्वामी के गुरु वीरसेन और जिनसेन ने तो अपना वश[2] 'पचस्तूपान्वय' ही लिखा है परन्तु गुणभद्राचार्य ने सेनान्वय लिखा है । इन्द्रनन्दी ने अपने[3] श्रुतावतार मे लिखा है कि जो मुनि पचस्तूप निवास से आये उनमे किन्ही को सेन और किन्ही को भद्र नाम दिया गया । तथा कोई[4] आचार्य ऐसा भी कहते है कि जो गुहाओं से आये उन्हे नन्दी, जो अशोक वन से आये उन्हे देव और जो पंचस्तूप से आये उन्हे सेन नाम दिया गया । श्रुतावतार के उक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि सेनान्त और भद्रान्त नाम वाले मुनियो का समूह ही आगे चलकर सेनान्वय या सेनसघ कहलाने लगा है ।

---

१. यह प्रकरण श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' तथा 'विद्वद्रत्नमाला' से लिखा गया है ।

२. अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जवकम्मस्स चदसेणस्स । सहणत्तुवेण पचत्थूहण्णभाणुणा मुणिणा ॥४॥
—धवला

यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ट मुनीनेन पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥५॥
—जयधवला

३. पञ्चस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु । कांश्चित्सेनाभिख्यान् कांश्चिद्भद्राभिधानकरोत् ॥६३॥

४. अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता नन्दिनो महात्मान. । देवाश्चाशोकवनात् पञ्चास्तूप्यात्ततः सेनः ॥६०॥
—इ० श्रुतावतार

वश दो प्रकार का होता है—एक लौकिक वंश और दूसरा पारमार्थिक वश। लौकिक वंश का सम्बन्ध योनि से है और पारमार्थिक वंश का सम्बन्ध विद्या से। आचार्य जिनसेन और गुणभद्र के लौकिक वंश का कुछ पता नही चलता। आप कहाँ के रहने वाले थे ? किसके पुत्र थे ? आपकी क्या जाति थी ? इसका उल्लेख न इनकी ग्रन्थप्रशस्तियो मे मिलता है और न इनके परवर्ती आचार्यो की ग्रन्थ-प्रशस्तियो मे। गृहवास से विरत साधु अपने लौकिक वश का परिचय देना उचित नही समझते और न उस परिचय से उनके व्यक्तित्व में कुछ महत्त्व ही आता है। यही कारण रहा कि कुछ को छोडकर अधिकाश आचार्यों के इस लौकिक वश का कुछ भी इतिहास सुरक्षित नही है।

अभी तक के अनुसन्धान से इनके परमार्थ वश—गुरु वश की परम्परा आर्य चन्द्रसेन तक पहुँच सकी है। अर्थात् चन्द्रसेन के शिष्य आर्यनन्दी, उनके वीरसेन, वीरसेन के जिनसेन, जिनसेन के गुणभद्र और गुणभद्र के शिष्य लोकसेन थे। यद्यपि आत्मानुशासन के सस्कृत टोकाकार प्रभाचन्द्र ने [1]उपोद्घात मे लिखा है कि वडे धर्मभाई विपयव्यामुग्धवुद्धि लोकसेन को सम्बोध देने के व्याज से समस्त प्राणियो के उपकारक समीचीन मार्ग को दिखलाने की इच्छा से श्री गुणभद्रदेव ने यह ग्रन्थ लिखा परन्तु उत्तर पुराण की[2] प्रशस्ति को देखते हुए टीकाकार-का उक्त उल्लेख ठीक नही मालूम होता क्योकि उसमे उन्होने लोकसेन को अपना मुख्य शिष्य बतलाया है। वीरसेन स्वामी के जिनसेन के सिवाय दशरथ गुरु नाम के एक शिष्य और थे। श्री गुणभद्र स्वामी ने उत्तर पुराण की प्रशस्ति मे अपने-आपको उक्त दोनो गुरुओ का शिष्य बतलाया है। इनके सिवाय विनयसेन मुनि भी वीरसेन के शिष्य थे जिनकी प्रवल प्रेरणा पाकर जिनसेनाचार्य ने [2]पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की थी। इन्ही विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आगे चलकर काष्ठासघ को स्थापना की थी। ऐसा देवसेनाचार्य ने अपने दर्शनसार मे लिखा है[3]।

---

१ "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषव्यामुग्धवुद्धेः संबोधनव्याजेन सर्वसत्त्वोपकारकसन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—'लक्ष्मीनिवासनिलयमिति'।"

२. "श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः श्रीमानभूद् विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्य व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥"

३. "सिरिवीरसेणसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी। सिरिपउमणंदिपच्छा चउसघसमुद्धरणधीरो॥
तस्स य सिस्सो गुणव गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो। पक्खोववासमंडियमहातवो भावलिंगो य॥३२॥
तेण पुणोवि य मिच्चु णाउण मुणिस्स विणयसेणस्स। सिद्धंतं घोसिता सयं गयं सग्गलोयस्स॥३३॥
आसी कुमारसेणो णदियडे विणयसेणदिक्खयओ सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिक्खओ जाणो॥
सो सवणसंघवज्झो कुमारसेणो दु समय मिच्छत्तो। चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघ परूवेदि॥३५॥"

—दर्शनसार

४. 'सर्वज्ञप्रतिपादितार्थगणभृत्सूत्रानुटीकामिमां येऽभ्यस्यन्ति वहुश्रुता श्रुतगुरु सपूज्य वीरप्रभुम्
ते नित्योज्ज्वलपद्मसेनपरमाः श्रीदेवसेनार्चिता भासन्ते रविचन्द्रभासिसुतप श्रीपालसत्कीर्तय॥४४॥"

—जयधवला

जयधवला टीका मे श्रीपाल, पद्मसेन और देवसेन इन तीन विद्वानो का उल्लेख और भी आता है जो कि सम्भवत जिनसेन के सधर्मा या गुरुभाई थे। श्रीपाल को तो जिनसेन ने जयधवला टीका का संपालक कहा है और आदि पुराण के पीठिकाबन्ध मे उनके गुणो की काफी प्रशंसा की है।

आदिपुराण की पीठिका मे श्री जिनसेन स्वामी ने श्री वीरसेन स्वामी की स्तुति के बाद ही श्री जयसेन स्वामी की स्तुति की है[3] और उनसे प्रार्थना की है कि जो तपोलक्ष्मी की जन्मभूमि है, शास्त्र और शान्ति के भाण्डार हैं तथा विद्वत्समूह के अग्रणी है वे जयसेन गुरु हमारी रक्षा करे। इससे यह सिद्ध होता है कि जयसेन श्री वीरसेन स्वामी के गुरुभाई होगे और इसीलिए जिनसेन ने उनका गुरु रूप से स्मरण किया है। इस प्रकार श्री जिनसेन की गुरु परम्परा निम्नाकित चार्ट से प्रस्फुट की जा सकती हैं
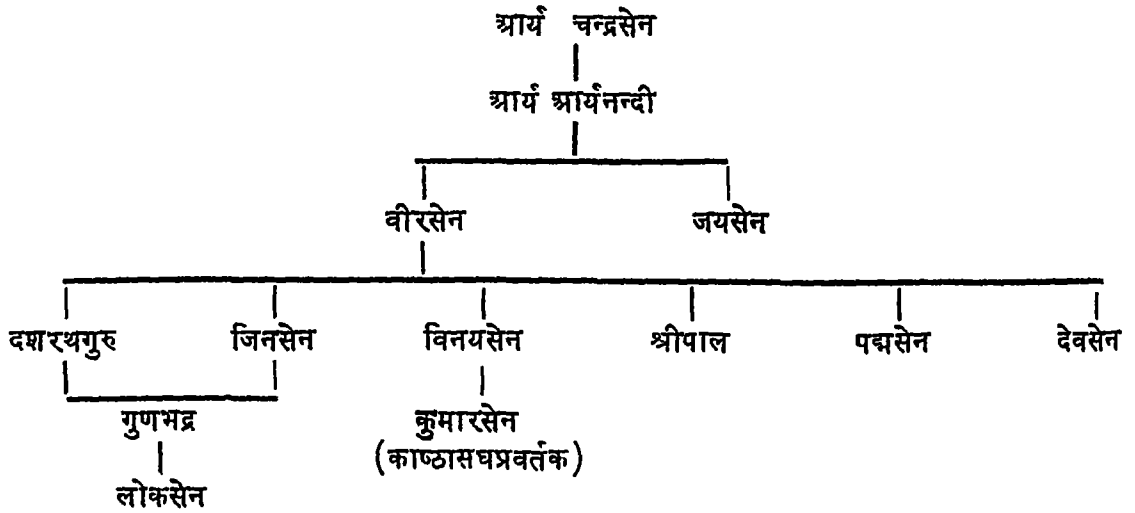
इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार मे[4] लिखा है कि कितना ही समय बीत जाने पर चित्रकूटपुर मे रहने वाले श्रीमान् एलाचार्य हुए जो सिद्धान्त-ग्रन्थो के रहस्य को जानते थे। श्री वीरसेन स्वामी ने उनके पास समस्त सिद्धान्त का अध्ययन कर उपरितन निबन्धन आदि आठ अधिकारो को लिखा था। गुरु महाराज की आज्ञा से वीरसेन स्वामी चित्रकूट छोडकर माटग्राम मे आये। वहाँ आनतेन्द्र के बनवाये हुए जिन-मन्दिर मे बैठकर उन्होने 'व्याख्या प्रज्ञप्ति को पाकर उसके जो पहले छह खण्ड हैं उनमे बन्धादि अठारह अधिकारो मे सत्कर्म नामक छठे खण्ड को सक्षिप्त किया और सबकी सस्कृत-प्राकृत भाषा-मिश्रित धवला नाम की टीका ७२ हजार श्लोक-प्रमाण रची और फिर दूसरे कषायप्राभृत के पहले स्कन्ध की चारो विभक्तियो पर जयधवला नाम की २० हजार श्लोक-

---

१ "टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसद्योतिनी। स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतप श्रीपालसंपालिता ॥४३॥"
—जयधवला

२ भट्टाकलङ्क श्रीपालपात्रकेसरिणा गुणा। विदुषा हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मला ॥५३॥
—आ० पु०

३ देखो—आ० पु० ११ ५५–५६।

४. देखो—श्लोक १७६–१८३।

प्रमाण टीका लिखी। इसके बाद आयु पूर्ण हो जाने से स्वर्गवासी हुए। उसके अनन्तर श्री जयसेन[1] गुरु ने ४० हजार श्लोक और बनाकर जयधवला टीका पूर्ण की। इस प्रकार जयधवला टीका ६० हजार श्लोक प्रमाण निर्मित हुई।

यही बात श्रीधर विबुध ने भी अपने गद्यात्मक श्रुतावतार मे कही है, अतः इन दोनों श्रुतावतारों के आधार से यह सिद्ध होता है कि वीरसेनाचार्य के गुरु एलाचार्य थे। परन्तु यह एलाचार्य कौन थे ? इसका पता नही चलता। वीरसेन के समयवर्ती एलाचार्य का अस्तित्व किन्ही अन्य ग्रन्थो से समर्थित नही होता। हो सकता है कि धवला मे स्वय वीरसेन ने "अज्जज्जनदिसिस्सेण . . ." आदि गाथा-द्वारा जिन आर्यनन्दी गुरु का उल्लेख किया है वही एलाचार्य कहलाते हो। अस्तु।

स्थान विचार

दिगम्बर मुनियो को पक्षियो की तरह अनियतवास बतलाया है अर्थात् जिस प्रकार पक्षियो का कोई निश्चित निवास स्थान नही होता उसी प्रकार मुनियो का भी कोई निश्चित निवास नहीं होता। प्रावृड्योग के सिवाय उन्हे किसी बड़े नगर मे ५ दिन-रात और छोटे ग्राम मे १ दिन-रात से अधिक ठहरने की आज्ञा नही है। इसलिए किसी भी दिगम्बर मुनि के मुनिकालीन निवास का उल्लेख प्रायः नही ही मिलता है। परन्तु वे कहाँ उत्पन्न हुए ? कहाँ उनका गृहस्त जीवन बीता ? आदि का विचार करना किसी भी लेखक की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक वस्तु है।

निश्चित रूप से तो यह नही कहा जा सकता कि जिनसेन और गुणभद्र अमुक देश के अमुक नगर मे उत्पन्न हुए थे और अमुक स्थान पर अनिकतर रहते थे क्योकि इसका उल्लेख उनकी किन्ही भी प्रशस्तियो मे नही मिलता। परन्तु इनसे सम्बन्ध रखने वाले तथा इनके निज के ग्रन्थो मे बकापुर, वाटग्राम और चित्रकूट का उल्लेख आता है[2]। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह कर्णाटक प्रान्त के रहने वाले होगे।

---

१. श्लोक १८२ मे "यातस्त्वतः पुनस्तच्छिष्यो जयसेन गुरुनामा" यहाँ जयसेन के स्थान मे जिनसेन का उल्लेख होना चाहिए क्योंकि श्रीधरकृत 'गद्यश्रुतावतार' मे जयसेन के स्थान पर जिनसेन का ही पाठ है। यथा :

" वीरसेनमुनिः स्वर्गं यास्यति। तस्य शिष्यो जिनसेनो भविष्यति। सोऽपिचत्वारिंशत्सहस्रै कर्मप्राभृतं समाप्तिं नेष्यति। अमुना प्रकारेण षष्टिसहस्रप्रमिता जयधवलानामाङ्किता टीका भविष्यति।"
इसके सिवाय गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति में भी जिनसेन स्वामी को सिद्धान्तशास्त्र का टीकाकार कहा है।

इतना ही नही जिनसेन स्वामी ने पीठिकाबन्ध मे अपने गुरु वीरसेनाचार्य का जो स्मरण किया है उसमे उन्होने उन्हे 'सिद्धान्तोपनिबन्धना' सिद्धान्तग्रन्थ के उपनिबन्धो-टीकाओं का कर्त्ता कहा है।

२. "आगत्य चित्रकूटात्तत स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्। वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥"

—श्रुतावतार

"इति श्री वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥"— ज० ध०

बकापुर उस समय बनवास देश की राजधानी था और इस समय कर्नाटक प्रान्त के धारवाड जिले मे है इसे राष्ट्रकूट अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य के पिता बंकेयरस ने अपने नाम से राजधानी बनाया था। यह कि उत्तरपुराण की प्रशस्ति के निम्न श्लोकों से सिद्ध है ·

"श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसतमसे ॥३२॥
वनवासदेशमखिलं भुञ्जति निष्कण्टक सुखं सुचिरम्।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते वंकापुरे पुरेष्वधिके ॥३४॥"—उ० पु० प्र०

वाटग्राम कौन था ? और अब कहाँ पर है ? इसका पता नही चलता परन्तु वह गुर्जरार्यानुपालित था अर्थात अमोघवर्ष के राज्य मे था और अमोघवर्ष का राज्य उत्तर मे मालवा से लेकर दक्षिण मे काञ्चीपुर तक फैला हुआ था। अतएव इतने विस्तृत राज्य मे वह कहाँ पर रहा होगा इसका निर्णय कैसे किया जाये ? अमोघवर्ष के राज्यकाल शक सवत् ७८८ की एक प्रशस्ति 'एपिग्राफिआ इण्डिका' भाग ६, पृष्ठ १०२ पर मुद्रित है। उसमे लिखा है कि गोविन्दराज ने, जिनके कि उत्तराधिकारी अमोघवर्ष थे, केरल, मालवा, गुर्जर और चित्रकूट को जीता था और सब देशो के राजा अमोघवर्ष की सेवा मे रहते थे। हो सकता है कि इनमे का चित्रकूट वही चित्रकूट हो जहाँ कि श्रुतावतार के उल्लेखनानुसार एलाचार्य रहते थे और जिनके पास जाकर वीरसेन स्वामी ने सिद्धान्त ग्रन्थो का अध्ययन किया था।

मैसूर राज्य के उत्तर मे एक चित्तल दुर्ग नाम का नगर है। यह पहले होयसालराजवश की राजधानी रहा है। वहाँ बहुत-सी पुरानी गुफाएँ है और पाच सौ वर्ष पुराने मन्दिर है। श्वेताम्बर मुनि शीलविजय ने इस का चित्रगढ[1] नाम से उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि एलाचार्य का निवास स्थान यही चित्रकूट हो। शीलविजयजीने अपनी तीर्थयात्रा मे चित्रगढ, बनौसी और बकासुरका एक साथ उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन स्थानो के बीच अधिक अन्तर नही होगा। बकासुर वही है जहा लोकसेन के द्वारा उत्तरपुराण का पूजामहोत्सव हुआ था और बनौसी (वनवासी) वही है जहा बकापुर से पहले राजधानी थी। इस तरह सम्भव है कि वाटग्राम वनवासी और चित्तलदुर्ग के आस-पास होगा[2]। अमोघ वर्ष की राजधानी

---

१. "चित्रगढ़ बनोसी गाम बकापुर दीठुँ शुभधाम।
तीरथ मनोहर विस्मयवंत "

२. यह प्रेमी जी की पूर्व विचारधारा थी परन्तु अब उन्होने इस विषय में अपना निम्न मन्तव्य एक पत्र मे लिखा है :

"चित्तलदुर्ग को मैंने जो पहले चित्रकूट अनुमान किया था वह अब ठीक नहीं मालूम होता। चित्रकूट आजकल का राजस्थान का चित्तौड ही होगा। हरिषेण आदि ने चित्तौड़ को ही चित्रकूट लिखा है। इसके सिवाय डॉ० आलतेकर के अनुमान के अनुसार वाटग्राम या वटग्राम वटपद या बडौदा होगा जहाँ के आनतेन्द्र के मन्दिर में धवला लिखी गयी। चितौड से बड़ौदा दूर भी नहीं है। चित्रकूट प्राचीन काल मे विद्या काकेन्द्र रहा है। बडौदा अमोघवर्ष के ही शासन मे था। गुर्जरेश्वर वह कहलाता भी था। आनतेन्द्र कोई राष्ट्रकूट राजा या सामन्त होगा, जिसके बनवाये हुए मन्दिर मे वे रहे थे। इन्द्रनाम के कई राष्ट्रकूट राजा हुए हैं।"

मान्यखेट थी जो कि उस समय कर्नाटक और महाराष्ट्र इन दो देशों की राजधानी थी और इस समय मलखेड नाम से प्रसिद्ध है तथा हैदराबाद रेलवे लाइन पर मलखेडगेट नामक छोटे-से स्टेशन से ४-५ मील दूरी पर है। अमोघवर्ष श्रीजिनसेन स्वामीके अनन्य भक्तो मे-से था। अतः उनका उसकी राजधानी मे आना-जाना सम्भव है। परन्तु वहा उनके खास निवास के कोई उल्लेख नही मिलते।

समय विचार :

(हरिवश पुराण के कर्त्ता जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवशपुराण मे जिनसेन के गुरु वीरसेन और जिनसेन का निम्नाकित शब्दो मे उल्लेख किया।

"[1]जिन्होने परलोकको जीत लिया है और जो कवियो के चक्रवर्ती है. उन वीरसेन गुरु की कलंकरहित-कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेन स्वामी ने श्रीपार्श्वनाथ भगवान के गुणो की जो अपरिमित स्तुति बनायी है अर्थात् पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना की है वह उनकी कीर्ति का अच्छी तरह कीर्तन कर रही है। और उनके वर्धमानपुराणरूपी उदित होते हुए सूर्य की उक्तिरूपी किरणे विद्वत्पुरुषो के अन्त करणरूपी स्फटिक भूमि मे प्रकाशमान हो रही है।")

'अवभासते' 'सकीर्तयति' 'प्रस्फुरन्ति' इन वर्तमान कालिक क्रियाओ के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराण की रचना होने के समय आदिपुराण के कर्ता श्रीजिनसेन स्वामी विद्यमान थे और तब तक वे पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति तथा वर्धमानपुराण नामक दो ग्रन्थो की रचना कर चुके थे तथा इन रचनाओ के कारण उनकी विशद कीर्ति विद्वानो के हृदय मे अपना घर कर चुकी थी। जिनसेन स्वामीकी जयधवला टीका का अन्तिम भाग तथा महापुराण-जैसी सुविस्तृत श्रेष्ठतम रचनाओ का हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन ने कुछ भी उल्लेख नही किया है। इससे पता चलता है कि उस समय इन टीकाओ तथा महापुराण की रचना नही हुई होगी। यह श्री जिनसेन की रचनाओ का प्रारम्भिक काल मालूम होता है। और इस समय इनकी आयु कम से-कम होगी तो २५-३० वर्ष की होगी क्योकि इतनी आयु के बिना उन-जैसा अगाध पाण्डित्य और गौरव प्राप्त होना सम्भव नही है।

हरिवशपुराण के अन्त मे जो उसको [2]प्रशस्ति दी गयी है उससे उसकी रचना शकसवत् ७०५ मे पूर्ण हुई है यह निश्चित है। हरिवशपुराण की श्लोक सख्या दस-बारह हजार है। इतने विशाल ग्रन्थ की रचना मे

---

१. "जितात्मपरलोकस्य कवीना चक्रवर्तिन.। वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ।।३९।।
यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुति । स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति संकीर्तयत्यसौ ।।४०।।
वर्द्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः। प्रस्फुरन्ति गिरीशाना. स्फुट स्फटि कभित्तिषु ।।४१।।"
—हरिवशपुराण, सर्ग १

२. "शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपरा साराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ।।"
—हृ० पु०

कमसे-कम ५ वर्ष अवश्य लग गये होंगे। यदि रचना काल मे-से यह ५ वर्ष कम कर दिये जायें तो हरिवंश-पुराण का प्रारम्भ काल ७०० शकसंवत् सिद्ध होता है। हरिवंश की रचना प्रारम्भ करते समय आदिपुराण के कर्ता जिनसेन की आयु कमसे-कम २५ वर्ष अवश्य होगी। इस प्रकार शकसवन् ७०० मे-से यह २५ वर्ष कम कर देने पर जिनसेन का जन्म ६७५ शकसवत् के लगभग सिद्ध होता है। यह आनुमानिक उल्लेख है। अत इसमे अन्तर भी हो सकता है परतु अधिक अन्तर की सम्भावना नही है।

जयधवला टीका की प्रशस्ति से यह विदित होता है कि जिनसेन ने अपने गुरुदेव श्रीवीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारब्ध[1] वीरसेनीया टीका शकसंवत् ७५९ फाल्गुन सुदी १० के पूर्वाह्न मे जब कि आष्टाह्निक महोत्सव की पूजा हो रही थी पूर्ण की थी[2]। इससे यह मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता कि जिनसेन स्वामी ७५९ शक-सवत् तक विद्यमान थे। अब देखना यह है कि वे इसके बाद कब तक इस भारत-भूमण्डल पर अपनी ज्ञानज्योति का प्रकाश फैलाते रहे।

यह पहले लिखा जा चुका है कि जिनसेन स्वामी ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे पार्श्वाभ्युदय तथा वर्धमान पुराण लिखकर विद्वत्समाज मे भारी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वर्धमान पुराण तो उपलब्ध नही है परन्तु पार्श्वाभ्युदय प्रकाशित हो चुकने के कारण कितने ही पाठको की दृष्टि मे आ चुका होगा। उन्होंने देखा होगा कि उसकी हृदयहारिणी रचना पाठक के हृदय को किस प्रकार बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वर्धमानपुराण की रचना भी ऐसी ही रही होगी। उनकी दिव्य लेखनी से प्रसूत इन दो काव्य-ग्रन्थो को देखकर उनके सम्पर्क मे रहने वाले विद्वान् साधुओ ने अवश्य ही उनसे प्रेरणा की होगी कि यदि आपकी दिव्य लेखनी से एक-दो ही नही चौबीसो तीर्थंकरो तथा उनके काल मे होने वाले शलाका पुरुषो का चरित्र लिखा जाये तो जनसमूह का भारी कल्याण हो और उन्होने इस कार्य को पूरा करने का निश्चय अपने हृदय मे कर लिया हो। परन्तु इनके गुरु श्री वीरसेन स्वामी के द्वारा प्रारब्ध सिद्धान्त-ग्रन्थो की टीका का कार्य उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् अपूर्ण रह गया। योग्यता रखने वाला गुरुभक्त शिष्य गुरुप्रारब्ध कार्य की पूर्ति मे जुट पड़ा और उसने ६० हजार श्लोक-प्रमाण टीका आद्य भाग के बिना शेष भाग की रचना कर उस कार्य को पूर्ण किया। इस कार्य मे आपका बहुत समय निकल चुका। सिद्धान्तग्रन्थो की टीका पूर्ण होने के बाद जब आपको विश्राम मिला तब अपने चिराभिलषित कार्य को हाथ मे लिया और उस पुराण की रचना प्रारम्भ की जिसमे त्रेशठ शलाका

---

१. "कषायप्राभृत की २० हजार प्रमाण और वीरसेन स्वामी की ४० हजार प्रमाण जिनसेन स्वामी की जो टीका है वह वीरसेनीया टीका कहलाती है। और वीरसेनीया टीकासहित जो कषायप्राभृत के मूलसूत्र तथा चूर्णिसूत्र वार्तिक वगैरह अन्य आचार्यों की टीका है उन सबके संग्रह को जयधवला टीका कहते हैं। यह सग्रह किसी श्रीपाल नामक आचार्य ने किया है, इसलिए जयधवला को 'श्रीपालसपालिता' कहा है।"

२. "इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ।।
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्या शुक्लपक्षके। प्रवर्धमानपूजाया नन्दीश्वरमहोत्सवे ।।
...एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ।।"

पुरुषो के चरित्र-चित्रण की प्रतिज्ञा की गयी थी। आपके ज्ञानकोष मे न 'शब्दों की कमी थी और न अर्थों की। फलत: आप विस्तार के साथ किसी भी वस्तु का वर्णन करने मे सिद्धहस्त थे। आदिपुराण का स्वाध्याय करने वाले पाठक श्री जिनसेन स्वामी की इस विशेषता का पद-पद पर अनुभव करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

हाँ, तो आदिपुराण आपकी पिछली रचना है। प्रारम्भ से लेकर ४२ पर्व पूर्ण तथा तैतालीसवें पर्व के ३ श्लोक आपकी सुवर्ण लेखनी से लिखे जा सके कि असमय मे ही आपकी आयु समाप्त हो गयी और आपका चिराभिलषित कार्य अपूर्ण रह गया। आपने आदिपुराण कब प्रारम्भ किया और कब समाप्त किया ? यह जानने के कोई साधन नही है। इसलिए दृढता के साथ यह नही कहा जा सकता कि आपका ऐहिक जीवन अमुक शकसवत् मे समाप्त हुआ होगा। परन्तु यह मान लिया जाये कि वीरसेनीया टीका के समाप्त होते ही यदि महापुराण की रचना शुरू हो गयी हो और चूकि उस समय श्री जिनसेन स्वामी की अवस्था ८० वर्ष से ऊपर हो चुकी होगी अत रचना बहुत थोड़ी थोड़ी होती रही हो और उसके लगभग १० हजार श्लोको की रचना मे कम-से- कम १० वर्ष अवश्य लग गये होगे। इस हिसाब से शक सवत् ७७० तक अथवा जल्दी हुआ हो तो ७६५ तक जिनसेन स्वामी का अस्तित्व मानने मे आपत्ति नही दिखती। इस प्रकार जिनसेन स्वामी ९०-९५ वर्ष तक ससार के सम्भ्रात पुरुषो का कल्याण करते रहे, यह अनुमान किया जा सकता है।

गुणभद्राचार्य की आयु यदि गुरु जिनसेन के स्वर्गवास के समय २५ वर्ष की मान ली जाये तो वे शकसंवत् ७४० के लगभग उत्पन्न हुए होगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है परन्तु उत्तर पुराण कब समाप्त हुआ तथा गुणभद्राचार्य कब तक धराधाम पर जीवित रहे यह निर्णय करना कठिन कार्य है। यद्यपि उत्तर-पुराण की प्रशस्ति मे यह लिखा है कि उसकी समाप्ति शक संवत् ८२० मे हुई। परन्तु प्रशस्ति के सूक्ष्मतर अध्ययन के बाद यह मालूम होता है कि उत्तरपुराण की प्रशस्ति स्वय एकरूप न होकर दो रूपो मे विभाजित है। एक से लेकर सत्ताइसवें पद्य तक एकरूप है और अट्ठाईस से लेकर बयालीसवें तक दूसरा—रूप है। पहला—रूप गुणभद्र स्वामी का है और दूसरा उनके शिष्य लोकसेन का। लिपिकर्ताओं की कृपा से दोना रूप मिलकर एक हो गये हैं। गुणभद्र स्वामी ने अपनी प्रशस्ति के प्रारम्भिक १९ श्लोको मे सघ की और गुरुओ की महिमा प्रदर्शित करने के बाद बीसवें पद्य मे लिखा है कि अति विस्तार के भय से और अतिशय हीन काल के अनुरोध से अवशिष्ट महापुराण को मैंने सक्षेप मे सग्रहीत किया। इसके बाद ५-६ श्लोको मे ग्रन्थ का माहात्म्य वर्णन कर अन्त के २७ वे पद्य मे कहा है कि—भव्य जनो को इसे सुनाना चाहिए, व्याख्यान करना चाहिए, चिन्तवन करना चाहिए पूजना चाहिए और भक्त जनो को इसकी प्रतिलिपियाँ लिखाना चाहिए। गुणभद्र स्वामी का वक्तव्य यही समाप्त हो जाता है।

इसके बाद २८ वें पद्य से लोकसेन की लिखी हुई प्रशस्ति शुरू होती है जिसमे कहा है कि उन गुणभद्र स्वामी के शिष्यो मे मुख्य लोकसेन हुआ जिसने इस पुराण मे निरन्तर गुरु विनय रूप सहायता देकर सज्जनो द्वारा बहुत मान्यता प्राप्त की थी। फिर २९, ३०, ३१वें पद्यो मे राष्ट्रकूट अकालवर्ष की प्रशसा की है। इसके पश्चात् ३२, ३३, ३४, ३५, ३६ पद्यो मे कहा है कि जब अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य बकासुर राजधानी मे रहकर

---

१. "शब्दराशिरपर्यन्त स्वाधीनोऽर्थः स्फुटा रसाः। सुलभाश्च प्रतिच्चन्दाः कवित्वे का दरिद्रता ॥१०१॥"
आ० पु०, प० १

सारे वनवास देश का शासन करते थे तव शकसंवत् ८२० के अमुक-अमुक मुहूर्त में इस पवित्र और सर्वसाररूप श्रेष्ठ पुराण की भव्यजनो द्वारा पूजा की गयी, ऐसा यह पुण्य पुराण जयवन्त रहे । इसके वाद ३७ वें पद्य मे लोकसेन ने यह कहकर अपना वक्तव्य समाप्त किया है कि यह महापुराण चिरकाल तक सज्जनो की वाणी और चित्त मे स्थिर रहे । इसके आगे ५ पद्य और है जिनमे महापुराण की प्रशसा वर्णित है । लोकसेन मुनि के द्वारा लिखी हुई दूसरी प्रशस्ति उस समय लिखी गयी मालूम होती है जव कि उत्तरपुराण ग्रंथ की विधिपूर्वक पूजा की गयी थी । इस प्रकार उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे उसकी पूर्ति का जो ८२० शकसंवत् दिया गया है वह उसकी पूजा महोत्सव का है । गुणभद्राचार्य ने ग्रन्थ की पूर्तिका शकसंवत् उत्तरपुराण मे दिया ही नही है जैसा कि उन्होंने अपने अन्य ग्रथो—आत्मानुशासन तथा जिनदत्त चरित मे भी नही दिया है । इस दशा मे उनका ठीक ठीक समय वतलाना कठिन कार्य है । हाँ, जिनसेनाचार्य के स्वर्गारोहण के ५० वर्ष वाद तक उनका सद्भाव रहा होगा यह अनुमान से कहा जा सकता है ।

जिनसेनस्वामी और उनके ग्रंथ :

जिनसेन स्वामी वीरसेन स्वामी के शिष्य थे । आपके विपय मे गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे ठीक ही लिखा है कि जिस प्रकार हिमालय से गगा का प्रवाह, सर्वज्ञ के मुख से सर्वशास्त्ररूप दिव्य ध्वनि का और उदयाचल के तट से देदीप्यमान सूर्य का उदय होता है उसी प्रकार वीरसेन स्वामी से जिनसेन का उदय हुआ । जयधवला की प्रशस्ति मे आचार्य जिनसेन ने अपना परिचय वडी ही आलंकारिक भापा मे दिया है । देखिए :

[1] "उन वीरसेन स्वामी का शिष्य जिनसेन हुआ जो श्रीमान था और ज्ज्वल वुद्धि का धारक भी । उसके कान यद्यपि अविद्ध थे तो भी ज्ञानरूपी शलाका से वेधे गये थे ।

[2] "निकट भव्य होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर मानो स्वय ही वरण करने की इच्छा से जिनके लिये श्रुतमाला की योजना की थी ।"

[3] "जिसने वाल्यकाल से ही अखण्डित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था फिर भी आश्चर्य है कि उसने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उद्वहन किया था ।"

[4] "जो न तो वहुत सुन्दर थे और न अत्यन्त चतुर ही फिर भी सरस्वती ने अनन्यशरणा होकर उनकी सेवा की थी ।"

---

१ "तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनः समिद्धधीः । अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥"

२ "यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीः सत्मुत्सुका । स्वयंवरीतुकामेव श्रौतीं मालामयूयुजत् ॥२८॥"

३ "येनानुचरितं वाल्याद् ब्रह्मव्रतमखण्डितम् । स्वयवरविधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥"

४ 'यो नाति सुन्दराकारो न चाति चतुरो मुनिः । तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥"

[1] "बुद्धि, शांति और विनय यही जिनके स्वाभाविक गुण थे, इन्ही गुणों से जो गुरुओ की आराधना करते थे। सो ठीक ही है, गुणो के द्वारा किसकी आराधना नही होती ?"

[2] "जो शरीर से यद्यपि कृश थे परन्तु तपरूपी गुणो से कृश नही थे। वास्तव मे शरीर की कृशता कृशता नही है जो गुणो से कृश है वही कृश है।"

[3] "जिन्होने न तो कापालिका (साख्य शास्त्र, पक्ष मे तैरने का घडा) को ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन ही किया फिर भी जो अध्यात्म विद्या के द्वितीय पार को प्राप्त हो गये।"

[4] "जिनका काल निरन्तर ज्ञान की आराधना मे ही व्यतीत हुआ और इसलिए तत्त्वदर्शी जिन्हे ज्ञानमय पिण्ड कहते है।"

जिनसेन सिद्धान्तज्ञ तो थे ही साथ ही उच्चकोटि के कवि भी थे। आपकी कविता मे ओज है, माधुर्य है, प्रसाद है, प्रवाह है, शैली है, रस है अलकार है। जहा जिसकी आवश्यकता हुई वहाँ कवि ने वही भाव उसी शैली मे प्रकट किया है। आप वस्तुतत्त्व का यथार्थ विवेचन करना पसंद करते थे, दूसरो को प्रसन्न करने के लिए वस्तुतत्त्व को तोडमरोडकर अन्यथा कहना आपका निसर्ग नही था। वह तो खुले शब्दो मे कहते है कि दूसरा आदमी सन्तुष्ट हो अथवा न हो कवि को अपना कर्तव्य करना चाहिये। दूसरे की आराधना से भला नही होगा किन्तु समीचीन मार्ग का उपदेश देने से होगा।

अब तक आपके द्वारा प्रणीत निम्नाकित ग्रन्थो का पता चला है :

पार्श्वाभ्युदय :

संस्कृत साहित्य मे कालिदास का मेघदूत नामक खण्डकाव्य बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसकी रचना और भाव सभी सुन्दर हैं। उसके चतुर्थ चरण को लेकर हंसदूत, नेमिदूत आदि कितने ही खण्डकाव्यो की रचना हुई है। जिनसेन स्वामी का पार्श्वाभ्युदय काव्य जो कि ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तो मे पूर्ण हुआ है। कालिदास के इसी मेघदूत की समस्यापूर्तिरूप है। इसमे मेघदूत के कही एक और कही दो पादो को लेकर श्लोक रचना की गई है तथा इस प्रकार सम्पूर्ण मेघदूत इस पार्श्वाभ्युदय काव्य मे अन्तर्विलीन हो गया है। पार्श्वाभ्युदय मेघदूत के ऊपर समस्यापूर्ति के द्वारा रचा हुआ सर्वप्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसकी भाषा और शैली बहुत ही मनोहर है।

श्री पार्श्वनाथ भगवान दीक्षाकल्याणक के बाद प्रतिमा योग धारण कर विराजमान है। वहाँ से उनका पूर्वभवका विरोधी कमठ का जीव शम्बर नामक ज्योतिष्क देव निकलता है और अवधिज्ञान से उन्हे अपना वैरी

---

१. "धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणा.। सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न कः ॥३१॥"

२. "यः कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणैः। न कृशत्वं हि शारीरं गुणैरेव कृशः कृशः ॥३२॥"

३. "यो नागृहीत्कापालिकान्नाप्यचिन्तयदञ्जसा। तथाप्यध्यात्मविद्याब्धेः पर पारमशिश्रियत् ॥३३॥"

४. "ज्ञानाराधनया यस्य गतः कालो निरन्तरम्। ततो ज्ञानमय पिण्ड यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥"

समझकर नाना कष्ट देने लगता है । बस इसी कथा को लेकर पार्श्वाभ्युदय की रचना हुई है। इसमे शम्वरदेव को यक्ष, ज्योतिर्भव को अलका और यक्ष की वर्षशाप को शम्वर की वर्षशाप मान ली है। मेघदूत का कथानक दूसरा और पार्श्वाभ्युदय का कथानक दूसरा फिर भी इन्ही शब्दो के द्वारा विभिन्न कथानक को कहना यह कविका महान् कौशल है । समस्यापूर्ति मे कवि को बहुत ही परतन्त्र रहना पडता है और उस परतन्त्रता के कारण प्रकीर्णक रचना की बात तो जाने दीजिये, सन्दर्भ रचना मे अवश्य ही नीरसता आ जाती है परन्तु इस पार्श्वाभ्युदय मे कही भी नीरसता नही आने पायी है, यह प्रसन्नता की बात है। इस काव्य की रचना श्री जिनसेन स्वामी ने अपने सधर्मा[1] विनयसेन की प्रेरणा से की थी और यह इनकी प्रथम रचना मालूम होती है ।

योगिराट् पण्डिताचार्य नाम के किसी विद्वान्ने इसकी संस्कृत टीका की है जो विक्रम की पन्द्रहवी शती के बाद की है । उसके उपोद्घातमे उन्होने लिखा है कि एक बार कवि कालिदास वकापुरके राजा अमोघवर्षकी सभा मे आये और उन्होने बडे गर्व के साथ अपना मेघदूत सुनाया । उसी सभा मे जिनसेन स्वामी भी अपने सधर्मा विनयसेन मुनिके साथ विद्यमान थे । विनयसेन ने जिनसेन से प्रेरणा की कि इस कालिदासका गर्व नष्ट करना चाहिए । विनयसेन की प्रेरणा पाकर जिनसेन ने कहा कि यह रचना प्राचीन है, इनकी स्वतन्त्र रचना नही है किन्तु चोरी की है । जिनसेन के वचन सुनकर कालिदास तिलमिला उठे । उन्होने कहा कि यदि रचना प्राचीन है तो सुनायी जानी चाहिए । जिनसेन स्वामी एक बार जिस श्लोकको सुन लेते थे वह उन्हें याद हो जाता था इसलिए उन्हे कालिदास का मेघदूत उसी सभामे याद हो गया था । उन्होने कहा कि यह प्राचीन ग्रन्थ किसी दूरवर्ती ग्राम मे विद्यमान है अत आठ दिन के बाद लाया जा सकता है । अमोघवर्ष राजाने आदेश दिया कि अच्छा, आज से आठवें दिन वह ग्रन्थ यहाँ उपस्थित किया जाये । जिनसेन ने अपने स्थानपर आकर ७ दिनमे पार्श्वाभ्युदयकी रचना की और आठवे दिन राजसभामे उसे उपस्थित कर दिया । इस सुन्दर काव्य ग्रन्थ को सुनकर सब प्रसन्न हुए और कालिदास का सारा अहकार नष्ट हो गया । बाद मे जिनसेन स्वामी ने सब बात स्पष्ट कर दी ।

परन्तु बिचार करने पर यह कथा सर्वथा कल्पित मालूम होती है; क्योकि मेघदूत कर्ता कालिदास और जिनसेन स्वामी के समय मे भारी अन्तर है । साथ ही इनमे जो अमोघवर्ष की राजधानी वकापुर बतलायी है वह भी गलत है क्योकि अमोघवर्ष की राजधानी मान्यखेट थी और वकापुर अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी अकालवर्ष के सामन्त लोकादित्य की । यह पीछे लिखे आये है कि लोकादित्य के पिता वकेयरस ने अपने नाम से इस राजधानी का नाम वकापुर रखा था । अमोघवर्ष के समय तो सभवत वकापुर नाम का अस्तित्व ही नही होगा, यह कथा तो ऐसी ही रही जैसी कि अमरसिंह और धनजय के विषय मे छोटी-छोटी पाठशालाओ के विद्वान् अपने छात्रो को सुनाया करते हैं ।

"राजा भोज ने अपनी सभा मे प्रकट किया कि जो विद्वान सबसे अच्छा कोष बनाकर उपस्थित करेगा उसे भारी पारितोषिक प्राप्त होगा । धनजय कवि ने अमर कोष की रचना की । उपस्थित करने के एक दिन

---

१. "श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्ग. श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ।।"

पहले अमरसिंह धनंजय के यहाँ आये। ये उनके बहनोई होते थे। धनजय ने उन्हें अपना अमरकोष पढ़कर सुनाया। सुनते ही अमरसिंह उस पर लुभा गये और उन्होने अपनी स्त्री के द्वारा उसे अपहृत करा लिया। जब धनजय को पता चला कि हमारा कोप अपहृत हो गया है तब उन्होने एक ही रात मे नाममाला की रचना कर डाली और दूसरे दिन सभा मे उपस्थित कर दी। नाममाला की रचना से राजा भोज बहुत ही प्रभावित हुए और कोष-रचना के ऊपर मिलने वाला भारी पुरस्कार उन्हे ही मिला।"

इस कथा के गढने वाले हमारे विद्वान यह नही सोचते कि अमरसिंह जो कि विक्रम के नवरत्नो मे से एक थे, कब हुए, धनजय कब हुए और भोज कब हूए। व्यर्थ ही भावुकतावश मिथ्या कल्पनाएँ करते रहते है। फिर योगिराट् पण्डिताचार्य ने पार्श्वाभ्युदय के विषय मे जो कथा गढी है उससे तो जिनसेन की असूया तथा परकीर्त्यसहिष्णुता ही सिद्ध होती है जो एक दिगम्बराचार्य के लिये लाछन की बात है।

पार्श्वाभ्युदय की प्रशसा के विषय मे श्रीयोगिराट् पण्डिताचार्य ने जो लिखा है कि श्रीपार्श्वनाथ से बढकर कोई साधु, कमठ से बढकर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदय से बढकर कोई काव्य नही दिखलायी देता है। वह ठीक ही लिखा है। श्री प्रो. के. बी. पाठक ने रायल एशियाटिक सोसाइटी मे कुमारिलभट्ट और भर्तृहरि के विषय मे जो निबन्ध पढ़ा था उसमे उन्होने जिनसेन और उनके काव्य पार्श्वाभ्युदय के विषय मे क्या ही अच्छा कहा था :

"जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल मे हुए है, जैसा कि उन्होने पार्श्वाभ्युदय मे कहा है। पार्श्वाभ्युदय सस्कृत-साहित्य मे एक कौतुकजन्य उत्कृष्ट रचना है। यह उस समय के साहित्य-स्वाद का उत्पादक और दर्पण रूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियो मे कालिदास को पहला स्थान दिया गया है तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जाने के अधिकारी है।"

चूंकि पार्श्वाभ्युदय प्रकाशित हो चुका है अतः उसके श्लोको के उद्धरण देकर उसकी कविता का माहात्म्य प्रकट करना इस प्रस्तावना लेखका पल्लवन ही होगा। इसकी रचना अमोघ वर्ष के राज्यकाल मे हुई है यह उसकी अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होता है ·

"इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं बहुगुणमपदोष कालिदासस्य काव्यम्।
मलिनितपरकाव्य तिष्ठतादाशशाङ्क भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः॥"

वर्धमानपुराण :

आपकी द्वितीय रचना वर्धमानपुराण है जिसका कि उल्लेख जिनसेन (द्वितीय) ने अपने हरिवशपुराण मे किया है परन्तु वह कहाँ है? आज तक इसका पता नही चला। बिना देखे उस पर क्या कहा जा सकता है? नाम से यही स्पष्ट होता है कि उसमे अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी का कथानक होगा।

---

१. श्रीपार्श्वात् साधुतः साधुः कमठात् खलतः खलः। पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न क्वचिदपीष्यते ॥१७॥"

जयधवला टीका[1]—कषायप्राभृत के पहले स्कन्ध की चारो विभक्तियो पर जयधवला नाम की २० हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखकर जब श्रीगुरु वीरसेनाचार्य स्वर्ग को सिधार चुके तब उनके शिष्य श्रीजिनसेन स्वामी ने उसके अवशिष्ट भाग पर ४० हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखकर उसे पूरा किया। यह टीका जयधवला अथवा वीरसेनीया नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका मे आपने श्रीवीरसेन स्वामी की ही शैली को अपनाया है और कही संस्कृत कही प्राकृत के द्वारा पदार्थ का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया है। इन टीकाओ की भाषा का ऐसा विचित्र प्रवाह है कि उससे पाठक का चित्त कभी घबडाता नही है। स्वयं ही अनेक विकल्प उठाकर पदार्थ का बारीकी से निरूपण करना इन टीकाओ की खास विशेषता है।

आदिपुराण :

महापुराण के विषय मे पहले विस्तार के साथ लिख चुके हैं। आदिपुराण उसी का आद्य भाग है। उत्तर भाग का नाम उत्तर पुराण है। आदिपुराण मे ४७ पर्व है जिनमे प्रारम्भ के ४२ और तैतालीसवें पर्व के ३ श्लोक जिनसेनाचार्य-द्वारा रचित है, शेष पर्वो के १६२० श्लोक उनके शिष्य भदन्त गुणभद्राचार्य-द्वारा विरचित हैं। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण के पीठिकाबन्ध मे जयसेन गुरुकी स्तुति के बाद परमेश्वर कवि का उल्लेख किया है और उनके विषय मे कहा है :

"वे कवि परमेश्वर लोक मे कवियो के द्वारा पूजने योग्य है जिन्होंने कि शब्द और अर्थ के संग्रह-स्वरूप समस्त पुराण का सग्रह किया था।[2]" इन परमेश्वर कवि ने गद्य मे समस्त पुराणो की रचना की थी उसी का आधार लेकर जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण की रचना की है। आदिपुराण की महत्ता बतलाते हुए गुणभद्राचार्य ने कहा है :

"यह आदिनाथ का चरित कवि परमेश्वर के द्वारा कही हुई गद्य-कथा के आधार से बनाया गया है, इसमे समस्त छन्द तथा अलकारो के लक्षण है, इसमे सूक्ष्म अर्थ और गूढ पदो की रचना है, वर्णन की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है, समस्त शास्त्रो के उत्कृष्ट पदार्थो का साक्षात् कराने वाला है, अन्य काव्यो को तिरस्कृत करता है, श्रवण करने योग्य है, व्युत्पन्न बुद्धि वाले पुरुषो के द्वारा ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या कवियो के गर्व को नष्ट करने वाला है और अत्यन्त सुन्दर है। इसे सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका करने वाले तथा चिरकाल तक शिष्यो का शासन करने वाले भगवान् जिनसेन ने कहा है। इसका अवशिष्ट भाग निर्मल बुद्धि वाले गुणभद्र सूरिने अति विस्तार के भय से और हीन कालके अनुरोध से सक्षेप मे सगृहीत किया है।"[3]

---

१. इस वर्धमानपुराण का न तो गुणभद्राचार्य ने अपनी प्रशस्ति मे उल्लेख किया है और न जिनसेन के अपरवर्ती किसी आचार्य ने अपनी रचनाओ मे उसकी चर्चा की है, इसलिये किन्हीं विद्वानो का खयाल है कि वर्धमान पुराण नामक कोई पुराण जिनसेन का बनाया हुआ है ही नहीं। जिनसेन द्वितीय ने अपने हरिवशपुराण मे अज्ञातनाम कवि के किसी अन्य वर्धमानपुराण का उल्लेख किया है। प्रेमी जी ने भी अपने हाल के एक पत्र मे ऐसा ही भाव प्रकट किया है।

२. देखो आदि पु० १।६०।

३. उ० पु० प्र० श्लो० १७-२०।

आदिपुराण सुभाषितों का भाण्डार है : इस विषय को स्पष्ट करने के लिये उत्तरपुराण मे दो श्लोक बहुत ही सुन्दर मिलते है जिनका भाव इस प्रकार हैं ।

"जिस प्रकार समुद्र से महामूल्य रत्नो की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार इस पुराण से सुभाषित रूपी रत्नो की उत्पत्ति होती है ।"[१]

"अन्य ग्रन्थो मे जो बहुत समय तक कठिनाइयो से भी नही मिल सकते वे सुभाषित पद्य इस पुराण मे पद-पद पर सुलभ है और इच्छानुसार संगृहीत किये जा सकते हैं।"[२]

आदिपुराण का माहात्म्य एक कवि के शब्दों मे देखिए, कितना सुन्दर निरूपण है ।

"हे मित्र ! यदि तुम सारे कवियो की सूक्तियों को सुनकर सरसहृदय बनना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्य के मुखकमल से कहे हुए आदिपुराण को सुनने के लिये अपने कानो को समीप लाओ ।"[३]

समग्र महापुराण की प्रशंसा मे एक ने और कहा है .

"इस महापुराण मे धर्म है, मुक्ति का पद है, कविता है और तीर्थंकरों का चरित्र है, अथवा कवीन्द्र जिनसेनाचार्य के मुखारविन्द से निकले हुए वचन किनका मन नही हरते ?"[४]

इस पुराण को महापुराण क्यों कहते है ? इसका उत्तर स्वय जिनसेनाचार्य देते है .

"यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है इसलिए पुराण कहलाता है, इसमे महापुराणो का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषो ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिये इसे महापुराण कहते है ।"

"प्राचीन कवियो के आश्रय से इसका प्रसार हुआ है, इसलिए इसकी पुराणता-प्राचीनता-प्रसिद्ध है ही तथा इसकी महत्ता इसके माहात्म्य से ही प्रसिद्ध है इसलिए इसे महापुराण कहते है।"

"यह पुराण महापुरुषो से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय का—स्वर्ग, मोक्षादिका कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण कहते हैं ।"

"यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने से धर्मशास्त्र माना जाता है ।"

---

१. "यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकरालयात् । तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात् पुराणत ॥१६॥"

२. "सुदुर्लभ यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् । सुलभ स्वैरसंग्राह्य तदिहास्ति पदे पदे ॥२२॥"—उ० पु०

३. "यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचारश्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेव सखे ! स्याः ।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्दप्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः ॥"

४. "धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे ।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम् ॥"

"इति-इह-आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ, ऐसी अनेक कथाओ का इसमे निरूपण होने से ऋषिगण इसे इतिहास, इतिवृत्त और ऐतिहासिक भी मानते हैं ।"[1]

पीठिकाबन्ध मे जिनसेन ने पूर्ववर्ती कवियो का स्मरण करने के पहले एक श्लोक कहा है जिसका भाव इस प्रकार है ·

"मैं उन पुराण के रचने वाले कवियो को नमस्कार करता हूँ जिनके मुखकमल मे सरस्वती साक्षात् निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियो की कविता मे सूत्रपात का काम करते हैं ।"[2]

इससे यह सिद्ध होता है कि इनके पहले अन्य पुराणकार वर्तमान थे जिनमे कि इनकी परम आस्था थी । परन्तु वे कौन थे इसका उन्होने स्पष्ट उल्लेख नही किया । हाँ, कवि परमेश्वर का अवश्य ही अपने निकटवर्ती अतीत मे स्मरण किया है । एतावता विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति के सातवें श्लोक मे 'प्रथमम्' पद देखकर कितने ही महाशयो ने जो यह धारणा वना ली है कि आदिपुराण दिगम्वर जैन पुराण ग्रन्थो मे प्रथम पुराण है वह उचित नही मालूम होती । वहाँ 'प्रथमम्' का अर्थ श्रेष्ठ अथवा आद्य भी हो सकता है ।

गुणभद्राचार्य और उनके ग्रन्थ :

[3]जिनसेन और दशरथ गुरु के शिष्य गुणभद्राचार्य भी [4]अपने समय के वहुत वडे विद्वान् हुए है । आप उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त, पक्षोपवासी, तपस्वी तथा भावलिंगी मुनिराज थे । इन्होने आदिपुराण के अन्त के १६२० श्लोक रचकर उसे पूरा किया और उसके वाद उत्तरपुराण की रचना की जिसका परिमाण आठ हजार श्लोक प्रमाण है । ये अत्यन्त गुरुभक्त शिष्य थे । आदिपुराण के ४३ पर्व के प्रारम्भ मे जहाँ से अपनी रचना शुरू करते है वहाँ इन्होने जो पद्य लिखे हैं उनसे इनके गुरुभक्त—हृदय का अच्छा साक्षात्कार हो जाता है । वे लिखते है कि :

[5]"इक्षु की तरह इस ग्रन्थ का पूर्वार्ध ही रसावह है उत्तरार्ध मे तो जिस किसी तरह ही रस की उत्पत्ति होगी ।"

[6]"यदि मेरे वचन सुस्वादु हो तो यह गुरुओ का ही माहात्म्य समझना चाहिये । यह वृक्षो का ही स्वभाव है कि उनके फल मीठे होते हैं ।"

---

१. देखो—आ० पु०, प० १।२१–२५

२. आ० पु०, १।४१।

३. "यद्वाङ्मय पुरोरासीत्पुराण प्रथम भुवि । तदीयप्रियशिष्योऽभूद् गुणभद्रमुनीश्वरः ।।७।।"—विक्रान्त०, प्र०

४ "तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो । पक्खोववासमंडो महातवो भावलिंगो व ।।"—दर्शनसार

५ "इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावहम् । यथा तथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ।।३४।।"

६. "गुरूणामेव माहात्म्य यदपि स्वादु मद्वच । तरूणा हि स्वभावोऽसौ यत्फल स्वादु जायते ।।१५।।"

"[1]मेरे हृदय से वचन निकलते है और हृदय मे गुरुदेव विराजमान है। अतः वे वही उनका सस्कार कर देगे। अतः मुझे इस कार्य मे कुछ भी परिश्रम नही होगा।"

"[2]भगवान् जिनसेन के अनुगामी तो पुराण (पुराने) मार्ग के आलम्बन से ससार-समुद्र पार होना चाहते हैं फिर मेरे लिए पुराण-सागर के पार पहुँचना क्या कठिन बात है ?"

इनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध है

उत्तरपुराण :

यह महापुराण का उत्तर भाग है। इसमे अजितनाथ को आदि लेकर २३ तीर्थकर, ११ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण तथा जीवन्धर स्वामी आदि कुछ विशिष्ट पुरुषो के कथानक दिये हुए हैं। इसकी रचना भी कवि परमेश्वर के गद्यात्मक पुराण के आधार पर हुई होगी। आठवे, सोलहवें, बाईसवें और चौबीसवें तीर्थकर को छोड़कर अन्य तीर्थकरो के चरित्र बहुत ही सक्षेप से लिखे गये हैं। इस भाग मे कथा की बहुलता ने कवि की कवित्वशक्ति पर आघात किया। जहाँ-तहाँ ऐसा मालूम होता है कि येन-केन प्रकारेण कथा-भाग को पूराकर आगे बढ जाना चाहते है। पर फिर भी बीच-बीच मे कितने ही ऐसे सुभाषित आ जाते है जिससे पाठक का चित्त प्रसन्न हो जाता है। गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण की रचना के विषय मे एक दन्तकथा प्रसिद्ध है

जब जिनसेन स्वामी को इस बात का विश्वास हो गया कि अब मेरा जीवन समाप्त होने वाला है और मैं महापुराण को पूरा नही कर सकूगा तब उन्होने अपने सबसे योग्य दो शिष्य बुलाये। बुलाकर उनसे कहा कि यह जो सामने सूखा वृक्ष खड़ा है इसका काव्यवाणी मे वर्णन करो। गुरु वाक्य सुनकर उनमे से पहले ने कहा "शुष्क काष्ठ तिष्ठत्यग्रे।" फिर दूसरे शिष्य ने कहा, "नीरसतरुरिह विलसति पुरत.।" गुरु को द्वितीय शिष्य की वाणी मे रस दिखा अतः उन्होने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुरु-आज्ञा को स्वीकार कर द्वितीय शिष्य ने महापुराण को पूर्ण किया। वह द्वितीय शिष्य गुणभद्र ही थे।

आत्मानुशासन :

यह भर्तृहरि के वैराग्य शतक की शैली से लिखा हुआ २७२ पद्यो का बडा सुन्दर ग्रथ है। इसकी सरस और सरल रचना हृदय पर तत्काल असर करती है। इसकी सस्कृत टीका प्रभाचन्द्राचार्य ने की है। हिन्दी टीकाए भी श्री स्व० पण्डित टोडरमलजी तथा प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने की है। जैन-समाज मे इसका प्रचार भी खूब है। यदि इसके श्लोक कण्ठ कर लिये जायें तो अवसर पर आत्म-शान्ति प्राप्त करने के लिये बहुत बल देने वाले है। इसके अन्त मे प्रशस्ति स्वरूप निम्न श्लोक ही पाया जाता है।

"जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥"

अर्थात् जिनका चित्त श्री जिनसेनाचार्य के चरण स्मरण के अधीन है उन गुणभद्रभदन्त की कृति यह आत्मानुशासन है।

जिनदत्तचरित्र :

यह नव-सर्गात्मक छोटा-सा काव्य है। अनुष्टुप् श्लोको मे रचा गया है। इसकी कथा बडी ही कौतुकावह है। शब्दविन्यास अल्प होने पर भी कही कही भाव बहुत गम्भीर हैं। श्रीलालजी काव्य तीर्थ द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

१. "निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः। ते यत्र सस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः॥१६॥"

२. "पुराणमार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्। भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते॥१९॥"

आदिपुराण और वर्णव्यवस्था:

वर्णोत्पत्ति

जैनधर्म की मान्यता है कि सृष्टि अपने रूप मे अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इसमे अवान्तर विशेषताएँ होती रहती है, जो बहुत सी प्राकृतिक होती हैं और वहुत कुछ पुरुपप्रयत्नजन्य भी। जैन शास्त्रो मे उल्लेख है कि भरत और ऐरावत क्षेत्र मे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के रुप मे काल का परिवर्तन होता रहता है। इनके प्रत्येक के सुषमा आदि छह-छह भेद होते है। यह अवसर्पिणीकाल है। जव इसका पहला भाग यहाँ बीत रहा था तव उत्तम भोग भूमि की व्यवस्था थी' जव दूसरा काल आया तव मध्यम भोग भूमि आयी और जब तीसरा काल आया तव जघन्य भोग भूमि हुई। तीसरे काल का जव पल्य के आठवें भाग प्रमाण काल बाकी रह गया तब क्रम से १४ मनुओ-कुलकरो की उत्पत्ति हुई। उन्होने उस समय अपने विशिष्ट वैदुष्य से जनता को कितनी ही बातें सिखलायी। चोदहवें कुलकर नाभिराज थे। उनके समय तक कल्पवृक्ष नष्ट हो चुके थे, और लोग बिना बोये अपने-आप से उत्पन्न अनाज से आजीविका करते थे। उन्ही नाभिराज के भगवान् ऋषभदेव उत्पन्न हुए। आप प्रथम तीर्थंकर थे। आपके समय मे वह बिना बोये उत्पन्न होने वाला धान्य भी नष्ट हो गया। लोग क्षुधा से आतुर होकर इतस्तत भ्रमण करने लगे। कुछ लोग अपनी दु खगाथा सुनाने के लिए नाभिराज के पास पहुँचे। वे सब लोगो को भगवान् वृषभदेव के पास ले गये। भगवान् वृषभदेव ने उस समय विदेह क्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर यहाँ के लोगो को भी वही व्यवस्था बतलाई और यह कहते हुए लोगो को समझाया कि देखो अब तक तो यहाँ भोगभूमि थी, कल्पवृक्षो से आप लोगो को भोगोपभोग सामग्री मिलती रही पर अब कर्मभूमि प्रारम्भ हो रही है—यह कर्म करने का युग है, कर्म—कार्य किये बिना इस समय कोई जीवित नही रह सकता। असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म हैं। इन कर्मो के करने से आप लोग अपनी आजीविका चलाये। ये तरह-तरह के धान्य-अनाज अब तक बिना बोये उत्पन्न होते रहे परन्तु अब आगे से बिना बोये उत्पन्न न होगे। आप लोगो को कृषि—खेती कर्म से धान्य पैदा करने होगे। इन गाय, भैस आदि पशुओ से दूध निकाल कर उसका सेवन जीवनोपयोगी होगा। अब तक सबका जीवन व्यक्तिगत जीवन था पर अब सामाजिक जीवन के बिना कार्य नही चल सकेगा। सामाजिक सगठन से ही आप लोग कर्मभूमि मे सुख और शान्ति से जीवित रह सकेगें। आप लोगो मे जो बलवान् है वे शस्त्र धारण कर निर्बलो की रक्षा का कार्य करें, कुछ लोग उपयोगी वस्तुओ का सग्रह कर यथासमय लोगो को प्रदान करें अर्थात् व्यापार करें, कुछ लोग लिपि-विद्या के द्वारा अपना काम चलायें, कुछ लोग लोगो की आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली हल, शकट आदि वस्तुओ का निर्माण करें, और कुछ लोग नृत्य-गीतादि आह्लादकारी विद्याओ के द्वारा अपनी आजीविका करें। लोगो को भगवान् के द्वारा बतलाये हुए षट्कर्म पसन्द आये और लोग उनके अनुसार अपनी-अपनी आजीविका करने लगे। भोग भूमि के समय लोग एक सदृश योग्यता के धारक होते थे अत. किसी को किसी अन्य के सहयोग की आवश्यकता नही होती थी परन्तु अव विसदृश शक्ति के धारक लोग उत्पन्न होने लगे। कोई निर्बल, कोई सबल, कोई अधिक परिश्रमी, कोई कम परिश्रमी, कोई अधिक बुद्धिमान् और कोई कम बुद्धिमान्। उद्दण्ड सबलो से निर्बलो की रक्षा करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। शिल्पवृत्ति से तैयार हुए माल को लोगो तक पहुँचाने की आवश्यकता जान पडने लगी। खेती तथा शिल्प आदि कार्यो के लिए पारस्परिक

जनसहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई तब भगवान् ऋषभदेव ने जो कि वास्तविक ब्रह्मा थे अपनी भुजाओ मे शस्त्र धारण कर लोगो को शिक्षा दी कि आततायियो से निर्बल मानवो की रक्षा करना बलवान् मनुष्य का कर्तव्य है। कितने ही लोगो ने यह कार्य स्वीकार किया। ऋषभदेव भगवान् ने ऐसे लोगों का नाम क्षत्रिय रखा। अपनी जघाओ से चलकर लोगो को शिक्षा दी कि सुविधा के लिये सृष्टि को ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता है जो तैयार हुई वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर वहाँ के लोगो को सुख-सुविधा पहुचाये। बहुत से लोगो ने यह कार्य करना स्वीकृत किया। भगवान् ने ऐसे लोगो को वैश्य सज्ञा दी। इसके बाद उन्होने बतलाया कि यह कर्मयुग है और कर्म बिना सहयोग के हो नही सकता। अत. पारस्परिक सहयोग करने वालो की आवश्यकता है। बहुत से लोगो ने इस सेवावृत्ति को अपनाया। आदि ब्रह्मा ने उन्हे शूद्र सज्ञा दी। इस तरह कर्मभूमि रूप सृष्टि के प्रारम्भ मे आदि ब्रह्मा ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित किये। आगे चलकर भरत चक्रवर्ती के मन मे यह बात आयी कि मैने दिग्विजय के द्वारा बहुत-सा धन इकट्ठा किया है। अन्य लोग भी अपनी शक्ति के अनुसार यथाशक्ति धन एकत्रित करते है। आखिर उसका त्याग कहाँ किया जाय ? उसका पात्र किसे बनाया जाये ? इसी के साथ उन्हें ऐसे लोगो की भी आवश्यकता अनुभव मे आयी कि यदि कुछ लोग बुद्धिजीवी हो तो उनके द्वारा अन्य त्रिवर्गों को सदा बौद्धिक सामग्री मिलती रहेगी। इसी विचार के अनुसार उहोंने समस्त लोगो को अपने घर आमन्त्रित किया और मार्ग मे ही हरी घास उगवा दी। हरी घास मे भी जीव होते है, हमारे चलने पर उन जीवो को बाधा पहुँचेगी' इस बात का विचार किये बिना ही बहुत से लोग भरत महाराज के महल मे भीतर चले गये परन्तु कुछ लोग ऐसे भी रहे जो हरित घास वाले मार्ग से भीतर नही गये बाहर ही खड़े रहे। भरत महाराज ने जब भीतर न आने का कारण पूछा तब उन्होने बतलाया कि हमारे आने से हरित घास के जीवो को बाधा पहुँचती है इसलिए हम लोग नही आये। महाराज भरत ने उन सबकी दयावृत्ति को मान्यता देकर उन्हे दूसरे प्रासुक मार्ग से अन्दर बुलाया और उन सबकी प्रशसा तथा सम्मान कर उन्हे ब्राह्मण सज्ञा दी तथा उनका अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन आदि कार्य निश्चित किया। इस घटना का वर्णन जिनसेनाचार्य ने अपने इसी आदिपुराण के पर्व १६ पद्य २४३-२४६ मे किया है।

जन्मना कर्मणा वा

यह वर्णव्यवस्था जन्म से है या कर्म से, इस विषयमे आजकल दो प्रकारकी विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। कुछ लोगो का ऐसा ध्यान है कि वर्णव्यवस्था जन्म से ही है अर्थात् जो जिस वर्ण मे उत्पन्न हो गया वह चाहे जो अनुकूल प्रतिकूल कर्म करे उस भवमे उसी वर्णमे रहेगा, मरणोत्तर काल मे ही उसका वर्ण-परिवर्तन हो सकेगा। और कुछ लोग ऐसा ध्यान रखते है कि वर्णव्यवस्था गुण और कर्म के अधीन है। षट् कर्मोंको व्यवस्थित रूप देने के लिए ही चतुर्वर्णकी स्थापना हुई थी, अतः जिसके जैसे अनुकूल प्रतिकूल कर्म होगे उसका वैसा ही वर्ण होगा।

ऐतिहासिक दृष्टिसे जब इन दोनों धाराओ पर विचार करते है तो कर्मणा वर्णव्यवस्थाकी बात अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। क्योकि ब्राह्मणों तथा महाभारत आदि मे जहाँ भी इसकी चर्चा की गयी है वहाँ कर्मकी अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था मानी गयी है। उदाहरणके लिए कुछ उल्लेख देखिए :

महाभारत मे भारद्वाज भृगु महर्षि से प्रश्न करते है कि यदि सित अर्थात् सत्त्वगुण, लोहित अर्थात् रजोतण, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्र और कृष्ण अर्थात् तमोगुण इन चार वर्णों के वर्ण से वर्णभेद माना

जाता है तो सभी वर्णोमे वर्गसकर दिखाई देता है। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा, श्रम आदि हम सभी के होते है फिर वर्णभेद क्यो होता है ? हम सभी का शरीर पसीना, मूत्र, पुरीष, कफ और रुधिर को झराता है फिर वर्णभेद कैसा ? जगम और स्थावर जीवो की असख्यात जातियाँ है उन विविध वर्णवाली जातियोके वर्ण का निश्चय कैसे किया जाये ?

उत्तर मे भृगु महर्षि कहते है :

वस्तुत वर्णो मे कोई विशेषता नही है। सबसे पहले ब्रह्मा ने इस ससार को ब्राह्मण वर्ण ही सृजा था परन्तु अपने-अपने कर्मों से वह विविध वर्णभेद को प्राप्त हो गया। जिन्हे कामभोग प्रिय है, स्वभाव से तीक्ष्ण, क्रोधी तथा प्रिय साहस है, स्वधर्म सत्त्वगुण प्रधान धर्म का त्याग करने वाले है और रक्ताग अर्थात् रजोगुण-प्रधान है वे क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए। जो गो आदि से आजीविका करते है, पीत अर्थात् रजस्तमोव्यामिश्रगुण के धारक है, खेती आदि करते है और स्वधर्म का पालन नही करते है वे द्विज वैश्यपने को प्राप्त हो गये। इनके सिवाय जिन्हे हिंसा, झूठ आदि प्रिय है, लुब्ध है, समस्त कार्य कर अपनी आजीविका करते है, कृष्ण अर्थात् तमोगुण प्रधान है, और शौच—पवित्रता से परिभ्रष्ट है वे शूद्रपने को प्राप्त हो गये। इस प्रकार इन कार्यो से पृथक्-पृथक्पने को प्राप्त हुए द्विज वर्णान्तिर को प्राप्त हो गये। धर्म तथा यज्ञक्रिया का इन सभी के लिए निषेध नही है।[1]

इसी महाभारत का एक उदाहरण और देखिए

भारद्वाज भृगु महर्षि से पूछते है कि हे वक्तृश्रेष्ठ, हे ब्राह्मण ऋषे, कहिए कि यह पुरुष ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र किस कारण से होता है ?

उत्तर मे भृगु महर्षि कहते है .

"जो जातकर्म आदि संस्कारो से सस्कृत है, पवित्र है, वेदाध्ययन से सम्पन्न है, इज्या आदि षट्कर्मो मे अवस्थित है, शौचाचार मे स्थित है, यज्ञावशिष्ट वस्तु को खानेवाला है गुरुओ को प्रिय है, निरन्तर व्रत धारण करता है, और सत्य मे तत्पर रहता है वह ब्राह्मण कहलाता है। सत्य, दान, अद्रोह, अक्रूरता, लज्जा, दया

---

१. **भारद्वाज उवाच**

"चातुर्वर्णस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते । सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकर: ।। ६ ।।
काम क्रोध. भयं लोभ शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रम. । सर्वेषां न प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ।। ७ ।।
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् । तनु. क्षरति सर्वेषा कस्माद् वर्णो विभिद्यते ।। ८ ।।
जङ्गमानासख्येया. स्थावराणां च जातय: । तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चय: ।। ९ ।।"

भृगुरुवाच

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्मभिदं जगत् । ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ।।१०।।
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा क्रोधना. प्रियसाहसाः । त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजा क्षत्रतां गता. ।।११।।
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीता कृष्युपजीविन. । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा. वैश्यतां गता: ।।१२।।
हिंसानृतप्रिया लुब्धा सर्वकर्मोपजीविन· । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रता गता. ।।१३।।
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः । धर्मो यज्ञक्रियास्तेषा नित्यं न प्रतिषिद्ध्यते ।।१४।।"

—म० भा०, शा०, अ० १८८

और तप जिसमे दिखाई दे वह ब्राह्मण है । जो क्षत्रिय कर्म का सेवन करता है, वेदाध्ययन से सगत है, दान-आदान मे जिसकी प्रीति है वह क्षत्रिय कहलाता है । व्यापार तथा पशुरक्षा जिसके कार्य हैं, जो खेती आदि मे प्रेम रखता है, पवित्र रहता है और वेदाध्ययन से सम्पन्न है वह वैश्य कहलाता है । खाद्य-अखाद्य-सभी मे जिसकी प्रीति है, जो सबका काम करता है, अपवित्र रहता है, वेदाध्ययन से रहित है और आचारवर्जित है वह शूद्र माना जाता है । इन श्लोको की सस्कृत टीका मे स्पष्ट किया गया है कि त्रिवर्ग मे धर्म ही वर्णविभाग का कारण है, जाति नही ।"

इसी प्रकार वह्नि पुराण का एक प्रकरण देखिये, जिसमे स्पष्ट लिखा है .

"हे राजन्, द्विजत्व का कारण न जाति है, न कुल है, न स्वाध्याय है, न शास्त्रज्ञान है, किन्तु वृत्त — सदाचार ही उसका कारण है । वृत्तहीन दुरात्मा मानव का कुल क्या कर देगा ? क्या सुगन्धित फूलो मे कीडे पैदा नही होते ? राजन्, एकान्त से यही एक बात ग्राह्य नही है कि यह पढता है इसलिये द्विज है, चरित्र की खोज की जाये । क्या राक्षस नही पढते ? नट की तरह दुरात्मा मनुष्य के बहुत पढने से क्या ? उसी ने पढा और उसी ने सुना जो कि क्रिया का पालन करता है । जिस प्रकार कपाल मे रखा हुआ पानी और कुल की मशक मे रखा हुआ दूध दूषित होता है उसी प्रकार वृत्तहीन मनुष्य का श्रुत भी स्थान के दोष से दूषित होता है । दुराचारी मनुष्य भले ही चतुर्वेदो का जानकार हो, यदि दुराचारी है तो वह शूद्र से भी कही अधिक नीच है । इसलिए हे राजन्, वृत्त को ही ब्राह्मण का लक्षण जानो ।[२]"

---

१. "भारद्वाज उवाच

ब्राह्मण· केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तमः । वैश्य. शूद्रश्च विप्रर्षे तद्ब्रूहि वदतांवर ॥१॥

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः । वेदाध्ययनसपन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥२॥

शौचाचारस्थितः सम्यग् विघाशी गुरुप्रियः । नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥३॥

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा । तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥४॥

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसगतः । दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥५॥

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः । वेदाध्ययनसंपन्न स वैश्य इति संज्ञितः ॥६॥

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः । त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥७॥

(द्विजे—त्रैवर्णिके धर्म एव वर्णविभागे कारणम् न जातिरियर्थः)सं० टी०"

—म० भा०, शा० प०, अ०१८९

२. "न जातिर्न कुलं राजन् न स्वाध्यायः श्रुत न च । कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव हि कारणम्

किं कुल वृत्तहीनस्य करिष्यति दुरात्मनः । कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु ॥

नैकमेकान्ततो ग्राह्यं पठनं हि विशाम्पते । वृत्तमन्विष्यता तात रक्षोभिः किं न पठ्यते ॥

बहुना किमधीतेन नटस्येव दुरात्मनः । तेनाधीतं श्रुतं वापि यः क्रियाममनुतिष्ठति ॥

कपालस्थं यथा तोय श्वदृतौ च यथा पयः । दूष्यं स्यात्स्थानदोषेण वृत्तहीनं तथा श्रुतम् ॥

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः शूद्रादल्पतरः स्मृतः । तस्माद् विद्धि महाराज वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम् ॥"

—वह्निपुराण

वृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र मे भी उल्लेख है

"हे राजन् ! जाति नही पूजी जाती, गुण ही कल्याण के करने वाले है, वृत्त—सदाचार मे स्थित चाण्डाल को भी देवो ने ब्राह्मण कहा है[1] ।"

शुक्रनीतिसार का भी उल्लेख द्रष्टव्य है :

"न केवल जाति को देखना चाहिए और न केवल कुल को । कर्म, शील और दया, दाक्षिण्य आदि गुण ही पूज्य होते है । जाति और कुल नही । जाति और कुल के ही द्वारा श्रेष्ठता नही प्राप्त की जा सकती[2] ।"

ब्राह्मण कौन हो सकता है । इसका समाधान करते हुए वैशम्पायन महर्षि महाभारतमे युधिष्ठिरके प्रति कहते है —

"सत्यशौच, दयाशौच, इन्द्रियनिग्रह शौच, सर्वप्राणिदया शौच और तपः शौच— ये पांच प्रकार के शौच हैं । जो द्विज इस पञ्चलक्षण शौच से सम्पन्न होता है हम उसे ब्राह्मण कहते हैं । हे युधिष्ठिर, शेष द्विज शूद्र हैं । मनुष्य न कुल से ब्राह्मण होता है और न जाति से किन्तु क्रियाओ से ब्राह्मण होता है । हे युधिष्ठिर, वृत्त मे स्थिर रहने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण है । पहले यह सारा ससार एक वर्णात्मक था परन्तु कर्म और क्रियाओ की विशेषता से चतुर्वर्ण हो गया । शीलसम्पन्न गुणवान् शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है और क्रियाहीन ब्राह्मण शूद्र से भी नीच हो सकता है । जिसने पञ्चेन्द्रियरूप भयानक सागर पार कर लिया है—अर्थात् पञ्चेन्द्रियो को वश कर लिया है, भले ही वह शूद्र हो उसके लिए अपरिमित दान देना चाहिए । हे राजन्, जाति नही देखी जाती । गुण ही कल्याण करने वाले है । इसलिए शूद्र से उत्पन्न हुआ मनुष्य भी यदि गुणवान् है तो ब्राह्मण है[3] ।"

---

१. "न जातिः पूज्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः । चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विन्दुः ।।"

—वृद्ध गौतमीय धर्मशास्त्र

२. "नैव जातिर्न च कुलं केवलं लक्षयेदपि । कर्मशीलगुणा. पूज्याः तथा जातिकुले न हि ।।
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ।" —शु० नी० सा० अ० ३

३. "सत्यं शौचं दया शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूते दयाशौच तप.शौचंच पञ्चमम् ।।
पञ्चलक्षणसंपन्न ईदृशो यो भवेत् द्विज । तमहं ब्राह्मणं ब्रूया शेषा. शूद्रा युधिष्ठिर ।।
न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत् । चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मण स युधिष्ठिर ।।
एकवर्णमिद विश्वं पूर्वमासीद् युधिष्ठिर । कर्मक्रियाविशेषेण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ।।
शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् । ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रादप्यवरो भवेत् ।।
पञ्चेन्द्रियार्णवं घोरं यदि शूद्रोऽपि तीर्णवान् । तस्मै दान प्रदातव्यमप्रमेयं युधिष्ठिर ।।
न जातिर्दृश्यते राजन् गुणाः कल्याणकारकाः । तस्माच्छूद्रप्रसूतोऽपि ब्राह्मणो गुणवान्नरः ।।"

—महाभारत

शुक्रनीति मे भी इस आशय का एक श्लोक और आया है :

"मनुष्य, जाति से न ब्राह्मण हो सकता है न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र और न म्लेच्छ। किन्तु गुणों और कर्म से ही ये भेद होते है[1]।"

भगवद्गीता मे भी यही उल्लेख है कि "मैंने गुण और कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृति मे वेद, ब्राह्मण और महाभारत-युग तक गुण और कर्म की अपेक्षा ही वर्णव्यवस्था अगीकृत की गयी है। परन्तु ज्यो ही स्मृति-युग आया और काल के प्रभाव से लोगो के आत्मिक गुणो मे न्यूनता, सद्वृत्त – सदाचार का ह्रास तथा अहकार आदि दुर्गुणो की प्रवृत्ति होती गयी त्यो-त्यो गुणकर्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था पर परदा पडता गया। अब वर्णव्यवस्था का आधार गुणकर्म न रहकर जाति हो गया। अब नारा लगाया जाने लगा कि[3] "ब्राह्मण जन्म से ही देवताओ का देवता है।" इस गुणकर्मवाद और जातिवाद का एक सन्धिकाल भी रहा है जिसमे गुण और कर्म के साथ योनि अथवा जाति का भी प्रवेश हो गया। जैसा कि कहा गया है :

"जो मनुष्य जाति, कुल, वृत्त-स्वाध्याय और श्रुत से युक्त होता है वही द्विज कहलाता है।"[4]

"विद्या, योनि और कर्म-ये तीनो ब्राह्मणत्व के करने वाले है।"[5]

"जन्म, शारीरिक वैशिष्ट्य, विद्या, आचार, श्रुत और यथोक्त धर्म से ब्राह्मणत्व किया जाता है।"[6]

---

१. "न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा। न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥"
—शुक्रनीति

२. "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।" —भ० गी०, ४।१३।
"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परं तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥" —भ० गी०, १८।४१।

३. "ब्राह्मणः सभवेनैव देवानामपि दैवतम्।" मनु०, ११।८४।

४. "जात्या कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन च। धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्वं विधीयते ॥"
—अग्नि पु०

५. "विद्या योनिः कर्म चेति त्रयं ब्राह्मण्यकारकम्।" पिगलसूत्रव्याख्यायां स्मृतिवाक्यम्।

६. "जन्मशारीरविद्याभिराचारेण श्रुतेन च। धर्मेण च यथोक्तेन ब्राह्मणत्व विधीयते ॥"
—पराशरमाधवीय ८,१६

"तप, श्रुत और जाति ये तीन ब्राह्मणपन के कारण है ।"[1]

परन्तु धीरे-धीरे गुण और कर्म दूर होकर एक योनि अर्थात् जाति ही वर्ण व्यवस्था का कारण रह गया । आज का ब्राह्मण माँस मछली खाये, मदिरापान करे, द्यूतक्रीडा, वेश्यासेवन आदि कितने ही दुराचार क्यो न करे परन्तु वह ब्राह्मण ही बना रहता है, वह अन्यवर्णीय लोगो से अपने चरण पुजाता हुआ गर्व का अनुभव करता है । क्षत्रिय चोरी, डकैती, नरहत्या आदि कितने ही कुकर्म क्यो न करे परन्तु 'ठाकुर साहब' के सिवाय यदि किसी ने कुछ बोल दिया तो उसकी भौंह टेढी हो जाती है । यही हाल वैश्य का है । आज का शूद्र कितने ही सदाचार से क्यो न रहे परन्तु वह जब देखो तब घृणा का पात्र ही समझा जाता है, उसके स्पर्श से लोग डरते है, उसकी छाया से दूर भागते है । आज केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्ण व्यवस्था ने मनुष्यो के हृदय घृणा, ईर्ष्या और अहंकार आदि दुर्गुणो से भर दिये हैं । धर्म के नाम पर अहकार, ईर्ष्या और घृणा आदि दुर्गुणो की अभिवृद्धि की जाती है ।

जैनधर्म और वर्ण व्यवस्था :

जैन सिद्धान्त के अनुसार विदेह क्षेत्र मे शाश्वती कर्मभूमि रहती है, वहाँ क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये तीन वर्ण रहते है और आजीविका के लिये उक्त तीन वर्ण आवश्यक भी है । जैन धर्म ब्राह्मणवर्ण को आजीविका का साधन नही मानता । विदेह क्षेत्र मे तो ब्राह्मणवर्ण है ही नही । भरत क्षेत्र मे अवश्य ही भरत चक्रवर्ती ने उसकी स्थापना की थी परन्तु उस प्रकरण को आद्योपान्त देखने से यह निश्चय होता है कि भरत महाराज ने व्रती जीवो को ही ब्राह्मण कहा है उन्होंने अपने महल पर आमन्त्रित मानवो मे से ही दयालु मानवो को ब्राह्मण नाम दिया था तथा व्रतादिक का विशिष्ट उपदेश दिया था और व्रती होने के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत दिया था। कहने का साराश यह है कि जिस प्रकार बौद्धधर्म मे वर्ण व्यवस्था का सर्वथा प्रतिषेध है, ऐसा जैनधर्म मे नही है । परन्तु इतना निश्चित है कि जैनधर्म स्मृतियुग मे प्रचारित केवल जातिवाद पर अवलम्बित वर्णव्यवस्था को स्वीकार नही करता ।

आदिपुराण मे जो उल्लेख है वह केवल वृत्ति आजीविका को व्यवस्थित रूप देने के लिए ही किया गया है । जिनसेनाचार्य ने उसमे स्पष्ट लिखा है :

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।४५।।"
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्याच्छूद्रान्यग्वृत्तिसश्रयात् ।।४६।।"

—आ० पु०, पर्व ३८

अर्थात् जाति नामक कर्म अथवा पचेन्द्रिय जाति का अवान्तर भेद मनुष्य जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मनुष्य जाति एक ही है । सिर्फ आजीविका के भेद से वह चार प्रकार की हो जाती है । व्रत-सस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीचवृत्ति —सेवावृत्ति से शूद्र कहलाते हैं ।

यही श्लोक जिनसेनाचार्य के साक्षात् शिष्य गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे निम्नप्रकार परिवर्तित तथा परिवर्धित किये हैं

"मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा । वृत्तभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् । आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ।।"

---

१. "तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् ।" —आदिपुराण

इनमे से प्रथम श्लोक का भाव ऊपर लिखा जा चुका है द्वितीय श्लोक का भाव यह है कि गाय, घोडा आदि मे जैसा जातिकृत भेद पाया जाता है वैसा मनुष्यो मे नही पाया जाता क्योकि उन सबकी आकृति एक है ।

आदिपुराण के यही श्लोक सन्धिसंहिता तथा धर्मसंग्रह–श्रावकाचार आदि ग्रथो मे कही ज्यो के त्यो और कही कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किये गये है ।

इनके सिवाय अमितगत्याचार्य का भी अभिप्राय देखिए जो कि उन्होने अपनी धर्मपरीक्षा मे व्यक्त किया है.

"जो सत्य ,शौच, तप, शील, ध्यान, सयम से रहित है ऐसे प्राणियों को किसी उच्च जाति मे जन्म लेने मात्र से धर्म नही प्राप्त हं जाता ।"

"जातियों मे जो यह ब्राह्मणादि की भेद कल्पना है वह आचार मात्र से है । वस्तुत. कोई ब्राह्मणादि जाति नियत नही है ।"

"संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया जिसमे विद्यमान है इसकी श्रेष्ठ जाति है ।"

"नीच जातियो मे उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्ग गये और शील तथा सयम को नष्ट करने वाले कुलीन मनुष्य भी नरक गये ।"

"चूकि गुणो से उत्तम जाति बनती है और गुणो के नाश से नष्ट हो जाती है । अत. विद्वानो को गुणो मे ही आदर करना चाहिये ।"[1]

श्री कुन्दकुन्दस्वामी के दर्शनपाहुड की एक निम्न गाथा देखिए उसमे वे क्या लिखते है :

"णवि देहो वंदिज्जइ ण विय कुलो ण विय जाइसंयुत्तो ।
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावयो होइ ।।२७।।"

"न तो देह की वन्दना की जाती है न कुल की और न जातिसम्पन्न मनुष्य की । गुणहीन कोई भी वन्दना करने योग्य नही है चाहे श्रमण हो चाहे श्रावक ।"

भगवान् वृषभदेव ने ब्राह्मण वर्ण क्यों नहीं सृजा ?

यह एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान् वृषभदेव ने क्षत्रिय आदि वर्णों की स्थापना की, परन्तु ब्राह्मण वर्ण की स्थापना क्यो नही की । उसका उत्तर ऐसा मालूम होता है कि भोगभूमिज मनुष्य प्रकृति से भद्र और शान्त रहते है । ब्राह्मण वर्ण की जो प्रकृति है वह उस समय के मनुष्यो मे स्वभाव से ही थी । अत

---

१. "न जातिमात्रो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः । सत्यशौचतपः शीलध्यानस्वाध्याय वर्जितः ।।
आचारमात्रभेदेन जातीना भेदकल्पनम् । न जातिर्ब्राह्मणाद्यस्ति नियता कापि तात्त्विकी ।।
सयमो नियतः शीलं तपो दानं दमो दया । विद्यन्ते तात्त्विकी यस्या सा जातिर्महती सताम् ।।
शीलवन्तो गताः स्वर्गं नीचजातिभवा अपि । कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ।।
"गुणैः संपद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते । यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादर. परः ।।"
—धर्मपरीक्षा, परि० १७

उस प्रकृति वाले मनुष्यो का वर्ग स्थापित करने की आवश्यकता महसूस नही हुई। हाँ, कुछ लोग उन भद्र प्रकृति के मानवो को त्रास आदि पहुँचाने लगे थे इसलिए क्षत्रिय वर्ण की स्थापना की, अर्थार्जन के विना किसी का काम नही चलता इसलिए वैश्य स्थापित किये और सबके सहयोग के लिए शूद्रो का सघटन किया।[1] महाभारतादि जैनेतर ग्रन्थो मे जो यह उल्लेख मिलता है कि सबसे पहले ब्रह्मा ने ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया उसका भी यही अभिप्राय मालूम होता है। मूलत. मनुष्य ब्राह्मण प्रकृति के थे, परन्तु कालक्रम से उनमे विकार उत्पन्न होने के कारण क्षत्रियादि विभाग हुए। अन्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के युगो मे मनुष्य अपनी भद्रप्रकृति की अवहेलना नही करते, इसलिये यहाँ अन्य कालो मे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना नही होती। विदेह क्षेत्र मे भी ब्राह्मण वर्ण की स्थापना न होने का यही कारण है। यह हुण्डावसर्पिणी काल है जो कि अनेको उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी युगो के बीत जाने के बाद आता है। इसमे खासकर ऐसे मनुष्यो का उत्पाद होता है जो प्रकृत्या अभद्र अभद्रतर होते जाते हैं। समय बीता, भरत चक्रवर्ती हुए। उन्होने राज्य-शासन सँभाला, लोगो मे उत्तरोत्तर अभद्रता बढती गयी। मनुओ के समय मे राजनैतिक दण्डविधान की सिर्फ तीन धाराएँ थी, 'हा' 'मा' और 'धिक्'। किसी ने अपराध किया उसके दण्ड मे शासक ने 'हा' खेद है यह कह दिया, बस, इतने से ही अपराधी सचेत हो जाता था। समय बीता, लोग कुछ अभद्र हुए तब 'हा' के बाद 'मा' अर्थात खेद है अब ऐसा न करना, यही दण्ड निश्चित किया गया। फिर भी समय बीता, लोग और अभद्र हुए, तब 'हा' 'मा' 'धिक्'—खेद है अब ऐसा न करना, और मना करने पर भी नही मानते इसलिए तुम्हे धिक्कार हो, ये तीन दण्ड प्रचलित हुए। 'धिक्' उस समय की मानो फाँसी की सजा थी। कितने भद्र परिणाम वाले लोग उस समय होते थे और आज? अतीत और वर्तमान की तुलना करने पर अवनि-अन्तरिक्ष का अन्तर मालूम होता है।

वर्ण और जाति :

वर्ण के विषय मे ऊपर पर्याप्त विचार किया जा चुका है। यहाँ जाति के विषय मे भी कुछ चर्चा कर लेनी आवश्यक है। जैनागम मे जाति के जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पाँच भेद वर्णित है वे सामान्य की अपेक्षा है। उनके सिवाय एकेन्द्रियादि प्रत्येक जाति के असख्यात अवान्तर विशेष होते है। यह हम उन सवका वर्णन अनावश्यक समझ कर केवल मनुष्य जातियो पर ही विचार करते है।

मनुष्य जातियाँ निम्न भेदो मे विभाजित हैं :

१ वृत्तिरूप जाति—यह वृत्ति अर्थात् व्यवसाय या पेशे से सम्बन्ध रखती है। जैसे बढई, लुहार, सुनार, कुम्हार, तेली आदि।

२ वश—गोत्र आदिरूप जाति—यह अपने किसी प्रभावशाली विशिष्ट पुरुष से सन्तानक्रम की अपेक्षा रखती है। जैसे गर्ग, श्रोत्रिय, राठौर, चौहान, खण्डेलवाल, अग्रवाल, रघुवश, सूर्यवश आदि।

---

१ "असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्। आत्मतेजोऽभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥
तत. सत्य च धर्म च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्। आचार चैव शौच च स्वर्गाय विदधे प्रभुः॥"
—महाभारत, १८८ अध्याय
"प्रजापतिर्यज्ञमसृजत, यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम्...... .."—ऐ० ब्रा०, अ०३४ ख० १
"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् एकमेव .. —श० ब्रा० १४-४-२

३. राष्ट्रीयरूप जाति—यह राष्ट्र की अपेक्षा से उत्पन्न है। जैसे भारतीय, यूरोपियन, अमेरिकन, चदेरिया, नरसिंहपुरिया, देवगढ़िया आदि।

साम्प्रदायिक जाति—यह अपने धर्म या सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखती है। जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख, हिन्दू, मुसलमान आदि।

जैन ग्रन्थो तथा यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मणो मे जिन जातियो का उल्लेख है वे सभी इन्ही जातियो मे अन्तर्हित हो जाते है। इन विविध जातियो का आविर्भाव तत्तत्कारणों से हुआ अवश्य है, परन्तु आज के युग मे पुरुषार्थसाधिनी सामाजिक व्यवस्था मे इन सबका उपयोग नही हो रहा है और नाही हो सकता है। पुरुषार्थ साधिनी सामाजिक व्यवस्था के साथ यदि साक्षात् सम्बन्ध है तो वृत्तिरूप जाति का ही है। व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार वृत्तिरूप जाति को स्वीकृत करता है। यह प्रकृति कदाचित् पिता-पुत्र की एक सदृश होती है, और कदाचित् विसदृश भी। पिता सात्त्विक प्रकृतिवाला है, पर उसका पुत्र राजस् प्रकृतिका धारक हो सकता है। पिता ब्राह्मण है, पर उसका पुत्र कुलक्रमागत अध्ययन-अध्यापन को पसन्द न कर सैनिक बन जाना पसन्द करता है। पिता वैश्य है, पर उसका पुत्र अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति पसन्द कर सकता है। पिता क्षत्रिय है, पर उसका पुत्र दूसरे की नौकरी कर सकता है। मनुष्य विभिन्न प्रकृतियो के होते है और उन विभिन्न प्रकृतियो के अनुसार स्वीकृत की हुई वृत्तियाँ विविध प्रकार की होती हैं। इन सबका जो सामान्य चतुर्वर्गीकरण है वही चतुर्वर्ण हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नही कि एक-एक वर्ण अनेक जाति-उपजातियो का सामान्य-सकलन है। वर्ण सामान्य सकलन है और जाति उसका विशेष सकलन। विशेष मे परिवर्तन जल्दी-जल्दी हो सकता है पर सामान्य के परिवर्तन मे कुछ समय लगता है। मातृवश को जाति कहते हैं। यह जो जाति की एक परिभाषा है उसकी यहाँ विवक्षा नही है।

वर्ण और कुल .

परिवार के किसी प्रतिष्ठित पुरुष को आधार मानकर कुल या वंश का व्वहार चल पड़ता है। जैसे कि रघु का आधार मानकर रघुवश, यदु का आधार मानकर यदुवश, अर्ककीर्ति को आधार मानकर अर्क—सूर्यवश कुरु को आधार मानकर कुरुवंश, हरि को आधार मानकर हरिवश आदि का व्यवहार चल पडा है। उसी वंश परम्परा मे आगे चलकर यदि कोई अन्य प्रभावशाली व्यक्ति हो जाता है तो उसका वश चल पडता है, पुराना वश अन्तर्हित हो जाता है। एक वश से अनेक उपवश उत्पन्न होते जाते है, यह वंश का व्यवहार प्रत्येक वर्ण मे होता है, सिर्फ क्षत्रिय वर्ण मे ही होता हो सो बात नही। यह दूसरी बात है कि पुराणादि कथाग्रन्थो मे उन्ही की कथाएँ मिलती है, परन्तु यह भी तो ध्यान रखना चाहिए कि पुराणादि मे विशिष्ट पुरुषो की ही कथाएँ सदृब्ध को जाती है, सबकी नही। यह यौन वश का उल्लेख हुआ। इसके सिवाय विद्या वश का भी उल्लेख मिलता है जो गुरु शिष्य-परम्परा पर अवलम्बित है। इसके भी बहुत भेदोपभेद हैं। इस प्रकार वर्ण और वंश सामान्य और विशेष रूप है। लौकिक गोत्र वश या कुल का भेद है।

वर्ण और गोत्र :

जैनधर्म मे एक गोत्र नाम का कर्म माना गया है जिसके उदय से यह जीव उच्च-नीच कुल मे उत्पन्न होता है। उच्च गोत्र के उदय से उच्च कुल मे और नीच गोत्र के उदय से नीच कुल मे होता है। देवो के हमेशा उच्च गोत्र का तथा नारकियो और तिर्यञ्चो के नीच गोत्र का ही उदय रहता है। मनुष्यो मे भी भोगभूमिज

मनुष्य के सदा उच्च गोत्र का ही उदय रहता है, परन्तु कर्मभूमिज मनुष्यो के दोनो गोत्रो का उदय पाया जाता है, किन्ही के उच्च गोत्र का और किन्ही के नीच गोत्र का। अपनी प्रशंसा, दूसरे के विद्यमान गुणो का अपलाप तथा अहकार वृत्ति से नीच गोत्र का और इससे विपरीत परिणति के द्वारा उच्च गोत्र का वन्ध होता है। गोत्र की परिभाषा गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इस प्रकार लिखी है :

"संताणकमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥"

अर्थात् सन्तानक्रम से चले आये जीव के आचरण की गोत्र संज्ञा है। इस जीव का जो उच्च नीच आचरण है वही उच्च-नीच गोत्र है। विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि यह लक्षण सिर्फ कर्मभूमिज मनुष्यो को लक्ष्य कर ही लिखा गया है, क्योकि गोत्र का उदय जिस प्रकार मनुष्यो के है उसी प्रकार नारकियो, तिर्यञ्चो और देवो के भी है, तथापि इन सबके सन्तति का क्रम नही चलता। यदि सन्तान का अर्थ सन्तति न लेकर परम्परा या आम्नाय लिया जाये और ऐसा अर्थ किया जाये कि परम्परा या आम्नाय से प्राप्त जीव का जो आचरण अर्थात् प्रवृत्ति है वह गोत्र कहलाता है, तो गोत्र कर्म की उक्त परिभाषा व्यापक हो सकती है, क्योकि देवो और नारकियो के भी पुरातन देव और नारकियो की परम्परा सिद्ध है।

गोत्र सर्वत्र है, परन्तु वर्ण का व्यवहार केवल कर्म भूमि मे है। इसलिए दोनो का परस्पर सदा सम्वन्ध रहता है यह मानना उचित नही प्रतीत होता। निर्ग्रन्थ साधु होने पर कर्मभूमि मे भी वर्ण का व्यवहार छूट जाता है, पर गोत्र का उदय विद्यमान रहा आता है। कितने ही लोग सहसा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को उच्च गोत्री और शूद्र को नीच गोत्री कह देते है। परन्तु इस युग मे जब कि सभी वर्णों मे वृत्ति सम्मिश्रण हो रहा है तव क्या कोई विद्वान् दृढता के साथ यह कहने को तैयार है कि अमुक वर्ग अमुक वर्ण है। कही-कही ब्राह्मणो मे एक-दो नही, पचासो पीढियो से मास-मछली खाने की प्रवृत्ति चल रही है उन्हे ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने के कारण उच्च गोत्री माना जाये और बुन्देलखण्ड की जिन वढई, लुहार, सुनार, नाई आदि जातियो मे पचासो पीढियो से मास-मदिरा का सेवन न किया गया हो उन्हे शूद्र वर्ण मे उत्पन्न होने से नीच गोत्री कहा जाये, यह वात बुद्धिग्राह्य नही दिखती। जिन लोगो मे स्त्री का करा-धरा होता हो वे शूद्र हैं, नीच है और जिनमे यह वात न हो वे त्रिवर्ण द्विज है, उच्च है यह वात भी आज जमती नही है क्योकि स्पष्ट नही तो गुप्त रूप से यह करे-धरे की प्रवृत्ति त्रिवर्णो, द्विजो मे भी हजारो वर्ष पहले से चली आ रही है।

वर्ण व्यवस्था अनादि या सादि ?

वर्णव्यवस्था विदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनादि है, परन्तु भरत क्षेत्र की अपेक्षा सादि है। जव यहाँ भोगभूमि की रचना थी तब वर्ण व्यवस्था नही थी। सव एक सदृश आयु तथा बुद्धि-विभव वाले होते थे। जैनेतर कूर्म पुराण मे भी इस वात का स्पष्ट उल्लेख है कि कृत युग मे वर्ण विभाग नही था। वहाँ के लोगो मे ऊँच-नीच का व्यवहार नही था, सव समान थे, सव की तुल्य आयु थी, सुख-सन्तोष आदि सव मे समान था, सभी प्रजा आनन्द से रहती थी, भोग युक्त थी। तदनन्तर क्रम से प्रजा मे राग और लोभ प्रकट होने लगे, सदाचार नष्ट होने लगा तथा कोई बलवान् और कौर कोई निर्वल होने लगे, इससे मर्यादा नष्ट होने लगी तव उसकी रक्षा के

लिए भगवान् अज अर्थात् ब्रह्माने ब्राह्मणो के हित के लिए क्षत्रियो को सृजा, वर्णाश्रम की व्यवस्था की और पशु हिंसा से विवर्जित यज्ञ की प्रवृत्ति की। उन्होने यह सब युग के प्रारम्भ मे किया'।[1]

जैन धर्म की भी यही मान्यता है कि पहले, दूसरे और कुछ कम तीसरे काल के अन्त तक लोग एक सदश बुद्धि, बल आदि के धारक होते थे। अतः उस समयः वर्णाश्रम-व्यवस्था की आवश्यकता नही थी। परन्तु तीसरे काल के अन्तिम भाग से लोगो मे विषमता होने लगी, अत. भगवान् आदिब्रह्मा ऋषभदेवने क्षत्रियादि वर्णों की व्यवस्था की।

सादि-अनादि की इस स्पष्ट व्यवस्था को न लेकर कितने ही विद्वान् भरत क्षेत्र मे भी वर्ण व्यवस्था को अनादि सिद्ध करते है और उसमे युक्ति देते है कि भोगभूमि के समय लोगो के अन्तस्तल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण दबे हुए रहते है। किन्तु उनका यह युक्तिवाद गले नही उतरता। भोगभूमिज मनुष्यो के जब उच्च गोत्रका ही उदय रहता है, तब उनके शूद्र वर्ण को अन्तर्हित करने वाला नीच गोत्र का भी उदय क्या शास्त्र सम्मत है? फिर ब्राह्मण वर्ण की सृष्टि तो इसी हुण्डावसर्पिणी काल मे बतलायी गयी है, उसके पहले कभी भी यहाँ ब्राह्मण वर्ण नही था। विदेह क्षेत्र मे भी नही है। फिर उसकी अव्यक्त सत्ता भोगभूमिज मनुष्यो के शरीर मे कहाँ से आ गयी?

---

१. "कृते स्वमिथुनोत्पत्तिर्वृत्तिः साक्षादलोलुपा। प्रजास्तृप्ताः सदा सर्वाः सर्वानन्दाश्च भोगिनः॥
अधमोत्तमत्वं नास्त्यासां निर्विशेषा पुरस्तय.। तुल्यमायुः सुखं रूपं तासु तस्मिन् कृते युगे॥
ततः प्रादुरभूत्तासां रागो लोभश्च सर्वश.। अवश्यं भावितार्थेन त्रेतायुगवशेन वै॥
सदाचारे विनष्टे तु बलात्कालबलेन च। मर्यादायाः प्रतिष्ठार्थं ज्ञात्वैतद्भगवानजः॥
ससर्ज क्षत्रियात् ब्रह्मा ब्राह्मणानां हिताय वै। वर्णाश्रमव्यवस्थां च त्रेतायां कृतवान् प्रभु॥
यज्ञप्रवर्तनं चैव पशुहिंसाविवर्जितम्।" —कू० पु०, वि० अ० २९

पद्मपुराण और रविषेणाचार्यः

संस्कृत साहित्य—सागर :

संस्कृत साहित्य अगाध सागर के समान विशाल है। जिस प्रकार सागर के भीतर अनेक रत्न विद्यमान रहते है उसी प्रकार सस्कृत साहित्य—सागर के भीतर भी पुराण, काव्य, न्याय, धर्म, व्याकरण, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अनेक रत्न विद्यमान हैं प्राचीन सस्कृत मे ऐसा आपको विषय नही मिलेगा जिस पर किसी ने कुछ न लिखा हो। अजैन सस्कृत साहित्य तो विशालतम है ही परन्तु जैन सस्कृत साहित्य भी उसके अनुपात मे अल्पपरिमाण होने पर भी उच्चकोटि का है। जैन साहित्यकी प्रमुख विशेषता यह है कि उसमे वस्तु स्वरूप का जो वर्णन किया गया है वह हृदस्पर्शी है, वस्तुके तथ्याशको प्रतिपादित करने वाला है और प्राणिमात्र का कल्याणकारक है।

रामकथा साहित्य :

मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र इतने अधिक लोकप्रिय पुरुष हुए है कि उनका वर्णन न केवल भारतवर्ष के साहित्य मे हुआ है अपितु भारतवर्ष के बाहर भी सम्मान के साथ निरूपण हुआ है और न केवल जैन साहित्य मे ही उनका वर्णन आता है किन्तु वैदिक और बौद्ध साहित्यमे भी सागोपाग वर्णन आता है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओ एव भारत की प्रान्तीय विभिन्न भाषाओ मे इसके ऊपर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गये है। न केवल पुराण अपितु काव्य-महाकाव्य और नाटक-उपनाटक आदि भी इसके ऊपर अच्छी संख्या मे लिखे गये हैं। जिस किसी लेखक ने रामकथा का आश्रय लिया है उसके नीरस वचनो मे भी रामकथा ने जान डाल दी है। इसका उदाहरण भट्टि-काव्य विद्यमान है।

रामकथा की विभिन्नधाराएँ :

हिन्दू, बौद्ध और जैन – इन तीनो ही धर्मावलम्बियो मे यह कथा अपने—अपने ढग से लिखी गयी है और तीनो ही धर्मावलम्बी राम को अपना आदर्श-महापुरुष मानते है। अभी तक अधिकाश विद्वानो का मत यह है कि रामकथा का सर्वप्रथम आधार वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद यह कथा महाभारत, ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, अग्निपुराण वायु-पुराण आदि सभी पुराणो मे थोडे बहुत हेर-फेर के साथ सक्षेप मे लिपिबद्ध की गयी है। इसके सिवाय अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, अद्भुतरामायण नाम से भी कई रामायण ग्रन्थ लिखे गये। इन्ही के आधार पर तिब्बती तथा खोतानी रामायण, हिन्देशिया की प्राचीनतम रचना 'रामायण काकाविन' जावा का आधुनिक 'सेरत राम' तथा हिन्द-चीन, श्याम, ब्रह्मदेश एव सिंहल आदि देशो की रामकथाएँ भी लिखी गयी हैं। वाल्मीकि रामायण की रामकथा सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसलिए उसे अकित करना अनुपयुक्त है। हाँ, अद्भुत रामायण मे सीता की उत्पत्ति की जो कथा

लिखी है वह निराली है अतः उसे यहाँ दे रहा हूँ। उसमें लिखा है कि दण्डकारण्य मे गृत्समद नामके एक ऋषि थे। उनकी स्त्री ने उनसे प्रार्थना की कि हमारे गर्भ से साक्षात् लक्ष्मी उत्पन्न हो। स्त्रीकी प्रार्थना सुनकर ऋषि प्रति दिन एक घडे मे दूध को आमन्त्रित कर रखने लगे। इसी समय वहाँ एक दिन रावण आ पहुँचा, उसने ऋषि पर विजय प्राप्त करने के लिए उनके शरीर पर अपने वाणो की नोके चुभा-चुभाकर शरीर का बूँद बूँद रक्त निकाला और उसी घडे मे भर दिया। रावण उस घडे को साथ ही ले गया और ले जाकर उसने मन्दोदरी को यह जताकर दे दिया कि 'यह रक्त विष से भी तीव्र है।' कुछ समय बाद मन्दोदरी को यह अनुभव हुआ कि हमारा पति मुझ पर सच्चा प्रेम नही करता है इसलिए जीवन से निराश हो उसने वह रक्त पी लिया। परन्तु उसके योग से वह मरी तो नही किन्तु गर्भवती हो गयी। पति की अनुपस्थिति मे गर्भधारण हो जाने से मन्दोदरी भयभीत हुई और वह उसे छिपाने का प्रयत्न करने लगी। निदान, एक दिन वह विमान द्वारा कुरुक्षेत्र जाकर उस गर्भको जमीन मे गाड आयी। उसके बाद हल जोतते समय वह गर्भजात कन्या राजा जनक को मिली और उन्होने उसका पालन-पोषण किया। यही सीता है। वस्तुत. अद्भुत रामायण की यह कथा अद्भुत ही है। सीताजन्म के विषय मे और भी विभिन्न प्रकार की कथाएँ प्रचलित है उनका उल्लेख अलग प्रकरण मे करूँगा। बौद्धो के यहाँ पाली भाषामय 'जातकट्ठवण्णना' के दशरथजातक मे रामकथा का सक्षेप इस प्रकार है—

दशरथ महाराज वाराणसीमे धर्मपूर्वक राज्य करते थे। इनकी ज्येष्ठा महिषी के तीन सन्तान थी—'दो पुत्र (रामपण्डित और लक्खण) और एक पुत्री (सीता देवी)। इस महिषी के मरने के पश्चात् राजा ने एक दूसरी को ज्येष्ठा महिषी के पद पर नियुक्त किया। उसके भी एक पुत्र (भरतकुमार) उत्पन्न हुआ। राजा ने उसी अवसर पर उसको एक वर दिया। जब भरत की अवस्था सात वर्ष की थी, तब रानी ने अपने पुत्र के लिए राज्य माँगा। राजा ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। लेकिन जब रानी अन्य दिनो मे भी पुन -पुन इसके लिए अनुरोध करने लगी तब राजा ने उसके षड्यन्त्रो के भय से अपने दोनो पुत्रो को बुलाकर कहा—'यहाँ रहने से तुम्हारे अनिष्ट होने की संभावना है, इसलिए किसी अन्य राज्य या वन मे जाकर रहो और मेरे मरने के बाद लौटकर राज्य पर अधिकार प्राप्त करो।' उसी समय राजा ने ज्योतिषियों को बुलाकर उनसे अपनी मृत्यु की अवधि पूछी। बारह वर्ष का उत्तर पाकर उन्होने कहा—हे पुत्रो! बारह वर्ष के बाद आकर छत्र को उठाना। पिताजी की वन्दना कर दोनो भाई चलने वाले थे कि सीता देवी भी पिता से विदा लेकर उनके साथ हो ली। तीनो के साथ-साथ बहुत से अन्य लोग भी चल दिये। उनको लौटाकर तीनो हिमालय पहुँच गये और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगे। नौ वर्ष के बाद दशरथ पुत्रशोक के कारण मर जाते हैं। रानी भरत को राजा बनाने मे असफल होती है क्योकि अमात्य और भरत भी इसका विरोध करने लगे। तब भरत चतुरंगिणी सेना लेकर राम को ले आने के उद्देश्य से वन को चले जाते है। उस समय राम अकेले ही हैं। भरत उनसे पिता के देहान्त का सारा वृत्तान्त कहकर रोने लगते हैं परन्तु रामपण्डित न तो शोक करते हैं और न रोते हैं।

सन्ध्या समय लक्खण और सीता लौटते है। पिताजी का देहान्त सुनकर दोनो अत्यन्त शोक करते हैं। इस पर रामपण्डित उनको धैर्य देने के लिए अनित्यता का धर्मोपदेश सुनाते हैं। उसे सुनकर सब शोकरहित हो जाते है। बाद में भरत के बहुत अनुरोध करने पर भी रामपण्डित यह कहकर वन मे रहने का निश्चय प्रकट करते है—'मेरे पिताने मुझे बारह वर्ष की अवधि के अन्त मे राज्य करने का आदेश दिया है, अत. अभी लौटकर मैं उनकी आज्ञा का पालन न कर सकूँगा। मैं तीन वर्ष बाद लौट आऊँगा।'

जब भरत भी शासनाधिकार अस्वीकार करते है तब रामपण्डित अपनी तिणपादुका—तृणपादुका देकर कहते है 'मेरे आने तक ये शासन करेंगी । तृणपादुकाओ को लेकर भरत लक्ष्मण, सीता तथा अन्य लोगो के साथ वाराणसी लौटते है । अमात्य इन पादुकाओ के सामने राजकार्य करते हैं । अन्याय होते ही वे पादुकाएँ एक दूसरे पर आघात करती थी और ठीक निर्णय होने पर शात होती थी ।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर रामपण्डित लौटकर अपनी बहन सीता से विवाह करते है । सोलह सहस्र वर्ष तक राज्य करने के बाद वे स्वर्ग चले जाते हैं । जातक के अन्त मे महात्मा बुद्ध जातक का सामजस्य इस प्रकार बैठाते हैं—उस समय महाराज शुद्धोदन महाराज दशरथ थे । महामाया (बुद्ध की माता) राम की माता, यशोधरा (राहुल की माता) सीता, आनन्द भरत थे और मैं रामपण्डित था ।

इसी प्रकार 'अनामकं जातकम्'[1] मे भी किसी पात्र का उल्लेख न कर सिर्फ राम के जीवनवृत्त से सम्बन्ध रखने वाली कथा कही गयी है । इस जातक मे विशेषता यह है कि राम को विमाता के कारण पिता द्वारा वनवास नही दिया जाता है । वे अपने मामा के आक्रमण की तैयारियाँ सुनकर स्वयं राज्य छोड देते है ।

इसी प्रकार चीनी त्रिपिटक के अन्तर्गत त्सा-पौ-त्सग-किंग नामक १२१ अवदानो का सग्रह है । यह सग्रह ४७२ ई मे चीनी भाषा मे अनूदित हुआ था । इसमे एक 'दशरथ कथानम्' भी मिलता है । इसमे भी रामकथा का उल्लेख किया गया है, विशेषता यह है कि इसमे सीता या किसी अन्य राजकुमारी का उल्लेख नही हुआ है । दशरथकी चार रानियोंका वर्णन आता है—उनमे प्रधान महिषी के राम, दूसरी रानी के रामन [रोमण—लक्ष्मण], तीसरी रानी के भरत और चौथीसे शत्रुघ्न उत्पन्न हुए थे । लेखा विस्तार के भय से 'अनामक जातकम्' और 'दशरथकथानम्' की कथावस्तु नही दे रहा हूँ ।

इस तरह हम हिन्दू और बौद्ध साहित्यमे रामकथा के तीन रुप देखते हैं—एक वाल्मीकि रामायण का, दूसरा अद्भुत रामायण का और तीसरा बौद्ध जातक का ।

जैन रामकथा के दो रूप

इसी तरह जैन साहित्यमे भी रामकथाकी दो धाराएँ उपलब्ध हैं—एक विमलसूरि के 'पउमचरिय' और रविषेणके 'पद्मचरित' की तथा दूसरी गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' की ।

श्वेताम्बर परम्परामे तीर्थंकर आदि शलाकापुरुषो के जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यांश स्थानागसूत्र मे मिलते हैं जिसे आधार मानकर श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र आदिने त्रिषष्टि महापुराण आदि की रचनाएँ की हैं । दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकर आदि के चरित्रो का प्राचीन सकलन नामावली के रूप मे हमे प्राकृत भाषा के तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ मे मिलता है । इसी ग्रन्थ मे ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र तथा ११ रुद्रो के

---

१. तीसरी शताब्दी ई. मे 'अनामकं जातकम्' का काग-सेंग-हुई द्वारा चीनी भाषा मे अनुवाद हुआ था । यद्यपि मूल भारतीय पाठ अप्राप्य है परन्तु चीनी अनुवाद 'लियेऊलु-ली किंग' नामक पुस्तक मे सुरक्षित है । (देखो चीनी तिपिटक का तैशो संस्करण न. १५२)

जीवनके प्रमुख तथ्य भी सगृहीत हैं इन्ही के आधार तथा अपनी गुरुपरम्परा से अनुश्रुत कथानको के बल पर विभिन्न पुराणकारो ने अनेक पुराणों की रचनाएँ की है। विमलसूरिने 'पउमचरिय' के उपोद्घातमे लिखा है कि 'मैं, जो नामावली मे निबद्ध है तथा आचार्य परम्परासे आगत है ऐसा समस्त पद्मचरित आनुपूर्वी के अनुसार सक्षेप से कहता हूँ'।[1] उनके इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उन्होने नामावली को मुख्याधार मानकर 'पउमचरिय' की रचना की है। तिलोयपण्णत्ति मे जो नामावली के रूप मे तीर्थंकर आदि शलाकापुरुषो का चरित अंकित किया गया है—उसको उत्तरवर्ती पुराणकारो ने भी अपने-अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया है। रविषेण ने पद्मचरितके बीसवें पर्व मे उस भव को आत्मसात् किया है। इस ग्रन्थ के अन्त मे जो ग्रन्थ निर्माण के विषय मे उल्लेख किया है उससे यह वीर निर्वाण स. ५३० विक्रम सवत् ६० मे रचा गया सिद्ध है, पर डॉ. हर्मन जैकोबी, डॉ. कीथ, डा. बुल्नर आदि पाश्चात्य विशेषज्ञ इसकी भाषा शैली तथा शब्दोके प्रयोग पर दृष्टि डालते हुए इसे ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी का रचा हुआ मानते है। इसके उपरान्त आचार्य रविषेण ने वीर निर्वाण सवत् १२०४ और विक्रम सवत् ७३४ मे संस्कृत पद्मचरित की रचना की है। इन दोनो ग्रन्थो मे प्रतिपादित कथा की धारा निम्नाकित छह विभागोमे व्यक्त की जा सकती है – [१] विद्याधर काण्ड—राक्षस तथा वानर वशका वर्णन, [२] राम और सीताका जन्म तथा विवाह, [३] वनभ्रमण, [४] सीताहरण और खोज [५] युद्ध, [६] उत्तर चरित। इनका सक्षिप्त कथा सार इस प्रकार है—

[१] विद्याधर काण्ड :

प्रथम ही राजा श्रेणिक भगवान् महावीरके प्रथम गणधर गौतम स्वामी से रामकथा का यथार्थ रूप जानने की इच्छा प्रकट करता है।इसके उत्तर मे गौतम स्वामी रामकथा सुनाते हैं। प्रारम्भ मे विद्याधर लोक, राक्षस वश, वानर वश और रावण की वंशावली का वर्णन दिया गया है—

राक्षस वंश के राजा रत्नश्रवा तथा केकसी के चार सतान है—रावण कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने पहले पहल अपने पुत्र रावण को देखा था तब शिशु जो हार पहने हुआ था उसमे उसे रावणके दस सिर दिखे इसीलिए उसका दशानन या दशग्रीव नाम रखा गया। अपने मौसेरे भाई का विभव देखकर रावण आदि भाई विद्याएँ सिद्ध करने के लिए जाते है और रावण अनेक विद्याएँ प्राप्त कर लौटता है। इसके बाद रावण मन्दोदरी तथा ६००० अन्य कन्याओ के साथ विवाह करता है और दिग्विजय मे बहुत-से राजाओ को परास्त करता है। इस वर्णन मे इन्द्र, यम, वरुण आदि देवता न होकर साधारण विद्याधर राजा है। इस विजय यात्रा मे रावण नलकूबर की स्त्री का प्रेमप्रस्ताव ठुकराकर अपने आपको बहुत ऊँचा उठाता है और केवली का उपदेश सुनकर प्रतिज्ञा करता है कि मैं उस परनारी का उपभोग नही करूँगा जो मुझे स्वय नही चाहेगी। रावण इन्द्र का अहंकार चूर करता है। बालि का अहंकार रावण के आक्रमण से वैराग्य-रूप मे परिणत हो जाता है जिससे बालि विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा धारण करता है और सुग्रीव को राजा बनाता है। हनुमान् की यथार्थ उत्पत्ति तथा उसकी बालचेष्टाएँ सबको चकित कर देती हैं। हनुमान् रावण-की ओर से वरुण के विरुद्ध युद्ध करके चन्द्रनखा की पुत्री अनगकुसुमा के साथ विवाह करता है। खरदूषण रावण की बहन चन्द्रनखा से विवाह करता है। आगे चलकर दोनो से शम्बूक कुमार की उत्पत्ति होती है।

---

१. णामावलिय णिबद्धं आयरिय परम्परागमं सव्वं।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण ॥८॥ —'पउमचरिय', उद्देश १

(२) राम और सीता का जन्म तथा विवाह :

इस प्रकरण से जनक तथा दशरथ की वशावली के वाद प्रारम्भ मे तीन पत्नियो का उल्लेख है—(१) कौशल्या, (२) सुमित्रा और (३) सुप्रभा। एक दिन रावण को किसी से विदित हुआ कि मेरी मृत्यु राजा जनक और दशरथ की सन्तानों के द्वारा होगी। तव रावण ने अपने भाई विभीषण को इन दोनो की हत्या करने के लिए भेजा। पर विभीषण के आने के पहले ही नारद इन दोनो राजाओ को सचेत कर जाते है जिससे ये अपने महलो मे अपने शरीर के अनुरूप पुतले छोडकर वाहर निकल जाते है। विभीषण पुतलो को ही सचमुच का राजा समझ मारकर तथा सिर को लवण समुद्र मे फेंक हमेशा के लिए निश्चिन्त हो जाता है। परदेश-भ्रमण के समय राजा दशरथ केकयी के स्वयवर मे पहुँचते है। केकयी दशरथ के गले मे माला डालती है। इस पर अन्य राजा विगड उठते है। फलस्वरूप उनके साथ दशरथ का युद्ध होता है। केकयी वीरागना थी। इसलिए स्वय दशरथका रथ चलाती है। राजा दशरथ अपने पराक्रम और उसकी चातुरी से युद्ध मे विजयी होते है तथा अयोध्या मे वापस आकर राज्य करने लगते है। केकयी की चतुराई से रीझकर दशरथ ने उसे मनचाहा वर मागने को कहा और उसने वर को राज्य भण्डार मे सुरक्षित करा दिया। केकयी समेत राजा दशरथ की चार रानियाँ हो जाती है, उनसे उनके चार पुत्र उत्पन्न हुए। कौशल्या से राम, इन्ही का दूसरा नाम पद्म था, सुमित्रा से लक्ष्मण, केकयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न।

राजा जनक की विदेहा रानी के एक पुत्री सीता तथा एक पुत्र भामण्डल उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही प्रसूतिगृह से एक पूर्वभव के वैरी द्वारा भामण्डल का अपहरण हो गया। अपहरण के वाद भामण्डल एक विद्याधर को प्राप्त होता है। उसी के यहाँ उसका लालन-पालन होता है। नारद की कृपा से सीता का चित्रपट देखकर भामण्डल का उसके प्रति अनुराग वढता है। छल से जनक को विद्याधर लोक मे वुलाया गया। भामण्डल के पिता के आग्रह करने पर भी जनक ने उसके लिए पुत्री देना स्वीकृत नही किया क्योकि वह पहले राजा दशरथ के पुत्र राम को देना स्वीकृत कर चुका था। निदान विद्याधर ने शर्त रखी कि यदि राम यह 'वज्रावर्त धनुष' चढा देंगे तो सीता उन्हे प्राप्त होगी अन्यथा हम अपने पुत्र के लिए वलात् छीन लेंगे। विवश होकर जनक ने यह शर्त स्वीकृत कर ली। स्वयवर हुआ और राम ने उक्त धनुष चढा दिया। सीता के साथ राम का विवाह हुआ। दशरथ विरक्त हो राम को राज्य देने लगे। तव केकयी ने राज्य-भण्डार मे सुरक्षित वर माँगकर भरत को राज्य देने की इच्छा की। यह सुनकर राम, लक्ष्मण औरसीता के साथ दक्षिण दिशा की ओर चले गये। वीच मे कितने ही त्रस्त राजाओ का उद्धार किया। केकयी और भरत वन मे जाकर राम से वापस चलने का अनुरोध करते है, पर सव व्यर्थ होता हैं।

(3) वन भ्रमण :

इसमे राम-लक्ष्मण के अनेक युद्धो का वर्णन है। कही वज्रकर्ण को सिंहोदर के चन्द्र से वचाते हैं तो वालखिल्य को म्लेच्छ राजा के कारागृह से उन्मुक्त करते हैं, कभी नर्तकी का रूप धरकर भरत के विरोध मे खडे हुए राजा अतिवीर्य का मार्ग-मर्दन करते हैं। इसी वीच मे लक्ष्मण जगह-जगह राजकन्याओ के साथ विवाह करते है। दण्डक वन मे वास करते है, मुनियो को आहार-दान देते हैं तथा जटायु से सम्पर्क प्राप्त करते है।

(4) सीताहरण और खोज :

चन्द्रनखा तथा खरदूषण का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की सिद्धि के लिये वारह वर्ष तक बास के भिडे मे बैठकर तपस्या करता है। उसकी साधना-स्वरूप उसे खड्ग प्रकट हुआ। लक्ष्मण सयोगवश वहाँ पहुँचते हैं

श्रौर शम्बूक के पहले ही उस खड्ग को हाथ मे लेकर उसकी परीक्षा करने के लिये उसी वश के भिडे पर चलाते है जिसमे शम्बूक बैठा था, फलतः शम्बूक मर जाता है । जब चन्द्रनखा भोजन देने के लिये उसके पास श्रायी तब उसकी मृत्यु देखकर बहुत विलाप करती है। निदान वह राम लक्ष्मण को देख उन पर मोहित होकर प्रेम-प्रस्ताव रखती है पर जब उसे सफलता नही मिलती है तब वापस लौट पति के पास जाकर पुत्र के मरने का समाचार सुनाती है । खरदूषण के साथ लक्ष्मण का युद्ध होता है, खरदूषण के श्राह्वान पर . रावण भी सहायता के लिए श्राता है। बीच मे रावण सीता को देख मोहित होता है श्रौर उसे श्रपहरण करने का उपाय सोचता है। वह विद्याबल से जान लेता है कि लक्ष्मण ने राम को सहायतार्थ बुलाने के लिये सिंहनाद का सकेत बनाया है। श्रतः रावण प्रपचपूर्ण सिंहनाद से राम को लक्ष्मण के पास भेज देता है श्रौर सीता को श्रकेली देख हर ले जाता है।

सीताहरण के बाद राम बहुत दु खी होते है। सुग्रीव के साथ उनकी मित्रता होती है। एक साहसगति नाम का विद्याधर सुग्रीव का मायामय रूप बनाकर सुग्रीव की पत्नी तथा राज्य पर श्रधिकार करना चाहता है। राम उसे मारते है, जिससे सुग्रीव श्रपनी पत्नी तथा राज्य पाकर राम का भक्त हो जाता है। सुग्रीव की श्राज्ञा से विद्याधर सीता की खोज करते है। रत्नजटी विद्याधर ने बताया कि सीता का हरण रावण ने किया है। उस समय रावण वडा बलवान् था, इसलिए सुग्रीव श्रादि विद्याधर उससे युद्ध करने के लिये पीछे हटते है पर उन्हें श्रनन्तवीर्य केवली के वचन याद श्राते है कि जो शिला को उठायेगा उसी के हाथ से रावण का मरण होगा। लक्ष्मण ने कोटि-शिला उठाकर श्रपनी परीक्षा दी। सुग्रीव श्रादि को विश्वास हो गया। तब सबके सब वानरवशी विद्याधर रावण के विरुद्ध राम के पक्ष मे खडे हो जाते है। हनुमान् राम का सवाद लेकर सीता के पास जाते है श्रौर सीता का संदेश लाकर राम के पास श्राते है।

(5) युद्ध :

सुग्रीव श्रारि विद्याधरो की सहायता से समस्त सेना श्राकाश मार्ग से लंका पहुँचती है। रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। हनुमान श्रादि उसकी विद्या सिद्धियो मे बाधा डालने का प्रयत्न करते है पर रावण श्रपनी दृढता से विचलित नही होता है श्रौर विद्या सिद्ध करके ही उठता है । विभीषण से रावण का सघर्ष होता है। फलत॰ विभीपण रावण का साथ छोड राम से श्रा मिलता है। राम विभीषण को लका का राजा वनाने का सकल्प करते है। दोनो श्रोर से घमासान युद्ध होता है। लक्ष्मण को शक्नि लगती है पर विशल्या के स्नान-जल से वह ठीक हो जाता है। विशल्या के साथ लक्ष्मण का श्रनुराग दृढ होता है। श्रन्त मे रावण लक्ष्मण पर चक्र चलाता हैं पर वह प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण के हाथ मे श्रा जाता है श्रौर लक्ष्मण उसी चक्र से रावण का काम समाप्त करता है। लक्ष्मण प्रतिनारायण का वध कर नारायण के रूप मे प्रकट होता है।

(६) उत्तरचरित :

श्रयोध्या मे राम-लक्ष्मण लौटकर राज्य करने लगते है । भरत विरक्त हो दीक्षा ले लेता है। राम लोकापवाद से त्रस्त होकर गर्भवती सीता को वन मे छुडवा देते है। सीता राजा वज्रजघ के श्राश्रम मे रहती है। वही उसके लवण श्रौर श्रकुश नामक दो पुत्र उत्पन्न होते है । वडे होने पर लवण श्रौर श्रंकुश राम-लक्ष्मण से युद्ध करते हैं। श्रन्त मे नारद निवेदन पर पिता-पुत्रो मे मिलाप होता है। हनुमान, सुग्रीव, विभीषणादि के कहने पर राम सीता को बुलाते है, सीता श्रग्नि परीक्षा देती है श्रौर उसके वाद श्रार्यिका हो जाती है तथा तपकर सोलहवें

स्वर्ग मे प्रतीन्द्र होती है । किसी दिन दो देव नारायण तथा वलभद्र का स्नेह परखने के लिए आते हैं। वे झूठ-मूठ ही लक्ष्मण से कहते है कि राम का देहान्त हो गया । उनकी वात सुनते ही लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती है। भाई के स्नेह से विवश हो राम छह मास तक लक्ष्मण का शव लिये फिरते है । अन्त मे कृतान्तवक्त्रसेनापति का जीव जो देव हुआ था, उसकी चेष्टा से वस्तुस्थिति समझ लक्ष्मण की अन्त्येष्टि करते है और विरक्त हो तपश्चर्या कर मोक्ष प्राप्त करते है।

इस धारा-कथानक का जैन समाज मे भारी प्रचार है । हेमचन्द्राचार्य कृत जैन रामायण, जो त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित का एक अश है, इसी धारा के अनुरूप विकसित है । जिनदास कृत रामपुराण, पद्मदेव-विजयगणिकृत रामचरित तथा कथाकोषो मे आगत रामकथायें इसी धारा मे प्रवाहित हुई है । स्वयभूदेवकृत अपभ्रश भाषा का पउमचरिउ तथा नागचन्दकृत कर्नाटक पद्मरामायण इसी के अनुकूल है।

दूसरी धारा गुणभद्राचार्यकृत उत्तर पुराण की है । गुणभद्र जिनसेनाचार्य के शिष्य थे। जिनसेन ने 'कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृक पुरोश्चरितम्' इस उल्लेख से यह स्पष्ट किया है कि उन्होने आदिपुराण की रचना कवि परमेश्वर के गद्यात्मक 'वागर्थसग्रह' पुराण के आधार पर की है। जिनसेन आदिपुराण की रचना पूर्ण करने के पूर्व ही दिवगत हो गये, अत. अवशिष्ट आदिपुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके प्रवुद्ध शिष्य गुणभद्र ने की है। वहुत कुछ सम्भव है कि गुणभद्र ने भी उत्तरपुराण की रचना करते समय कवि परमेश्वर के 'वागर्थसग्रहपुराण' को ही आधारभूत माना हो पर आजकल वह रचना अप्राप्य है। इसलिये रामकथा की इस द्वितीय धारा के उपोद्धातक के रूप मे सर्वप्रथम गुणभद्र का ही नाम आता है। उत्तरपुराण के ६७ वें तथा ६९ वें पर्व मे ११६७ श्लोको मे आठवे वलभद्र तथा नारायण के रूप मे राम तथा लक्ष्मण का वर्णन किया गया है। यह वर्णन 'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित' के वर्णन से भिन्न है । इसमे खास वात यह है कि सीता को जनक की पुत्री न मानकर रावण-मन्दोदरी की पुत्री माना है। सीता-जन्म की चर्चा आगे चलकर पृथक् स्तम्भ मे करेंगे। उससे स्पष्ट होगा कि 'सीता रावण की पुत्री थी' यह न केवल गुणभद्र का मत था किन्तु तिव्वती रामायण तथा अन्य ग्रन्थो मे वैसा ही उल्लेख है । अत सम्भवत रामकथा का यह दूसरा रूप गुणभद्र के समय मे पर्याप्त प्रचार पा चुका होगा और उन्हे अपनी गुरु-परम्परा से यही मत प्राप्त हुआ होगा। इसलिये आचार्य परम्परा के अनुसार उन्होने इसी का उल्लेख किया है। पद्मचरित की प्रथम-धारा को पढने के वाद यद्यपि इस धारा को पढने मे कुछ अटपटा-सा लगता है पर यह धारा सर्वथा निर्मूल नही मालूम होती । अपभ्रश भाषा के महापुराण मे महाकवि पुष्पदन्त ने, कर्णाटक भाषा के त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण मे चामुण्डराय ने और पुण्यास्रव कथासार मे नागराज ने गुणभद्रकी धारा मे ही अवगाहन कर अपने काव्य लिखे हैं।

उत्तरपुराण का सक्षिप्त कथानक इस प्रकार है -

वाराणसी के राजा दशरथ के चार पुत्र उत्पन्न होते है—राम सुवाला के गर्भ से, लक्ष्मण [1]कैकेयी के गर्भ से और वाद मे जव दशरथ अपनी राजधानी साकेत मे स्थापित करते है तव भरत और शत्रुघ्न भी किसी रानी के गर्भ से उत्पन्न होते है। यहाँ भरत और शत्रुघ्न की माता का नाम नही दिया गया है। दशानन विनमि

---

१. रविषेण ने यद्यपि लक्ष्मण को लिखा है सुमित्रा का पुत्र, परन्तु बीच-बीच मे जव कभी उन्हें कैकेयी सूनु के रूप मे उल्लिखित किया है, उदाहरण के लिए एक श्लोक यह है—

विद्याधरवंश के पुलस्त्य का पुत्र है। किसी दिन वह अमितवेग की पुत्री मणिमति को तपस्या करते देखता है और उस पर आसक्त होकर उसकी साधना मे विघ्न डालने का प्रयत्न करता है। मणिमति निदान करती है कि मैं 'उसकी पुत्री होकर उसे मारूँगी' मृत्यु के बाद वह रावण की रानी मन्दोदरी के गर्भ मे आती है। उसके जन्म के बाद ज्योतिषी रावण से कहते हैं कि यह पुत्री आपका नाश करेगी। अतः रावण ने भयभीत होकर मारीच को आज्ञा दी कि वह उसे कही छोड दे। कन्या को एक मंजूषा में रखकर मारीच उसे मिथिला देश मे गाड आता है। हल की नोक से उलझ जाने के कारण वह मंजूषा दिखाई पडती है और लोगो के द्वारा जनक के पास पहुँचायी जाती है। जनक मंजूषा को खोलकर कन्या को देखते है और उसका सीता नाम रखकर उसे पुत्री की तरह पालते है। बहुत समय बाद जनक अपने यज्ञ की रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को बुलाते हैं। यज्ञ के समाप्त होने पर राम और सीता का विवाह होता है, इसके बाद राम सात अन्य कुमारियो से विवाह करते हैं और लक्ष्मण पृथ्वी देवी आदि १६ राज कन्याओ से। दोनों दशरथ की आज्ञा लेकर वाराणसी मे रहने लगते हैं।

नारद से सीता के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर रावण उसे हर लाने का संकल्प करता है। सीता का मन जाँचने के लिये शूर्पणखा भेजी जाती है लेकिन सीता का सतीत्व देख वह रावण से यह कहकर लौटती है कि सीता का मन चलायमान करना असम्भव है। जब राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका मे विहार करते हैं तव मारीच स्वर्णमृग का रूप धारण कर राम को दूर ले जाता है। इतने मे रावण राम का रूप धारण करके सीता से कहता है कि मैने स्वर्ण मृग महल भेजा है और उनको पालकी पर चढने की आज्ञा देता है। यह पालकी वास्तव मे पुष्पक विमान है, जो सीता को लंका ले जाता है। रावण सीता का स्पर्श नही करता है क्योकि पतिव्रता के स्पर्श से उसकी आकाश-गामिनी विद्या नष्ट हो जाती।

दशरथ को स्वप्न द्वारा मालुम हुआ कि रावण ने सीता का हरण किया है और वह राम के पास यह समाचार भेजते हैं। इतने मे सुग्रीव और हनुमान बालि के विरुद्ध सहायता माँगने के लिए पहुँचते है। हनुमान लका जाते हैं और सीता को सान्त्वना देकर लौटते है (लंका-दहन का कोई उल्लेख नही मिलता)। इसके बाद लक्ष्मण द्वारा बालि का वध होता है और सुग्रीव अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त करता है अब वानरो की सेना राम की सेना के साथ लका की ओर प्रस्थान करती है। युद्ध के विस्तृत वर्णन के अंत मे लक्ष्मण चक्र से रावण का सिर काटते हैं। इसके बाद लक्ष्मण दिग्विजय करके और अर्धचक्रवर्ती (नारायण) बनकर अयोध्या लोटते हैं। लक्ष्मण की सोलह हजार और राम की आठ हजार रानियाँ है। सीता के आठ पुत्र होते हैं (सीता त्याग का उल्लेख नही मिलता)। लक्ष्मण एक असाध्यरोग से मरकर रावण-वध के कारण नरक जाते हैं। राम, लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वी सुन्दर को राज्य पद पर और सीता के पुत्र अजितजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके दीक्षा लेते है और मुक्ति पाते है। सीता भी अनेक रानियो के साथ दीक्षा लेती है और अच्युत स्वर्ग में जाती है।

इत्युक्तो रावणो बाणैः सुबाणैः कैकयी सुतम्। प्रावृषेण्यघनाकारो गिरिकल्प निरुद्धवान् ॥९४॥ पर्व ७४
कैकयीनन्दनः कृतः माहेन्द्रमस्त्रमुत्सृष्टं चकार गगनासनम् ॥१००॥ पर्व ४

ग्रंथ की छानवीन करने पर पता चला है कि रविषेण ने भरत की माता का नाम 'केकया' लिखा है और लक्ष्मण की माता को 'सुमित्रा' और 'केकयी' इन दो नामो से उल्लिखित किया है।

उत्तरपुराण की यह राम कथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे प्रचलित नही है। आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित्र मे जो राम कथा है, वह पूर्णत. 'पउमचरिय' या पद्मचरित की कथा के अनुरूप है। ऐसा जान पडता है कि हेमचन्द्राचार्य के सामने 'पउमचरिय' और 'पद्मचरित' दोनो ही ग्रन्थ विद्यमान थे। गुणभद्राचार्य हेमचन्द्राचार्य से पूर्ववर्ती हैं अत इनके समक्ष भी 'पउमचरिय' और 'पद्मचरित' रहा अवश्य होगा पर उन्होने इसे अपनी कथा मे क्यो नही अपनाया यह एक रहस्यपूर्ण बात मालूम होती है।

'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित की रामकथा अधिकाश वाल्मीकि रामायण के आधार पर चलती है क्योकि दोनो ही ग्रन्थो मे राजा श्रेणिक ने गौतम स्वामी से राम की यथार्थ कथा कहने की जो प्रेरणा की है उससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय लोक मे एक रामकथा प्रचलित थी जिसमे रावण, कुम्भकर्ण [आदि को मासभक्षी राक्षस, तथा सुग्रीव, हनुमान आदि को वानर बताया गया था। उसके सिवाय इतिहासवेत्ताओ ने वाल्मीकि रामायण का समय भी ईस्वीय पूर्व बतलाया है, तब उसका 'पउमचरिउ' और 'पद्मचरित' के कर्त्ता के सामने रहना शक्य ही है। उत्तरपुराण की धारा मे सीता जन्म का जो वर्णन मिलता है वह विष्णुपुराण के ढग का है। दशरथ बनारस के राजा थे यह वात वौद्धजातक से मिलती-जुलती है। उत्तरपुराण के समान वौद्धजातक मे सीता-त्याग तथा लवकुश-जन्म आदि नही है। कहने का साराश यह कि भारतवर्ष मे रामकथा की जो तीन धाराएँ प्रचलित हैं वे जैन सम्प्रदाय मे भी प्राचीनकाल से चली आ रही है।

सीताजन्म के विविध कथन :

इन धाराओ मे सीता जन्म को लेकर पर्याप्त विभिन्नता आयी है, इसलिए उन विभिन्नताओ का इस स्तम्भ मे संकलन कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है।

सीता जन्म के विषय मे निम्नाँकित मान्यताएँ उपलब्ध हैं—

[१] सीता जनक की पुत्री है

इसका उल्लेख 'महाभारत' तथा 'हरिवश' की रामकथा, 'पउमचरिउ' तथा 'पद्मचरित' और आदि-रामायण मे मिलता है।

[२] सीता पृथिवी की पुत्री है

इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण तथा उसके आधार से लिखी गयी अन्य रामकथाओ मे पाया जाता है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरीय पाठ मे जनक तथा मेनका की मानसी पुत्री भी वतलाया है पर पृथ्वी से मानवी की उत्पत्ति एकदम असगत प्रतीत होती है।

[३] सीता रावण की पुत्री है

इसका उल्लेख उत्तरपुराण, विष्णुपुराण, महाभागवतपुराण, काश्मीरीरामायण, तिब्बती तथा खेतानीरामायण मे मिलता है।

[४] सीता कमल से उत्पन्न हुई है

इसका उल्लेख अद्भुत रामायण मे है, इसकी विस्तृत कथा पहले दी जा चुकी है।

[५] सीता ऋषि के रक्त का सम्बन्ध पाने वाली मन्दोदरी के गर्व से उत्पन्न हुई

इसका उल्लेख दशावतारचरित मे पाया जाता है ।

[६] सीता अग्नि से उत्पन्न हुई है

यह आनन्दरामायण मे लिखा है ।

[७] सीता दशरथ की पुत्री है

यह दशरथजातक, जावा के राम के लिंग, मलय के सेरीराम तथा हिकायत महाराज रावण मे लिखा है।

इनमे दशरथजातक की कथा पहले दी जा चुकी है । अन्य कथाएँ लेख विस्तार के भय से नही दे रहा हूँ ।

पद्मचरित और आचार्य रविषेण :

सस्कृत पद्मचरित, दिगम्बर कथा साहित्य मे बहुत प्राचीन ग्रन्थ है । ग्रन्थ के कथानक आठवें बलभद्र पद्म (राम) तथा आठवे नारायण लक्ष्मण हैं । दोनो ही व्यक्ति जन-जन के श्रद्धाभाजन है । इसलिए उनके विषय मे कवि ने जो भी लिखा है वह कवि की अन्तर्वाणी के रूप मे उसकी मानस-हिमकन्दरा से नि सृत मानो मन्दाकनी ही है । प्रसग पाकर आचार्य रविषेण ने विद्याधर लोक, अंजना-पवनंजय, हनुमान तथा सुकोशल आदि का जो चरित्र-चित्रण किया है, उससे ग्रन्थ की रोचकता इतनी अधिक बढ गई है कि ग्रन्थ को एक बार पढना शुरू कर बीच मे छोड़ने की इच्छा ही नही होती ।

इसके रचयिता आचार्य रविषेण है । इन्होने अपने किसी सघ या गणगच्छ का कोई उल्लेख नही किया है और न स्थानादिकी ही चर्चा की है परन्तु सेनान्त नाम से अनुमान होता है कि सम्भवत सेन-सघ के हो । इनकी गुरु परम्परा के पूरे नाम इन्द्रसेन, दिवाकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन होगे ऐसा जान पडता है । अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख इन्होने इसी पद्मचरित के १२३ वें पर्व के १६७ वें श्लोक के उत्तरार्ध मे इस प्रकार किया है—

> आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनि-
> स्तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्' ।।

अर्थात् इन्द्रगुरु के दिवाकर यति. दिवाकर यति के अर्हन्मुनि, अर्हन्मुनि के लक्ष्मणसेन और लक्ष्मणसेन के रविषेण शिष्य थे ।

ये सव किस प्रान्त के थे ? इनके माता-पिता आदि कौन थे ? तथा इनका गार्हस्थ्य जीवन कैसा रहा ? इन सवका पता नही है । पद्मचरित की रचना कव पूर्ण हुई ? इसका उल्लेख इन्होने १२३ वें पर्व के १८१ वें श्लोक मे इस प्रकार किया है ।

> द्विशताभ्यधिके समा सहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।
> जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरित पद्ममुनेरिद निवद्धम्' ।।१८१।।

अर्थात् जिनसूर्य—भगवान् महावीर के निर्वाण होने के १२०३ वर्ष ६ माह बीत जाने पर पद्ममुनि का यह चरित निबद्ध किया गया। इस प्रकार इसकी रचना ७३४ विक्रम सवत् मे पूर्ण हुई। इनके उत्तरवर्ती उद्योतनसूरि ने अपने कुवलयमाला मे—जो वि. स. ८३५ की रचना है, वरागचरित के कर्ता जटिलमुनि तथा पद्मचरित के कर्ता रविषेण का स्मरण किया है।[1] इसी प्रकार हरिवशपुराण के कर्ता जिनसेन ने भी वि स. ८४० की रचना – हरिवश पुराण मे रविषेण का अच्छी तरह स्मरण किया है।[2]

पद्मचरित का आधार :

पद्मचरित के आधार की चर्चा करते हुए स्वय रविषेण ने प्रथम पर्व के ४१-४२ वें श्लोक मे इस प्रकार चर्चा की है—

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्त सोऽयमर्थो गणेश्वरम् ।
इन्द्रभूति परिप्राप्तः सुधर्म धारिणीभवम् ।।४१।।
प्रभवं क्रमतः कीर्ति ततोऽनुत्तरवाग्मिनम् ।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गत. ।।४२।।

अर्थात् श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर को प्राप्त हुआ, फिर धारिणी के पुत्र सुधर्माचार्य को प्राप्त हुआ, फिर प्रभव को प्राप्त हुआ, फिर अनुत्तरस्वाग्मी अर्थात् श्रेष्ठ वक्ता कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ। तदनतर उनका लिखा प्राप्त कर यह रविषेणाचार्य का प्रयत्न प्रकट हुआ है।[1]

ग्रन्थान्त मे १२३ पर्व के १६६ वें श्लोक मे भी इसी प्रकार उल्लेख किया है—

"निर्दिष्टं सकलैर्नतेन भुवनैः श्रीवर्द्धमानेन यत्
तत्त्व वासवभूतिना निगदितं जम्बोः प्रशिष्यस्य च ।
शिष्येणोत्तरवाग्मिना प्रकटितं पद्मस्य वृत्तं मुनेः
श्रेयः साधुसमाधिवृद्धिकरणं सर्वोत्तमं मङ्गलम् ।।१६६।।

---

१. जेहि कए रमणिज्जे वरंग पउमाणचरिय वित्थारे ।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडियरविसेणे ।।४१।।

२. कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता ।
मूर्तिः काव्यभवा लोके रवेरिव रवेः प्रिया ।।३४।।

१. प्रथम पर्व के ४१–४२ वें श्लोक का अनुवाद करते समय १२३ वें पर्व के १६७ वें श्लोक मे आगत उत्तर वाग्मीपद की सार्थकता के लिये (ततोऽनूत्तरवाग्मिनम्) 'ततः अनु उत्तरवाग्मिनम्' इस पाठ की कल्पना की गयी थी, पर सब प्रतियो में 'ततोऽनुत्तरवाग्मिनम्' यही पाठ है इसलिए 'अनुत्तरवाग्मिनम्' को कीर्ति का विशेषण मान लेना उचित जान पडता है। 'अनुत्तरवाग्मिनम्' का अर्थ श्रेष्ठ वक्ता होता है। १२३ पर्व के १६७ वें श्लोक मे उत्तरवाग्मी इस विशेषण से कीर्तिधर का उल्लेख समझना चाहिए क्योकि वहा कीर्ति का अलग से उल्लेख नहीं है। स्वयम्भू कवि ने भी अपने अपभ्रंश 'पउमचरिउ' मे 'कित्तिहरेण अणुत्तरवाए' इस उल्लेख से 'अणुत्तरवाए' को कीर्तिधर का विशेषण ही माना है। इस सशोधन के अनुसार पाठक प्रथम पर्व के ४१–४२ वें श्लोक का अनुवाद ठीक कर लें। माननीय डॉ० ए. एन. उपाध्याय ने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था, अतः उनका आभारी हूं।

अर्थात् समस्त संसार के द्वारा नमस्कृत श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र ने पद्ममुनि का जो चरित कहा था वही इन्द्रभूति – गौतम गणधर ने सुधर्मा और जम्बू स्वामी के लिये कहा। वही आगे चलकर उनके शिष्य उत्तर-वाग्मी श्रेष्ठ वक्ता श्री कीर्तिधर मुनि के द्वारा प्रकट हुआ। पद्ममुनि का यह चरित कल्याण तथा साधु समाधि की वृद्धि का कारण है और सर्वोत्तम मगलस्वरूप है। यहा आचार्य कीर्तिधर का उनके उत्तरवाग्मी विशेषण से उल्लेख समझना चाहिये।

स्वयम्भू कवि ने अपभ्रंश भाषा के 'पउमचरिउ' की रचना रविषेण के पद्मचरित के आधार पर की है और पमद्चरित मे रविषेण ने ग्रन्थ परम्परा का आधार बतलाते हुये जो प्रथम पर्व मे ४१–४२ श्लोक लिखे है उन्हे ही सामने रखकर स्वयम्भू कवि ने भी निम्नाकित पद्य लिखे है।

वड्ढमाण-मुह-कुहरविणिग्गय। रामकहाणए एह कमागय।

..

पच्छइ इदंभूइ आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिएं।
पुणु पहवे संसारारा एं। कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं।
पुणु रविषेणायरियपसाएं। बुद्धिए अवगाहिय कइराएं।

अर्थात् यह रामकथा रूपी सरिता वर्द्धमान जिनेन्द्र के मुखरूपी कन्दरा से अवतीर्ण हुई है···तदनन्तर इन्द्रभूति आचार्य को, फिर गुणालकृत सुधर्माचार्य को, फिर प्रभव को, फिर अनुत्तरवाग्मी श्रेष्ठवक्ता कीर्तिधर को प्राप्त हुई है। तदनन्तर रविषेणाचार्य के प्रसाद से उसी रामकथा-सरिता मे अवगाहन कर.........

इस प्रकार स्वयम्भू द्वारा समर्थित रविषेण के उल्लेख से जान पडता है कि उनके पद्मचरितका आधार आचार्य कीर्तिधर मुनि के द्वारा सदृब्ध रामकथा है पर यह कीर्तिधर कौन है ? इनका आचार्य परम्परा मे उल्लेख देखने मे नही आया। तथा इनकी रामकथा कहाँ गयी ? इसका कुछ पता नही चलता। हो सकता है कि कवि परमेश्वर के 'वागर्थसग्रहपुराण के समान लुप्त हो गयी हो।

पउमचरिय और पद्मचरित :

उधर जब रविषेण के द्वारा प्रतिपादित अपने पद्मचरित का आधार कीर्तिधर मुनि के द्वारा प्रतिपादित रामकथा को जानते है और इधर जब विमलसूरि के उस प्राकृत 'पउमचरिय' को जिसकी कथावस्तु प्रतिपादन शैली, उद्देश अथवा पर्वो के समानान्त नाम एव कितने ही स्थलो पर पद्यो का अर्थसाम्य भी देखते है तब कुछ द्विविधा-सी उत्पन्न होती है। 'पउमचरिय मे विमलसूरि ने ग्रन्थ निर्माण का जो समय दिया है उससे वह विक्रम सवत् ६० का ग्रन्थ सूचित होता है और रविषेण का पद्मचरित उससे ६७४ वर्ष पीछे का प्रकट होता है। यदि रविषेण पउमचरिय को सामने रखकर अपने पद्मचरिय मे उसका पल्लवन करते है तो फिर एक जैनाचार्य को इस विषय मे उनका कृतज्ञ होकर उनका नामोल्लेख अवश्य करना चाहिये था पर नामोल्लेख उन्होने दूसरे का ही किया है...यह एक विचारणीय बात है।

पद्मचरित का साहित्यिक रूप :

पद्मचरित की भाषा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत तथा अत्यन्त मनोहारिणी है। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित पद्मचरित को देखने के बाद पहले मेरे मन मे धारणा जम गयी थी कि इसमे वाल्मीकि रामायण के समान भाषा सम्बन्धी शिथिलता अधिक है पर जब हस्तलिखित प्रतियो से मिलान करने पर शुद्ध पाठ सामने आये तब हमारी उक्त धारणा उन्मूलित हो गयी। वन, नदी, सेना, युद्ध आदि का वर्णन करते हुए कवि ने बहुत ही कमाल किया है। चित्रकूट पर्वत, गंगा नदी तथा वसन्त आदि ऋतुओ का वर्णन आचार्य रविषेण ने जिस खूबी से किया है वैसा तो हम महाकाव्यो मे भी नही देखते है।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन पृ० [illegible]

हरिवंश पुराण और जिनसेनाचार्य (द्वितीय) :

हरिवंशपुराण :

अभी तक मेरी दृष्टि मे तीन हरिवशपुराण आये हैं। जिनमे दो संस्कृत मे हे और एक अपभ्रंश भाषा का है। अपभ्रंश हरिवश के रचयिता महाकवि रइधू है। इसकी प्रति मैंने कुरवाई (सागर) के जैन मन्दिर मे देखी थी। सस्कृत के दो हरिवशो मे एक हरिवश ब्रह्मचारी जिनदास का बनाया हुआ है।इसकी प्रति भाण्डारकर रिसर्च इस्टीटयूट पूना मे विद्यमान है। रचना सरल और सक्षिप्त है। जिनसेन के हरिवश मे जो तत्र-तत्र प्रसगोपात्त अन्य वर्णन आये है उन्हे छोडकर मात्र कथाभाग इसमे सगृहीत किया गया है। दूसरा हरिवश आचार्य जिनसेन का है जिसका सस्करण पाठको के हाथ मे है।

आचार्य जिनसेन का हरिवंश पुराण दिगम्बर-सम्प्रदाय के कथासाहित्य मे अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय विवेचना की अपेक्षा तो प्रमुख स्थान रखता ही है, प्राचीनता की अपेक्षा भी संस्कृत कथाग्रन्थो मे तीसरा ग्रन्थ ठहरता है। पहला रविषेणाचार्य का पद्मपुराण, दूसरा जटासिहनन्दी का वरागचरित और तीसरा यह जिनसेन का हरिवश है। यद्यपि जिनसेन ने अपने हरिवश मे महासेन की सुलोचना कथा तथा कुछ अन्यान्य ग्रन्थो का भी उल्लेख किया है; परन्तु अभी तक अनुपलब्ध होने के कारण उनके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता। हरिवश के कर्ता जिनसेन ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे पार्श्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेन स्वामी का स्मरण किया है इसलिए इनका महापुराण हरिवश से पूर्ववर्ती होना चाहिए...यह मान्यता उचित नही प्रतीत होती, क्योकि जिस तरह जिनसेन ने अपने हरिवंशपुराण मे जिनसेन (प्रथम) का स्मरण करते हुए उनके पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख किया है उस तरह महापुराण का उल्लेख नही किया, इससे विदित होता है कि हरिवश की रचना के पूर्व तक जिनसेन (प्रथम) के महापुराण की रचना नही हुई थी। महापुराण, जिनसेन स्वामी के जीवनकी अन्तिम रचना है इसीलिए तो यह उनके द्वारा पूर्ण नही हो सकी, उनके शिष्य गुणभद्राचार्य के द्वारा पूर्ण हुई है। हरिवश और महापुराण दोनो को देखने के बाद ऐसा लगता है कि महापुराण कार ने हरिवश को देखने के बाद उसकी रचना की है। हरिवशपुराण मे तीन लोकों का, सगीत का तथा व्रतविधान आदि का जो बीच-बीच मे विस्तृत वर्णन किया गया है उससे कथा के सौन्दर्य की हानि हुई है। इसलिए महापुराण मे उन सबके अधिक विस्तार को छोडकर प्रसगोपात्त सक्षिप्त ही वर्णन किया गया है। काव्योचित भाव। तथा अलकार की विच्छित्ति भी हरिवशपुराण की अपेक्षा महापुराण मे अत्यन्त परिष्कृत है।

हरिवंशपुराण का आधार :

जिस प्रकार जिनसेन के महापुराण का आधार कवि परमेष्ठी का 'वागर्थसंग्रह' पुराण है उसी प्रकार हरिवश का आधार भी कुछ न कुछ अवश्य रहा होगा। हरिवश के कर्ता जिनसेन ने प्रकृत ग्रन्थ के अन्तिम सर्ग मे भगवान् महावीर से लेकर ६८३ वर्ष तक की और उसके बाद अपने समय तक की विस्तृत—अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा दी है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु कीर्तिषेण थे और सम्भवतया हरिवश की कथ।वस्तु उन्हे उनसे प्राप्त हुई होगी।

कुवलयमाला के कर्ता उद्योतनसूरिने (वि. सं. ८३५) अपनी कुवलयमाला मे जिस तरह रविषेण के पद्मचरित और जटासिंहनन्दी के वरागचरित की स्तुति की है उसी तरह हरिवश की है[1]। उन्होने लिखा है कि मैं हजारो बुधजनो के प्रिय, हरिवशोत्पत्तिकारक, प्रथम वन्दनीय और विमलपद हरिवश की वन्दना करता हूँ। यहाँ श्लेष से विमल पद के (विमल सूरि के चरण और विमल हैं पद जिसके ऐसा हरिवश) दो अर्थ घटित होते है। विमल सूरि का वह 'हरिवश' अभी तक अप्राप्य है, इसके मिलने पर हरिवश के मूलाधार का निर्णय सहज हो सकता है। वर्णन शैली को देखते हुए इन्होने रविषेण के पद्मचरित को अच्छी तरह देखा है यह स्पष्ट है। पद्यमय ग्रन्थो मे गद्य का उपयोग अन्यत्र देखने मे नही आता परन्तु जिस प्रकार रविषेण ने पद्मचरित मे वृत्तानुगन्धी गद्य का प्रयोग किया है उसी प्रकार जिनसेन ने भी हरिवश के ४९ वे सर्ग मे नेमि जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए वृत्तानुगन्धी गद्य का प्रयोग किया है। हरिवश का लोकविभाग एव शलाका पुरुषो का वर्णन 'त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति' से मेल खाता है[1]। द्वादशाग का वर्णन राजवार्तिक के अनुरूप है, सगीत का वर्णन भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र से अनुप्राणित है और तत्त्वो का निरूपण तत्त्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धि के अनुकूल है। इससे जान पडता है कि आचार्य जिनसेन ने उन सब ग्रन्थो का अच्छी तरह आलोडन किया है। तत्तत्प्रकरणो मे दिये गये तुलनात्मक टिप्पणो से उक्त बात का निर्णय सुगम है।[1] हाँ व्रतविधान, समवसरण तथा जिनेन्द्र विहार का वर्णन किससे अनुप्राणित है ? यह निर्णय मैं नही कर सका।

हरिवंश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन :

हरिवश पुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट सघके थे। ये महापुराणादि के कर्ता जिनसेन से भिन्न है। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण और दादागुरु का नाम जिनसेन था। महापुराणादि के कर्ता जिनसेन के गुरु वीरसेन और दादागुरु आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। इसलिए इस देश के मुनिसघ का नाम पुन्नाट सघ था। जिनसेन का जन्म स्थान, माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवन का कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नही है। गृहविरत पुरुष के लिए इन सबके उल्लेख की आवश्यकता भी नही है।

आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे—यह हरिवश पुराण के स्वाध्याय से स्पष्ट हो जाता है। हरिवश-पुराण पुराण तो है ही साथ ही इसमे जैन वाङ्मय के विविध विषयो का अच्छा निरूपण किया गया है इसलिए यह जैन-साहित्य का अनुपम ग्रन्थ है।

ग्रन्थकर्ता की गुरु-परम्परा :

हरिवंशपुराण के छयासठवें सर्ग मे भगवान् महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की वही आचार्य-परम्परा दी है जो कि श्रुतावतार आदि अन्य ग्रन्थो मे मिलती है। परन्तु उसके बाद अर्थात् वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के

१ बुहजण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढम।
वंदामि वंदियं पिहु हरिवंसं चेव विमलपयं।३८।

१ ब्र जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर से प्रकाशित त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति के द्वितीय भाग की प्रस्तावना मे उसके सम्पादक डॉ हीरालाल जी और डॉ ए. एन उपाध्ये ने त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की अन्य ग्रन्थो के साथ तुलना करते हुए हरिवश के साथ भी उसकी तुलना की है और दोनो के वर्णन मे कहाँ साम्य और कहाँ वैषम्य है इनकी अच्छी चर्चा की है। विस्तार भय से हम यहाँ उस चर्चा को न लेकर पाठको का ध्यान उस ओर अवश्य आकृष्ट करते हैं।

अनन्तर जिनसेन ने अपने गुरु कीर्तिषेण तक की जो अविच्छिन्न परम्परा दी है वह अन्यत्र उपलब्ध नही है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वह परम्परा इस प्रकार—विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, वलदेव, वलमित्र, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण और जिनसेन (हरिवंश के कर्ता) ।[२]

इनमे अमितसेन को पुन्नाटगण का अग्रणी तथा शतवर्षजीवी बतलाया है। वीर निर्वाण से लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष मे २८ आचार्य बतलाये है। लोहाचार्य का अस्तित्व वि. स २१३ तक अभिमत है और वि सं. ८४० तक जिनसेन का अस्तित्व सिद्ध है। इस तरह इस ६२७ वर्ष के अन्तराल मे ३१ आचार्यो का होना सुसगत है।

हरिवंश का रचना-स्थान :

हरिवशपुराण की रचना का प्रारम्भ वर्द्धमानपुर मे हुआ और समाप्ति दोस्तटिका के शान्तिनाथ जिनालय मे हुई। यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्र का प्रसिद्ध शहर 'वढवाण' जान पड़ता है क्योकि हरिवशपुराण मे उस समय-की जो भौगोलिक स्थिति बतलायी है उस पर विचार करने से उक्त कल्पना को बल प्राप्त होता है।

हरिवश पुराण के ६६वें सर्ग के ५२ और ५३वे श्लोक मे कहा है १ कि शकसंवत् ७०५ मे जब कि उत्तर दिशा की इन्द्रायुध, दक्षिण दिशा की कृष्ण का पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व की अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिम की—सौरो के अधिमण्डल सौराष्ट्र की वीर जयवराह रक्षा करता था तब अनेक कल्याणो से अथवा सुवर्ण से बढ़ने वाली विपुल लक्ष्मी से सम्पन्न वर्धमानपुर के पार्श्वजिनालय मे जो कि नन्नराज वसति के नाम से प्रसिद्ध था यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया और पीछे चलकर दोस्तटिका की प्रजा के द्वारा उत्पादित प्रकृष्ट पूजा से युक्त वहाँ के शान्ति जिनेन्द्र के शान्तिपूर्ण गृह मे रचा गया।

वढवाण से गिरिनगर को जाते हुए मार्ग मे 'दोत्तडि' नामक स्थान है वही 'दोस्तटिका' है। प्राचीन गुर्जर-काव्य सग्रह (गायकवाड सीरिज) मे अमुलुकृत चर्चरिका प्रकाशित हुई है उसमे एक यात्री की गिरिनार-यात्रा का वर्णन है। वह यात्री सर्वप्रथम वढवाण पहुँचता है, फिर क्रम से रनदुलई, सहजिगपुर, गंगिलपुर और लखमीधरु को पहुँचता है। फिर विषम दोत्तडि पहुँचकर बहुत-सी नदियो और पहाडो को पार

२ हरिवंशपुराण, सर्ग ६६, श्लो, २२-३३।

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजे परां
शौर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति।५२।
कल्याणै परिवर्धमान-विपुल-श्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालय-नन्नराजवसतौ पर्याप्तशेष. पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजा प्रजनितप्राज्यार्चना वर्जने
शान्ते शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम्।५३।

करता हुआ करिवदियाल पहुँचता है। करिवंदियाल और अनन्तपुर मे डेरा डालता हुआ मालण मे विश्राम करता है। वहाँ से उसे ऊँचा गिरिनार पर्वत दिखने लगता है। यह विपम दोत्तडि ही दोस्तटिका है।

वर्धमानपुर (वढवाण) को जिस प्रकार जिनसेनाचार्य ने अनेक कल्याणो के कारण विपुलश्री से सम्पन्न लिखा है उसी प्रकार हरिषेणकथाकोश के कर्ता हरिषेण ने भी उसे 'कार्त्तस्वरापूर्णजनाधिवास' लिखा है। कार्त्तस्वर और कल्याण दोनो ही स्वर्ण के वाचक है इससे सिद्ध होता है कि वह नगर अत्यधिक समृद्ध था और उसकी समृद्धि जिनसेन से लेकर हरिषेण तक १४८ वर्ष के लम्वे अन्तराल मे भी अक्षुण्ण वनी रही। हरिषेण ने अपने कथाकोश की रचना भी इसी वर्द्धमानपुर (वढवाण) मे शक सवत् ८५३ (वि. स. ९८९) मे पूर्ण की थी।

यद्यपि जिनसेन पुन्नाट सघ के थे और पुन्नाट नाम कर्नाटक का है तथापि विहारप्रिय होने से उनका सौराष्ट्र की ओर आगमन युक्ति-सिद्ध है। सिद्ध क्षेत्र गिरिनार पर्वत की वन्दना के अभिप्राय से पुन्नाट सघ के मुनियो ने इस ओर विहार किया हो, यह आश्चर्य की वात नही। जिनसेन ने अपनी गुरुपरम्परा मे अमितसेन को पुन्नाट गण के अग्रणी और शतवर्षजीवी लिखा है। इससे जान पडता है कि यह सघ अमितसेन के नेतृत्व मे ही पुन्नाट—कर्नाटक देश को छोडकर उत्तर भारत की ओर आया होगा और पुण्यभूमि श्री गिरिनार क्षेत्र की वन्दना के निमित्त सौराष्ट्र (काठियावाड) मे गया होगा।

हरिवंशपुराण की कथावस्तु :

हरिवशपुराण मे जिनसेनाचार्य प्रधानतया वाइसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान् का चरित्र लिखना चाहते थे परन्तु प्रसगोपात्त अन्य कथानक भी इसमे लिखे गये है। यह वात हरिवश के प्रत्येक सर्ग के उस पुष्पिका वाक्य से सिद्ध होती है जिसमे उन्होने 'इति अरिष्टनेमिपुराणसग्रहे' इसका उल्लेख किया है। भगवान् नेमिनाथ का जीवन आदर्श त्याग का जीवन है। वे हरिवश-गगन के प्रकाशमान सूर्य थे। भगवान् नेमिनाथ के साथ नारायण और वलभद्र पद के धारक श्रीकृष्ण तथा राम के भी कौतुकावह चरित्र इसमे लिखे गये हैं। पाण्डवो तथा कौरवो का लोकप्रिय चरित्र इसमे वडी सुन्दरता के साथ अकित किया है। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र भी इसमे अपना पृथक् स्थान रखता है।

हरिवंशपुराण की साहित्यिक सुषमा :

हरिवशपुराण न केवल कथा ग्रन्थ है किन्तु महाकाव्य के गुणो से युक्त उच्चकोटि का महाकाव्य भी है। इसके सैंतीसवें सर्ग से नेमिनाथ भगवान् का चरित्र प्रारम्भ होता है वही से साहित्यिक सुषमा इसकी वढती जाती है। इसका पचपनवाँ सर्ग यमकादि अलकारो से अलकृत है। अनेक सर्ग सुन्दर सुन्दर छन्दो से विभूषित है। ऋतुवर्णने चन्द्रोदय आदि भी अपने ढग के निराले है। नेमिनाथ भगवान् के वैराग्य तथा वलदेव के विलाप आदि के वर्णन करने के लिए जिनसेन ने जो छन्द चुने है वे रस परिपाक के अत्यन्त अनुरूप है। श्रीकृष्ण की मृत्यु के वाद वलदेव का करुण विलाप और स्नेह का चित्रण, लक्ष्मण की मृत्यु के वाद रविषेण के द्वारा पद्म पुराण मे वर्णित राम-विलाप के अनुरूप हैं। वह इतना करुण चित्रण हुआ है कि पाठक अश्रुधारा को नही रोक सकता। नेमिनाथ के वैराग्य वर्णन को पढकर प्रत्येक मनुष्य का हृदय ससार की माया-ममता से विमुख हो जाता

है। राजीमती के परित्याग पर पाठक के नेत्रो से सहानुभूति की अश्रुधारा जहाँ प्रवाहित होती है वहाँ उनके आदर्श सतीत्व पर जन-जन के मानस मे उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है।

मृत्यु के समय कृष्ण के मुख से जो अन्तिम उद्गार प्रकट हुए है उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊँची उठ जाती है। तीर्थंकर प्रकृति का जिसे बन्ध हुआ है उसके परिणामो मे जो समता होनी चाहिए वह अन्त तक स्थित रही है। यहाँ हम कुछ अवतरण देकर ग्रन्थ की सुषमा को प्रकट करना चाहते थे परन्तु लेख का कलेवर बढ जाने के भय से वैसा नही कर रहा हूँ। मेरा अनुरोध है कि पाठक ग्रन्थ का स्वाध्याय कर रसानुभूति करें।

हरिवंशपुराण और लोकवर्णन :

हरिवंशपुराण का लोकवर्णन प्रसिद्ध है जो त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति से अनुप्राणित है। किसी पुराण मे इतने विस्तार के साथ इस विषय की चर्चा आना खास बात है। पुराण आदि कथा ग्रन्थो मे लोक आदि का वर्णन संक्षेप रूप मे ही किया जाता है परन्तु इसका वर्णन अत्यन्त विस्तार और विशदता को लिये हुए है। कितने ही स्थलो पर करण सूत्रो का भी अच्छा उल्लेख किया गया है। यदि लोक विभाग के प्रकरण को हिन्दी अनुवाद के साथ अलग से प्रकाशित कर दिया जाये तो अल्प मूल्य मे पाठक इससे अवगत हो सकते है।

हरिवंशपुराण और धर्म शास्त्र :

भगवान् नेमिनाथ की दिव्यध्वनि के प्रकरण को लेकर ग्रन्थकर्ता ने बडे विस्तार के साथ तत्त्वो का निरूपण किया है। इस निरूपण का आधार उमास्वामी महाराज का तत्त्वार्थ-सूत्र और पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि टीका है। वर्णन को देखकर ऐसा लगने लगता है कि मानो तत्त्वार्थ-सूत्र और सर्वार्थसिद्धि ही श्लोकरूप मे परिवर्तित हो सामने आये है। कथा के साथ-साथ बीच-बीच मे तत्त्वो का निरूपण पढकर पाठक का मन प्रफुल्लित बना रहता है।

एक विचारणीय विषय :

दिगम्बर परम्परा मे नारद को नरकगामी माना गया है परन्तु हरिवशपुराण के कर्ता ने उसे चरम शरीरी बताया है—

प्रस्तावेऽत्र गणिज्येष्ठ श्रेणिकोऽपृच्छदित्यसौ।
क एष नारदो नाथ कुतो वास्य समुद्भव. ।।१२।। सर्ग ४२
गण्युवाच वचो गण्यः श्रृणु श्रेणिक भण्यते।
उत्पत्तिरन्त्यदेहस्य नारदस्य स्थितिस्तथा ।।१३।। सर्ग ४२
अन्त्यदेह प्रकृत्यैव नि.कषायोऽप्यसौ क्षितौ।
रणप्रेक्षाप्रिय प्रायो जातो जल्पाकभास्कर ।।२२।। सर्ग ४२

नारदोऽपि नरश्रेष्ठः प्रव्रज्य तपसो बलात् ।
कृत्वा भवक्षयं मोक्षमक्षयं समपेयिवान् ।। २४ ।। सर्ग ६३

उक्त श्लोको मे १३ और १२ वे श्लोक मे नारद को अन्त्यदेह लिखा है जिस पर कितनी ही प्रतियो मे 'चरमशरीरस्य' यह टिप्पण भी दिया हुआ है और ६५ वें श्लोक मे तो स्पष्ट ही अक्षय मोक्ष को प्राप्त करने की बात लिखी है ।

यह नारद की मुक्ति का प्रकरण विचारणीय है । इसी प्रकार ६५ वें सर्ग के अन्त मे कथा है कि वलदेव जव ब्रह्मलोक मे देव हो चुके तव वे अवधिज्ञान से कृष्ण के जीव का पता जानकर उसे सम्वोधन के लिए बालुकाप्रभापृथिवी मे गये । वलदेव का जीव देव, कृष्ण को अपना परिचय देने के वाद उसे वहाँ से अपने साथ ले जाने का प्रयत्न करता है परन्तु वह सव विफल होता है । अन्त मे कृष्ण का जीव वलदेव से कहता है कि, 'भाई जाओ अपने स्वर्ग का फल भोगो, आयु का अन्त होने पर मैं भी मनुष्य पर्याय को प्राप्त हो जाऊँगा । वह मनुष्य पर्याय जो कि मोक्ष का कारण होगी । उस समय हम दोनो तप कर जिन शासन की सेवा से कर्म-क्षय के द्वारा मोक्ष प्राप्त करेंगे । परन्तु तुम इतना करना भारतवर्ष मे हम दोनो पुत्र आदि से सयुक्त तथा महाविभव के सहित दिखाये जावे । लोग हमें देखकर आश्चर्य से चकित हो जावें । तथा घर घर मे शंख, चक्र, और गदा हाथ मे लिये हुए मेरी प्रतिमा वनायी जाये और मेरी कीर्ति की वृद्धि के लिए हमारे मन्दिरो से भरतक्षेत्र को व्याप्त किया जाये ।' बलदेव के जीव ने कृष्ण के वचन स्वीकार कर उससे कहा कि सम्यग्दर्शन मे श्रद्धा रखो । तथा भरत क्षेत्र मे आकर कृष्ण के कहे अनुसार विक्रिया से उनका प्रभाव दिखाया और तदनुसार उनकी प्रतिमा और मन्दिर बनवाकर भरत क्षेत्र को व्याप्त किया ।

इस प्रकरण मे विचारणीय वात यह है जिसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध है वह सम्यग्दृष्टि तो रहेगा ही । यह ठीक है कि बालुकाप्रभा मे उत्पन्न होते समय उनका सम्यक्त्व छूट गया होगा परन्तु अपर्याप्तक अवस्था के वाद फिर से उन्हे सम्यग्दर्शन हो गया होगा यह निश्चित है । सम्यगदृष्टि जीव ने लोक मे अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए मिथ्यामूर्ति के निर्माण की प्रेरणा दी और सम्यग्दृष्टि वलराम के जीव देव ने वैसा किया भी । इस प्रकरण की सगति कुछ समझ मे नही आती है ।

▣

गद्यचिन्तामणि : एक परिशीलन

प्रास्ताविक

गद्यचिन्तामणि मे लोककथाश और अलंकृत काव्यशैली का समन्वय पाया जाता है। यह व्यञ्जनाप्रधान अलकृत काव्यशैली के परिवेष मे रचित गद्यकाव्य हैं। इसमे कवि के अप्रतिम–कल्पनावैभव, वर्णनपटुता एवं मानव-मनोवृत्तियो के मार्मिक चित्रण उपलब्ध है। सरसता और प्रवाह-माधुर्य की दृष्टि से भी यह कृति सफल है। कलावादी कवियो के काव्यो के समान ही शब्द-क्रीडा-कुतूहल, भावभगिमाओ के रमणीय चित्रण, सानुप्रासिक समासान्त पदावली एव विरोधाभास और परिसंख्या के चमत्कार भी पाये जाते है। डॉ० ए० बी० कीथ ने लिखा है—

'Another Jaın offort to rıbal the kadambarı ıs seen in the Gadyachıntamani of odayadeva, alıas vadıbhsımha, a lion to the elephents counter dısputants. He was a Dıgamber Jaın, pupıl of Puspa-sena, whom he louds ın the usual exaggerated Style and hıs work deals wıth the legend of Jivak or Jıvandhara, whıch is also the topic of the Jıvandharachampu. Hıs ımitation of Bana ıs flagrant, ıncludıng an effort to ımprove on the advıce gıves by the sage Shukanasa to the young Chandra pida'[1]

अर्थात् कादम्बरी से प्रति स्पर्द्धा करने का दूसरा प्रयत्न ओडयदेव (वादीभसिंह) के गद्यचिन्तामणि मे परिलक्षित होता है। उनका उपनाम वादीभसिंह था। ये एक दिगम्बर जैन थे और पुष्पसेन के शिष्य थे, जिनकी प्रशसा इन्होने अपनी रचना मे अत्युक्तिपूर्ण शैली मे की है। इनकी रचना का सम्बन्ध जीवक अथवा जीवन्धर के उपाख्यान से है, जो जीवन्धरचम्पू का भी प्रतिपाद्य विषय है। इन्होने बाण का अनुकरण किया है, यह बात विल्कुल स्पष्ट है। मनीषी शुकनास द्वारा युवक चन्द्रापीड को दिये गये उपदेश को अधिक सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी सम्मिलित है।

इस कथन द्वारा डॉ. कीथ मानते है कि वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि का प्रणयन कादम्बरी के अनुकरण पर किया है। पर इस कथा-कृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमे अलकृत शैली के रहने पर भी कृत्रिमता नही आने पायी है, जवकि कादम्बरी के वर्णनो मे आडम्बरपूर्ण कृत्रिमता है और गद्यचिन्तामणि मे स्वाभाविकता का समावेश पाया जाता है। दृश्यो मे समासान्त पदो का प्रयोग किये जाने पर भी लम्वे पद नही आये हैं, जिनसे पाठक का मन नही ऊबता है। वह वर्णन और दृश्यो की लम्बी कतार मे उपमानो और अप्रस्तुतो के रगीन प्रयोगो द्वारा समरसता बनाये रखने मे पूर्ण सफल रहा है।

1. History of Sanskırt Lıterature by keeth, London, 1941 Page 331

रचयिता

इस गद्यकाव्यके रचयिता महाकवि ओडयदेव[1] वादीभसिंह है। वी०शेषगिरिराव का अभिमत है कि कवि कलिंग (तेलुगड्ड के)के गंजाम जिले का निवासी था। गजाम जिला मद्रास के उत्तर मे था, पर अब इसे उडीसा मे सम्मिलित कर दिया गया है। वहाँ पर ओडय और गोडेय ये दो जातियाँ निवास करती हैं। कवि वादीभसिंह ओडेय जाति के सरदार कुमार थे, इनका ओडयदेव भी नाम मिलता है। उडीसा की प्रचलित लोककथाओ मे आज भी जीवन्धर की कथा पायी जाती है। कवि के जीवन वृत्तके सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है इन्होने अपने गुरु का नाम पुष्पसेन[2] बतलाया है। समय के सम्बन्ध मे निम्नलिखित मान्यताएँ प्रचलित हैं—

(१) ई० ७७० —८६० ई० की मान्यता।
(२) विक्रम की ११ वी शती के प्रारम्भ की मान्यता।
(३) ११ वी शती के उत्तरार्ध की मान्यता।
(४) १२ वी शती की मान्यता।

प्रथम मान्यता के पोषक श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री[3] और प्रो० दरबारीलाल[4] कोठिया है आप दोनो विद्वानो ने अनेक ग्रथो के प्रमाण देकर उक्त समय सिद्ध किया है। दूसरी मान्यता के समर्थक विद्वानो मे स्व० प० नाथूराम प्रेमी[5] और टी०एस० कुप्पुस्वामी[6] प्रमुख हैं। तीसरी मान्यता के प्रवर्तक पं० के० भुजवली शास्त्री[7] हैं, आपने शिलालेखीय प्रमाणो के आधार पर वादीभसिंह का समय ११ वी शती का उत्तरार्ध सिद्ध किया है। चौथी मान्यता सस्कृत-साहित्य के इतिहास-लेखक एम० कृष्णमाचारीयर[8] की है।

उपर्युक्त अभिमतो पर विचार करने तथा कवि की कृतियो का अवलोकन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विद्वानो ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। सभी पक्ष-विपक्षीय मान्यताएँ सप्रमाण है तथा परस्पर मे एक दूसरे के द्वारा खण्डित हैं। अत. उन पर विचार करने से कोई विशेष लाभ नही[9]। हमारी अपनी मान्यता भी प्रथम मान्यता से मिलती-जुलती हैं। अत. वादीभसिंह का समय वि० स० की नवी शती होना चाहिए।

---

१ श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृत । स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषण: ।
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृत । गद्यचिन्तामणिर्लोके चिन्तामणिरिवापर. ।।

—गद्यचिन्तामणि, प्रशस्ति, पृ० २७०, श्रीरंगम् १९१६ ई०।

२. श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्मम सदा हृदि सन्निदध्यात्।
यच्छक्तित प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुंगवतामुपैति ।। —वही १६।

३. न्यायकुमुदचन्द्र, मा० चं० ग्र० बम्बई, प्रस्तावना, पृ० १११।

४. स्याद्वादसिद्धि, मणिक० ग्रन्थ० बम्बई, सन् १९५० ई०, प्रस्तावना पृ० ११।

५ जैनसाहित्य और इतिहास, बम्बई, सन् १९५६ ई०, पृ० ३२४—३२८।

६ गद्यचिन्तामणि, श्रीरंगम्, सन् १९१६ ई०, प्रस्तावना पृ० ७—८।

७ जैनसिद्धान्तभास्कर, आरा, भाग ६ किरण २ पृ० ७८—८७ तथा भाग ७ किरण १ पृ० १—८।

८. History of Classical Sanskrit Literature, Madras, 1937 Page 477.

९ विशेष जानने के लिए भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होने वाली गद्यचिन्तामणि की प्रस्तावना देखिए।

अभी तक कवि की क्षत्रचूडामणि, स्याद्वादसिद्धि और गद्यचिन्तामणि ये रचनाएँ उपलब्ध हैं। हम इनमे से गद्यचिन्तामणि का ही परिशीलन प्रस्तुत करेंगे।

कथावस्तु

जीवन्धर स्वामी के जीवनवृत्त को ग्यारह लम्बो मे विभक्त किया है। बताया गया है कि हेमागद देश की राजधानी राजपुरी मे महाराज सत्यन्धर राज्य करते थे। ये अपनी महारानी विजया मे अत्यासक्त थे, अतः राज्य का भार मन्त्री काष्ठागार को सौप रनिवास मे विषय क्रीडा करने लगे। कृतघ्न काष्ठागार ने राज्यतृष्णा के वशीभूत होकर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। सत्यन्धर क्षात्रधर्म का पालन करते हुए रणभूमि मे काम आये। महाराज की रानी विजया गर्भिणी थी। महाराज ने पहले ही वायुयान के समान आकाश मे उडने वाला मयूर-यन्त्र नाम का विमान बनवाया था। उन्होने महारानी को उस विमान मे बैठाकर उसे आकाश मे उड़ा दिया। विमान अपनी गति से उडता हुआ एक श्मशान भूमि मे जाकर उतरा। समय पूरा हो चुका था, अत विजया को वही पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र अत्यन्त ओजस्वी और तेजस्वी था। रानी पुत्रव्यवस्था करके तपस्वियो के आश्रम मे आकर रहने लगी और पुत्र को राजानामाकित अंगूठी पहनाकर श्मशान के एक हिस्से मे रख दिया। उस नगर के सेठ गन्धोत्कट को उसी दिन पुत्र प्राप्त हुआ, पर थोडी देर के अनन्तर उसकी मृत्यु हो गयी। फलतः मृतसस्कार के लिए उसे वहाँ लाया गया। यहाँ सेठ को एक तेजस्वी बालक मिला, उसने उसे उठा लिया। पास मे छिपी विजया ने पुत्र को आशीर्वाद दिया—'जीव'। इस शब्दोच्चारण के अनुसार शिशु का नाम जीवक या जीवन्धर रखा गया।

गन्धोत्कट सेठने अपनी पत्नी से कहा—'तुमने भूल से जीवित पुत्र को मृत समझ लिया था, लो इस भाग्यशाली बालक का भरण-पोषण करो। पुत्र प्राप्त कर सेठानी सुनन्दा बहुत प्रसन्न हुई और जीवन्धर का सवर्द्धन करने लगी। कुछ दिनो उपरात सेठ की पत्नी सुनन्दा को एक पुत्र और हुआ जिसका नाम नन्द रखा गया। कुमार जीवन्धर का पाँच वर्ष की अवस्था मे विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न किया गया। उन्होने आर्यनन्दि गुरु से समस्त विद्याओ का अभ्यास किया आर्यनन्दी ने ही जीवन्धर को उसके कुल का परिचय कराया और बताया कि अब काष्ठागार से अपना राज्य प्राप्त कर लेना चाहिए, पर इस कार्य मे जल्दी करने की आवश्यकता नही। अभी एक वर्ष तक युद्ध न करना श्रेयस्कर है।

जीवन्धर ने नन्दगोप की गायो को भीलो से छुड़ाया और अपने मित्र पद्म के साथ नन्दगोप की पुत्री गोविन्दा का विवाह सम्पन्न कराया। जीवन्धर ने वीणावादन मे गन्धर्वदत्ता को पराजित कर उसके साथ विवाह सम्पन्न किया।

बसन्त ऋतु मे जलक्रीड़ा सम्पन्न करने के लिए कुमार जीवन्धर नगरवासियो के साथ गया। वहाँ वैदिको द्वारा घायल किये गये एक कुत्ते को उन्होने णमोकार-मन्त्र सुनाया, जिससे उसने यक्ष-पर्याय प्राप्त की। कुत्ते के जीव उस यक्ष ने अपने ज्ञान-बल से उपकारी को जान लिया, अतः वह जीवन्धर के समक्ष अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने आया और समय पडने पर सेवा करने का वचन देकर चला गया। इस उत्सव मे गुणमाला और सुरमञ्जरी नाम की दो सखियाँ भी सम्मिलित हुई। उन्होने स्नानीय चूर्ण तैयार किया था। परीक्षा के अनन्तर कुमार ने गुणमाला के चूर्ण को श्रेष्ठ सिद्ध किया, इससे सुरमञ्जरी रूठकर घर चली आयी और उसने कुमार के साथ

विवाह करने का अनुवन्ध किया। स्नान कर उत्सव से लौटते हुए गुणमाला को काष्ठागार के मदोन्मत्त हाथी ने घेर लिया। जीवन्धर कुमार ने हाथी से उसकी रक्षा की। गुणमाला का जीवन्धर कुमार के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।

हाथी को ताडित करने के कारण काष्ठागार कुमार से वहुत रुष्ट हुआ और उसे दरवार मे पकड कर बुलाया। उसने कुमार के वध का आदेश दिया, पर यक्ष का स्मरण करने से कुमार की प्राण-रक्षा हुई। यक्ष ने कुमार को चन्द्रोदय पर्वत पर ले जाकर उन्हें तीन मन्त्र दिये और एक वर्ष मे राजा होने की भविष्यवाणी की। वहाँ से चलकर कुमार एक वन मे आया और उसने जिनेन्द्र स्तवन द्वारा वृष्टिकर दवाग्नि को शान्त किया तथा चन्द्रप्रभा नगरी के धनमित्र की पुत्री पद्मा के साथ विवाह सम्पन्न किया।

चन्द्रप्रभा नगरी से चलकर दक्षिण देश के सहस्रकूट चैत्यालय मे आया और अपने स्तुति वल से चैत्यालय के बन्द किवाडो को खोला तथा क्षेमपुर नगरी के सेठ सुभद्र की पुत्री क्षेमश्री के साथ विवाह सम्पन्न किया। अनन्तर कुमार ने माया नगरी के राजा दृढमित्र की पुत्री कनकमाला के साथ विवाह सम्पन्न किया।

कुमार दण्डकारण्य मे अपनी माता विजया का दर्शन करता है और उसे अपने मामा के यहाँ भेज देता है। सागरदत्त की कन्या विमला के साथ विवाह सम्पन्न करता है। इसके पश्चात् कुमार जीवन्धर सुरमञ्जरी को प्रभावित करता है और उसके साथ उनका विवाह भी हो जाता है।

इसके पश्चात् कुमार जीवन्धर ने धरणीतिलक नगरी के राजा गोविन्दराज से सैन्य सहायता प्राप्तकर काष्ठागार से युद्ध किया। काष्ठागार युद्ध मे मारा गया और जीवन्धर कुमार को राज्य पद प्राप्त हुआ। कुमार ने अपने धर्म-भाई नन्द को युवराज पद दे दिया और कुमार का विवाह लक्ष्मणा के साथ सम्पन्न हो गया।

जीवन्धर अपनी आठ पत्नियो सहित वनक्रीड़ा के लिए गये। वहाँ एक वानर–वानरी के प्रेम-कलह को देखकर उनके मन मे विरक्ति उत्पन्न हुई। राजधानी मे लौटने पर उन्होंने गन्धर्वदत्ता के पुत्र सत्यन्धर को राज्य-भार प्रदान किया और स्वय दिगम्वरी दीक्षा धारण कर ली। नाना प्रकार के परीषहो को सहन किया और घोर तपश्चरण द्वारा कर्मों की निर्जरा कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

कथावस्तु का गठन

कथावस्तु मे रमणीयता के साथ व्यापकता भी है। कथा का आयाम विस्तृत होने पर भी घटनाओ और कथानको मे अन्विति पायी जाती है। कथानक के समस्त अग समान रूप से विकसित हैं। कथा का आरम्भ विलास-वैभव से होता है और समाप्ति वैराग्य से। राजकुमार का श्मशान भूमि मे जन्म ग्रहण करना, गन्धोत्कट को मृत-पुत्र के सस्कार के समय जीवन्धरकुमार का प्राप्त होना, आर्यनन्दी के सम्पर्क से वास्तविक स्थिति का परिज्ञान प्राप्त करना, नन्दगोप की गायो को भीलो से छुडाकर लाना, घोषवती-वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता को परास्त करना, श्वान को णमोकार-मन्त्र सुनाना तथा उसके प्रभाव से यक्ष-योनि को प्राप्त करना, सुरमञ्जरी कारूठ जाना, दण्डकारण्य मे महारानी विजया से मिलना, वनक्रीडा के समय वानर-वानरी के प्रेम-कलह का दर्शन करना प्रभृति कथानक मर्मस्पर्शी हैं। कथावस्तु मे रोचकता और गत्यात्मकता पायी जाती है। इस कथाकाव्य मे घटी हुई घटनाएँ एक-दूसरी का सहज परिणाम हैं। इतना सत्य है कि वर्णन चमत्कारो को योजना

के कथानक गठन मे शिथिलता उत्पन्न की है । अलङ्कृतियों की बहुलता के कारण कार्यव्यापार कथानक की धुरी नही बन पाये है । काष्ठांगार का राजविद्रोह नाटकीय है । बहुत समय तक उसके अन्तस् मे द्वन्द्व चलता है, पश्चात् तर्क का आधार ग्रहण कर वह अपने आप असत्कार्य को सम्पादित करता है ।

इस कथावस्तु मे मृत-पुत्र के स्थान पर कुमार जीवन्धर की प्राप्ति सबसे बड़ी नाटकीयता है । यह एक प्रकार से विधि का विचित्र व्यंग्य है कि गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा अपने मृत-पुत्र को जीवित समझ लेती है और कुमार जीवन्धर का लालन-पालन करती है । इस धर्मकथा मे भी कवि ने निम्नाङ्कित लोककथातत्त्वो का समावेश किया है—

१. **प्रेम का अभिन्नपुट**—इस कृति मे गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, सतान-माता, मित्र, आदि के प्रेम का सजीव चित्रण किया गया है। कवि ने लिखा है—'एकदा तु तमेकान्ते प्रान्ते निवसन्तमन्तेवासिनमालोक्याचार्य. प्रज्ञाप्रश्रयबलेन हेलया सजाता विद्यापरिणतिं विमृशन् करतलसस्पर्शेन सादरं सम्भाव्य निरवसानव्यसनप्रसूनदायि-ससृतिलताच्छेदकुठार निरतिशयपरमानन्दपदप्राप्तिसाधनं सम्यक्त्वधनं समर्पयितुमस्मै···। 'वत्स, वदमानविद्याधर मुकुटताडितपादपीठकण्ठोक्तमहिमा' ।[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि आर्यनन्दी का कुमार जीवन्धर के प्रति अपार वात्सल्य है । वे उस के राज्य प्राप्त कराने के लिए प्रयत्नशील है । उनका कुमार के प्रति पुत्रवत् प्रेम है ।

२ **स्वस्थशृंगारिकता**—इस कथा-कृति मे शृंगार का रूप परम्पराओ की पृष्ठभूमि मे चित्रित हुआ है । सत्यन्धर की विलासी प्रकृति के अतिरिक्त अन्यत्र—'विषयेषु समस्तेषु कामं सफलयन्सदा'[2] नियन्त्रित रूप मे शृगार सेवन का निर्देश किया है । सर्वत्र कवि ने राग या अत्यधिक कामासक्ति की निन्दा की है । उसका अभिमत है—'स्ववैभव स्वशौर्यं स्ववीर्यं स्वपौरुषं स्ववेदनमप्येकपद एव व्युदस्य दास्यप्यभ्युपगच्छति । रागान्धो ह्यखिलेन्द्रियेणाप्यदर्शनादन्धादपि महानन्ध.[3] ।' स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि मे इन्द्रियदासता नेत्रहीनता है । जो व्यक्ति कामनाओ और इच्छाओ के नियन्त्रणपूर्वक विषय-सुखो का सेवन करता है, वही जीवन मे यथार्थ सुख पाता है । लौकिक दृष्टि से उसी का जीवन सफल माना जाता है ।

३. मूलप्रवृत्तियो का निरन्तर साहचर्य

मनुष्य का प्रत्येक कार्य मूलप्रवृत्तियो के द्वारा संचालित होता है । मूल-वृत्तियाँ वे कहलाती है, जिनका जीवन के साथ अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्ध है । सुख-दुख, आशा-निराशा, काम, क्रोध, मद, लोभ. माया, लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा आदि ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन किसी-न-किसी प्रकार सदैव सचालित होता रहता है । गद्यचिन्तामणि मे आरम्भ से ही पुत्रैषणा वित्तैषणा का द्वन्द्व होने लगता है । पलायन (Escape) की वृत्ति परिवार पर सकट उत्पन्न होते ही उपस्थित होती है । सत्यन्धर महारानी विजया को मयूर-यन्त्र मे

---

१. गद्यचिन्तामणि लम्ब २, पृ०५५,५६ ।

२. वही, लम्ब ४, पृ० १२३ ।

३. वही, लम्ब ७, पृ० १६७ ।

बैठाकर वशरक्षा के हेतु वहाँ से उडा देते है और विजया श्मशान भूमि मे जीवन्धर को जन्म देती है तथा बुद्धिमानी पूर्वक कुमार के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर देती हैं। युयुत्सा (combat) का आरम्भ काष्ठाँगार से होता है और समाप्ति जीवन्धर मे। कथा का तनाव भावना-ग्रन्थियो (Emotional complexes) के बीच बढता है। आर्यनन्दी से अपना परिचय प्राप्त करते ही जीवन्धर के मन मे काष्ठाँगार से युद्ध करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। वे शक्ति अर्जन के हेतु परिभ्रमण करते है और अन्त मे अपने मामा से सहायता प्राप्त कर काष्ठाँगार को यम-अतिथि बनाते है। मूलवृत्तियो मे सग्रहवृत्ति (Instinct ot collection) भी प्रधान है। कुमार जीवन्धर ने आठ युवतियो से विवाह किया, उनके इस कार्य मे एक साथ विधायकवृत्ति (Constructiveness) आत्मगौरव (Self-assertion), कामप्रवृत्ति (Sex instinct) एव सन्तान-कामना (Parental instinct) मिश्रित रूप मे पायी जाती हैं। सहानुभूति (Sympathy) की प्रवृत्ति आर्यनन्दी, नन्दगोप, जीवन्धर एव गोविन्दराज प्रभृति मे वर्तमान है। कथासूत्र के सचाचन मे उस प्रवृत्ति का योगदान भी कम नही है। काष्ठागार के दुष्ट हाथी से गुणमाला की रक्षा करने मे सहानुभूति के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्ति कार्य नही कर रही है। इसी प्रकार श्वान को णमोकार-मन्त्र सुनाने मे भी सहानुभूति के कारण ही जीवन्धर प्रवृत्त हुए है। सुरमञ्जरी के साथ जीवन्धर की विवाह-प्रवृत्ति मे कई मूलवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। इस प्रकार कवि वादीभसिंह ने मूलवृत्तियो का पात्रो के जीवन मे न्यास किया है और उनके शील को सीधी रेखा मे अकित न कर आरोहावरोह क्रम मे उपस्थित कर कथाकृति की दृष्टि से सफलता प्राप्त की है। तथ्य यह है कि प्रौढ और अलकृत गद्य रहने पर भी शील-गठन सम्बन्धी वृत्तियो और तत्त्वो का विश्लेषण एव मानव-मानवेतरप्रकृतियो का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया हैं।

४. धर्म-श्रद्धा

वादीभसिंह ने अपने पात्रो के आचार-व्यवहार द्वारा धार्मिक-श्रद्धा का विकास दिखलाया है। धर्मश्रद्धा ही सात्विक बुद्धि का निर्माण करती है। जीवन्धर के हृदय मे अपार धर्मश्रद्धा है। वे सहस्रकूट चैत्यालय के सम्मुख बैठ श्रद्धा-भक्ति पूर्वक भगवान् की स्तुति करते है—

> **तरन्ति संसारमहाम्बुराशिं यत्पादनावं प्रतिपद्य भव्याः ।**
> **अखण्डमानन्दमखण्डितश्रीः श्रीवर्धमानः कुरुताज्जिनो नः ॥**
> **यदीयपादामृतसेवनेन हरन्ति संसारगरं मुनीन्द्राः ।**
> **स एष सन्तोषतनुर्जिनो नः संसारतापं शकलीकरोतु ॥**

—गद्यचि० पृ० १५२-१५३

भक्ति करते समय जीवधर के हृदय मे कितना आनन्द और विश्वास है, यह निम्न पक्तियो से स्पष्ट है।

'विहिताञ्जलिरधिकभक्तिर्भक्तिभरनिगलविगलित इव कथञ्चिद्गलाद्गलति सकलवाङ्मयातिवर्तिकीर्तेर्भगवत सस्तवे, सस्तवनौत्सुक्याङ्कुरानुकारिरोमाञ्च मुञ्चति शरीरे, शारदारविन्द इव मकरन्दविन्दुभिरानन्दाश्रुजालै प्लाविते लोचनयुगले, अचलितमूर्तिरतुलतूर्ति कर्त्तव्यमपश्यन्नवश्येन्द्रियस्त्रिकरणशुद्धिस्त्रि परीत्य श्रीपीठाग्रस्थितिरारचय्य.... .।
—गद्य० पृ० १५२

उपर्युक्त उद्धरण से धार्मिक श्रद्धा प्रवाहित होती हुई परिलक्षित हो रही है। जीवन की गहन अटवी को श्रद्धा और आस्था द्वारा ही पार किया जाता है।

५. कुतूहल और मनोरञ्जन

अलंकृत कथा रहने पर भी गद्यचिन्तामणि मे कुतूहलवृत्ति पायी जाती है। इसके कारण लोकप्रचलित विश्वासो, रीति-रिवाजो, प्रथाओ और परम्पराओ का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। काष्ठागार के राजविद्रोह मे भी कुतूहल है और जीवन्धर द्वारा राज्य प्राप्त किये जाने मे भी। सबसे अधिक कौतूहल तो उस समय जाग्रत होता है, जब हम विलास-क्रीडा प्रवृत्त जीवन्धर को दीक्षित होते देखते है। एक क्षण पहले जो विषय-रस के समुद्र मे डुबकी लगा रहा है दूसरे क्षण उसे ही हम दिगम्बर साधु के रूप मे प्राप्त करते है। प्रत्येक विचारशील पाठक इस परिवर्तन के हेतु का अन्वेषण करता है और अपनी जिज्ञासा को वानर-वानरी के प्रेम-कलह के साथ सम्बद्ध कर लेता है; परन्तु वास्तव मे मनोविज्ञान और जैनविज्ञान इस समाधान को स्वीकार करने को तैयार नही, उनके समाधान के लिए चारित्रिक विश्लेपण अपेक्षित है जीवन्धर के परिभ्रमण, उनके द्वारा कन्याओ को अपने रूप-यौवन के साथ आन्तरिक गुणो से प्रभावित करना, बौद्धिक और शारीरिक परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होना, प्राकृतिक और अप्राकृतिक कार्यो का सम्पादन करना, सुरमञ्जरी को कुमार द्वारा कामदेव के मन्दिर मे ले जाना और वहाँ उसके द्वारा जीवन्धरवरप्राप्ति की याचना किये जाने पर उनका प्रकट होना आदि कथाश कुतूहल-खनि है।

मनोरञ्जन भी इस कथा में आद्यन्त व्याप्त है। गन्धर्वदत्ता को घोषवती वीणा बजाकर अधीन करना सगीत शास्त्र का ही इतिवृत्त उपस्थित नही करता, बल्कि घोषवती वीणा का भी इतिहास सामने आ जाता है। यह घोषवती अपने इसी रूप मे वसुदेव हिण्डी, कथासरित्सागर, भास कवि के नाटको मे भी पायी जाती है। उदयन भी इसी वीणा से वासवदत्ता को अपने अधीन करता है। मनोरञ्जन के साधन कामतत्त्व, क्रीडातत्त्व की-व्यञ्जनात्मक व्याख्या भी की गई है। इस कृति मे कला-सौन्दर्य एवं सरस उपदेश नीतिवाक्यो द्वारा समन्वित हो रुचिर पद-योजना प्रस्तुत करते हैं। वर्णनो के अलंकृत होने के साथ रसवती कथा का आयोजन किया गया है। 'जीवक' या जीवन्धर की कथा लोकसाहित्य मे पायी जाती है और वही से यह अभिजात्य साहित्य मे आयी है। हाँ अभिजात्य साहित्य की कथा मे कई घटनाएँ नयी शैली से जोडी गयी हैं मनोरञ्जन तत्त्व तो कथा का प्राण होता है, इसके बिना कोई भी कथाकृति सफल नही मानी जाती है। कल्पना और पौराणिकता मिलकर मनोरञ्जन का सृजन करती है।

गद्यकाव्य के आलोक में गद्यचिन्तामणि

गद्यकाव्य की अनेक विशेषताओ मे से सबसे प्रमुख विशेषता सामान्य लोककथा को काव्य की आभा से उद्दीप्त करना है। इसके लिए अपार-शब्दभण्डार, अलकार और कल्पनाओ की अपूर्व-सूझ, वर्णन की तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति, सगीतात्मक भाषा एवं भावपक्ष की तरलता अपेक्षित होती है। जो गद्यकाव्यरचयिता उक्त गुणो से समवेत रहता है, उसी का गद्यकाव्य काव्य-श्रेणी मे परिगणित किया जाता है। वादीभसिंह के पास केवल शाब्दी-क्रीड़ा ही नही है, बल्कि जीवन को ज्यो का त्यो चित्रित करने की शक्ति भी है। हाँ, यह सत्य है कि बाण जैसी शाब्दी-कलाबाजी इनके पास नही है, फिर भी उत्कृष्ट कवित्व का परिचय प्राप्त होता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर गद्यकाव्य की विशेषताओ पर प्रकाश डाला जायेगा।

महारानी विजया अपने पुत्र जीवन्धर को संवर्द्धन के हेतु अन्य को सौप दण्डकारण्य मे चली जाती है। कवि ने सद्यप्रसूत पुत्र से बिछुड़ी माँ के करुण हृदय का चित्रण अत्यन्त सजीवरूप मे प्रस्तुत किया है। प्रत्येक शब्द करुणा और हृदय की मार्मिक-व्यथा का प्रतीक है। ऐसा अनुभव होता है कि कवि ने उपमान औचित्य पर तो ध्यान दिया ही है, साथ ही वैदर्भी शैली का प्रयोग कर वर्णन को मूर्त्तिक रूप प्रदान किया है। यथा—

'सा च तत्र सन्तापकृशानुकृशतरा कृशोदरी करेणुरिव कलभेन धेनुरिव दम्येन श्रद्धेव धर्मेण श्रीरिव प्रश्रयेण प्रज्ञेव विवेकेन तनुजेन विप्रयुक्ता विगतशोभा सती विमुक्तभूषणा तापसवेषधारिणी करुणाभिरिव मूर्तिमतीभिर्मुनिपत्नीभिरुपलाल्यमाना मनसि जिनचरणसरोजमात्मजवृद्धिं च ध्यायन्ती समुचितव्रतशीलपरित्राणपरायणा पाणितलविलूनाभिर्मरकतहरिताभिर्दूर्वामुष्टिभिर्मोदयन्ती नन्दनाभिवर्धनमनोरथविनोदाय मुनिहोमधेनुवत्सानवात्सीत्।

– गद्य० पृ० ४७

उपर्युक्त उद्धरण मे माता के हृदय और शरीर की रम्याकृति प्रस्तुत की गई है। छोटे-छोटे पदो मे कवि ने महद्भाव की योजना की है। इस सन्दर्भ के सभी विशेषण और उपमान सटीक है। महारानी को 'तापसवेषधारिणी करुणा' कह कर कवि ने व्यग्य द्वारा मातृ-वात्सल्य, कृतघ्नियो द्वारा समाज को दिये जाने वाले कष्ट, विधिका विचित्र कार्यव्यापार एव पराधीनता-वेवशी आदि कई भावो को एक साथ अभिव्यक्त किया है। भावपक्ष की दृष्टि से उक्त गद्यखण्ड का अत्यधिक मूल्य है। सुबन्धु के समान ही उक्तिवैचित्र्य के साथ प्रत्येक पद मे अर्थगर्भत्व भी पाया जाता है।

कुमार जीवन्धर अपने राज्य को प्राप्त करने के लिए काष्ठागार पर आक्रमण करते है। इस अवसर पर काष्ठागार का रौद्ररूप दर्शनीय है। सन्दर्भ के अध्ययन से ऐसा मालूम पडता है कि रौद्ररस स्वय मूर्तिमान रूप धारण कर प्रस्तुत हो गया है। सुचिन्तित कार्य मे विघ्न-बाधा आने पर मनुष्य का रौद्ररूप धारण करना स्वाभाविक है। कवि की पदावली और विराट् कल्पना एक साथ मिलकर नये जगत् का निर्माण करने मे सलग्न है। यथा—

आह्वानक्षण एव क्षीणतरादृष्ट स रुष्ट काष्ठाङ्गार क्रोधवेगस्फुरदोष्ठपुटतया निकटवर्तिनो निजाह्वानकृते कृतागमान् कृतान्तदूतानिव स्वान्तसन्तोषिभि. सान्त्वयन्वचोभि नातिचिरभाविनरकावरुथभवदवतमसप्रचयमिवात्मान प्रतिग्रहीतुकाममागत कराल कालमेघाभिधान करिणमारुह्य रोषाशुशुक्षणिविजृम्भमाणशोणेक्षणतीक्ष्णार्चिश्छठाच्छन्नाङ्गतया सप्तार्चिषि निमज्य निजस्वामिद्रोहाभावं विभावयितु सत्यापयन्निव सत्यन्धरमहाराजतनयाभिमुखमभीयाय।

—गद्य पृ० २१८

उक्त गद्यखण्ड के आधार पर काष्ठाङ्गार की क्रोधमूर्ति का चित्राङ्कन भी किया जा सकता है।

कवि जिस समय किसी उत्सव या विलास—दृश्य का चित्रण करता है, उस समय उसकी शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट एव प्रगाढ हो जाती है। दीर्घकाय समास, विशिष्ट एव श्लिष्ठ पदावली तथा चित्रमयता दृष्टिगोचर होती है। शब्दो का प्रयोग भी विषयो के अनुकूल कठोर या मृदुल रूप मे पाया जाता है। यहाँ उदाहरणार्थ जीवन्धर के जन्मोत्सव को उपस्थित किया जाता है। यथा—

यस्मिश्च जातवति जातपिष्टातकमुष्टिवर्षपिञ्जरितहरिन्मुखमुन्मुखकुब्जवामनहठाकृष्यमाणनरेन्द्राभरण प्रणयभरप्रवृत्तवारयुवतिवर्गवल्गनरणितमणिभूषणनिनदभरितहरिदवकाश निर्मर्यादमदपरवशपण्ययोषिदाश्लेपलज्जमान-

राजवल्लभं वर्धमानमानसपरितोपपरस्परपरिरब्धपार्थिवभुजान्तरसंघट्टविघटितहारपतितमौक्तिकस्थपुटितास्थानमणि-कुट्टिमतट कुड्मलितसाविदल्लनिरोधसलापनिरङ्कुशप्रविष्टाशेपजानपदजनितसंबाध सादरदीयमानकनकमणिमौक्ति-कोत्पीढमुद्धाटितकवाटरत्नकोशप्रविशदचकितलोकलुप्यमानवस्तुसार्थमर्थिगणगवेषणादेशनिर्गतानेकशतप्रतीहारानीतवनी-पकलोकमुल्लोकहर्षविहितमहार्हजिनमहामहमहमहमिकाप्रविष्ट विशिष्टजनप्रस्तूयमानस्वस्तिवाद सौवस्तिकविधीयमान-मङ्गलाचारमाचारचतुरपुराणपुरन्ध्रीपरिषदभ्यर्च्यमानगृहदैवतं'''वर्विष्यसे वा । गद्य० पृ० ४२-४३

उपर्युक्त गद्यखण्ड मे दृश्यों का स्वाभाविक विनियोग और सामाजिकगतप्रभाव पूर्णरूपेण समाहित है। गद्य में भावावेश भी निहित है। समस्यन्त पदावली के रहने पर भी शैली की सरलता स्वत: सौन्दर्य का सचार कर रही है। वादीभसिंह ने वर्णनो को कलात्मकता देने का पूरा प्रयास किया है और इस प्रयास मे उन्हें सफलता भी मिली है। कथानको के सन्दर्भ मे नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, यात्राएँ, जिनालय, स्वयवर प्रभृति का अलकृत वर्णन किया गया है। कवि ने प्रतीको द्वारा भी भावाभिव्यञ्जना मे सहायता ग्रहण की है। बताया है —

'पुत्रि रात्रावतीतायाँ दयिता हंसीमपहाय राजहंसः क्वचिद्गत्वा सगतश्च पुनर्दृष्ट' । ततः सगस्यसे स्वमपि जामात्रा। धात्रीतलदुर्लभस्तव वल्लभः सुते, स्वाभिप्रायं प्रायेण केनापि व्याजेन ।

गद्य० पृ० १६३

यहाँ हस पति का प्रतीक है और हसिनी वल्लभा का। रात्रि के अवसर पर स्वप्न मे देखे हँस-हँसी के सयोग, वियोग और पुनर्मिलन से पति-पत्नी के सयोग, वियोग और पुनर्मिलन की अभिव्यजना की गयी है। यदि प्रतीको के अर्थगर्भत्व मे प्रवेश किया जाय तो ये ही प्रतीक जीवन्धर के वैराग्य और मुक्ति-प्राप्ति के व्यञ्जक भी हैं। स्पष्ट है कि कवि वादीभसिंह ने इस काव्य मे अलकृत गद्यकाव्य के समस्त गुणो का नियोजन किया है। निस्सन्देह गद्यचिन्तामणि अलकृत गद्यकाव्य है और पूरा का पूरा प्रौढ गद्य मे लिखा गया है। दो तीन स्थलो पर कुछ पद्य भी दिये गये है जो स्तुति आदि के रूप मे आवश्यक प्रतीत होते है। गद्यचिन्तामणि के विशिष्ट गुणो की चर्चा करते हुए इसके प्रथम पुरस्कारकर्ता श्री कुप्पुस्वामी ने बड़ी सुन्दर पक्तियाँ लिखी है—

'अस्य काव्यपथे पदाना लालित्य श्राव्यः शब्दसनिवेश. निरगला वाग्वैखरी सुगम. कथासारावगमश्चित्त-विस्मापिकाः कल्पनाश्चेत प्रसादजनको धर्मोपदेशो धर्माविरुद्धा नीतियो दुष्कर्मणो विषयफलावाप्तिरिति विलसन्ति विशिष्टगुणा'[1] ।

अर्थात् इनके काव्यपथ मे पदो की सुन्दरता, श्रवणीय शब्दो की रचना, अप्रतिहत वाणी, सरल कथासार, चित्त को आश्चर्य मे डालने वाली कल्पनाएँ, हृदय मे प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला धर्मोपदेश, धर्म से अविरुद्ध नीतियाँ और दुष्कर्म के फल की प्राप्ति आदि विशिष्ट गुण सुशोभित है ।

श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसख्या, विरोधाभास तथा उल्लेख आदि अलंकारो की पुट ने गद्य की शोभा मे चार चाँद लगा दिये है। बाण ने श्री हर्षचरित मे आदर्श गद्य के जिन गुणो का वर्णन किया है[2] वे नवीन अर्थ, अग्राम्य जाति, स्पष्ट श्लेष, स्फुट रस, और अक्षर की विकट बन्धता गद्यचिन्तामणि मे सबके सब अवतीर्ण हैं।

१. गद्यचिन्तामणि प्रस्तावना ।
२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः ।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ।। —हर्षचरित्र ।

अटवी मे झाड-झखाडों का कोई व्यवस्थित क्रम नहीं रहता, परन्तु मनुष्यकृत उद्यान मे पुष्पित-पल्लवित लताओ, हरे-भरे वृक्षो और आवश्यकतानुसार निर्मित पादपकेदारिकाओ का एक व्यवस्थित सुन्दर क्रम रहता है जिससे उसकी शोभा निखर उठती है। गद्य और पद्य काव्य मे भी कवि अपनी वर्णनीय वस्तुओ को इस सुन्दर क्रम से सजा-सजाकर रखता है कि वे एकदम सहृदय मनुष्यो के हृदय को आह्लादित करने वाली हो जाती हैं। हम प्रतिदिन देखते है कि प्राची मे सूर्योदय हो रहा है, आकाश मे रात्रि के समय असख्य तारो के साथ उज्ज्वल चन्द्रमा चमक रहा है, कलकल करती हुई नदियाँ वह रही है, वन के हरे-भरे मैदानो मे हरिणो के झुण्ड चौकडियाँ भर रहे है, मकान छज्जो पर वैठे कवूतरो को पकडने की घात मे विल्ली दुवक कर वैठी हुई है, पूछ हिलाता और लीद करता हुआ घोडा हिन-हिना रहा है और विजली की कौद से वच्चे तथा स्त्रियाँ भयभीत हो रही है। पर उन सव दृश्यो मे आह्लाद कहाँ ? दर्शक के हृदय मे रस कहाँ उत्पन्न होता है ? किन्तु यही सव वस्तुएँ जव किसी कुशल कवि की लेखनी रूपी तूलिका के द्वारा सजा कर रख दी जाती हैं तो काव्य वन जाती है और श्रोताओ के हृदय मे एक अजीव-सा रस उत्पन्न करने लगती हैं। गद्यचिन्तामणि मे भी कवि ने इन सव चीजो को ऐसा सँभाल कर रखा है कि देखते ही हृदय आनन्द से भर जाता है। कवि जहाँ स्त्री पुरुषो का आनखशिख वर्णन करता हुआ उनके वाह्य सौन्दर्य का वर्णन करता है वहाँ उनकी आभ्यन्तर पवित्रता का भी वर्णन करता चलता है। 'राजा सत्यन्धर का पतन उनकी विषयासक्ति का परिणाम है', यह वतला कर भी कवि उनकी श्रद्धा और धार्मिकता के विवेक को अन्ततक जागृत रखता है। युद्ध के मैदान मे भी वह सल्लेखना धारण कर स्वर्ग प्राप्त करता है।

प्रकृति-चित्रण

सस्कृत साहित्य मे प्रकृति वर्णन के लिये महाकवि भवभूति की प्रसिद्धि है। परन्तु जव हम गद्यचिन्तामणि का प्रकृति वर्णन देखते है तव कही उससे भी अधिक आनन्द का अनुभव होता है। निर्मल अन्तरीक्ष मे फैली हुई चाँदनी, रात्रि का घनघोर अन्धकार, सूर्योदय, सूर्यास्त, लहराता हुआ समुद्र, प्रात काल का मन्द-शीतल और सुगन्धित समीर, पक्षियो का कलरव, हरे-भरे कानन, आकाश मे छाई हुई श्यामल घनघटा, दावानल और उसके बीच मे रुके हुए हाथियो के झुण्ड, जन-जन के मानस मे आनन्द उत्पन्न करने वाला वसन्त, मेघवृष्टि के वाद वहता हुआ पानी का प्रवाह, ग्रीष्म के रूक्ष दिन और पावस के सरस दिन इन सवका कवि ने जितना शानदार वर्णन किया है उतना हम अन्यत्र नही पाते। सवके उद्धरण देना इस अल्पकाय लेख मे सम्भव नहीं है, फिर भी कुछ पक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ सवरण नही कर सक रहा हूँ। देखिये, छटवें लम्ब मे जीवन्धर कुमार एक तपोवन से आगे चलकर कतिपय काननो को दृष्टिगोचर कर रहे है।

'विहितप्रगेतनविधिस्ततो विनिर्गत्य सात्यन्धरिरन्धकारितपरिसराणि, कणदलिकदम्बकवलिनशिखर-कुसुमतुङ्गतरुसहस्राणि, विशृङ्खलखेलत्कुरङ्गखुरपुटमुद्रितसिकतिलस्थलाभिरम्याणि, स्वच्छसलिलसरसमुद्भिन्नकुमुद-कुवलयमनोज्ञानि, विमलवनापगापुलिनपुञ्जितकलहसरसितरञ्जितश्रवणानि, दृप्यच्छाक्वरशृङ्गकोटिविघटनविष-मिततुङ्गकच्छानि, विचित्रसुमन परिमलमासलसमीरसचारसुरभीकृतानि, कानिचित्काननानि नयनयोरुपायनीचकार।'

रस-परिपाक

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है तो रस उसकी आत्मा है। साहित्य मे शृङ्गार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस हैं। भरत मुनि ने वात्सल्य नामक दशवा रस भी

माना है । इन सभी रसो का गद्यचिन्तामणि मे अच्छा परिपाक हुआ है। कथानायक जीवन्धर कुमार की गन्धर्वदत्ता आदि आठ नई नवेली वधुएँ है । उनके साथ पाणिग्रहण बाद शृङ्गार का परिपाक हुआ है । पर खास बात यह है कि कवि ने उस शृङ्गार वर्णन मे कही भी अश्लीलता नही आने दी है । नवमलम्ब मे जीवन्धर कुमार एक जर्जरकाय वृद्ध का रूप बनाकर जब सुरमञ्जरी के घर पहुँचते है और 'कुमारी तीर्थ की प्राप्ति के लिये घूम रहा हूँ, इन शब्दो के द्वारा अपने आगमन का प्रयोजन बताते है तब मानो हास्य का झरना ही फूट पडता है। वे अपने दिव्य सगीत से सुरमञ्जरी को प्रभावित कर तथा मनचाहा वर प्रदान करने का प्रलोभन दे अनङ्गगृह मे ले जाते हैं और अनङ्गप्रतिमा के सामने सुरमञ्जरी के द्वारा चिरकाङ्क्षित जीवन्धर के प्राप्त होने की प्रार्थना की जाती है तथा छिपे हुए बुद्धिषेण के द्वारा 'लब्धो वरः' का उच्चारण होने पर जब जर्जरशरीर वृद्ध, जीवन्धर कुमार के वेष मे प्रकट होता है तब रोनी मुद्रावाले मनहूस पाठक भी एकबार खिल-खिला उठते है । विजया माता के चित्रण मे तथा द्वितीय लम्ब मे भीलो द्वारा गोपो की गायो के चुरा लिये जाने पर कवि ने जो गोपो की वसति का वर्णन किया है तथा माताओ के अभाव मे भूख से पीडित गायो के दुधमुहे बछड़े जब गोपियो के स्तनो पर अपने मुख लगा देते है तब करुण रस का परिपाक सीमा के बाँध को लाँघ जाता है । और वज्रादपि कठोर मनुष्य के नेत्रो से शोक के गरम-गरम आँसू निकल पडते है । काष्ठाङ्गार की क्रूरता जब हितावह मार्ग का प्रदर्शन करने वाले धर्मदत्त आदि सचिवों का वध करती है तथा अपने उपकारी राजा सत्यन्धर को मार कर अपनी कृतघ्नता का परिचय देती है तब रौद्ररस अपनी रुद्रता से सत्पुरुषो के हृदय मे भय उत्पन्न कर देता है। गन्धर्वदत्ता तथा लक्ष्मणा के स्वयंवर के बाद जीवन्धर कुमार ने युद्धो मे जो अपनी शूरता दिखाई है और काष्ठाङ्गार को मारने के बाद भी उसके परिवार को राज महल मे ही रहने की उदारता प्रदर्शित की है उससे वीर रस का उत्तम परिपाक हुआ है । चतुर्थ लम्ब मे वनक्रीडा से लौटते समय काष्ठाङ्गार का अशनिघोष हाथी रुष्ट होकर गुणमाला से प्रति झपटा चला आ रहा है । भय से भीत हो उसके सखा-साथी तथा शिविका के वाहक भी भाग गये है और भय से कापती हुई गुणमाला एक वृद्धा धाय के पीछे खड़ी-खड़ी अनाशंसित मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है···' यह भयानक रस का कितना स्पष्ट वर्णन है । श्मशान मे जलती हुई चिताओ और उनकी लपट से जलते हुए नरशवो का वर्णन वीभत्स रस का दृश्य सामने रखता है तो लक्ष्मणा के स्वयवर मे जीवन्धर कुमार के द्वारा सहसा चन्द्रकवेध का होना अद्भुत रस को उपस्थित कर देता है । अन्तिम लम्ब मे वनपाल के द्वारा वानरी के हाथ से तालफल छीन लिया जाता है । इस दृश्य को देखकर जीवन्धर के मुखसे निकल पड़ता है—'मद्यते वनपालोऽय काष्ठाङ्गारयते हरि ' और उनका हृदय ससार की दशा देख वैराग्य से सरावोर हो जाता है । मुनिराज के मुख से धर्मोपदेश होता है और जीवन्धर स्वामी सब राज्यपाट छोड दैगम्बरी दीक्षा धारण कर लेते है । यह सब शान्तरस का परम परिपाक है । इस तरह गद्यचिन्तामणि मे अङ्गीरस शान्तरस है और अङ्गरूप मे शेष आठ रस स्थान-स्थान पर अपनी गरिमा प्रकट कर रहे है । विजया के चरित्र-चित्रण मे वात्सल्य रस भी अपनी आभा दिखला रहा है ।

अन्य कवियों का प्रभाव

छद्मस्थ लेखक कितना ही पण्डित प्रकाण्ड क्यो न हो पर उसका ज्ञान सीमित ही रहता है । ज्ञान की इस सीमित दशा मे उसकी दृष्टि आगे पीछे दौडती है और वह जहाँ तहाँ बिखरी हुई ज्ञान-सामग्री से अपनी ज्ञान-निधि को बढा लेना चाहता है । यही कारण है कि परवर्ती लेखको की कृतियो पर पूर्ववर्ती लेखक की कृतियाँ प्राय· अपना प्रभाव या आदर्श छोड़ती हैं । गद्यचिन्तामणि तथा क्षत्रचूड़ामणि को देखने से लगता है कि काव्य

के विषय मे इन पर भी पूर्ववर्ती कालिदास, बाण, सुबन्धु तथा दण्डी आदि का प्रभाव है तो धर्म और दर्शन के विषय मे समन्तभद्र, पूज्यपाद, शिवार्य और अकलक का प्रभाव परिलक्षित है। यहाँ विभिन्न ग्रन्थो के तुलनात्मक उद्धरण लेखवृद्धि के भय से नही दे रहा हूँ।

वासवदत्ता और गद्यचिन्तामणि

सस्कृत गद्य लेखको मे सुबन्धु काल की दृष्टि से प्रथम-गद्यलेखक माने जाते है। आपकी 'वासवदत्ता' राजकुमार कदर्पकेतु और वासवदत्ता की प्रेम कथा है। कथानक अत्यन्त सक्षिप्त है फिर भी कवि ने अपने काव्य कौशल से उसे अलकृत और विस्तृत किया है। वासवदत्ता का श्लेष सस्कृत साहित्य मे अत्यन्त प्र सिद्ध है। वाण ने उसकी आलोचना मे लिखा है कि वासवदत्ता के द्वारा कवियो का गर्व निश्चित ही गल गया था।[1] यह सब होने पर भी कथा की अत्यल्पता और अलकारो की भरमार ने उसके सौन्दर्य का घात किया है परन्तु गद्यचिन्तामणि मे हम यह बात नही देखते। उसकी कथा रोचक और उत्तम घटनाओ से युक्त है। जिस प्रकार किसी शुभ्रवदना युवती के शरीर पर परिमित और उज्ज्वल अलकार शोभा देते है उसी प्रकार गद्यचिन्तामणि की सरस गद्य-धारा पर सारगर्भित अलकार सुशोभित हो रहे हैं। आखिर अलकार, अलकार ही है, प्राण नही।

कादम्बरी और गद्यचिन्तामणि

वाणभट्ट का सस्कृत गद्य लेखको मे काल की दृष्टि से दूसरा नम्बर है। इनके हर्षचरित और कादम्बरी– ये दो ग्रन्थ अत्यन्त गौरव को प्राप्त है। इनके देशाटन ने इनका अनुभव बढाया था। आप राजा हर्षवर्धन के समान्य कवि थे। आपकी सरस और उज्ज्वल गद्यशैली से वादीभसिंह प्रभावित जान पडते हैं और ऐसा लगता है कि इनके उक्त ग्रन्थो से ही वादीभसिंह को गद्यचिन्तामणि लिखने की प्रेरणा मिली होगी। परन्तु कादम्बरी की अल्पकाय कथा लम्बायमान विशेषण-बहुल गद्यो मे उलझी हुई जान पडती है। वाण ने विन्ध्याटवी, राजद्वार, इन्द्रायुद्ध अश्व, अच्छोद सरोवर, महाश्वेता तथा कादम्बरी आदि जिस किसी का भी वर्णन किया है उसे विशेषणो की तह मे इतना तिरोहित कर दिया है कि पाठक को उसकी बडी प्रतीक्षा करनी पडती है। भाषा के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होना चाहिये, न कि उसका तिरोभाव। वेबर ने वाण की शैली की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'यह[2] एक भारतीय जगल है। इसमे यात्री जब तक स्वय झाडियो को काटकर मार्ग न बनावें तब तक उसके लिये मार्ग मिलना असभव है। इसके वाद भी अप्रचलित शब्दो के रूप मे भयकर जगली पशु उसको भयान्वित करते हुए प्राप्त होते हैं'।

परन्तु गद्यचिन्तामणि मे हम यह बात नही देखते। कवि ने उसके भाषा के प्रवाह को उतना ही प्रवाहित किया है जिसमे रस वृक्ष सीचा तो गया है परन्तु डुवाया नही जा सका है।

दशकुमारचरित और गद्यचिन्तामणि

सस्कृत साहित्य मे दण्डी कवि अपने पदलालित्य के लिये प्रसिद्ध है। इनका 'दशकुमारचरित' यह एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमे दश कुमारो का चरित्र-चित्रण है। जिनमे अपहार वर्मा आदि का चरित्र इतनी घटनाओ

---

१. कवीनावगलद्दर्पो नून वासवदत्तया। शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥ —हर्षचरित।

२. देखो, सस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ १५६ (रामनारायणलाल इलाहाबाद)

से भर दिया है कि पाठक को उसका अवधारण करना भी कठिन हो जाता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे भाषा का जो प्रवाह प्रदर्शित है वह उत्तरोत्तर क्षीण होता गया है और अन्त मे तो सिर्फ कथानक का अस्थिजाल ही शेष रह गया परन्तु गद्यचिन्तामणि मे इस बात का ध्यान रक्खा गया है। इसका कथानक पौराणिक होने पर भी कवि ने उसे काव्य की ललितवेषभूषा मे ही प्रस्तुत किया है और भाषा के प्रवाह को महानदी के प्रवाह के समान प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अखण्ड-धारा मे प्रवाहित किया है।

गद्यचिन्तामणि का शब्द-वैभव

पद्य मे नपे-तुले शब्द रहते हैं। अतः लेखक का शब्द-भाण्डार सीमित होने पर भी वह अपने कार्य मे सफल हो जाता है। परन्तु गद्यकाव्य मे लेखक का शब्द भाण्डार जब तक अपरिमित नही होता तब तक उसे अपने कार्य मे सफलता नही मिलती। शब्दो की पुनरुक्तता लेखक की शाब्दिक दरिद्रता को सूचित करती है और रस के प्रतिकूल शब्दविन्यास भुक्तग्रास के साथ दातो के नीचे आये हुए ककड के समान खटकने लगता है। शब्दो की पुनरुक्तता से बचने के लिये गद्यलेखको को नये-नये शब्द गढना पडते हैं। वादीभसिह को भी गद्यचिन्तामणि की शाब्दिक सुषमा सुरक्षित रखने के लिये नये-नये शब्द गढना पडे है। जैसे चन्द्रमा के लिये यामिनीवल्लभ, निशाकान्त, सूर्य के लिये नलिनसहचर, इन्द्र के लिये बलनिषूदन, पृथ्वी के लिये अम्बुधिनेमि, और मुनि के लिये यमधन आदि। ऐसे शब्दो के अर्थ समझने के लिये मात्र शब्द-कोष के सहारे सस्कृत पढने वाले कठिनाई का अनुभव करते हैं। परन्तु जो काव्य विषयक पठन-पाठन मे अभ्यस्त हैं उनके लिये कुछ भी कठिनाई नही रहती। गद्यचिन्तामणि मे कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जो अन्यत्र प्रयुक्त नही है।

इस प्रकार वादीभसिह और उनकी रचनाओं से न केवल जैन सस्कृत साहित्य, किन्तु समग्र भारतीय सस्कृत साहित्य अत्यन्त गौरवान्वित हुआ है।

▣

महाकविहरिचन्द्रस्य धर्मशर्माभ्युदयम्

धर्मशर्माभ्युदयस्य प्रत्येकसर्गस्यावसाने दत्तैः पुष्पिकावाक्यैरेकोनविंशतितमसर्गस्य ९८-९९ श्लोकाभ्या रचिते षोडशदलकमलबन्धे सूचितेन 'हरिचन्द्रकृत धर्मजिनपतिचरितम्' इति पदेन, तस्यैव सर्गस्य १०१-१०२ श्लोकाभ्या निर्मिताच्चक्रबन्धान्निर्गतया—

'आर्द्रदेवसुतेनेदं काव्यं धर्मजिनोदयम् ।
रचितं हरिचन्द्रेण परमं रसमन्दिरम् ।।

इत्युक्त्या, तस्यैव च सर्गस्य १०३-१०४ श्लोकाभ्यां निर्मितचक्रबन्धान्निर्गतेन 'श्रीधर्मशर्माभ्युदय. हरिचन्द्रकाव्यम्' इत्युल्लेखेन सिद्धमस्ति यद्धर्मशर्माभ्युदयस्य रचयिता महाकविर्हरिचन्द्रो वर्तते । कोऽयम् ? कस्यासौ पुत्र· ? इत्यस्य परिचयो धर्मशर्माभ्युदयस्यान्ते प्रदत्तया प्रशस्त्या प्राप्यते ।

उक्तप्रशस्त्या ज्ञायते यन्नौमकवशस्य कायस्थकुले समुत्पन्नयोरार्द्रदेवरथ्याभिधानयोर्दम्पत्यो पुत्रोऽयमासीत् । प्रशस्ते पञ्चमश्लोकेन महाकविना स्वस्यानुजस्य लक्ष्मणेति नाम सूचितम् । यथा हि भगवान् दाशरथिर्भक्तेन शक्तेन चानुजेन लक्ष्मणेन निर्व्याकुलीभूय समुद्रस्य पार गतवान् तथा महाकविहरिचन्द्रोऽपि तथाविधेन स्वानुजेन लक्ष्मणेन निर्व्याकुलीभूय शास्त्रसागरस्य पर पार प्राप्तवान् । कविनेत्येतत्तु लिखित यद् गुरो प्रसादान्मदीया वाणी निर्मला- भवत् किन्तु, स गुरु क इति नोल्लिखितम् । काव्यस्य प्रतिपाद्यपदार्थाना वर्णनेन प्रतीयते यदय दिगम्बरजैनधर्मानुगोऽभूत् ।

हरिचन्द्रनामानोऽनेके विद्वांसः

'कर्पूरमञ्जरी'—नाटिकाया महाकविराजशेखरेण प्रथमयवनिकाया अनन्तरमेकस्य विदूषकेण[1] हरिचन्द्रकवे- रुल्लेख कृत । एकस्य हरिचन्द्रस्योल्लेखो बाणभट्टेन 'श्रीहर्षचरिते' कृत[2] । एको हरिचन्द्रो विश्वप्रकाशकोषस्य कर्ता महेश्वरस्य पूर्वजश्चरकसहितायाष्टीकाकार साहसाङ्कनृपते. प्रधानवैद्य आसीत् । परन्त्वेषा सर्वेषा धर्मशर्माभ्युदयस्य कर्त्रा हरिचन्द्रेण साक कोऽपि सम्बन्धो न सिध्यति । यतो हि धर्मशर्माभ्युदयस्यैकविंशतितमे सर्गे जैनधर्मस्य

---

१. विदूषकः—(ऋज्वेव तार्त्तिक न भण्यते, अस्माक चेटिका हरिचन्द्रनन्दिचन्द्र कोटिशहालप्रभृतीनामपि सुकविरिति)

२. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति ।
भट्टार हरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ।।

यद्वर्णनमस्ति । तद् यशस्तिलकचम्प्वाश्चन्द्रप्रभचरिताच्च प्रभावित वर्तते । अतस्तस्य कर्ता सोमदेवाद् आचार्यवीर-नन्दिनश्च परवर्त्ती भवेन्न पूर्ववर्ती । यदा च कर्पूरमञ्जर्याः कर्ता राजशेखर. श्रीहर्षचरितस्य च कर्ता बाणभट्टः पूर्ववर्ती वर्तते । जीवन्धरचम्प्वाः[1]प्रस्तावनाया जीवन्धरचम्प्वा धर्मशर्माभ्युदयस्य च तुलनात्मकान्युद्धरणानि दत्त्वा मयैतत्साधित यद् धर्मशर्माभ्युदयस्य कर्त्ता हरिचन्द्र एव जीवन्धरचम्प्वा अपि कर्ता विद्यते । जीवन्धरचम्प्वा कथानक यत्र वादीभसिंहसूरेः क्षत्रचूडामणेर्गद्यचिन्तामणेश्च समात्त तत्र गुणभद्राचार्यस्योतरपुराणादपि तत्प्रभावितं वर्तते । अतो हरिचन्द्रो गुणभद्रात्परवर्ती सिध्यति । सार्धमेवात्र श्रावकस्याष्टाना मूलगुणाना वर्णन कृत तद् यशस्तिलकचम्प्वा रचयितुः सोमदेवस्य मतानुगुणं विद्यते ततोऽपि सोमदेवात्परवर्ती सिध्यति । सोमदेवेन यशस्तिलकचम्प्वा रचना १०१६ विक्रमाव्दे कृता । धर्मशर्माभ्युदयस्यैका प्राचीना पुस्तिका पाटणस्य 'संघवीपाड़ा' इत्येतस्य पुस्तकभाण्डारे १२८७ विक्रमाव्दस्य लिखिता विद्यते[2] । एतेन निश्चीयते यत् महाकविर्हरिचन्द्र उक्तसम्वत्सरात् पूर्ववर्ती वर्तते । इत्थ पूर्वापरावधिसमीक्षणेन ज्ञायते यदयं ११-१२ विक्रमशताब्द्या विद्वानस्ति । धर्मशर्माभ्युदयोपरि कालिदास-भारवि-माघाना काव्यशैल्याः प्रभावो लक्ष्यते । कालिदासस्येन्दुमतीस्वयवरवर्णनमनुसृत्य हरिचन्द्रेण धर्मशर्माभ्युदये प्रभावतया. स्वयवरवर्णन कृतम् । भारवे शैलीमनुसृत्य राजनीतेर्जलक्रीडायाश्च वर्णन विहितं । माघस्य शैलीमनुश्रित्य च स्वयम्वरयात्राया विन्ध्याचलस्य च वर्णन कृतम् । प्राक्तनकवीना शैल्या अनुसरणेऽपि धर्मशर्माभ्युदये सर्वत्र कविप्रतिभाया विलक्षणश्चमत्कारो दृश्यते ।

महाकविहरिचन्द्रस्यान्याः कृतयः —

महाकविना हरिचन्द्रेण रचितेषु ग्रन्थेषु धर्मशर्माभ्युदयं तस्य निर्भ्रान्ता कृतिरस्ति । जीवन्धरचम्प्वा विषये स्व. नाथूराम प्रेमीत्येतस्य मतमासीत् विराजमान.—श्रीसपत्नेन दानवारातिना-उपेन्द्रेण सुशोभितो भवति तथा नगरवासिजनोऽपि श्रीदानवारा लक्ष्मीदानसलिलेन + अतिविराजमानो विशोभितो विद्यते । यथा चेन्द्र. करोल्लासित-वज्रमुद्रः—करे वज्रायुधधारको विद्यते तथा नगरनिवासिजनोऽपि करधृतहीरकाङ्गुलीयकोऽभवत् ।

अर्थान्तरन्यासः (७।५३)

स वारितो मत्तमरुद्द्विपौघः प्रसह्य कामश्रमशान्तिमिच्छन् ।
रजस्वला अप्यभजत्स्रवन्ती रहो मदान्धस्य कुतो वियोग. ।।

यथा मदनोद्रेकनिपीडितः कश्चित्प्रतिषिद्धोऽपि वलात्कामखेदमपनिनीषू रजस्वला अपि स्त्रिय सेवते तथा देवाना मदोन्मत्तमतङ्गजसमूहो वारितो—जलात्स्वकीयश्रमशान्तिमभिकाङ्क्षन् रजस्वला पङ्किला अपि नदीरभजत् । अत्र मदान्धस्य विवेकाभावो हेतुत्वेनार्थान्तरतया न्यस्त. ।

परिसंख्या (२।३०)

निशासु नूनं मलिनाम्बरस्थितिः प्रगल्भकान्तासुरते द्विजक्षति. ।
यदि विपक्षः सर्वविनाशसस्तव. प्रमाणशास्त्रे परमोहसंभवः ।।

---

१. भारतीयज्ञानपीठवाराणसीत प्रकाशिता जीवन्धरचम्प्वाः प्रस्तावना (पृष्ठा. ३७-४०)

२. द्रष्टव्या, 'संघवीपाड़ा' इत्येतस्य पुस्तकभण्डारस्य सूची, गायकवाडग्रन्थमालया प्रकाशिता, बड़ौदा ६१७ ई० ।

यदि मलिनाम्बरस्य—मलिनाकाशस्य स्थितिरासीत्तर्हि निशास्वेवासीत् न तु तत्रत्यमनुष्येषु मलिनाम्बराणा मलीमसवस्त्राणा स्थितिरासीत् । यदि द्विजक्षतिर्दन्तक्षतिरासीत् तर्हि प्रगल्भकान्ताना प्रौढकान्ताना सुरते सभोग एवासीत्, न तु तत्रत्यमनुष्येषु द्विजक्षतिर्ब्राह्मणादिघात आसीत् । यदि सर्वविनाशसंस्तवो निखिलवर्णाना लोपस्य प्रसङ्ग आसीत् तर्हि क्विप्प्रत्ययस्यैव न तु तत्रत्यमनुष्येषु कस्यचित्सर्वस्वनाशोऽभूत् । परमोहसंभवः परमस्य निर्बाधत्वेन समुत्कृष्टस्य ऊहस्य तर्कस्य सभवो यद्यासीत्तर्हि प्रमाणशास्त्रे न्यायशास्त्र एवासीत् न तु तत्रत्यमनुष्येषु परमोहस्य अत्यधिकमोहस्य, अन्यजनमोहस्य वा समुत्पत्तिरासीत् ।

विरोधाभासः (२।३०)

> महानदीनोऽप्यजडाशयो जगत्यनष्टसिद्धिः परमेश्वरोऽपि सन् ।
> बभूव राजापि निकारकारणं विभावरीणामयमद्भुतोदयः ॥

स राजा जगति महानदीनो महासागरोऽपि सन् अजडाशयो जलरहितोऽभवत्, परमेश्वरोऽपि सन् अणिमाद्यष्टसिद्धिरहितोऽभूत्, राजा चन्द्रोऽपि सन् विभावरीणा रात्रीणा निकारकारण दुःखकारणमभवदिति विरोध । परिहारपक्षे स राजा महान्-अत्युदार अदीन —दैन्यरहित, अजडाशय प्रबुद्धाशययुक्तो बभूव । परमेश्वरोऽपि सम्पन्नोऽपि न नष्टा सिद्धिर्यस्य तथाभूतोऽभवत् । राजा नृपतिः सन् अरीणा विभौ शत्रूणा स्वामिनि निकारकारण दुःखकारणमजायत ।

धर्मशर्माभ्युदयस्य कौतुकावहस्थलानि—

काव्यमिदमनेकै कौतुकावहै स्थलै परिपूर्णं वर्तते । महाकाव्यस्य लक्षणे लिखित—'क्वचिन्निन्दा खलादीना सता च गुणकीर्तनम्' । एतदनुसृत्य प्रायो गद्यपद्यात्मकेषु काव्येषु निखिलेष्वपि सज्जनप्रशसाया दुर्जननिन्दायाश्च-प्रकरणानि निहितानि, परन्तु धर्मशर्माभ्युदयस्यैतत्प्रकरण (प्रथमसर्गस्य १८३१) संस्कृतसाहित्ये निरौपमयमेव तिष्ठति । गृहस्थदम्पत्योरधिहृदय पुत्रस्य स्वाभाविकी स्पृहा भवति । तेन विना तयोर्गार्हस्थ्यमपूर्णं भवति । रघुवशे कालिदासेन दिलीपस्य पुत्राभावो वर्णित । बाणभट्टेन कादम्बर्यामेतस्य सविस्तर मार्मिकञ्च वर्णन विहितम् । चन्द्रप्रभचरिते महाकविना वीरनन्दिनायमेतस्य चर्चा रचिता । परन्तु धर्मशर्माभ्युदयस्य द्वितीयसर्गान्ते (६८–७४) महाकविना हरिचन्द्रेण सुव्रताया राज्ञ्याः पुत्रानुत्पत्त्या महासेनमहाराजस्य मुखेन यद्दु ख प्रकटित तत्सत्वरमेव हृदये प्रविशति । उदाहरणार्थं तस्य द्वौ श्लोकौ द्रष्टव्यौ—

> सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मनः प्रसीदति ।
> अपीद्धताराग्रहगर्भित भवेदृते विधोर्श्यामलमेव दिङ्मुखम् ॥२१७०॥
>
> न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः ।
> सुताङ्गसस्पर्शसुखस्य निस्तुला कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥२१७१॥

दीपकदीपितोऽन्योप्येतत्प्रकरणागत श्लोक प्रेक्षणीयो वर्तते प्रेक्षावताम्—

> नभो दिनेशेन नयेन विक्रमो वनं मृगेन्द्रेण निशीथमिन्दुना ।
> प्रतापलक्ष्मीबलकान्तिशालिना विना न पुत्रेण च भाति नः कुलम् ॥२१७२॥

तृतीय सर्गस्य वर्णनं कवेर्वैदुष्यं वर्णयितु स्वसादृश्यं न प्राप्नोति। अस्य प्रकरणस्यैतान् श्लोकान् निरीक्ष्य कवेः श्लेषचातुरी प्रशंसन्तु सन्त —

[1]कान्तारतरवो नैते [2]कामोन्मादकृतः परम्।
अभवन्नः प्रीतये सोऽप्युद्यन्मधुपराशयः[3] ॥२३॥
[4]अनेक विटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम्।
वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः[5] ॥२४॥
[6]उल्लसत्केसरो [7]रक्तपलाशः कुञ्जराजिनः[8]।
कण्ठीरव इवारामः कं न व्याकुलयत्यसौ ॥२५॥
एताः [9]प्रवालहारिण्यो मुदा [10]भ्रमरसंगता।
मरुन्नर्तकतालेन नृत्यन्तीव वने लताः ॥३४॥
चित्रमेतज्जगन्मित्रे[11] नेत्रमैत्रीं गते त्वयि।
यन्मे जडाशयस्यापि[12] पङ्कजातं[13] निमीलति ॥५१॥
युष्मत्पदप्रयोगेण[14] पुरुषः स्याद्युत्तमः[15]।
अर्थोऽयं सर्वथा नाथ लक्षणस्याप्यगोचरः ॥५२॥

---

१. कान्तारस्य वनस्य तरवो वृक्षाः पक्षे कान्तारतस्य स्त्रीसंभोगस्य रवः शब्दः।

२. कामस्योन्मादं कुर्वन्तीति कामोन्मादकृतः पक्षे कामोन्मादेन कृतः।

३. उद्यन् मधुपाना राशिः पक्षे उद्यन् प्रकटीभवन् मधुपरो मद्यपानपर आशयो यस्मिन् सः।

४. अनेक विटपैरनेकशाखाभिः स्पृष्टं पयोधरतटं मेघतटं यया सा पक्षे अनेकविटपैरनेकभुजङ्गैः स्पृष्टं पयोधरतट स्तनतटं यस्याः सा।

५. कौ पृथिव्यां लीनत्वं कुलीत्वं तथा न भवति अकुलीनत्वं पक्षे नीचकुलोत्पन्नत्वम्।

६. उल्लसन्तः केसरा बकुलवृक्षा पक्षे सटा यस्य सः।

७. रक्ता लोहितवर्णा पलाशाः किंशुका यस्मिन् सः पक्षे रक्तपले रुधिरमासे अश्नातीति तथा।

८. कुञ्जैर्लतागृहै राजितः शोभितः पक्षे कुञ्जरैः करिभिरजितोऽपराजितः।

९. प्रवालैः पल्लवैर्हारिण्यः पक्षे प्रकृष्टकेशैर्हारिण्यः।

१०. भ्रमरैः षट्पदैः संगताः पक्षे भ्रमे परिक्रमणे रसं स्नेहं गताः प्राप्ताः।

११. सूर्ये पक्षे लोकसुहृदि।

१२. डलयोरभेदात् जलाशयस्यापि पक्षे जडाभिप्रायस्यापि।

१३. कमलं पक्षे पापसमूहः।

१४. युष्मत्पदप्रयोगे पक्षे तव चरणयोः संयोगे।

१५. उत्तमपुरुषः उत्कृष्टश्च।

चतुर्थसर्गे (४१–४४) चन्द्रग्रहणस्य यत्कौतुकावहं वर्णनं कविनाकारि तदन्यत्र न प्राप्यते दृश्यताम्—

अथैकदा व्योम्नि निरभ्रगर्भेक्षणक्षपायां क्षणदाधिनाथम् ।
अनाथनारीव्यथनैनसेव स राहुणा प्रैक्षत गृह्यमाणम् ।।४१।।

किं सीधुना स्फाटिकपानपात्रमिदं रजन्याः परिपूर्यमाणम् ।
चलद्द्विरेफोच्चयचुम्ब्यमानमाकाशगङ्गास्फुटकैरवं वा ।।४२।।

ऐरावणस्याथ करात्कथंचिच्च्युतः सपङ्को विसकन्द एषः ।
किं व्योम्नि नीलोपलदर्पणाभे सश्मश्रु वक्त्रं प्रतिबिम्बितं मे ।।४३।।

क्षणं वितर्क्येति स निश्चिकाय चन्द्रोपरागोऽयमिति क्षितीशः ।
दृङ्मीलनाविष्कृतचित्तखेदमचिन्तयच्चैवमुदारचेताः ।।४४।।

वृद्धावस्थाया निमित्तमुपलभ्य राज्ञश्चित्त ससारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्ण जायते । तस्यामेव दशाया स वृद्धावस्था चिन्तयति । तदा नरस्य दन्ता पतन्ति, केशा काशकुसुमसकाशा भवन्ति, शरीरे वलयो जायन्ते, मध्य च भुग्न भवति, एषामखिलाना वर्णन महाकवे शब्देषु दृश्यताम् कियत्सुन्दर विद्यते—

अन्याङ्गनासङ्गमलालसानां जराकृतेर्ष्येव कुतोऽप्युपेत्य ।
आकृष्य केशेषु करिष्यते नः पदप्रहारैरिव दन्तभङ्गम् ।।५५।।

कान्ते तवाङ्गे वलिभिः समन्तान्नश्यत्यनङ्गः किमसावितीव ।
वृद्धस्य कर्णान्तगता जरेयं हसत्युदञ्चत्पलितच्छलेन ।।५६।।

आकर्णपूर्णं कुटिलालकोर्मि रराज लावण्यसरो यदङ्गे ।
वलिच्छलात्सारणिधोरणीभिः प्रवाह्यते तज्जरसा नरस्य ।।५७।।

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेर्नष्टं क्व मे यौवनरत्नमेतत् ।
इतीव वृद्धो नयपूर्वकाय. पश्यन्नधोऽधो भुवि बम्भ्रमीति ।।५८।।

(चतुर्थसर्गः)

चन्द्रप्रभचरिते द्वितीयसर्गस्य विस्तृत न्यायवर्णन काव्यानुरूपता विहाय स्वतन्त्रदर्शनशास्त्रमिव जातम् । एवमेव नैषधचरिते सप्तदशसर्गस्य दार्शनिकत्व काव्यानुरूपता नानुसरति परन्तु धर्मशर्माभ्युदयस्य चतुर्थसर्गे (६२–७६) यश्चार्वाकीय 'सिद्धान्त सुमन्त्रमन्त्रिणा मण्डितो राज्ञा दशरथेन खण्डितश्च स काव्यानुरूपता न जहाति स्म । सप्तमसर्गस्य (२०–३८) सुमेरुवर्णन कवेरनुपम पाण्डित्य प्रदर्शयितुमलम् । अस्य सदर्भस्य निम्नाङ्कित श्लोका द्रष्टव्या सन्ति—

[1]मरुद्ध्वनद्वंश–मनेकताल[2] [3]रसालसंभावित–मन्मथैलम् ।
धृतस्मरातङ्कमिवाश्रयन्तं वनं च गात्रं च सुराङ्गनानाम् ॥३०॥

[4]विशालदन्तं [5]घनदानवारिं प्रसारितोद्दामकराग्रदण्डम् ।
उपेयुषो दिग्गजपुङ्गवस्य पुरो दधानं प्रतिमल्ललीलाम्[6] ॥३२॥

[7]अधिश्रियं नीरद [8]माश्रयन्ती नवान्नुदन्तीमतिनिष्कलाभान्[9] ।
स्वनैर्भुजङ्गा [10]ञ्छिखिनां [11]दधानं प्रगल्भवेश्यामिव चंदनालीम् ॥३३॥

(सप्तमसर्गः)

अत्र देववाहनत्वेन समागताना हस्तिनामश्वाना वृषभाणा च स्वभावोक्तिमय वर्णन माघस्य शैली स्मारयति । अष्टमसर्गव्यापि क्षीरसागरजन्माभिषेकयोर्वर्णन मालिनीच्छन्दसातिरम्य जातम् ।

पुत्रस्पर्शवर्णनम् —

नवमसर्गे पुत्रस्पर्शवर्णने समागतयोः

पुत्रस्य तस्याङ्गसमागमक्षणे निमीलयन्नेत्रयुगं नृपो बभौ ।
अन्तः कियद्गाढनिपीडनाद् वपुः प्रविष्टमस्येति निरूपयन्निव ॥१०॥

उत्सङ्गमारोप्य तमङ्गजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ ।
अन्तर्विनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥११॥

अनयो' श्लोकयोः पुरस्तात् कालिदासस्य रघुवशे समायात निम्नाङ्कितपुत्रस्पर्शवर्णनं न्यूनकलं प्रतिभाति —

---

१. मरुता पवनेन ध्वनन्तो वंशा वेणुवृक्षा यस्मिन् गानपक्षे मरुद्भिर्देवैर्ध्वनन्तो वंशा वाद्यविशेषा यस्मिन् तत् ।
२. अनेके तालास्तालवृक्षा यस्मिन् पक्षे अनेकताला स्वरप्रदर्शनप्रक्रमविशेषा यस्मिन् तत् ।
३. रसालैराम्रवृक्षैः संभाविताः सन्मानिता मन्मथा मदनवृक्षा एलाश्चन्द्रवालत्तावृक्षाश्च यस्मिन् तत्पक्षे रसेनालसं रसालसं यथास्यात्तथा भाविता मन्मथैला कामचेष्टा यस्मिन् तत् ।
४. विशाला दन्ता गजदन्ताभिधानाः प्रत्यन्तपर्वता यस्य ते पक्षे विशाला दन्ता रदना यस्य त ।
५. घना बहवो दानवारयो देवा यस्मिंस्तं पक्षे घनं प्रचुरं दानवारि मदजलं यस्य तम् ।
६. प्रतिद्वन्द्विलीलाम् ।
७. अधिका श्रीर्यस्य तं प्रभूतलक्ष्मीकं पक्षे प्रभूतशोभम् ।
८. निर्गता रदा दन्ता यस्य तं दन्तरहितं पक्षे नीरं ददातीति नीरदो मेघस्तं ।
९. अतिक्रान्तो निष्कलाभो हेममुद्रालाभो येभ्यस्तान् दरिद्रानित्यर्थः पक्षे अतिनिष्कला कृष्णतरा आभा येषां तान् ।
१०. विटान् सर्पांश्च ।
११. मयूराणा पक्षे शिखण्डिपुरुषाणाम् ।

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ।।२८।।

रघुवंशतृतीयसर्गे

युवराजो धर्मनाथः शृङ्गारवत्याः स्वयवरे समिलितो भवितु दक्षिणदिशा प्रति प्रयाण करोति । तदवस्थायाः श्लेषमय वर्णन दर्शनीयं वर्तते -

तां नेत्रपेया विनिशम्य, सुन्दरीं सुधामल[1] कामयमान उत्सुकः ।
क्रामन्नपाचीं[2] हरिसेनया वृतो वभौ स काकुत्स्थ[3] इवास्तदूषण[4] ।।६-५१।।

एव प्रतीयते यत् 'सुधामल कामयमानः' इत्यस्य मनोज्ञसुरभि· नैषधस्य 'चेतो नल कामयते मदीयम्' इति यावत्प्रयातः । नवमसर्गस्य (६६-७७) गङ्गावर्णन साहित्यिकदृष्टचोत्कृष्टतर विद्यते । दशमसर्गस्य नानावृत्तमय विन्ध्यगिरिवर्णन माघस्य चतुर्थसर्गव्याप्त रैवतकगिरिवर्णन स्मारयति । उभयत्र यमकालङ्कारस्यानुपमा छटा विकीर्णा वर्तते । माघे 'दारुकमुखेन' अत्र च 'प्रभाकरमुखेन' पर्वतस्य वर्णनं कारितम् ।

महाकविना कालिदासेन रघुवशस्य नवमसर्गे चतुर्थपादव्यापिना यमकेन साक द्रुतविलम्बितच्छन्दोऽवतार्य काव्यसुधाया या मन्दाकिनी प्रवाहिता तस्या अनुसरणं माघस्य षष्ठस्य धर्मशर्माभ्युदयस्य चैकादशे सर्गे षड्तुवर्णनप्रसङ्गे कृतम् । यथा नासाया धृतमवदात मौक्तिकं कस्याश्चिच्छुभ्रवदनाया मुखारविन्द विभासयति तथात्रानेन पदद्वयव्यापिना यमकेन द्रुतविलम्बितच्छन्दो विभासितम् । एतत्सदर्भस्य श्लोकद्वय दृश्यताम्—

[5]कलविराजिविराजितकानने [6]नवरसालरसालसषट्पदः ।
[7]सुरभिकेसरकेसरशोभिया प्रविससार स सारवलो मधुः ।।१०।।

तदभिधानपदैरिव षट्पदैः शवलिताम्रतरोरिह मञ्जरी ।
कनकभल्लिरिव स्मरधन्विनो जनमदारमदारयदञ्जसा ।।१२।।

धर्म० सर्ग ११

---

१. ता सुन्दरीं नेत्रपेता सुधा विनिशम्य अलमत्यर्थ कामयमानोऽभिलषन् पक्षे ता सुन्दरीं नेत्रपेयां विनिशम्य सुष्ठुधामानि यस्यां तथा भूता सुधामा, सुधामा चासौ लङ्का चेति ताम् अयमानो गच्छन् ।

२. हरिसेनया वानरसेनया पक्षेऽश्वसेनया ।

३. रामः ।

४. निर्दोषः पक्षे निहतदूषणाख्यराक्षसः ।

५. कलवीना सुन्दरपक्षिणां राजिभिः पङ्क्तिभिर्यत् विराजित काननं तस्मिन् ।

६. नव रसालसेन अलसाः षट्पदा यस्मिन् सः ।

७. सुरभिकेसराणां मनोज्ञबकुलपुष्पाणा केसरेण किञ्जल्केन शोभितः ।

द्वादशसर्गस्य वनक्रीडा छन्दसोऽलंकारनिचयस्य चानुकूल्येन माघस्य वनक्रीडापेक्षयातिमनोहारिणी जाता। समग्रे त्रयोदशसर्गे व्याप्ता जलक्रीडा भारवेः किरातार्जुनीयस्याष्टमसर्गव्यापिनी जलक्रीडा विस्मृता विदधाति। चतुर्दशसर्गस्य प्रदोषस्य, रजन्या, रजनीरमणोदयस्य च वर्णन पाठकहृदयममन्दानन्दामृताप्लुत विदधाति। सति चन्द्रोदये कमलाना लक्ष्मीश्चन्द्रमसोऽभ्यर्ण गतेत्यस्य वर्णनं दृश्यता कियत्सुन्दरं वर्तते—

तावत्सती स्त्री ध्रुवमन्यपुंसो हस्ताग्रसंस्पर्शसहा न यावत्।
स्पृष्टा कराग्रैः कमला तथाहि त्वक्सारविन्दाभिससार चन्द्रम् ॥५५॥

सर्ग १४

पञ्चदशसर्गस्य मधुपानं काव्यदृष्टयात्युच्चकोटिकमस्ति। मदिराया मदेन स्खलितवाचः कस्याश्चित्सुन्दर्या वर्णनं दृश्यता कियद् हृदयहारि वर्तते—

त्यज्यता पिपिपिपि प्रिय पात्रं दीयतां मुमुमुखासव एव।
इत्यमन्थरपदस्खलितोक्तिः प्रेयसी मुदमदाद् दयितस्य ॥२२॥

षोडश सर्गस्य प्रभातवर्णन माघस्यैकादशसर्ग स्मारयति। माघस्य प्रभातवर्णने यद्यपि मालिनीवृत्तेनाधिका शोभा समानीता तथापि धर्मशर्माभ्युदयस्य विचित्राः कल्पनास्तस्य स्वभावोक्तिभ्योऽतितरा रम्याः प्रतीयन्ते। दृश्यताम्, चन्द्रोऽस्तोन्मुखो वर्तते, प्राच्यामरुणस्य लोहितिमा समाच्छन्नो विद्यते, दुन्दुभिश्च मन्द्र ध्वनति। एतद्वर्णन धर्मशर्माभ्युदये कियन्मनोज्ञं वर्तते—

राजानं जगति निरस्य सूरसूतेनाक्रान्ते प्रसरति दुन्दुभेरिदानीम्।
यामिन्याः प्रियतमविप्रयोगदुःखैर्हृत्सन्धेः स्फुटत इवोद्भटः प्रणादः ॥१६-८॥

एतस्मिन्नेव षोडशे सर्गे सेनायाः प्रस्थानं माघस्य द्वादश सर्गे वर्णितं श्रीकृष्णसेनाया' प्रयाणं स्मारयति। सप्तदशसर्गे शृङ्गारवत्याः स्वयवरवर्णन कालिदासस्येन्दुमतीस्वयंवरवर्णन पृष्ठे त्यजति। स्वयवरसभा समायान्त्येव शृङ्गारवती राज्ञा मनसि प्रविष्टा इत्यस्य श्लेषमयं वर्णनं दृश्यता कियत्कौतुकावह वर्तते—

पयोधरश्री—समये प्रसर्पद्धारावलीशालिनि संप्रवृत्ते।
सा राजहंसीव विशुद्धपक्षा महीभृतां मानसमाविवेश ॥१७-१८॥

स्वयवरानन्तर राजपथे शृङ्गारवत्या सार्धं गच्छन्तं धर्मनाथं द्रष्टु स्त्रीणा कौतूहलं परमार्थतः कुतूहलास्पद जातम्। धर्मशर्माभ्युदयतस्यैतद्वर्णनेन रघुवंशकुमारसंभवयोर्वर्णन पश्चात्कृतम्। विवाहदीक्षाया अनन्तर धर्मनाथ. शृङ्गारवत्या सार्धमधिचत्वर सुवर्णसिंहासनमलचकार यदा, तदैव तत्पितुरेक पत्रं प्राप्यम्, यत्पठित्वा स सहसा कुबेरनिर्मितविमानमधिरुह्य रत्नपुरं प्रति चचाल। अत्रेवं प्रतीयते यत्कविना रसस्याकाण्डच्छेद कृत। पाठकस्य हृदये वहन्ती रसधारा शुष्का भवन्ती प्रतिभाति। स्वयवरानन्तर भविष्यता युद्धेन धर्मनाथमस्पृष्ट रक्षितु कविनैतत्कृतमिति प्रतीयते। कविनासौ धर्मनाथो विमानेन रत्नपुर प्रेषितो, युद्धस्य च दायित्वं सुषेणसेनापतेरुपरि निक्षितम्।

अष्टादशसर्गे (६-४३) ससारस्य मायाममताया विरज्य महासेनो महाराजो मुनिदीक्षा ग्रहीतुं कृतसकल्पो वर्तते। स राज्याभिषेकानन्तर युवराजधर्मनाथाय यमुपदेश ददाति स कादम्बर्यां शुकनासोपदेशस्य, गद्यचिन्तामणेश्चाचार्यनन्द्युपदेशस्य सक्षिप्तसस्करणमिव ज्ञायते। तेन युवराजधर्मनाथाय गुणार्जनस्य य उपदेशो दत्त स कविना श्लेषोपमालकारेण कियदाकर्षक कृत इति दृश्यताम्—

भृश गुणानर्जय सद्गुणो जनैः क्रियासु कोदण्ड इव प्रशस्यते।
गुणच्युतो बाण इवातिभीषण प्रयाति वैलक्ष्यमिह क्षणादपि ।।१८-१।।

एकोनविंशतितमे युद्धवर्णनाय कविना यच्छन्दश्चित्रालकारश्चावलम्बित स रसस्यानुकूलो नास्ति। यमकश्चित्रालकारश्च कवे काव्यकौशल परीक्षितु निकषोपलस्य कार्यं प्रददाति। महाकविर्हरिचन्द्रस्य कौशल यद्यपि तदुपरि प्रखर समवतीर्ण तथापि तेन वीररसस्य धारावरुद्धा जाता। यद्यपि भारविणा माघेन चैतद्वर्णनार्थमनुष्टुपछन्द एवावचित तथापि पृष्ठे पुरस्ताच्चान्यैश्छन्दोभिर्वीररसस्य वर्णने समायाते तस्य प्रवाहे न्यूनता नायाता। धर्मशर्माभ्युदये तु वीररसवर्णनाय तस्यैवैकस्य सर्गस्य सत्वादनुकूलच्छन्दोऽभावे तस्य धारा सामग्र्येण न विकसिता।

विंशतितमे सर्गे धर्मनाथस्य भगवतो राज्यस्य तपश्चरणस्य, समवसरणस्य च यद् वर्णन कृत तद् यद्यपि स्वस्मिन् परिपूर्णं वर्तते तथाप्येवं प्रतिभाति यत्कवि काव्यस्यैतत्प्रमुखं कथानक सत्वर निवर्त्तयितुमिच्छति। एकविंशमितमस्य धर्मोपदेशो विस्तृतश्छन्दोऽनुरूपश्च विद्यते।

इत्थ धर्मशर्माभ्युदय काव्यवैभवेन युक्तमुच्चकोटिक महाकाव्यमस्ति।

नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय

प्राचीन कवियों मे 'बाग्भट' का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये मात्र कवि ही नही थे किन्तु अलंकार-शास्त्र के प्रौढ विद्वान् भी थे। इनकी सफल लेखनी द्वारा लिखे गये 'वाग्भटालंकार' का जैन-अजैन दोनो समाजो मे पर्याप्त प्रचार व सम्मान है। इन्ही कवि की प्राञ्जल लेखनी से 'नेमिनिर्वाण' काव्य भी लिखा गया है, जिसकी रचना अत्यन्त सुन्दर है। बाग्भट ने 'नेमिनिर्वाण' काव्य के अनेक उदाहरण अपने बाग्भटालंकार मे उद्धृत किये है। नेमिनिर्वाण काव्य निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुका है, इसमे १५ सर्ग है और सब मिला कर ६५८ पद्य हैं। इसमे बाईसवे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान् का जन्म से लेकर निर्वाण-मुक्ति प्राप्ति तक का जीवन चरित्र दिया गया है। यद्यपि नेमिनाथ स्वामी का जीवन-चरित्र नेमिपुराण तथा हरिवशपुराण आदि मे भी पाया जाता है परन्तु सरस-सुभग रीति से वर्णन करने वाला प्राय: यही एक महाकाव्य है।

यशस्तिलक, द्विसन्धान और पार्श्वाभ्युदय जैसे कुछ काव्य ग्रन्थो को छोडकर प्राय सभी जैन साहित्य और काव्यग्रन्थ संस्कृत टीका से शून्य हैं। इसलिये आज विकाशवाद के समय भी उनका पर्याप्त प्रचार नही हो रहा है। हमारे समाज का ध्यान धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र के ग्रन्थो के प्रकाशन की ओर अग्रसर हुआ है इस बात की प्रसन्नता है, परतु काव्य और व्याकरण शास्त्र के उत्तम प्रकाशनो की ओर उसका ध्यान बिल्कुल भी नही है यह देख कर अत्यन्त दु:ख होता है। यदि निर्णयसागर प्रेस बम्बई के उदारमना मालिक पाण्डुरङ्ग जावजीने अपनी काव्यमाला से चन्द्रप्रभ, धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू, द्विसन्धान आदि जैन काव्यग्रन्थो को प्रकाशित न कराया होता तो शायद ही वे ग्रन्थ इस समय हम लोगो के दृष्टिगत होते।

यदि समस्त जैन काव्य और साहित्यग्रन्थों के सटीक संस्करण प्रकाशित हो जावें तो उनका प्रचार विश्वविद्यालयो से अनायास ही हो सकता है। तथा पढने वाले जैन-अजैन छात्र भारी कठिनाई से बच सकते हैं। संस्कृत भाषा मे जैन छात्रो की अव्युत्पत्ति का मुख्यकारण काव्यग्रन्थो की टीका का अभाव भी माना जा सकता है। प्राय सभी विद्यालयो के अध्यापक हिन्दी अर्थ बता कर काव्यग्रन्थो की पढाई समाप्त कर देते है। समास, अलकार रस, ध्वनि छन्द आदि की तरफ उनकी दृष्टि नही जाती। यदि कोई परिश्रमी अध्यापक इन सब विषयो को बतलाता भी है तो विना आधार के छात्रगण उसकी धारणा नही रख पाते, इसलिये अध्यापक का परिश्रम व्यर्थ होता है। आज जैनसमाज मे अनेक साहित्याचार्य तथा काव्यतीर्थ विद्वान् विद्यमान हैं जो साहित्य विषय के प्रौढ विद्वान् माने जा सकते हैं, उनकी लेखनी से समस्त काव्यग्रन्थो की टीकाए बनवाई जा सकती है, परन्तु उनके प्रकाशन के लिये कोई सस्था अग्रसर नही हो रही है। जिन संस्थाओ का प्रयोजन सिर्फ पैसा प्राप्त करना हैं उन सस्थाओ से तो इनके प्रकाशनो की आशा रखना व्यर्थ है, क्योकि वर्तमान मे उन ग्रन्थो की बिक्री कम होती है, जिससे प्रकाशको का

पैसा उनमे रुक जाता है। हा, किन्ही नि.स्वार्थ संस्थाओं से, जिनके उद्देश्य पैसा कमाने की अपेक्षा प्रचार ही अधिक हो, यह काम हो सकता है। साधारण जनता मे प्रचार हो इस ख्याल मे हिन्दी टीकाए भी साथ में दे दी जावें तो अधिक प्रचार हो सकता है। क्या कोई सस्था इस आवश्यक कार्य की तरफ अपनी दृष्टि डालेगी ?

आज बाजार मे मेघदूत की २५–३० टीकाए बिक रही है परन्तु 'पार्श्वाभ्युदय' को कौन जानता है ? वर्षों पहिले बम्बई से उसका एक सटीक सस्करण प्रकाशित हुआ था। जो कि बहुत अशुद्ध छपा हुआ है। 'विक्रान्त कौरव' कितना सुन्दर नाटक है परन्तु उसका प्रचार अत्यन्त अल्पहै। उसका एक सस्करण मणिकचन्द्र ग्रथमाला से प्रकाशित हुआ है परन्तु वह भी अशुद्ध है। 'अलकार चिन्तामणि' नवीन और प्राचीन शैली का संमिलित लक्षण ग्रन्थ है, परन्तु यह कितना अशुद्ध और असस्कृत होकर छपा है इसे कौन नही जानता ? अच्छे-अच्छे विद्वान् भी उसके पढाने से मुह मोडते हैं। 'गद्यचिन्तामणि' क्या 'कादम्बरी' से कम है ? 'धर्मशर्माभ्युदय, क्या शिशुपालवध' से बढ कर नही है? और क्या 'यशस्तिलकचम्पू' दुनिया के समस्त काव्य ग्रन्थो मे बेजोड़ नही है ? 'चन्द्रप्रभचरित' 'किरातार्जुनीय' से सुन्दर है तथा 'नेमिनिर्वाण' भी बहुत सुन्दर काव्य है, फिर इसका सातवा सर्ग तो सर्वथा मौलिक और मनोहर है।

मैंने, कुछ वर्ष पहले, नातेपुते से निकलने वाले शान्तिसिन्धु मे महाकवि हरिचन्द्र रचित 'धर्मशर्माभ्युदय' के सरस और गम्भीर श्लोको का परिचय प्रकाशित कराया था जो लगातार कई अको मे प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशन का मात्र यही उद्देश्य था कि समाज उसकी महत्ता को समझ कर उसके प्रकाशन की ओर आकृष्ट हो। उसी उद्देश्य को लेकर आज अनेकान्त के पाठको के सामने 'नेमिनिर्वाण' काव्य के कुछ श्लोको का परिचय रख रहा हूँ। आशा है उससे पाठको का कुछ मनोरजन होगा और इस तरह वे उसके रचयिता वाग्भट महाकवि के वैदुष्य से कुछ परिचित हो सकेंगे।

प्रथम सर्ग मे भगवान् पुष्पदन्त का स्तवन करते हुए महाकवि ने लिखा है—

भूरिप्रभानिर्जितपुष्पदन्तः करायतिन्यक्कृतपुष्पदतः ।
त्रिकालते वागतपुष्पदन्तः श्रेयासि नो यच्छतु पुष्पदंतः ।।

जिनके दाँतो ने अपनी विशाल प्रभा से पुष्पो को जीत लिया है, जिनके हाथो की लम्बाई ने पुष्पदन्त[1] (दिग्गज) को—उसके शुण्डादण्ड को—तिरस्कृत कर दिया है और जिनकी सेवा मे पुष्पदन्त[2]—सूर्यचन्द्रमा—त्रिकाल उपस्थित होते है वे पुष्पदन्त भगवान् हम सबको कल्याण प्रदान करें।'

इस श्लोक मे 'पदान्त्ययमक' अलकार कितना स्पष्ट है ? शब्दालकार की अपेक्षा अर्थालकार का मूल्य अधिक अवश्य है परन्तु शब्दालकार की रचना मे कवि को जितनी कठिनाई का अनुभव करना पडता है उतनी कठिनाई का अनुभव अर्थालकार की रचना मे नही करना पडता। प्राचीन साहित्यकारो ने अर्थालंकार के साथ शब्दालकार का भी खूब वर्णन किया है, परन्तु नवीन साहित्यकारो ने शब्दालकार को काव्यान्तर्गड्डभूततया—

---

१ 'पुष्पदन्तस्तु दिङ्नागे जिन-भेदे गणान्तरे' इति हेमः।

२ 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ' इति हेमः।

काव्य के अन्दर गलगण्ड के समान निःसार होने के कारण उपेक्ष्य बतलाया है । इसका मुख्य कारण रचना-काठिन्य ही प्रतीत होता है; क्योकि अलकार का मुख्य उद्देश्य विच्छित्ति—चमत्कार द्वारा काव्य को अलकृत करना होता है, जो कि शब्दालकार मे भी सनिहित रहता है । वाग्भट कवि जिस प्रकार अर्थालकारों की रचना में सिद्ध हस्त थे उसी प्रकार शब्दालंकारो की रचना मे भी सिद्धहस्त थे । यही बात है कि उन्होंने अपने अलकार ग्रन्थ मे यमकालंकार का खूब वर्णन किया है और विशेषता यह है कि उसके प्रायः समस्त उदाहरण निज के ही दिये हैं ।

भगवान् श्रेयांसनाथ के स्तवन मे श्रेयासनाथ और गरुड़ का श्लेष देखिये कितना सुन्दर है—

सुवर्णवर्णद्युतिरस्तु भूत्यै, श्रेयान् विभुर्वो विनताप्रसूतः ।
उच्चैस्तरां यो सुगतिं ददानो, विष्णोः सदा नंदयति स्म चेतः ॥११॥

"जिनके शरीर की कांति सुवर्ण के समान उज्ज्वल थी, जो भक्त पुरुषों को स्वर्ग-अपवर्ग आदि उत्तम गति को देने वाले थे, तथा जो स्व-समानकालिक नारायण के चित्त को हमेशा प्रसन्न किया करते थे—हित का उपदेश देकर आनंदित किया करते थे—वे विनता माता के पुत्र श्रेयासनाथ स्वामी तुम सबकी विभूति—केवल—ज्ञानादि सम्पत्ति—के लिये हो—उनके प्रसाद से तुम्हे विभूति की प्राप्ति होवे ।"

श्लोक का प्रकृत अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है, अब अप्रकृत अर्थ देखिये, जो श्लोकगत प्रत्येक शब्दो के प्रायः द्वयर्थक होने से स्वयमेव प्रकट हो जाता है । संस्कृत साहित्य मे विनतासुत का दूसरा अर्थ गरुड प्रसिद्ध है । अजैन समाज मे प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण गरुड पक्षी के ऊपर यान– सवारी किया करते थे तथा जैन समाज मे भी श्रीकृष्ण को गरुडवाहिनी विद्या का उपयोग करने वाला माना है । विष्णु का अर्थ श्रीकृष्ण सस्कृत के समस्त कोशो मे प्रसिद्ध है । इस तरह श्लोक का दूसरा अर्थ नीचे लिखे अनुसार हो जाता है—

"जिसके शरीर की आभा सुवर्ण के समान पीतवर्ण है—जो विभु है—वि-पक्षियो से भु-उत्पन्न है, श्रेयान्-कल्याण रूप है तथा उच्चैस्तरा—अत्यन्त ऊँचे आकाश मे सुन्दर गमन को देता हुआ—विष्णु—श्रीकृष्ण के चितको हमेशा आनंदित करता है वह विनतासुत-वैनेतय-गरुड़ तुम सब को भूति का देने वाला हो ।"

यद्यपि जैन सिद्धात के अनुसार गरुड से विभूति प्राप्ति की इच्छा करना असंगत मालूम होता है तथापि वर्णन की संगति जैनेतर मान्यताओ के अनुसार हो सकती है । कवि लोग अपने काव्यों मे वही लिखते है जो कि कवि-सम्प्रदाय मे—काव्यजगत् मे प्रसिद्ध होता है । धार्मिक मान्यताओ की ओर उनका विशेप लक्ष्य नही रहता ।

विमलनाथ का स्तवन लिखते हुए कवि ने लिखा है—

वन्दामहे पादसरोजयुग्ममस्तः कृपालोर्विमलस्य तस्य ।
यश्चापषष्ठ्या कलिताङ्ग यष्टिस्तथापि पार्श्वे स्थित कोलराजः ॥

"मै उन दयालु विमलनाथ भगवान् के दोनो चरण कमलो की वन्दना करता हूँ जिनका शरीर यद्यपि साठ धनुप से सहित था तथापि उनके पास शूकरराज विद्यमान रहता था ।"

यहां कवि ने विमलनाथ स्वामी को अत कृपालु—दया से पूर्ण हृदयवाला वतलाया है उसका उत्तरार्व मे कितना अच्छा विवरण किया है—भगवान् का शरीर एक, दो, नही किंतु साठ धनुषो से सहित था—शिकार के पर्याप्त साधनो से सहित था और मारने योग्य शूकर भी पास ही विद्यमान रहते थे फिर भी वे किसो की शिकार नही करते थे। उनका शरीर धनुखो से सहित होने पर भी इतना सौम्य-सुहावना वन चुका था कि शूकर आदि भीरु प्राणी भी उनके पास, पास ही नही किन्तु शरीर से सगत होकर भी भय का अनुभव नहीं करते थे।

इस श्लोक का वर्णनीय वृत्त सिर्फ इतना है—

'मैं उन विमलनाथ स्वामी के चरणों की वदना करता हू जिनका शरीर साठ धनुप ऊचा था और शूकर के चिन्ह से चिन्हित था।' परन्तु कवि ने उसे जिस रोचक ढग से प्रकट किया है उसे देखते ही वनता है। सुन्दर अलकार धारण करने पर किसी अल्हड-गौराङ्ग-ग्रामीण युवती के शरीर की आभा जिस तरह चौगुनी हो जाती है उसी तरह अलकार से अलकृत होने के कारण इस मामूली से वृत्त की शोभा कई गुणी अधिक हो गई है।

शान्तिनाथ तीर्थंकर से शान्ति की प्रार्थना करते हुए कविराज क्या लिखते है ? देखिये—

शान्ति स व. शान्तिजिनः करोतु, विभ्राजमानो मृगलाञ्छनेन।
शशीव विश्वप्रमदैकहेतु- र्यः पापचक्रव्यथको बभूव ॥१६॥

वे शान्तिनाथ भगवान् तुम सवको शान्ति करें—अशान्ति उत्पादक राग-द्वेप को नष्ट कर वीतरागभाव प्राप्त करने मे सहायक हो—जो कि चन्द्रमा की तरह मृगरूप चिन्ह से सहित है, समस्त ससार के कल्याणकारण है और पाप समुदाय को -अशुभ कर्मों के समूह को नष्ट करने वाले है। (पक्ष मे) पापी चक्रवाक पक्षी को दु ख देने वाले हैं—प्रेयसी चक्रवाकी से वियुक्त कर दु ख पहुचाने वाले हैं।'

जैन शास्त्रो मे भगवान् शातिनाथ के हरिण का चिन्ह माना गया है और चन्द्रमा मृगाङ्क (हरिणाङ्क) मृग-चिन्ह से सहित प्रसिद्ध है ही। जिस तरह चन्द्रमा बाल-वृद्ध-युवा सभी को आह्लादका का कारण है उसी तरह भगवान् शातिनाथ भी ससारगत जीवो को आह्लाद के कारण थे, जिस तरह चन्द्रमा पापी चकवो को उनकी प्रिय चकवियो से जुदाकर दु खी करता है। (क्योकि रात मे चकवा-चकवियो का विरह हो जाता है) उसी तरह शातिनाथ भगवान् भी पापचक्र—पापो के समूह को व्यथित—नष्ट करने वाले थे। इस प्रकार इस श्लोक मे चन्द्रमा और शान्तिनाथ मे उपमान-उपमेय-भाव होने से उपमालकार स्पष्ट हो जाता है। मृगलाञ्छन और पापचक्र का श्रेष्ठरूपक उसको भारी अवलम्बन पहुँचाता है।

अठारहवे तीर्थंकर अरनाथ का स्तवन करते हुए कवि ने श्लेषानुप्रीणित विरोधाभास अलकार का कितना सुन्दर उदाहरण बनाया है। देखिये—

अराय तस्मै विजितस्मराय, नित्यं नमः कर्मविमुक्तिहेतोः।
यः श्रीसुमित्रातनयोऽपि भूत्वा, रामानुरक्तो न बभूव चित्रम् ॥१८॥

"कर्म बन्धन से छुटकारा पाने के उद्देश्य से मैं कामव्यथा को जीतने वाले उन अरनाथ स्वामी को नमस्कार करता हूँ जो सुमित्रा के तनय—लक्ष्मण—होकर भी रामचन्द्रजी मे अनुरक्त नही हुए थे यह आश्चर्य की बात है। (परिहार पक्ष मे)---सुमित्रा माता के पुत्र होकर भी रामाओ—स्त्रियो मे अनुरक्त नही हुए थे।

लक्ष्मण रामचन्द्रजी मे कितने अनुरक्त थे—उनके कितने भक्त थे? यह रामायण या जैन पद्मपुराण देखने वाले अच्छी तरह जानते हैं परन्तु कवि ने यहा उन दोनो मे अनुरक्ति का अभाव बतलाया है जिससे विरोधाभास अलंकार अत्यन्त स्पष्ट हो गया है सुमित्रा और राम-रामा शब्दो के श्लेष से विरोधालंकार की शोभा अत्यन्त प्रस्फुटित हो उठी है।

विरोधाभास अलंकार का दूसरा नमूना भी देखिये—

तपः कुठार-क्षत-कर्मवल्लि—र्मल्लिर्जिनो वः श्रियमातनोतु।
कुरोः सुतस्यापि न यस्य जातं, दुःशासनत्वं भुवनेश्वरस्य ॥१९॥

'तप रूप कुठार के द्वारा कर्मरूप बेलको काटने वाले वे मल्लिनाथ भगवान् तुम सबकी लक्ष्मी को विस्तृत करे जो कुरुराज के पुत्र होकर भी दु शासन नही थे, (पक्ष मे) दुष्टशासन वाले नही थे।'

मल्लिनाथ भगवान् कुरुराज के पुत्र तो थे परन्तु दु शासन नहीं थे यह विरोध है जिसका बाद मे परिहार हो जाता है। मल्लिनाथ स्वामी के पिता का नाम भी कुरुराज था इसलिये वे कुरुराज के पुत्र तो कहलाये परन्तु दु शासन नही थे—उनका शासन दुष्ट नही था—उनके शासन मे सभी जीव सुख शाति से रहते थे। यहाँ, तप और कुठार, तथा कर्म और बल्लिका रूपक एव बल्लि और मल्लिका अनुप्रास भी दर्शनीय है।

सुराष्ट्र देश की उर्वरा पृथ्वी का वर्णन करते हुए कविराज लिखते हैं—

विराजमानामृणभाभिरामैः ग्रामैर्गरीयो गुणासंनिवेशाम्।
सरस्वतीसंनिधिभाजमुर्वि ये सर्वतो घोषवतीं वहन्ति ॥२३॥

'जो सुराष्ट्र देश, बैलो-द्वारा मनोहर ग्रामो से शोभायमान, गुरुतर गुणो के सनिवेश-रचना या विस्तार से सहित, सरस्वती— नदियो के सामीप्य को प्राप्त और गोपवसतिकाओ से युक्त पृथ्वी को सब ओर से धारण करते है।'

यह तो हुआ प्रकृत अर्थ, अब अप्रकृत अर्थ देखिये, जो कि श्लोकगत समस्त पदो के द्व्यर्थक होने के कारण स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो रहा है—

"जो सुराष्ट्र देश, ऋषभ नामक स्वर विशेष से सुन्दर, ग्राम— स्वरो के समुदाय से विराजित, गुरुतर— श्रेष्ठ अथवा बडी बड़ी तन्त्रियो के सनिवेश से युक्त, तथा सरस्वती देवी के समीप मे स्थित— उसके हाथ मे विलसित मनोहर शब्दयुक्त, विशाल, घोषवती — वीणा को धारण करते है – जिस देश के मनुष्य हर एक प्रकार की चिन्ताओ से विनिर्मुक्त हो हाथ मे वीणा धारण कर संगीत सुधा का पान करते हैं'।

यहा प्रकृत और अप्रकृत अर्थों मे असंगति न हो इसलिये 'वीणा के समान पृथ्वी को धारण करते हैं' यह उपमालंकार व्यङ्ग्यरूप से निकाला गया है। श्लोकगत समस्त पदो का श्लेष-सलिल उस उपमा-लता का सिञ्चन करता है। अथवा जो देश 'घोषवती—वीणा रूप पृथ्वी को धारण किये हुए' यह रूपकालंकार भी माना जा सकता है। उस रूप की सौन्दर्य वृद्धि भी श्लेष के द्वारा ही हो रही है। इस प्रकार कविराज ने सुराष्ट्र देश के वर्णन मे अपने काव्य—कौशल का अनुपम परिचय दिया है।

समुद्र के बीच मे द्वारावती पुरी का वर्णन करते हुए कविराजने श्लिष्टोपमा का कितना सुन्दर उदाहरण तैयार किया है? देखिये—

परस्फूरन्मण्डलपुण्डरीक—च्छायापनीतातपसंप्रयोगैः ।
या राजहंसैरुपसेव्यमाना, राजीविनीवाम्बुनिधौ रराज ।।३७।।

'जो नगरी समुद्र के मध्य मे कमलिनी के समान शोभायमान होती है। जिस प्रकार कमलिनी, विकसित पुण्डरीको— कमलो की छाया से जिनकी आतप - व्यथा शान्त हो गई है ऐसे राजहंसो[1]—हंस विशेषो से सेवित होती है; उसी प्रकार वह नगरी भी तने हुए विस्तृत—पुण्डरीक—छत्रो की छाया से जिनकी आतप व्यवस्था से सब दु ख दूर हो गये हैं ऐसे राजहंसो—वडे वड़े श्रेष्ठ राजाओ से सेवित थी—उसमे अनेक राजा—महाराजा निवास करते थे।

उत्प्रेक्षा का एक सुन्दर नमूना भी देखिये—

एवं विधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन ।
छायाच्छलादच्छ जले पयोधौ प्रचेतसा या लिखितेव रेजे ।।३८।।

"स्वच्छ जल से युक्त समुद्र मे द्वारावती का जो प्रतिविम्ब पड़ रहा था, उससे ऐसा मालूम होता था कि जल देवता वरुण ने, 'मैं भी अपनी राजधानी को इसी के समान सुन्दर बनवाऊँगा' इस कुतूहल से मानो एक चित्र खीचा हो।'

द्वारावती नगरी की स्त्रियो का वर्णन देखिये—

चन्द्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशैरतिहारिहारैः ।
भ्रूभिश्च चापाकृतिभिर्विरेजुः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः ।।३९।।

जहा पर स्त्रिया कामदेव की अस्त्रशाला के समान शोभायमान होती थी। क्योकि स्त्रियाँ अपने कानो मे जो मणि निर्मित कर्णफूल पहिने हुई थी वे चक्र—आयुध विशेष के समान मालूम होते थे, जो सुन्दर हार पहिने हुई थी वे कामदेव के पाश—बन्धन रज्जु के समान मालूम होते थे और जो उनकी प्रणय-कोप से बक्र भौहे थी वे धनुष के समान मालूम होती थी।'

---

१. 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' जिनकी चोच और चरण लाल हो और शेष समस्त शरीर सफेद हो ऐसे हंसो को राजहंस कहते है।

यहां उपमालंकार की विचित्रता और 'शाला' 'बाला' का अनुप्रास दर्शनीय है ।

'रात्रि के प्रथम भाग मे चन्द्रमा का उदय होता है पूर्व दिशा मे ललिमा छा जाती है, थोड़ी देर मे पूर्व दिशा से आगे बढकर चन्द्रमा आकाश मे पहुँच जाता है जिससे उसका प्रतिबिम्ब द्वारावती नगरी के मणिनिर्मित भवनो मे पड़ने लगता है' इस प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन कविराज की अनूठी लेखनी से कितना सुन्दर हुआ है ? देखिये —

प्राचीं परित्यज्य नवानुरागा—मुपेयिवानिन्दुरुदारकान्तिः ।
उच्चैस्तनीं रत्ननिवासभूमिं, कान्तां समाश्लिष्यति यत्र नक्तम् ।।

जहाँ पर रात के समय उत्कृष्ट कान्तिवाला चन्द्रमा, नूतन अनुराग लालिमा से अलंकृत पूर्व दिशा को छोड़कर अत्यन्त उन्नत और मनोहर रत्न-निर्मित महलों की भूमि का आश्लेषण करता है ।'

यहाँ पर कवि ने समासोक्ति अलंकार से यह भाव व्यक्त किया है — 'जैसे कोई उत्कट इच्छा वाला — दक्षिण नायक, नवीन अनुराग-प्रेम से सम्पन्न स्त्री को छोड़कर, उन्नत स्तन वाली किसी अन्य कान्ता स्त्री का आश्लेषण करने लगता है उसी प्रकार चन्द्रमा, नवानुराग युक्त प्राचीको छोड़कर द्वारावती की उच्चैस्तनी उन्नत, रत्न निर्मित निवास-भूमि का आलङ्गन करता था—उसमे प्रतिबिम्बित होता था ।

यहाँ समासोक्ति अलंकार तथा उसके द्वारा प्रकट होने वाली सम्भोगश्रृङ्गार नामक रसध्वनि सहृदय-जन-वेद्य है ।

'अनुराग,' 'उदारकान्ति', 'उच्चैस्तनी', तथा 'कान्ता' शब्द के श्लेष ने, 'नक्तम्' इस उद्दीपक, विभाव-सूचक पद ने, 'प्राची' तथा 'रत्ननिवासभूमि' शब्द के स्त्रीत्व ने एव 'इन्दु' शब्द के पुंस्त्व ने इस श्लोक के सौन्दर्य वर्धन मे भारी हाथ बटाया है ।

परिसंख्या अलंकार का एक नमूना देखिये—

प्रकोपकम्पाधरवन्धुराभ्यो—भयं वधूभ्यस्तरुणेषु यस्याम् ।
कर्पूरकालेयकसौरभाणां, प्रभञ्जनः पौरगृहेषु चौरः ।।४२।।

'जिस द्वारावती नगरी मे रहने वाले युवा पुरुषो को यदि भय होता तो सिर्फ प्रणयकोप से कँपते हुए अधरोष्ठो से शोभित अपनी स्त्रियो से ही होता था—अन्य किसी से नही । इसी तरह नागरिक नरो के घरो मे यदि कोई चोर था तो सिर्फ पवन ही कपूर और कालागुरु चन्दन की सुगन्धि का चौर था और कोई चौर नही था ।'

यहाँ कवि ने यह बतलाता है कि उस नगरी का शासन इतना सुदृढ और सुसंगठित था कि उस पर वाहिर से अन्य शत्रुओ के आक्रमण की जरा भी आशंका नही रहती थी तथा वहाँ के लोग आजीविका आदि से इतने सुखी थे कि कभी किसी को किसी दूसरे की वस्तु को चुराने की इच्छा नही होती थी - जो जिस वस्तु को पाना चाहता था उसे वह वस्तु अनायास-स्वयमेव प्राप्त हो जाती थी ।

यह वर्णनीय वृत्त साधारण है परन्तु कवि के परिसख्या अलकार ने उसकी शोभा को बहुत मोहक बना दिया है।

सुगन्धिनः सनिहिता मुखस्य, स्मितद्युता विच्छुरिता वधूनाम् ।
भृङ्गा बभुर्यत्र भृश प्रसून—संक्रान्तरेणूकरकर्वुरा वा ।।४५।।

स्त्रियो के मुखो की सुगन्धि के कारण जो भौंरे उनके पास पहुच जाते थे वे भौरे उन स्त्रियो की मुसकान की सफेद कान्ति से व्याप्त होने पर ऐसे मालूम होते थे, जैसे मानो फूलो के पराग के समूह से कर्वुर—चित्र विचित्र हो गये हो।

यहाँ तद्गुण तथा उत्प्रेक्षा का सकर दर्शनीय है—

सुभ्रूयुगं चंचलनेत्रवाह, यस्यां स्फुरत्कुण्डल–चारु–चक्रम् ।
आरुह्य जातस्त्रिजगद्विजेता, वधूमुखस्यन्दनमङ्गजन्मा ।।५२।।

'जो, उत्तम भौह रूप युग-जुवारी से सहित है (पक्ष मे उत्तम भौहो के युगल से सहित हैं) चञ्चल नेत्र रूप बाहो—घोडो से युक्त हैं (पक्ष मे चञ्चल नेत्रो को प्राप्त है) और जो कुण्डल रूपी सुन्दर चक्र—आयुध विशेष से शोभित हैं (पक्ष मे चमकते हुए कुण्डलो की चारु परिधि से सहित है)—ऐसे स्त्री के मुख रूपी रथ पर आरूढ होकर कामदेव जिस द्वारावती नगरी मे तीनो लोको का जीतने वाला बन गया था।'

यहाँ 'युग' 'वाह' और 'चक्र' शब्द के श्लेष से अनुप्रीणित वधू मुख और स्यन्दन-रथ का रूपक विशेष दर्शनीय है।

लोग कहते हैं कि कवियो के सामने कोई भी वस्तु असभव नही है—वे अपनी कल्पना से असभव वस्तु को भी सभव कर दिखाते हैं। यही बात है कि कविराज भी आगे के श्लोक मे आकाशगत सुवर्ण कमलो को सभव कर दिखाते हैं। देखिये—

यत्रेन्दुपादैः सुरमन्दिरेषु, लुप्तेषु शुद्धस्फटिकेषु नक्तम् ।
चक्रे स्फुटं हाटककुम्भकोटि—र्नभस्तलाम्भोरुहकोशशङ्काम् ।।

'द्वारावती नगरी मे रात के समय, निर्मल स्फटिक-मणियो के बने हुए देवमन्दिर चन्द्रमा की सफेद किरणो द्वारा लुप्त कर लिये जाते थे—सफेद मन्दिर सफेद किरणो मे तन्मय होकर छिप जाते थे, सिर्फ उन मन्दिरो के सुवर्ण-निर्मित पीले-पीले कलशे दिखलाई पड़ते थे उनसे यह स्पष्ट मालूम होता था कि आकाश मे सुवर्ण-कमल फूले हुए है। (भावानुवाद)

श्लेष और उत्प्रेक्षा के सवर—मेल का उदाहरण देखिये—

यमैक वृत्तेर्घनवाहनस्य, प्रचेतसो यत्र धनेश्वरस्य ।
व्याजेन जाने जयिनो जनस्य, वास्तव्यता नित्य मगुर्दिगीशाः ।।

'उस द्वारावती के रहने वाले मनुष्य यमैकवृत्ति थे—अहिंसा आदि यम-व्रतो को धारण करने वाले थे (पक्ष मे यमराज की मुख्य-वृत्ति को धारण करने वाले थे) । घनवाहन थे—अधिक सवारियो से युक्त थे (पक्ष मे इन्द्र थे), प्रचेतस थे—प्रकृष्ट-उत्तम हृदय को धारण करने वाले थे । (पक्ष मे वरुण थे) और धनेश्वर थे—धन के ईश्वर थे (पक्ष मे कुवेर थे) इसलिये मैं समझता हू कि वहाँ के मनुष्यो के छल से चारो दिशाओ के दिक्पालो ने उस नगरी को अपना निवास स्थान बनाया था ।

[दक्षिण दिशा के स्वामी का नाम यम, पूर्व दिशा के स्वामी का नाम घनवाहन-इन्द्र, पश्चिम दिशा के स्वामी का नाम धनेश्वर—कुबेर है] ।

इस प्रकार कविराज ने बहुत ही सुन्दर रीति से अनेक श्लोको मे द्वारावती नगरी का वर्णन किया है । स्थानाभाव के कारण खास-खास श्लोकों का ही परिचय दिया जा सका है । इसके आगे राजा समुद्रविजय का वर्णन देखिये—

यदर्धचन्द्रापचितोत्तमाङ्गैः रुद्दण्डदोस्ताण्डवमादधानैः ।
विद्वेषिभिर्दत्तशिवाप्रमोदैः, कैः कैर्न दध्रे युधि रुद्रभावः ॥६१॥

'राजा समुद्रविजय के बाणो से जिनका मस्तक कट गया है, जो बचाव के लिये अपनी उद्दण्ड भुजाओ को फडफड़ा रहे हैं तथा भक्ष्य सामग्री प्राप्त होने पर जिन्हो ने शिवा—शृगालियो के लिये हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन-कौन शत्रुओ ने युद्ध मे रुद्रभाव—क्रूरभाव—को धारण नही किया था ? अर्थात् सभी ने किया था ।'

'जिनके मस्तक अर्धचन्द्र से पूजित है, जो अपनी भुजाओ से उद्दण्ड ताण्डव नृत्य करते है, तथा जिन्होने पति होने के कारण शिवा—पार्वती को हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन कौन शत्रुओ ने युद्ध मे रुद्रभाव—महादेवपने का धारण नही किया था ? अर्थात् सभी ने किया था ।'

यहाँ क्रम से लिखे हुए प्रकृत और अप्रकृत अथो का कितना सुन्दर श्लेष है और उससे प्रकट होने वाला 'रुद्रभावः रुद्रभाव इव' यह उपमालकार कवि के जिस काव्यकौशल को प्रकट कर रहा है वह प्रशसनीय है ।

द्वे कौतुके हन्त यदातपत्रच्छायातलस्थायिनि भूतलेऽस्मिन् ।
संतापमापद्यदसाधुवर्गो, यद्वृष्टिरप्यस्खलिता बभूव ॥६३॥

'महाराज समुद्रविजय की छत्रछाया के नीचे रहने वाले भूमितल पर दो आश्चर्यजनक कौतुक हुए थे । पहला यह कि दुष्टमानव–समूह ने सन्ताप को पाया था और दूसरा यह कि वर्षा भी अप्रतिहत–वेरोकटोक रूप से हुई थी ।'

जो मनुष्य छाया के नीचे स्थित होता है उसे धूप तथा जलवृष्टि की वाधा नही होती, परन्तु यहा महाकवि ने, समुद्रविजय की छत्र–छाया के नीचे स्थित उन दोनो बाधाओ को वतलाया है जिससे विरोधा–लकार अत्यन्त स्पष्ट हो गया है । किन्तु उनकी शासन–व्यवस्था मे दुष्ट मनुष्यो का निग्रह होता था इसलिये दुष्टो को दुःख होता था, तथा हमेशा शान्ति हवन आदि होते रहने के कारण समय–समय पर जलवर्षा होती रहती थी, यह अर्थ लेने पर कोई विरोध शेष नही रह जाता ।

यहा वर्णनीय वस्तुमात्र इतनी है कि 'राजा समुद्रविजय के राज्य मे दुष्टो का निग्रह होता था और वर्षा भी समय पर हुआ करती थी ।'

परन्तु कवि ने विरोधालंकार की पुट देकर उसे कितना सुन्दर वना दिया है ।

महाराज समुद्रविजयने शत्रु–राजाओ को अवल–निर्वल वना दिया था, इसका वर्णन देखिये—

'हालापदूरीकृत–कोपलज्जाः सन्नाभिमानास्तनवप्रभावाः ।
मन्त्रप्रयोगादवलाः सहेल येनाक्रियन्त प्रतिपक्षनृपाः ॥६४॥

'हा, हा, इस प्रकार दुःखसूचक शब्दो द्वारा जिन का कोप और लज्जा दूर हो गई है, जिनका अभिमान नष्ट हो गया है, और नवीन प्रभाव अस्त हो गया है ऐसे शत्रु राजाओ को राजा समुद्रविजयने अपने मन्त्र वल–सद्विचारणा के वल से निर्वल वना दिया था ।'

[राजा ने उन्हे निर्वल वना दिया था इसलिये उनकी ऊपर लिखी हुई अवस्था हो गई थी ।] 'हाला–मदिरा के द्वार। जिनका कोप लज्जा दोनो दूर हो गई हैं तथा सुन्दर नाभि के मान से जिन्होंने नव-तरुण पुरुषों के प्रभाव को– धैर्य को नष्ट कर दिया है ऐसे शत्रुओ को राजा समुद्रविजय ने अपने मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग से अवला–स्त्री वना दिया था–यह आश्चर्य की वात है !

यहाँ श्लेप तथा उससे उत्पन्न हुए विरोधाभास अलकार की सुन्दरता कवि के अनोखे काव्य–कौशल को प्रकट कर रही हैं ।

नेमिनिर्वाण-काव्य का सातवाँ सर्ग तो सर्वथा अनूठा है । उसमे 'नानावृत्तमय. क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते' इसी नियम के अनुसार विविध छन्दो द्वारा रैवतक-गिरनार पर्वतका वर्णन किया गया है । माघ कवि ने भी अपने शिशुपालवध' के चतुर्थ सर्ग मे रैवतक गिरि का वर्णन किया है; परन्तु एक दृष्टि से नेमिनिर्वाण का वर्णन उसकी अपेक्षा सुन्दर हुआ है । इस सर्ग की विशेपता यह है कि इसमे पद्य की रचना जिस छन्द मे की गई है, उस छन्द का नाम भी पद्य मे आ गया है । सर्ग मे ५५ पद्य हैं जिनमे ४४ पद्य छन्द नाम से युक्त, अनेक छन्दो मे रचे हैं । वे छन्द नीचे लिखे अनुसार है—

आर्या, शशिवदना, वन्धूक, विद्युन्माला, शिखरिणी, प्रभाणिका, माद्यद्भृङ्ग, हसरुत, रुक्मवती, मत्ता, मालिनी, मणिरङ्ग, रथोद्धता, हरिणी, इन्द्रवज्रा, पृथ्वी, भुजङ्गप्रयात, स्रग्धरा, रुचिरा, मन्दाक्रान्ता, वशस्थ, प्रमिताक्षरा, कुसुम-विचित्रा, प्रियवदा, शालिनी, मौक्तिकदाम, तामरस, तोटक, चन्द्रिका मजुभाषिणी, मत्तमयूर, नन्दिनी, अशोकमालिनी, स्रग्विणी, शरमाला, अच्युत, शशिकलिका, सोमराजी, शार्दूलविक्रीडित, चण्डवृष्टि (दण्डक), द्रुतविलम्बित, प्रहरण-कलिका, भ्रमरविलसिता और वसन्ततिलका ।

---

१. 'हा' इत्यालापेन दूरीकृते कोपलज्जे यैस्ते, हालया मद्येनापदूरीकृते कोपलज्जे याभिस्ता. । सन्नोऽभिमानो येषां ते, अत एवास्तो नवः प्रभावो येषां ते, सुन्दरनाभेर्माननि अस्तो नवाना यूनां प्रभावो– धैर्यरूपो याभिस्ता. । यद्वा सन्नोऽभिमान आ समन्तात्स्तनोच्चत्व यासा ता. । यद्वा सुन्दरो नाभिमानो यासां ताः, स्तनयोर्वप्रभाव उच्चता यासु ताः ।

इनमें कुछ छन्द ऐसे भी है जिनका निरूपण वृत्त-रत्नाकर आदि मे नही मिलता। किन्ही के नाम और लक्षण मे भी भेद आ गया है। यदि कोई सज्जन छन्द.शास्त्र की रचना करें तो उक्त श्लोको के उदाहरण भली-भांति दिये जा सकते हैं।

समस्त छन्द एक से एक बढकर है, उनका रसास्वाद पुस्तक देखने से ही हो सकता है। हम यहा उदाहरण रूप से मात्र चार-छह छन्दो को उद्धृत करते हैं—

मुनिगण-सेव्या गुरुणा युक्तार्या जयति सामुत्र ।
चरणगतमखिलमेव स्फुरतितरां लक्षणं यस्याः ।।२।।

'उस पर्वत पर वह आर्या-गणिनी-तपस्विनी विराजमान है जो कि मुनिसमूह से सेवनीय है, गुरुओ से सहित है और जिसका समस्त लक्षण चारित्राश्रित होकर प्रकाशमान है-जो चरित्र की मूर्ति है।'

यह हुआ प्रकृत अर्थ, अप्रकृत अर्थ देखिये—

'वहा पर वह आर्या छन्द सबसे श्रेष्ठ है जो कि मुनिगणो, सप्तगणो और एक गुरु वर्ण से सहित है तथा जिसका उल्लिखित समस्त लक्षण उसके पदो मे स्पष्ट रूप प्रकाशमान है।'

यह आर्या छन्द है, श्लेष से उसका नाम भी छन्द मे आ गया है।

वनमिह दृष्ट्वा कुसुमसमृद्धम् ।
चरति नगं किं शशिवदनान्यम् ।।३।।

इस पर्वत पर पुष्पो से सम्पन्न वन को देखकर चन्द्रमुखी स्त्री क्या किसी अन्य पर्वत को जाती है ? अर्थात् नही जाती।

यह शशिवदना छन्द है।

यदूनामुत्तंस त्रिदशपरिचर्योक्तमहिमन् सदैवास्मिन् दावज्वलनमतिदूरत्रसदिभम् ।
लसद्विद्युद्दामा प्रशमयति संतापितनुगं पयोधारासारैर्नवजलदमाला शिखरिणी ।।६।।

'देवो द्वारा की गई परिचर्या से जिनकी महिमा अत्यन्त स्पष्ट है ऐसे हे यदुवश के अलकार—नेमिनाथ जिनेन्द्र ! इस पर्वत पर विद्युद्दाम से शोभायमान और अनेक शिखरो से सहित नवीन मेघो की माला जलधारा की अविरल वर्षा के द्वारा उस दावानल को प्रशमित कर रही है—बुझा रही है. जिसमे हस्ती दूर से डरते है और जो अत्यन्त सन्ताप रूप शरीर को प्राप्त है।'

यह शिखरिणी छन्द है।

इह कुसुमसमृद्धे मालिनीभूय सानौ विपुलसकलधातुच्छेद-नेपथ्य-रम्यम् ।
वपुरपि रचयित्वा कुंजगर्भेषु भूयो-विदधति रतिमिष्टैः प्रार्थिता. सिद्धवध्वः ।।१२।।

पुष्पो से सम्पन्न इस शिखर पर सिद्धवधुएँ—देवागनाएँ लतागृहो मे अनेक पुष्पमालाओ को धारण कर तथा शरीर को अनेक धातुखण्डो से सुरम्य बनाकर पतियो द्वारा प्रार्थना किये जाने पर रतिक्रिया करती हैं। यह मालिनी छन्द है।

नलिननयन स्वामिन्नस्मिन्मुनीन्द्रवने सदा स्मरवरतनो नित्योत्फुल्ल-प्रसूनमहीरुहे ।
रविकर-परीतापाच्छायामुपेत्य विसाध्वसा लसति हरिणी सार्धं वध्वा कुरङ्गरिपोऽन्वगम् ॥१५॥

'हे कमल नयन ! हे कामदेव के समान सुन्दर ! हे स्वामिन् ! हमेशा फूले हुये वृक्षो से सहित इस तपोवन मे हरिणी, सूर्य की किरणो के सन्ताप से छाया मे जाकर निर्भय हो सिहनी के साथ शोभायमान हो रही है—सिहनी और हरिणी एक साथ बैठी हैं । परस्पर के विरोधी जीव भी यहा अपना वैरभाव छोड देते है ।'

यह हरिणी छन्द है ।

जपाहितरुचिस्तनुं मदनदर्शनीयामसौ जनप्रमदकारण दधदुपात्तसन्मानसः ।
यशोभिरिव निर्झरैः प्रसरवद्भिराभात्यल गरिष्ठकरुणालय ! त्वमिव देव पृथ्वीगुरुः ॥१८॥

'हे देव ! हे श्रेष्ठ दया के गृह ! पृथ्वी पर महान् विस्तीर्ण यह पर्वत, फैलते हुये यश के समान किरणो के द्वारा आपके समान अत्यन्त शोभायमान हो रहा है । क्योकि जिस प्रकार आप जपाहितरुचि हैं—ध्यान मे रुचि को लगाने वाले है उसी तरह यह पर्वत भी जपाहितरुचि है—जासौन के फूलो से शोभा को धारण करने वाला है । जिस प्रकार आप मनुष्यो के हर्ष के कारण और मदन-दर्शनीय अर्थात् कामदेव के समान सुन्दर शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी मदन-मैनारवृक्षो से सुन्दर शरीराकृति को धारण किये हुए है । और जिस प्रकार आप समीचीनमानस—हृदय—सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी सरोवर—सहित है ।'

यहा पृथ्वी छन्द तथा श्लेषालकार है ।

समकाञ्चनलोष्ठमनुन्मनस, सकलेन्द्रियनिग्रहबद्धरसम् ।
जिन तोटकमागमनस्य भवे, शिरसैष बिभर्ति तपस्विगणम् ॥३३॥

'हे जिनेन्द्र ! यह पर्वत उन तपस्वियो के समूह को धारण करता है जो कि सुवर्ण और पत्थरो मे समान बुद्धि रखते हैं, विषयो की उत्कण्ठा से रहित है, समस्त इन्द्रियो के निग्रह करने मे तत्पर है और ससारभ्रमण के छेदने वाले हैं ।

यह तोटक छन्द है ।

अष्टमसर्ग मे जलक्रीडा नवम मे सूर्यास्त, सध्या तथा चद्रोदय, दशम मे मधुपान आदि, एकादश मे भगवान् नेमिनाथ के लिये श्रीकृष्ण द्वारा राजीमती की प्रार्थना, द्वादशसर्ग मे बारात का जाना, त्रयोदशसर्ग मे बद्ध पशुओ को देखकर नेमिनाथ स्वामी का विरक्त होना तथा उनके पूर्व भवो का वर्णन, चतुर्दशसर्ग मे केवल-ज्ञानोत्पत्ति तथा समवसरण का वर्णन और पद्रहवेसर्ग मे भगवान् के दिव्य उपदेश का वर्णन है ।

ग्रन्थ की समस्त वस्तु बहुत ही रोचक ढग से लिखी गई है—एकदम सरस और पाण्डित्य से पूर्ण है । छोटे से लेख मे सबका उद्धरण करना अशक्य है । काव्यरसास्वाद के इच्छुको को ग्रथ उठाकर उसका अध्ययन करना चाहिये ।

पुरुदेवचम्पू और अर्हद्दास

पुरुदेवचम्पू का आधार

वृषभदेव का विस्तृत चरित्र जिनसेनाचार्य ने महापुराण (आदिपुराण) मे लिखा है उसी के आधार पर कविवर अर्हद्दासजी ने 'पुरुदेवचम्पू' की रचना की है। पुरुदेवचम्पू की पीठिका (श्लोक ६-१०) मे कविवर अर्हद्दास जी ने आचार्य जिनसेन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये लिखा है कि—

अमृत तरंगिणी के सदृश प्रसिद्ध कोमल वचन पंक्ति से युक्त तथा फैलती हुई कीर्ति से सहित वे पूर्व कवि कल्याण करे जिन्होने किसी अन्य के द्वारा अखण्डित संसार सम्बन्धी सन्ताप को समूल नष्ट करने वाली, आदिजिनेन्द्र की कथारूप अमृत का स्रोत प्रकट किया है।

आदिजिनेन्द्र की उत्कृष्ट कथा के रस से सुपरिचित मेरी जिह्वा उन गुरुओ की स्तुति करे जिनके कटाक्ष रूप अमृत के सेचन से मेरी सुभाषितलता सुपुष्पित हुई है।

प्रतिवादियो की प्रगल्भतारूप उन्नत शिखर को गिराने के लिये जो वज्र के समान समर्थ है, तथा विकसित मालती लता के कुसुम रस की सुगन्ध सन्तति को छोडने वाली वाणी जो कदलीफल सम्बन्धी मधुर रस की चोरी मे चतुर है, ऐसे श्रीमन्त जिनसेनाचार्य गुरु जयवन्त हो।

वास्तव मे जिनसेन स्वामी ने महापुराण की रचना कर जैनजगत् का महान् उपकार किया है तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओ के लिए सुयोग्य सामग्री प्रदान की है।

पुरुदेवचम्पू के रचयिता कवि अर्हद्दास

पुरुदेवचम्पू प्रबन्ध के रचयिता अर्हद्दास जी है। इनके द्वारा रचित पुरुदेवचम्पू, मुनिसुव्रतकाव्य तथा भव्यकण्ठाभरण ये तीन ग्रन्थ उपलब्ध है। इन तीनो के अन्त मे इन्होंने जो सक्षिप्त प्रशस्तिया दी है उनमे प० आशाधर जी का बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। यथा—

मिथ्यात्वपङ्ककलुषे मम मानसेऽस्मि—
न्नाशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।
उल्लासितेन शरदा पुरुदेवभक्त्या
तच्चम्पुदम्भजलजेन समुज्जजृम्भे ॥

—पुरुदेवचम्पू।

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिधानभूते।
आशाधरोक्तिलसदञ्जनसंप्रयोगैः
स्वच्छीकृते पृथुलसत्सत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥६५॥

—मुनिसुव्रत काव्य।

सूक्त्यैव तेषां भवभीरवो ये गृहाश्रमस्थाश्चरितात्मधर्माः।
त एव शेषाश्रमिणां सहायधन्याः स्युराशाधरसूरिवर्याः ॥

—भव्यकण्ठाभरण।

इन प्रशस्तियो के आधार पर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला वम्बई से प्रकाशित पुरुदेवचम्पू की प्रस्तावना मे उसके सम्पादक श्री प० जिनदास जी शास्त्री ने यह सम्भावना प्रकट की है कि अर्हद्दास जी प० आशाधर के शिष्य थे। परन्तु श्री प० के० भुजबली शास्त्री[1] और स्व० प० नाथूरामजी प्रेमी ने[2] इस कल्पना मे अपनी असहमति प्रकट की है। यदि यह आशाधर जी के शिष्य हैं तो यह भी विक्रम की तेरहवी शती के अन्तिम और चौदहवी शती के प्रथम चरण के विद्वान सिद्ध होते हैं। इनके विषय की अन्य जानकारी अप्राप्त है।

श्री प० नाथूरामजी प्रेमी ने सागारधर्म की प्रस्तावना मे मुनिसुव्रत काव्य की प्रशस्ति के—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परं—
त्यक्त्वा श्रान्ततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात्
पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥६४॥

मिथ्यात्व कर्मपटलैश्·········॥६५॥

अर्थात्—कुमार्गो से भरे हुए ससाररूपी वन मे जो एक श्रेष्ठमार्ग था, उसे छोडकर मैं बहुत काल तक भटकता रहा। अन्त मे बहुत थककर किसी तरह काललब्धिवश उसे फिर पाया। सो अव जिन-वचन रूप क्षीरसागर से उद्धृत किये हुये धर्मामृत (आशाधर के धर्मामृत शास्त्र ?) को सन्तोषपूर्वक पी-पीकर और विगत श्रम होकर मैं अर्हद्भगवान् का दास होता हूँ ॥६४॥

कर्म-पटल से बहुत काल तक ढँकी हुई मेरी दोनो आँखें जो कुमार्ग मे ही जाती थी, आशाधर की उक्तियो के विशिष्ट अजन से स्वच्छ हो गयी और इसलिए अब मै सत्पथ का आश्रय लेता हू ॥६५॥

—इन श्लोको के आधार पर यह अनुमान किया है कि सम्भवत. यह अर्हद्दास, वह मदनकीर्ति यतिपति जान पड़ते हैं जिनके विषय मे राजशेखर सूरि के 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध मे' यह उल्लेख किया गया है कि मदनकीर्ति, वादीन्द्र विशालकीर्ति के शिष्य थे। वे बड़े भारी विद्वान् थे। चारो दिशाओ के वादियो को जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-चूडामणि' पदवी प्राप्त की थी। एक बार गुरु के निषेध करने पर भी वे दक्षिणा-पथ को प्रयाण कर कर्नाटक मे पहुचे। वहा विद्वत्प्रिय विजयपुर नरेश कुंतिभोज उनके पाण्डित्य पर मोहित हो गये और उन्होने उनसे अपने पूर्वजो के चरित्र पर एक ग्रन्थ निर्माण करने को कहा। कुतिभोज की कन्या मदनमजरी सुलेखिका थी। मदन कीर्ति पद्य रचना करते जाते थे और मदमजरी पर्दे की ओट मे बैठकर उसे लिखती जाती थी।

कुछ समय मे दोनो के बीच प्रेम का आविर्भाव हुआ और वे एक-दूसरे को चाहने लगे। जब राजा को इसका पता लगा तो उसने मदनकीर्ति का वध करने की आज्ञा दे दी। परन्तु जब उनके लिये कन्या भी अपनी सहेलियो के साथ मरने को तैयार हो गयी, तब राजा विवश हो गया और उसने दोनो

१. मुनिसुव्रत काव्य की प्रस्तावना।
२. सूरत से प्रकाशित सागारधर्मामृत की प्रस्तावना।

का विवाह कर दिया। मदनकीर्ति अन्त तक गृहस्थ ही रहे और विशालकीर्ति के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी प्रबुद्ध नहीं हुए।

क्या यही मदनकीर्ति ही तो कुमार्ग मे ठोकरें खाते-खाते अन्त मे आशाधर की सूक्तियों से अर्हद्दास न बन गये हो। मुनिसुव्रत काव्य की प्रशस्ति के ६४ वें श्लोक से इस विचारधारा को बहुत कुछ पुष्टि मिलती है। फिर 'अर्हद्दास' यह नाम भी विशेषण जैसा ही जान पडता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो। एक बात यह भी विचारणीय है कि अर्हद्दास जी के ग्रन्थो का प्रचार प्राय· कर्नाटक प्रान्त मे ही रहा है जहाँ कि वे 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' के उल्लेखानुसार सुमार्ग से पतित होकर रहने लगे थे। सत्पथ पर पुनः लौटने पर उनका वही रह जाना सम्भव भी प्रतीत होता है।

प्रेमी जी की इस कल्पना के सन्दर्भ मे इतना ही लिखना है कि अन्य प्रबल प्रमाणो के बिना उस पर विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है।

पुरुदेवचम्पू से अन्यत्र उद्धरण

कविवर अर्हद्दासजी की कविता प्रसाद आदि गुणों से परिपूर्ण तथा उपमा-रूपक आदि अलंकारों से अलंकृत है। पुरुदेवचम्पू तो श्लेष के चक्र मे पड जाने से दुरूह हो गया है परन्तु मुनिसुव्रत काव्य, कवि की नैसर्गिक वाग्धारा मे प्रवाहित होने के कारण अपने प्रसाददि गुणो को सुरक्षित रख सका है। इसके अलकार भी यथास्थान शोभा पाते हैं। यही कारण है कि अलंकारचिन्तामणि मे इसके कितने ही श्लोक उदाहरण के रूप मे उद्धृत किये गये है। जैसे प्रथम सर्ग का निम्नाकित द्वितीय श्लोक, अलंकारचिन्तामणि मे भ्रान्तिमान् अलंकार के उदाहरण मे उद्धृत किया गया है—

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गकान्तिं ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः।
चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥२॥

अत्र चन्द्रप्रभाङ्गकान्तौ ज्योत्स्नाबुद्धिः ज्योत्स्ना सादृश्यं विना न स्यादिति सादृश्यप्रतीतौ भ्रान्तिमदलंकारः।
अलकार चिन्तामणि. पृष्ठ ५६

प्रथम सर्ग के निम्नाकित ३१ और ३२ वें श्लोक अलंकारचिन्तामणि के पंचम परिच्छेद के इस प्रकरण मे समुद्धृत हैं—

मुक्तागुणच्छायमिषेण तन्व्याः रसेन लावण्यमयेन पूर्णे।
नाभिह्रदे नाथनिवेशितेन विलोचनेनानिमिषेण जज्ञे ॥ ३१ ॥
अमर्षणायाः श्रवणावतंसमपाङ्गविद्युद्विनिवर्तनेन।
स्मरेण कोषादवकृष्यमाणं रथाङ्गमुर्वीपतिराशशङ्के ॥ ३२ ॥

प्रथम सर्ग का चौतीसवाँ श्लोक, अलंकार चिन्तामणि मे परिसंख्या अलंकार के उदाहरण मे उद्धृत किया गया है—

श्लेषेऽपि चारुत्वातिशयरूपा परिसंख्या यथा—

यत्रार्तवत्त्वं फलिताटवीषु पलाशितादौ कुसुमेऽपरागः ।
निमित्तमात्रे पिशुनत्वमासीन्निरौष्ठ्यकाव्येष्वपवादिता च ॥ ८६ ॥

ऋतु॰ प्राप्त आसामटवीना आर्तवास्तासा भाव॰ । आर्तवतो दु खवतो भावश्च । द्रौ द्रुमे पर्णवत्ता मासभक्षित्व च । पराग पुष्परज अपराग॰ सतोपाभाव परेषामागोऽपरावो वा । शुभाशुभ—सूचकत्व कर्णेजपत्व च । पश्च वश्च पवौ आदी येषा ते पवादय । पकारादय ओष्ठ्यवर्णा न एषा तानि अपवादीनि तेषा भावस्तत्ता निन्दा वादिता च ।

—अलकार॰, पृष्ठ ६१

द्वितीय सर्ग का निम्नाकित ३३ वाँ श्लोक अलकार चिन्तामणि मे प्रेयोऽलकार और संसृष्टि अलकार के उदाहरण मे समुद्धृत है—

रहस्सु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः सहासगर्जाः क्षितिपालवध्वाः ।
सकोपकन्दर्पधनुष्प्रमुक्तशरौघहुकाररवा इवाभुः ॥ ३३ ॥

अत्र शृङ्गाररसस्य पोषणम् । एव रसान्तरेष्वपि योज्यम् । —पृष्ठ ६४

उपमारसवदलकारयो ससृष्टि । —पृष्ठ ६८

१४००ई॰ के पूर्वभाग के विरचित साहित्यदर्पण मे विश्वनाथ कविराज के द्वारा उद्धृत निम्न श्लोक—

लग्नं रागावृताङ्गचा सुदृढमिह यथैवारिकण्ठे पतन्त्या
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किंचिद् गणयति विदित तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्य. श्रीनियोगात् गदितुमिति गतेवाम्बुधि यस्य कीर्तिः ॥

—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद

पुरुदेवचम्पू के इस श्लोक की छायारूप है—

मातङ्गोपरि सपतन्त्यनुदिन श्यामा कृपाणीलता सद्धाराञ्चितया तथा परवशो नान्या समालोकते ।
मां भृत्येषु नियुक्तवान्निधिपतिस्तात श्रुत तेऽस्त्वितिश्रीवार्ता गदितुं ध्रुवं जलनिधि यत्कीर्तिराटीकत ॥३॥

—पुरुदेव—स्तबक १०

पुरुदेवचम्पू का काव्यात्मक अन्तःपरिचय

पुरुदेवचम्पू मे दश स्तबक हैं । जिनमे प्रारम्भ के ३ स्तवको मे पुरुदेव भगवान् आदिनाथ के पूर्वभवो का वर्णन किया गया है । शेष स्तवको मे भगवान् आदिनाथ और उनके पुत्र भरत तथा बाहुवलीका चरित्रचित्रण किया गया है । ग्रन्थ का कथाभाग अत्यन्त रोचक है, उस पर कवि ने उसे अपनी कलम से और भी रोचक बना दिया है यही कारण है कि सस्कृत साहित्य मे इसका अनूठा स्थान माना जाता है ।

कवि की नई-नई कल्पनाओं तथा श्लेष, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारो के पुटने इसके गौरव मे चार चाँद लगा दिये है । कितने ही श्लेष तो इतने कौतुकावह है कि अन्यत्र उनका मिलना असम्भव-सा है । ग्रन्थ का प्रत्येक भाग सरस और चुटीला है । ज्यो-ज्यो ग्रन्थ आगे बढता जाता है त्यो-त्यो उसकी भाषा और भाव मे प्रौढ़ता आती जाती है । इस कथन की पुष्टि के लिये कुछ समुद्धरण आवश्यक हैं ।

प्रारम्भ मे मगलपीठिका के तीन श्लोक देखिए, जिनमे क्रम से वृषभजिनेन्द्र और कल्पवृक्ष, आदि जिनेन्द्र और सूर्य तथा आद्यजिनपति और चन्द्रमा के रूपक को श्लेष का पुट देकर कितना आकर्षक बनाया गया है ।

मगलपीठिका के अन्त मे कवितारूपी लता का रूपकालकार के द्वारा अत्यन्त सुन्दर वर्णन है ।

अलकानगरी के वर्णन मे श्लेष का चमत्कार देखिए—

'या खलु धनश्रीसम्पन्ना निभृतसामोदसुमनोऽभिरामा, सकलसुदृग्भि शिरसा श्लाघ्यमानमहिमा, विविधविचित्रविशोभितमालाढ्या, अलकाभिधानमर्हति' ।

जो नगरी अलकाभिधान–अलका इस नाम को (पक्ष मे, अलक–केश इस नाम को) धारण करने के योग्य है क्योकि यह धनश्रीसम्पन्ना–अत्यधिक लक्ष्मी से सम्पन्न है (पक्ष मे, मेघ के समान शोभा से युक्त है—कृष्णवर्ण है), निश्चल तथा हर्ष से भरे हुए विद्वानो से मनोहर है (पक्ष मे, धारण किये हुए सुगन्धित फलो से मनोहर है, समस्त सुदृग्–विद्वान् (पक्ष मे, समस्त स्त्रियाँ) अपने मस्तक से जिसकी महिमा का यशोगान करते है और विचित्र तथा विशोभी–तमालो–तमाल वृक्षो से युक्त है (पक्ष मे, नाना रग की सुशोभित मालाओ से सहित है ।

अतिबल राजा की मनोहरा नामक रानी का वर्णन करते हुए जो 'यस्या किल मृदुलपदयुगल गमनकलाविलासतिरस्कृतहसकमपि विश्वस्तलालितहसक' (पृ० १४)

गद्य खण्ड दिया है उसमे विरोधाभास अलकार कितना साकार हुआ है यह देखने के योग्य है ।

राजा महाबल का वर्णन करते समय जो गद्यपक्तियाँ अवतीर्ण की हैं (पृ० १९) उन पक्तियो मे परिसख्यालंकार कितना स्पष्ट है तथा श्लेषालकार ने उसे कितना विकसित किया है यह दर्शनीय है—

त्रिदशोपसेवितो यः प्राज्यविराजितरुचिर्महामेरु. ।
लक्ष्मीविलासगेहे जम्बूद्वीपे विभाति दीप इव ।।४८।।

यहाँ सुमेरु के वर्णन मे रूपक और श्लिष्टोपमा का चमत्कार देखिए कितना सुखद है ।

ललितागदेव की स्वयप्रभा देवी के वर्णन मे देखिए श्लेषोपमा ने कितना स्पष्ट रूप प्राप्त किया है (देखिए श्लोक ७१–७२)

द्वितीय स्तवक मे पाणिग्रहण के लिए उद्यत श्रीमती की नेपथ्य रचना देखिए—(पृ. ८७) जहाँ उत्प्रेक्षा, श्लेष और उपमा ने कितना चमत्कार दिखलाया है ।

संयोगश्रृंगार के (श्लोक ६७) वर्णन मे अतिशयोक्ति का चमत्कार देखिये जहाँ उपमेय का अभाव कर मात्र उपमान को शेष रखा गया है ।

इसी सन्दर्भ का असगति अलंकार (श्लोक ६८) भी द्रष्टव्य है ।

तृतीय स्तवक (पृष्ट १३२) मे वचनश्लेप, उपमा और परिसख्या की महिमा देखिए ।

अहमिन्द्र के वर्णन (पृ १३६) मे विरोधाभास और व्यक्तिरेक का सम्मिश्रण देखिए कितना सुन्दर है। चतुर्थ स्तवक से भगवान् वृषभदेव की कथा का प्रारम्भ होता है । यहाँ कवि ने मरुदेवी के नख-शिख वर्णन मे अपनी काव्य प्रतिभा का अपूर्व प्रदर्शन किया है (श्लेक ११) । मरुदेवी के नखो का वर्णन देखिए जहाँ नक्षत्र और राशियो को माध्यम बनाकर कितना सुन्दर विरोधाभास दिया है ।

सस्कृत मे अब्ज शब्द के तीन अर्थ है कमल, चन्द्रमा और शग्व । यहाँ मरुदेवी के नेत्र, मुख और कण्ठका वर्णन करने के लिए (श्लोक १३१) उन तीनो को देखिए, कितनी सुन्दरता के साथ एकत्रकर सजोया है ?

अयोध्या नगरी के वर्णन मे (पृ. १४८) अनन्वय श्लेप, विरोध और व्यतिरेक को किस खूबी के साथ एक साथ बैठाया है यह देख कवि की काव्य प्रतिभा पर आश्चर्य प्रकट होता है ।

मरुदेवी का स्वप्न दर्शन और षट्कुमारिका देवियो का विनोदोक्ति सन्दर्भ कवित्व की दृष्टि से बेजोड है । एक देवी की विनोदोक्ति देखिए (श्लोक ३६) कितनी मनोरम है जहाँ आदि मे रूपयुता— सौन्दर्य से युक्त द्राक्षावली, आदि मे 'रु' अक्षर से युक्त होकर रुद्राक्षावली और मध्य मे अधिका सिता, ककार से युक्त होकर सिकता बन गयी ·· कितनी चमत्कारपूर्ण उक्ति है ।

भगवान् वृषभदेव के जन्मोत्सव के प्रसग मे सुमेरुपर्वतका वर्णन करते हुए कवि ने जो पद्य और गद्य लिखे है उनमे उनकी काव्यप्रतिभा कितनी साकार हुई है, देखिये (श्लोक ६६—६८ व गद्य पृ १८२) ।

यह सुमेरु शैलका वर्णन, कवि ने सौधर्मेन्द्र के द्वारा, ऐशानेन्द्र आदि को लक्ष्य कर कराया है अत सौधर्मेन्द्र की उक्तिका गौरव सुरक्षित रखने का ध्यान रखा गया है।

पचम स्तवक मे जन्माभिषेक का जल लाने के लिए देवपक्तियाँ क्षीरसागर पहुँचती हैं उस समय श्लेषोपमा विरोध और व्यतिरेक के माध्यम से कवि ने क्षीरसागर का वर्णन करने के लिए (पृ १९१) जो गद्य-पक्तियाँ लिखी हैं वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं ।

जिनबालक वृषभदेव का अभिषेक, इन्द्र ने क्यो किया ? इसकी कल्पना करते हुए कवि ने जो (पृ १९६) गद्य पक्तिया लिखी है वे कवि की काव्यप्रतिभा का जीता जागता आदर्श है ।

अभिषेक के बाद बिखरे हुए जल का तथा इन्द्र के द्वारा किये हुए ताण्डव नृत्य का वर्णन भी कवि ने अनुपम काव्य शैली मे किया है । इन्द्रकृत भगवान् का स्तवन साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण

है। जिन बालक की बालचेष्टाओं का वर्णन, यद्यपि धर्मशर्माभ्युदय से प्रभावित है, तथापि अपनी विशेषता पृथक् रखता है।

षष्ठ स्तबक मे भगवान् वृषभदेव की युवावस्था का वर्णन करते हुये शिखा से लेकर नख तक वर्णन किया गया है। उसमे कवि की काव्यप्रतिभा का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। मुख का वर्णन देखिये (श्लोक ३ व गद्य पृ. २२४) कितना कल्पनापूर्ण है।

पिता नाभिराज की प्रार्थना स्वीकृत कर युवा वृषभदेव ने यशस्वती और सुनन्दा के साथ विवाह किया। यशस्वती ने स्वप्नदर्शनपूर्वक गर्भधारण किया। शुभमुहूर्त मे भरत को जन्म दिया। भरत का वर्णन करते हुये कवि ने जो आर्यायुगल (३७–३८) लिखा है उसका चमत्कार देखिये।

यशस्वती ने भरत के अनन्तर निन्यानवे पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री को भी उत्पन्न किया और सुनन्दा ने बाहुबली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री को जन्म दिया। भगवान् ने अपने पुत्र–पुत्रियो को अनेक प्रकार की शिक्षा दी। कल्पवृक्षो के नष्ट होने पर प्रजा मे सकट की स्थिति आ गयी। नाभिराजा प्रजाजनो को साथ लेकर भगवान् आदिनाथ के पास गये। उन्होने सबको सान्त्वना देते हुये इन्द्र के सहयोग से कर्मभूमि की रचना की। इन्द्र ने भगवान् का राज्याभिषेक किया। राज्याभिषेक के अवसर पर सुवन्दीजनो के मुख से राजा वृषभदेव की जो स्तुति की गयी है उसमे कवि ने कितना कौशल दिखाया है यह पद्य १३–१४ व १५ मे देखिये।

बाहुबली के सौन्दर्य और शौर्य के वर्णन मे कवि की श्लेषप्रतिभा का चमत्कार देखिये (स्तबक ६ श्लोक ४६)

भगवान् की राज्यावस्था और राज्यशासन की कुशलता का वर्णन करते हुये देखिये कितना श्लेषात्मक तथ्य का वर्णन हुआ है। (स्त ७, २१) श्लेषमूलक विरोधाभास का कितना सुन्दर उदाहरण है यह।

कदाचित् सभा मे बैठे हुये भगवान्, नीलाजना नामक सुरनर्तकी का नृत्य देख रहे थे कि अकस्मात् उसकी आयु समाप्त हो गयी। उसका विलय देख भगवान् ससार से विरक्त हो गये। वे संसार की अनित्यता का विचार करने लगे। लक्ष्मी के विषय में उनका हृदय क्या सोचने लगा यह श्लोक २६ मे देखिये।

लौकान्तिकदेव आकर भगवान् के वैराग्यचिन्तन का समर्थन करते हैं। अन्त मे भगवान् ने भरत का राज्याभिषेक कर चार हजार राजाओ के साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। देवो ने भगवान् का दीक्षा कल्याणक किया।

नमि और विनमि के लिये धरणेन्द्र ने विजयार्ध का राज्य प्रदान किया। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ और श्रेयास ने भगवान् को एक वर्ष की तपस्या के बाद इक्षुरस का आहार दिया। एक हजार वर्ष की मौन तपस्या के बाद भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र का आदेश पाकर कुवेर ने समवसरण की रचना की। कविवर अर्हद्दास जी ने समवसरण के वर्णन मे अपनी काव्यप्रतिभा को बड़ी कुशलता से साकार किया है। समवसरण सभा जिस वनचतुष्टय से सुशोभित थी उसे श्लिष्टोपमालंकार से कैसा अलकृत किया गया है, यह देखने के योग्य है (पृ. ३०१)।

समवसरण मे विराजमान वृषभजिनेन्द्र का स्तवन इन्द्र के मुख से देखिए कितना सुन्दर बन पडा है स्तोता और स्तुत्य—दोनो की अनुरूपता पर कवि ने पूर्ण ध्यान रखा है (स्त. ८, श्लोक ३८-४१)।

वीतराग जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि सुनकर भरत राजा सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को प्राप्त हुए त समस्त सभा परम धैर्य को प्राप्त हुई। दिव्यध्वनि के अनन्तर भगवान् का आर्यखण्ड मे विहार हुआ अन्तिम समय वे कैलास पर्वत पर आरूढ हुए।

समवसरण से वापस आकर भरत ने पुत्र जन्म तथा चक्ररत्न की प्राप्ति का उत्सव किया। शर ऋतु मे सम्राट् भरत ने दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया। उस सन्दर्भ मे शरद् ऋतु का वर्णन दे कितना सुन्दर हुआ है (स्त. ६, श्लोक ३)।

सम्पूर्ण नवम स्तबक, सेना के वैभव और दिग्विजय की विविध घटनाओ के वर्णन से भरा हुआ है। कवित्व की धारा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक-सी प्रवाहित हुई है। जान पडता है कवि का हृदय अनन्त शब्दो के भाण्डार से परिपूर्ण है। चारो दिशाओ मे भ्रमण करने के बाद चक्रवर्ती भरत कैलास पर्वत पर पहुचते हैं और वहा श्री आदिजिनेन्द्र के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

अयोध्या के गोपुर मे जब चक्ररत्न ने प्रवेश नही किया तब पुरोहित के द्वारा उसका कारण जानकर बाहुवली के पास दूत भेजा गया। बाहुबली द्वारा भरत की अधीनता स्वीकृत न किये जाने पर मन्त्रियो के विमर्शानुसार दोनो भाइयो मे नेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और बाहुयुद्ध हुये। तीनो युद्धो मे प्राप्त पराजय से खिन्न होकर भरत ने बाहुवली पर चक्ररत्न चला दिया। परन्तु वह भी उनका कुछ कर न सका, अन्त मे उन्होने ससार से विरक्त होकर दीक्षा धारण कर ली। भरत ने षट्खण्ड भरत क्षेत्र का राज्य शासन सँभाला।

अन्त मे श्री वृषभ जिनेन्द्र का कैलास पर्वत से निर्वाण हुआ, देवो ने निर्वाण कल्याण का उत्सव किया।

इस प्रकार इस अल्पकाय काव्य मे कवि ने बड़ी कुशलता के साथ सम्पूर्ण आदिपुराण का समावेश किया है और इस खूबी से किया है कि पुराण का रूप बदलकर एक काव्य की सजीव प्रतिमा सामने खडी कर दी है।

पुरुदेवचम्पू पर अन्य कवियों का प्रभाव (आदान-प्रदान)

तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि अर्हद्दास जी ने बाणभट्ट की कादम्बरी, तथा हरिचन्द्रके धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पूका अच्छी तरह आलोडन करने के बाद ही पुरुदेवचम्पू की रचना की है। जिनसेन का आदिपुराण तो इसका मूलाधार है ही अत उसकी कल्पनाओ और कही-कही पर शब्दो का सादृश्य पाया जाना सब तरह सम्भव है। कादम्बरी की निम्नाकित पक्तियाँ देखिए—

यस्या च सन्ध्यारागारुणा इव सिन्दूरमणिकुट्टिमेषु, प्रारब्धकमलिनीपरिमण्डला इव मरकतवेदिकासु, गगनपर्यस्ता इव वैडूर्यमणिभूमिषु, तिमिरपटलविघटनोद्यता इव कृष्णागुरुधूममण्डलेषु, अभिभूततारकापङ्क्तय इव मुक्ताप्रालम्बेषु, विकचकमलचुम्बिन इव नितम्बिनीमुखेषु, प्रभातचन्द्रिकामध्यपतिता इव स्फटिकभित्ति-

प्रभासु, गगनसिंधुतरङ्गावलम्बिन इव सितपताकांशुकेषु, पल्लविता इव सूर्यकान्तोपलेषु, राहुमुखकुहरप्रविष्टा इवेन्द्रनीलवातायनविवरेषु विराजन्ते रविगभस्तय ।

—कादम्बरी, निर्णयसागर बम्बई का अष्टम संस्करण, पृष्ठ ११६–११७

इसका पुरुदेवचम्पू की 'यत्र च जिनभवने' आदि (पृ. ६५)पङ्क्तियो से तुलना कीजिए ।
कादम्बरी का विलासवती वर्णन देखिए—

अथ तस्य चन्द्रलेखेव हरजटाकलापस्य, कौस्तुभप्रभेव कैटभारातिवक्षःस्थलस्य वनमालेव मुसलायुधस्य वेलेव सागरस्य, मदलेखेव दिग्गजस्य, लतेव पादपस्य, पुष्पोद्गतिरिव सुरभिमासस्य, चन्द्रिकेव चन्द्रमसः कमलिनीव सरसः, तारापङ्क्तिरिव नभसः, हंसमालेव मानसस्य, चन्दनवनराजिरिव मलयस्य, फणामणिशिखेव शेषस्य, भूषणमभूत्त्रिभुवन विस्मयजननी जननीव वनिताविभ्रमाणा सकलान्त. पुरप्रधानभूता महिषी विलासवती नाम ।

—कादम्बरी उक्त सस्करण, पृष्ठ १३५ ।

इसके साथ पुरुदेवचम्पू का 'सा खलु बिम्बौष्ठी' आदि मरुदेवीवर्णन देखिए (पृ. १४१) ।
कुछ सन्दर्भ धर्मशर्माभ्युदय के देखिए—

प्रस्थैरदुःस्थैः कलितोऽप्यमानः पादैरमन्दैः प्रसृतोऽप्यगेन्द्रः ।
मुक्तो वनैरप्यवनः श्रितानां यः प्राणिनां सत्यगम्यरूपः ।। (ध० श० १०।५)

इसका 'गान्धिलविष्टपे' आदि वर्णन (पृ ८) से तुलना कीजिये—

अवकरनिकुरम्बे मारुतेनापनीते – कुरुत घनकुमाराः साधु गन्धोदवृष्टिम् ।
तदनु च मणिमुक्ताभङ्गरङ्गावलीभि–र्विरचयत चतुष्कं सत्वर दिक्कुमार्यः ।।

स्वयमयमिह धत्ते छत्रमीशाननाथ–स्तदनुगतमृगाक्ष्यो मङ्गलान्युत्क्षिपन्तु ।
जिन सविधममर्त्या नर्तिताबालवाल–व्यजनविधिसनाथाः सन्तु सानत्कुमाराः ।।

वलिफलकुसुमस्रग्गन्धधूपाक्षताद्यैः, प्रगुणयत विचित्राण्यम्रपात्राणि देव्यः ।
सलिलमिह पयोधेरेष्यति व्यन्तराद्याः, पटुपटहमृदङ्गादीनि तत्सज्जयन्तु ।।

प्रवणत वरवीणा वाणि रीणासि कस्मात्किमपरमिह ताले तुम्बरो त्व वरोऽसि ।
इह हि भरतरङ्गाचार्यविस्तार्यरङ्ग त्वरयसि नटनार्यं किं न रम्भामदम्भाम् ।।

समुचितमिति कृत्यं जैनजन्माभिषेके त्रिदशपतिनियोगाद् ग्राहयन्ताग्रहेण ।
कलितकनकदण्डोद्दण्डदोर्दण्डचण्ड. सुरनिवहमवादीद् द्वारपालः कुबेर ।। (कुलकम्)

(ध० श० ८।५–६)

इसे प्रस्तुत चम्पू के 'तदनु जिनेन्द्रजन्माभिषेक' आदि (पृ. १८८) से मिलाइये।

अभ्युपात्तकमलैः कवीश्वरैः सश्रुतं कुवलयप्रसाधनम्।
द्रावितेन्दुरसराशिसोदर सच्चरित्रमिव निर्मलं सर.॥
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुरं सज्जनक्रमकरं समन्ततः।
अब्धिमुग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत पतिमिवावनीभुजाम्॥

यह 'निजवल्लभमिव' (पृ १५४) आदि पक्तियो से तुलनीय है।

सिक्तः सुरैरित्यमुपेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽथ स नन्दनद्रुमः।
छाया दधत्काञ्चनसुन्दरीं नवां सुखाय वप्तुः सुतरामजायत॥ (ध० श० ६।१)

इसका मिलान प्रस्तुत 'जिननन्दनद्रुमोऽय' आदि (५,३१) श्लोक से कीजिए।

रेखात्रयेणेव जगत्त्रयाधिका विरूपयन्त निजरूपसपदम्।
तत्कण्ठमालोक्य ममज्ज लज्जया विशीर्यमाणः किल कम्बुरम्बुधौ॥ (ध० श० ६/२५)

इसे 'भुवनत्रितयातिशायिशोभा' आदि (६–८) से मिलाइये।

अजस्रमासीद्घनसपदागमो न वारिसपत्तिरदृश्यत क्वचित्।
महौजसि त्रातरि सर्वतः सता सदा पराभूतिरभूदिहाद्भुतम्॥ (ध० श० १८।६२)

इसे 'तदा देवे पृथ्वीमवति' आदि पद्य (७, २१) से मिलाकर देखिए।
इसी प्रकार मिलाइए—

औत्सुक्यनुन्ना शिशुमप्यसंशयं चुचुम्ब मुक्तिर्निभृतं कपोलयोः।
माणिक्यताटङ्ककरापदेशतस्तथाहि ताम्बूलरसोऽत्र सगतः॥६॥
—धर्मशर्मा० सर्ग ६, पु. च. ५, ३७।

क्रमेण सोऽयं मणिकुट्टिमाङ्गणे नखस्फुरत्कान्तिझरीभिरञ्चते।
स्खलत्पद कोमलपादपङ्कजक्रमं ततान प्रसवास्तृते यथा॥१०४॥
—जीवन्धरचम्पू, लम्ब १, पु. च. ५, ३६।

बभ्राम पूर्वं सुविलम्बमन्थरप्रवेपमानाग्रपदं स बालकः।
विश्वम्भराया पदभारधारणप्रगल्भतामाकलयन्निव प्रभुः॥६॥
— धर्मशर्मा० सर्ग ६, पु. च. ५, ३६

जीवन्धर चम्पू और महाकवि हरिचन्द्र

ग्रन्थ का नाम—

इस ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्यो मे सर्वत्र ग्रन्थ का नाम 'चम्पु जीवन्धर' उल्लिखित किया गया है पर आजकल जीवन्धर चम्पू इस श्रुतिसुखद नाम से ही इसका व्यवहार किया जाने लगा है, यद्यपि मेरी इच्छा थी कि ग्रन्थ का नाम पुष्पिका वाक्य के आधार पर चम्पु जीवन्धर ही रखा जाय। पर भारतीय ज्ञानपीठ के प्रधान सम्पादक महोदय का सुझाव प्रचलित नाम रखने का ही प्राप्त हुआ। अत· इस का 'जीवन्धर चम्पू' यह प्रचलित नाम रखा गया है।

टीका और प्रकाशन—

अध्ययन और अध्यापन की ओर निसर्गत प्रवृत्ति होने के कारण जहाँ मैंने जैन ग्रन्थो का परिशीलन किया है वहाँ अनेक अजैन ग्रन्थो का भी परिशीलन किया है और उस परिशीलन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जैन कवियो ने सस्कृत भाषा का रत्नभाण्डार भरने मे कोई कमी नही की है। भले ही जैन साहित्य मे ग्रन्थो की बहुलता न हो पर जो भी थोड़े से ग्रन्थ जैनाचार्यो के लिखित आज उपलब्ध है वे अन्य अजैन ग्रन्थो की होड मे पीछे रहने लायक नही है। खेद इस बात का है कि समाज का रवैया कुछ ऐसा रहा है कि वह उत्तमोत्तम ग्रन्थो को भी जनता के समक्ष नही ला सका है। अन्य समाज मे जहाँ साधारण से साधारण ग्रन्थो की अनेक टीकाएँ उपलब्ध है वहाँ जैन साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी टीकारहित पडे है। जीवन्धर चम्पू अपनी भाव-भङ्गी और शब्दार्थ-सम्पत्ति की अपेक्षा एक उत्तम काव्य माना जाता है पर इस पर एक भी टीका टिप्पणी नही। ग्रन्थकर्ता के भाव को आज का विद्यार्थी सरलता से समझना चाहता है पर हमारे जो प्राचीन प्रकाशन है उनसे विद्यार्थी वर्ग को निराश होना पडता है। जीवन्धर चम्पू विशारद परीक्षा की पाठ्यपुस्तक है इसलिए इसे पढाने का अवसर मुझे प्राय प्रतिवर्ष ही मिलता रहता है। पढाते समय मै अनुभव करता हूँ कि अमुकस्थल इतना दुरूह है कि उसे टीका के बिना छात्र अच्छी तरह हृदयगत नही कर सकता। यही विचार कर पाच छह वर्ष हुए तब जीवन्धर चम्पू की सस्कृत-हिन्दी टीका लिखी थी। जो कि आज श्रीमान् प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री की प्रेरणा पाकर भारतीय ज्ञानपीठ बनारस की ओर से प्रकाशित हो रही है। सस्कृत टीका विस्तृत टीका है इसमे समास पर्याय, अलकार, छन्द आदि के निर्देश से छात्रो की व्युत्पत्ति वढाने का पर्याप्त ध्यान रक्खा गया है। हिन्दी भाषाभाषी लोग भी इस ग्रन्थ के स्वरस से परिचित हो इस दृष्टि से परिशिष्ट मे हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। इस तरह इस साहित्यिक साधना के द्वारा आशा करता हूँ कि हमारा विद्यार्थी-वर्ग तो लाभान्वित होगा ही साथ ही साहित्य-सुधाभिलाषी अन्य जन भी महाकवि हरिचन्द्र की रसधारा का आस्वादन कर सकेंगे। काव्य, उसकी विशेषता तथा रचयिता आदि प्रासङ्गिक चर्चाएँ अग्रिम प्रकरण मे देखिए।

काव्य और काव्य का प्रयोजन -

काव्य, वह सितामिश्रित सजीवनी है कि जिसके द्वारा अनेक दुष्प्रवृत्ति रूपी ज्वर अनायास ही शान्त हो जाते है। काव्य से न केवल मनोरजन होता है अपितु उससे धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा,

इसे प्रस्तुत चम्पू के 'तदनु जिनेन्द्रजन्माभिषेक' आदि (पृ १८८) से मिलाइये ।

अभ्युपात्तकमलैः कवीश्वरैः सश्रुतं कुवलयप्रसाधनम् ।
द्रावितेन्दुरसराशिसोदर सच्चरित्रमिव निर्मलं सरः ।।
पीवरोच्चलहरिव्रजोद्धुर सज्जनक्रमकरं समन्ततः ।
अब्धिमुग्रतरवारिमज्जितक्ष्माभृत पतिमिवावनीभुजाम् ।।

यह 'निजवल्लभमिव' (पृ १५४) आदि पंक्तियों से तुलनीय है ।

सिक्तः सुरैरित्थमुपेत्य विस्फुरज्जटालवालोऽथ स नन्दनद्रुमः ।
छायां दधत्काञ्चनसुन्दरीं नवां सुखाय वप्तुः सुतरामजायत ।। (ध० श० ६।१)

इसका मिलान प्रस्तुत 'जिननन्दनद्रुमोऽय' आदि (५,३१) श्लोक से कीजिए ।

रेखात्रयेणेव जगत्त्रयाधिका विरूपयन्तं निजरूपसंपदम् ।
तत्कण्ठमालोक्य ममज्ज लज्जया विशीर्यमाणः किल कम्बुरम्बुधौ ।। (ध० श० ६/२५)

इसे 'भुवनत्रितयातिशायिशोभा' आदि (६-८) से मिलाइये ।

अजस्रमासीद्घनसपदागमो न वारिसंपत्तिरदृश्यत क्वचित् ।
महौजसि त्रातरि सर्वतः सता सदा पराभूतिरभूदिहाद्भुतम् ।। (ध० श० १८।६२)

इसे 'तदा देवे पृथ्वीमवति' आदि पद्य (७, २१) से मिलाकर देखिए ।
इसी प्रकार मिलाइए—

औत्सुक्यनुन्ना शिशुमप्यसंशयं चुचुम्ब मुक्तिर्निभृत कपोलयोः ।
माणिक्यताटङ्ककरापदेशतस्तथाहि ताम्बूलरसोऽत्र संगतः ।।६।।
—धर्मशर्मा० सर्ग ६, पु. च. ५, ३७ ।

क्रमेण सोऽयं मणिकुट्टिमाङ्गणे नखस्फुरत्कान्तिभरीभिरञ्चते ।
स्खलत्पदं कोमलपादपङ्कजक्रमं ततान प्रसवास्तृते यथा ।।१०४।।
—जीवन्धरचम्पू, लम्ब १, पु. च. ५, ३६ ।

बभ्राम पूर्वं सुविलम्बमन्थरप्रवेपमानाग्रपदं स बालकः ।
विश्वम्भराया पदभारधारणप्रगल्भतामाकलयन्निव प्रभुः ।।६।।
— धर्मशर्मा० सर्ग ६, पु. च. ५, ३६

जीवन्धर चम्पू और महाकवि हरिचन्द्र

ग्रन्थ का नाम—

इस ग्रन्थ के पुष्पिका वाक्यो मे सर्वत्र ग्रन्थ का नाम 'चम्पु जीवन्धर' उल्लिखित किया गया है पर आजकल जीवन्धर चम्पू इस श्रुतिसुखद नाम से ही इसका व्यवहार किया जाने लगा है, यद्यपि मेरी इच्छा थी कि ग्रन्थ का नाम पुष्पिका वाक्य के आधार पर चम्पु जीवन्धर ही रखा जाय। पर भारतीय ज्ञानपीठ के प्रधान सम्पादक महोदय का सुझाव प्रचलित नाम रखने का ही प्राप्त हुआ। अत. इस का 'जीवन्धर चम्पू' यह प्रचलित नाम रखा गया है।

टीका और प्रकाशन—

अध्ययन और अध्यापन की ओर निसर्गत प्रवृत्ति होने के कारण जहाँ मैंने जैन ग्रन्थो का परिशीलन किया है वहाँ अनेक अजैन ग्रन्थो का भी परिशीलन किया है और उस परिशीलन से मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जैन कवियो ने संस्कृत भाषा का रत्नभाण्डार भरने मे कोई कमी नही की है। भले ही जैन साहित्य मे ग्रन्थों की बहुलता न हो पर जो भी थोड़े से ग्रन्थ जैनाचार्यो के लिखित आज उपलब्ध हैं वे अन्य अजैन ग्रन्थो की होड मे पीछे रहने लायक नही हैं। खेद इस बात का है कि समाज का रवैया कुछ ऐसा रहा है कि वह उत्तमोत्तम ग्रन्थो को भी जनता के समक्ष नही ला सका है। अन्य समाज मे जहाँ साधारण से साधारण ग्रन्थो की अनेक टीकाएँ उपलब्ध है वहाँ जैन साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी टीकारहित पड़े है। जीवन्धर चम्पू अपनी मार्दभङ्गी और शब्दार्थ-सम्पत्ति की अपेक्षा एक उत्तम काव्य माना जाता है पर इस पर एक भी टीका टिप्पणी नही। ग्रन्थकर्ता के भाव को आज का विद्यार्थी सरलता से समझना चाहता है पर हमारे जो प्राचीन प्रकाशन हैं उनसे विद्यार्थी वर्ग को निराश होना पडता है। जीवन्धर चम्पू विशारद परीक्षा की पाठ्यपुस्तक है इसलिए इसे पढाने का अवसर मुझे प्राय प्रतिवर्ष ही मिलता रहता है। पढाते समय मैं अनुभव करता हूँ कि अमुकस्थल इतना दुरूह है कि उसे टीका के बिना छात्र अच्छी तरह हृदयगत नही कर सकता। यही विचार कर पांच छह वर्ष हुए तब जीवन्धर चम्पू की संस्कृत-हिन्दी टीका लिखी थी। जो कि आज श्रीमान् प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री की प्रेरणा पाकर भारतीय ज्ञानपीठ बनारस की ओर से प्रकाशित हो रही है। संस्कृत टीका विस्तृत टीका है इसमें समास पर्याय, अलकार, छन्द आदि के निर्देश से छात्रों की व्युत्पत्ति बढाने का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। हिन्दी भाषाभाषी लोग भी इस ग्रन्थ के स्वरूप से परिचित हो इस दृष्टि से परिशिष्ट मे हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। इस तरह इस साहित्यिक साधना के द्वारा आशा करता हूँ कि हमारा विद्यार्थी-वर्ग तो लाभान्वित होगा ही साथ ही साहित्य-सुधाभिलाषी अन्य जन भी महाकवि हरिचन्द्र की रसधारा का आस्वादन कर सकेंगे। ग्रन्थ, इसकी विवेचना तथा रचयिता आदि प्रासङ्गिक चर्चाएँ अग्रिम प्रकरण मे देखिए।

काव्य और काव्य का प्रयोजन -

काव्य, एक मिलामिश्रित मनोहारी है कि जिसके द्वारा अनेक कुप्रवृत्ति [illegible] हो जाते है। काव्य मे न केवल मनोरञ्जन होता है अपितु उसमे धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक [illegible]

कायरो को साहस, वीर जनो को उत्साह,शोकाभिभूत जनो को सान्त्वना एव उद्विग्न चित्त वालो को परम शान्ति मिलती है । काव्यालकार मे लिखा है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैलक्षण्य कलासु च ।
प्रीति करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्यनिवन्धनम् ।।

अर्थात् उत्तम काव्य की आराधना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विपयक चातुर्य, कलाओ मे प्रीति तथा कीर्ति को करता है ।

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश मे कहा है कि—

काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

अर्थात् काव्य यश, धन, व्यवहार लाभ, अमङ्गल हानि, सद्य सन्तोष और कान्तासम्मित भाव से उपदेश दान का कारण है ।

आचार्य कुन्तक ने शास्त्र और काव्य मे अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि —

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम् ।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम् ।। —वक्रोक्ति जीवित ।

अर्थात् शास्त्र तो कडुवी औषधि के समान अविद्यारूपी रोग को नष्ट करने वाले है और काव्य आनन्ददायी अमृत के समान अविवेक रूपी रोग को हरने वाला है ।

इस तरह विचार करने पर विदित होना है कि काव्य के द्वारा अनायास ही लोक कल्याण सम्पन्न हो जाता है । जब पूर्व आचार्यो ने देखा कि जनता की रुचि शास्त्रो के नीरस अध्ययन की ओर पूर्ववत् आकृष्ट नही होती है तब उन्होंने काव्यसुधा की पुट दे दे कर शास्त्रीय चर्चा को सरल और सुग्राह्य बना दिया । यही कारण है कि काव्यकाल मे जिनकी रचना हुई है ऐसे न्याय, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के ग्रन्थो मे भी काव्यसुधा का प्रवाह उनके रचयिताओ ने प्रवाहित किया है ।

'कवृ वर्णने' धातु से कवि शब्द बनता है जिसकी व्युत्पत्ति होती है 'कवते-वर्णयति इति कवि' अर्थात् जो वर्णन करे उसे कवि कहते है । विद्याधर ने अपनी एकावली मे 'कवयतीति कवि' इस प्रकार भी कवि शब्द की निरूक्ति की है 'कवे कर्म भावो वा काव्यम्' कवि का जो भाव अथवा कर्म है उसे काव्य कहते है । भामह ने भी लिखा है कि—

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः ।।

तस्य कर्म स्मृत काव्यम् ।

अर्थात् नव नवोन्मेष से सुशोभित कवि की जो बुद्धि है, उसे प्रतिभा कहते है। इस प्रतिभा के बल पर जो जीवित है तथा नाना प्रकार के वर्णन करने मे निपुण है उसे कवि कहते हैं। कवि का जो कर्म है उसे काव्य कहते है। कवि का लक्षण लिखते हुए आचार्य अजितसेन ने भी अलकारचिन्तामणि मे ऐसा ही लिखा है—

प्रतिभोज्जीविनो नानावर्णनानिपुणः कृती ।
नानाभ्यासकुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान् कविः ।।

यह काव्य शब्द का निरुक्त्यर्थ है जिसमे किसी को विवाद नही है पर इसके वाच्यार्थ का विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैलियो से वर्णन किया है। यहाँ उनमे से कुछ का निदर्शन करा देना अनावश्यक नही होगा—

काव्यों के विभिन्न स्वरूप

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं जनपदसुखबोध्य युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम् ।।

—नाट्यशास्त्र १६।११८

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।।

—अग्निपुराण ३३७।६-७।

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। —काव्यालंकार १।१०

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ।। —वक्रोक्ति जीवित १।७

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ।।

—सरस्वती कण्ठाभरण १।२

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' - काव्यप्रकाश

अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् ।

—काव्यानुशासन प्रथमाध्याय (हेमचन्द्राचार्यस्य)

गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम् । —प्रतापरुद्रयशोभूषण

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेत काव्य कुर्वीत कीर्तये ।। —वाग्भटालकार १।२

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम् ।

—काव्यानुशासन (द्वितीय वाग्भट्टस्य)

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ।। —चन्द्रालोक १।७

वाक्य रसात्मकं काव्यम् —साहित्य दर्पण १।३

काव्यं रसादिमद्वाक्य - अलंकार शेखर १।१

शब्दार्थालंकृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं
व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ।
लोकद्वन्दोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्य सुखार्थी ।
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरुहेतुम् ।। —अलंकार चिन्तामणि १।७

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् —रसगङ्गाधर ।

इस छोटे से प्रकरण मे इन सब विभिन्न मतो की आलोचना अशक्य एव अनावश्यक है फिर भी इतना कह सकना अपेक्षित है कि सब लक्षण एक ही केन्द्र मे चक्कर लगा रहे हैं। सबसे अन्तिम मत पण्डितराज जगन्नाथ का है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द समूह काव्य कहलाता है । भले ही अर्थ की रमणीयता अलकार गुण, रीति, ध्वनि या रस आदि किसी तत्त्व से प्रस्फुटित हुई है 'चमत्कारपूर्ण उक्ति ही काव्य, हैं' यह, काव्य के नाना लक्षणो का स्वरस है ।

काव्य हेतु—

काव्य का हेतु क्या है ? इस विषय मे भी साहित्य-विद्याविशारदो मे विभिन्न मत पाये जाते हैं फिर भी अधिकाश आचार्यों का मत यही है कि काव्य मे १ शक्ति, २ निपुणता और ३ अभ्यास ये तीन ही कारण हैं। रुद्रट ने काव्यालकार मे शक्ति का लक्षण लिखा है कि—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमकधा निधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ।। १।१५

अर्थात् जिसके द्वारा सुस्थिर चित्त मे अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का विस्फुरण तथा काव्यरचना के अनुकूल कोमलकान्त पदावली उपस्थित रहती है उसे शक्ति कहते है। शक्ति को ही प्रतिभा कहते है। नाना शास्त्रदर्शित्व को निपुणता कहते है। इसी निपुणता को कितने ही आचार्यो ने व्युत्पत्ति नाम से उल्लेख किया है। गुरुजनो के सम्पर्क मे रहकर शास्त्ररचना के प्रति जो आदर भाव है उसे अभ्यास कहते है। इस विषय मे कुछ आचार्यो के उल्लेख इस प्रकार हैं—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारण काव्यसम्पदः ।। —काव्यादर्शे रुद्रटस्य १।१०३

तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः । —काव्यालङ्कार १।१४

शक्तिर्निपुणतालोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। —काव्यप्रकाश १।३

प्रतिभाकारण तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ।। —वाग्भटालकार १।३

उक्त उद्धरणो से सिद्ध होता है कि शक्ति (प्रतिभा) निपुणता और अभ्यास ये तीन ही काव्य के हेतु है। परन्तु वामन राजशेखर तथा द्वितीय वाग्भट आदि कुछ साहित्यकारो ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का हेतु माना है। वामन ने काव्यालकार सूत्र १।३।१६ मे कहा है कि **'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'** अर्थात् काव्य का कारण प्रतिभा है। राजशेखर ने काव्यमीमासा मे लिखा है कि—**'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः**। अर्थात् एक प्रतिभा ही काव्य का हेतु है। द्वितीय वाग्भट ने भी अपने काव्यानुशासन मे लिखा है कि—**'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरण कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्यहेतु'** अर्थात् प्रतिभा ही काव्य-निर्माण का कारण है, व्युत्पत्ति और अभ्यास तो उसी का सस्कार करने वाले है। इन उल्लेखो का निष्कर्ष यही निकलता है कि काव्य निर्माण मे प्रतिभा प्रमुख कारण है और व्युत्पत्ति अथवा निपुणता उसमे शोभा उत्पन्न करने वाली है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति मे बलीयसी कौन है ? इसका निर्णय कालिदास और भवभूति के साहित्य का मन्थन करने वाले विद्वान् सहज ही कर सकते है।

काव्य के भेद

अग्नि पुराण मे काव्य के श्रव्य, अभिनेय और प्रकीर्ण यह तीन भेद बतलाये गये है—

श्रव्यं चैवाभिनेयं च प्रकीर्णं सकलोक्तिभिः ॥ ३३७।३६

भामह ने काव्य को गद्य और पद्य दो भागो मे विभक्त करके फिर सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ये तीन भेद बतलाये है।

दण्डी ने काव्यादर्श मे (१।११) गद्य, पद्य और मिश्रित ये तीन भेद बतलाये है।

वामन ने काव्यालकार सूत्र मे (१।३।२१,२६) गद्य, पद्य ये दो भेद बतलाकर गद्य के वृत्तगन्धी, चूर्णक और उत्कलिका इस प्रकार तीन भेद तथा पद्य के अनेक भेद बतलाये है।

रुद्रट ने गद्य और पद्य ये दो भेद बतलाकर उनको प्राकृत, सस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश इन छह भाषाओं मे विभक्त किया है।

हेमचन्द्र ने प्रेक्ष्य (दृश्य) और श्रव्य इन दो भेदो मे विभक्त कर प्रेक्ष्य को पाठ्य और गेय इन दो भेदो मे तथा श्रव्य को महाकाव्य, आख्यायिका, चम्पू और अनिबद्ध इस प्रकार चार भेदो मे विभक्त किया है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद बतलाकर ध्वनि को उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यङ्ग्य को मध्यम काव्य और शब्दचित्र तथा अर्थचित्र (शब्दालकार तथा अर्थालकार) को जघन्य काव्य बतलाया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कवि ने काव्य के दृश्य और श्रव्य इस प्रकार मूल मे दो भेद बतलाकर दृश्य के रूपक और उपरूपक ये दो भेद बतलाये है। रूपक के १ नाटक, २ प्रकरण, ३ भाण, ४ व्यायोग, ५ समवकार, ६ डिम, ७ ईहामृग, ८ अङ्क, ९ वीथी, १० प्रहसन ये दश भेद बतलाये है। तथा उपरूपक के १ नाटिका, २ त्रोटक, ३ गोष्ठी, ४ सट्टक, ५ नाटयरासक, ६ प्रस्थानक, ७ उल्लाप्य, ८ काव्य, ९ प्रेङ्खण, १० रासक, ११ श्रीगदित्ति, १२ शिल्पक, १३ विलासिका, १४ दुर्मल्लिका, १५ प्रकरणी, १६ हल्लीस, १७ भणिका और १८ रुलापक ये अठारह भेद बतलाये हैं। इन सबके लक्षण भरत मुनि के

नाटचशास्त्र, दश रूपक तथा साहित्यदर्पण मे स्पष्ट किये गये हैं। श्रव्य काव्य के पद्य और गद्य ये दो भेद बतला कर पद्य के १ मुक्तक, २ युग्मक, ३ सदानितक, ४ कलापक, ५ कुलक, ६ महाकाव्य, ७ काव्य, ८ खण्ड काव्य, ६ कोष और १० व्रज्या ये दश भेद बतलाये हैं तथा गद्य-काव्य के १ मुक्तक, २ वृत्तगन्ध, ३ उत्कलिकाप्राय और ४ चूर्णक ये चार भेद निर्दिष्ट किये है। इनके सिवाय गद्य-पद्य मिश्रित रचना से युक्त चम्पू-काव्य कहा है। 'गद्यपद्यमय काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते' अर्थात् गद्य-पद्यमिश्रित रचना चम्पू कहलाती है।

चम्पू-काव्य का विस्तार और उसकी लोकप्रियता—

लोगो की रुचि विभिन्न प्रकार की होती है, कुछ लोग तो गद्य-काव्य को अधिक पसन्द करते हैं और कुछ लोग पद्य-काव्य को अच्छा मानते है, पर चम्पू-काव्य मे दोनो की रुचि का ध्यान रक्खा जाता है इसलिए यह सबको अपनी ओर आकर्षित करता है। महाकवि हरिचन्द्र ने जीवन्धर चम्पू के प्रारम्भ मे कहा है कि—

गद्यावलिः पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षप्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥

अर्थात् गद्यावली और पद्यावली दोनो ही प्रमोद उत्पन्न करती है फिर हमारा यह काव्य तो दोनो से युक्त है अत मेरी यह रचना बाल्य और तारुण्य अवस्था से युक्त कान्ता के समान अत्याह्लाद उत्पन्न करेगी इसमे सशय नही है। चम्पू-साहित्य की ओर जब दृष्टि डालते हैं तो सर्वप्रथम त्रिविक्रम भट्ट की 'नल-चम्पू' पर दृष्टि जा रुकती है। इसमे नल-दमयन्ती की मनोहारिणी कथा गुम्फित की गई है। श्लेष परिसख्या आदि अलकार पद-पद पर इसकी शोभा बढा रहे है। पदविन्यास इतना सरस और सुकुमार है कि कवित्व कला के प्रति मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है। इसी कवि की दूसरी रचना मदालसा चम्पू भी है। यह कवि ई० ६१५ मे हुआ है। इसके बाद ई० ६५६ मे आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू की रचना हुई है। इस चम्पू मे आचार्य ने कथा भाग की रक्षा करते हुए कितना प्रमेय भर दिया है ? यह देखते ही बनता है। इसके गद्य कादम्बरी से भी चार हाथ आगे है। कल्पनाएँ अद्भुत हैं। कथा का सौन्दर्य ग्रन्थ के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है। सोमदेव ने प्रारम्भ मे ही लिखा है कि जिस प्रकार नीरस तृण खाने वाली गाय से सरस दूध की धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार जीवनपर्यन्त न्याय जैसे नीरस विषय का अध्ययन करने वाले मुझ से इस काव्य-सुधा की धारा बह रही हैं। इस ग्रन्थ रूपी महासागर मे अवगाहन करने वाले विद्वान् ही समझ सकते हैं कि आचार्य सोमदेव के हृदय मे कितना अगाध वैदुष्य भरा है। उन्होने एक जगह स्वय कहा है कि लोक-वित्त्व और कवित्व मे समस्त ससार सोमदेव का उच्छिष्टभोजी है अर्थात् उनके द्वारा वर्णित वस्तु का ही सब वर्णन करने वाले हैं। इस महा-ग्रन्थ मे आठ समुच्छ्वास है। अन्त के तीन समुच्छ्वासो मे सम्यग्दर्शन तथा उपासकाध्ययनाङ्ग का कितना विस्तृत और समयानुरूप वर्णन किया है यह देखते ही बनता है। तृतीय उच्छ्वास तो राजनीति का भण्डार ही है।

इसके बाद महाकवि हरिचन्द्र के 'जीवन्धर चम्पू' काव्य की रचना हुई है। इसकी कथा वादीभ-सिंह की गद्यचिन्तामणि अथवा क्षत्रचूडामणि से ली गई है। यद्यपि जीवन्धर स्वामी की कथा का मूल

स्रोत गुणभद्र के उत्तरपुराण मे मिलता है पर उसमे और इसमे कितने ही स्थलों मे नाम तथा कथानक मे वैचित्र्य पाया जाता है । इसमे प्रत्येक लम्ब की कथावस्तु तथा पात्रो के नाम आदि गद्यचिन्तामणि से मिलते-जुलते है । महाकवि ने इस काव्य मे भगवान् महावीर स्वामी के समकालीन तथा क्षत्रचूडामणि के नायक श्री जीवन्धर स्वामी की कथा गुम्फित की है । पूरी कथा अलौकिक घटनाओ से भरी है । कथा की रोचकता देखते हुए जब कभी हृदय मे आता है कि यदि इसका चित्रपट बन जाता तो अनायास ही एक आदर्श लोगो के सामने आ जाता ।

इस ग्रन्थ की रचना मे कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है । अलकार की पुट और कोमल-कान्त-पदावली बरबश पाठक के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है । मुझे तो लगता है कि कवि को निसर्ग सिद्ध प्रतिभा प्राप्त थी इसीलिए प्रकरणानुकूल अर्थ और अर्थानुकूल शब्दो के ढूँढने मे उसे जरा भी प्रयत्न नही करना पडा है । कितने ही गद्य तो इतने कौतुकावह हैं कि उन्हे पढकर कवि की प्रतिभा का अलौकिक चमत्कार दृष्टिगत होने लगता है । नगरी-वर्णन, राज-वर्णन, राज्ञी-वर्णन, चन्द्रोदय, सूर्योदय, वन-क्रीडा, जल-क्रीडा युद्ध आदि काव्य के समस्त वर्णनीय विषयो को कवि ने यथास्थान इतना सजाकर रक्खा हे कि देखते ही बनता है । प्रस्तावना लेख के लिए समय अत्यन्त अल्प मिला है नही तो ग्रन्थ के अवतरण देकर मैं सिद्ध करता कि कवि की कलम मे कितना जादू है । अस्तु, इसके बाद जैन चम्पू ग्रन्थो मे महाकवि अर्हद्दास के पुरुदेव चम्पू का नम्बर आता है । इसमे श्लेषादि अलकारो की प्रधानता है । भगवान् आदिनाथ का दिव्य चरित्र, भवान्तर वर्णन के साथ-साथ उसमे अकित किया गया है ।

इसके बाद भोजराज के 'चम्पू रामायण', अभिनव कालिदास के 'भागवत चम्पू' कवि कर्णपूर के 'आनन्द वृदावन चम्पू', जीव गोस्वामी के 'गोपाल चम्पू', श्रीशेष कृष्ण के 'पारिजातहरण चम्पू', नीलकण्ठ दीक्षित के 'नीलकण्ठ चम्पू', वेङ्कटाध्वरी के 'विश्वगुणादर्श चम्पू', अनन्त कवि के 'चम्पू भारत' केशवभट्ट के 'नृसिह चम्पू' रामनाथ के 'चन्द्रशेखर चम्पू' श्रीकृष्णकवि के 'मन्दार मरन्द चम्पू' और पन्त विट्ठल के 'गजेन्द्र चम्पू' आदि ग्रन्थ दृष्टि मे आते हैं जिनमे लेखको ने अपनी गद्य—पद्य लेखन की कला दिखलाई है । इस अल्पकाय लेख मे समग्र ग्रन्थों का परिचय दे सकना सम्भव नही है इसलिए नाम मात्र देकर सन्तोष धारण किया । इस प्रकार गद्य पद्यात्मक चम्पू साहित्य का बडा विस्तार है । दशम ईशवीय शती के पूर्व की चम्पू रचना मेरी दृष्टि मे नही आई है ।

काव्य में रस—

जैन सिद्धान्त के अनुसार सासारिक आत्माओ मे प्रति समय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद ये किञ्चित् कषाय सत्ता अथवा उदय की अपेक्षा विद्यमान रहती हैं । जब हास्य वगैरह का निमित्त मिलता है तब हास्य आदि रस प्रकट हो जाते हैं । इन्ही को दूसरी जगह स्थायिभाव कहा है । यह स्थायिभाव जब विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के द्वारा प्रस्फुटित होता है तब रस कहलाने लगता है । सब रस नौ हैं— १. शृङ्गार, २. हास्य, ३. करुणा, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक, ७ वीभत्स, ८ अद्भुत और ९. शान्त । कई लोग शान्त को रस नही मानते अत. उनके मत मे आठ ही रस माने गये हैं । इनके सिवाय भरत मुनि ने वात्सल्य को भी रस माना है तब १० भेद होते है । आठ, नौ और दश इन तीन विकल्पों मे ९ का विकल्प अनुभवगम्य, युक्तिसगत और अधिक जनसंमत है ।

काव्य का प्रवाह—

काव्य का प्रवाह गद्य की अपेक्षा अधिक आनन्ददायी होता है। इसलिए वह इतने वेग से प्रवाहित हुआ कि उसने गद्य रचना को एक प्रकार से तिरोभूत ही कर दिया। धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष आयुर्वेद आदि विषयो के ग्रन्थ काव्य रूप मे ही लिखे जाने लगे। यही कारण रहा है कि सस्कृत साहित्य मे पद्य-मय जितने ग्रन्थ है उतने गद्यमय ग्रन्थ नही है। सस्कृत साहित्य के विपुल भण्डार मे जब गद्यमय ग्रन्थो की ओर दृष्टिपात करते है तब कादम्बरी, श्रीहर्षचरित, दशकुमार चरित, गद्यचिन्तामणि, तिलकमञ्जरी आदि दश पाँच ग्रन्थो पर ही दृष्टि रुक जाती है पर पद्यमय ग्रन्थो पर अव्याहत गति से आगे बढती जाती है। चम्पू ग्रन्थो का जो गद्य की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ है वह साथ मे पद्य के रहने से ही हुआ है।

काव्य में गुण, अलंकार और रीति—

रस के बाद काव्य के सौष्ठव को बढ़ाने वाले अलकार, गुण और रीति हैं। रीति का स्थान शरीर के सस्थान के समान है। गुण, दया, दाक्षिण्यादि के समान उत्कर्षाधायक है और अलकार शब्द तथा अर्थ की शोभा बढाने वाले अस्थायी धर्म हैं। इनका स्थान मानव शरीर पर धारण किये हुए कटक कुण्डलादि के समान है। एक समय था जब कविता के अन्दर कवि लोग शक्ति भर अलकार रखने का प्रयत्न करते थे पर अब समय बदल गया है। आज का मानव कविता मे अर्थ को जितना पसन्द करता है उतना अलकार को नही। एक समय था कि महिलाएँ नाना प्रकार के आभूषणो से लदी रहती थी पर आज की स्त्री का चित्त आभूषणो की उपेक्षा करने लगा है। कवि अपनी धारा से लिखता जाता है उसमे अनायास जो अलकार आते जाते है उन्हें कवि यथा स्थान बैठाता जाता है पर जहाँ कवि अलंकार बैठाने की भावना से जो कुछ लिखता या कहता है वहाँ उसकी कृत्रिमता सामने आ जाती है। कालिदास की कविता मे अलकार की विरलता होने पर भी सौन्दर्य है। इसका कारण यही है कि वे अलकार के पीछे नही पडे हैं। अपने युग मे अलकारो का क्रमिक विकास होते होते चरम सीमा तक पहुँचा है। यहाँ अलकारो का नामोल्लेख तथा स्वरूप चित्रण की आवश्यकता नही है।

गुणो के विषय मे भी आचार्यो मे विभिन्न मत मिलते हैं। वामन ने १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ समाधि, ५ माधुर्य, ६ ओज, ७ सौकुमार्य ८ अर्थव्यक्ति, ९ उदारता और १० कान्ति ये दश गुण माने हैं, तो राजा भोज ने २४ गुण मान रक्खे है। किन्ही ने आठ गुण ही माने है और किन्ही ने अन्त मे चलकर माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन गुण माने है। इसमे सन्देह नही कि ये तीन गुण काव्य के उत्कर्ष को बढाने मे अत्यन्त सहायक होते हैं।

रचना की शैली को रीति कहते हैं। कुछ लोग अधिक लम्बे समास वाली रचना पसन्द करते है और कुछ छोटे-छोटे समास वाली रचना को अच्छा समझते हैं। इसलिए रीति मे भेद हुआ है। रस के अनुकुल शब्द योजना की दृष्टि ने भी रीति को जन्म दिया है। इस तरह गौड़ी, पाञ्चाली, लाटी और वैदर्भी के भेद से चार प्रकार की रीतियाँ साहित्य क्षेत्र मे मानी जाती है।

जीवन्धर चम्पू और उसके रचयिता महाकवि हरिचन्द्र—

जीवन्धर चम्पू के विषय मे पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अतः यहाँ पुनरुक्ति करना अन्याय होगा। इसके रचियता महाकवि हरिचन्द्र है। यद्यपि कुछ लोगो का ध्यान है कि यह धर्मशर्माभ्युदय के कर्ता श्री हरिचन्द्र की रचना नही है पर धर्मशर्माभ्युदय और जीवन्धर चम्पू के भावो तथा शब्दों मे जो समानता है उससे जान पड़ता है कि दोनो के कर्ता एक होना चाहिये। इसके सिवाय जीवन्धर चम्पू की जो हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है उसके पुष्पिका वाक्यो मे इसके कर्ता हरिचन्द्र का ही उल्लेख किया गया है। ग्रन्थान्त मे ग्रन्थ कर्ता ने स्वय अपने नाम का उल्लेख किया है।[1] आग्लविद्वान् डाक्टर कीथ महाशय भी हरिचन्द्र को ही जीवन्धर चम्पू का कर्ता मानते हैं। यह कहना कि धर्मशर्माभ्युदय देखकर किसी पृष्ठवर्ती कवि ने उसके भाव और शब्दो को आत्मसात् कर इसकी रचना की है, यह उचित नही जान पडता। मर्मज्ञ विद्वान् की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि यह बात कवि ने अन्यत्र से ली है और यह स्वतः लिखी है। अन्ततोगत्वा नकल नकल ही है। जिस प्रकार सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू के नीति भाग और नीतिवाक्यामृत मे एककर्तृक होने के कारण पद पद पर सादृश्य पाया जाता है। उसी प्रकार जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माभ्युदय मे एक कर्तृक होने से पद-पद पर सादृश्य पाया जाता है। दोनो ही ग्रन्थो मे इसका प्रवाह अलकार की पुट और शब्द विन्यास की शैली एक-सी है। यहाँ मै दोनो ग्रन्थो के कुछ अवतरण देकर इस विषय को स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ।

जीवन्धर चम्पू के प्रारम्भ मे भगवान् ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, महावीर, रत्नत्रय तथा जिनवाणी को नमस्कार किया गया है, इसी प्रकार धर्मशर्माभ्युदय मे भगवान् ऋषभदेव, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ महावीर, रत्नत्रय और जिनवाणी को नमस्कार किया गया है। धर्मशर्माभ्युदय मे कथा नायक होने से भगवान् धर्मनाथ को भी नमस्कार किया गया है। इनके सिवाय धर्मशर्माभ्युदय मे एक श्लोक द्वारा समुदाय रूप मे समस्त जिनेन्द्रो को और जीवन्धर चम्पू मे समस्त सिद्धो को नमस्कार किया है। मङ्गल के बाद दोनो ग्रन्थो मे एक-एक श्लोक के द्वारा पूर्वाचार्यो अथवा पूर्व कवियो का स्मरण किया गया है। दोनो ग्रन्थो का कुछ सादृश्य देखिए—

जीवन्धर चम्पू—

(१)

अपारसंसारसन्तमसान्धीकृतजीवलोकस्य पुरुषार्थचतुष्टयप्रकाशनायैव दिवाकरयुगलनिशाकरयुगलव्याजेन प्रदीपचतुष्टयमाविभ्राणे —पृष्ठ ४

धर्मशर्माभ्युदय—

(१)

अपारसंसारतमस्यपारे
सन्तश्चतुर्वर्गफलानि सर्वे।
इतीव यो द्वि-द्विदिवाकरेन्दु-
व्याजेन धत्ते चतुरः प्रदीपान्॥

—सर्ग १ श्लोक ३५

---

१. अष्टाभिः स्वगुणैरयं कुरुपति. पुष्टोऽथ जीवन्धरः
सिद्धः श्रीहरिचन्द्रवाङ्मयमधुस्यदिप्रसूनोच्चयैः।
भक्त्याराधितपादपद्मयुगलो लोकातिशायिप्रभा
निस्तुल्यां निरपायसौख्यलहरीं सप्राप मुक्तिश्रिम्॥ —५८, लम्ब ११ जी० च०

(२)

उदयास्ताचलमध्यसञ्चारखिन्नस्य सरोजबन्धो-र्विश्रमाय वेधसा विरचितैरिव धराधरैर्धान्यराशि-भिरुद्भासितम् । पृष्ठ ५

(३)

अतिदूरप्रवृद्धशाखाविलसितकैतवेन हस्तमुदस्य विचित्रपतत्रिविरुतै: कल्पपादपान् जेतुमिवाहूयमानैः ।

—पृष्ठ ५

(४)

यथा यथासीदुदरं विवृद्धं
तथा तथास्याः कुचकुम्भयुग्मम् ।
श्यामाननत्वं सममाप राज्ञा
स्वप्नस्य पाकादनुतापकर्त्रा ।।

—लम्भ १ श्लोक ५६

सवृद्धमुदरं वीक्ष्य तत्स्तनौ मलिनाननौ ।
न सहन्ते हि कठिना मध्यस्थस्यापि संपदम् ।।

—लम्भ १ श्लोक ५७

(५)

सा नरपालसती महाकविभारतीव गम्भीरार्थम्, शारदाब्जसरसीव राजहंसम्, रत्नाकरवेलेव मणिम्, पुरन्दरहरिदिवेन्दुमण्डलम् । —पृष्ठ २३

(६)

श्यामाननं कुचयुगं दधती वधूः सा
पाथोजिनीव मधुपाञ्चितकोशयुग्मा ।
पङ्कास्यहंसमिथुना सरसीव रेजे
लोलम्बचुम्बितगुलुच्छयुगा लतेव ।।

—लम्भ १ पद्य ५८

(२)

जनैः प्रतिग्रामसमीपमुच्चैः
कृता वृषाढ्यैर्वरधान्यकूटाः ।
यत्रोदयास्ताचलमध्यगस्य
विश्रामशैला इव भान्ति भानोः ।

—सर्ग १ श्लोक ४८

(३)

कल्पद्रुमान् कल्पितदानशीलान्
जेतुं किलोत्तालपतत्रिनादैः ।
आहूय दूराद्वितरन्ति वृक्षाः
फलान्यचिन्त्यानि जनाय यत्र ।।

—सर्ग १ श्लोक ५५

(४)

वृद्धिं परामुदरमाप यथा यथास्याः
श्यामाननः स्तनभरोऽपि तथा तथाभूत् ।
यद्वा नितान्तकठिना प्रकृतिं भजन्तो
मध्यस्थमप्युदयिनं न जडाः सहन्ते ।

—सर्ग ६ श्लोक ५

(५)

सा भारतीव चतुरातिगभीरमर्थं
वेलेव गूढमणिमण्डलमम्बुराशेः ।
पौरन्दरी दिगिव मेरुतिरोहितेन्दुं
गर्भं तदा नृपवधूर्दधती रराज ।।

—सर्ग ६ श्लोक १

(६)

उत्खातपङ्किलबिसाविव राजहंसौ
शुभ्रौ सभृङ्गवदनाविव पद्मकोषौ ।
तस्याः स्तनौ हृदि रसैः सरसीव पूर्णे
सरेजतुर्गवलमेचकचूचुकाग्रौ ।।

—सर्ग ६ श्लोक ८

(७)

मध्यदेशश्चकोराक्ष्याः शिशुना बलिना तदा ।
भंक्त्वा बलित्रयं राज्ञस्तापेनाभूत्सम गुरुः ॥
—लम्भ १ श्लोक ६०

(७)

एकेन तेन बलिना स्वबलेन तस्या ।
भङ्क्त्वा बलित्रयमवर्धत मध्यदेशः ॥
....
....
—सर्ग ६ श्लोक ७

(८)

यथा यथा जीवकयामिनीशो ।
विवृद्धिमागाद्विलसत्कलापः ।
तथा तथावर्धत मोदवार्धि-
रुद्वेलमूरव्यनिकायभर्तुः ॥
—लम्भ १ श्लोक ९९

(८)

चित्रं किमेतज्जिनयामिनीपति-
र्यथा यथा वृद्धिमनश्वरीमगात् ।
सीमानमुल्लङ्घ्य तथा तथाखिलं
प्रमोदवार्धिर्जगदप्यपूरयत् ॥
—सर्ग ९ श्लोक २

(९)

मनोजगेहस्य तदङ्गकस्य
वक्षोजवप्रेण विराजितस्य ।
ऊरुद्वयं स्तम्भनिभं विरेजे
प्रतप्तचामीकरचारुरूपम् ॥
—लम्भ ३ श्लोक ५५

(९)

उदञ्चदुच्चैः स्तनवप्रशालिन-
स्तदङ्गकन्दर्पविलासवेश्मनः ।
वरोरुयुग्मं नवतप्तकाञ्चन-
प्रपञ्चितस्तम्भनिभं व्यराजत ॥
—सर्ग २ श्लोक ४१

(१०)

नासा तदीया मुखचन्द्रविम्बा-
द्विनिर्गलन्नव्यसुधोरुधारा ।
घनत्वमाप्तेव रदालिमुक्ता-
मणी तुलायष्टिरिव व्यलासीत् ॥
—लम्भ ३ श्लोक ६४

(१०)

ललामलेखाशकलेन्दुनिर्गलत्
सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसंहते-
स्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ॥
—सर्ग २ श्लोक ४३

(११)

जनदृक्पक्षिबन्धाय पाशौ किं वेधसा कृतौ ।
तत्कर्णावुत्पलव्याजाञ्जनदृक्पक्षिरक्षिणौ ॥
—लम्भ ४ श्लोक ६६

(११)

कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले
पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ
तदीयकर्णौ पृथुलांसचुम्बिनौ ॥
—सर्ग २ श्लोक ५७

(१२)

अभिसारिकामिवोच्चैःस्तनशिखरशोभितपत्ररचना-
मनेकविटपसस्पृष्टपयोधरतटा चारामवीथीम् ।

—पृष्ठ ७७

(१२)

उच्चैस्तनशिखोल्लासि पत्रशोभामदूरतः ।
वनालीं वीक्ष्य भूपालः प्रेयसीमित्यभाषत ।।

—सर्ग ३ श्लोक २२

अनेकविटपस्पृष्टपयोधरतटा स्वयम् ।
वदत्युद्यानमालेयमकुलीनत्वमात्मनः ।।

—सर्ग ३ श्लोक २४

(१३)

वक्ष·स्थलेष्वत्र चकोरचक्षुषा
प्रियैः प्रक्लृप्ता सुममालिका बभुः ।
अन्त.प्रवेशोद्यतशम्बरद्विषः
सनातनास्तोरणमालिका इव ।

—लम्भ ४ श्लोक ११

(१३)

स्रजो विचित्रा हृदि जीवितेश्वरैः
समाहिताश्चारुचकोरचक्षुषाम् ।
तदन्तरेऽन्तर्विशतो मनोभुव-
श्चकासिरे वन्दनमालिका इव ।।

—सर्ग १२ श्लोक ५४

(१४)

उपरिजतरुजार्थं वामहस्तेन काचिद्
विधृतसुरभिशाखा सव्यहस्ताप्तकाञ्ची ।
अमलकनकगौरी निर्गलन्नीविबन्धा
नयनसुखमनन्त कस्य वा द्राड् न तेने ।।

—लम्भ ४ श्लोक ७

(१४)

उदग्रशाखाकुसुमार्थमुद्भुजा
न्युदस्य पार्ष्णिद्वयमञ्चितोदरी ।
नितम्बभूस्रस्तदुकूलबन्धना
नितम्बिनी कस्य चकार नोत्सवम् ।।

—सर्ग १२ श्लोक ४२

एक विचारणीय बात

इतना सब होने पर भी एक बात अवश्य विचारणीय है कि कवि ने जीवन्धर चम्पू मे पाँच अणुव्रतो का धारण और तीन मकार का त्याग इनको श्रावक के आठ मूल गुण बतलाया है और धर्मशर्माभ्युदय मे मद्य मास मधु त्याग तथा पञ्चोदुम्बर फल के त्याग को आठ मूल गुण बताया है। जैसा कि दोनो ग्रन्थो मे कहा गया है—

हिंसानृतस्तेयवधूव्यवायपरिग्रहेभ्यो विरतिः कथञ्चित् ।
मद्यस्य मासस्य च माक्षिकस्य त्यागस्तथा मूलगुणा इमेऽष्टौ —जी० च० लम्भ ७ श्लोक १६
मद्यमांसासवत्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
अमी मूलगुणाः सम्यग्दृष्टेरष्टौ प्रकीर्तिताः ।। —धर्म० सर्ग २१ श्लोक १३२

इसी प्रकार चार शिक्षाव्रतो के वर्णन मे भी कुछ वैशिष्ट्य है—

सामायिकः प्रोषधकोपवासस्तथातिथीनामपि सग्रहश्च ।
सल्लेखना चेति चतु.प्रकारं शिक्षाव्रतं शिक्षितमागमज्ञैः ।। —जी० च०, लम्भ ७ श्लोक १८

सामायिकमथाद्यं स्याच्छिक्षाव्रतमगारिणाम् ।
आर्तरौद्रे परित्यज्य त्रिकालं जिनवन्दनात् ॥१४९॥
निवृत्तिर्भुक्तभोगानां वा स्यात्पर्वचतुष्टये ।
प्रोषधाख्यं द्वितीयं तच्छिक्षाव्रतमितीरितम् ॥१५०॥
भोगोपभोगसंख्यानं क्रियते यदलोलुपैः ।
तृतीयं तत्तदाख्यं स्याद्दुःखदावानलोदकम् ॥१५१॥
गृहागताय यत्काले शुद्धं दानं यतात्मने ।
अन्ते सल्लेखना वान्यत्तच्चतुर्थं प्रकीर्त्यते ॥१५२॥

अर्थात् जीवन्धर चम्पू मे सामायिक, प्रोपधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत गिनाये गये है। और धर्मशर्माभ्युदय मे सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण, और अतिथिसविभाग अथवा सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत कहे गये है ।

एक ही ग्रन्थकर्ता अपने दो ग्रन्थो मे दो प्रकार की मान्यताओ का उल्लेख करता है यह विचारणीय वात है । मूल गुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रतो के नामोल्लेख मे जैनाचार्यों मे शासनभेद है । इनता अवश्य है कि आचार्यों मे एतद्विषयक अपनी मान्यता का उल्लेख करते हुए किसी दूसरी मान्यता का निराकरण किया हो, यह देखने मे नही आया । फलत जो दो तीन प्रकार की मान्यताए प्रचलित है वे सवको स्वीकार्य है। सभव है कि कवि ने एक ग्रन्थ मे एक मान्यता का उल्लेख किया हो और दूसरे ग्रन्थ मे दूसरी मान्यता का । धर्मशर्माभ्युदय मे शिक्षाव्रतो का वर्णन करते समय अतिथिसविभाग के विकल्प मे सल्लेखना का भी नामोल्लेख करते हुए कवि ने अपनी तटस्थता भी सूचित की है । यहाँ मे इतना लिख देना उपयुक्त समझता हूँ कि यह मेरा एक विचार है अन्य विद्वान् भी इस विषय पर विचारकर यथार्थ वात का निर्णय करे ।

महाकवि हरिचन्द्र की विद्वत्ता और रचना माधुर्य से जैन विद्वान् तो प्रभावित है ही, पर अजैन विद्वान् भी कम प्रभावित नही हैं । जिन्होने भी इनके धर्मशर्माभ्युदय को देखा है वह अवश्य ही उनकी प्रौढता का प्रशसक हो गया है । धर्मशर्माभ्युदय के ऊपर यद्यपि माघ के शिशुपालवध की छाया है, पर दोनो को देखने के वाद तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उत्प्रेक्षा-गगन मे जितना हरिचन्द्र विचरण कर सके हैं उतना माघ नही कर सके है । माघ को पढते-पढते चित्त ऊव जाता है पर धर्मशर्माभ्युदय हाथ मे लेने पर उसे रखने का भाव नही होता ।

■

लघुतत्त्वस्फोट

आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज के सघ मे मेरे पास इस ग्रन्थ के प्रारम्भ की तीन पच्चीसिकाएँ हिन्दी अनुवाद करने के लिये आई। रचना प्रौढ थी और पाण्डुलिपि के अतिरिक्त कोई मूल प्रति प्राप्त नही थी अत अनुवाद करने मे कठिनता दिखी। फिर भी प्रयत्न कर इनका अनुवाद मैंने सघ मे भेज दिया। सघस्थ मुनि श्री अजितसागर जी महाराज सस्कृत के प्रबुद्ध विद्वान् हैं। उन्हे अनुवाद पसंद आया और टाईप कराकर उसकी प्रतिलिपि उन्होने आदरणीय ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरे कारजा के पास भिजवा दी। कुछ समय वाद चवरे जी ने पूरा ग्रन्थ मेरे पास भेज कर अनुवाद करने का अनुरोध किया।

पच्चीस-पच्चीस श्लोको की पच्चीस पच्चीसिकाओ मे ६२५ श्लोक थे, भाषा और विषय दोनो की अपेक्षा रचना दुरुह दिखी। दैनिक कार्यक्रमो की व्यस्तता के कारण अनुवाद करने मे लगभग एक वर्ष का समय लग गया। चवरे जी की इच्छा थी कि इस अनुवाद की एक वार आचार्य समन्तभद्र जी (कुम्भोज) के सनिधान मे वाचना हो जाय। फलत: वाचना के लिये श्रीमान् पडित कैलाशचन्द्र जी वाराणसी तथा हमने स्वीकृति दे दी। स्वीकृति ही नही दी, हम दोनो अपने अपने स्थानो से चलकर वीना पहुँच गये। परन्तु दादर एक्स-प्रेस मे स्थान नही मिला अत उस समय हम लोगो का जाना न हो सका। मैं वीना से सागर वापिस आ गया और पण्डित जी कटनी होते हुए वाराणसी चले गये। एक वर्ष के लिये वाचना रुक गई। हम लोगो का वापिस चला आना भी अच्छा हुआ क्योकि तव तक चवरे जी के पास हमने जिस प्रति के आधार पर अनुवाद किया था उसके सिवाय कोई दूसरी प्रति नही थी। उस प्रति के आधार पर वाचना करने से कोई विशेष लाभ की सम्भावना नही थी परन्तु इस एक वर्ष के भीतर उनके पास मूल प्रति की फोटो कापी आ गई। द्वितीय वर्ष मई के प्रारम्भ मे श्री पण्डित कैलाशचन्द्र जी और डॉ० दरबारीलाल कोठिया न्ययाचार्य वाराणसी जी के साथ मुझे पुन आमन्त्रित किया, फलत हम तीनो विद्वान् वम्वई मे श्री वालचन्द्र देवचन्द्र जी शहा का आतिथ्य स्वीकृत कर कुम्भोज वाहुवली पहुँच गये। वहाँ सिद्ध क्षेत्रो की अनुकृति की रचनाएँ और प्राकृतिक वातावरण देखकर चित्त मे वडा आह्लाद हुआ। मैं १८ दिन वहाँ रहा। अनुवाद की एक प्रति मैंने और दूसरी प्रति डा० दरवारीलाल जी कोठिया ने अपने सामने रक्खी। पण्डित कैलाशचन्द्र जीने फोटो कापी हाथ मे ली। मै स्वय वाचना करता था। सशयास्पद पाठो के शुद्ध रूप फोटो कापी मे मिले। अत अनुवाद मे परिमार्जन किया। चवरे जी भी साथ बैठते थे। ऊहापोह होता था। सुवह, मध्याह्न और रात्रि मे तीन वार बैठते थे। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग चलता था। प्रात पूजा आदि से निर्वृत्त हो आचार्य श्री समन्तभद्र जी के पास १५ मिनट के लिये बैठते थे और पण्डित कैलाशचन्द्र जी तथा डॉ० दरवारी लाल जी कोठिया उन्हे अवगत कराते थे कि आज अमुक विषय बड़े महत्त्व का निकला। दार्शनिक विषय को डा० दरबारी लाल जी कोठिया व्यवस्थित करते थे। इस तरह तीनो विद्वानो के सहयोग से यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। ग्रीष्ममास की दुपहरियो मे भी दोनो विद्वान् कितना परिश्रम कर लेते है तथा बारीकी से देखकर शुद्ध पाठ पकड लेते हैं, यह देख मुझे आश्चर्य होता था। मेरे मन मे आता था कि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यदि इसी प्रकार की वाचना के द्वारा परिमार्जित कर प्रकाशित किये जावें तो विसवाद की स्थिति उत्पन्न न हो।

अठारह दिन मे वाचना समाप्त कर मैं सपत्नीक श्रवणवेलगोल तथा मूडबिद्री की यात्रा के लिये चला गया और कोठिया जी तथा पण्डित कैलाशचन्द्र जी गजा बहिन को धवला का स्वाध्याय कराने के लिये वही रह गये । एक वर्ष मे प्रेसकापी तैयार हो सकी । पश्चात् श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान वाराणसी से उसे प्रकाशित करने का निश्चय हुआ । श्रीमान् पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ के हार्द को प्रकट किया है तथा श्री ब्र० माणिकचन्द्र जी चवरे ने अवान्तर भूमिका का निर्वाह तत्परता से किया है ।

ग्रंथ का नाम

इस ग्रन्थ का नाम लघुतत्त्वस्फोट अथवा शक्तिमणित कोष है । लघुतत्त्वस्फोट का अर्थ है तत्त्वो का लघुप्रकाश और शक्तिमणित कोष का अर्थ है— शक्तिरूपी मणियो से युक्त खजाना । एक कल्पना यह भी उठती है कि ग्रन्थ का नाम शक्तिभणित कोष है अर्थात् आत्म शक्तियो के कथन का कोष । ग्रन्थ कर्त्ता ने म और भ के अन्तर को नही समझा । इस कल्पना का समर्थन ग्रन्थ के अन्त मे समागत निम्न श्लोक से मिलता है—

> अस्याः स्वयं रभसि गाढनिपीडितायाः
> सविद्विकासरसवीचिभिरुल्लसन्त्याः ।
> आस्वादयत्यमृतचन्द्रकवीन्द्र एष
> हृष्यन् बहूनि भणितानि मुहुः स्वशक्तेः ।।

अर्थात् स्वय वेग से अच्छी तरह निपीडित और सम्यग्ज्ञान के विकास रूप रस की तरङ्गो से समुल्लसित आत्मशक्ति के विविध कथनो का यह अमृतचन्द्र कवीन्द्र हर्षित होता हुआ बार बार आस्वादन करता है ।

शक्तिमणित और शक्तिभणित का स्पष्ट निर्णय न होने के कारण 'लघुतत्त्वस्फोट' इस नाम से ही प्रकाशित किया जा रहा है । 'इत्यमृतचन्द्रसूरीणा कृति. शक्तिमणितकोषो नाम लघुतत्त्वस्फोट समाप्त' इस पुष्पिका वाक्य मे दोनो नामो का उल्लेख भी है ।

ग्रंथ के कर्ता

ग्रन्थ के कर्त्ता समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय के संस्कृत टीकाकार तथा तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचयिता अमृतचन्द्र सूरि ही हैं क्योकि पुष्पिका वाक्य के स्पष्ट उल्लेख के साथ समयसार और प्रवचनसार की अनेक गाथाओ का भावानुसरण इसमे पाया जाता है । भावानुसरण ही नही निम्न श्लोक मे समयसार के कलश का पूर्णरूप से शब्दानुसरण भी पाया जाता है—

> अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः सवेदनव्यक्तयो
> निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
> मन्ये भिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
> वलगत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ।।

समयसार मे यह १४१ वाँ कलश काव्य है । विशेषता इतनी ही है कि वहाँ मन्ये के स्थान मे यस्या पाठ है । इसके सिवाय 'लवणखिल्यलीलायते' आदि अनेक कलशो का भी इसमे रूपान्तरण है । समयसार की टीका मे एक जगह अमृतचन्द्र स्वामी ने 'झटिति' अर्थ मे 'टसिति' शब्द का प्रयोग किया है वह इसमे २३ वी पच्चीसिका मे उपलब्ध है । १८ वी पच्चीसिका के दूसरे श्लोक मे 'तवैषो विषय स्यात्' यहाँ एतद् शब्द सम्बन्धी सु का लोप नही किया है जब कि अन्यत्र श्लोक मे किया है । इससे जान पड़ता है कि आचार्य को एतत् शब्द सम्बन्धी सु का लोप विकल्प से इष्ट है । इसी प्रकार का एक प्रयोग इन्होने 'नैष: कदापि सङ्ग सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्' पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे भी किया है ।

तुलनात्मक टिप्पणी मे समयसार, प्रवचनसार आदि की गाथाओ तथा समानार्थक कलश काव्यो के मैंने उद्धरण दिये हैं ।

लघुतत्त्वस्फोट मे समन्तभद्र स्वामी की पद्धति का अनुसरण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार उन्होने युक्त्यनुशासन और स्वयभूस्तोत्र मे दार्शनिक तत्त्वो का समावेश किया है उसी प्रकार इसमे भी दार्शनिक तत्वो का समावेश किया है । विशेषता यह है कि अनेकान्त पद्धति से भिन्न दर्शनो की मान्यताओ को जैन मान्यता के रूप मे स्वीकृत किया गया है । वर्तमान मे चल रही कितनी ही समस्याओ का समाधान इसमे किया गया है । व्यवहार चरित्र को सर्वप्रथम स्वीकृत करने की बात कहकर उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया है । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग निमित्त का निरूपण, निश्चय और व्यवहार की चर्चा भी जहा-तहा उपलब्ध हैं ।

ग्रन्थ की भाषा–

ग्रन्थ की भाषा प्रौढ सस्कृत है । अमृतचन्द्राचार्य सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे, यह हम समयसारादि ग्रन्थो की टीकाओ के माध्यम से जानते हैं । समयसारादि जैसे अध्यात्म ग्रन्थो की टीका मे भी जब उन्होने भाषा की प्रौढता को नही छोडा है तब इस स्वतन्त्र ग्रन्थ मे कैसे छोड सकते थे । प्रथम पच्चीसिका तथा अन्त की चार पच्चीसिकायें भाषा की दृष्टि से प्रौढतम कही जा सकती है ।

इन पच्चीसिकाओ मे वसन्ततिलका, वशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप्, मञ्जुभाषिणी, तोटक, वियोगिनी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, मन्दाक्रान्ता, हरिणी और शार्दूलविक्रीडित छन्दो का प्रयोग हुआ है । अमृत चन्द्र सूरि कवि ही नही कवीन्द्र थे, अत भावानुकूल पदो के चयन मे उन्हें कठिनाई प्रतीत नही होती । उनकी वाग्धारा गङ्गा के प्रवाह के समान अखण्ड गति से प्रवाहित हुई है । प्रथम पच्चीसिका मे वृषभादि चौवीस तीर्थङ्करो का स्तवन है । ग्रन्थ मे भाव की गरिमा के साथ भाषा की प्रौढता भी ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्र के वैशिष्ट्य को प्रकाशित करती है । दृष्टात के लिये अभिनन्दन स्वामी का स्तवन देखिये –

यद् भाति–भाति तदिहाथ च (न) भात्यभाति
नाभाति भाति स च भाति न भात्यभाति ।
भा (या) भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति
सा चाभिनन्दन विभात्यभिनन्दति त्वाम् ॥४॥

श्लोक का अन्वयार्थ तथा पाद टिप्पण ग्रन्थ मे देखिये ।

विज्ञान की महिमा

आत्मरस मे प्रवृत्त विज्ञान तन्तुओ की महिमा देखिये—

> विज्ञानतन्तव इमे स्वरसप्रवृत्ता
> द्रव्यान्तरस्य यदि संघटनाच्च्यवन्ते ।
> अद्यैव पुष्कलमलाकुलकश्मलेयं
> देवाखिलैव विघटेत कषायकन्था ।।१७।।

हे भगवान् ! यदि ये विज्ञानतन्तु स्वरस—आत्मरस मे प्रवृत्त हो अन्य द्रव्यो के सयोजन—कर्तृत्व से च्युत हो जावे तो अत्यधिक मलसे व्याप्त यह कषायरूपी मलिन कन्था (कथरी) आज ही विघट जाय । तात्पर्य यह है कि ज्ञान की स्वमुखी प्रवृत्ति ही कषाय को नष्ट करती है ।

द्रव्यसंयम और भावसंयम की प्रभुता

द्रव्यसयम और भावसंयम की प्रभुता का प्रतिपादन करते हुए अमृतचन्द्र सूरि द्रव्यसयम को प्रथम धारण करने की बात कितनी दृढता से करते हैं देखिये —

> अत्यन्तमेतमितरेतरसव्यपेक्ष
> स्वं द्रव्यभावमहिमानमवाधमानः ।
> स्वच्छन्दभावगतसंयमवैभवोऽपि
> स्वं द्रव्यसंयमपथे प्रथमं न्ययुङ्क्थाः ।।२०।। (८)

हे भगवन् ! यद्यपि आप परस्पर अत्यन्त सापेक्ष द्रव्यसयम और भावसयम को बाधित नही करते थे अर्थात् किसी एक की प्रभुता बताकर अन्य को तुच्छ नही बताते थे और भावसयम के वैभव को स्वेच्छा से हृदय मे धारण करते थे तथापि आपने अपने आपको प्रथम द्रव्यसयम के मार्ग मे लगाया था ।

भक्त की भावना—

हे भगवन् ! कषायरूपी कषण पट्टिका पर घिसने से मेरे ज्ञान की एक ही कला शेष रही है । उस ज्ञान की एक कला के द्वारा ही मैं आपका स्तवन करने के लिये उद्यत हुआ हू । आपकी विभूति के प्रकट करने मे उस कला से कितना प्रकाश हो सकता है ? क्या कभी अलातचक्र भी सूर्य हुआ है ?

स्तुतिकर्ता अपने आपको भगवत्स्वरूप मे किस प्रकार विलीन करता है, देखिये—

> उत्सङ्गोच्छलदच्छकेवलपयःपूरे तव ज्यायसि
> स्नातोऽत्यन्तमतन्द्रितस्य सतत नोत्तार एवास्ति मे ।
> लीलान्दोलितचिद्विलासलहरीभारस्फुटास्फालन—
> क्रीडाजर्जरितस्य शीतशिववत् विष्वग्विलीनात्मन. ।।२५।। (२४)

हे भगवन् ! आपके भीतर छलकते हुए केवल ज्ञान रूपी प्रशस्त जल के पूर मे जो स्नान कर रहा है, जो निरन्तर सावधान है, लीला से चञ्चल चैतन्य विलास रूपी तरङ्ग समूह के प्रचण्ड आस्फालन की क्रीडा से जो जर्जरित हो रहा है तथा शीतशिव—सेंधा नमक के समान जो सब ओर से विलीन हो रहा है ऐसा मेरा उत्तार-उत्तारण— आपसे पृथक् भाव नही हो सकता । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पानी मे विलीन सेंधे नमक की डली उससे पृथक् नही हो सकती उसी प्रकार मैं भी आपसे पृथक् नही हो सकता । यह है भगवान् के साथ भक्त की तन्मयता का सुन्दर निदर्शन ।

इस प्रकार ग्रन्थ का प्रत्येक श्लोक अद्भुत भाव से परिपूर्ण है । आत्मा की जो अनन्त शक्तिया मणियो के समान देदीप्यमान हैं वे सब इस कोष मे देदीप्यमान हो रही हैं । समयसार और प्रवचनसार के अन्त मे आत्मा की जिन शक्तियो का दिग्दर्शन कराया है उन्ही शक्तियो का नये परिवेश के साथ इस ग्रन्थ मे प्रतिपादन किया गया है ।

ग्रन्थ की उपलब्धि

इस ग्रन्थ की ताडपत्रीय प्रति की प्राप्ति अहमदाबाद के देलाभण्डार से हुई है । भण्डार के व्यवस्थापको ने इस ग्रन्थ की अब तक रक्षा की और उसे प्रकाश मे लाने की उदारता दिखलाकर श्री पुण्यविजय जी ने उदारता से डॉ० पद्मनाभजी को प्रदान किया, बडी प्रसन्नता की बात है । डॉ० साहब ने इस पर अंग्रेजी टीका लिखकर विस्तृत प्रस्तावना लिखी । ग्रन्थ का प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है । यद्यपि अंग्रेजी टीका के पूर्व ही मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जा चुकी थी और इसका सहकार डॉ० साहब को प्राप्त हो चुका था फिर भी इसका प्रकाशन कारणवश देर से हो रहा है । ग्रन्थ दुरूह है अत मेरे द्वारा हिन्दी टीका लिखी जाने मे त्रुटिया रही होगी, उन सबके लिए मैं विद्वद्वर्ग से क्षमाप्रार्थी हू । अपने क्षयोपशम के अनुसार मैंने ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय प्रकट करने का प्रयास किया है । इस ग्रन्थ के सशोधन और सपादन मे बडा श्रम करना पडा है । दृष्टि की मन्दता और शरीर की शिथिलता देखते हुए लगता है कि यह मेरी अन्तिम रचना होगी । अमृतचन्द्र स्वामी के अद्यावधि अप्रकाशित इस ग्रन्थ पर कार्य करने का मुझे सौभाग्य मिला, इसकी अत्यधिक प्रसन्नता है ।

श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना मे ग्रथ-कर्त्ता के जीवन पर प्रकाश डालते हुए ग्रथ की विशेषताओ का दिग्दर्शन कराया है । इसके लिये उनका आभारी हूँ । सहयोगी विद्वान् डा० दरबारी लाल जी कोठिया वाराणसी ने दर्शन विषयक शून्यवाद और विज्ञानवाद इन दो पच्चीसिकाओ का अनुवाद किया और भावार्थ लिख कर भेजा तथा वाचना के समय एक प्रति को परिमार्जित किया इसके लिये उनका आभारी हूँ ।

आदरणीय तात्या जी बडे धीरज के साथ लम्बे समय तक प्रतियो की पाण्डुलिपि कराने तथा उसे इधर-उधर भेजने मे तत्परता दिखाते रहे, इसके लिये उनका आभारी हूँ ।

नाट्यकार हस्तिमल्ल और विक्रान्तकौरव

काव्य - भेद –

श्रव्य और दृश्य के भेद से काव्य के दो भेद है। इनमे दृश्य काव्य शिक्षित अशिक्षित सभी के लिये आनन्ददायी होने से बहुत ही लोकप्रिय रहा है। दृश्य काव्य को अभिनय या रूपक कहते है। रूपक के शास्त्रकारो ने नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन इस प्रकार दश भेद निरूपित किये है। जनसाधारण मे यह नाटक इसी एक नाम से व्यवहृत हैं। दृश्यकाव्य का विस्तृत वर्णन धनञ्जय के दशरूपक, तथा भारतीय नाट्यशास्त्र मे मिलता है। पीछे चल कर विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण के षष्ठ परिच्छेद मे भी इसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। दृश्यकाव्य का समीचीन रूप से रसास्वाद करने के लिये नाट्यशास्त्रो का ज्ञान आवश्यक है।

नाटक–साहित्य की विशालता–

संस्कृतभापा का नाटकसाहित्य विशालहै। महाकवि भास, कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण, मुरारि, विशाखदत्त, शूद्रक आदि कवियो ने एक से एक बढ कर रचनाए प्रस्तुत कर सस्कृतसाहित्य के इस अङ्ग को सुविस्तृत किया है। जैन परम्परा मे हस्तिमल्ल ने भी 'विक्रान्त कौरव, मैथिली कल्याण, अञ्जनापव–नञ्जय और सुभद्रा' इन चार नाटको की रचना कर नाटकसाहित्य की श्रीवृद्धि की है। यहा इन मे विक्रान्त कौरव के अन्य नाम 'विक्रान्तकौरवीय' 'कौरवपौरवीय' और 'सुलोचना' नाम भी ग्रन्थकर्ता को इष्ट है क्योकि प्रथम अङ्क के पुष्पिका वाक्य मे 'विक्रान्तकौरवीय, द्वितीय अङ्क के पुष्पिका वाक्य मे 'कौरवपौरवीय' और तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क के पुष्पिकावाक्य मे 'सुलोचना' नाम दिया है। षष्ठ अङ्क के पुष्पिका वाक्य मे ग्रन्थ का नाम न देकर मात्र अङ्क का नाम दिया है।

हस्तिमल्ल–

दिगम्बर जैन नाटककारो मे हस्तिमल्ल का एक विशिष्ट स्थान है। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था। वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से प्रभावित हो उन्होने सम्यग्दृष्टि होकर अनेकान्तमत को स्वीकृत किया था। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। ब्रह्मसूरि के 'प्रतिष्ठासारोद्धार' जलगत उल्लेख से सिद्ध होता है कि गोविन्द भट्ट पाण्डयदेश के गुडिपत्तन नामक नगर के रहने वाले थे। स्वर्णयक्षी के प्रसाद से इनके छह पुत्र उत्पन्न हुए—१ श्री कुमार कवि २ सत्यवाक्य ३ देवरवल्लभ ४ उदयभूषण ५ हस्तिमल्ल और ६ वर्धमान। विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति से विदित होता हैं कि ये छहो पुत्र कवीश्वर थे।

हस्तिमल्ल के सरस्वतीस्वयवर वल्लभ, 'महाकवितल्लज' और सूक्तिरत्नाकर ये विरुद थे। 'राजावलीकथे' के कर्ता ने उन्हें उभयभाषाचक्रवर्ती लिखा है। यहा उभयभाषा से कन्नड और सस्कृत भाषा

समझना चाहिये । इन्ही हस्तिमल्ल का कन्नड भापा मे लिखित एक आदिपुराण ग्रन्थ भी है उसकी पुष्पिका मे उन्होने स्वय लिखा है—

('इत्युभयभापाकविचक्रवर्तिहस्तिमल्लविरचितपूर्वपुराणमहाकथाया दशमपर्वः') ।

पूर्वपुराण आदिपुराण का ही नामान्तर है ।

हस्तिमल्ल न केवल कवि थे, किन्तु हस्तियुद्ध मे भी अत्यन्त निपुण थे । इन्होने एक मत्त हाथी को वश मे करने के उपलक्ष्य मे नाना कलाओ के सागर पाण्डचनरेश के द्वारा सभा मे सत्कार प्राप्त किया था । इसका उल्लेख इसी विक्रान्तकौरव के प्रथम अक के अन्त मे स्वय हस्तिमल्ल ने किया है यथा—

श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।
नानाकलाम्बुनिधिपाण्डचमहेश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ।।४०।।

अञ्जना पवनञ्जन के—

श्रीमत्पाण्डचमहीश्वरे निजभुजादण्डावलम्बीकृतं
कर्नाटावनिमण्डल पदनतानेकावनीशेऽवति ।
तत्प्रीत्यानुसरन् स्वबन्धुनिवहैर्विद्वद्भिराप्तैः सम ।
जैनागारसमेतसंततगमे श्रीहस्तिमल्लोऽवसत् ।।

इस उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि हस्तिमल्ल अपने बन्धुजनो के साथ जैनमन्दिरो से युक्त सततगम अथवा (पाठान्तर से) सततनम ग्राम मे रहते थे और उस समय पाण्डचनरेश कर्नाटक देश की रक्षा करते थे । यह सततगम अथवा सततनम कौन स्थान है इसका निर्णय नही हो रहा है । सभव है कि यह गुडिपत्तन अथवा दीपगु डि का ही एक नाम हो ।

हस्तियुद्ध की घटना सरण्यापुर की है जैसा कि सुभद्रा मे उल्लेख है—

सम्यक्त्वस्यपरीक्षार्थ मुक्त मत्तमतङ्गजम् ।
यः सरण्यापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तितः ।।

यह सरण्यापुर कौन है ? इसका भी पता नही है । या तो यह सततगम का ही दूसरा नाम है या फिर पाण्डचनरेश किसी कारण से हस्तिमल्ल के साथ कही गये होंगे वहा की घटना होगी ।

ब्रह्मसूरि ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार मे हस्तिमल्ल के पिता गोविन्द भट्ट का निवासस्थान गुडिपत्तन वतलाया है । श्री प० के० भुजवली शास्त्री के मतानुसार यह स्थान तजौर का दीपगु डि नामक स्थान है जो पाण्डचदेश मे है । इसी गुडिपत्तन का उल्लेख हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति मे द्वीपगु डि नाम से किया है । यथा—

श्रीमद्द्वीप गुडीश· कुशलवरचित· स्थानपूज्यो वृषेशः
स्याद्वादन्यायचक्रेश्वरगजवशकृद्धस्तिमल्लाह्वयेन ।
गद्यै· पद्यै प्रवन्धैर्नवरसभरितैरादृतोऽय जिनेश·
पाया॰त्र पादपीठस्थलविकटलसत्पाण्डचमौलि॰प्रभौघ ।।

कर्नाट कवि चरित के कर्ता आर. नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १३४७ विक्रम सवत् निश्चित किया है जो कि ठीक-ठीक मालूम होता है क्योकि अय्यपार्य नामक विद्वान् ने अपने जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ मे लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल आदि की रचनाओ का सार लेकर लिखा है और उक्त ग्रन्थ वि० सं० १३६६ मे समाप्त हुआ है, अतएव हस्तिमल्ल १३६६ वि० सं० से पूर्व हो चुके थे।

अब तक हस्तिमल्ल के १ विक्रान्त कौरव, २ मैथिलीकल्याण, ३ अञ्जनापवनञ्जय और ४ सुभद्रा ये चार नाटक प्राप्त हुये है तथा चारो ही माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से मूलरूप मे प्रकाशित हो चुके है। इनके सिवाय १ उदयनराज २ भरतराज ३ अर्जुनराज और ४ मेघेश्वर इन चार नाटको का उल्लेख और मिलता है। सभव है ये दक्षिण के भाण्डारो मे विद्यमान हो।

अय्यपार्य के उल्लेखानुसार हस्तिमल्ल का कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ अवश्य होना चाहिये जिसका आधार अय्यपार्य ने अपने जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ मे लिया है। आरा के जैन सिद्धान्तभवन मे एक प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रन्थ है जिस पर कर्ता का नाम नही है। छानबीन करने से सभव हो सकता है कि वह हस्तिमल्ल की ही रचना हो। यह पहले लिख आये है कि हस्तिमल्ल सस्कृत के समान कन्नड भाषा के भी अद्वितीय विद्वान् थे। इसीलिये वे उभयभाषाचक्रवर्ती कहलाते थे। कन्नड मे आदिपुराण (पुरुचरित) और श्रीपुराण ये दो ग्रन्थ हस्तिमल्ल के बनाये हुये उपलब्ध है।

हस्तिमल्ल गृहस्थ थे। उनके पुत्र-पौत्रादि का वर्णन ब्रह्मसूरि ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार मे किया है। स्वय ब्रह्मसूरि भी उनके वश मे हुए है। उन्ही ने लिखा है कि पाण्डचदेश मे गुडिपत्तन के शासक पाण्डचनरेन्द्र थे जो बडे धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और पण्डितो का सन्मान करने वाले थे। वहा वृषभतीर्थकर का रत्न स्वर्णजटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमे विशाखनन्दि आदि विद्वान् मुनि रहते थे। गोविन्दभट्ट यही के रहने वाले थे उनके श्रीकुमार आदि छह पुत्र थे। हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्व पण्डित था जो अपने पिता के ही समान यशस्वी, धर्मात्मा और शास्त्रज्ञ था। यह अपने वशिष्ठ काश्यपादि गोत्रज बान्धवो के साथ होटसल देश मे जाकर रहने लगा जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमे चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल (होन्नूरु) मे जा बसा और दो भाई अन्य स्थान को चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि, जिनके बनाये हुये त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठातिलक ग्रन्थ उपलब्ध है। ब्रह्मसूरि ने अपनी जो वंश परम्परा दी है उसके अनुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। ब्रह्मसूरि विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी के विद्वान् माने जाते है। यदि चार पीढियों मे सौ वर्ष का भी अन्तर माना जाय तो हस्तिमल्ल विक्रम की चौदहवी शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते है।

विक्रांत कौरव की कथा-वस्तु—

विक्रान्तकौरव मे हस्तिनागपुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार और वाराणसी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयवर का वर्णन है। राजा सोमप्रभ और अकम्पन प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के समय मे हुए हैं। वह कर्मभूमि के प्रारभ का समय था। जैनकाल गणना के अनुसार वीस कोडाकोडी [1] सागर का एक कल्पकाल होता है। इस कल्पकाल मे दश कोड़ाकोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणी काल और दश कोड़ाकोड़ी सागर

(१) एक करोड़ मे एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणन फल हो उसे कोड़ा कोड़ी कहते हैं।

[1] का एकअवसर्पिणीकाल होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल इस प्रकार है — १ दुःषमा दु षमा २ दु·षमा ३ दुःषमा सुषमा ४ सुषमा दुःषमा ५ सुषमा और ६ सुषमा सुषमा। इनमे पहला काल इक्कीस हजार वर्ष का, दूसरा काल इक्कीस हजार वर्ष का, तीसरा काल बियालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर[1] का, चौथा काल दो कोडाकोडी सागर का, पञ्चम काल तीन कोडाकोडी सागर का और छठवां काल चार कोडाकोडी सागर का होता है—उत्सर्पिणी काल के उक्त छह भेदो मे मनुष्यो की आयु वल, विद्या, बुद्धि आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर अवसर्पिणी के निम्नलिखित छह काल क्रम से प्रवृत्त होते हैं—१ सुषमा सुषमा २ सुषमा ३ सुषमा दु षमा ४ दु षमा सुषमा ५ दु षमा और ६ दु षमा—दु षमा। ये छह काल भी क्रम से ४ कोडाकोडी सागर, तीन कोडाकोड़ी सागर, दो कोड़ाकोडी सागर, बियालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर, इक्कीस हजार वर्ष और इक्कीस हजार वर्ष उत्तरोत्तर के होते है। अवसर्पिणीकाल के छह भेदो मे मनुष्यो की आयु वल, विद्या बुद्धि आदि मे ह्रास होता रहता है। इस समय अवसर्पिणी का पाचवा काल चल रहा है। जिसके इक्कीस हजार वर्षो मे से अभी २४९८ वर्ष बीत चुके है। प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव तीसरे काल के अन्त मे हुए थे और तीसरे काल मे जव तीन वर्ष साढे आठ माह वाकी थे तव मोक्ष चले गये थे। इस तरह भगवान् वृषभदेव का समय आज से असख्य वर्ष पूर्व जा पहुँचता है। भगवान् वृषभदेव के पूर्व भरतक्षेत्र मे भोगभूमि की रचना थी। कल्पवृक्षो से सबका काम चलता था। पर भगवान् वृषभदेव के समय भोगभूमि नष्ट होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। भगवान् वृषभदेव ने असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छह कर्मो का उपदेश देकर सवको निर्वाह—आजीविका की शिक्षा दी। उन्होने नगर, ग्राम आदि का विभाग कराया, वर्णव्यवस्था की तथा राजवशो की स्थापना की। सर्व प्रथम भगवान् वृषभदेव ने भरतक्षेत्र मे जिन चार राजाओ का राज्याभिषेक किया था उनमे वाराणसी के राजा अकम्पन और हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ भी थे। जव भगवान् वृषभदेव ससार से विरक्त हो अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो चुके थे और उनके वडे पुत्र भरत चक्रवर्ती अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरूढ थे, तव सुलोचना का स्वयवर हुआ था। यह स्वयवर इस अवसर्पिणी युग का सर्वप्रथम स्वयवर था। प्रशान्तवाहिनी मन्दाकिनी के तीर पर वसी वाराणसी की सजावट अद्भुत थी। वाराणसी के बाहर आगन्तुक राजकुमारो का शिविर लगा हुआ था। प्रथम स्वयवर होने के कारण उसे देखने की उत्सुकता सब मे थी। इसलिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर के अनेक राजकुमार उसमे सम्मिलित हुए थे। विजयार्धपर्वत के निवासी विद्याधर भी आए थे। नगर देवता की यात्रा के लिए सुलोचना का जुलूस निकला हुआ था। सुलोचना पालकी पर सवार थी। उसी समय एक आम्र वृक्ष के नीचे बैठे हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार पर उसकी दृष्टि पडी। यही से उसके हृदय मे अनुराग शुरू होता है। कवि ने सुलोचना और जयकुमार के हृदय मे अनुराग का बीजवपन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। दर्पण मे जयकुमार का प्रतिबिम्ब लेकर उसे सुलोचना ने बड़ी शालीनता के साथ देखा है। गङ्गा तीर के उद्यान मे दूसरे दिन प्रात काल कवि ने सुलोचना और जयकुमार का पुन साक्षात्कार कराया है। दोनो के हृदय का अनुराग क्रमश विस्तृत होता जाता है। स्वयवर मण्डप मे सुलोचना जयकुमार के गले मे स्वयवरमाला डालती है। निराश राजकुमार भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के नेतृत्व मे युद्ध के लिये तैयार होते है। अर्ककीर्ति के साथ आया हुआ निरवद्य मन्त्री अर्ककीर्ति को बहुत समझाता है। इसी

(१) असख्यात वर्षों का एक सागर होता है।

प्रकार अकम्पन अपने प्रधान प्रतीहार आर्य महेन्द्रदत्त को भेज कर बहुत ही विनय प्रदर्शित करते हैं तथा अपनी दूसरी पुत्री रत्नमाला देने का प्रस्ताव करते है पर अर्ककीर्ति का क्रोध शात नही होता है। फलस्वरूप अकम्पन तटस्थ रह जाते है और जयकुमार का प्रतिपक्षी राजकुमारो के साथ युद्ध होता है। उसमे जयकुमार अर्ककीर्ति को बाध लेता है। निरवद्य मन्त्री ने अर्ककीर्ति की इस उत्तेजना की सूचना चक्रवर्ती भरत के पास भेजी थी पर भरत महाराज ने जो गम्भीरता प्रकट की वह उनके ही अनुरूप थी। उनकी गम्भीरता देख तथा उनकी ओर से आया हुआ सदेश सुनकर अकम्पन महाराज गद्गद् हो उठे। वातावरण शान्त हो गया। अकम्पन ने अपने प्रस्ताव के अनुसार पहले अर्ककीर्ति के साथ रत्नमाला का विवाह किया और पीछे जयकुमार के साथ सुलोचना का। इस तरह नाटक की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त है, परन्तु कवि ने अपने कौशल से उसे इस तरह पल्लवित किया है कि पाठक का हृदय आनन्द से विभोर हो उठता है।

जयकुमार और सुलोचना का विस्तृत जीवन चरित जिनसेन के महापुराण मे वर्णित है। उसी के आधार पर मात्र स्वयवर की घटना को लेकर इस नाटक की रचना हुई है। जयकुमार दिग्विजय के समय भरत चक्रवर्ती के सेनापति रहे है और म्लेच्छो के युद्ध मे उन्होने अपनी अद्भुत वीरता दिखलाई है। स्वयवर से सुलोचना को विवाह कर जयकुमार हाथी पर सवार हो जिस समय गङ्गा पार कर रहे थे उसी समय पूर्वभव के वैरी एक देव ने ग्राह का रूप रख कर हाथी का पैर पकड लिया। हाथी धीरे-धीरे डूबने लगा। सब ओर आर्त्तनाद छा गया पर सुलोचना ने एकाग्रमन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जाप किया उसके फलस्वरूप पूर्व जन्म मे उपकृत एक देव ने उस ग्राहरूपधारी देव का दमन कर हाथी का उद्धार किया। जयकुमार विवाह के बाद सीधे हस्तिनागपुर न जाकर अयोध्या होते हुए गये। भरतचक्रवर्ती ने बडे प्रेम से जयकुमार और सुलोचना का स्वागत किया। जयकुमार बहुत ही नीतिज्ञ राजा थे। अन्तिम अवस्था मे संसार से विरक्त होकर उन्होने मुनि-दीक्षा धारण की और भगवान वृषभदेव के चौरासी गणधरो मे से एक गणधर हुए।

विक्रान्तकौरव की साहित्यिक सुषमा—

हस्तिमल्ल की यह रचना अत्यन्त प्रौढ तथा व्याकरण के नियमो का पूर्ण पालन करने वाली है। माधुर्य गुण से ओतप्रोत है। नाटक के प्रारम्भ मे सूत्रधार हस्तिमल्ल की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

'सरस्वत्या देव्या श्रुतियुगवतंसत्वमयते
सुधासध्रीचीना त्रिजगति यदीया सुभणितिः।
कवीन्द्राणां चेतः कुवलयसमुल्लासनविधौ
शरज्ज्योत्स्नालीला कलयति मनोहारिरचना ॥५॥

जिन हस्तिमल्ल की अमृतसदृश सूक्ति तीनो जगत् मे साक्षात् सरस्वती देवी के कर्णयुगल की आभरणता को प्राप्त होती है और जिनकी हृदयहारी रचना बड़े-बड़े कवियो के चित्तरूपी नीलकमलो को विकसित करने मे शारदी चन्द्रिका की लीला को धारण करती है।

तथा—

'कवीन्द्रोऽयं वाचा विजितनवमोचाफलरसः'

यह कवीन्द्र अपनी वाणी से नूतन केला के रस को जीतने वाला है ।

ग्रथ का विलोडन करने के बाद हम सूत्रधार की उक्ति को शत-प्रतिशत सत्य प्राप्त करते हैं । कवि की भाषा मे प्रवाह है, रस है, माधुर्य है और अलंकार की विच्छित्ति है । ऐसा जान पडता है कि कवि को रसानुकूल शब्द योजना करने मे किसी विशेष चिन्तन की आवश्यकता नही पडती । वे सिद्धसरस्वती के समान किसी भी वस्तु का वर्णन अनायास करने मे सफल हुए हैं । प्रस्तावना के अन्त मे वासन्तिक दिवसो का वर्णन देखिये । यहा कितनी अव्याहत गति से शब्दावली कवि के मुखारविन्द से प्रकट हो रही है—

पुष्यच्चूतलताप्रवालकलनामाद्यत्पिकोद्यत्स्वरा
वासन्तीलतिकालतान्तविचरद्भृङ्गारवाडम्बराः ।
फुल्लाशोकसुगन्धबन्धुरचरन्मन्दानिलस्पन्दना
यूनामुत्सुकयन्ति मानसममी वासन्तिका वासराः ॥७॥

कवि ने प्रथमाङ्क मे नन्द्यावर्त के मुख से वाराणसी के जिन भीडभाड से भरे हुए मार्गो का, हाथ जोडकर खडे हुए हजारो भक्तजनो से सुगन्धित उद्यानो का, सुरवनिता सदृश सुन्दरियो से व्याप्त सौधो का, भीतर से भाकने वाली ललनाओ के मुखो से सुशोभित भरोखो का, प्रियतमाओ के अनुनय मे लीन युवाओं से युक्त वेशवाटो का तथा यहा की अन्यान्य शोभा का प्राञ्जल गद्य द्वारा जो वर्णन किया है आज सात-आठ सौ वर्ष के बाद भी हम उसे उसी भाति देख सकते हैं ।

द्वितीयाङ्क मे प्रतीहार के मुख से गङ्गा का वर्णन करते हुए कवि कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

गङ्गा तरङ्गेण विधारयन्ती सरोजजालं चलहंसमालम् ।
उल्लासिहारच्छविहारितोया वाराणसीसीमविहारिपूरा ॥१०॥

मदकलसारसलीलाकल्हारविसरणमञ्जुलसमीरा ।
तामरससरसकेसरविसराकुलसलिलकल्लोला ॥११॥

इसी द्वितीयाङ्क मे प्राकृतभाषा मे विदूषक के द्वारा और सस्कृत भाषा मे राजा के द्वारा गङ्गा तीरोद्यान का वर्णन कवि ने किया है वह बहुत ही हृदयहारी है । देखिये—विविध पुष्पकलिकाओ का रस लेता हुआ भ्रमर किस प्रकार घूमता है ?—

चूषश्चूताङ्कुराग्र क्षणमथ कलिकाः पाटयन् पाटलीना-
मास्कन्दन् कुन्दकोश झटिति विघटयन् कुड्मलं कारहाटम् ।
भिन्दन्मन्दारबद्ध मुकुलमविकच चम्पकानां च चुम्बन्
पुष्पादभ्येति पुष्पं मधुकरनिकरः प्राप्तहर्षप्रकर्षः ॥१५॥

उद्यान के उच्छिलिङ्ग—अनार और मातुलिंग विजोरा के वृक्षो का वर्णन करते हुये कवि ने जो उपमालङ्कार की विच्छित्ति तथा सुन्दर शब्दावली की योजना की है वह दर्शनीय है—

हृद्यामद्यानुधावत्यधरदलरुचा रञ्जितां दन्तपङ्क्ति
गौडीना प्रौढपाकक्रमपरिदलितैः स्वैः फलैरुच्छिलिङ्गः ।
निष्टप्तस्वर्णवर्णच्छविभिरवहितघ्राणलेढव्यगन्धैः
काश्मीरीगण्डशोभां कवलयति फलैर्निर्मलैर्मातुलिङ्गः ॥१६॥

राजा—(विलोक्य निर्वर्ण्य च) इय खलु मदोद्धुरोद्दाममल्लिकाक्षपक्षविक्षेपक्षोभणप्रक्षरदरविन्दमरन्दावस्कन्द-सान्द्रसलिला, सलीलविलोठमान पाठीनपरिपाटीजटिलकल्लोला, कलक्वणितानुमीयमानेन्दिदिरवृन्दान्दोलितविनिद्रेन्दीवरवना, विहारकेलीकलहायमानकोकनिनदमुखरितविकचकोकनदकुटीरकोटरा, सकौतुकवरटारटनानुसरणसंभ्रान्त-कलहसकुलसकुलोत्फुल्लपुण्डरीकषण्डा, चटुलखञ्जरीटकुटिलपदपङ्क्तिचित्रितपर्यन्तसैकततला, प्रसादलुलितनिर्मल-स्फाटिकतटा विघटितसौगन्धिकगन्धसम्बन्धबन्धुरितगन्धवाहा, नन्दयति नयनानि मन्दाकिनी ।

इसी द्वितीयाङ्क के गङ्गा तीरोद्यान मे सुलोचना का प्राकृतभाषा द्वारा जो आत्मगत चिन्तन लिखा गया है वह भवभूति के मालतीमाधव मे मालती के आत्मगतचिन्तन का स्मरण कराता है ।

कवि द्वारा नये-नये शब्दो का प्रयोग देखिये—

अयमिह सहसानः संगरन् बर्हभारं तरुविटपनिषण्णस्सेवते स्वापसौख्यम् ।
अयति तपनतापादुत्त्रसन्नत्र चासौ घननलिनपलाशाभ्यन्तर मन्दसानः ॥३५॥

यहा मयूर के लिये सहसान और हस के लिये मन्दसान शब्द का प्रयोग नूतन है ।

वाराणसी का वेशवाट बहुत पहले से प्रसिद्ध रहा है । कवि भी उसके वर्णन का लोभसवरण नही कर सके हैं । देखिए तृतीयाक के प्रारम्भ मे विट द्वारा उसका कितना सुन्दर वर्णन है—

कथमसौ विलासबाह्यालिर्मकरध्वजस्य, संगीतशाला रतेः, विक्रया पण्यस्त्रीरत्नानाम्, उत्पत्तिभवन शृङ्गारस्य, नाभिगृह लीलाया निर्माणभूमिर्विभ्रमाणाम्, आकर्षणवडिशं तरुणजनमनोमीनानाम्, अवस्कन्दपरबल-मिन्द्रियग्रामस्य, विनयमुखपटाक्षेपणरङ्गो विनीतजनवाराणनाम्, स्वगुणविकथनस्थान षोद्गानाम्, वैदग्ध्य-विनिमयहृद्दृश्छेकानाम्, करालगौलव्यतिकरपितृवन वेश्याजनमातृजरत्पिशाचिकानाम्, पुराणा बामलूर्गणिका-दारिका भुजङ्गीनाम्, अपूर्वमद्वैतदर्शन मायाप्रपञ्चस्य पारिपन्थिको निःश्रेयसपथपान्थानाम्, मनोरथमात्रास्वाद्यो दुर्गताना, द्रविणवता सदाप्यदत्तकवाटो वेशवाट ।

विट महाशय वाराणसी के वेशवाट मे प्रवेश कर इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वहा से निकलने का नाम ही नही लेते । वे एक-एक कर अनेक वेश्याओ का आतिथ्य स्वीकृत करते है । अन्त मे आप अशोकतलिका के घर रुक कर स्वयवर मे जाने वाले विविध राजकुमारो की साजसज्जा का अवलोकन करते है । यथार्थ मे यह प्रकरण आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है । पाठक का चित्त पढते-पढते ऊब-सा जाता है ।

तृतीय अक मे स्वयवर सभा मे आसीन राजाओ का वर्णन कविकुलगुरु कालिदास के द्वारा रघुवश मे वर्णित इन्दुमती के स्वयवर का स्मरण करा देता है । स्वयंवर सभा मे प्रवेश करती हुई सुलोचना का वर्णन देखिये कितनी मधुर भाषा मे हुआ है—

राजा (सोच्छ्वासमात्मगतं) कथ प्रविष्टैव (निर्वर्ण्य) इय हि सा काशिपतेस्तनूजा स्वयवरस्थानसभामुपैति ।
सुलोचना दीर्घविलोचनाभि पुराङ्गनाभि सह निम्नाभि ॥३५॥

स्वयवरविधि की श्लाघा करते हुए कवि प्रतिहार के मुख से कहलाते हैं—

अहो महाराजस्य सर्वातिशायिनी प्रज्ञा तदुपज्ञमिय प्रज्ञावतामगर्हणीया वधूवरसमाराधनलब्धस्तोत्रास्वयंवर यात्रा ।

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तादृगथवा कुमारी तच्छन्दं निभृतमवगच्छेदिति तु यत् ।
तदप्येषा दत्तिर्लंघयति यदस्या रमयितु-र्गुण वा दोष वा स्वरुचिमनुचक्षुर्विमृशति ।।३६।।

रस के अनुरूप रीति के निर्वाह और छन्दो के चयन मे कवि ने असीम सफलता प्राप्त की है—तृतीय अक के अन्त मे जहा शृङ्गार की धारा वीर रस मे परिवर्तित होती है वहा राजा तथा नन्द्यावर्त की उक्तिया देखिये—

राजा (सक्रोध) अरे रे दुर्वान्तक्षत्रियकीटा. शृणुतेमा प्रतिज्ञाम्

वक्षः प्रस्थात् क्षुरप्रप्रहृति विघटितग्रन्थिबन्धश्लथास्थ्न-
श्चोतन्मस्तिष्कशवलस्थपुहिनपिशितादुत्खनन्मानशङ्कुम् ।
त्रासातकाज्जिहासन् प्रथमतरमसून् मोघसरम्भशोच्या
नाच्छेत्स्यत्येष रोषग्रहविहृतघृणः कौरवो भैरवो वः ।।७६।।

नन्द्यावर्त —रे रे अस्थानोत्थितक्रोधाभिभूतविडम्बितवीररसा पश्यन्तु विश्वेऽपि क्षुद्राः क्षत्रियकुलपासुला ।

निर्मुञ्चन्वाणवृष्टीर्निविडनिपतनाकाण्डवद्धान्धकाराः
स्वैरावस्कन्दरुग्णप्रतिनृपतिशिरःस्कन्धसम्बन्धसन्धीः ।
कल्पान्तष्ठ्यूतधाराकवलितगगनाभोगसीम्नस्समन्ता-
न्नन्द्यावर्तोऽद्य लीला रचयति समरे पुष्कलावर्तकस्य ।।७७।।

चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ मे क्रुद्ध अर्ककीर्ति के प्रति निरवद्य मत्री की हितावह देशना देखिए और भाषा की रसानुसार सुकुमारता पर विचार कीजिये—

'युवराज ! केयं पृथग्जनसुलभाऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रवृत्ति ? किंचेदमात्मवतामनभिमतं दुःशिक्षितजनदुरुप-

"दूराह्वानं वधो युद्ध राज्यदेशादिविप्लवः" आदि सिद्धात के अनुसार—नाटक मे युद्ध का साक्षात् वर्णन निषिद्ध है । इसलिये रत्नमाली विद्याधर, उसकी स्त्री रत्नमाला, मित्र मदर और अनुचर मन्थरक के वार्तालाप के द्वारा उसका परोक्ष वर्णन किया गया है । यह वर्णन इतना उदात्त और रसपूर्ण है कि इसे पढकर पाठक की आखो के सामने युद्ध का साक्षात् दृश्य झूलने लगता है । युद्ध के समय धूलि उडकर आकाश मे छा जाती है इसका वर्णन देखिये कवि ने कितने मनोहर उत्प्रेक्षालकार से किया है—

> ख्यातः पूर्वं जगति समरो मत्कृते भूपतीनां
> काचित्कन्यां प्रति रणमिदं तद्यशो मे प्रमार्ष्टि ।
> इत्युद्भूतात् प्रकृतिसुलभात् स्त्रीषु सापत्नवैरात्
> क्वापि क्षोणी घनतमरजश्छद्मना गच्छतीव ।।३२।।

अर्थात् पृथिवी सोचती है कि आज तक राजाओ के जितने युद्ध हुए वे सब हमारे लिये हुए पर यह युद्ध एक कन्या के लिए हो रहा है । इस तरह उत्पन्न हुए स्त्रीविषयक सौतियाडाह के कारण ही मानो पृथिवी सान्द्रधूलि के छल से कही भागी जा रही है ।

इस युद्ध के प्रसङ्ग को लेकर कवि ने वीररस का प्रवाह खूब ही प्रवाहित किया है । प्रत्येक वर्णन मे हम देखते हैं कि कवि की काव्यकला अपने आप मे पूर्णता को प्राप्त है । एक श्लोक देखिए जिसमे कवि ने युद्ध के समय उभय पक्ष की उक्ति-प्रत्युक्तियो का सिर्फ लोट्लकार मध्यम पुरुष के एकवचन मे कितना सुन्दर सग्रह किया है ।

> क्षुन्ध्याघूर्णय कुट्टय क्षिप दह व्यारुन्ध संधानय
> भिन्धिच्छिन्धि मथान ताडय जहि व्यावर्तयापातय ।
> विद्धयास्फालय भञ्ज रुन्धि विकिर व्याकर्ष घर्षोद्धरे—
> त्येवं प्रायमिहोच्चरद्वच इदं व्याजायते व्योमनि ।।४३।।

भूमिगोचरी राजाओ के साधारण युद्ध का वर्णन कर कवि ने विद्याधरो के छलबहुल युद्ध का भी अच्छा वर्णन किया है । उत्तररामचरित मे भवभूति ने लव-कुश और चन्द्रकेतु के बीच इस छलबहुल युद्ध का थोडा-सा सूत्रपात् किया है परन्तु यहा उसका बडी सुन्दरता के साथ पल्लवन किया गया है । इस छलबहुल युद्ध को लेकर आधी, वर्षा तथा अग्नि आदि का भी प्रसगोपात्त अच्छा वर्णन इसमे आ गया है । युद्ध के प्रागण मे डटे हुए जयकुमार और अर्ककीर्ति के बीच जो उत्तर प्रत्युत्तर होता है वह भी पाठक के हृदय मे जोश उत्पन्न करने वाला है । अन्त मे जयकुमार अर्ककीर्ति के रथ पर चढ उसे पाश से बाधकर निम्न गर्जना करता है—

> अयमयमिह युद्धाबद्धगर्वोद्धताना भुजबलमदभारं स्वैरमद्यावरोप्य ।
> नियमयति भुजौ द्वौ भारतस्यार्ककीर्तेर्युधि कुरुपतिसूनुर्मोचयन्त्वेतदीयाः ।।६६।।

देखिये युद्ध के परिणाम का उद्घोष करते हुये कवि ने अपने श्लेषचातुर्य का कैसा सुन्दर परिचय दिया है ?

> परा जयमसौ प्राप्ता कौरवस्य पताकिनी ।
> पराजयमसौ प्राप्ता पौरवस्य पताकिनी ।।१००।।

पञ्चम अंक के प्रारम्भ मे भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को युद्ध मे बद्ध सुनकर सुलोचना के अकम्पन को बहुत दु ख होता है। यद्यपि जिनसेन के महापुराण मे वर्णन है कि अकम्पन जयकुमार का पक्ष ले युद्ध मे शामिल हुए थे। पर इस नाटक मे कवि ने उन्हे मध्यस्थ ही प्रकट किया है। वे युद्ध के समय वाराणसी रक्षा करते हुए अपने दुर्दैव को ही दोष देते रहे हैं। युद्ध के बाद जयकुमार को कितनी फटकार देते है अक महाराज, यह निम्न श्लोक मे देखिये—

> बद्धुं भवानात्मन एव बन्धुं नार्हत्यशङ्को भरतस्य सूनुम् ।
> विमुच्यतामेष तदाशु बन्धात् स मुच्यता मुग्ध तवापि मोहः ॥७॥
>
> सुतोऽयमाद्यो ननु चक्रवर्तिनस्सुतावमानेऽवमतस्स एव हि ।
> इति त्वया डिम्भ न हन्त चिन्तितं पितु. कुरोर्नानुकरोषि चेष्टितैः ॥८॥

महाराज अकम्पन की इस मध्यस्थता ने अपने आपको चक्रवर्ती के कोप से बचा लिया। अर्ककीर्ति साथ आगत निरवद्य मन्त्री ने चक्रवर्ती के पास जो समाचार भेजा था उसके उत्तर मे चक्रवर्ती, जयकुमार के प्र कितना शातिपूर्ण निर्णय भेजते है, यह देखिये—

> यथार्ककीर्तिर्विनयात्प्रमाद्यन्निरस्ततन्द्रं मम शासनीयः ।
> तथोत्पथप्रस्थित एष मोहात् त्वयापि पथ्ये पथि वर्तनीयः ॥१०॥

महाराज अकम्पन के लिये भी चक्रवर्ती भरत ने जो लेख भेजा था उसका आदर्श देखिये—

> यद्युष्माकमसौ वचासि शिरसाभ्यर्थ्यायिनि शेषास्थया
> व्यामोहादतिलङ्घतेस्म तदयं पुत्रोऽर्ककीर्तिर्ननु ।
> अप्यस्मिन् भवतां न कर्तुमुचितोपेक्षा समीक्षावतां
> मन्दाज्ञो भवति प्रमाद्यति जने को वा विनेये सुधी ॥११॥

ततश्च—

> न द्वेष्टि मेघेश्वरमर्ककीर्तिर्मेघेश्वरो द्वेष्टि न चार्ककीर्तिम् ।
> यथा सुहृद्भ्यू य विवान्तवैरौ तथा भवद्भि. प्रतिबोधनीयौ ॥१२॥

चक्रवर्ती की इस लोकोत्तर शाति और न्यायप्रियता को देखकर महाराज अकम्पन गद्गद् होकर कहते हैं

> शमं दधातो योगिदुर्लभं गुणैः कियद्वा[1] पितुरेष हीयते ।
> तदस्य संचिन्त्य चरन्तु साधव–स्सुदुःस्तव वृत्तमदुष्टवृत्तयः ॥१४॥
> त्वय्येष नः[2] सार्वजनीनसूनौ यशस्वती ह्यात्र न माति हर्षः ।
> किमन्यदेते पितरं यथा ते त्वामात्मशौचाय तथा स्मरामः ॥१५॥

पञ्चम अक मे कवि ने राजा, नन्द्यावर्त तथा विदूषक के मुख से प्रमद वन, चन्द्र और चादनी का मनोहर वर्णन किया है वह कवि कल्पनाओ का सुन्दर उदाहरण है। वह समग्र प्रकरण उद्धरणीय है पर ले

---

१ भगवान् वृषभदेव। २ भगवान् वृषभदेव।

विस्तार के भय से उद्धरण न देकर पाठकों से यही अनुरोध करूँगा कि उस प्रकरण को निकालकर स्वयं रसास्वादन करें। युद्ध के बाद सुलोचना अक्षतशरीर जयकुमार को देखने के लिये उत्कण्ठित है। दोनो एक-दूसरे को देखकर परम सुख का अनुभव करते है। वत्सा रत्नमाला के विवाह सस्कार के लिये माता को बुलावा आने से सुलोचना वापिस चली गई। राजा बडी आतुरता के साथ वह रात्रि प्रमदवन मे व्यतीत करते है। प्रभात होते-होते चन्द्रमा की चादनी समाप्त हो गई, कहा गई ? इसका उत्तर कवि की कलम से सुनिये—

चकोरैर्ज्योत्स्नाम्भः कियदपि निपीतं परिपतत्
पुटेष्वम्भोजानां कियदपि निरुद्धं निमिषदाम्।
वियोगार्तैः कोकैः कियदपि गतं पक्षविधुतं
विशुष्कं संतप्तास्वथ तनुषु शिष्टं विरहिणाम्॥८२॥

षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ मे सुलोचना के भाई हेमाङ्गद और प्रतिहार के द्वारा विवाहोत्सव मे आगत स्त्रियो का जो हाव-भाव का वर्णन हुआ है वह एकदम निराला है। देखिये—

स्रस्तोत्तरीयसिचयोन्मिषितस्तनश्रीः पश्य स्तनांशुकधिया परिभुग्नपक्षा।
मूर्च्छन्नखांशुचयसंवलितां करेण हारप्रभामसकृदाक्षिपतीह मुग्धा॥१३॥

एक स्त्री का उत्तरीयवस्त्र खिसककर नीचे गिर गया और उसके स्तनो की शोभा प्रकट हो गई। उसी समय नखो की किरणो के समूह से मिली हुई हार की प्रभा आकाश मे फैल गई। वह स्त्री उस हार की प्रभा को ही वस्त्र समझकर बार-बार खीच रही है।

विलोक्य नीलाश्मतले विलोचने विनम्रगात्रा प्रतिबिम्बिते पुरः।
विवर्तपाठीनयुगाभिशङ्कया निवर्तयत्यन्यत आकुलं पदम्॥१५॥

एक स्त्री कुछ नम्र होकर नीलमणि के फर्स पर चल रही है उसके नेत्र रस फर्स मे प्रतिबिम्बित हो रहे है। उन प्रतिबिम्बित नेत्रो को मछलियो का युगल समझकर वह स्त्री बड़ी घबड़ाहट के साथ अपना पैर दूसरी ओर लौटा रही है।

सुनिर्मलस्फाटिकभित्तिलग्नां छायां निजां वीक्ष्य सखीति बुध्वा।
मुग्धा परिष्वज्यमुदा विलक्षस्मितेन सिञ्चत्यधरोष्ठमेका॥१७॥

कोई एक स्त्री स्फटिक की निर्मल दीवाल पर पडते हुए अपने प्रतिविम्ब को सखी समझ उसका हर्ष से आलिङ्गन करती है और पीछे लज्जा से उत्पन्न मन्द हास से अपने अधरोष्ठ को सीच रही है।

अन्त मे महाराज अकम्पन जलधारापूर्वक सुलोचना को जयकुमार के लिये सर्मपित करते है। उस समय महाराज के जो आशासना वाक्य है वे अत्यन्त हितावह है।

इस नाटक मे प्रधान रूप से शृङ्गार रस है और अङ्ग रूप से वीर रस है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति, स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास आदि अलकारो का यथास्थान प्रयोग हुआ हैं। छन्दो मे हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, वशस्थ और इन्द्रवज्रा आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध छन्दो

का प्रयोग हुआ हे। सिर्फ पञ्चम अङ्क के ६७ वें श्लोक मे नर्कुटक नामक अप्रचलित छन्द प्रयुक्त हुआ नाटकीय सिद्धात के अनुसार सस्कृत और प्राकृत इन दो भाषाओ का इसमे प्रयोग हुआ है । जिस प्रकार सस् उच्च कोटि की है उसी प्रकार प्राकृत भी उच्चकोटि की है। भाषा की प्रौढता के विषय मे कवि ने भवभूति की शैली को अपनाया है, ऐसा जान पडता है। वस्तुत नाटको मे महाकवि कालिदास के समान स भाषा का प्रयोग अधिक रुचिकर होता है। सरल भाषा मे लिखे नाटक सरलता मे मञ्च पर खेले जा सकते हैं क्लिष्ट भाषा मे लिखे नाटक मात्र पाठ्य नाटक रह जाते है।

सस्कृत जैन साहित्य नाटक, चम्पू काव्य तथा गद्यकाव्य के रूप मे जितना भी उपलब्ध है साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का है। उसमे साहित्य के समस्त अङ्ग विद्यमान हैं। आधुनिक शैली उनका सम्पादन और प्रकाशन भी हुआ है। हम आशा करते है कि हमारे सस्कृतज्ञ विद्वान् इस सा को भी पठन पाठन के द्वारा प्रचार मे लाने की कृपा करेंगे।

▣

स्वयंभू स्तोत्र और समन्तभद्र स्वामी

स्तुति का स्वरूप तथा प्रयोजन—

जब तक यह जीव शुक्लध्यान की उस भूमिका मे नहीं पहुंच जाता, जिसमे कि पूज्य-पूजक आराध्य-आराधक का विकल्प दूर हो जाता है, तब तक पूज्य के प्रति राग का भाव नियम से होता है। उस भक्तिसम्बन्धी राग को प्रकट करने के लिये यह जीव पूज्य के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। उस कृतज्ञता को प्रकट करने के अनेक मार्गों मे स्तुति भी एक मार्ग है। 'णमोअरहंताणं' आदि महामन्त्र इसी स्तुतिमार्ग का एक उद्घोष है। विद्यानन्द स्वामी ने कहा है— 'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' —सत्पुरुष किये हुए उपकार को नही भूलते। प्राकृत दशभक्तियो के रूप मे कुन्दकुन्द स्वामी ने तथा संस्कृत-दशभक्तियो के रूप मे पूज्यपाद स्वामी ने इसी स्तुतिमार्ग को प्रकट किया है।

स्तुति करने का आन्तरिक प्रयोजन 'तद्गुणलब्धये है। आराध्य मे जो गुण हैं वे मुझ आराधक को भी प्राप्त हो जावें, यही एक प्रयोजन स्तुति करने का रहता है। आराध्य के अनन्तगुणो का समावेश वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता इन तीनो गुणो मे हो जाता है। यह गुणत्रय मुझे प्राप्त हो इसी उद्देश्य से ज्ञानी जीव स्तुति या आराधना करते है। इसके सिवाय किसी सासारिक फल की अभिलाषा से यदि स्तुति होती है तो वह सम्यक् स्तुति नही है। जिस स्तुति के अन्दर भोगोपभोग की प्राप्ति का लक्ष्य है वह वास्तव मे शुभोपयोग का भी विषय नही है। समन्तभद्र स्वामी के द्वारा रचा हुआ यह स्तोत्र आन्तरिक शुद्धि का प्रमुख कारण है।

स्तोत्र का नाम—

भाण्डारकर रिसर्च इस्टीट्युट पूना से प्राप्त इसकी एक हस्त लिखित प्रति के पुष्पिका वाक्य मे लिखा है–इति श्री समन्तभद्राचार्यविरचित चतुर्विंशति जिनस्तोत्रं समाप्तम्' इस पुष्पिका वाक्य से तथा स्तोत्र की रचना से प्रतीत होता है कि इस स्तोत्र का वास्तविक नाम 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र' है। पीछे चल कर जैसे स्तोत्र के प्रथम पद से आदिनाथ स्तोत्र का नाम 'भक्तामरस्तोत्र' और पार्श्वनाथ स्तोत्र का नाम कल्याणमन्दिर स्तोत्र चल पडा उसी प्रकार इस स्तोत्र का नाम 'स्वयभूस्तोत्र' चल पड़ा। एक स्वयभूस्तोत्र आचार्य पद्मनन्दी का भी है जिसमे चौबीस तीर्थंकरो के चौबीस श्लोक है उससे पार्थक्य सिद्ध करने के लिये इस स्तोत्र का नाम 'वृहत्स्वयभूस्तोत्र' चल पड़ा। वैसे संस्कृत टीकाकार के इस उल्लेख के अनुसार 'स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुध्य अनुष्ठाय वानन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयंभूः—स्वय अर्थात् परोपदेश के बिना मोक्षमार्ग को जान कर और तदनुरूप अनुष्ठान कर जो अनन्त-चतुष्टय रूप से उत्पन्न होते है वे स्वयंभू कहलाते हैं। यहा टीकाकार के मन्तव्यानुसार स्वयभू शब्द तीर्थंकर का वाचक है। इसलिये 'स्वयंभूस्तोत्र' का अर्थ भी तीर्थंकरो का स्तोत्र होता है। जैन धर्म मे ऐसे स्वयभू चौबीस माने गये हैं। यह चौबीस तीर्थंकरो की परम्परा भरत और ऐरावत क्षेत्र में दशकोड़ा-कोड़ीसागर प्रमाण वाले प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे होती है। ऐसे अनन्त चौबीस तीर्थंकर भूतकाल मे हो चुके है और भविष्यत्काल मे होते रहेंगे, । इन सबका स्मरण रख सकना असाधारण-

मिक ज्ञान के वश की बात नही है। सक्षेप मे एक भूतकाल की, एक वर्तमान काल की और एक भविष्यत्काल की ऐसी तीन चौबीसियो की नामावली स्मरण मे रक्खी जा सकती हैं। अढाई द्वीप सम्बन्धी पाच भरत और पाच ऐरावत, इस तरह दश क्षेत्रो की त्रिकाल सम्बन्धी चौबीसी की अपेक्षा तीस चौबीसिया भी प्रसिद्ध हैं। विदेह क्षेत्र के विद्यमान बीस तीर्थंकर अथवा उत्कृष्टता की अपेक्षा १६० तीर्थंकर चौबीस की उक्त गणना से परे हैं।

स्तोत्र के आराध्य चौबीस तीर्थंकर—

वास्तव मे तीर्थंकर महोपकारी पुरुष हैं। चतुर्गति के चक्र मे अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाले इस जीव को इस परिभ्रमण से बचाने वाला मार्ग इन तीर्थंकर भगवन्तो ने ही बताया है अत उनके प्रति भक्ति के उद्गार निकलना स्वाभाविक है। वर्तमान काल सम्बन्धी चौबीसी मे—१ वृषभ २ अजित ३ शभव ४ अभिनन्दन ५ सुमति ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्व ८ चन्द्रप्रभ ९ पुष्पदन्त या सुविधिनाथ १० शीतल ११ श्रेयोनाथ १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनन्त १५ धर्म १६ शान्ति १७ कुन्थु १८ अर १९ मल्लि २० मुनिसुव्रत २१ नमि २२ नेमि २३ पार्श्व और २४ वर्द्धमान (महावीर सन्मति, वीर, अतिवीर) ये चौबीस तीर्थंकर आते हैं। इनका स्तवन इस **'चतुर्विशतिजिनस्तोत्र'** मे हुआ है। उक्त चौबीस तीर्थंकर तीसरे काल के अन्त से लेकर चतुर्थ काल के अन्त तक हुए हैं। सभी तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण और लोकप्रख्यात पुरुष थे। भगवान् वृषभदेव का ऋग्वेद की ऋचाओ तथा भागवत और अन्य अनेक पुराणो मे उल्लेख आता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का वर्णन भारतीय साहित्य मे यत्र तत्र उपलब्ध है ही। जो तीर्थधर्म की आम्नाय चलाते हैं वे तीर्थंकर कहलाते है। इस पद की प्राप्ति के लिये दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओ का चिन्तन करना होता है। सम्यग्दर्शन की निर्मलता के साथ लोककल्याण करने की प्रबल भावना जब इस कर्मभूमिज मनुष्य के होती है तब उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता हैं। यह पद महादुर्लभ है तथा अत्यन्त निकट भव्यजीवो को ही प्राप्त होता हैं। इस पद के धारक जीव एक साथ १७० से अधिक नही हो सकते।

स्तोत्र का आन्तरिक परीक्षण—

इस चतुर्विशतिजिनस्तोत्र के सस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इस स्तोत्र को **'यो निःशेषजिनोक्तधर्मविषयं.'**– समस्त जैन सिद्धान्त को विषय करने वाला कहा है अर्थात् इसमे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग—इन चारो अनुयोगो का मथितार्थ सनिविष्ट किया गया है। इस स्तोत्र के पाठ से मात्र भगवान् की भक्ति ही प्रकट नही होती परन्तु जैन सिद्धान्त या जैनदर्शन का मौलिक रूप भी सामने आता है। स्तुति किसकी और किस उद्देश्य से करना चाहिये ? इन सब का समाधान इस स्तोत्र मे मिलता है।

अठारहवें अरनाथ के स्तवन मे २०, बाईसवें नेमिनाथ के स्तवन मे १०, चौबीसवें वर्धमान स्वामी के स्तवन मे ८ और शेष इक्कीस तीर्थंकारो के स्तवनो मे प्रत्येक के पाच पाच श्लोक हैं। सब मिला कर पूरे स्तोत्र मे १४३ श्लोक हैं। ये श्लोक वशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेद्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र, अनुष्टुप्, वैतालीय, शिखरिणी, उद्वता और आर्यागीति आदि छन्दो मे रचे गये हैं। उपमा रूपक

आदि अर्थालंकारों तथा अनुप्रास और यमक नामक शब्दालंकारो के प्रयोगो ने रचना की शोभा मे चार चाद लगा दिये है । तात्पर्य यह है कि यह स्त्रोत जहा अर्थ की दृष्टि से उच्च कोटि का है वहा भाषा की दृष्टि से भी उच्च कोटि का है ।

इस स्तवन मे कितने ही तीर्थंकरो के स्तवन वर्णनात्मक हैं अर्थात् उनमे उन तीर्थकरो की जीवन घटनाम्रो का वर्णन प्राप्त होता हैं जैसे प्रथम, सोलहवें, बाईसवें और तेईसवें तीर्थकरो के स्तवन तथा कितने ही तीर्थकरो के स्तवन जैन धर्म के सिद्धान्त एव दर्शन की विवेचना करने वाले हैं । जैसे पाचवें, नौवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और अठारहवें तीर्थकरो के स्तवन । समन्तभद्र स्वामी स्याद्वाद सिद्धान्त के प्रवल समर्थक थे, न्याय शास्त्र के वे आद्य उपस्कर्ता कहे जाते है । उन्होंने अपने देवागम स्तोत्र (आप्तमीमासा) मे स्याद्वाद का जो समर्थन किया है उसकी यथा कथचित् पुट हम इस स्तोत्र मे भी प्राप्त करते है । अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणो की उपादेयता, भवितव्यता का समर्थन बाह्यतप और अन्तरङ्गतप की उपयोगिता, अहिंसा की आवश्यकता जैन तपस्या का प्रयोजन और नयो का पारस्परिक अविरोध आदि अनेक विषयो का समन्वयात्मक वर्णन आचार्य महोदय ने इस स्तोत्र मे किया है । स्तवन करते समय किसके लिये कब कौन विशेषण उपयुक्त हो सकता है इसका पूरा पूरा ध्यान रक्खा है ।

(१) **ऋषभनाथ भगवान्** का स्तवन करते हुए द्वितीय श्लोक मे भगवान् को **'प्रजापति**, विशेषण दिया है । 'प्रजापति' विशेषण की सार्थकता को प्रकट करते हुए उन्होने जो चित्र खीचा है वह कितना मनोरम है ? कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने से उस समय की जनता आजीविका के बिना दुखी हो गई । भूख प्यास की बाधा से उस समय की जनता जीवित रह सकेगी, इसका संदेह आ पडा । भगवान् वृषभदेव ने जीवित रहने की इच्छुक जनता को असि, मषी, कृषि आदि षट् कर्मो का उपदेश देकर जीवित रक्खा । उन्होने राजा, प्रजा, देश, नगर आदि का विभाग कराया । तात्पर्य यह है कि वे सही मायने मे प्रजापति हुए । प्रजापति—ब्रह्मा की तरह उन्होने सृष्टि की तत्कालीन व्यवस्था की । तृतीय श्लोक मे भगवान् की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए उन्हे **'सहिष्णुः'** और **'अच्युत.'** इन दो महत्वपूर्ण विशेषणो से अलकृत किया है । इन विशेषणो मे उनके तपश्चरण काल की वह घटना छिपी हुई है । जिसमे एक वर्ष तक निराहार रहने का दु ख उहोने सहन किया था । छह माह का अनशनयोग तो उन्होने बुद्धिपूर्वक लिया ही था और छह माह तक आहार की शस्त्रोक्त विधि न मिलने के कारण एक वर्ष तक क्षुधा परिषह की वाधा सहनी पड़ी परन्तु उन्होने समताभाव से यह बाधा सहन की । उनके साथ दीक्षा लेने वाले बारह हजार राजा भूख प्यास की वाधा न सह सकने के कारण कुछ ही समय मे गृहीतव्रत से च्युत हो गये पर भगवान् वृषभदेव अपने व्रत मे अच्युत ही रहे । कोई भी वाधा उन्हे गृहीतव्रत से च्युत नही कर सकी । भगवान् ने जनता को हितोपदेश कब दिया ? इसका सुन्दर उत्तर चतुर्थ श्लोक मे दिया है—जब उन्होने आत्मध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्म-दोषो के मूल कारणो को भस्म कर दिया अर्थात् अपने आप को जब सर्वथा निर्दोष वना लिया तब उन्होने इच्छुकजनो के लिये तत्त्व का उपदेश दिया । आत्म-शुद्धि के बिना दूसरो को उपदेश देना उपदेश की विडम्वना मात्र है । स्तुति के बाद उसके फलस्वरूप आचार्य महाराज किसी लौकिक फल की आकाक्षा न रख कर यह इच्छा प्रकट करते है- **'पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो'** भगवान् वृषभदेव हमारे चित को पवित्र कर दें—उसे मोह और ममता से रहित कर दें ।

(२) अजितनाथ भगवान् के अजित नाम की सार्थकता बतलाते हुए प्रथम श्लोक मे कहा गया है—मित्रो की दो टोलिया खेल रही है, एक टोली के नेता थे अजितनाथ और दूसरी टोली के दूसरे लोग। जिस टोली के नेता बालक अजितनाथ थे उस टोली की जीत से उनके साथियो के मुखारविन्द विजयोन्मत्त हो जाते है और अपने नेता का अजित नाम रखते हैं। इसी स्तवन के अन्त मे अजितनाथ भगवान् की जिन विशेषताओ का वर्णन किया गया है वे बहुत ही आकर्षक हैं। आचार्य महाराज ने लिखा है—जो ब्रह्मनिष्ठ है—आत्म स्वरूप मे स्थित है जिन्हे शत्रु और मित्र बराबर है, जिन्होंने अपने ज्ञान से कषाय—रागद्वेष रूपी दोषो को बिलकुल अलग कर दिया है अर्थात् जिनका ज्ञान, ज्ञान मे ही प्रतिष्ठित हो गया है, जिन्होंने आत्मलक्ष्मी—ज्ञानदर्शन के उत्कृष्ट विकास रूप लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है तथा जिनकी आत्मा अजित है—किसी से जीती नही जा सकती वे अजितनाथ भगवान् हमे जिन लक्ष्मी प्रदान करें—हमे तीर्थंकर बनावें।

(३) शभवनाथ नाम की सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि जो अनित्य है जिसका कोई रक्षक नही है, जो अहकार से सना हुआ है, जो मिथ्या अध्यवसाय रूपी दोषो मे आसक्त है और इन सब के कारण जो जन्म, जरा तथा मृत्यु से दु खी हो रहा है ऐसे ससार को आपने अविनाशी—निर्दोष शान्ति प्राप्त कराई है इसलिए आप शभव हैं—श—शान्ति अथवा सुख के भव—उत्पादक है। निश्चय नय से आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, कर्मो के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है। जब बन्ध नही तब मोक्ष कहा से आया? इस प्रकार निश्चय नय के एकान्त मे बन्ध, मोक्ष और उसके फल की व्यवस्था नही बनती। परन्तु व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा का कर्मो के साथ बन्ध और मोक्ष दोनो बन जाते हैं। भगवान् शभवनाथ ने न केवल निश्चय नय का उपदेश दिया था किन्तु साथ मे व्यवहार नय का भी उपदेश दिया था इसलिये उनके मत से दोनो की सगति बैठती है।

(४) अभिनन्दन जिनेन्द्र का स्तवन करते हुए आचार्य ने कहा है कि आपने प्रारम्भ मे क्षमा रूपी सखी से सहित दया रूपी वधू का आश्रय लिया और अन्त मे शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ वृत्ति धारण की। यहा दया को वधू और क्षमा को उसकी सखी बतला कर आचार्य ने स्पष्ट किया है कि दया की रक्षा क्षमा के बिना नही हो सकती तथा शुक्लध्यान की पूर्णता के लिये निर्ग्रन्थवृत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी स्तवन के अन्त मे बताया है कि अनुबन्ध—आसक्तपना मनुष्य के सताप को उत्पन्न करने वाला है, वैषयिक सुख से तृष्णा की वृद्धि होती है, सुख की स्थिति प्राप्त नही होती ऐसा आपका मत है और यही मत लोककल्याणकारी है इसलिये सत्पुरुषो की गति—आश्रय आप ही है।

(५) सुमतिजिनेन्द्र के स्तवन मे दार्शनिक पद्धति को अपनाते हुए कथन किया गया है कि ससार के पदार्थ एक भी है अनेक भी है, सत् भी है, असत् भी है नित्य भी हैं अनित्य भी है विधिरूप भी हैं और निषेधरूप भी है। विवक्षा से इन सब धर्मों की सिद्धि होती है। यदि पदार्थ को सर्वथा नित्य माना जावे तो उसमे उत्पाद और व्यय नही हो सकते तथा क्रिया और कारक की भी व्यवस्था नही बन सकती। असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का विनाश नही होता। दीपक बुझा दिये जाने पर यद्यपि दीपक का सर्वथा अभाव मालूम पडता है परन्तु सर्वथा अभाव हुआ नही। जिस पुद्गल का पहले प्रकाश पर्याय मे सद्भाव था उसी पुद्गल का अब अन्धकार पर्याय मे सद्भाव है।

(६) **पद्मप्रभ भगवान्** के स्तवन मे रूपक और उपमालकार की पुट देते हुए कहा है कि जिस प्रकार कमलो को विकसित करने के लिये पद्मबन्धु—सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार भव्य जीवरूपी कमलो को विकसित—आनन्दित करने के लिये आप प्रकट हुए है । पहले आप अटूट लक्ष्मी और अवधिज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते थे परन्तु वाद मे आप सुशोभित एक सरस्वती को ही धारण करने वाले रह गये । यहा यह भाव भी तिरोहित है कि आप अरहन्त अवस्था मे अष्ट प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी और केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते थे परन्तु विमुक्त होने पर सिर्फ सर्वज्ञता से युक्त केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को धारण करते है क्योकि सिद्धावस्था मे प्रातिहार्य रूप लक्ष्मी का सद्भाव नही रहता ।

(७) **सुपार्श्वनाथ भगवान्** के स्तवन मे कितनी ही अनूठी बाते कही गई है । प्रथम तो यह कहा गया है कि स्वास्थ्य वह है जो अन्त से रहित हो, भोग, स्वार्थ—स्वास्थ्य नही है क्योकि वह भगुर है—नश्वर है, तृष्णा को बढाने वाले है तथा तृष्णावर्धक होने के कारण उनसे सताप की शान्ति नही हो सकती । फिर शरीर की स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कोई चेतन प्राणी किसी यन्त्र को लिये फिरता है उसी प्रकार जीव इस अचेतन शरीर रूपी यन्त्र को लिये फिरता है । यह शरीर ग्लानि युक्त है, दुर्गन्धित है, विनाशीक है और सताप करने वाला है इसलिये इसमे स्नेह करना व्यर्थ है । मनुष्य को सब से अधिक स्नेह अपने शरीर से रहता है । उसका स्नेह छूट जाने पर अन्य सब का स्नेह अनायास छूट जाता है । इसी स्तवन मे कहा गया है कि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणो से उत्पन्न होने वाली भवितव्यता अलङ्घ्य है—उसे कोई टाल नही सकता । अहकार से पीडित ससार का प्राणी अन्य लोगो के साथ मिल कर भी इस भवितव्यता को टाल नही सकता । इसी स्तोत्र मे यह भी कहा गया है कि संसार का प्राणी मृत्यु से डरता है पर उससे छुटकारा नही होता और नित्य ही मोक्ष की इच्छा करता है पर उसकी प्राप्ति नही होती फिर भी अज्ञानी प्राणी भय और काम के वशीभूत हुआ दु ख उठाता रहता है ।

(८) **चन्द्रप्रभ भगवान्** की वादशक्ति का महत्वपूर्ण वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सिंह की गर्जना सुन कर मदस्रावी हाथी मदरहित हो जाते है । उसी प्रकार उनकी वाणी रूपी सिंह-गर्जना से अपने पक्ष के समर्थन सम्बन्धी गर्व से अवलिप्त वादी भी मदरहित—गर्वरहित हो जाते थे । अन्त मे चन्द्रप्रभ भगवान् को चन्द्रमा की उपमा देते हुए कहा गया है कि **'पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे'** वे पवित्र भगवान् मेरे मन को पवित्र करे ।

(९) **सुविधि जिनेन्द्र** का यह स्तवन दार्शनिक पद्धति से भरा हुआ है । इसमे तद् अतद्, नित्य अनित्य, एक, अनेक आदि विरोधी-भावो का समन्वय करने के लिये 'स्यात्' इस निपात की महिमा दिखाई गई है । कहा गया है कि पदार्थ नित्य है क्यो कि उसमे 'यह वही है' इस प्रकार की प्रतीति होती रहती है । और पदार्थ नित्य नही भी है क्योकि उसमे 'यह अन्य है' इस प्रकार की प्रतीति होती है । पदार्थ का यह नित्य और अनित्यपना विरुद्ध भी नही है क्योकि वहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणो से निमित्त-नैमित्तिक भाव इसी प्रकार का है ।

(१०) **शीतलनाथ भगवान्** की वाणी की स्तुति करते हुए कहा गया है कि हे निष्कलङ्क भगवान्! शान्तिरूपी जल से गर्भित आपकी वाणी जितनी शीतल है उतना शीतल न तो चन्दन है, न चन्द्रमा की किरणे है, न गगा का पानी और न मोतियो की मालाए हैं। जैन तपश्चरण का प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है कि कितने ही तपस्वी सतान, धन और उत्तरलोक—मरण के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्गादि लोक की आकाड्क्षा से तपश्चरण करते है। परन्तु आपने जन्म और जरा को छोडने की इच्छा से मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोका है तपश्चरण किया है।

(११) **श्रेयोनाथ भगवान्** के स्तवन मे गौण और मुख्य की विवक्षा करते हुए दार्शनिक पद्धति से विरोधी भावो का वर्णन किया है। साथ ही यह कहा है कि आप एकान्त दृष्टि का विरोध करने वाली अनेकान्त दृष्टिरूपी वाणो के द्वारा मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर केवलज्ञानरूपी विभूति के सम्राट् हुए है इसलिये आप मेरे द्वारा स्तुति के योग्य हुए है।

(१२) वासुपूज्य **भगवान्** के स्तवन मे उनकी समता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि आप चूकि वीतराग है इसलिये पूजा से आपको प्रयोजन नही है वैर से रहित है इसलिये निन्दा से आपको द्वेष नही है तथापि आपके पवित्र गुणो का स्मरण हमारे चित्त को पापरूपी कालिमा से बचा लेता है अर्थात् जब हम आपके माध्यम से अपने वीतराग स्वरूप की ओर लक्ष्य करते है तब स्तुति और निन्दा मे हमारे साम्यभाव आ जाता है। इसी स्तवन मे कहा गया है कि आपकी पूजा करते समय जो आरम्भजनित अल्प दोष होता है उससे हानि नही होती, जिस प्रकार कि अमृत के समुद्र मे विष की कणिका से हानि नही होती। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—उपादान और निमित्त कारण के द्वन्द्व को सुलझाते हुए कहा है—अभ्यन्तर—उपादान जिसका मूल कारण है ऐसी गुण और दोष की उत्पत्ति का जो बाह्य निमित्त है वह अध्यात्म मे लीन रहने वाले आपके लिये गौणभूत है, आपके लिये तो केवल अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है। कार्य की उत्पत्ति का मूल कारण उपादान है। प्रारम्भ मे उपादान की शक्ति को विकसित करने के लिये बाह्य—निमित्त कारण भी अपेक्षित रहता है परन्तु जब यह जीव अध्यात्म-वृत्त हो जाता है—स्वरूपस्थ अवस्था मे पहुच जाता है तब उसके लिये केवल उपादान ही पर्याप्त हो जाता है। निमित्त का विकल्प उसकी दृष्टि से हट जाता है। परन्तु इस कथन से यह नही समझना चाहिये कि कार्य की उत्पत्ति मात्र बाह्य या मात्र अभ्यन्तर कारण से होती है किन्तु दोनो कारणो की समग्रता ही कार्य की जनक होती है। यह द्रव्य का स्वभाव है, इसके बिना मोक्ष की विधि नही बन सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिये निकट भव्यपना आदि आत्मा की योग्यतारूप अन्तरङ्ग निमित्त और कर्मभूमिज मनुष्य के द्वारा तपश्चरण आदि बाह्य निमित्त के मिलने पर ही मोक्ष की सिद्धि होती हैं किसी एक से नही। यह बात जुदी है कि जब इस जीव को मुक्त होने का अवसर आता है तब यह नियम से कर्मभूमि का मनुष्य ही होता है पर इतने मात्र से निमित्त कारण की अनुपयोगिता सिद्ध नही हो जाती।

(१३). **विमलजिनेन्द्र** के स्तवन मे नयो की पारस्परिक निरपेक्षता का निरसन करते हुए कहा गया है कि यदि ये नय परस्पर मे सापेक्ष रहते हैं तो स्व और पर का उपकार करते हैं। जिस प्रकार रस से -पारे से अनुविद्ध धातुए अभिमत फल सिद्ध करती हैं। उसी प्रकार स्याद्वाद से चिन्हित नय अभिप्रेतगुण को सिद्ध करने वाले होते है।

(१४) **अनन्तनाथ** का वास्तविक नाम आचार्य को **'अनन्तजित्'** इष्ट है। उसी की अन्वर्थता वतलाते हुए आपने कहा है कि अनन्त दोषो का आशय ही जिसका शरीर है तथा जो हृदय मे अत्यन्त ससर्ग को प्राप्त हो रहा है ऐसे मोहरूपी ग्रह को अनन्त कहते है उसको आपने जीत लिया है इसलिये आप **अनन्तजित्** कहलाते हैं। कषायरूपी शत्रु बड़े प्रभावी है—आत्मीय गुणो को नष्ट करने वाले हैं उनको आपने इस तरह नष्ट किया है कि उनका नाम भी शेष नही रहने दिया तथा कामरूपी रोग को जो कि अत्यन्त शोषण करने वाला है समाधिरूपी औषध के गुणो से विलीन कर दिया है। जिसमे परिश्रम ही पानी है तथा भय ही जिसमे तरङ्गें हैं ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने अपरिग्रहरूपी ग्रीष्म कालीन सूर्य के तेज से सुखा दिया है इसलिये निर्वृतिधाम—निर्वाणमन्दिर आपको प्राप्त हुआ है। आपके विषय मे जो अच्छा अभिप्राय रखता है वह स्वयं ही सौभाग्य को प्राप्त होता है और जो आपके विषय मे द्वेष रखता है वह व्याकरण मे प्रसिद्ध क्विप् आदि प्रत्ययो के समान विनाश को प्राप्त हो जाता है फिर भी आप शत्रु और मित्र दोनो मे अत्यन्त समान रहते है।

(१५) **धर्मनाथ भगवान्** समवसरण मे विद्यमान हैं वारह सभाओ मे स्थित देव और मनुष्यो के समूह से घिरे हुए धर्मनाथ ऐसे सुशोभित होते हैं जैसे आकाश मे ताराओ से घिरा हुआ निर्मल पूर्ण चन्द्र शोभित होता है। इस तरह उपमालकार के द्वारा उनकी नि स्पृहता की झाकी उपस्थित करते हुए कहा है कि यद्यपि आप अष्टप्रातिहार्यरूपी विभव से विभूषित है तथापि शरीर से भी विरत है। आपने मनुष्य तथा देवो को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया फिर भी उपदेश का फल प्राप्त करने की इच्छा से आतुर नही हैं।

(१६) **शातिनाथ भगवान्** के स्तवन मे उनके गृहस्थ जीवन और मुनिजीवन की पूरी झाकी एक ही श्लोक मे उपस्थित की गई है। जिन्होने पहले शत्रुओ को भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा समस्त राजाओ के चक्र-समूह को जीता था और अब ध्यानरूपी चक्र के द्वारा दुर्जयमोहरूपी चक्र को जीता है तथा उसके फलस्वरूप महोदय को प्राप्त हुए हैं। अन्त मे एक बात वहुत सुन्दर कही कि जिन्होंने अपने दोषो को शातकर आत्मशान्ति प्राप्त की है और इसके बाद ही जो शरणागत मनुष्यो के लिये शरणदाता हुए है वे शातिनाथ भगवान् हमारे सासारिक क्लेशो का भय शात करने के लिये मुझे शरणदाता हो। जिसकी आत्मा स्वय अशान्त है वह दूसरो को क्या शान्ति दे सकेगा ?

(१७) **कुन्थुनाथ भगवान्** के स्तवन मे अनेक मार्मिक सूक्तिया है वे कहते है। कि तृष्णारूपी ज्वालाए इस जीव को सब ओर से जला रही है, इष्ट इन्द्रियो के विषयो से इनकी वृद्धि ही होती है शान्ति नही, इसलिये आप विषय सुख से पराड्मुख हुए है। बाह्यतप की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है कि आपने अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के लिये ही अत्यन्त दुश्चर बाह्यतप किया है। अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के बिना बाह्यतप कोई विशेष लाभदायक नही है—मोक्ष का साधक नही है। आपने चार घातिया कर्मो को रत्नत्रयरूपी प्रचण्ड अग्नि मे होम दिया है इसलिये आप मेघ रहित आकाश मे सूर्य की तरह सुशोभित हुए थे।

(१८) **अरनाथ भगवान्** का स्तवन अनेक विचित्रोक्तियो से परिपूर्ण है। प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि स्तुति तो उसे कहते है जिसमे थोड़े से गुणो को बढा कर कहा जावे। परन्तु भगवान् ! आपके गुण

अनन्त है, वे कहे ही नही जा सकते फिर आपकी स्तुति कैसे हो सकती है ? फिर भी चूकि आपका नाम मात्र लेना पवित्र कर देता है इसलिये कुछ कहते है । जो कषायरूपी योद्धाओ की सेना से सहित है ऐसे मोहरूपी पापी शत्रु को आपने रत्नत्रय रूप शस्त्रो के द्वारा पराजित किया है । जो आगामी काल और वर्तमान काल मे दु.खो की योनि है—कारण है ऐसी तृष्णारूपी नदी को आपने विद्यारूपी नौका के द्वारा पार किया है । अनेकान्त की महिमा का उद्घोष करते हुए कहा है कि जो दूसरे के दोष देखने मे जागरूक है पर अपने दोषो के विषय मे नेत्र बन्द कर लेते है वे बेचारे क्या कर सकते हैं ? वे आपके मत के अपात्र है ।

(१९) मनोहर छन्द द्वारा **मल्लिनाथ भगवान्** का स्तवन करते हुए उनकी सर्वज्ञता का जयघोष किया गया है तथा कहा गया है कि जिनकी शुक्लध्यान रूपी अग्नि ने अनन्त पाप पुज को भस्म कर दिया है और इस तरह जो कृतकृत्यता को प्राप्त हो चुके है उन जिनेन्द्र श्रेष्ठ मल्लिनाथ की शरण को मैं प्राप्त हुआ हू ।

(२०) **मुनिसुव्रतनाथ** के स्तवन मे उनकी शारीरिक सुषमा का वर्णन करने के पश्चात् अन्तिम पद्य मे कहा है कि चूकि आपने निरुपमयोग के बल से—ध्यान की सामर्थ्य से अष्टकर्म रूपी कलक को बिलकुल दग्ध कर दिया है इसलिये आप मुक्ति सम्बन्धी सुख से युक्त होते हुए ससार को भी उपशान्त करने वाले हो ।

(२१) **भगवान् नमिनाथ** के स्तवन मे अहिंसा की महिमा प्रकट करते हुए कहा है कि ससार मे प्राणियो की अहिंसा परमब्रह्म के रूप मे प्रसिद्ध है परन्तु वह अहिंसा गृहस्थाश्रम मे नही होती । जिसमे अणुमात्र भी परिग्रह नही रहता है, इसलिये उसअहिंसा की सिद्धि के लिये परम दयालु होकर आपने दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग किया है तथा विकार उत्पन्न करने वाले किसी वेष या उपाधि मे आप रत नही हुए है ।

(२२) **नेमि जिनेन्द्र** का स्तवन करते हुए कहा गया है कि जिन्हे अनेक महर्षि मन्त्र से मुखर होते हुए प्रणाम करते है । नारायण और बलभद्र, स्वजन की भक्ति से प्रसन्न चित्त होकर जिनके चरण कमलो को प्रणाम करते थे । जो विद्याधरियो से युक्त शिखरो से अलकृत है तथा जिसके तटपर घनघटा छाई हुई है ऐसे ऊर्जयन्त गिरिपर—गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने जिनकी यशोगाथा लिखी थी उन नेमिनाथ भगवान् की विरुदावली इस स्तवन मे बडे सुन्दर ढग से अकित की गई है ।

(२३) **पार्श्वनाथ भगवान्** के स्तवन मे असुरकृत उपसर्ग का ऐसा जीवन्त वर्णन है कि उसका दृश्य आखो के सामने झूलने लगता है ।

(२४) **वर्धमान स्वामी** का स्तवन करते हुए आचार्य ने अन्त्ययमक के द्वारा अपनी उस कवित्व शक्ति की, जिसका कि पूरा प्रदर्शन स्तुतिविद्या—जिनशतक मे किया गया है थोडी सी बानगी प्रकट कर दी है ।

इस तरह आन्तरिक परीक्षण से स्पष्ट है कि यह स्तोत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा सारगर्भित है ।

▣

वर्धमान पुराण और कविवर नवलशाह

हिन्दी साहित्य के विचारक विद्वानों का आज यह स्पष्ट मत हो गया है कि हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास मे जैन कवियो ने सबसे ज्यादा भाग लिया है। हिंदी भाषा का उत्पत्ति काल ई० ८०० माना जाता है और उसकी उत्पत्ति प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ से हुई स्वीकृत कर ली गयी है। उसके बाद उसमे क्रमिक परिवर्तन और परिवर्धन होते रहे। अनेक जैन व अन्य कवियो ने उसके साहित्य को पल्लवित किया है। जिस प्रकार सस्कृत-कवियो का ध्यान पद्य रचना की ओर ही अधिक रहा है उसी प्रकार हिन्दी-कवियो का ध्यान भी पद्य-रचना की ओर ही अधिक रहा है।

हिन्दी-साहित्य मे आज जो गद्यसाहित्य उपलब्ध है वह बहुत प्राचीन नही है। मेरी इच्छा थी कि मैं यहाँ उत्पत्ति काल से लेकर आज तक की गद्य-पद्य रूप हिन्दी के नमूने उपस्थित करता तथा जैन कवियो ने अपनी रचनाओं के द्वारा उसके विकास और वर्धन मे जो भाग लिया है उसका क्रम पूर्ण परिचय पाठकों के सामने रखता, परन्तु इस महगाई के जमाने मे उस सबका यहाँ उल्लेख करना उचित नही मालूम होता। इसलिये सामग्री का संकलन रहते हुए भी उस विषय मे यहाँ कुछ भी नही लिखता।

ग्रन्थ का आधार और उसका अन्त:परीक्षण—

यह वर्धमानपुराण ग्रन्थ कविवर नवलशाह जी की पद्यात्मक रचना है। ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि हमने इसकी रचना आचार्य सकलकीर्ति द्वारा विरचित सस्कृत वर्धमानपुराण के अनुसार की है, परन्तु दोनो को देखने से पता चलता है कि कविवर ने अपने ग्रन्थ मे सस्कृत वर्धमानपुराण से कथाभाग मात्र ही लिया है, इनकी वर्णनशैली स्वतन्त्र है। ग्रन्थकर्ता ने अपने इस ग्रन्थ मे धर्मशास्त्र का वर्णन भी बहुत विस्तार के साथ किया है। मेरा तो ऐसा ख्याल है कि रचना करते समय कवि का यह ख्याल रहा है कि मैं इसे केवल काव्य-ग्रन्थ न बनाकर धर्मशास्त्र का भी ग्रन्थ बना दू और इसीलिये उन्होने इसमे धर्मशास्त्र के प्राय. प्रत्येक अगो का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

कविवर भूधरदास जी द्वारा रचित हिन्दी पद्यबद्ध पार्श्वपुराण हिन्दी का एक स्वतन्त्र महाकाव्य कहा जाता है, उसकी रचना इस ग्रन्थ से पहले हो चुकी थी। दोनो की रचना देखने से मालूम होता है कि वर्धमानपुराण के रचयिता ने पार्श्वपुराण का अच्छी तरह अवलोकन किया है, क्योकि इस ग्रन्थ मे कितने ही ऐसे प्रकरण मिलते है जिनकी रचना प्राय. पार्श्वपुराण की पद्धति पर ही हुई है, परतु इसमे धर्मशास्त्र का वर्णन उससे भी कही अधिक मात्रा मे हुआ है। इन्होने धर्मशास्त्र के वर्णन मे हरिवशपुराण, चरचा शतक, ज्ञानार्णव, द्रव्यसग्रह, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र और त्रिलोकसार का विशेष आश्रय लिया मालूम होता है।

कही कही धर्मशास्त्र के वर्णन मे कुछ अश ऐसे भी लिखे गये है जिनका कुछ आधार नही मालूम होता और ऐसा होने से उनका वर्णन पूर्व परम्परा से असगत जान पडता है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही थोडे हैं और उनके नीचे हमने नोट्स भी लगा दिये है, जिससे पाठको को किसी प्रकार की भ्रान्ति नही हो सकेगी। जो अश पूर्व परम्परा के विरुद्ध लिखे गये है उनके वैसा लिखने मे ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय

दूषित नही जान पडता, किन्तु उन्होने जिन सस्कृत प्राकृत सूत्र अथवा गाथाओ के आधार पर वे अश लिखे हैं उन्हे उनका अर्थ समझने मे भ्रान्ति हुई मालूम होती है, और जो सस्कृत का प्रौढ विद्वान् नही है उसके ऐसा होना असभव नही हैं ।

इस ग्रन्थ की रचना दोहा, चौपाई, सोरठा, गीता, जोगीरासा, इकतीसा–सवैया, चाल, पद्धति, तेईसा, गाथा, छप्पय, करखा, अडिल्ल चच्चरी, त्रिभङ्गी और शार्दूलविक्रीडित छन्द मे की गई है, परन्तु गाथा और शार्दूल विक्रीडित ग्रन्थकर्ता की निज की रचना नही है । 'उक्त च' कहकर उनका ग्रन्थान्तरो से उद्धरण किया हैं । कुछ सवैया भी दूसरे ग्रन्थो से उद्धृत किये गये है । ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ के अन्त मे अपने छंदो का परिमाण भी बतलाया है जो कि नीचे लिखे हुए चक्र मे स्पष्ट किया गया है, परन्तु छानवीन करने पर उसका प्रमाण ठीक-ठीक नही मिलता । हा, ग्रन्थकर्ता ने सब छन्दो का जितना जोड बतलाया है उतना अवश्य मिल जाता है । हो सकता है कि इसमे हमारी गणना मे भूल हो गई हो अथवा इस वर्धमानपुराण की अनेक जगह की अनेक प्रतियो मे पाठ-भेद पाये जाते है इसीलिये सभव है कि किसी अन्य प्रति के आधार से ग्रन्थकर्ता द्वारा कहा हुआ प्रमाण ज्यो का त्यो निकल आता हो ।

छन्द नाम	ग्रन्थकर्ता द्वारा बतलाया हुआ परिमाण	उपलब्ध परिमाण
चौपाई	२९६६	२९६०
दोहा	४०८	४२१
सोरठा	१२	१२
गीता	६३	७३
जोगीरासा	५०	३६
इकतीसा	८	८
चाल	४७	४७
पद्धरि	१८७	१८४
तेईसा	६	६
गाथा	४	४
छप्पय	८	७
करखा	१	१
अडिल्ल	२९	२९
चञ्चरी	५	५
त्रिभगी	११	९
काव्य	१	१
	३८०६	३८०३+३ त्रुटित

इस ग्रन्थ मे धर्मशास्त्र के कितने ही स्थल इतने दुरूह और विस्तृत है कि जब तक उनका सरल हिन्दी मे गद्यानुवाद न किया जावे तब तक हर एक पाठको को उनसे यथोचित लाभ नही हो सकता । मेरी इच्छा भी थी कि ग्रन्थ के अन्त मे ऐसे परिशिष्ट जोड़ दिये जाये जिससे सब विषय स्पष्ट हो जाये । परन्तु वह सब विचार क्रियात्मक रूप नही ले सका । यदि सुअवसर मिला तो आगे की आवृत्तियों मे इन सब विषयो का खुलासा करने का प्रयत्न करूंगा ।

जहाँ टिप्पणी से काम चल सकता था, हमने वहाँ टिप्पणी दे दी है और जहाँ टिप्पणी से काम चलता नही दिखा वहा उस वर्णन के आधारभूत ग्रन्थो के नाम लिख दिये है तथा यह भी लिख दिया है कि इस विषय का स्पष्ट वर्णन अमुक ग्रन्थ से मालूम करना चाहिये । हमारे कुछ मित्रो की सलाह थी कि ग्रन्थ का संशोधन इस रीति से किया जावे कि जिससे ग्रन्थ की भाषा, आज की भाषा हो जावे । परन्तु मुझे वह सलाह ठीक नही मालूम हुई, क्योकि उससे ग्रन्थ की प्राचीनता और यथार्थता लुप्त हो जाती है । इसलिये हमने ग्रन्थकर्ता के मूल शब्दों को अक्षुण्ण रखा है । अत्यन्त आवश्यकता पडने पर ही उनमे उचित परिवर्तन किया है ।

ग्रन्थ की भाषा—

ग्रन्थ की भाषा को न तो व्रजभाषा ही कहा जा सकता है और न खड़ी बोली ही । किन्तु यह उत्तरकालिक हिन्दी है । हमारे कवि बुन्देलखण्ड के अलकार थे, इसलिये उनकी भाषा मे बुन्देलखण्डी हिन्दी भाषा के बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए है, जैसे 'लावौ' 'चंवुरी' आदि, परन्तु वे अपने स्थान पर अनुचित नही मालूम होते ।

किसी भी कवि की भाषा पर उसके प्रदेश मे प्रचलित हुई भाषा का प्रभाव अवश्य रहता है । ग्रन्थ को एक वार प्रारम्भ से अन्त तक देखे जाने पर यही मालूम होता है कि कवि की भाषा उनकी निसर्ग-सिद्ध भाषा है—इसमे कृत्रिमता नही है—दूसरो के शब्दों को उन्होने अपना नही बनाया है । बीच वीच मे अलंकार की पुट भी दी गई है जिससे भाषा की सुन्दरता बढ गई है । इसमे कुछ शब्द ऐसे भी है जिनका नवीन पाठक विपरीत अर्थ समझ सकते है, जैसे 'अस्तुति', 'अस्तवन' आदि । परन्तु बुन्देलखण्ड मे 'स्तुति' को 'अस्तुति' और 'स्तवन' को 'अस्तवन' अव भी वोला जाता है यदि उन शब्दो से प्रथम अक्षर अलग कर दिये जाते है तो छन्दोभग हो जाता है इसलिये पाठको को ध्यान रखना चाहिये । वह कवि की भूल नही है, किन्तु उनके निवास क्षेत्र का प्रभाव है । हमने ऐसे शब्दो पर टिप्पणी भी दे दी है । लेखको के प्रमाद से कही कही कुछ अश त्रुटित हो गया है । दोनो प्रतियो मे मिलान करने पर भी जव ठीक नही मिला तब या तो उस स्थान को खाली छोड़ दिया गया है या विशेष हानि न समझ कर प्रकरण के अनुसार कोष्ठक के भीतर अपनी ओर से पाठ जोड दिया गया है और उसकी सूचना टिप्पणी दे दी गई है । ४०४ पृष्ठ पर ३ चौपाइयो का पाठ मूल पुस्तक मे त्रुटित है वहा उनकी जगह खाली छूटी हुई है । मूल पुस्तक मे नंबर भी त्रुटित पाठ के छोँड दिये गये है परन्तु हम इस मुद्रण मे उनका इशारा नही कर सके, और न नम्बर ही छोड़ सके । स्मरण रखते हुए भी यह कार्य रह गया इसका हमे रंज है । हाँ टिप्पणी मे पाठ त्रुटित होने की सूचना अवश्य दे दी गई है ।

इस ग्रन्थ मे कितनी ही जगह ऐसे भी शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो गुरु रूप से लिखे गये है, परन्तु उनका उच्चारण लघु रूप लेना पडता है और लघु रूप लिखे हुए शब्दो का गुरु रूप उच्चारण करना पडता है । ऐसे शब्दो का उच्चारण करने और मात्राए गिनने के समय पाठको को सावधानी से काम लेना चाहिये, नही तो छन्दोभङ्ग प्रतीत होने लगता है । उस समय की हिन्दी ही मे क्यो, आज की हिन्दी मे भी ऐसे अनेक शब्द वोले और लिखे जाते है जिनके उच्चारण और लिखने मे कुछ अन्तर पड जाता है । जैसे अमृत शब्द मे 'अ' वर्ण लघु लिखा जाता है परन्तु उसका उच्चारण आजकल दीर्घ होने लगा है । वह यद्यपि गलत है परन्तु प्रचलित परम्परा को कौन रोक सकता है ?

कवि का परिचय और ग्रन्थ निर्माणकाल-

वर्धमानपुराण के रचयिता कविवर नवलशाह जी है । इन्होंने इसी ग्रन्थ के अन्त मे अपना विस्तृत परिचय स्वय लिखा है जिससे उनके जीवन चरित्र पर प्रकाश डालने मे वहुत सुविधा हुई है । यह 'गोला-पूर्व दिगम्बर जैन' थे, इनका गोत्र 'प्रजापति' और वेंक 'वडचँदेरिया' था । आपने अपने पूर्वजो का परिचय देते हुए लिखा है कि भेलसी गाव मे भीषमशाह रहते थे, उनके चार पुत्र थे — १—व्ररोहन, २—कृपानिधान, ३—अहमन और ४—रतनशाह । पिता, पुत्र सभी धर्मात्मा थे । सम्पत्ति भी अटूट थी । इसलिये इनके द्वारा हमेशा धार्मिक कार्य होते रहते थे । एक दिन पिता-पुत्रो ने मिलकर विचार किया कि अपने पास अतुल्य सम्पत्ति है, राज्य दरबार मे भी पर्याप्त सम्मान है और समस्त जनता भी हम लोगो को चाहती है । इसलिये कोई ऐसा काम करना चाहिये जिससे पवित्र जैनधर्म की प्रभावना हो । कुछ देर की सलाह के वाद जैन मन्दिर निर्माण, जिन विम्व प्रतिष्ठा और गजरथ चलाने का निश्चय किया गया । सम्पत्ति की कमी नही थी, इसलिये दूसरे ही दिन से मन्दिर निर्माण का कार्य शुरू हो गया और कुछ ही महिनो मे बनकर तैयार हो गया । तोरण, ध्वजा आदि से मन्दिर सजाया गया । जगह जगह निमन्त्रण भेजकर सहधर्मी भाइयो को वुलाया गया । शुभ मुहूर्त मे गजरथ की फेरी हुई । आये हुए लोगो का खूब सम्मान किया गया । रथोत्सव के समय मनुष्यो की अपार भीड एकत्रित हुई थी । उन सवके भोजन-पान की व्यवस्था भी भीषमशाह के द्वारा ही की गई थी ।

उस समय भेलसी गाँव के मुखिया लोदी ठाकुर थे । उन्होने चार सघ के साथ मिलकर भीषमशाह जी को टीका किया और सिंघई पद दिया । यह घटना वि स १६५१ के अगहन मास की है । उस समय बुन्देलखण्ड शिरोमणि राजा जुझार का राज्य था । इस पुण्य कार्य से सिंघई भीषमशाह जी का कुल उत्तरोत्तर वृद्धि और सम्पत्ति को प्राप्त होता गया । उनके चोथे पुत्र, जो रतनशाह थे उनके जदोले नामक पुत्र हुआ । जदोले के आनदीराम और आनदीराम के मनिराम नामक पुत्र हुए । परिस्थिति मे परिवर्तन होने से मनिराम जी भेलसी को छोडकर खटोला ग्राम मे रहने लगे । यह ग्राम वुन्देलखण्ड मे गज मलहरा के पास है । मनिराम जी के चार पुत्र हुए — १—केशवराय, २—हरजू ३—खाडेराय और ४—परमानन्द । उनमे खाडेराय के ३पुत्र हुए — १—देवाराय, २—भोज इन्द्र और ३—मनभान । देवाराय जी के प्राणमती पत्नी से चार पुत्र हुए — १—नवलशाह

१—यह गांव टीकमगढ़ म प्र से १८ मील दूर है । २—ओरछा राज्य ।

२–तुलाराम ३–घासीराम और ४–बान्धवसिंह। उनमे से प्रथम नवलशाह ही इस ग्रन्थ के कर्ता हैं। इनकी वंश परम्परा इस प्रकार है–
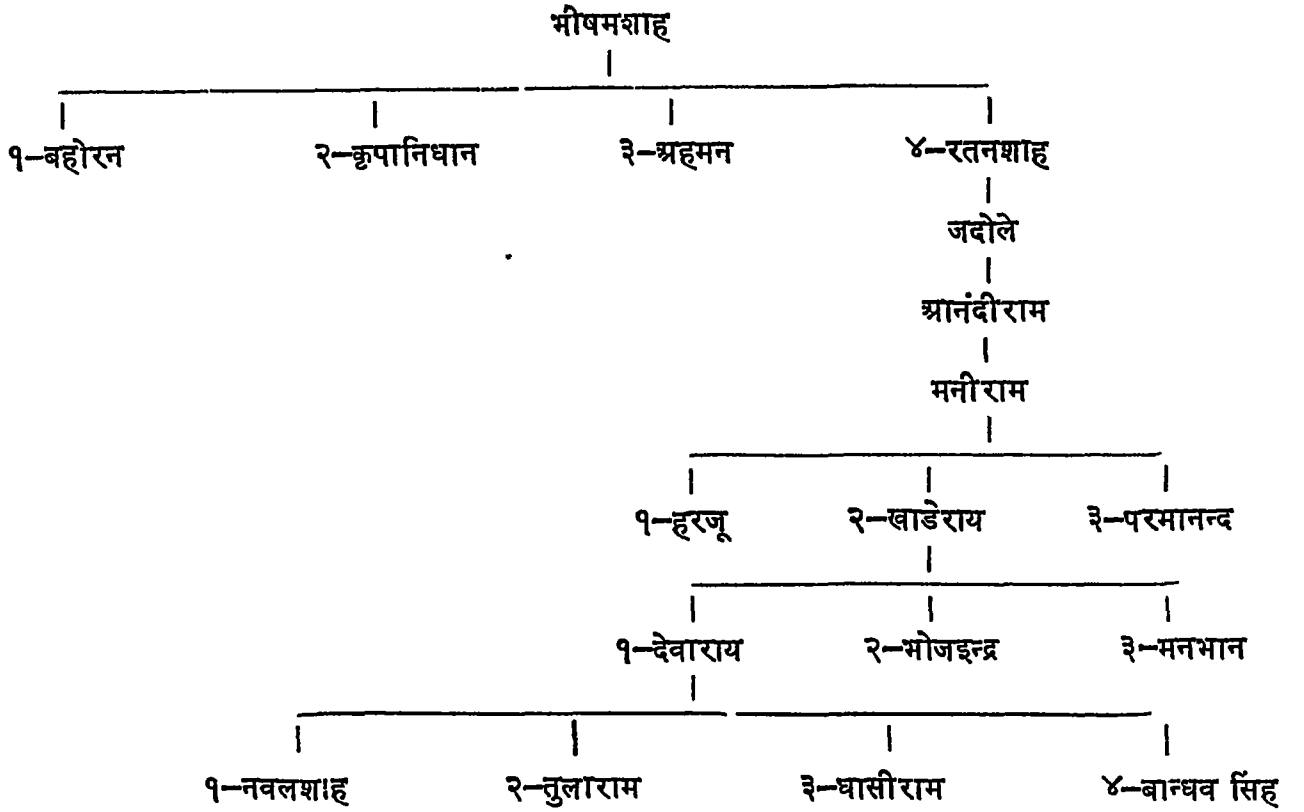
उस समय वहा क्षत्रशाल के वंशजो का राज्य था, जो कि हिन्दू धर्मावलम्बी थे। राजा अपनी प्रजा का बहुत ही नीतिपूर्वक पालन करते थे, इसलिये उनकी प्रजा हर तरह से सुखी रहती थी।

ग्रन्थ-रचना का समापन काल–

कविवर नवलशाह ने इसकी रचना अपने पुत्र की सहायता से की थी। ग्रन्थरचना की समाप्ति चैत्र सुदी पूर्णिमा, बुधवार, विक्रम सवत् १८२५ के प्रात हुई थी। यह कवि बुन्देलखण्ड के कवियो मे अत्यन्त श्रेष्ठ कवि थे। नि.सन्देह पाठक स्वाध्याय कर उनकी कविता शैली तथा धर्मशास्त्र विषयक उनके ज्ञान की परख स्वयं करेंगे। विस्तार के भय से मैं यहा उनकी सुन्दर कविताओ के नमूने उद्धृत नही कर रहा हूं। इस ग्रन्थ के सिवाय इनकी और कोई सन्दर्भरूप रचना अभी तक देखने मे नही आई। हा, भजन वगैरह प्रकीर्णक रचनाए बुन्देलखण्ड मे जहा तहा पाई जाती है। वर्धमानपुराण मे महाकाव्य के समस्त लक्षण पाये जाते है इसलिये यह हिन्दी का एक स्वतन्त्र महाकाव्य कहा जा सकता है।

एक विशेष बात–

कविवर नवलशाह ने अपना परिचय लिखते समय गोलापूर्व जाति के उद्भव के विषय मे एक विशेष बात लिखी है, जो यहा उल्लेखनीय है, उन्होंने लिखा है –

चौपाई ।

'गोयलगढ के वासी तेस, आए श्री जिन आदि जिनेश ।
चरणकमल प्रनमैं धर शीस, अरु अस्तुति कीनी जगदीश ।।
तब प्रभु कृपावन्त अति भये, श्रावक व्रत तिनहूं को दये ।
क्रिया चरण की दीनी सीक, आदर सहित गही निज ठीक ।।
पूर्व हि थापी नैत जु एह, अरु गोयलगढ थान कहेह ।
तातै गोलापूरब नाम, भाष्यौ श्री जिनवर अभिराम ।।

उन्होने यह सब किस आधार पर लिखा यह अन्वेषणीय एवं विचारणीय है । आज जैन समाज मे जो प्रचलित उपजातिया और उनके गोत्र आदि पाये जाते है, प्राय उन सभी का सच्चा इतिहास अन्वेषणीय है । हम लोग अपने प्रमाद से उनका इतिहास सुरक्षित नही रख सके, यह भारी दु ख का विषय है । मेरा तो ऐसा ख्याल है कि कवि ने गोलापूर्वों की उत्पत्ति का जो वर्णन लिखा है वह मात्र जनश्रुति के आधार पर ही लिखा है और आज इस वैज्ञानिक युग मे मात्र जनश्रुति के आधार पर लिखी हुई बात को प्रमाणित नही माना जा सकता । एक हजार वर्ष पूर्व इन सब जातियो का कुछ भी जिक्र नही मिलता, और न इनकी नामावली भी इस ढग की है, जिससे उनमे अति प्राचीनता की कल्पना की जा सके । यह सब हजार बारह सौ वर्ष पहले ही इनकी उत्पत्ति मालूम होती है । परन्तु आज जो भारत-वर्ष मे तीन चार लाख की आबादी मे बिखरे हुए गोलापूर्व ब्राह्मण और क्षत्रिय पाये जाते हैं वे एक विचार की सामग्री अवश्य उपस्थित करते हैं । ऐतिहासिक विद्वानो को इसकी उपेक्षा नही करना चाहिये । जो विद्वान् कविवर के उक्त उल्लेख को प्रामाणिक मानते है उन्हे उसके आधार की अवश्य ही खोज करना चाहिये । मै आशा करता हूँ कि वे प्रतिभा लेखो, साहित्यिक उल्लेखो, ताम्रपत्रो और अन्य ऐतिहासिक आधारो से इस जाति के प्रामाणिक इतिहास को प्रस्तुत करेंगे । यो तो प्रत्येक अवान्तर जैन जातियो का इतिहास निबद्ध होना चाहिये, जिससे उनके द्वारा किये गये सास्कृतिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय कार्यो पर प्रकाश पडसके ।

हम यह पहले लिख आये है कि इस वर्धमानपुराण मे धर्मशास्त्र का बहुत कुछ वर्णन किया गया है, जो लेखको के प्रमाद से बहुत कुछ अशुद्ध हो गया था । उसके संशोधन करने मे हमारे गुरुवर्य स्याद्वादवाचस्पति पं० दयाचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ सागर से हमे असामान्य सहायता मिली है । कई घटे एक आसन से बैठकर ग्रन्थ के धर्मशास्त्र सम्बन्धी अश देखे हैं । पण्डितजी की कृपा और परिश्रम के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है ।

✾

आचार्य श्री विद्यासागर और उनकी जैन गीता

'जैन गीता' के रचयिता :

'जैन गीता' के रचयिता है पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी । आचार्य श्री 'विद्यासागर' नाम अन्वर्थ नाम है। न्याय, व्याकरण, साहित्य, आगम तथा अध्यात्म आदि अनेक विद्याओ का सागर है। मातृभाषा कन्नड है किन्तु मराठी, हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत तथा प्राकृत इन भाषाओ का भी अगाध वैदुष्य आपको प्राप्त है। सुदूरवर्ती कर्नाटक प्रान्त के मूल निवासी होने पर भी आप हिन्दी का इतना अविरल और स्पष्ट प्रवचन करते है कि कोई नवागन्तुक श्रोता यह कल्पना भी नही कर सकता कि आपकी मातृभाषा हिन्दी नही है।

आचार्य विद्यासागर के गुरु :

आचार्य विद्यासागर जी, परमपूज्य चारित्रभूषण आचार्य ज्ञानसागरजी के पट्ट शिष्य है । आचार्य ज्ञानसागरजी जयोदय, वीरोदय, दयोदय आदि महाकाव्यो के प्रणेता रहे है। सस्कृत-साहित्य पर आपका पूर्ण अधिकार था । गद्य, पद्य, तथा चपू काव्यो की रचना मे आपकी लेखनी निबध रूप से चली है। आप चारो अनुयोगो के विशिष्ट ज्ञाता थे । स्वयं ज्ञान-गरिमा से युक्त होकर आप व्यक्ति-विशेष की परख करने मे अत्यन्त कुशल थे । उस कुशलता को ही सफल समझना चाहिये कि उन्होने अल्पवयस्क विद्यासागर की विशिष्ट योग्यता को भाँप लिया, इसीलिए अपने सम्पर्क मे रखकर अल्प समय मे ही उन्हे सस्कृत भाषा का निष्णात विद्वान वना दिया।

अन्य परिचय :

आचार्य विद्यासागरजी का जन्म विक्रम सवत् २००३ आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन सदलगा (जिला बेलगाम, कर्णाटक) मे हुआ । आपके पिताजी का नाम मल्लप्पाजी (आचार्य धर्मसागरजी के सघस्थ मुनिराज मल्लिसागरजी) था और माता का नाम श्रीमतीजी (आचार्य धर्मसागरजी की सघस्थ आर्यिका समयमतीजी) था । इनका बाल्यावस्था का नाम विद्याधरजी था। इनके तीन भाई थे, जिनमे दो क्षुल्लक-दीक्षा लेकर आचार्य महाराज के साथ ही ज्ञान-ध्यान मे लीन है तथा दो बहिने थी, जो आचार्य धर्मसागरजी महाराज के सघ मे आर्यिका की दीक्षा लेकर आत्म साधना कर रही है। कैसे पूर्वभव के सस्कारी जीव है कि जिनका पूरा का पूरा परिवार गृह-त्याग कर आत्म कल्याण मे निरत है। मात्र एक भाई उदासीन भाव से गृहस्थी का सचालन कर रहा है ।

चल पड़े घर छोड़कर

बालक विद्याधर की प्रतिभा जन्म से ही कुशाग्र थी । केवल ९ वर्ष की अवस्था मे प्रात स्मरणीय आचार्य शान्तिसागरजी महाराज का उपदेश श्रवण कर अपने आपको धन्य माना । आपका शरीर गौर वर्ण

तथा सौम्य मुद्रा से युक्त है । अल्प वय में ही इनकी ज्ञान-ज्योति प्रस्फुरित हो गई थी । हृदय की प्रेरणा से प्रेरित हो वालक विद्याधर गृह त्यागकर जयपुर की ओर चल पड़ा और उस समय खानिया की नसिया में विद्यमान आचार्य देशभूषणजी महाराज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर परम प्रसन्नता का अनुभव करने लगा। ब्रह्मचर्य व्रत लेकर वालक विद्याधर स्व० आचार्य ज्ञानसागरजी के सम्पर्क मे आया । आचार्य महाराज ने उसकी अन्तरात्मा को परखा और उसे सव प्रकार से योग्य मानकर विद्याध्ययन कराया ।

मुनि-दीक्षा :

अजमेर के चातुर्मास मे आषाढ शुक्ल पचमी वि० स० २०२५ (३० जून १९६८) को आचार्य ज्ञानसागरजी ने ब्र० विद्याधर को दिगम्बरी दीक्षा प्रदान की । गुरु-शिष्य का यह सयोग मणि-काञ्चन के सयोग के समान अत्यन्त आकर्षण का विषय रहा । विद्या तथा दीक्षा-गुरु के साथ रहकर मुनि विद्यासागरजी ने जैनागम के अगाध सागर मे मनचाहा अवगाहन किया । उनके ज्ञान की गरिमा सर्वत्र फैलने लगी । विशाल सघ के आडम्बर से रहित मात्र गुरु और शिष्य का युगल विहार करता हुआ जहाँ पहुँच जाता था, वहा की जनता अपने भाग्य को सराहने लगती थी ।

आचार्य पद की प्राप्ति :

अपनी वृद्धावस्था का विचार कर आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने अपने सुयोग्य शिष्य मुनि विद्यासागरजी को नसीरावाद मे २१-११-७२ के दिन आचार्यपद से विभूषित किया । आचार्य विद्यासागर ने अपने गुरु की सेवा जितनी तत्परता और तन्मयता से की थी वह उस समय के दर्शको के नेत्रो को आज भी सजल कर देती है । कुण्डलपुर मे चातुर्मास के समय अजमेर के एक सज्जन यह कहते-कहते कि '१० लाख सम्पत्ति पाने वाला लडका भी पिता की उतनी सेवा नही करता है जितनी कि आचार्य विद्यासागर ने अपने गुरु की की थी' आँसू पोछने लगे ।

ग्रथकार के रूप मे

आपका सतत् ज्ञानाभ्यास चलता है । एक क्षण भी आप व्यर्थ के विसवाद मे व्यतीत नही करते हैं। कोई विद्वान् यदि आपके दर्शनो के लिए आता है तो एक-दो वात करने के वाद ही आप तत्त्वचर्चा का प्रसग छेड देते है । आप कुशल कवि है । कविता के माध्यम से आपने अनेक ग्रन्थो की रचना की है । आपके द्वारा रचित कुछ ग्रन्थ इस प्रकार है

श्रमण शतक, निजानुभव शतक, निरञ्जनशतक, भावनाशतक, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, एकीभाव स्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, कुन्दकुन्द का कुन्दन, निजामृतपान, समतभद्रभद्रता, रयणमजूषा, नर्मदा के नरम ककर, नीति-शतक आदि । आपने समयसार का वसन्ततिलका छन्द मे सुन्दर अनुवाद भी किया है । पूज्य महाराजजी जव इस वसन्ततिलका छन्द को अपनी प्रकृति-प्रदत्त स्वर लहरी के साथ पढते हैं, तव श्रोता मन्त्रमुग्ध-सा स्थिर हो जाता है ।

शिष्य-परम्परा :

इस समय आपकी शिष्य परम्परा मे निम्नलिखित मुनि आर्यिका और ऐलक हैं ·

श्री १०८ समय सागर जी
—,,— नियम सागरजी
—,,— क्षमा सागर जी
—,,— संयम सागरजी
—,,— सुधासागर जी
—,,— स्वभाव सागरजी
—,,— सरल सागरजी

श्री १०८ योग सागर जी
—,,— चेतन सागरजी
—,,— गुप्तिसागरजी
—,,— समता सागरजी
—,, - समाधि सागर जी
– ,,— वैराग्य सागर जी

श्री १०५ आर्यिका गुरुमति जी
—,,— आर्यिका मृदुमति जी
—,,— आर्यिका ततोमति जी
—,,— आर्यिका गुणमति जी
—,,— आर्यिका निर्णयमति जी
—,,— आर्यिका पावनमति जी

श्री १०५ आर्यिका दढमति जी
—,,— आर्यिका ऋजुमति जी
—,,— आर्यिका सत्यमति जी
—,,— आर्यिका जिनमति जो
—,,— आर्यिका उज्जवलमति जी

श्री १०५ ऐलक निशक सागरजी
—,,– ऐलक दयासागरजी
—,,— ऐलक अभय सागरजी
—,,— ऐलक प्रशम सागर जी
—,,— ऐलक सम्यक्त्व सागर जी
—,,— ऐलक मगल सागर जी

श्री १०५ ऐलक दया सागरजी
—,,— ऐलक प्रमाण सागर जी
—,,— ध्यान सागर जी
—,,— ऐलक सवेग सागर जी
—,,— आर्जव सागर जी
–,,— ऐलक मार्दव सागर जी

श्री १०५ क्षुल्लक वात्सल्य सागर जी
—,,— क्षुल्लक प्रसन्न सागर जी
— ,, · क्षुल्लक निश्चिय सागर जी
—,,— क्षुल्लक विनय सागर जी
—,,— क्षुल्लक धैर्य सागर जी
— ,,— क्षुल्लक चन्द्र सागर जी
— ,,— क्षुल्लक उत्तम सागर जी
—,,— क्षुल्लक चारित्र सागर जी,

श्री १०५ क्षुल्लक सौम्य सागर जी
—,,— क्षुल्लक पवित्र सागर जी
—,,— क्षुल्लक नय सागर जी
- ,,— क्षुल्लक गम्भीर सागर जी
— ,— क्षुल्लक निसर्ग सागर जो
—,,— क्षुल्लक उदार सागर जी
–,,— क्षुल्लक निर्भय सागर जी

चातुर्मास शृंखला :

अब तक आपके निम्नलिखित स्थानो मे चातुर्मास हो चुके हैं :

अजमेर	सन्	११६८	नैनागिर	—	१९७८
"	"	१९६९	थूवौनजी	—	१९७९
किसनगढ	"	१९७०	मुक्तागिर	—	१९८०
"	"	१९७१	नैनागिर	—	१९८१
नसीरावाद	"	१९७२	नैनागिर	—	१९८२
व्यावर	"	१९७३	ईसरी वाजार	—	१९८३
अजमेर	"	११७४	जबलपुर	—	१९८४
फिरोजावाद	"	१९७५	अहार जी	—	१९८५
कुण्डलपुर	"	१९७६	पपौरा जी	—	१९८६
"	"	१९७७	थूवौन जी	—	११८७

महातपस्वी :

यह देखकर आश्चर्य होता है और श्रद्धा से चरणो मे मस्तक झुक जाता है कि आचार्य विद्यासागरजी दीक्षा के समय से ही पाच रसो के त्यागी है, मात्र दूध लेते हैं। यदि किसी गृहस्थ के चौका मे वह भी नही है तो उसकी आवश्यकता नही रहती। आप अपनी तथा शिष्यो की दिनचर्या पर कडी दृष्टि रखते है। शीतकाल मे भी एक चटाई के सिवाय घास का उपयोग नही करते।

आपके जीवन के अनेक सस्मरण हैं, जो इस प्रस्तावना के अल्पकाय लेख मे गुम्फित नही किये जा सकते।

पुण्यशाली :

कई तीर्थ स्थलो पर जहा मुनीम और पुजारी के सिवाय गृहस्थो के अन्य घर नही होते वहाँ पूज्य महाराज के पुण्य परमाणुओ का ऐसा आकर्षण होता है कि चौका लगाने वाले भक्तो की एक लम्बी पारी खडी हो जाती है और उसके नमोऽस्तु महाराज, अत्र तिष्ठ तिष्ठ की ध्वनि से आकाश-मण्डल गूँज उठता है। तपस्वी साधु के जिसके चौके मे आहार हो जाते है वह अपने आपको पुण्यशाली मानता है।

इन्ही परम तपस्वी आचार्य विद्यासागरजी की लेखनी से प्रसूत यह जैन गीता है।

जैन-गीता का प्रेरणा-सूत्र समणसुत्तं :

विश्ववन्द्य महात्मा गाधी के पदानुगामी एव परम श्रद्धालु आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा से प्रभावित होकर ब्र० जिनेन्द्र वर्णी ने 'जिनधम्मसार' नाम का सकलन किया, जो दिल्ली मे हुई सगीति मे सर्वसम्मत होने पर 'समणसुत्त' नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी के द्वारा हुआ। 'समणसुत्त' जैन सिद्धांत की प्राकृत-गाथाओ का सकलन है। उसके – १. ज्योतिमुख, २ मोक्षमार्ग, ३ तत्त्वदर्शन और ४. स्याद्वाद शीर्षक चार खण्डो मे जैन-धर्म के प्रमुख सिद्धातो पर प्रकाश डालने वाली गाथाएँ सकलित हैं। अर्थबोध की

सुगमता के लिए प्राकृत-गाथाओ के नीचे संस्कृत-छाया और सामने के पृष्ठ पर हिन्दी-गद्यानुवाद दिया गया है। चारो खण्डो मे ७५६ गाथाएँ संकलित हैं। ये गाथाएँ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर ग्रन्थो से ली गई है। जो गाथाएँ अपने मूल ग्रन्थो मे प्रकरणानुसार यथास्थान स्थित थी उन्हे वहा से लेकर एक नवीन ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जिसप्रकार विभिन्न स्थानों से लाकर विविध फूलों के पौधे एक उद्यान मे लगाये जाते हैं और उनसे उस उद्यान को सुशोभित किया जाता है, उसी प्रकार इस 'समणसुत्त' मे अनेक गाथाएँ सकलित की गई हैं और उनसे इस नूतन ग्रन्थ को सुशोभित किया गया है।

इसी 'समणसुत्त' की गाथाओ का आचार्य विद्यासागरजी ने वसन्ततिलका छंद मे 'जैनगीता' नाम से हिन्दी-पद्यानुवाद किया है। अनुवाद मूलानुगामी है और 'समणसुत्त' के समान ७५६ पद्यो मे पूर्ण हुआ है। वसन्ततिलका संस्कृत का छद है। इसी छद मे जैनधर्म के प्रसिद्ध स्तोत्र भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्र की रचना हुई है। यह छंद अनेक स्वरो से पढा जाता है। सस्कृत का वर्णिक गण-प्रधान छद होने से यद्यपि इसमे सस्कृत शब्दो का समावेश अधिक मात्रा मे हुआ है तथापि अर्थबोध मे कठिनता नही होती है। जिसप्रकार महाकवि स्व० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा सस्कृत वृत्तो मे लिखा हुआ 'प्रियप्रवास' महाकाव्य हिन्दी-साहित्य की शोभा बढा रहा है उसी प्रकार यह जैन गीता भी हिन्दी-साहित्य की शोभा बढावेगी, यह आशा है।

'समणसुत्त' के समाम 'जैन गीता' को भी—१. ज्योतिमुख, २. मोक्षमार्ग, ३. तत्त्वदर्शन और ४. स्याद्वाद नामक चार खण्डो मे विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड के १५ प्रकरणों मे १९१ पद्य हैं। द्वितीय खण्ड के १८ प्रकरणो मे ३९६ पद्य है। तृतीय खण्ड के ३ प्रकरणो मे ७२ पद्य है और घतुर्थ खण्ड के ८ प्रकरणो मे ९७ पद्य हैं। प्रत्येक खण्ड का विषव अपने शीर्षक से स्पष्ट है।

यहाँ उदाहरण के रूप मे प्रत्येक खण्ड के कुछ गाथासूत्र और उनका अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है—

१. ज्योतिमुख :

१८. जिणवयणरोसहमिणं, विसयसुहविरेयणं अभिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सब्वदुक्खाण ॥

—समणसुत्त

१८. पीयूष है, विषय सौख्य–विरेचना है, पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है, संजीवनी सुखकरी 'जिनभारती है।

—जैनगीता

४०. णिच्छयमवलवंता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई।

—समणसुत्त

४० जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है, हैं मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है।
रे मूढ नित्य रट निश्चय की लगाते, चारित्र नष्ट करते, भव को बढाते ॥

—जैनगीता

५१. जाणिज्जइ चिंतिज्जइ जम्मजरामरणसभवं दुक्ख ।
न य विसएसु विरज्जई अहो सुवद्धो कवटगंठी ।।

—समणसुत्तं

१५. हो वेदना जनम मृत्यु तथा जरा से, ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से ।
तो भी मिटी विषय, लोलुपता नहीं है, मायामयी सुदृढ गाँठ खुली नहीं है ।।

—जैनगीता

२. मोक्षमार्ग :

२८३. चत्ता पावारभ समुट्टिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहाणी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ।।

—समणसुत्त

२८३. जो पंच पाप तज पावन पुण्य पाता, हो दूर भी अशुभ से शुभ को जुटाता ।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा, शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ।।

—जैनगीता

५१८. अणु सोअई अण्ण जण अण्णभवंतरगय तु वालजणो ।
न वि सोयइ अप्पाण किलिस्समाण भवसमुद्दे ।।

— समणसुत्त

५१८. तू ने भवाम्बु निधिमज्जित आतमा की चिंता न की न अव लौं उससे दया की ।
पै बार-बार करता मृत साथियो की, चिंता दिवंगत हुए उन बांधवो की ।।

—जैनगीता

३. तत्त्वदर्शन :

६१३. सेणावइम्मि णिहए जहा सेणा पणस्सई ।
एव कम्माणि णस्संति मोहणिज्जे खय गए ।।

—समणसुत्त

६१३. होता विनष्ट जव मोह अशान्तिदाई, तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई ।
सेनाधिनायक भला रण मे मरा हो, सेना कभी बच सके ? न बचे जरा औ ।।

—जैनगीता

६४७. जह पउमरायरयण खित खीरे पभासयदि खीर ।
तह देही देहत्थो सदेहमत्त पभासयदि ।।

—समणसुत्त

६४७. ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही, है लाल-लाल करता सुन मूढ़ मोही ।
त्यो जीव देह थित हो निज देह को ही, सम्यक् प्रकाशित करे, नहिं अन्य को ही ।।

—जैनगीता

४. स्याद्वाद :

७२५. ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।
सयल ववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ।।

—समणसुत्तं

७२५. सापेक्ष ही सुनय ही सुख को सजोते, माने गये कुनय है निरपेक्ष होते ।
सपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे, नौका–समान भव–पार तुझे उतारे ।।

— जैनगीता

७३५. णाणा जीवा णाणा कम्म णाणाविह हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवाद सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ।।

—समणसुत्त

७३५. संसार मे विविध कर्म-प्रणालियाँ है, ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ हैं ।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से, साधर्मि से, अनुज से, पर से, अरी से ।।

—जैनगीता

उपर्युक्त उद्धरणो से पाठक सहज ही समझ सकेंगे कि अनुवाद कितना मूलानुगामी है और उसमे मूलसूत्र का हार्द कितना पकडा गया । अनुवाद की भाषा एक प्रवाह मे वह रही है । भाषा की सुगमता से अर्थबोध स्वय होता जाता है । मैंने देखा है सागर मे सम्पन्न हुए इस जैनगीता के अखण्ड पाठ को और भाव-विभोर होकर अनेक स्वर-लहरियो मे पढते हुए स्त्री-पुरुषो को ।

संगीत मे एक ऐमा अद्भुत आकर्षण होता है कि पाठक विवश हो स्वय उस ओर बढता चला जाता है । पूज्य आचार्यवर अपने प्रवचनो मे ग्रथो की गूढ ग्रथियो को जब सुगम शैली मे प्रस्तुत करते है तब ऐसा भाव उठता है कि यदि महाराजजी गद्य मे किसी मौलिक ग्रथ की रचना करें तो उससे जनसाधारण का वहुत हित होगा और उदीयमान नवीन वक्ताओ को विविध शैलियो का परिचय प्राप्त होगा । भावना के अनुमार महाराजजी से प्रार्थना भी की गई, परन्तु उन्होने हँसकर उत्तर दिया कि वे पाठक गद्य ग्रथ को तो एक वार पढकर अलग रख देते है पर काव्य की भाषा मे लिखे ग्रथो को वार-वार पढते हैं । चलते-फिरते, उठते-वैठते सगीतमय पक्तियो को गुनगुनाते रहते है । जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्रतिपादित सूत्र, अधिक से अधिक काल तक पाठको के सामने रहे यह उत्तम बात है । बात ठीक भी है भारत का प्राचीनतम साहित्य जितना छन्दोवद्ध उपलब्ध है, उतना गद्य निवद्ध नही । व्याकरण और न्याय जैसे गहन विषय को भी कितने ही लेखको ने छदोवद्ध किया है ।

जैन सिद्धांत सार्वकालिक और सार्वभौमिक :

जैन धर्म के द्रव्य-स्वातन्त्र्य, अहिसा, अपरिग्रह तथा अनेकान्त आदि सिद्धात सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं । इन सिद्धातो की उपयोगिता सदा से रही है और सदा काल रहेगी । मानव ने जिस समय इनकी अवहेलना

की है, उसी समय उसका जीवन कण्टकाकीर्ण हुआ है और जव उसने इनका समादर किया है तव इसका जीवन सुखमय हुआ है । मेरा तो विश्वास है कि धर्म का आविर्भाव जनकल्याण की भावना से ही किया गया है। किसी भी धर्म का उद्देश्य किसी को कष्ट पहुँचाना नही है । जव मनुष्य सत्याग्राही न वन कर दुराग्राही हो जाता है तभी पारस्परिक सघर्ष की वृद्धि होती है. अत आचार्य विनोवा भावे के शब्दो मे सवको सत्यग्राही होना चाहिये । जिस धर्म मे जो सत्य दिखे उसे नम्रता के साथ ग्रहण करना चाहिए। अनेकान्त का हार्द भी यही है। इसी विधि से धार्मिक विवादो का समाधान किया जा सकता है।

'श्रमण' शब्द की व्याख्या :

कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार के प्रारम्भ मे मोह और क्षोम से रहित आत्मा के साम्य परिणाम को धर्म कहा है । इस धर्म को ही उन्होने चारित्र सज्ञा दी है । वास्तव मे धर्म आत्मा का निज भाव है इसलिए आत्मा के आश्रय से ही उसकी उद्भूति होती है । आत्म स्वभाव की उद्भूति मे जो शुभभाव और शरीर के माध्यम से होने वाली शुभक्रियाएँ सहायक है उन्हे कारण मे कार्य का उपचार कर धर्म कहा जाता है। आत्मा का स्वभाव पूर्ण वीतराग तथा सर्वज्ञता से सम्पन्न है। ज्ञानी जीव का पुरुषार्थ इसी आत्मस्वभाव को प्रकट करने मे तत्पर होता है ।

श्रमण मुद्रा ऐसे ही पुरुषार्थी जीवो की मुद्रा है । इस मुद्रा को धारण किये विना उपयुक्त पुरुषार्थ मे सफलता नही मिलती। प्राकृत के 'समण' शब्द की सस्कृत छाया श्रमण, शमन अथवा समन होती है। जो अपने विकारो को नष्ट करने के लिए श्रम-यत्न कर रहा है वह श्रमण है । जिसने क्रोधादि कषायो को गृहस्थो की अपेक्षा अधिक शान्त कर लिया है वह शमन है और जिसने इष्ट-अनिष्ट पदार्थो मे होने वाले राग-द्वेष को नष्ट कर मध्यस्थ भाव धारण कर लिया है वह समन है। श्रमण शब्द की परिभाषा स्थापित करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार मे कहा है—

समसत्तु बधुवग्गो समसुहदुक्खोपससर्णिद समो ।
समलोड्ढु कचणो पुण जीविद मरणे समो समणो ।।४१।।

जिसे शत्रु और वन्धुओ का समूह समान है, जो सुख-दुख, प्रशसा और निंदा मे साम्यभाव रखता है, पाषाण खड और सुवर्ण मे जो सम है तथा जीवन और मरण मे जो मध्यस्थ रहता है, वह श्रमण (समन) है।

इसी संदर्भ मे और भी कहा है—

दसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एमग्गदोत्ति मदो सामण्णं तस्य परिपुण्णं ।।४२।।

जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो मे एक साथ उद्यमवत है तथा उन्ही मे एकाग्रता को प्राप्त है उसी का श्रामण्म—श्रमणपना—परिपूर्ण होता है।

शमन शब्द की व्याख्ता करते हुये कहा है—

मुज्झदि वा रज्जिदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्ण मासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ।।४३।।

अत्थेसु जो व मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोस मुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ।।४४।।

जो श्रमण अन्य द्रव को प्राप्त मर यदि राग और द्वेष करता है, तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मों से वन्ध को प्राप्त होता है । इसके विपरीत जो अन्य पदार्थों मे न मोह करता है और न द्वेष करता है वह शमन नियम से विविध कर्मों का क्षय करता है ।

जैनधर्म प्रतिपादित आचार का उज्जवल रूप श्रमण मुद्रा मे ही परिलक्षित होता है, रागद्वेष की दलदल मे फंसे हुए गृहस्थ के वेष में नही; इसीलिए जैनधर्म और श्रमण धर्म को पर्यायवाची कहा गया है । जैन श्रमण का आहार-विहार इतना उत्कृष्ट है कि उसमे छोटे से छोटे जीव की भी रक्षा का अभिप्राय रखा गया है । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि श्रमण जैनधर्म के प्रतीक है । उनके लक्ष्य, आचार, सिद्धान्त और कथन-शैली को प्रतिपादित करने वाली प्राचीन गाथाएँ समणसुत्त मे सकलित है और उनका श्रुति-सुभग कर्ण-कमनीय हिन्दी-पद्यानुवाद पूज्य आचार्य महाराज ने अपनी दिव्य लेखनी से प्रस्तुत किया है ।

जिस प्रकार भगवद् गीता का देश-विदेश मे प्रचार है, उसी प्रकार इस जैन गीता का भी देश-विदेश मे प्रचार होगा । वाणी की प्रभुता वक्ता की प्रभुता से बढ़ती है । जैन गीता की वाणी एक परम तपस्वी साधु की वाणी है, इसीलिए इसकी प्रभुता दिनोदिन बढ़ेगी ।

✿

जैनसंस्कृतसाहित्ये राजनीतिः

ससार-शरीर-भोग-निर्विण्णतामेव प्राधान्येन प्रतिपादयति जैनसस्कृतसाहित्ये प्रपञ्चसारा राजनीतिरपि न नास्ति प्रपञ्चिता । यथंत् तद्धोदत्तेन लेखोपोद्घातेन स्पष्टयाम । तत्र राजनीते समुद्गमो राज्ञो राज्याच्च भवतीति पूर्वं राजानमेव गवेपयाम ।

राजा– भोगभूमौ कोऽपि राजा न भवति । कर्मभूमेः प्रारम्भादेव तस्यावश्यकताया अनुभवो भवति । यत्र समानता वर्तते तत्र जना स्वकर्त्तव्य स्वय पालयन्ति, तत्र राज्ञ आवश्यकता न प्रतीयते । परन्तु यत्र जनताया विषमता-निर्धनता-सधनता-सवर्णता-विवर्णताप्रभृतीना भावना उत्पद्यन्ते तत्र पारस्परिक सघर्ष स्वाभाविको भवति । शिष्टाजना कष्टमनुभवन्ति दुष्टाश्च जना स्वकीयोद्दण्डतया विपुलानन्द प्रपद्यन्ते । कर्मभूमेरेतस्मादनैतिकवातावरणाज्जनताया रक्षणार्थमेव राज्ञ आविर्भावो मनुरूपेण भवति । जिनसेनाचार्येण स्वकीये महापुराणे लिखित यन्मनूना काले भारतीयदण्डव्यवस्था हा-मा-धिग्-रूपेणासीत् । परन्तु यथा यथा जनेष्वनैतिकताया वृद्धिरभूत् तथा तथा दण्डव्यवस्थायामपि परिवर्तनान्यभवन् । प्रारम्भे खल्वेक एव मनु स्वबलेन समस्तस्य भारतखण्डस्य शासन कर्तु पर्याप्त आसीत्, परन्तु पश्चाच्छनै शनैर्वहूना भूपतीनामावश्यकता समुपयोगिनी जाता । इत्थ स्पष्टमस्ति यद् राजा सृष्टे सेवको योग्यपुरुप आसीत् । तस्य जीवन निरन्तर परपालनार्थमेवाभवत् । जैनाचार्यै साम्राज्यपदस्य[1] सप्तपरमस्थानेपु गणना कृत्वा राज्ञो माहात्म्यमुद्घोपितम् । ये राजान स्वस्य जीवन केवल भोगविलासस्य साधन मन्यन्ते, ते विस्मृतात्मान कर्तव्यज्ञान-शून्या. सन्ति । स्वस्योपरि पूर्णराष्ट्रस्य जीवननिर्वाहभारमादायापि यदि भोगविलासमेवात्मलक्ष्यमङ्गीकुर्वन्ति तर्हि तेभ्योऽधिका आत्मवञ्चका प्रमत्ताश्च के भवेयु ? आचार्यसोमदेवेन राज्ञो राज्यस्य च तन्मयतामङ्गीकृत्यैव स्वस्य नीतिवाक्यामृतस्य प्रारम्भे राज्याय नमस्कार कृत । तस्याद्य सूत्रमस्ति—'अथ धर्मार्थकामफलाय राज्याय नम.' । शुक्राचार्यस्य नीतिशास्त्रेऽपि[2] सन्धिविग्रहादिशाखायुक्ताय सामदानादिपुष्पसहिताय धर्मकामादिफलोपेताय च राज्याय नमस्कार कृत । राजा को भवितुमर्हति ? इत्यस्योत्तरे सोमदेवाचार्य कथयति—[3]'धर्मात्मा, कुलाभिजनाचार सम्पन्न, प्रतापी नैतिको, न्यायी, निग्रहानुग्रहदक्ष आत्मसम्मानगौरवगरिष्ठ, कोशवलसम्पन्नश्च पुरुषो राजा भवति ।

राजनीति :—

राज्ञो नीती राजनीतिरभिधीयते । इयं पुरुषार्थचतुष्टयेऽर्थपुरुषार्थस्यान्तर्गता वर्तते । अस्या नीते पूर्णप्रकाश स एव राजा कर्तु शक्नोति यो निखिलासु राजविद्यासु निष्णातो भवति । राजविद्याना सख्याया

१— सज्जाति सद्गृहस्थत्व पारिव्रज्य सुरेन्द्रता ।
साम्राज्य परमार्हन्त्य निर्वाण चेति सप्तकम् ।। (महापुराणम्)

२—नमोऽस्तु राज्यवृक्षायषाड्गुण्याय प्रशाखिने ।
सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने ।। (शुक्रनीति)

३—'धार्मिक कुलाभिजनाचारविशुद्ध प्रतापवान्नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी,'
'कोपप्रसादयो स्वतन्त्र ', 'आत्मातिशयो धन व। यस्यास्ति स स्वामी'
— स्वामिसमुद्देशसूत्र १–३

प्राचीनकालादेव विवाद. समायाति । तथाहि—

'यतश्च दण्डभयेनैव सर्वे लोकाः स्वस्वकार्येष्ववस्थिता भवन्ति ततो दण्डनीतिरेवैका विद्यास्तीति' शुक्राचार्यस्य शिष्याणामभिमतम् ।

यतो हि वृत्तिवार्ता विनयश्चैव लोकव्यवहारस्य कारणे स्तस्ततो 'वार्ता दण्डनीति', इतीम एव द्वे विद्ये स्त. इत्थ बृहस्पत्यनुयायिनो मन्यन्ते ।

'यतो हि त्रय्येव वार्ताया दण्डनीतेश्चोपदेशं ददातीत्यतस्त्रयी वार्ता दण्डनीतिरित्येता एव तिस्त्रो राजविद्या. सन्ति' इति मनुस्मृतिनिरतानामभिप्रायो वर्तते ।

'यतश्चान्वीक्षिक्या विवेचिता त्रय्येव वार्ताया' दण्डनीतौ च स्वस्य प्रभाव स्थापयति तत आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति चतस्र एव राजविद्या सन्तीति कौटिल्याभिमतम् ।

[1]सोमदेवेनापि कौटिल्याभिमतं स्वीकृत्यान्वीक्षिक्यादयश्चतस्त्रो राजविद्या स्वीकृता । यस्यामध्यात्मविषयस्य निरूपण भवेत्सान्वीक्षिकी, यस्या पठनपाठनपूजनविधानादीना वर्णनं भवेत् सा त्रयी, यस्या कृषिपशुपालनप्रभृति-व्यवसाया वर्णिता. सा वार्ता, यस्या च साधुसंरक्षण दुष्टाना निग्रहश्च वर्णितो भवेत् सा दण्डनीति कथ्यते ।

फलतो राजनीतेर्मूलसिद्धान्ता अपरिवर्त्तना सन्ति तेषा प्रयोगपद्धतिष्वेव परिवर्तनानि भवन्ति । सन्धि-विग्रह-यानासन-सश्रय-द्वैधीभावा इमे राज्ञा षड् गुणाः सन्ति । उत्साह-मन्त्र-प्रभावाभिधानास्तिस्र. शक्तयो वर्तन्ते । सामदानदण्डभेदाश्चत्वार उपाया कथ्यन्ते । सहाय-साधनोपाय-देशविभाग-कालविभाग-विपत्तिप्रतीकारा इमानि पञ्चाङ्गानि सन्ति । राजनीतेरेत एव मुख्यसिद्धान्ताः सन्ति, ये च कर्मभूमे. प्रारम्भ एव सम्राजा भरतेन निश्चिता आचरिताश्चाद्याप्यनिवार्या सन्ति । एषा साधन प्रयोगश्च यथापरिस्थिति पृथक्-पृथक् भवन्ति' । संस्कृतजैनसाहित्ये राजनीतेर्वर्णन क्वचित्पित्रा गुरुजनेन वा पुत्राय शिष्याय वा प्रदत्ते सदुपदेशे प्राप्यते, क्वचिच्च कस्यचिद्राज्ञो राज्यव्यवस्थावर्णने चरित्रचित्रणे च समुपलभ्यते । स्वतन्त्रनीतिशास्त्ररूपेणापि प्राप्यते । उदाहरणार्थं आचार्यवीरनन्दिनो महाकाव्ये चन्द्रप्रभचरिते राज्य-सिंहासनमधिष्ठिताय युवराजाय तत्पितुरुपदेश एव गृह्यताम्—

'हे पुत्र ! यदि त्व प्रभावकविभूतीरिच्छसि तर्हि स्वहितैषिजनेभ्यो जात्वपि समुद्विग्नो नो भवे । यतो हि जनानुराग एवं विभूतीना प्रमुखकारण वर्तते । सम्पदा समागमोऽपि तस्यैव राज्ञो भवति य सकटोर्त्तीर्णो भवेत् । सकटानामभावश्च तदैव सभाव्यते यदा स्वकीय परिवार स्वस्याधीनो भवेत् । स्वपरिवारस्य स्वाधीनत्वाभावे महान्त. सकटा समापतन्ति । स्वपरिवार स्वाधीन कर्तुमिच्छसि चेत्तदा पूर्ण कृतज्ञो भव । यतो हि कृतघ्नो मनुष्य सर्वैर्गुणैर्भूषितोऽपि सर्वान् जनान् समुद्वेजयति । त्व कलिदोषविमुक्त सन् अर्थकामयोरेतादृशीं वृद्धि कुरु, या धर्मविरोधिनी न स्यात् । यतोहि समानरूपेणैव[2] त्रिवर्गसेवको राजोभय-लोक सिद्ध विदधाति । ये राजकर्मचारिण प्रजा पीडयन्ति तेषा निग्रह कुरु । ये च प्रजाया सेवा विदधति तेषा पदवृद्धि कुर्या । इत्थमेव मागधास्त्वदीया कीर्ति गास्यन्ति, दिग्दिगन्त च यावत्ता प्रसारयिष्यन्ति ।

१—आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिरिति चतस्रो राजविद्या. ॥५॥ आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये, त्रयी वेदयज्ञादिषु, वार्ता कृषिकर्मादिका, दण्डनीति साधुपालनदुष्टनिग्रह.॥६॥ नीतिवाक्यामृत—विद्यावृद्धद्देश ।

२—चन्द्रप्रभचरितसर्ग ५ श्लोका. ३६—४३

स्वकीया मनोवृत्तिः सदा निगूढा करणीया समुद्योगाश्च स्वकीया फलानुमेया विधातव्या. । ये जनाः स्वकीया योजना निगूढा रक्षन्ति परमन्त्रस्य च भेदं प्राप्नुवन्ति, शत्रवस्तेषा किञ्चिदपि कर्तुं न पारयन्ति । तेजस्वी भूत्वा त्व निखिलासु काष्ठासु व्याप्नुया सर्वेषु च राजसु प्राधान्य प्राप्नुया. । इत्थ दिनकर-किरण-कलाप इव तवापि करप्रपातो भुवि निर्वाधो भविष्यति ।'

राजससदि शत्रुपक्षस्य दूतो रोषपूर्णैर्वचनैर्युवराजस्योत्तेजनामकरोत् । युवराजो युद्धाय वद्धपरिकरोऽभूत् । पुरोहितप्रभृतयस्त शान्त कर्तु प्रयतन्ते । युवराजस्तानुत्तरयति । एव चन्द्रप्रभचरितस्य द्वादशः सर्ग किरात माघयोर्द्वितीयसर्गमप्यतिक्राम्यति । यथाहि—

'नयपराक्रमयोर्नय एव वलवान् वर्तते, नयशून्यस्य नरस्य पराक्रमो व्यर्थोऽस्ति । महता महता मत्तमतङ्गजाना विदारक मृगेन्द्रोऽपि तुच्छेन शवरेण विदार्यते' । नीतिमार्गमनुसरता कार्यासिद्धौ नास्ति तदीयो दोष किन्तु विरुद्धस्य दैवस्यैव प्रभावो वर्तते । विवेकिश्रेष्ठेन भवताऽविचार्य शत्रुषु दण्डनीते प्रयोगो न करणीय । अहयु शत्रु साम्नैव शान्तो भवति । स्वप्रयोजनसिद्धये सन्तः सर्वत. प्राक् शत्रुषु सामैव प्रयुञ्जते ततो भेदादीन् । दण्डो ह्यन्तिम उपायोऽस्ति । एकं प्रियवचन शतदोषान् दूरयितु समर्थं भवति । जलदो जलविन्दुकारणेनैव जनप्रियो भवति, न तु वज्रादिपातेन । दानेन धनहानिः, दण्डेन वलहानिः, भेदेन च कापटयापकीर्तिर्भवति । अतो विहाय साम, नास्त्यन्यः श्रेयस्कर उपाय.[1] ।

यशस्तिलकचम्प्वा नीतिवाक्यामृतस्य च रचयिता वहुश्रुतो विद्वान् आचार्य. सोमदेवश्चालुक्यवशीयस्य राज्ञोऽरिकेशरिण. प्रथमपुत्रस्य वद्दिगराजस्य गङ्गाधारानगर्या ८८१ शकाब्दस्य चैत्रशुक्लत्रयोदश्या यशस्तिलक-चम्पू पूर्णा कृत्वा सस्कृतसाहित्यस्य महान्तमुपकार चकार । एतेन स्वकीये नीतिवाक्यामृते राजनीतेर्निखिलानामङ्गाना यत् सरस सरल च विवेचन कृत तत् तात्कालिकाना ततोऽन्तरवर्तिना च समस्तराजनीतिकविदुषामादर्शो विद्यते । काव्यग्रन्थाना कुशलटीकाकारेण मल्लिनाथसूरिणा स्वकीयासु टीकासु नीतिवाक्यामृतस्य सूत्राणि महतादरेण सद्धृतानि । नीतिवाक्यामृतातिरिक्तयशस्तिलकचम्प्वास्तृतीयाश्वासेऽपि राज्ञा राजनीतिकजीवन व्यवस्थित सफलतर च विधातु पर्याप्तदेशनामदात् ।

स्वराज्यस्य निखिल भार मन्त्रिप्रभृतिषु समारोप्य निश्चिन्तासीना राजानोऽसफला जायन्ते । आचार्य कथयति— राजभि प्रत्येक राजकीय-कार्यस्यावलोकन स्वय करणीय, यतोहि स्वानवलोकितराजकार्यं राजानमासन्ना जना विपरीत बोधयन्ति । शत्रवोऽपि त सुष्ठु प्रतारयितु पारयन्ति'[2] । ये हि राजानो मन्त्रिषु राजभार समर्प्य स्वेच्छया विहरन्ति ते मूढा मार्जारेषु दुग्धरक्षाभिभार समर्प्य सुखेन स्वपन्ति । कदाचिज्जले मत्स्याना गगने च गगनचारिणा मार्गो ज्ञातु शक्यते, किन्तु हस्तामलकलोपिनाममात्याना प्रवृत्तिर्नावबुध्यते । यथा भिषजो धनवता रोग वर्धयितु सदा तत्परा भवन्ति तथा मन्त्रिणोऽपि राज्ञामापत्तीर्वर्धयितु शश्वत्प्रयत्नशीला भवन्ति ।

ग्रन्थकारेण यत्र मन्त्रिण प्रति राज्ञा जागरूकताया. समुपदेशो दत्तस्तत्र तेषामुपयोगिताया अपि सुन्दर प्रतिपादन कृतम् । यतो मन्त्रिभिर्विना केवलेन नृपेण राज्यस्य सचालन कर्तुं नैव पार्यते । अतो भूभृद्भिरनेके

१—चन्द्रप्रभचरितस्य सर्ग २ श्लोकाः ७२—८१ ।
२—नीतिवाक्यामृत—स्वामिसमुद्देश—सूत्र ३२—३४ ।

मन्त्रिण· करणीयास्तेषा सावधानतया भरणं पोषणं च विधातव्यम्'। राज्योन्नतेर्द्वितीय साधनं मन्त्रस्य गोपनीयता विद्यते, एतामन्तरेण योगक्षेमे न तिष्ठत. । स एव नृपो नीतिज्ञो वर्तते य· स्वमन्त्रस्य परिचयमन्येभ्यो न ददाति, चतुरचरैश्च तन्मन्त्रान् जानाति । मन्त्ररक्षार्थं राजभिर्मन्त्रशालायामयुक्ता मानवा न प्रवेशनीया· । महाराजं यशोधरं सबोधयन् कथयति —

हे महीपाल ! विदधातु मन्त्रशालाया पूर्णां शुद्धि, रतिकालेऽयुक्तपुरुषस्य सद्भाव इव मन्त्रशालायामयोग्यस्य क्षुद्रस्य वा नरस्य सद्भावो न वाञ्छनीयो वर्तते । विषेण शस्त्रेण वैक एव प्राणी म्रियते परन्तु मन्त्रस्यैकेनैव विस्फोटेन सबन्धुः सराष्ट्रश्च राजा सत्वरं विनश्यति । कियन्तोऽपि राजानो दैवमनङ्गीकृत्य केवलं पुरुषार्थवादिनो भवन्ति, एतादृशान् जनानाचार्यः सावधानान्विदधत् कथयति राज्ञा दैवग्रहाणामानुकूल्य धनादिवैभव धार्मिकमर्यादा च सुविचार्यैव युद्धे प्रवर्तितव्यम् । ये हि पुरुषा धर्मस्य प्रसादाल्लक्ष्मी लब्ध्वाग्रे धर्मधारणे प्रमाद्यन्ति ससारेऽस्मिस्तेभ्योऽतिरिक्त कृतघ्न. कः स्यात् ? आगमिष्यति जन्मनि च ततोऽधिको दरिद्र को भवेत् ? मतङ्गजं विदार्य केवल पापस्य सचयं कुर्वाणो मृगेन्द्र इव धर्ममुपेक्ष्य धन सचिन्वन् राजा भवति, यतो हि गोमायवो मासमिव, परिजना धनादिक भक्षयन्ति । ये च भूपतय केवलं दैवभक्ता भूत्वा पुरुषार्थं परित्यजन्ति तान् सावधानान् कुर्वन्नाहाचार्य ये पौरुषं विहाय भाग्योपरि निर्भरा भवन्ति तेषा मूर्ध्नि वायसा भवनोपरिनिर्मितमृण्मयमृगेन्द्र इव तिष्ठन्ति । निस्तेजसो भूभृतो विरोधे स्वेऽन्ये च षड्यन्त्र रचयन्ति । शीतलाया भूतेरुपरि को न सुखेन पादं निदधाति[2] ?

मन्त्रिणो मन्त्रस्य च कियती मनोहरा परिभाषा प्रदीयते यस्मिन् हि देशस्य, कालस्य, व्ययोपायस्य, सहायकस्य, फलस्य च निश्चय क्रियते स एव मन्त्र । अन्यस्तु मुखकण्डूप्रतीकार । यस्य मन्त्रः क्रियान्वितो भवेत्, फल च स्वामिनोऽनुकूल स्यात्, स एव मन्त्री निगद्यते, अन्ये सर्वे तु सन्ति कपोलवादका । मन्त्री कुत्रत्यो भवेत् ? एतस्य प्रश्नस्य समाधान महतौदार्येण दत्तम् । मन्त्री स्वदेशजो भवेत्परदेशजो वा, राजभि. स्वारब्धस्य कार्यस्य सफलनिर्वाह एव दृष्टिर्निधातव्या । यतो हि शरीरे समुत्पन्नो व्याधिर्दुःखं ददाति, वनमध्ये जात भैषजं तु सुखं प्रापयति । पुरुषाणा गुणा एव कार्यकारिण सन्ति, स्वपरयोश्चर्चा तु भोजन एव शोभते । राजभि· प्राग्मन्त्रेणैव साफल्याय प्रयतितव्यम्, ये मन्त्रयुद्धेन विजयन्ते तेषा शस्त्रसद्धं व्यर्थम् । येन हि मन्दारतरावेव मधुः प्राप्यते स तुङ्गशैलोपरि कथं चटिष्यति ।

विजिगीषाया भावनया ये भूपतय स्वदेशरक्षायाश्चिन्ता त्यक्त्वाग्रे गच्छन्ति तान् कियता सौन्दर्येण सावधानान्करोति सोमदेव — 'यो हि नृप. स्वदेशमरक्षयित्वा परदेश विजिगीषते स परिधानीया मुक्त्वा शिरसि वेष्टन बध्नन् पुरुष इवोपहासमात्रभाजन भवति ।' सामादीनामसाफल्ये सति दण्डः प्रयोक्तव्य । दण्डस्य प्रयोगः सर्वत्र सफलो न भवति । तस्य कदा कथ च प्रयोग. करणीय इत्यस्मिन्विषये दिशानिर्देशनं ददाति —'उदयः समता हानिश्चेति त्रयोऽमी राज्ञा काला. । एतेषूदयकाल एव युद्धविधिरन्यस्मिन् कालद्वये राज्ञा शान्तेन भवितव्यम् । एकस्यैवैकैः सार्धं युद्धकरणं पदातेर्हस्तिना सार्धं कृतं युद्धमिव व्यर्थं भवति[3] । अतो वन्यवारणमिव

---

१. यशस्तिलकच० आ० ३ श्लोक—२३–२६ ।

२. यशस्तिलकच० आ०–३ श्लोक—२७–५६ ।

३. नीतिवाक्यामृतयुद्धसमुद्देश-६६, यशस्तिलक० आ ३ श्लोक ६८ । ८३ नीतिवाक्यामृत—युद्ध—समुद्देशसूत्र ६८

शत्रु भेदेन यूथात्पृक्कृत्य वशीकुर्यात् । यथाममृत्तिकया निर्मिते द्वे भाजने परस्परमाहत्य भग्ने भवतस्तथा समानशक्तिधारकौ द्वौ नृपावपि परस्पराघातेन नष्टौ भवत । ग्रत समशक्तिमता भूभृता सह स्वय युद्धं न विधाय तमन्येन समशक्तियुक्तेन योधयेत् इत्थमेव हीनशक्तिमता सह स्वय न योधनीयं किन्त्वसौ वलवता साक योधयित्वा क्षीण. करणीय । नीत्या वा कयाचित्स्वदासो विधातव्य[1] ।

सैनिकाना वहुत्वमेव न कार्यसाधकमित्यस्मिन्विपये तस्य दिशानिर्देशो दृश्यताम्—पुष्टाना शूरवीराणा-मस्त्रकलाविदग्धाना स्वामिभक्ताना श्रेष्ठक्षत्रियाणामल्पपरिमाणापि सेना कल्याणकारिणी भवति, व्यर्थमेव मुण्डमण्डलीनामेकत्रीकरणेन को लाभ ? इत्थ युद्धस्य व्यवस्था विधायापि ग्रन्थकारहृदयाय युद्धनीतिर्न रोचते । स कथयति—शरीरमेकमेव, हस्तौ च द्वावेव, शत्रवश्च पदे पदे निभृता । कण्टकवत् क्षुद्रशत्रुरपि दु ख प्रापयति, पुन कृपाणेन कियन्तो जेतव्याः ? यत् कार्य साम्ना, दानेन भेदेन वा न सिद्धयेत् तदर्थमेव दण्डप्रयोग. करणीय. । साम्ना साध्ये कार्ये शस्त्रप्रयोग क कुर्यात् ? यत्र गुडेन मृत्युर्भवति तत्र विष को दास्यति ? नयानाय विस्तार्य शत्रुमीनावशीकरणीया । यो हि क्षुभित सागर भुजाभ्या तितीर्पति तस्य निकतने कुशलता कथं स्यात् ? पुष्पैरपि न योद्धव्य पुनस्तीक्ष्णैरायुधैरायोधनवार्ता कीदृशी ? न जानीमो वय युद्धदशा प्राप्ताना पुरुपाणा का दशा भवेत्[1] ?

स्थिरशान्ते. प्राप्त्यै राजभिरुदारैर्भवितव्यम्—स्वकीयाद्वा सपदा समुचितो भाग. परेभ्योऽपि प्रदातव्यः । ये राजान सचयशीलतया स्वाश्रितजनेभ्य. स्वसम्पत्तीर्न वितरन्ति तेपामन्तरङ्ग सेवकवर्गोऽपि लुञ्चाचुञ्चुर्भवति, ततश्च प्रजासु शनै शनैरनीतिर्विवर्धते । यो नरेन्द्र- स्वलक्ष्म्या सविभाग न करोति स मधुगोलक इव नाशमवाप्नोति[2] । ग्रत्र दानोपायस्य समर्थनानन्तर भेदनीतेरपि सुन्दर प्रतिपादन वर्तते । यो हि नृपोऽरातिपु भेदमनुत्पाद्य पराक्रम दर्शयति स समुन्नतवशसमूहादेक वशमाकर्षयन्निव भवति[3] ।

केचिन्नीतिकारा राज्ञा शारीरिकवलस्य, केचिच्च बौद्धिकवलस्य प्राधान्यमर्पयन्ति, परन्त्वाचार्य सोमदेव उभयो समन्वय कुर्वन् कथयति—शक्तिहीनस्य राज्ञो वौद्धिकवलरहितस्य च राज्ञ शक्ति किमर्थिका ? यतो हि दावानलस्य ज्ञाता पङ्गुपुरुप इव सवलोऽन्धपुरुषोऽपि तज्ज्ञानाभावेन स्वरक्षा कर्तु न पारयति । नेदमावश्यक यच्छत्रूणा स्ववशीकरणाय तेषा देशेष्वाक्रमण कुर्यादेव । यथा हि कुम्भकार स्वगृहे समुपविष्टश्चक्र चालयन्नेकानि भाजनानि रचयति तथा राजापि स्वगृहे समुपविश्य नीतिचक्र चालयेत् । तेनैव चादिगन्त नृपतिभाजनानि सिद्धानि कुर्यात् । यथा हि कृषीवल स्वक्षेत्रे मञ्चमारुह्य क्षेत्र रक्षति तथा महीपालोऽपि स्वीयासने समुपविश्य सकलवसुधाया. पालन कुर्यात् ।

यथा हि मालाकार कण्टकिनो वृक्षान् उद्यानाद् वहिर्वृतिरूपेण स्थापयति, एकत्र समुत्पन्नान्सस्याङ्कुरान्पृथक् पृथक् स्थानेषु समारोपयति, एकस्थानात्समुत्पाटयान्यत्रारोपयति, पुष्पितपादपाना पुष्पाण्यवचिनोति, लघुपादपा-न्वर्धयति, ऊर्द्ध्वगान्पादपान्नीचैरवनमयति, बहुस्थानव्यापिन पादपान् कृशीकृत्य लघूकरोति, ग्रत्युन्नताश्च वृक्षान् छित्वा पातयति, तथा राजापि तीक्ष्णप्रकृतीन् राज्ञो राज्यस्य सीम्नि स्थापयेत्, सघटिताना स्फोटयित्वा पृथक् पृथक् कुर्यात्, एकस्थानाच्युत राजानमन्यस्थाने स्थापयेत्, सम्पन्नेभ्यो महीभुग्भ्य कर गृह्णीयात्,लघून्

---

१ यशस्तिलक० ग्राश्वास ३ श्लोक ८४-९२ ।

२ यशस्तिलक० ग्रा० ३ श्लोक ९३ तथा नीतिधर्मसमुद्देशसूत्र १५

३ यशस्तिलक० ग्रा० ३ श्लो० ९४

वर्धयेत्, अभिमानिनो नमयेत्, गुरून् लघूकुर्यात्, उद्दण्डाना दमन च विदध्यात् । इत्थं नृपतिश्चतुरमालाकार इव समग्राया: पृथिव्या पालन कुर्यात् । यथा हि कस्यचिद्वृक्षस्योपरि पतितस्य चलदलस्य लघुतमाद् बीजान् महावृक्ष समुत्पद्यते तथा लघुतमोऽपि सपत्नो महद् भयमुपस्थापयेत् । अत. को बुद्धिमान् क्षुद्रमपि भयमुपेक्षेत[1] ।

एते ते मार्मिका उपदेशा सन्ति यै राज्ञा जीवन लोककल्याणकारक भवति । राज्ञा जीवन केवलं भोगविलासार्थं नास्ति किन्तु दुष्टाना निग्रह शिष्टाना चानुग्रह कृत्वा जगत्या सुन्दरव्यवस्थास्थापनार्थमस्ति । यद्यप्यन्यपुरुषस्येव राज्ञोऽपि द्वौ हस्तौ द्वौ पादौ द्वे चक्षुषी च भवत, सोऽप्यन्यपुरुष इवाशन पान शयन च करोति तथाप्यसौ स्वस्य सेवावृत्त्या, अलौकिकप्रतिभया, योग्यपुरुषाणा निर्वाचनेन सहयोगेन च समग्र राष्ट्र शान्त समृद्ध शिक्षित च करोति । राजधान्यामुपविष्टो भूभृद् गुप्तचरै स्वपरराष्ट्रयो समस्तैरान्दोलनै परिचितो भवति । चरविहीनो राजा न राज्य स्थिरीकर्तु पारयति न प्राणान् रक्षितुम् । एतदेव कारणं यन्नीतिकारैश्चरा राज्ञा लोचनीकृता । राज्ञोऽवहितान् कुर्वद्भिराचार्यैरभाणि — ते चरान्नोपेक्षेरन्, अन्यथा चक्षुरपचार इव चरापचारे राज्ञा पदे पदे पातो भवेत् । अयमेवाभिप्राय सोमदेवेन नीतिवाक्यामृतेऽपि स्पष्टीकृत[2] ।

आचार्यसोमदेवस्य मतेन स एव दूतो भवितुमर्हति यश्चतुर शूरो निर्लोभ, प्राज्ञ, गम्भीर., प्रतिभाशाली, विद्वान, प्रशस्तवचनपटु:, सहिष्णु. प्रियो, द्विजो निर्दुष्टाचारश्च भवेत् । यशस्तिलकस्यैतस्य कथनस्य नीतिवाक्यामृतेऽपि समर्थनमस्ति ।

पूर्णराजतन्त्रस्य सचालनार्थमर्थस्यावश्यकता भवति । अतो राज्ञा कर्तव्यं वर्तते यत्र समुचितैरुपायैराय वर्धयेयु, आयान्न्यूनं व्ययं कुर्यु, आवश्यकाकस्मिककार्यार्थ सचयमपि च कुर्यु: । यथा हि नीतिवाक्यामृतस्य[3] सूत्रे स्पष्टीकृतम् । राज्ञामायव्ययव्यवस्थाया निदर्शन मुनीना कमण्डलुरस्ति । यथा हि कमण्डलौ जलभरणद्वार दीर्घं निर्गमन द्वार च लघु भवति तथैव राज्ञामायद्वारं दीर्घ व्ययद्वार च लघु भवेत् । यो राजा स्वकीयायमविचार्याधिक व्यय करोति स राज्य स्थिरीकर्तुंन्नं शक्नोति । अस्मिन्नेव प्रकरणे कथितम् 'आयमनालोक्य व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते ।'

महापुराणस्य द्विचत्त्वारिंशत्तमे पर्वणि भगवज्जिनसेनाचार्येण महाराजस्य भरतस्य राज्यव्यवस्था वर्णयता राजनीतेर्विशद विवेचन कृतम् । गद्यचिन्तामणौ तत्कर्त्रा वादीभसिंहेनार्यनन्द्याचार्यमुखारविन्दमाध्यमेन जीवन्धरकुमाराय विद्याध्ययनानन्तर या दीक्षान्तदेशना दत्ता सा कादम्बर्या शुकनासोपदेश स्मारयति । कोमलकान्तपदावल्या भव्यभावभङ्ग्या च काव्यजगति युगान्तरमुपस्थापयता कहाकविना हरिचन्द्रेण धर्मशर्माभ्युदये यत्र तत्र विशेषतयाष्टादशे सर्गे च राजनीते सरस सुन्दर च निरूपणं कृतम् । अष्टादशसर्गस्य ५–४३ श्लोका राजनीतिविद्यार्थिनो विशेषरूपेणाकर्षन्ति । सोऽय सक्षेपो जैनसस्कृतसाहित्ये विद्यमानाया राजनीतिचर्चाया. । विस्तरस्तु महाप्रबन्धप्रबन्धमनुबध्नीत ।

---

१. यशस्तिलक० आ० ३ श्लो० ९५, ९७, १००, १०७, १०८ ।

२ यशस्तिलक० आ० ३ श्लोक १११ । नीतिवाक्यामृतचारसमुद्देश सू० २ ।

३. आयव्ययमुखयोर्मुनिकमण्डलु दर्शनम् नीति० चार० सू० ३

४. 'आयमनालोक्य व्ययमानो वैश्रवणोऽपि श्रमणायते'—
नीति० अमात्यसमु० ।'

संस्कृत जैन साहित्य का विकास क्रम

प्रस्ताविक–

उपलब्ध जैन सस्कृत-साहित्य के प्रथम पुरस्कर्ता आयार्य गृद्धपिच्छ हैं। उन्होंने विक्रम की प्रथम शताब्दी मे तत्वार्थसूत्र की रचना कर आगामी पीढी के ग्रन्थ लेखको को तत्वनिरूपण की एक नवीनतम शैली का प्रदर्शन किया। उनका युग दार्शनिक सूत्र युग था। प्राय॰ सभी दर्शनो की उस समय सूत्र-रचना हुई है। तत्वार्थ सूत्र के ऊपर अपरवर्ती पूज्यपाद, अकलक, विद्यानन्द आदि महर्षियो द्वारा महाभाष्य लिखे जाना उसकी महत्ता के प्रख्यापक है। इनके बाद जैन सस्कृत-साहित्य के निर्माताओ मे श्वेताम्वराचार्य पादलिप्तसूरि का नाम आता है। आपका रचा हुआ निर्वाणकलिका' ग्रन्थ सुना जाता है। 'तरगवती कथा' भी आपका एक महत्वपूर्ण प्राकृतभापा का ग्रन्थ सुना जाता है जो कि इस समय उपलब्ध नही है। आप तृतीय शताव्दी के विद्वान माने गये हैं।

जैन साहित्य का विकास–

जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप देने वाले श्री समन्तभद्र और श्री सिद्धसेन दिवाकर ये दो महान् दार्शनिक हुए। सिद्ध सेन दिवाकर की श्वेताम्बर समाज मे और श्री समन्तभद्र की दि॰ जैन समाज मे अनुपम प्रसिद्धि है। इनकी कृतियाँ इनके अगाध वैदुष्य की परिचायक हैं। आचार्य समन्तभद्र की मुख्य रचनाएँ 'आप्तमीमासा', 'स्वयभूस्तोत्र', 'युक्त्यनुशासन', स्तुतिविद्या', 'जीवसिद्धि', रत्नकरण्ड श्रावकाचार' आदि हैं। आपका समय विक्रम की २–३ शताव्दी माना जाता है। श्री सिद्धसेन का सन्मति तथा सस्कृत द्वात्रिंशिकाएँ अपना महत्व रखती हैं। सन्मति ग्रथ दि॰ जैन ग्रथ के रूप मे दिगम्वर परम्परा मे मान्य है। आदि पुराणकार से स्मरण किया है, ऐसा जैनेतिहासज्ञ श्री मुख्तार जी का अभिप्राय है। आपका समय वि॰ ४–५ शती माना जाता है।

श्वेताम्वर साहित्य मे एक 'द्वादशार नय चक्र' नामक दार्शनिक ग्रन्थ है जिसकी रचना वि॰ ५–६ शती मे हुई मानी जाती है, उसके रचयिता श्री मल्लवादि आचार्य है। इस पर श्री सिंहगणि क्षमाश्रमण की १८००० श्लोक प्रमाण विस्तृत टीका है।

वि॰ ६वी शती मे प्रसिद्ध दि॰ जैन विद्वान् पूज्यपाद हुए। इनका दूसरा नाम देवनन्दी भी था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपकी तत्वार्थ सूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामक सुन्दर और सरस टीका सर्वत्र प्रसिद्ध है। जैनेन्द्र व्याकरण, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि आपकी रचनाओ से दि॰ जैन सस्कृत साहित्य बहुत ही अधिक गौरवान्वित हुआ। ७वी शती के प्रारम्भ मे आचार्य मानतुङ्ग द्वारा 'आदिनाथ स्तोत्र' रचा गया जो कि आज 'भक्तामरस्तोत्र' के नाम से दोनो समाजो मे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह स्तोत्र इतना अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि इस पर अनेको टीकाएँ तथा पादपूर्ति काव्य लिखे गये।

आठवी शताव्दी मे दो महान् विद्वान् हुए। दि॰ समाज मे मे श्री अकलंक स्वामी और श्वे॰ समाज मे श्री हरिभद्र सूरि। अकलक स्वामी ने बौद्ध दार्शनिक विद्वानो से टक्कर लेकर जैन-दर्शन की अद्‌भुद्ध प्रतिष्ठा

बढाई। आपके रचित आप्तमीमांसा पर अष्टशती टीका, तत्वार्थवार्तिक, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, प्रमाण संग्रह एवं सिद्धिविनिश्चन ग्रंथ उपलब्ध हैं। आप अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् थे। हरिभद्र सूरि के शास्त्रवार्ता समुच्चय, षट्दर्शन समुच्चय, योगविंशिका आदि मौलिक ग्रथ तथा न्याय प्रवेशवृत्ति, तत्वार्थसूत्रवृत्ति आदि टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। दिगम्बराचार्य श्री रविषेणाचार्य ने इसी शताब्दी मे पद्मचरित-पद्मपुराण की रचना की और उसके पूर्व जटासिंह नन्दी आचार्य ने वरागचरित नामक कथा-ग्रथ लिखा। वरागचरित दि० सम्प्रदाय मे सर्वप्रथम संस्कृत कथाग्रन्थ माना जाता है। यापनीय संघ के अपराजित सूरि जिनकी कि भगवती आराधना पर विजयोदया टीका है इसी आठवी शताब्दी मे हुए है।

९वी शती मे दिगम्बराचार्य श्री वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र बहुत ही प्रसिद्ध और बहुश्रुत विद्वान् हुए। श्री वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम सूत्र पर ७२००० श्लोक प्रमाण धवला टीका ८७३ वि० स० मे पूर्ण की। फिर कषायप्राभृत की २०००० प्रमाण जयधवला टीका लिखी। दुर्भाग्यवश आयु बीच मे ही समाप्त हो जाने से जयधवला टीका की पूर्ति आपके द्वारा नही हो सकी अत उसका अवशिष्ट भाग ४०००० श्लोक प्रमाण उनके बहुश्रुत शिष्य श्री जिनसेन स्वामी द्वारा ८९४ स० मे पूर्ण हुआ। श्री जिनसेन स्वामी ने महापुराण तथा पार्श्वाभ्युदय की भी रचना की। आप भी महापुराण की रचना पूर्ण नही कर सके। १--४२ पर्व तथा ४३वें पर्व के ३ श्लोक ही आप लिख सके। अवशिष्ट भाग तथा उत्तरपुराण की रचना उनके सुयोग्य शिष्ट श्री गुणभद्राचार्य द्वारा हुई। गुणभद्र का आत्मानुशासन नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसके, ३७२ श्लोको मे भवभ्रान्त पुरुषो को आत्मतत्व की हृदय ग्राही देशना दी गई हैं।

इसी समय जिनसेन द्वितीय हुए जिन्होने १२००० श्लोक प्रमाण हरिवश पुराण वि० स० ८४० पूर्ण किया। आप पुन्नाटगण के आचार्य थे। ९वी शती मे श्री विद्यानन्द स्वामी हुए जिन्होने तत्वार्थ सूत्र पर श्लोक वार्तिकभाष्य व आप्तमीमासा पर अष्टसहस्री टीका तथा प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, आप्त परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा एवं युक्त्यनुशासन टीका आदि ग्रन्थ बनाये। आपके बाद जैन समाज मे न्यायशास्त्र का इतना बहुश्रुत विद्वान् नही हुआ, ऐसा जान पडता है। अनन्तवीर्य आचार्य ने सिद्धिविनिश्चय की टीका लिखी जो दुर्बोध ग्रन्थियो को सुलझाने मे अपना खास महत्व रखती है। शाकटायन व्याकरण और उसकी स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति के रचयिता श्री शाकटायनाचार्य भी इसी शताब्दी मे हुए हैं। ये यापनीय सघ के थे। आपका द्वितीय नाम पाल्यकीर्ति भी था।

१०वी शती के प्रारम्भ मे जयसिंह सूरि श्वेताम्बराचार्य ने धर्मोपदेशमाला की वृत्ति बनाई। वह शीलाकाचार्य भी इसी समय हुए जिन्होने कि आचाराग और सूत्रकृताग पर टीका लिखी है। उपमितिभवप्रपञ्च की मनोहारिणी कथा की भी रचना इसी दसवी शताब्दी मे हुई है। यह रचना श्री सिद्धर्षि महर्षि ने ९६२ संवत् मे श्री मालनगर मे पूर्ण की थी। सं० ९८९ मे दिगम्बराचार्य श्री हरिषेण ने बृहत्कथा कोष नामक विशाल कथाग्रथ की रचना की है। जैनेन्द्र व्याकरण की शब्दार्णव टीका की रचना भी इसी शताब्दी मे हुई मानी जाती है। टीका के रचयिता श्री गुणनन्दी आचार्य है। परीक्षा-मुख के रचयिता श्री माणिक्यनन्दी इसी शताब्दी के विद्वान् है। परीक्षामुख न्यायशास्त्र का एक सुन्दर-सरल सूत्रग्रन्थ है।

११वी शती के प्रारम्भ मे सोमदेवसूरि सर्वद्वितीय प्रतिभा और राजनीति के विख्यात हुए है। आपके यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत अद्वितीय ग्रथ है। यशस्तिलकचम्पू का साहित्य तथा धार्मिक विन्यास इतना सुन्दर है कि उसे पढते-पढते कभी तृप्ति नही होती। नीतिवाक्यामृत नीतिशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है, जो सूत्रमय है और प्राग्वर्ती नीतिशास्त्र-सागर का मन्थन कर उसमें से निकाला मानो अमृत ही है।

महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, कवि की नैसर्गिक वाग्धारा मे बहने वाला अतिशय सुन्दर महाकाव्य है। महासेन का प्रद्युम्नचरित और आचार्य वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित भी इसी ११वी शती की श्लाघनीय रचनाएँ है। इसी शती के उत्तरार्ध मे अमितगति नामक महान् आचार्य हुए जिनकी सरस लेखनी से सुभाषित-रत्नसन्दोह, धर्म परीक्षा, अमितगतिश्रावकाचार, पञ्चसग्रह मूलाराधना पर सस्कृत भाषानुवाद, आदि कर्मग्रन्थ निर्मित हुए। धनपाल का तिलकमञ्जरी नामक गद्यकाव्य इसी शती मे निर्मित हुआ। दिगम्बराचार्य वादिराज मुनि के पार्श्वनाथ चरित, न्यायविनिश्चय विवरण, यशोधर चरित, प्रमाण-निर्णय, एकीभावस्तोत्र, आदि कई ग्रथ इसी शती के अन्त भाग मे अभिनिर्मित हुए है।

श्री कुन्दकुद स्वामी के समयसार, प्रवचनसार, और पञ्चास्तिकाय पर गद्यात्मक टीकाओ के निर्माता तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्वार्थसार आदि मौलिक रचनाओ के प्रणेता आचार्य प्रवर अमृतचन्द्रसूरि इसी शती के उत्तरार्ध के महाविद्वान् हैं। शुभचन्द्राचार्य जिनका ज्ञानार्णव यथार्थ मे ज्ञान का अर्णव-सागर ही है, और जिनकी लेखनी गद्य-पद्य रचना मे सदा अव्याहत गति रही है, इसी समय हुए हैं। माणिक्यनन्दी के परीक्षामुख सूत्र पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक विवरण लिखने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् प्रभाचन्द्राचार्य इसी शताब्दी के विद्वान् हैं।

वाणभट्ट की कादम्बरी से टक्कर लेने वाली गद्यचिन्तामणि के रचयिता एव क्षत्रचूडामणि काव्य मे पद-पद पर नीतिपीयूष की वर्षा करने वाले वादीभसिंहसूरि बारहवी शती के पूर्वभागवर्ती आचार्य हैं।

अत्यन्त प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् हेमचन्द्राचार्य ने भी इसी शताब्दी मे अपनी अनुपम कृतियो से भारतीय सस्कृत साहित्य का भाण्डार भरा है। आपके त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, कुमारपालचरित, प्रमाणमीमासा, हेमशब्दानुशासन, काव्यानुशासन आदि अनेक ग्रथ प्रसिद्ध हैं। आपकी भाषा मे प्रवाह और सरसता है।

१३ वी शती मे दि० सम्प्रदाय मे श्री प० आशाधर जी एक अतिशय प्रतिभाशाली विद्वान् हो गये हैं। उनके द्वारा दिगम्बर सस्कृत साहित्य का भाण्डार बहुत अधिक भरा गया है। न्याय, व्याकरण, धर्म, साहित्य, आयुर्वेद आदि सभी विषयो में उनकी अक्षुण्ण गति थी। उनके मौलिक तथा टीका आदि सब मिलाकर अब तक १९-२० ग्रन्थो का पता चला है। इनके शिष्य श्री कवि अर्हद्दास जी थे जिन्होंने पुरुदेव चम्पू तथा मुनिसुव्रतकाव्य आदि गद्य-पद्य ग्रन्थो की रचना की है। उनके बाद दि० मेघावी पण्डित ने १६वी शताब्दी मे धर्मसग्रह श्रावकाचार की रचना की।

उपसंहार–

इसके बाद समय के प्रताप से सस्कृत साहित्य की रचना उत्तरोत्तर कम होती गई। परन्तु इस रचना ह्रास के समय भी दि० कविवर राजमल जी जो कि अकबर के समय हुए पञ्चाध्यायी, लाटीसहिता, अध्यात्म कमलमार्तण्ड, जम्बूचरित आदि अनुपम ग्रन्थ जैन सस्कृत साहित्य की गरिमा बढाने के लिए अर्पित कर गये। यह उपलब्ध जैन सस्कृत साहित्य का सक्षिप्ततर विकासक्रम है।

पार्श्वनाथस्तोत्रम्

वरसंवरसवर सवरसं भवदंभवदम्भवदं भवदम् ।
सममा सममा सममा सममा गमभं गमभं गमभम् गमभम् ।। १ ।।

व्याख्या—वरसवर उत्कृष्टसवर एव संवर कवचस्तेन सवरं कालसवर एतन्नामकासुरं कमठस्य जीव स्यन्ति हन्ति इति वरसवरसवर सवरकम् । कालसवर इत्यत्र पूर्वपदस्य लोप. । षोऽन्त कर्मणि । भवस्य ससारस्य दम्भ कपट वदतीति भवदम्भवदस्तम् । भव श्रेयो ददातीति भवद, तम् भवदम् । भवं ससारं द्यति खण्डयतीति भवद तम् । दो ऽवखण्डने । 'भव श्रीकण्ठससारश्रेय. सन्ततिजन्मसु' इति विश्वलोचन ।

अमा युगपत्, समम्=मया लक्ष्म्या सहितस्तम्' विष्णुमित्यर्थ । आसमम् = आ ब्रह्मा तस्य सम. तम् 'आ पितामहे' इति विश्वलोचन । आसमम्=आ समन्तात् सम. शिवो महेश इति यावत् तम् (मश्चन्द्रस्तेन सहित समः 'भ शिवे पुंसि मश्चन्द्रे' इति विश्वलोचन) । आसम् आ अभावं अस्यति प्रक्षिपति इति आस, तम् 'अ. श्रीकण्ठेऽव्यय तुल्याभावयोश रा पितामहे' इति विश्वलोचन । यो युगपद् ब्रह्म-विष्णु-महेश सदृश इत्यर्थ ।

गमभङ्गम्=गमो द्यूत तस्य भङ्गो यस्मात्स तम् 'गमो द्यूतान्तरे मार्गे' इति विश्वलोचन । अभङ्गम्= न विद्यते भङ्गो यस्य तम् अविनश्वर मित्यर्थ । अभङ्गमयम्=अभङ्गा अविनाशिनी मा लक्ष्मी. येषा ते अभङ्गमा. अविनाशिलक्ष्मीयुक्ता जिनेश्वरा. तेषु भाति शोभते इति अभङ्गमयः तम् ।। १ ।।

दरमन्दरमन्दरमन्दरमं गतरं गतरङ्गतरं गतरम् ।
तरसं गरसं गरसङ्गरसं नवरं नवरं नवरं नवरं ।। २ ।।

व्याख्या—दरेण ससारभयेन मन्दो ऽल्प र कामाग्निर्यस्य स दरमन्दर 'रस्तु कामानले वन्हौ' इति विश्वलोचन । मन्दरे मेरुपर्वते मन्द स्वैरं यथेच्छं यथा स्यात्तथा रमते क्रीडति जन्माभिषवसमये इति मन्दरमन्दरम । उभयोर्द्वन्द्व दरमन्दरश्चासौ मन्दरमन्दरमश्चेति दरमन्दरमन्दरमन्दरम तम् 'मन्द स्वैरे खले मन्दरते मूर्खाल्परोगिषु' इति विश्वलोचन ।

गत ज्ञानं राति ददातीति गतर तम् गतरम् । गतमित्यत्र भावे क्त । ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्था अपि भवन्तीति नियमात् गतशब्दस्य ज्ञानमर्थ· । गतरङ्गतरम्=गतो विनष्टो रङ्गो रागो यस्य स गतरङ्ग अतिशयेन गतरङ्ग इति गतरङ्गतर तम् अतिशयवीतरागम् । 'कार्मणेऽपि च रङ्गो ना रागे नृत्ये रणक्षितौ' इति विश्वलोचन । गतरम्=गतो विनष्टो र कामाग्निर्यस्य स तम् कामरहित ब्रह्मचारिणमित्यर्थ ।

तरस = त पालन जीवाना रक्षणमित्यर्थ तस्मिन् रस स्नेहो यस्य तम् तरसम् 'पालने पालके त. स्यात्' इति विश्वलोचन । गरस = गर रोग स्यति हन्तीति गरस तम् गरसम् सर करणरोगयो इति विश्वलोचन । गरसङ्गरस = गरस्य विपस्य सङ्गो यस्या तथा भूता गरसङ्गा, गरसङ्गा विपयुक्ता रसा भूमिर्यस्य त गरसङ्गरस यो भूमि सविषामिव मुमोचेति भाव । भूमिर्भूरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा' इत्यमर ।

नवर = न विद्यते वर श्रेष्ठो यस्मात् स नवर. तम्, नव नूतन स्वर्ग मोक्षादि लाभ राति ददातीति नवर तम् नवरम्, नव स्तुति राति ददातीति नवर· तम् 'नव काके स्तुतौ पुसि नव नव्येऽभिधेयवत्, इति विश्वलोचन । नेषु पूज्येषु वर श्रेष्ठ तम् नवरम् 'नकारो जिनपूज्ययो ' इति विश्वलोचन ॥2॥

रमुदारमुदारमुदार मुदा समिनं समिन समिनं समिनम् ।
विदित विदितं विदितं विदित नमतेनमतेनमतेनमते ॥३॥

व्याख्या—रम् = तीक्ष्णम् कुशाग्रबुद्धिसम्पन्नमित्यर्थ । 'रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे इति विश्वलोचन. । उदार दातारम् । उदार महान्तम् 'उदारो दातृमहतो ' इत्यमर । उदारमुदा = महतानन्देन उपलक्षितमिति शेप ।

समिनम् = सम्यक् चासौ इनश्च समिन तम् समीचीनपतिम् । समिनम् = सम्यक्चासौ इनश्च समिनस्तम्—समीचीननृपम् । समिनम् = सम्यकचासौ इनश्च समिनस्तम्—समीचीनसूर्यम् अज्ञान—तिमिरापहरणे इत्यर्थ । 'इन पत्यौ नृपे सूर्ये' इति विश्वलोचन । समिनम्—इ काम तस्य नः वन्ध. इन, सम्यक् समीचीन इन कामवन्ध कामकथा निरोधो यस्मिन् स समिन तम् सम्यक्तया कामनिरोधसहितमित्यर्थ । 'इस्तु कामे पुमान् खेदे' इति विश्वलोचन । 'न पुमान् सुगते वन्धे' इति विश्वलोचन ।

विदितम्— विदन्तीति विदो ज्ञानिन तै. इत प्राप्तस्तम् ज्ञानिजनसेविनम् इत्यर्थ । विदित ज्ञानम्, विदित = स्वीकृतम्, विदित स्वीकृते ज्ञाने, इति विश्वलोचन । विदितम्—अर्थितम् याचितमित्यर्थ विदित बुद्धितार्थितयो, इति मेदिनी ।

नमतेनम् = न मता इना राजानो यस्य तम् नमतेनम् । अतेनमतेनम्—अतति सतत गच्छतीति अन पचाद्यच् अतश्चासौ इन सूर्यश्च इति अतेन तेन मता आप्ता या ई लक्ष्मीस्तस्या इन स्वामी तम् । एवभूत पार्श्व जिनेन्द्रम् अने = गच्छामि शरणत्वेन व्रजामि । अनधातो आत्मनेपद प्रयोग आर्ष ॥३॥

यतनायतनायतनायतना नयमानयमानयमा नयमाः ।
क्षणलक्षणलक्षणलक्षणल क्षरदक्षरदक्षरदक्षरद ॥४॥

व्याख्या—यतनायतन ! यत्यते साध्यते कार्यं यैस्तानि यतनानि साधनानि तेपामायतन स्थान तत्सम्बुद्धौ हे यतनयतन ! अयतन ! अयान् शुभावह विधीन् तनोति विस्तारयतीति अयतन तत्सम्बुद्धौ अयतन ! आयतन ! आय लाभ तनोति विस्तारयतीति आयतन तत्सम्बुद्धौ आयतन !

अनयमानयम ! अनयाना मिथ्यानयाना नीतिरहिताना वा मान समादरस्तस्य विषये यमस्तत्सम्बुद्धौ अनयमानयम , मा माम् नयमा नयलक्ष्मी आनय प्रापय ।

क्षणलक्षण । क्षणमुत्सव लाति ददातीति क्षणलस्तथाभूत. क्षण कालो यस्य तत्सम्बुद्धौ क्षणलक्षण । लक्षणलक्षणल । लक्षणाना नाम्ना लक्षणं व्याख्यानं तत् लाति ददातीति क्षणलक्षणल तत्सम्बुद्धौ लक्षणलक्षणल ।

क्षरदक्षरदक्ष । क्षरन्ति दिव्यध्वन्यपेक्षया सर्वाङ्गतो नि सरन्ति यानि अक्षराणि तेषु दक्ष समर्थ तत्सम्बुद्धौ क्षरदक्षरदक्ष । रदक्षरद । रदाना विलेखनाना हिंसनानामिति यावत् क्षरं विघातं ददातीति रदक्षरद. तत्सम्बुद्धौ रदक्षरद । एवभूत हे पार्श्वजिनेन्द्र । अहं त्वाम् अते शरण्यबुद्ध्या गच्छामि इति पूर्वेण सम्बन्ध ।।४।।

प्रमदाप्रमदाप्रमदाप्रमदा नकरानकरानकरानकराः ।
नवमानवमानवमानवमा नसदानसदानसदानसदाः ।।५।।

व्याख्या प्रमदाप्रमदाप्र । प्रमदाना स्त्रीणा प्रमद हर्ष प्रमदाप्रमद पिपति पूरयतीति प्र न प्र: अप्र प्रमदाप्रमदस्य अप्र प्रमदाप्रमदाप्र तत्सम्बुद्धौ प्रमदाप्रमदाप्र । ब्रह्मचारित्वात्स्त्रीणा हर्षस्य अपूरक इतिभाव । मदाप्रम । मदेन हर्षेण अप्रम प्रमाणरहित इति मदाप्रम तत्सम्बुद्धौ मदाप्रम । 'मदो मृगमदे मद्ये दानमुद्रर्बरेतसि' इति विश्वलोचन । दानकर । दानस्य शुद्धे करो दानकर तत्सम्बुद्धौ दानकर । दानं त्यागे गदमदे छेदे शुद्धौ च रक्षपौ, इति विश्वलोचन । आनक । आनयति प्राणयति जीवयति दया धर्मोपदेशकत्वाज्जीवानिति आनक तत्सम्बुद्धौ आनक । रानकर । र कामाग्निस्तस्य आनका जीवयितार समुत्तेजक पदार्था इतियावत् तेषा रो वह्निर्विनाशक इत्यर्थ तत्सम्बुद्धौ रानकर । रस्तु कामानले वह्नौ इति विश्वलोचन । अन. । अकारो वासुदेव नारायण इति यावत् तेन न पूज्य तत्सम्बुद्धौ हे अन 'अ श्रीकण्ठेऽव्यय' इति विश्वलोचन । करा कं सुख तेनेपलक्षितो रा धन करा तत्सम्बुद्धौ करा । 'क सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः ।

नवमानवम । नवस्य स्तवनस्य मान गर्वं वमति निराकरोति इति नवमानवम· तत्सम्बुद्धौ । आनव मानव । आ समन्तात् नुवन्ति स्नुवन्ति इति आनवा आनवा मानवासस्य आनव मानव· तत्सम्बुद्धौ आनवमानव । मानसदान । मनसि भवो मानस काम· तस्य दान छेदो यस्मात्स मानसदान. तत्सम्बुद्धौ मानसदान । सदान । दानेन त्यागेन सहित सदान तत्सम्बुद्धौ हे । सदान । दानेन शुद्ध्या सहित. सदान तत्सम्बुद्धौ हे सदान । अथवा देन उपतापेन सहिता सदा स्तेषाम् आधो जीवयिता रक्षक इति सदान तत्सम्बुद्धौ सदान । 'द पुमानचले दन्ते । स्त्रिया शोधनदानयो । छेदोपताप रक्षासु पुमास्तु दातरि स्मृत' ।। इति मेदिनी । सदा । सश्चासौ आ इति सदा समीचीन ब्रह्मा तत्सम्बुद्धौ सदा 'आस्तु पितामहे' इति विश्वलोचन । एवभूत हे पार्श्वजिनेन्द्र । अह त्वाम् अने इति पूर्वेण सम्बन्ध ।।५।।

तरसातरसा तरसातरसादयनो दयनोदयनोदयनो ।
कमदं कमदं कमदं कमदं विभवाविभवाविभवाविभवा ।।६।।

व्याख्या—तरसा अक्रोधेन तरसा गुणेन क्षमागुणेनेति यावत् । 'गुणे कोपेऽप्यभिमतं तर. स्याद्बलवेगयो:, इति विश्वलोचन । तर । तरतीति तर ससारसागरा दिति शेष. तत्सम्बुद्धौ तर ! सातरसात् साते सुखे रसो रागस्तस्मात् सातरसात् सुखस्नेहात् 'शमसातसुखानि च' इत्यमर । शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस,

इत्यमर । अयनोदयन ! अयनं मार्गं मोक्षस्येति यावत् उदयते प्रेरयतीति अयनोदयन. तत्सम्बुद्धौ अयनोदयन ! हे मोक्षमार्ग प्रेरक ! उदय ! उत्कृष्टः अयो भाग्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे उदय ! नोदयन ! नेषु जिनेषु उदयते प्रभवति नोदयन तत्सम्बुद्धौ हे नोदयन ! 'नकारो जिन पूज्ययो, इति विश्वलोचन. । उ इति सम्बोधनपदम् 'उ. शिवे नाव्यय तु स्यात्सम्बुद्धौ शेषभाषणे' इति विश्वलोचन ।

क ब्रह्माणम् अदम् न खण्डयतीति अद तम्, कमद कस्यात्मनो मदो हर्षो यस्य तम्, कम् आत्मानम् । अदम् उपतापरहित 'द' पुमानचले दत्ते स्त्रिया शोधनदानयो । छेदोपताप रक्षासु पुमास्तु दातरि स्मृत, ।। इति मेदिनी । कम प्रकाशम् अदम् अच्छेदम् । एवभूत पार्श्वजिनेन्द्रम् अने गच्छामि इति पूर्वेण सम्बन्ध । पुनरपि तस्य सम्बोधनमुच्यते ।

विभव ! विगतो विनष्टो भव ससारो यस्य तत्सम्बुद्धौ ! विभव ! अविभव ! न विद्यते विभव परिग्रहो यस्य तत्सम्बुद्धौ अविभव ! विभो ! स्वामिन् ! आविभव ! आ समन्तात् विभव ऐश्वर्यं यस्य तत्सम्बुद्धौ आविभव ! विभो+आविभव इत्यत्र अवादेशे वस्य लोपाभाव पक्षे च रूपम् । आ इति सम्बोधनपदम् ।।६।।

इति पार्श्वजिनेश्वर ते स्तवनं रचितं रचितं रचितं यमकैः ।
शयनं परिरञ्जितदक्षनर प्रकर कुरुता शिवसौख्यभरम् ।।७।।

व्याख्या—इतीत्थ हे पार्श्वजिनेश्वर ! यमकै यमकालङ्कारै रचित निर्मित यमकै सयमिभि- रचित कृत, रचित रै रगणै लघुमध्याक्षरगणविशेषै- चित व्याप्तम् । शयन शयेन सर्पेण न पूज्य शयन 'शय्य शय्याहि हस्तेपु इति विश्वलोचन । 'नकारो जिनपूज्ययो' इति च । नागेन्द्रपूजितमिति भाव । परिरञ्जिनदक्षनरप्रकर परिरञ्जित प्रसन्नीकृतो दक्षनराणा विदग्धपुरुषाणा प्रकर समूहो येन तत् । एवभूतं ते स्तवनं स्तोत्रम्, शिवसौख्यभर शिवस्य सौख्यभर सुखसमूह कुरुता विदधातु ।।७।।

—सम्पादक

श्री देवनन्दि विरचित—

मरुदेवी-स्वप्नावली

(अनुवादक—पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य)

[गत भादो मास मे श्री जैन मदिर सेठ का कूँचा देहली के शास्त्र भडार पर से ग्रन्थ-सूची सम्बन्धी कुछ नोट्स लेते समय मेरे सामने यह 'स्वप्नावली' आई, जो मुझे साहित्य की दृष्टि से एक नई चीज मालूम पडी, और इसलिये मैं इसे कापी कराने के लिये अपने साथ ले आया। इसकी रचना शव्दालङ्कारादि को लिये हुए बडी सुदर जान पडती है और इसके पढने मैं सङ्गीत जैसा आनंद आता है। रचना सिद्धिप्रिय' स्तोत्र के ढङ्ग की है और उन्ही देवनन्दि मुनि की कृति मालूम होती है जो 'सिद्धिप्रिय स्तोत्र के कर्ता है। अनेकान्त के पाठको को इसका रसास्वादन कराने के लिये आज यह रचना उस अनुवाद के साथ नीचे प्रकाशित की जाती है जिसे प० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य सागर ने मेरी थोड़ी सी प्रेरणा को पाकर बडी प्रसन्नता के साथ प्रस्तुत किया है और जिसके लिये मैं आपका बहुत आभारी हू। अनुवाद के साथ संस्कृत टिप्पणियो को लगाकर आपने इसके साहित्य-मर्म को खोलने का जो यत्न किया है वह प्रशसनीय है और उससे इस पुस्तक की उपयोगिता बढ गई है। आशा है साहित्य-रसिक इसे पढकर जरूर प्रसन्न होंगे। (सम्पादक)

मातङ्ग-गो-हरि-रमा-दरदाम-चन्द्र-मार्तण्ड-मीन-घटयुग्म-तडाग-वार्धि-
सिंहासना-ऽमरविमान-फणीन्द्रगेह-रत्नप्रचाय दहना रजनीविरामे ॥१॥

ये मेदिनी-धरण-मन्दर ! नाभिराज ! स्वप्ने यशोभवन ! सुन्दरनाभिराज !
दृष्टा मया शयितया खल-ताप-राग[1] ! तेषां फलं कथय मे खलताऽपराग[2] ॥२॥

'पृथ्वी को धारण करने मे मेरु, प्रजापालन करने मे धीर, कीर्ति के मदिर, सुन्दर नाभि से शोभायमान, दुष्ट मानवो के ताप मे-दमन करने मे रागी तथा दुर्जनता के विद्वेषी हे नाभिराज महाराज! आज रात्रि के अत मे सोते हुए मैंने स्वप्न मे हाथी, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी देवी वरमाला, चन्द्रमा, सूर्य, मीन युग्म, घट युग्म, सरोवर, समुद्र, सिंहासन, देव विमान, नागेन्द्र भवन, रत्न राशि और (निर्धूम) अग्नि—ये सोलह चीजें देखी हैं, आप मुझे इन स्वप्नो का फल बतलाएं ॥१-२॥

---

१ खलानां-दुर्जनानां तापे रागो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे खलतापराग !

२ खलतायां दौर्जन्येऽपरागो-विद्वेषो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे खलतापराग !

सम्पूर्णचन्द्रमुखि ! नीलतमाऽलकाऽन्ते[1] ! केशप्रभाविजितनील-तमाल-कान्ते[2] !
रम्भानिभोरु ! मरुदेवि ! सती-व्रताऽऽपे[3] ! सश्रूयतां मधुरवाग[4] सतीव्र-तापे[5] ! ।।३।।

'अत्यन्त कृष्ण अलको (जुलफो) के अन्त भागो से युक्त और केशो की प्रभा से नीलतमाल वृक्ष की-तापिछ पुष्प की कान्ति को जीतने वाली हे पूर्ण चन्द्र मुखि ! कदलीसमजघे ! पातिव्रते ! सतापवर्जिते ? मधुर भाषिणि मरुदेवि ! स्वप्न फलसूचक मधुर वचन सुनो ।।३।।

दृष्टेन दन्तिपतिना कृतसाध्वशोकः[6] शब्दं (सद्यः) सदानगति[7] रुन्नतसाध्व[8] शोकः ।
मुक्त्यर्थमम्बरकलत्रसुबर्णमुक्ते. पुत्रो भविष्यति मृगाक्षि ! सुवर्णमुक्ते ![9] ।।४।।

'सुवर्ण मुक्ता के आभरणो से युक्त हे मृगनयिनि मरुदेवि ! गजेन्द्र के देखने से सुम्हारे शीघ्र ही वह पुत्र होगा जो कि साधुओ को शोकरहित करेगा, दान पद्धति से युक्त होगा अथवा सदा के लिये नगति-नरनारकादि गतिओ से रहित होगा [हाथी भी दान गति-मदस्राव से युक्त होता है] (अरहन्त अवस्था मे) उतुङ्ग और उत्तम अशोक वृक्ष से युक्त होगा और वस्त्र, स्त्री तथा सुवर्ण का त्याग करने से मुक्ति के लिये मोक्ष-प्राप्ति के लिये तत्पर होगा ।।४।।

दृष्टेन मानिनि ! गवा तपसे वनानि गत्वाऽतिवातसलिलातपसेवनानि[10] ।
धुर्यत्वमेष्यति विधो[11] विधुराधराणा, चन्द्रानने ? चरमभारधुराधराणाम् ।।५।।

'हे मानवति चन्द्र मुखि ! वृषभ के देखने से तुम्हारे वह पुत्र होगा जो कि तप के लिये, अत्यन्त पवन, पानी और घाम की वाधाओ से मुक्त वनो को जाकर उन तपस्वियो के मध्य मे धुर्यत्व को-श्रेष्ठपने को [पक्ष मे वृषभ के सदृश धूर्वाहिकत्व को] प्राप्त होगा जो कि चरित्र रूप भार से युक्त धुरा को धारण करने वाले हैं और जिनके अधरोष्ठ विधू से कर्पूर से विधुर है-रहित हैं ।।५।।

---

१ नीलतमः सातिशयकृष्णा. अलकाना-चूर्णकुन्तलानामन्तो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।
२ केशप्रभया विजिता नीलतमालस्य-कृष्णतापिच्छपुष्पस्य कान्तिर्यया तत्सम्बुद्धौ
३ आपनम्-आप. प्राप्तिरित्यर्थ., सतोव्रतस्य-पातिव्रत्यधर्मस्य आपो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।
४ मधुरा वाचो यस्या स्तत्सम्बुद्धौ, अथवा मधुरा चासौ वाक् चेति कर्मधारयः, संश्रूयतामित्यस्य कर्म ।
५ तीव्रतापेन सहवर्तमाना सतोव्रतापा, तथा न भवतीत्यसतीव्रतापा तत्सम्बुद्धौ ।
६ कृतः साधूनाम्-अशोकः शोकाभावो येन स· ।
७ दानगत्या-दानपद्धत्या, त्यागभावेन सहवर्तमान, हस्तिपक्षे दानगत्या-मदस्रावेण सहितः । अथवा सदा सर्वदा, नगतिः नरनारकादिगतिशून्य., न शब्देन सह समास. ।
८ उन्नतः सानुश्च अशोक अशोकवृक्षो यस्य सः ।
९ सुवर्णा सुष्ठु कान्तियुक्ता मुक्ता· मुक्ताफलानि यस्या. तत्सम्बुद्धौ ।
१० अत्यन्त वातसलिलातपाना सेवन येषु तानि, वनानि-इत्यस्य विशेषणम् ।
११ 'विधुः शशाङ्के कर्पूरे हृषीकेशे च राक्षसे' इति विश्वः ।

दृष्टेन पञ्चवदनेन सुखेन भोगै[1] स्तृप्तोन्नतश्चतुरसद्मसुखेन भोगै[2] ।
क्रोधादिसिन्धुरहरिर्व्रजिताऽपवर्ग नाथो नताङ्गि ! तपसाथ वितापं[3] वर्गम् ।।६।।

'हे नताङ्गि ! सिंह देखने का फल यह है कि तुम्हारे जो पुत्र होगा वह क्रोधादि हस्तिश्रो को नष्ट करने के लिए सिंह के समान होगा, सुन्दर गृह सुख के समय-गृहस्थ अवस्था मे अनेक विद्याधरो अथवा देवो के साथ विविध भोगजन्य सुख से अत्यन्त तृप्त होगा। पुन. तप के द्वारा-वैषयिक सुखो से विरक्त होकर ताप वर्ग से मानसिक वाचनिक और कायिक संताप से रहित अप वर्ग को-मोक्ष स्थान को, प्राप्त होगा और इस प्रकार वह जगत का स्वामी होगा ।।६।।

दृष्टेन माधववधूवररूपकेण भोगोपभोग कृतसौख्यनिरूपकेण
लक्ष्मी प्रदा(धा)स्यति जिनो भवतीति भिन्न चण्डि ! क्षितारिरमणो भवतीति भिन्नम् ।।७।।

'हे चण्डि ! भोग-उपभोग जनित सुखो का निरूपण करने वाले लक्ष्मी दर्शन-स्वप्न से यह प्रकट है कि वह पुत्र पहले शत्रु-राजाश्रो को नष्ट कर विजय लक्ष्मी को धारण करेगा और उसके अनन्तर जिन होकर-घाति कर्म शत्रुश्रो को नष्ट कर परमार्हन्त्य लक्ष्मी को धारण करेगा। अथवा अन्य जीवो को प्रदान करेगा।'

दृष्टेन दामयुगलेन विनाशनानि[4] कृत्वा तपासि बहुदुःखविनाशनानि[5] ।
मालां स्वयवर विधौ विगतोपमाने[6] मुक्तेर्ग्रहीष्यति विभूर्विगतोपमाने[7] ।।८।।

'हे विगतोपमाने !-उपमारहित प्रिये ! मालाश्रो का युगल देखने से प्रकट है कि वह पुत्र भोजन का त्याग कर, अनेक दु:खों का नाश करने वाले उपवासादि तप करके अनुपम स्वयवर विधि मे मुक्ति वधू की वर माला को ग्रहण करेगा-तपस्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होगा, -और इस प्रकार वह विभु-सारे ससार का स्वामी होगा' ।।६।।

दृष्टेन शीतकिरणेन सुधीरतापः[8] साधुर्यशोधवलितो व्रतधीरतापः[9] ।
आह्लादयिष्यति मनांसि महोदयानां धर्मामृतैर्व्रतवता समहोदयानाम्[10] ।।६।।

---

१ जन्येनेति शेष. । अथवा सुखेन-सुष्ठुखानि-इन्द्रियाणि यस्य स तेन पञ्चवदनेनेत्यस्य विशेषणम् । भोगैस्तृप्तोन्नत इति प्रकृते सम्बन्धो योज्यः ।
२ नभसि गगने गच्छन्तीति नभोगास्तैः ।
३ विगतस्तापवर्गो यस्मात्स तम् ।
४ अशनानि भोजनानि बिना-आहारं परित्यज्येत्यर्थ ।
५ बहुदुःखानां विनाशनानि — विघातकानि ।
६ विगतम्-उपमानं-सादृश्यं यस्य तस्मिन् 'स्वयंवर विधौ' इत्यस्य विशेषणम् ।
७ विगतम्-उपमानं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।
८ सुधीः + आतपः इति पदच्छेदः ।
९ न व्रतधीरा इत्यव्रतधीरास्तान् तापयतीत्यव्रतधीरताप. । अथवा-आपनम् आपः प्राप्तिरित्यर्थ. व्रतेषु धीरताया आपो-यस्य सः । अस्मिन् पक्षे व्रतधीरतापः इति पदच्छेदः ।
१० महोदयैः सहवर्तमानानाम् ।

'चन्द्रमा के देखने से वह पुत्र सुधी-समीचीन बुद्धि से युक्त-होगा, संतापरहित होगा, यश से उज्ज्वल होगा, व्रत-रहित मनुष्यों को संताप पहुचाने वाला होगा, अथवा व्रतो मे धीरता को प्राप्त होगा तथा धर्मामृत के द्वारा अभ्युदय से युक्त व्रतवान् महापुरुषो के मन को हर्षित करेगा' ।।९।।

दृष्टेन चण्डकिरणेन विभासमानः[1] पापान्धकारदलनेन विभासमानः[2] ।
भव्याब्जबोधनपटुर्विधु[3] राजितो मे मोद तनिष्यति मुनिविधुराजितो[4] मे ।।१०।।

'हे चन्द्रतुल्य कीर्ति अथवा कान्ति से शोभित मरुदेवि! सूर्य दर्शन का फल यह है कि वह पुत्र अपनी शारीरिक विभा से असमान अनुपम (अथवा सूर्य के समान) होगा, पाप रूप अन्धकार को नाश करके शोभायमान होगा, भव्य रूप कमलो के हर्षित-विकसित करने मे समर्थ होगा. चन्द्रमा तथा नारायण के समान शोभित होगा, अथवा विधुर-वैकल्प बेचैनी आदि से अजित होगा, मुनि होगा-जितेन्द्रिय होगा-और इस तरह मेरे हर्ष को विस्तृत करेगा ।।१०।।

दृष्टेन मीनयुगलेन सुकेवलेन[5] पूर्वं श्रिया जगति राजसु केवलेन[6] ।
क्रीडिष्यति प्रियतमे ! नृपराजकामः सिद्धया, पुनर्जिनवरोऽनृपराजकामः ११।।

'हे प्रियतमे! उत्तम जल मे सचरण करते हुए मीनो का युगल देखने से प्रकट होता है कि वह पुत्र पहले तो नृपराज-राजराजेश्वर बनने का इच्छुक होता हुआ मुख्य राज लक्ष्मी बनने की इच्छा से रहित हो जिनेन्द्र होकर केवल ज्ञान लक्ष्मी द्वारा जगत के राजाओ मे क्रीडा करेगा और बाद मे नृपराज तथा सिद्धि लक्ष्मी मुक्तिश्री के साथ क्रीडा करेगा' ।।११।।

दृष्टेन कुम्भयुगलेन कुलोपकारे[7] ! हैमेन पल्लवमुखेन कुलोपकारे[8] !
प्रारब्धमञ्जनविधि. सुमनोरमाभिः[9] सेव्यो भविष्यति गुरुः सुमनोरमाभिः[10] ।।१२।।

---

१ विभया-कान्त्या असमानः असदृश अनुपम इत्यर्थ ।
२ विभासते-इति विभासमान. शोभमान इत्यर्थः ।
३ विधुवत् राजितः —विधुराजितः, चंद्रतुल्यशोभितः अथवा विधुरैः वैकल्पादिभिर्दुःखैरजितोऽपरिभूतः ।
४ विधुवच्चन्द्रवत् राजिता शोभिता-उमा-कीर्ति कांतिर्वा यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ 'उमा गौर्यामतस्यां च हरिद्राकान्ति-कीर्तिषु' इति विश्वलोचन· ।
५ सुके-शोभनजले वलते सचरति-इति सुकेवलम् बाहुलकात्सप्तम्या अलुक् । सुष्ठुजलसचारिणेत्यर्थः 'मीनयुगलेन' इत्यस्य विशेषणम् ।
६ केवलेन-मुख्येन सामान्ये नपुसकात्वम् । केवलेन-केवलज्ञानेन इति च ।
७ कुलस्य-ऊपकारो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ ।
८ कुत्सितजनलोपकारिणे !
९ सुमनसो रमयन्तीति सुमनोरमास्ताभिः । सुमनसो देवा विद्वासश्च ।
१० सुमनसा रमा स्ताभिः देवाङ्गनाभि :

'कुल का उपकार करने वाली और कुत्सित वृत्तियों का लोप करने वाली हे मरुदेवि ! पल्लवों-किसलयों से युक्त मुख वाले दो सुवर्ण घटो के देखने से यह जाहिर होता है कि उस पुत्र की प्रारंभिक स्नान विधि-जन्माभिषेक सम्बन्धी विधि-देवताओ के द्वारा सम्पन्न होगी, वह विद्वानो अथवा देवो को आनन्द देने वाली देवियो के द्वारा सेवनीय होगा और [जगत्त्रयका] गुरु होगा' ॥१२॥

दृष्टेन देवि ! सरसा कमलाकरेण[1] धर्मोपदेशविधिना कमलाकरेण[2] ।
हारोपशोभितकुचे ! सुमनो[3] ! हितस्य[4] तृष्णा हनिष्यति पतिः सुमनोहितस्य[5] ॥१३॥

'हार से सुशोभित स्तनो तथा अत्यन्त सुन्दर हृदय को धारण करने वाली हे मरुदेवि ! कमल युक्त सरोवर के देखने से प्रकट है कि वह पुत्र कमला के-धनधान्यादिविभूति अथवा अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मी के करने वाले धर्मोपदेश के विधान द्वारा (हितस्य) भक्तो की अथवा रागद्वेष से रहित होने के कारण (अहितस्य) अभक्तो की भी तृष्णा को-भोगाकाक्षा को [तालाव पक्ष मे प्यास को] नष्ट करेगा और वह विद्वानो अथवा देवो के हितकर पदार्थों मे (पति) मुख्य होगा [तालाव भी पुष्पो के हितैषियो मे उन्हे जलसिंचन आदि के द्वारा हरा-भरा रखने वालो मे मुख्य होता है] ।

(अथवा वह पुत्र जगत् का स्वामी होकर हित और अहित की भक्तो और अभक्तो की तृष्णा को दूर करेगा (हि) क्योकि (तस्य) उसका (सुमन.) हृदय अत्यन्त श्रेष्ठ होगा राग-द्वेष से रहित होगा ।) ॥१३॥

दृष्टेन तोयनिधिना प्रमदाकुलेन[6] रत्नाकरावधिमिमा प्रमदाकुलेन[7] ।
भूमिं विमुच्य तपसेष्यति साधुनाथो या शुभ्रका न मुदमेष्यति साधुनाथो[8] ॥१४॥

'हे देवि ! समुद्र देखने का फल यह है कि वह (समुद्र के सामान गाम्भीर्य गुण से) सत्पुरुषो का नाथ होगा । तथा हर्ष अथवा प्रकृष्ट मद से युक्त स्त्री समूह के साथ जिस उज्जल समुद्रान्त पृथिवी को छोडकर तप के अर्थ (वनको जावेगा वह पृथिवी (अथो) उनके स्वामित्व के वाद फिर हर्ष को प्राप्त न हो सकेगी ।' ॥१४॥

---

१ कमलानां पद्मानाम्-आकरस्तेन सरसेत्यस्य विशेषणम् ।

२ कमलायाः करस्तेन धर्मोपदेशविधिनेत्यस्य विशेषणम् ।

३ सुष्ठु मनो यस्यास्तत्सम्बुद्धौ देवीत्यस्य विशेषणम् ।

४ हितस्य, अहितस्य वा पदच्छेदः । सरोवर पक्षे हितस्य सरोवरे धृतस्येत्यर्थः । 'दधाने हिं' इत्यनेनः निष्ठायांपरतः धा धातोः स्थाने हृयादेशः ।

५ सुमनोभ्योहितस्य । अथवा 'सुमनः + हि + तस्य' इति पदत्रयम् । हि यत', तस्य पुत्रस्य, सुमनः सुष्ठु हृदय भविष्यतीतिशेषः ।

६ प्रमदेन- हर्षेण-प्रकृष्टमदेन वा आकुलस्तेन ।

७ स्त्रीकुलेन सह ।

८ सा + अधुना + अथो, इति पदच्छेदः ।

दृष्टेन सिंहविधृतेन सदानेन[1] धाम्नान्धकारविवहस्य सदासनेन[2] ।
साम्राज्य मस्तवृजनो वसुधाऽवनेन[3] कान्ते ! करिष्यति जिनोऽवसुधावनेन[4] ॥१५॥

'हे कान्ते ! अपने तेज कान्ति के द्वारा सदा अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले सुन्दर सिंहासन के देखने से जाहिर होता है कि वह पुत्र पहले निष्पाप होकर पृथ्वी रक्षा के द्वारा साम्राज्य को-उत्तम राज्य को करेगा और बाद मे निष्कलङ्क जिनेन्द्र होकर अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाले ज्ञान रूप तेज से पृथिवी रक्षा के बिना ही अथवा पृथिवी और वन के बिना ही-मुक्ति साम्राज्य को करेगा।' ॥१५॥

दृष्टेन देवसदनेन विहाय[5] सार[6] स्वर्गं समेष्यति नयेन विहायसा[7]ऽरम् ।
पातुं क्षितिं क्षितिपतिः कर-वाल[8] भात. चञ्चच्चकोरनयने ! करवालभातः[9] ॥१६॥

'चकोर जैसे नयनो से सुशोभित हे मरुदेवि ! देव विमान के देखने से प्रकट होता है कि वह पुत्र नीति-पूर्वक पृथिवी का पालन करने के लिये श्रेष्ठ स्वर्ग को छोडकर शीघ्र ही आकाश मार्ग से आवेगा। वह पृथिवी का अधिपति होगा सुन्दर हस्त तथा वालो से शोभित होगा और पृथिवी की रक्षा करवाल की-तलवार की दीप्ति से करेगा' ॥१६॥

दृष्टेन नागनिलयेन सुरोचितेन[10] नागस्तुतोऽतिविनयेन सुरोचितेन[11]
ते सत्पदं[12] सुरनृणामरुणाधराणा[13] स्वामी विशालकरुणे ! करुणाधराणाम्[14] ॥१७॥

'हे विशाल दया से युक्त देवि ! अत्यन्त शोभायमान नागेन्द्र भवन के देखने से प्रकट होता है कि तुम्हारा वह पुत्र देवोचित सातिशय विनय के साथ नागेन्द्रो के द्वारा स्तुत होगा-नागेन्द्र नम्रतापूर्वक उसकी स्तुति करेंगे। वह उत्तम वस्तुओ का स्थान होगा तथा लाल-लाल ओठो से युक्त और दया को धारण करने वाले सुर एव मनुष्यो का स्वामी होगा' ॥१७॥

---

१ सच्चतत्आसवं च तेन ।
२ सदा+असनेन-इति पदच्छेदः ।
३ वसुधाया अपन रक्षण तेन ।
४ न वसुधाया अपनं अवसुधावन तेन अथवा वसुधा च वन च-अनयोः समाहारः वसुधावनं—तद् न भवति-तेन ।
५ त्यक्त्वा ।
६ श्रेष्ठ ।
७ विहायसा+अरम् इति पदच्छेद, विहायसा-गगनेन अरम् शीघ्रम् ।
८ करौ च वालाश्च तै र्भातः शोभित ।
९ करवालस्यभा करवालभाः तस्याः पञ्चम्यास्तसिल् ।
१० सु-अत्यन्तं रोचितः शोभितस्तेन ·
११ सुराणां देवानामुचितो योग्यस्तेन ।
१२ 'पद व्यवसितत्राण स्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः ।
१३ अरुणो रक्तोऽधरो येषां तेषाम् ।
१४ धरन्तीतिधरा· करुणायाधरास्तेषा कृपाधारकाणामित्यर्थः ।

दृष्टेन रत्ननिचयेन सुखायमानो[1] रत्नत्रयेण कलकण्ठि ! सु-खायमानः[2]
कृत्वा विरंस्यति मनश्च्युत-चाप-रागं[3] मोक्षं क्षमाधरणि ! यास्यति चाऽपरागम्[4] ।।१८।।

'हे मधुर स्वर से युक्त तथा क्षमा की आधारभूत देवि ! रत्न राशि के देखने से प्रकट है कि वह पुत्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र रूप रत्नत्रय से सुख को प्राप्त होगा तथा अपने मन को धनुष की प्रीति से रहित करके दयालु वनाकर- (निष्परिग्रह होने के कारण) आकाश के समान आचरण करता हुआ विरक्त होगा मुनिव्रत धारण करेगा, तथा अन्त मे राग से (रागद्वेष से) रहित मोक्ष को प्राप्त होगा' ।।१८।।

दृष्टेन धीमति ! विधूमधनंजयेन[5] दत्त्वा स्वयं स्वतनुजाय धन[6] जयेन[7]
धर्माधिपः सकलसोमसमाननाय[8] ध्यानेन धक्ष्यति रजांसि समाननाय[9] ।।१९।।

'हे बुद्धिमति देवि ! निर्धूम धनजय के—अग्नि के देखने से प्रकट है कि वह पूर्ण चन्द्र तुल्य मुख वाले सुबोध युक्त अपने सुयोग्य पुत्र को विजय के साथ धन देकर-निष्परिग्रह होकर-धर्म का अधिपति बनेगा और ध्यान के द्वारा ज्ञानावरणादि रूप पापो को दुष्कर्मो को जलावेगा' ।।१९।।

इत्थं फलं निगदितं सुखलालसेन[10] पत्या प्रबुध्य सुधिया सुखलालसेन[11]
शुद्ध प्रमोदमगमन्नयनाभिरामा[12] विम्बाधरा सकलभूपतिनाभिरामा[13] ।।२०।।

---

१ सुखायतेइति सुखायमानः सुखयुक्तः ।

२ सुष्टु धूलिमेघादिरतहित्त्वेन शोभन खमिव गगनमिवाचरतीति सुखाथत इति सुखायमानः ।

३ श्च्युतस्त्यक्तः चापाद्धनुषोरागो यस्य सः ।

४ च + अपरागम् इति पदच्छेदः, अपगतो रागो यस्मिन् स तं, मोक्षमित्यस्य विशेषणम् ।

५ धनजयेन-अग्निना ।

६ धन-वित्तं ।

७ जयेन-विजयेन सह ।

८ सकल-सोमसम-पूर्णचन्द्रसदृशम् आननं यस्य स तस्मै

९ मननमेव मानन बोधः तेन सहवर्तमानस्तस्मै ।

१० सातिशयाः खलाः सुखलास्तेषु अलसस्तेन दुर्जनसम्पर्कशून्येनेत्यर्थ ।

११ सुखे शर्मणि लालसा वाञ्छा यस्य स तेन ।

१२ नेत्रप्रिया-मनोहरेत्यर्थ ।

१३ कलाभि सह वर्तमानः सकलः सचासौभूपतिश्चे ति सकलभूपति, सकलभूपतिश्चासौनाभिश्चे ति सकलभूपति-नाभिस्तस्यरामा वनिता मरुदेवीत्यर्थ ।

'इस प्रकार, नेत्रों को आनन्द देने वाली और बिम्बफल के समान ओठों से युक्त वह चतुरनाभिराज की पत्नी मरुदेवी, दुर्जन मनुष्यो के विषय मे अलस और सुख की लालसा से युक्त बुद्धिमान पति के द्वारा कहे हुए स्वप्न के फल को जानकर विशुद्ध हर्ष को प्राप्ति हुई।' ॥२०॥

यः पूजितो जगति राजसभाजनेन[1] श्रीदेवनन्दिमुनिदेव सभाजनेन[2]
स्वप्नावली प्रपठतो मम तापहार[3] मोक्ष करोतु स जिनो ममतापहारम्[4] ॥२१॥

'जो जगत् मे राजसभागत जनो के द्वारा तथा श्री देवनन्दि मुनि के सभाजन-सत्कार के द्वारा अथवा जो देव सभा के लोको द्वारा पूजित है वे जिनेन्द्रदेव (इस) स्वप्नावली को पढने वाले मुझ देवनन्दि के उस मोक्ष की सिद्धि करे जो कि ताप को हरने वाला और ममता भाव को दूर करने वाला है।' ॥२१॥

---

१ राजसभागतपुरुषैः।

२ सभाजन सत्करणम्।

३ मम+तापहारम् इति पदच्छेदः।

४ ममताम् अपहरतीति ममतापहरस्त ममत्वनिवारकम्।

▣

चतुर्थ खण्ड

सिद्धान्त

भगवान महावीर की अध्यात्म–देशना

लोक–व्यवस्था—

जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म आकाश, और काल इन छह द्रव्यो के समूह को लोक कहते है। इनमे सुख–दु ख का अनुभव करने वाला, अतीत की घटनाओ का स्मरण करने वाला तथा आगामी कार्यों का सकल्प करने वाला द्रव्य, जीवद्रव्य कहलाता है।

जीवद्रव्य मे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। उन गुणो के द्वारा इसका वोध स्वय होता रहता है। पुद्‌गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्‌गल दृष्टिगोचर नही होता तथापि उसके सयोग निर्मित स्कन्ध–पर्याय इद्रियो के अनुभव मे आती है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्‌गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्‌गल के चलने मे जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और उक्त दोनो द्रव्यो के ठहरने मे जो सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्‌गल द्रव्य और उसके साथ सम्वद्ध जीव द्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म–अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आता है। समस्त द्रव्यो की पर्यायो के परिवर्तन मे सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते है। पुद्‌गल मे परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होती है, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सव द्रव्यो को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यों मे एक पुद्‌गल द्रव्य ही मूर्तिक है – स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्यद्रव्य है। शेप पाच द्रव्य अमूर्तिक है – रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नही है। जीवद्रव्य अपने ज्ञान गुण से सवको जानता है, इसलिए कोई द्रव्य मूर्तिक हो अथवा अमूर्तिक, जीव के ज्ञान से वाहर नही रहता। पुद्‌गल द्रव्य के माध्यम से होने की वात ज्ञान–परोक्ष इन्द्रियाधीन ज्ञान मे ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान मे नही।

असख्य प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सव द्रव्यो का निवास है इसलिए सव द्रव्यो का परस्पर संयोग तो हो रहा है पर सवका अस्तित्व अपना-अपना स्वतत्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यन्ताभाव रहता है इसलिए संयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल मे भी नही करता है। यह लोक की व्यवस्था अनादि -अनन्त है। इसे न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादि रूप पुद्‌गल द्रव्य, जीव द्रव्य से पृथक है, इसमे किसी को सदेह नही परन्तु कर्म नोकर्म रूप जो पुद्‌गल द्रव्य, जीव के साथ अनादि काल मे लग रहा है, उसमे अज्ञानी जीव भ्रम मे पड जाता है। वह इस पुदगल द्रव्य और जीव को पृथक–पृथक अनुभव न कर एक रूप ही मानता है – जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न नही है। शरीर के उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के

नष्ट होने से जीव नष्ट हो जाता है। यह जीव विषयक अज्ञान का सबसे वृहद् रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है तथा दर्शनकारो ने इसे नास्तिक दर्शनो मे परिगणित किया है।

आत्मा का स्वरूप—

अनेक पदार्थो से भरे हुये विश्व मे आत्मा का पृथक अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनो की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे-बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुये कहा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेत. समाहित. समुदयव्ययध्रौव्यैः॥ (पुरुषार्थसिद्धयुपाय)

पुरुष— आत्माहै और वह चैतन्य स्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्‌गलिक गुणो से रहित है, गुण और पर्यायो से तन्मय है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यो ने दो दृष्टिया अगीकृत की हैं— एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपापोहन की। स्वरूपोपादान की दृष्टि मे पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पर रूपापोहन की दृष्टि मे पर-पदार्थो से उसका पृथक्करण किया जाता है।पुरुष-आत्मा चेतन्य है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपापोहन की दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा तो चेतन्य स्वरूप है, ज्ञाता दृष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्‌गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्श रस, गन्ध तथा वर्ण अनुभव मे आते हैं वे उसी शरीर के धर्म है, इन्हे तू आत्मा नही समझ बैठना। तेरा यह आत्मा सामान्य विशेष रूप उनके गुणो तथा स्वभाव और विभावरूप पर्यायो से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ—

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थो से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। "आत्मनि अधि अध्यात्मम्" इस प्रकार अव्ययी भाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा मे, अथवा आत्मा के विषय मे। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है। जिसके साथ नोकर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म रूप परपदार्थ का ससर्ग हो रहा है, ऐसा ससारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है और जिसके साथ उपर्युक्त परपदार्थ का ससर्ग नही है, ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्धजीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे अन्य धातुओ के सम्मिश्रण से अशुद्धता आगई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमे से अन्य धातुओ का सम्मिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण मे अन्य द्रव्य का सम्मिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि मे यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा मे अन्य द्रव्य का सम्मिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य-आत्मद्रव्य मे मिले हुये परद्रव्य का अस्तित्व पृथक समझ लिया वह एक स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वाभाव-विभाव—

शरीर को नोकर्म कहते है। यह नोकर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है इसीलिए तो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित है। इससे आत्मा को पृथक अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म हैं कि वे इन्द्रियों के द्वारा जाने नही जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुये हैं कि एक भव से दूसरे भव मे भी उसके साथ चले जाते है। उन द्रव्य कर्मों को आत्मा से पृथक अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढ़ी है।

द्रव्यकर्म के उदय से होने वाला विकार, आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है, कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी जीव भ्रान्ति मे पड जाते हैं। अग्नि का स्पर्श उष्ण है तथा रूप भास्वर है, पर जब वह अग्नि पानी मे प्रवेश करती है तब अपने भास्वर रूप को छोडकर पानी मे इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि की न मानकर पानी की मानने लगते है। "पानी उष्ण है" यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय मे होने वाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते है कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव मे नही आता। तन्मयीभाव से आत्मा के साथ मिले हुए रागादिक विकारी भावो को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता हैं। वह समझता है कि स्वभाव कही बाहर से नही आता,वह स्व मे सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है और विभाव, वह कहलाता हैं जो स्व मे पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर संसर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर-ससर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नही आती, परन्तु उष्णता पानी का विभाव है, क्योकि वह अग्नि के ससर्ग से आती है। जब तक अग्नि का ससर्ग रहता है तब तक पानी मे उष्णता रहती है और जब अग्नि का ससर्ग दूर हो जाता है तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञान-दर्शन, आत्मा का स्वभाव है, यह कही बाहर से नही आता, परन्तु रागादिक विभाव हैं, क्योकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते हैं और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते है। इसीलिए उनका आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव नही है। इस प्रकार पर- पदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

अध्यात्म और स्वरूप-निर्भरता—

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य बाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारण-कलाप को आत्मा मे ही खोजता है। सुख-दु ख, हानि-लाभ, सयोग-वियोग आदि के प्रसग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसगो पर सुख.दुख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उसमे इष्टअनिष्ट बुद्धि करता है, जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी परिणति को मानकर बाह्य पदार्थों मे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है, यदि दूसरे के कर्म का फल प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय। पर ऐसा होता नही है।[1]

१— स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥ — अमितगति आचार्य

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मैं पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय-गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मतत्व हूँ, तथा उसी की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील हूँ। इसकी उपलब्धि, अनादिकाल से श्रुत, परिचित और अनुभूत काम, भोग, बन्ध कथाओ से नही हो सकती। उसकी प्राप्ति तो परपदार्थों से लक्ष्य हटाकर स्वरूप-विनिवेश-अपना उपयोग अपने आप मे ही स्थिर करने से हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन मे विहार करने वाला पुरुष, बाह्य-जगत् से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का ही बारबार चिन्तन कर उसमे बाधा डालने वाले रागादि विकारी भावो को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा मे रागादि विकारभाव प्रगट हो रहे है तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नही है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्तहै—पूर्ण वीतराग है। पदार्थ को जानना, देखना ही मेरा काम है। उसमे इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना मेरा काम नही है। मैं तो अबद्धस्पृष्ट तथा पर से असयुक्त हू। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्तमान मे बद्ध-स्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व मे प्राप्त हो रहे हैं। तथापि, अध्यात्म, जीव के अबद्धस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित-वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना ही अध्यात्म का उद्देश्य हैं अतः संयोगज दशा और सयोगज भावो की ओर से वह मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नही करता है तो इस सयोगज दशा और तज्जन्य विकारो को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

ज्ञानी जीव, कर्म नोकर्म और भाव कर्म से आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक भाव और भाव्य-भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण अपने प्रतिविम्बित मयूर से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान मे आये हुए घटपटादि ज्ञेयो से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण, ज्वालाओ के प्रतिविम्ब के सयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्व मे रहने वाले सुख-दुःख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं निश्चय से एक हू, शुद्ध हू, दर्शन ज्ञान से तन्मय हू, सदा अरूपी हू, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ज्ञानी यह भी मानता है कि ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, सयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे वाह्य है।

इस प्रकार भेद विज्ञान की महिमा वतलाते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलश मे कहा है—

भेद विज्ञानतः सिद्धा. सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन॥

१— अहमिक्को खलु शुद्धो दसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तपि॥
— कुन्दकुन्द आचार्य, समयसार, गाथा–३८

२— एको मे सासदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा॥
— कुन्दकुन्द आचार्य, नियमसार, गाथा–१०२

आज तक जितने सिद्ध हुए है वे भेद-विज्ञान से ही सिद्ध हुए है और जितने संसार मे बद्ध है वे सब भेद-विज्ञान के अभाव से ही बद्ध है ।

अध्यात्म और नय-व्यवस्था—

वस्तु-स्वरूप का अधिगम, प्रमाण और नयके द्वारा होता है । प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौणकर, विवक्षानुसार, क्रम से ग्रहण करता है । नयो का विवेचन करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय-आगमिक और आध्यामिक दृष्टि से विवेचन किया है । शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना मे नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किए गए हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना मे उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदो का निरूपण है । इस विवेचना मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनो ही निश्चय मे समा जाते है और व्यवहार मे उपचार कथन रह जाता है ।

शास्त्रीय दृष्टि मे वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि मे उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है । जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र मे रखकर जगत के स्वरूप का विचार करते है, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मा को केन्द्र मे रखकर विचार करती है । इस दृष्टि मे शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत्य है और उसकी अन्य सब दशाएं व्यवहार सत्य है । इसीलिए उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करने वाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार की दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध रूप को । अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का है इसलिए वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है । अपने गुण-पर्यायो से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करना, निश्चय दृष्टि का कार्य है, और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है । निश्चय दृष्टि आत्मा मे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो को स्वीकृत नही करती । चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते है अत. उन्हे पुद्गल मानती है ।[1] इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नही है अत निश्चय दृष्टि उन्हे स्वीकृत नही करती । इन सबको आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है ।

अध्यात्म, निश्चय दृष्टि—निश्चय नय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थग्राह्य नही है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है । आत्मतत्व की वर्तमान मे जो अशुद्ध दशा चल रही है उसका सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है ? यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिये मोक्षमार्ग रूप पुरुषार्थ

१— एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।

— समयसार, गाथा–४४

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।।

— समयसार, गाथा–५५

व्यर्थ सिद्ध होता है । अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी ! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ । यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायेगा। आत्मद्रव्य अशुद्ध पर्यायो का समूह है, उसे मात्रशुद्ध पर्याय रूप मानना सगत नही है । जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यो करेगा । वस्तुस्वरूप के विवेचन मे अनेकान्त का आश्रय ही स्व-पर-हितकारी है, अत अध्यात्मवाद की दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्य-कारणभाव—

कार्य की सिद्धि मे उपादान और निमित्त इन दो कारणो की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है । मिट्टी. घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारण हैं । जिस मिट्टी मे वालू के कणो की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की योग्यता नही है उसके लिये कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उससे घट का निर्माण नही हो सकता । इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी मे घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिये यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणो का योग नही मिलता है तो उससे भी घट का निर्माण नही हो सकता । फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति मे मिट्टी रूप उपादान और कुम्भकारादि रूप निमित्त - दोनो कारणो की आवश्यकता है । इस अनुभव सिद्ध और लोकसमत कार्य-कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, ममुक्षु प्राणी के लिये यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले समाल, यदि तू निमित्त कारणो को खोजवीन मे उलझा रहा और अपनी आत्म शक्ति की ओर लक्ष्य नही किया, तो उन निमित्त कारणो से तेरा कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायेगा ? जो किसान, खेत की भूमि को तो खूब संभालता है परन्तु वीज की ओर दृष्टिपात नही करता, उस सभाली हुई खेत की भूमि मे यदि सडा हुआ घुना बीज डालता है तो उससे क्या अकुर उत्पन्न हो सकेंगे ? कार्यरूप परिणति उपादान की होने वाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नही बनता और निमित्त उपादान नही वनता यह निश्चित है, तथापि कार्य की सिद्धि के लिये दोनो की अनुकूलता अपेक्षित है, इसका निषेध नही किया जा सकता ।

अध्यात्म और मोक्षमार्ग—

"सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है । इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की व्याख्या को निश्चय के साचे मे ढालकर स्वीकृत करता है । उसकी व्याख्या है— पर पदार्थो से भिन्न ज्ञाता - दृष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है । पर पदार्थो से भिन्न ज्ञाता - दृष्टा का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पर पदार्थो से भिन्न ज्ञाता - दृष्टा आत्मा मे लीन होना सम्यक्चारित्र है । इस निश्चय तथा अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही यह जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नही । इसलिए मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है । देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्वो के जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत, समिति, गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक्चारित्र यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति मे सहायक है तो वह परम्परा से मोक्षमार्ग होता है । व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक बार हुई पर निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के विना वह मोक्ष का साधन नही बन सकी ।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सबंध रखता है, इसका अर्थ यह नही है कि वह मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत जीवाजीवादि पदार्थो के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत, समिति, गुप्तिरूप आचरण को हेय मानता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सबका-प्रयोजन आत्म-श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मे ही सनिहित है अन्यथा नही। इसलिए इन सबको करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिए।

नव पदार्थो के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है —

भूयत्थेणाभिगदम जीवाजीवा य पुण्ण पावं च ।
आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।

मूलार्थ— निश्चय नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। यहा विषय और विषयी मे अभेद करते हुए नौ पदार्थो को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। वस्तुत ये सम्यग्दर्शन के विषय है।

जीव[1] चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म नोकर्म रूप पुद्गल का सम्वन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा मे यह जीव, शरीर रूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमे अहकार करता है—"इस रूप मैं हू" ऐसा मानता है। इसलिये सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की जाती है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादिक भाव कर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया जाता है। कहा गया है हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अतः पुद्गल के है, तू इन्हे जीव क्यो मान रहा है?

जो स्पष्ट ही अजीव है उनको अजीव कहने मे कोई खास बात नही है किंतु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुल-मिलकर अनित्यतन्मय भाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे है उन्हे अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति मे बाधक है। रागादिक भाव अजीव है। गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव है, यह बात यहा तक सिद्ध की गई है। यहा "अजीव है" इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वाभाविक परिणति नही है। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल मे भी इनका अभाव नही होता परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था मे ये भाव होते है उसका अभाव होने पर ये सब स्वय विलीन हो जाते हैं।

ससार चक्र से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि हे मुमुक्षु प्राणी! तू मोक्षरूपी महानगर की यात्रा के लिए निकला है। देख, कही बीच मे पुण्य के प्रलोभन में नही पड जाना। यदि उसके प्रलोभन मे पड़ा तो एक झटके से ऊपर से नीचे आ जायेगा, और सागरो पर्यन्त के लिये उसी पुण्य-महल मे नजर कैद हो जाएगा। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव, लोक मे पुण्य कहे जाते है और

१— अरसमरूवमगधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।
— समयसार, गाथा—४६

हिंसादि पापो मे प्रवृत्तिरूप भाव, पाप कहे जाते है। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियो का जन्म होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियो का। जब उन पुण्य-पाप प्रकृतियो का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दु ख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनो प्रकार की प्रकृतियो का बन्ध इस जीव को ससार मे ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोह श्रृंखला से दूर रहना चाहता है उसी प्रकार स्वर्ण श्रृंखला से भी दूर रहना चाहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, पुण्यरूप आचरण का निषेध नही करता किंतु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा मे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नही है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नही है।

सक्षेप मे जीव द्रव्य की दो अवस्थाए हैं एक ससारी और दूसरी मुक्त। इनमे से ससारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। ससार अवस्था का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण सवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावो से कर्म आते हैं उन्हे आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार है— 1—मिथ्यात्व 2—अविरमण 3—कषाय और 4—योग। इन भावो का यथार्थरूप समझ कर उन्हे आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रव का विरोधी तत्व सवर है अत अध्यात्म ग्रन्थो मे आस्रव के अनन्तर सवर की चर्चा आती है।[1] आस्रव का रुक जाना सवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण कषाय और योग रूप परिणामो से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, सयम, निष्कषाय वृत्ति और योग निग्रह-रूप गुप्ति से सवर होता है। अध्यात्म मे इस सवर का मूल कारण भेद-विज्ञान को बताया है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न हैं अत उनसे भेद-विज्ञान प्राप्त करने मे महिमा नही है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मो से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने मे है जो तन्मयीभाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे है। मिथ्यादृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहधारा को भिन्न-भिन्न नही समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमे तत्काल रागद्वेष करने लगता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनो धाराओ के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता-द्रष्टा तो रहता है परन्तु राग-द्वेषी नही होता। जहा यह जीव, रागादिक को अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहा उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा सवर है। किसी वृक्ष को उखाडना है तो उसके पत्ते नोचने से काम नही चलेगा किन्तु उसकी जड पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड है भेद-विज्ञान का अभाव। अत भेद-विज्ञान के द्वारा उन्हे अपने स्वरूप से पृथक् समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस भेद-विज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान मे प्रतिष्ठित नही हो जाता।

सिद्धो के अनन्तवे भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म-परमाणुओ की निर्जरा ससार के प्रत्येक प्राणि के प्रतिसमय हो रही है। पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नही होता। क्योकि जितने कर्म परमाणु

१ — आस्रवनिरोधः। तत्वार्थ सूत्र—उमा स्वामी

आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते है। कल्याण उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओ का आस्रव और बन्ध नही होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव मे सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्‌भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नही होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद को प्राप्त नही होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग मे प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नही होता। सुवर्ण, कीचड मे पडा रहने पर भी जग को प्राप्त नही होता और लोहा थोड़ी सी सर्द पाकर जग को प्राप्त हो जाता है, यह सुवर्ण और लोहा की अपनी-अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौद्‌गलिक कर्म दोनो ही स्वतत्र द्रव्य है और दोनो मे चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादिकाल से इनका एक क्षेत्रावगाहरूप सयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक मे लोहा खीचने की और लोहा मे खीचे जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा मे कर्म रूप पुद्‌गल मे खीचे जाने की योग्यता है। अपनी-अपनी योग्यता के कारण दोनो का एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार धूलि-बहुल स्थान मे व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमे प्रमुख कारण उसके शरीर मे लगा हुआ तेल है। उसी प्रकार कार्माण वर्गणा से भरे हुये इस ससार मे योग रूप व्यायाम को करने वाले जीव के साथ जो कर्मों का सम्बन्ध होता है उसमे प्रमुख कारण उसकी आत्मा मे विद्यमान स्नेह, रागभाव ही है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नही समझ पाता इसलिये करोडो वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नही।[1]

समस्त कर्मो से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द ही इसकी पूर्व होने वाली बन्ध अवस्था का प्रत्यय कराना है। जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन मे पडा हुआ पुरुष बन्ध के कारणो को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र, मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नही हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छेनी और हथोडा लेकर उससे छेदने का पुरुषार्थ करना पडता है। इसी प्रकार अनादिकाल से कर्म बन्धन मे पडा हुआ यह जीव कर्म बन्धन के कारणो का जानता है तथा उसके भेद और तीव्र, मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्म बन्धन से मुक्त नही हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्‌चारित्र-रूप पुरुषार्थ करना पडता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये बिना कर्म-बन्धन से मुक्त होना दुर्भर है। हे प्राणी! मात्र ज्ञान और श्रद्धान को लिये हुए तेरा सागरो पर्यन्त का दीर्घकाल यो ही निकल जाता है परन्तु कर्म बन्धन से मुक्त नही हो पाता, परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहा सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ को अगीकृत करता

१– सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मभोगणिमित्त ण दु सो क म्मक्खयणिमित्त॥

समयसार, गाथा –२७५

है वहा तेरा काम बनने मे विलम्ब नही लगता । यहा तक कि अन्तर्मुहूर्त मे भी काम वन जाता है । प्रज्ञा-भेद-विज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये ।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या मे अध्यात्म, अनेक शास्त्रो के ज्ञान को महत्त्व नही देता । उसका प्रमुख लक्ष्य पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायो से अभिन्न आत्म-तत्व के ज्ञान पर निर्भर करता है । इसके होने पर अष्टप्रवचनमातृका रूप जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव वारहवे गुणस्थान तक पहुँच जाता है, और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवल ज्ञानी वन जाता है । परन्तु आत्मज्ञान के विना ग्यारह अग और नौ पूर्वो का पाठी होकर अनन्त काल तक ससार मे भटकता रहता है । अन्य ज्ञानो की वात जाने दो, अध्यात्म तो केवल-ज्ञान के विषय मे यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवल-ज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को ।[1]

यह ठीक है कि केवल ज्ञानी के आत्मज्ञान मे ही सर्वज्ञता निहित है परन्तु यह भी निश्चित है कि केवल-ज्ञानी को अन्य पदार्थो को जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नही होता ।

अध्यात्म, यथाख्यातचारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है क्योकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है । महाव्रत और समिति के विकल्प रूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थापना आदि चारित्र हैं वे पहले ही निवृत्त हो जाते है । उसे धारण करने वाला उपशान्त मोह गुणस्थान वर्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे आता है, परन्तु क्षय से होनेवाला यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साधक नियम से है । उसके होने पर यह जीव उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है । स्वरूप मे स्थिरता यथाख्यात चारित्र से ही होती है ।

इस प्रकार अध्यात्म की देशना मे निश्चय-रत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है । व्यवहार रत्नत्रय अथवा भेदरूप-रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्ष मार्ग माना जाता है ।

उपसंहार :—

महावीरस्वामी की इस अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने ग्रन्थो मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है । उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है पर प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टपाहुड आदि ग्रन्थो मे भी यथाप्रसग आध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है । कुन्दकुन्दस्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्वन्धी पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहारपक्ष को भी प्रकट करते चलते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्मदेशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र और इष्टोपदेश मे पुष्कलता से पाते है । योगेन्द्रदेव का परमात्माप्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं । प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप मे आचार्यपद्मनन्दी तथा पण्डित प्रवर आशाधर जी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है । अमृतचन्द्रसूरि ने कुन्दकुन्द के अध्यात्म रूप उपवन की सुरभि से ससार को सुरभित किया है । यशस्तिलकचम्पू तथा नीतिवाक्यामृत के कर्त्ता सोमदेवाचार्य की "अध्यात्मामृततङ्गिणी' भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है ।

१—जाणदि परसदि सव्व व्यवहारणयेण केवली भगवम् ।
केवलणाणी जाणदि परसदि नियमेण अप्पाणं ।।

नियमसार, गाथा—१५८

ज्ञान और अज्ञान : आध्यात्म के सन्दर्भ में

यह जीव अनादिकाल से चारो गतियो मे परिभ्रमण करता हुआ दु ख उठा रहा है । सुख प्राप्ति इसका लक्ष्य है और उसी के लिये प्रयत्न करता है, परन्तु सुख और उसकी प्राप्ति का निर्धार न होने से उससे वंचित रहता है । सुख आत्मा का स्वभाव है–आत्मा उससे तन्मय है, परन्तु उस ओर इसका लक्ष्य नही यह जीव सदा पर–पदार्थो मे सुख की खोज करता है । जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपने शरीर मे भरी हुई कस्तूरी की गध की ओर ध्यान न देकर वन मे उसकी खोज करता हुआ दौडता है, उसी प्रकार यह जीव आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे व्याप्त सुख की ओर ध्यान न देकर बाह्य पदार्थो मे उसकी खोज करता है । इसीलिए यह धन, धान्य, स्त्री, पुत्र मकान आदि पदार्थो के सग्रह मे लीन हो रहा है । आज के युग मे जो मनुष्य जितना अधिक बाह्य पदार्थो का सग्रह कर लेता है वह उतना ही अधिक पुरुषार्थी और भाग्यशाली माना जाता है । बुद्धि का यह कितना बड़ा भ्रम है ।

यह जीव आहार भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञा रूपी ज्वर से दु.खी होकर आत्म स्वरूप से भ्रष्ट हो रहा है । इन सज्ञाओ रूप ज्वर की उत्पत्ति का कारण अनादि अविद्या-मिथ्याज्ञान रूपी दोष है । सम्यक्त्व रूपी औषधद्वारा जब तक अनादि अविद्या रूप दोष का शमन नही हो जाता और जब तक यह आहारादि सज्ञा रूप ज्वर से उन्मुक्त नही हो जाता, तब तक वास्तविक सुख के पास नही पहुँच सकता। इसीलिये आचार्यो का उद्देश्य है कि हे भद्र प्राणियो ! सबसे पहले आत्म-स्वरूप-उपदेश की ओर लक्ष्य करो, उसमे व्याप्त अनन्त गुणो की ओर ध्यान देओ, उनकी प्राप्ति के लिये सही सही साधन जुटाओ और पीछे तदनुसार प्रवृत्ति कर अपना लक्ष्य सिद्ध करो । सही मार्ग पर चलने वाला प्राणी भले ही धीरे धीरे चलता हो पर एक दिन अपने गन्तव्य स्थान पर अवश्य ही पहुँच जाता है । और विपरीत दिशा मे चलनेवाला प्राणी भले ही दौड रहा हो पर वह अपने गन्तव्य स्थान से दूर ही होता जाता है ।

अज्ञान के कारण यह जीव विषय जन्य-सुख को अपना लक्ष्य बनाये हुए है और उसी की प्राप्ति मे रात-दिन सलग्न रहता है । उसी के लिए साधन जुटाता रहता है और उन जुटाए हुए साधनो को ऐसा छिपाकर रखता है कि कोई दूसरा उन्हे छीन न ले । जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डी के टुकडे को चूसता है और चूसते-चूसते उसके मुख से जब खून बहने लगता है तब उस खून के स्वाद को वह हड्डी का स्वाद समझकर और एकान्त मे जाकर वार-वार चूसता है, उसी प्रकार यह प्राणी बाह्य सामग्री को पाकर उससे सुख मानता है और उसे ऐसा छिपाकर रखता है कि दूसरा उसे छीन न ले । आज ससार मे जो परिग्रह-पिशाच का ताण्डव नृत्य हो रहा है यह उसी अज्ञान का प्रभाव है ।

ज्ञानी मनुष्य इस विवेक को प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह बाह्य पदार्थो से अपनी दृष्टि हटाकर स्वरूप की ओर दृष्टि देने लगता है । जहा स्वरूप की ओर दृष्टि गई, वहाँ कल्याण निश्चित है । स्वरूप की ओर दृष्टि देनेवाला प्राणी अनतकाल तक ससार मे नही भटक सकता । उसका अनन्त संसार शान्त हो जाता है । इस जीव

का स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा है अर्थात् पदार्थ को सामान्य और विशेष रूप से जानना ही इसका स्वरूप है। जब यह जीव पदार्थ को जानकर उसके साथ राग, द्वेष, इष्ट अनिष्ट का भाव उत्पन्न करने लगता तब स्वभाव से च्युत हो जाता है। ज्ञानधारा के साथ मोह की धारा ऐसी घुल मिल गई है कि साधारण जीव को उसमे भेद ही नही मालूम होता। सम्यक्त्व के होने पर इस जीव को इन दोनो धाराओ मे अन्तर दिखाई देने लगता है। प्रारम्भिक दशा मे वह भले ही दोनो धाराओ को अलग अलग न कर सकता हो, पर उनका भेद इसकी दृष्टि मे आ चुकता है। उन दोनो को अलग-अलग करने का इसका पुरुषार्थ प्रकट हो चुकता है और वह उस पुरुषार्थ के द्वारा दशम गुणस्थान के अन्त तक दोनो धाराओ को अलग अलग कर चुकता है यही भेद-विज्ञान की चरम सीमा है। इस भेद-विज्ञान के फलस्वरूप इस जीव का ज्ञान, ज्ञान मे ही प्रतिष्ठित रह जाता है, पर पदार्थो से दूर हट जाता है। ज्योही ज्ञान, ज्ञान मे प्रतिष्ठित हुआ, त्योही यह अन्तर्मुहूर्त के भीतर सर्वज्ञ बन जाता है। लोकालोक का ज्ञाता हो जाता है।

ज्ञानगुण का सर्वोत्कृष्ट विकास, उसमे से मोह की धारा को अलग किये बिना सम्भव नही है। इसी प्रकार सुख गुण का भी सर्वोत्कृष्ट विकास, मोह की धारा को दूर किये बिना सभव नही है। ज्ञान और सुख ही क्यो आत्मा के समस्त गुणो का सर्वोत्कृष्ट विकास मोह धारा को नष्ट किये बिना सभव नही है आत्म कल्याण के लिये सर्वप्रथम इस विवेक का प्रकट होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना इस जीव का पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है, जिस प्रकार नाव को खूँटी से खोले बिना रात भर पतवार चलानेवाले केवट का परिश्रम व्यर्थ जाता हैं। उसी प्रकार विवेक के बिना चारित्र रूप पुरुषार्थ व्यर्थं जाता हे। व्यर्थ जाता है इसका अर्थ यह है कि जिस वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिये इस जीव ने पुरुस्वार्थ प्रारभ किया था उसकी प्राप्ति नही होती। स्वर्गादिक के बाह्य सुख अवश्य प्राप्त हो जाते है,पर वे तो इस जीव के लक्ष्य नही है। इस जीव का लक्ष्य तो अविनाशी आत्मसुख की प्राप्ति करना है।

यह हम मानते हैं कि ज्ञानधारा और मोह धारा का विवेक होते ही मोह की धारा नष्ट नही हो जाती, पर उसके नष्ट होने का लक्ष्य बन जाता है। इसे नष्ट करने का पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और दशमगुणस्थान मे वह पुरुषार्थ फलीभूत होता है। इसी बीच मे अन्तर्मूहूर्त से लेकर सागरो पर्यन्त का काल लग सकता है, पर इतना निश्चित है कि अनन्तकाल नही लगता। श्री कुन्दकुन्द महाराज ने मोह और क्षोभ- रागद्वेष से रहित आत्मा की आवस्था को साम्यभाव कहा है। यह साम्य भाव ही चारित्र है और चारित्र ही धर्म है। ऐसा धर्म जब इस जीव की अन्तरात्मा मे प्रकट होता है तभी इनका वास्तविक कल्याण होता है। जिस प्रकार साँप के द्वारा डसे हुए मनुष्य को कडवी नीम मीठी लगती है, उसी प्रकार मोही जीव को विषय-कषाय अच्छे लगते है। साँप का विष दूर होने पर नीम कडवी लगने लगती है। इसी प्रकार मोह का विकार दूर होने पर इस जीव को विषय-कषाय रुचिकर प्रतोत नही होते। मोह के सद्भाव मे यह जीव जिस विषय सामग्री को प्राप्त करने के लिये उन्मत्त सा हो जाता है, मोह के निकल जाने पर उसी विषय सामग्री की ओर उसका ध्यान नही जाता। रामचन्द्रजी जिस सीता का अपहरण हो जाने पर एकेन्द्रिय वृक्षों से पूछेते है कि क्या तुमने हमारी सीता देखी है ? वही रामचन्द्रजी अच्युतेन्द्र के द्वारा सीता का रूप रख कर तरह-तरह के विकारी भावो का प्रदर्शन होने पर भी उस ओर लक्ष्य ही नही देते। बल्कि शुक्लध्यान के द्वारा कर्मो का क्षय कर केवल ज्ञानी बन जाते है। इस मोह-पिशाच को नष्ट करो। इसके नष्ट किये बिना कल्याण नही। यह मोह पिशाच बडा चालाक है। नाना रूप बदलकर इस जीव को भुलावे मे डालता रहता है। गृहस्थ मानव अपनी गृहस्थी के चार आदमियो के मोह मे

लीन रहता है, पर त्यागी या मुनि बनने पर अनेक आदमियों, के साथ मे लगे हुए शिष्य परिकर के मोह मे फँस जाता है—पहले गृहस्थी के कार्यो का मोह था अब धार्मिक कार्यो का मोह आ गया। मोह गया कहाँ ? वह रूप बदल कर साथ ही लगा हुआ है। विवेकी मनुष्य वह है जो कि मोह के एक चक्र से बचकर दूसरे चक्र मे नही फँसता।

एक शहर मे पहुँचने के लिये पूर्व, पश्चिम,उत्तर और दक्षिण के भेद से अनेक मार्ग हो सकते है,पर आत्मकल्याण के मार्ग अनेक नही है। इसका मार्ग तो एक ही है कि जिस तरह संभव हो मोह के विष को दूर किया जाय। इस एक मार्ग से ही यह जीव अपना कल्याण कर सकता है।आज जिन्हे धर्मात्मा कहा जाता है वे यदि इस तथ्य को समझ सकते तो उनका वडा कल्याण होता। धर्मात्मा मनुष्य कभी पर कल्याण की इच्छा नही करता। वह तो सदा स्व-कल्याण की ही इच्छा करता है। पर-कल्याण का राग एक विकारी भाव है। सच्चा धर्मात्मा इस विकारी भाव से सदा बचता रहता है। मैं जग का कल्याण करूँ ऐसा अभिनिवेश विवेकी मनुष्य के नही होता। यह दूसरी वात कि उसकी प्रवृत्ति से अन्य मनुष्य अपना कल्याण कर लेते है। जिस मनुष्य के हृदय मे पर के कर्त्तव्य का भाव बना हुआ है वह अभी कल्याण के मार्ग मे अग्रसर हुआ ही कहाँ है ? 'निजको परको करता पिछान' पर मे अनिष्टता इष्ट ठान ॥' यह प्रवृति धर्मात्मा की नही होती। मात्र अपनी आत्मा से कहने का भाव होता है। हे आत्मन् ! तू खूब सोया, अनादि से अब तक सोया ही चला आ रहा है। अब तो जाग, सम्यक्त्व का मगल प्रभात तेरी आत्मा में नई चेतना नई स्फूर्ति भरने के लिये तत्पर है।

मन की कुटिलता

स्रग्धरा

चित्तं संबुध्यषण्ढं ह्यनुनयनिपुणं प्रेषितं मानिनीषु ।
कष्टं भो त्वन्तु तत्रा नथरत मरिवलास्वेवसक्तंसभासीन् ॥
हंहो प्रज्ञापतीना प्रवर नव मतेः पाणिने विभ्रमः को ।
येनत्थं मर्त्यरूपे मनसि दिशास हा सन्ततं षण्ड भावम् ॥१४२॥

अनुनय-विनय मे निपुण मन को नपुसक (नपुसकलिङ्ग) समझकर मैंने स्त्रियो मे भेजा, परन्तु दु ख की वात है कि वह स्वय ही उनमे निरन्तर आसक्त हो गया। अहो पण्डित प्रवर पाणिनि ! तुम्हारी वुद्धि का यह कौन विभ्रम है कि जिससे तुम मनुष्य रूप मन को निरन्तर नपुसक कहते हो।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूख ८

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका नय-विज्ञान

आ. कुन्दकुन्दः

दिगम्बर जैनाचार्यों मे कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखो, शिलालेखो, ग्रन्थ प्रशस्ति लेखो एव पूर्वाचार्यों के सस्करणो मे कुन्दकुन्द स्वामी का नाम वड़ी श्रद्धा के साथ लिया मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।

इस मङ्गल पद्य के द्वारा भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मंगल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति मे कविवर वृन्दावन का निम्नाङ्कित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है; जिसमे बतलाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है, न है, और न होगा—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन वैन इंद कुदकुद से
तासके अभ्यासतें विकास भेद ज्ञान होत
मूढ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द चंद जाहि
मोह मार खंड मारतड कुन्दकुन्द से
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए न हैं न होहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्द से।।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्व का, विशेषतया आत्मतत्व का विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थो मे उन्होने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायो से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होने इन ग्रन्थो मे अध्यात्मधारा रूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एव पावन प्रवाह मे अवगाहन कर भवभ्रमणश्रान्तपुरुष शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह गमन

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गए थे और सीमधर स्वामी की दिव्य ध्वनि से उन्होने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि० स० दशवी शती) है। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है।

जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहई तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।।४३।।

इसमे कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमन्धर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण–मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन के बाद ईसा की वारहवी शताब्दि के विद्वान जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय की टीका के आरम्भ मे निम्नलिखित अवितरण पुष्पिका मे कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा की है—

'अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थकर-परमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादि-संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचते पञ्चास्तिकाप्राभृतशास्त्रेय यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वक तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते ।'

जो कुमारनन्दि सिद्धान्त देव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व विदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्री मदरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थो से शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहग कर जो पुन. वापिस आए थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्य रूप से और वहिस्तत्त्व की गौण रूप से प्रतिपत्ति कराने के लिये अथवा शिवकुमार महाराज आदि सक्षेप रुचि वाले शिष्यो को समझाने के लिये पञ्चा-स्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया ।

षट्प्राभृत के सस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त मे भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन का उल्लेख किया है—

'श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगम-नर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभार वर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे—'

'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृधपिच्छाचार्य, इन पाच नामो से जो युक्त थे, चार अगुल ऊपर आकाश गमन की ऋद्धि जिन्हे प्राप्त थी, पूर्व विदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर मे जाकर श्रीमन्धर अपर नाम स्वयप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होने भरत क्षेत्र के भव्य, जीवो को सम्बोधित किया था जो जिनचन्द्र सूरिभट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे; ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थ मे ।'

उपर्युक्त उल्लेखो से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है । किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो मे उनके स्वमुख से कही विदेह गमन की चर्चा उपलब्ध नही होती । उन्होने समय प्राभृत के प्रारम्भ मे सिद्धो की वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ।।१।।

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्द ब्रह्मद्वारा प्रकाशित होने से; तथा सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने से और स्वय अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियो के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त है।

तो भी इस कथन से यह स्पष्ट नही होता कि मैंने केवली की वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं। यहा तो मूलकर्ता की अपेक्षा केवली का उल्लेख जान पडता है। जयसेनाचार्य ने भी केवली का साक्षात् कर्ता के रूप मे कोई उल्लेख नही किया है। उन्होने सुयकेवलीभणियं' की टीका इस प्रकार की है –श्रुते परमागमे केवलिभि सर्वज्ञैर्भणित। अथवा श्रुतकेवलिभणित गणधरकथितमिति'।

अर्थात् श्रुत परमागमे केवली—सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली—गणधर के द्वारा कहा गया।

फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा निराधार नही हो सकते। देवसेन ने, आचार्य परम्परासे जो चर्चाए चली आ रही थी उन्हे दर्शनसार मे निबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के विदेह गमन की चर्चा दर्शनसार की रचना के पहले भी प्रचलित रही होगी।

पञ्चास्तिकास के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी आदि अपर नामो का उल्लेख किया है। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य ऐलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य इन पाच नामो का निर्देश किया है। नन्दिसघ से सबद्ध विजयनगर के शिलालेख मे भी जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पाच नाम बतलाये गए हैं। नन्दिसघ की पट्टावली मे भी उपर्युक्त पाच नाम निर्दिष्ट हैं। परन्तु अन्य शिलालेखो मे पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है। इसलिये श्रवण बेलगोला के कितने ही शिलालेखो मे उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाई ने 'जैनिज्म इन साउथ इडिया' मे लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके मे स्थित है। शिलालेख मे उसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मे मिलता है। यहा के निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दे' कहते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म स्थान यही हो।

ससार से नि स्पृह वीतराग साधुओ के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने—लेखबद्ध करने की परम्परा प्राय. नही रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यो के माता-पिता विषयक इतिहास की उपलब्धि प्राय नही है। हा, इनके गुरुओ के नाम किसी न किसी रूप मे उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकाय की तात्पर्य वृत्ति मे जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसघ की पट्टावली मे उन्हे जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त मे अपने गुरु के रूप मे भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाए इस प्रकार है—

सद्दविआरो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय।
सो तह कहिय णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वग विउल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

प्रथम गाथा मे कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों मे शब्दविकार को प्राप्त हुआ अर्थात अनेक प्रकार के शब्दो मे ग्रंथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने ऊसे उसी रूप मे जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा मे कहा गया है कि बारह अगो और चौदह पूर्वो के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हो।

येदोनो गाथाएं परस्पर मे संबद्ध है। पहली गाथा मे अपने आपको जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा मे उन्ही का समावेश किया है। यहाँ भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पडते है क्योकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्वो का विपुल विस्तार उन्ही से सम्भव था। इसका समर्थन समयप्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञा वाक्य 'वदित्तु सव्व सिद्धे'—से भी होता है जिसमे उन्होने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूगा। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो मे यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चंद्रगुप्त के साथ भद्रबाहू यहा पधारे और वही एक गुफा मे उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते है और उस समय जबकि ग्यारह अग और चौदह पूर्वो के जानकार आचार्यो की परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुन्दकुन्दस्वामी की इतनी प्रतिष्ठा कैसे स॥व हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थिति मे कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य ही माना जा सकता है, साक्षात् नही। श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हे गुरु परम्परा से प्राप्त रहा होगा, उसी के आधार पर उन्होंने अपने आप को भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुड के सस्कृत टीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरि ने भी 'भद्दबाहुसीसेण' का अर्थ विशाखाचार्य कर कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागरसूरि की पक्तियाँ निम्न प्रकार है :—

भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादलाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।

इन पक्तियो द्वारा कहा गया है कि यहाँ भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और गुप्तगुप्त ये दो नाम और भी है तथा ये दशपूर्व के धारक ग्यारह आचार्यो के मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु पाच श्रुतकेवलियो मे अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने ६२ वी गाथा की टीका मे कहा है —

'पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः'

अर्थात् भद्रबाहु पाँच श्रुतकेवलियो मे अन्तिम श्रुतकेवली थे। अत उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसी की परम्परा आगे चलती रही। गमकगुरु का अर्थ श्रुतसागर सूरि ने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्य के लिये यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय

कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण पर 'प्रवचनसार' की प्रस्तावना मे डॉ. ए एन. उपाध्ये ने, 'समन्तभद्र' की प्रस्तावना मे स्व. जुगलकिशोर जी मुख्त्यार ने, 'पञ्चास्तिकाय' की प्रस्तावना मे डॉ. ए चक्रवर्ती ने तथा

'कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह' की प्रस्तावना मे श्री प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओ के अवतरण नही देना चाहता। जिज्ञासु पाठको को तत् तत् ग्रथो से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण के विषय मे प्रचलित मात्र दो मान्यताओ का उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो हार्नले द्वारा संपादित नन्दिसघ की पट्टावलियो के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। वि. स. ४६ मे वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० माहीने तक वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठत रहे और उनकी कुल आयु ६५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा ए चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना मे अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है। और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् है। जिसका समर्थन श्री स्व० नाथूरामजी प्रेमी तथा प जुगलकिशोर जी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये है।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रथ अपना प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकार की है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूप का अनुगम बडी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित नपे-तुले शब्दो मे किसी बात को कहना इन ग्रन्थो की विशेषता है। कुन्दकुन्द की वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नाकित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज मे उनका सर्वोपरि मान है। १—पञ्चास्तिकाय २—समयसार ३—प्रवचनसार ४—नियमसार ५—अष्टपाहुड (दसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिंगपाहुड) ६—बारसणुपेक्खा और भत्तिसगहो।

इनके सिवाय 'रयणसार' नाम का ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माना जाता है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देखकर विद्वानो का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नही है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगो की गाथाएं भी सम्मलित हो गई है। भाण्डारकर रिसर्च इस्टीट्यूट पूना से हमने १८२५ सवत् की लिखित हस्त-लिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसार की गाथाओ का मिलान किया तो बहुत अन्तर मालूम हुआ। मुद्रित प्रति मे बहुत सी गाथाएँ छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएँ मुद्रित है। उस प्रति पर रचयिता का नाम नही है। उधर सूची मे भी यह प्रति अज्ञात लेखक के नाम से दर्ज है। जैन इतिहास और इतिहास के मनीषी प परमा-नन्दजी शास्त्री का मत है कि हमने ७०—८० प्रतियाँ देखी हैं, सबका यही हाल है। मुद्रित प्रति मे अपभ्रंश का एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्राय की गाथाएँ हैं जिनका कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नही खाता अतएव मैंने आ कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे उसे सम्मिलित नही किया है।

इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित परि-कर्म ग्रथ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्त्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका मे कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नही है। शास्त्र भण्डारो, खासकर दक्षिण के शास्त्र भण्डारो मे इसकी खोज की जानी चाहिये। मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योकि उसकी अन्तिम पुष्पिका मे 'इति मूलाचार विवृतौ द्वादशोऽध्याय। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्य विवृति कृतिरिय वसुनन्दिन श्रमणस्य' यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञान के लिये पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना मे स्व प जुगलकिशोर जी मुख्त्यार का सदर्भ पठितव्य है।

कुन्दकुन्द साहित्य में साहित्यिक सुषमा

कुन्दकुन्दाचार्य ने अधिकाश गाथा छन्द का, जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कही अनुष्टुप् और उपजाति का भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढते-पढते बीच मे यदि विभिन्न छन्द आ जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामी के कुछ अनुष्टुप् छन्दो का नमूना देखिये।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥५७॥—भाव प्राभृत

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥—भाव प्राभृत

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥—मोक्ष प्राभृत

विरदो सव्वसावज्जे त्रिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइग ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥—नियमसार

चेया उ पयडी अट्ठं उप्पजइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥

एवं वधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥—समय प्राभृत

एक उपजाति का नमूना देखिए—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि वंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥—प्रवचनसार

अलकारो की पुट भी कुन्दकुन्दस्वामी ने यथास्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुत प्रशंसा का एक उदाहरण देखिए—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्ध पि पिवता ण पण्णता णिव्विसा होंति ॥१३६॥—भाव प्राभृत

कुन्दकुन्द - भारती

थोड़े हेर-फेर के साथ यह गाथा समय प्राभृत में आई है। उपमालकार की छटा देखिए—

जह तारयाण चंदो मयराश्री मयउलाणं सव्वाणं ।
श्रहिश्रो तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माण ।।१४२।।

जह फणिराश्रो रेहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिश्रो ।
तह विमलदसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो ।।१४३।।

जह तारायण-सहियं ससहरविंवं खमडले विमले ।
भाविय तह वयविमल जिणलिगं दंसणविसुद्ध ।।१४४।।

जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्त सहावपयटीए ।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सुप्पुरिसो ।।१५२।।—भाव प्राभृत

रूपकालकार की वहार देखिए—

जिणवर चरणवुरुह णमति जे परमभत्तिरायेण ।
ते जम्मवेल्लिमूल खणंति वरभावसत्थेण ।।१५१।।

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपवलबलुद्धरकसायमडणिज्जिया जेहि ।।१५४।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि श्रारूढा ।
विसयविस पुप्फफुल्लिय लुणति मुणि णाणसत्थेहि ।।१५६।।—भाव प्रावृत

कही पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है । यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिश्रो तह तिएण परियरिश्रो ।
दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ।।४४।। —मोक्ष प्राभृत

अर्थात् तीन के द्वारा (तीन गुप्तियो के द्वारा) तीन को (मन वचन काय को) धारणकर, निरन्तर तीन से (शल्यत्रय से) रहित, तीन से (रत्नत्रय से) सहित और दो दोषो से (राग द्वेष) मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ।

कुन्दकुन्द का शिलालेखो तथा उत्तरवर्ती ग्रंथो मे उल्लेख

कुन्दकुदस्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अत· इनका उल्लेख अनेक शिलालेखो मे मिलता है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने बडी श्रद्धा के साथ इनका सस्मरण किया है । उदाहरण के लिए कुछ उल्लेख यहाँ प्रस्तुत हैं—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।
श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्घाग्रणीर्गणी ।।—श्र० बे० शि० ५५।६६।४६२

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः कुन्दप्रभाप्रणकिकीर्विभूषिताशः ।
यश्चारुणारणकराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ।।—श्र० बे० शि० ५४।६७

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचरणर्द्धिः ।। —श्र० बे० शि० ४०।६०

श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः।। – श्र० बे० शि० ४२, ४३, ४७, ५०

'इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या–
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगता कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्योऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः–
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ।। श्र० बे० शि० १०५

तद्वीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
बभौ यदन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ।। श्र० बे० शि० १०८

श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी ।
सीमन्धरस्वामिपदप्रवन्दी पञ्चाह्वयो जैनमतप्रदीपः ।। धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण

कवित्वनलिनीग्रामनिबोधनसुधाघृणिम् ।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ।। मु० विद्यानन्दि-सुदर्शन च०

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ।।

आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति. ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ।। सा० इ० इन्सा०, नं० १५२

कुन्दकुन्द मुनिं वन्दे चतुरङ्गुलचारणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ।। सोमसेन पुराण

सृष्टेः समचारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः ।
श्रीमच्छीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ।। अजितब्रह्मा-हनूमच्चरित्र

सन्नन्दिसङ्घसुरवर्त्मदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरोऽसौ ।
जीयात स वै विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ।।—मेघावी धर्मसंग्रह श्रावकाचार

आसाद्य द्युसतां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा—
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षत ।
स्वामी साम्यपदाधिरूढधिषणः श्रीनन्दिसङ्घश्रियो
मान्य. सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसां श्रीकुन्दकुन्दाभिधः ।। —अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्ये ।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ।।
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः ।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ।। —नन्दिसङ्घ पट्टावली

कुन्दकुदाचार्य का नय विज्ञान–

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख और दूसरे को गौणकर विवक्षानुसार क्रम मे ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यो ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि मे विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना मे नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि मे निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहाँ द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनो ही निश्चय मे गमा जाते हैं और व्यवहार मे उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि मे वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि मे उस नय विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनो दृष्टियो का अन्तर बतलाते हुये कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह की प्रस्तावना मे पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्रजी ने निम्नाकित पक्तिया बहुत ही महत्वपूर्ण लिखी हैं—

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेपण करके उनकी तह तक पहुचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि मे निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है जितना कि उपादान कारण के व्यापार का। और परसयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नही होता वैसे ही निमित कारण के बिना भी कार्य नही होता। अत कार्य की उत्पत्ति मे दोनो का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नही होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदि के बिना भी घट उत्पन्न नही होता। ऐसी स्थिति मे वास्तविक स्थिति का विश्लेपण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष मे अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है ससार भी उतना ही यथार्थ है और ससार जितना यथार्थ है उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ है। ससार न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है उतना ही सत्य उन दोनो का मेल और सयोगज विकार भी है। वह सांख्य की तरह पुरुष मे आरोपित नही है किन्तु प्रकृति और पुरुष के सयोगजन्य बन्ध का परिणाम है अत शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत है। अत सभी का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूकि उसकी दृष्टि मे कार्य की उत्पत्ति मे निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अत आत्मप्रतीतिमे निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु वगैरह का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमे गुणस्थान भी है, मार्गणास्थान भी है—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु विशेष के साथ कोई पक्षपात नही है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित अहित को दृष्टि मे रखकर नही करती।"

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

"शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य मे रखकर वस्तुका विचार किया जाता है। जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्मको केन्द्र मे रखकर जगत्के स्वरूप का विचार करते है वैसे ही अध्यात्म दृष्टि आत्मा को केन्द्र मे रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त मे ब्रह्म ही परमार्थ सत् हैं और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणामे एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा

ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य है ।इसीसे शास्त्रीय क्षेत्र मे जैसे वस्तुतत्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म मे निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया जाता है और निश्चय दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है । क्योकि निचय दृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्दवहार दृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है । अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है ततः उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने मे समर्थ है । ऐसी दृष्टि है मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है । जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है वह व्यवहार दृष्टि उसके लिए कार्यकारी नही है अत वह अभूतार्थ कही जाती है । इसीसे आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत के प्रारम्भ मे 'ववहारोऽभूदत्थो अभूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो' लिखकर व्यवहार को भूतार्थ और शुद्धनय अर्थात निश्चय को भूतार्थ कहा है ।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार मे आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म-स्वरूप का विवेचन किया है अत इनमे निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते है । वस्तु के एक—अभिन्न और स्वाश्रित—परनिरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जाननेवाला नय व्यवहारनय है । यद्यपि अन्य आचार्यो ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये है तथा व्यवहारनय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये है । परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदो के चक्र मे न पडकर मात्र दो भेद स्वीकृत किये है । अपने गुण पर्यायो से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को उन्होने निश्चय नय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है । निश्चय नय आत्मा मे काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो को स्वीकृत नही करता । चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अत उन्हे पुद्गल के मानता है । इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विकल्प जीव के स्वभाव नही है अत. निश्चियनय स्वभाव को विषय करता है, विभाव को नही । जो स्व मे स्व. के निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है । जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्वमे परके निमित्त से होते है वे विभाव, चूँकि आत्मा के कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चिय नय मे शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है परन्तु कुदकुद महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नही करते, वे उसे व्यवहार का ही विषय मानते है । अमृतचन्द्र सूरि ने भी इन्ही का अनुसरण किया है ।

यद्यपि वर्तमान मे जीव की वद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारीभाव उसके अस्तित्व मे प्रतीत हो रहे है तथापि निश्चय नय जीव की अवद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित—वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है । स्वरूप की अनुभूति कराना इस नय के उद्देश्य है अत. वह सयोगज दशा और सयोगज परिणामो की ओर से मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है । निश्चिय नय का उद्घोष है कि हे प्राणी यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नही करेगा तो इस सयोगजदशा और तज्जन्य बिकारो को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

अध्यात्म-दृष्टि आत्मा मे गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के भेदो का अस्तित्व भी स्वीकृत नही करती । वह परनिरपेक्ष आत्म स्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चय नय को ही भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्मा के विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहार नय को अभूतार्थ तथा हेय मानती है । इसकी दृष्टि मे

एक निश्चय ही मोक्षमार्ग है व्यवहार नही । यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है तथापि वह साध्यसाधक के विकल्प से हटकर एक निश्चय मोक्षमार्ग को ही अगीकृत करती है । व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है इसका निषेध यह नही करती ।

पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार मे आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है इसलिए इन ग्रन्थो मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो का भी वर्णन प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन के विषय-भूत जीवादि पदार्थो का वर्णन करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि को अगीकृत किये विना काम नही चल सकता । इसलिए द्रव्यार्थिक नय से जहा जीव के नित्य–अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहाँ पर्यायार्थिक नयमे उसके अनित्य - परिणामी स्वभाव का भी वर्णन किया जाता है । द्रव्य, यद्यपि गुण और पर्यायो का एक अभिन्न-अखड पिण्ड है तथापि उनका अस्तित्व वतलाने के लिए उनका भेद भी स्वीकृति किया जाता है । इसीलिए द्रव्य मे गुण और पर्यायो का भेदाभेद दृष्टि से निरूपण मिलता है । इन ग्रन्थो मे व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग की भी चर्चा की गयी है तथा उनमे साधक साध्यभाव का उल्लेख किया गया है ।

प्रवचनसार के अन्त मे अमृतचंद स्वामी ने द्रव्यनय, पर्यायनय अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, नामनय, स्थापनानय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, अकालनय, पुरुषकारनय, दैवनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयो के द्वारा आत्मा का निरूपण किया है । इन नयो को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनय का विषय न वनाकर स्वतत्ररूप से प्रतिपादित किया गया है ।

निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टि मे भूतार्थग्राही होने से निश्चयन को भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होने से व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है । इसकी संगति अनेकान्त के आलोक मे ही सपन्न होती है क्योकि व्यवहारनय की अभूतार्थता निश्चनय की अपेक्षा है । स्वरूप और स्वप्रयोजन की अपेक्षा नही । उसे सर्वथा अभूतार्थ मानने मे वडी आपत्ति दिखती है । श्रीअमृतचन्द्र सूरि ने समयसार की ४६वी गाथा की टीका मे लिखा है . -

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितु' न्याय्य एव । तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्द-नेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद्भवत्येव मोक्षस्यभाव ' ।

यही भाव तात्पर्यवृत्ति मे जयसेनाचार्य ने भी दिखलाया है —

'यद्यप्यय व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दन कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येक दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागनयेन रागद्वेषमोहरहित. पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठान कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम् । तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचित भवतीत्यभिप्राय' ।'

इन अवतरणो का भाव यह है—

यद्यपि व्यवहारनय भूतार्थ है तो जिस प्रकार म्लेच्छो को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का अंगीकार करना उचित है—उसी प्रकार व्यवहारी जीवो को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ को प्रवृत्ति के निमित्त, अपरमार्थ होने पर भी व्यवहार नय का दिखलाना न्यायसंगत है अन्यथा नय के बिना परमार्थ नय से जीव शरीर से सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशा मे जिस प्रकार भस्म का उपमर्दन करने से हिंसा नही होती उसी प्रकार स्थावर जीवो का नि शङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नही होगी और हिंसा के न होने से बंध का अभाव हो जायगा, बध के अभाव से ससार का अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त 'रागी द्वेषी और मोही बध को प्राप्त होता है। अत उसे ऐसा उपदेश देना चाहिए कि जिससे वह राग द्वेष मोह से छूट जावें, यह जो आचायो ने मोक्ष का उपाय बतलाया है वह व्यर्थ हो जायेगा क्योकि परमार्थ से जीव, राग द्वेष मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष का उपाय करना असगत होगा, इस तरह मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

नय श्रुत ज्ञान के विकल्प है और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरे का अज्ञान दूर हो वह परार्थ श्रुत है। नयो का प्रयोग पात्रभेद की अपेक्षा रखता है। एक ही नय से सभी पात्रो का कल्याण नही हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वय भी समयसार की १२वी गाथा मे इसका विभाग किया है कि शुद्ध नय किसके लिये और अशुद्ध नय किसके लिये आवश्यक है। शुद्ध नय से तात्पर्य निश्चय नय का और अशुद्ध नय से तात्पर्य व्यवहार नय का लिया गया है।

गाथा इस प्रकार है—

> सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
> ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे टिठ्दा भावे ॥१२॥

अर्थात्, जो परमभाव को देखने वाले है उनके द्वारा तो शुद्ध नय का कथन करने वाला शुद्ध नय जानने के योग्य है जो और अपरमभाव मे स्थित हैं वे व्यवहार नय के द्वारा उपदेश देने के योग्य हैं।

नयो के विसवाद से मुक्त होने के लिये कहा गया है—

> जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
> एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥

अर्थात्, यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनो नयो को मत छोड़ो। क्योकि यदि व्यवहार को छोड़ोगे तो तीर्थ की प्रवृत्ति का लोप हो जावेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही नही हो सकेगा, फलतः धर्म तीर्थ का लोप हो जावेगा और यदि निश्चय को छोडोगे तो तत्त्व के स्वरूप का लोप हो जावेगा क्योकि तत्त्व को कहने वाला तो वही है।

यही भाव श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कलश काव्य मे दरशाया है—

> उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहाः।
> सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमोक्षन्त एव ॥१४॥

अर्थात् जो जीव स्वय मोह का वमन कर निश्चय और व्यवहार नय के विरोध को ध्वस्तकरने वाले एव स्यात्पद से चिह्नित जिनवचन मे रमण करते है वे शीघ्र ही उस समयसार का अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योति स्वरूप है, नवीन नही है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से नित्य है और अनय पक्ष-एकान्त पक्ष से जिसका खण्डन नही हो सकता।

इस सदर्भ का सार यह है—

चूकि वस्तु सामान्य विशेपात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अत· उसके दोनो अशो की ओर दृष्टि रहनेपर ही वस्तु का पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। अध्यात्मिक ग्रथो मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के स्थान पर निश्चय और व्यवहार नय का उल्लेख किया गया है। द्रव्य के त्रैकालिक स्वाभाव को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है और विभाव को ग्रहण करने वाला व्यावहार नय है। एक काल मे दोनो नयो से पदार्थ को जाना जा सकता है पर उसका कथन नही किया जा सकता। कथन क्रमसे ही किया जा सकता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अश को कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। 'स्यात्' निपात् का अर्थ कथचित् — किसी प्रकार होता है। वक्ता किसी विवक्षा से जव पदार्थ के एक अंश का वर्णन करता है तव वह दूसरे अश को गौण तो कर देता है पर सर्वथा छोडता नही है क्योकि सर्वथा छोड देने पर एकान्तवाद का प्रसङ्ग आता है और उससे वस्तुतत्त्व का पूर्ण विवेचन नही हो पाता। इसी अभिप्राय से आचार्य ने कहा है कि जो दोनो नयो के विरोध को नष्ट करने वाले स्यात्पद चिह्नित जिनवचन मे रमण करते है वे ही समयसार रूप परम ज्योति को प्राप्त करते है।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतत्त्वका परिज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनो नयो का आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धामे वह अशुद्ध नयके आलम्बनको हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तु स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होनेपर अशुद्धनयका आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने उभयनयोके आलम्बन से वस्तुरूप का प्रतिपादन किया है यह निर्विवाद रूपसे सर्वग्राह्य है।

सम्यग्दर्शन

मोक्षमार्ग

यद्यपि जीव टङ्कोत्कीर्णज्ञायक स्वभाव वाला है तथापि अनादिकाल से कर्मसंयुक्त दशा मे रागी-द्वेषी होता हुआ स्वभाव से च्युत हो रहा है तथा स्वभाव से च्युत होने के कारण ही चतुर्गतिरूप ससार में भ्रमण कर रहा है। इस जीव का अनन्तकाल ऐसी पर्याय मे व्यतीत हुआ है जहा इसे एक श्वास के भीतर अठारह बार जन्म मरण करना पडा है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर इसे छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस क्षुद्रभव धारण करना पडे है। इन क्षुद्रभवो के भीतर एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रियो तक की पर्याय इसने धारण की है। जिस प्रकार आतिशबाजी की चकरी के घूमने मे कारण, उसके भीतर भरी हुई बारूद हैं उसी प्रकार जीव के चतुर्गति में घूमने का कारण, उसके भीतर विद्यमान रागादिक विकारी भाव है। ससार दु खमय है, इस दु ख से छुटकारा तब तक नही हो सकता जब तक की मोक्ष की प्राप्ति नही हो जाती। जीव और कर्मरूप पुद्गल का पृथक्-पृथक् हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष प्राप्ति के उपायो का वर्णन करते हुए आचार्यों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता का वर्णन किया है। जब तक ये तीनो एक-साथ प्रकट नहीं हो जाते तब तक मोक्ष की प्राप्ति सभव नही है। सम्यग्दर्शनादिक आत्मा के स्वभाव होने से धर्म कहलाते है और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म कहलाते हैं। अधर्म से संसार और धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। अत· मोक्ष के अभिलाषी जीवो को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्म का आश्रय लेना चाहिये। यहा सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

अनुयोगो के अनुसार सम्यग्दर्शन के विविध लक्षण—

जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार का है। इन अनुयोगो मे विभिन्न दृष्टिकोणो से सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा की गई है। प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्राय· इस प्रकार बताया गया है कि[1] परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढताओ और आठ मदो से रहित तथा आठ अङ्गो से सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी व्यक्ति देव कहलाता है। जैनागम मे अरहन्त और सिद्धपरमेष्टी की देवसज्ञा है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से अवतीर्ण तथा गणधरादिक आचार्यो के द्वारा गुम्फित आगम शास्त्र कहलाता है और विषयो की आशा से रहित निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह एव ज्ञान ध्यान और तप मे लीन साधु गुरु कहलाते है। हमारा प्रयोजन मोक्ष है, उसकी प्राप्ति

---

१. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यगदर्शनमस्मयम्॥ र० श्रा०
अत्तागमतच्चाणं सद्दहण सुणिम्मलं होइ।
सकाइदोसरहियं त सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६॥ वसुनन्दि०

इन्ही देव, शास्त्र, गुरु के आश्रय से हो सकती है। अत. इसकी दृढ प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओ की प्रतीति नही करना चाहिये।

द्रव्यानुयोग मे प्रमुखता से द्रव्य, गुण, पर्याय अथवा जीव, अजीव, आस्रव बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो एव पुण्य पाप सहित नौ पदार्थों की चर्चा आती है अत द्रव्यानुयोग मे सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान को[1] बताया गया है। तत्त्वरूप अर्थ अथवा तत्त्व—अपने-अपने वास्तविक स्वरूप से सहित जीव, अजीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा परमार्थ[2] रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन है। यहा विषय और विषयी मे अभेद मानकर जीवादि पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है अर्थात् इन नौ पदार्थों को परमार्थ रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी द्रव्यानु योग मे स्वपर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है, क्योकि आस्रवादिक तत्त्व स्व—जीव और पर—कर्मरूप अजीव के सयोग से होने वाले पर्यायात्मक तत्त्व हैं अत स्वपर मे ही गर्भित हो जाते है। अथवा इसी द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत अध्यात्मग्रन्थो मे परद्रव्यो से भिन्न[3] आत्म द्रव्य की प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, क्योकि प्रयोजनभूत तत्त्व तो स्वकीय आत्मद्रव्य ही है। स्व का निश्चय होने से पर स्वत छूट जाता है।

मूल मे तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। चेतनालक्षण वाला जीव है और उससे भिन्न अजीव है। अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पाच प्रकार का है परन्तु यहा उन सबसे प्रयोजन नही हैं। यहा तो जीव के साथ सयोग को प्राप्त हुए नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मरूप अजीव से प्रयोजन है। चैतन्य स्वभाव वाले जीव के साथ अनादिकाल से नोकर्म—शरीर, द्रव्यकर्म—ज्ञानावरणादिक और भावकर्म—रागादिक लग रहे है। ये किस कारण से लग रहे है, जब इसका विचार आता है तब आस्रवतत्त्व उपस्थित होता है। आस्रव के बाद जीव और अजीव की क्या दशा होती है, यह बताने के लिये बन्धतत्त्व आता है। आस्रव का विरोधी भावसवर है, बन्ध का विरोधी भावनिर्जरा है तथा जब सब नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से सदा के लिये सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं तब मोक्षतत्त्व होता है। पुण्य और पाप आस्रव के अन्तर्गत है। इस तरह आत्मकल्याण के लिये उपर्युक्त सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ प्रयोजनभूत हैं। इनका वास्तविक रूप से निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा न हो कि आस्रव और बन्ध के कारणो को सवर और निर्जरा का कारण समझ लिया जाय अथवा जीव की रागादिकपूर्ण अवस्था को जीवतत्त्व समझ लिया जाय या जीव की वैभाविक परिणति (रागादिक) को सर्वथा अजीव समझ लिया जाय, क्योकि ऐसा समझने से वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नही हो पाता और सही निर्णय के अभाव मे यह आत्मा मोक्ष को प्राप्त नही हो पाता। जिन भावो को यह जीव मोक्ष का कारण मानकर करता है वे भाव पुण्यास्रव के कारण होकर इस जीव को देवादि गतियो मे सागरो पर्यन्त के लिये रोक लेते हैं। सात तत्त्वो मे जीव और अजीव का सयोग है वह ससार है तथा आस्रव व बन्ध उसके कारण हैं। जीव और अजीव का जो वियोग—पृथग्भाव है वह मोक्ष है तथा सवर और निर्जरा उसके कारण है। जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग, इसके कारण, रोग मुक्ति और उसके कारण चारो का जानना आवश्यक है उसी प्रकार इस जीव को ससार, इसके कारण, उससे मुक्ति और उसके कारण—चारो का जानना आवश्यक है।

---

१. 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। त० सू०

२. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवाय पुण्ण पावं च।
आसवसवरणिज्जरबधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१३॥ स०सा०

३. 'दर्शनमात्मविनिश्चिल.'—पुरुषार्थ०

करणानुयोग में, मिथ्यात्व सम्यक्‌मिथ्यात्व, सम्यकत्वप्रकृति और अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाली श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्द-र्शन कहा है। करणानुयोग के इस सम्यग्दर्शन के होने पर चरणानुयोग, प्रथमानुयोग और द्रव्यानुयोग मे प्रतिपादित सम्यग्दर्शन नियम से हो जाता है। परन्तु शेष अनुयोगो के सम्यग्दर्शन होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है। मिथ्यात्वप्रकृति के आवान्तर भेद असख्यात लोक प्रमाण होते है। एक मिथ्यात्व-प्रकृति के उदय मे नौवें ग्रैवेयक की आयु का बन्ध होता है, और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय मे इस जीव के मुनि हत्या का भाव होता है और एक मिथ्यात्वप्रकृति के उदय मे स्वय मुनिव्रत धारण कर अट्ठाईस मूलगुणो का निर्दोष पालन करता है। एक मिथ्यात्व के उदय मे कृष्ण लेश्या होती है और एक मिथ्यात्व के उदय मे शुक्ल लेश्या होती है। जिस समय मिथ्यात्व प्रकृति का मन्द, मन्दतर उदय चलता है उस समय इस जीव के करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अनुसार सम्यग्दर्शन हो गया है, ऐसा जान पडता है परन्तु करणानुयोग के अनुसार वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। एक भी प्रकृति का उसके सवर नही होता है। बन्ध और मोक्ष के प्रकरण मे करणानु-योग का सम्यग्दर्शन की महिमा सर्वोपरि है तथापि उसे पुरुषार्थपूर्वक—बुद्धिपूर्वक प्राप्त नही किया जा सकता। इस जीव का पुरुषार्थ चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग मे प्रतिपादित सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये ही अग्रसर होता है। अर्थात यह बुद्धिपूर्वक परमार्थ देवशास्त्र गुरु की शरण लेता है, उनकी श्रद्धा करता है और आगम का अभ्यास कर तत्त्वो का निर्णय करता है। इन सबके होते हुए अनुकूलता होने पर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्द-र्शन स्वत. प्राप्त हो जाता है और उसके प्राप्त होते ही यह सवर और निर्जरा को प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन के विविध लक्षणों का समन्वय—

उपर्युक्त विवेचन से सम्यग्दर्शन के निम्नलिखित पाच लक्षण सामने आते है —

(१) परमार्थ देवशास्त्र गुरु की प्रतीति।
(२) तत्वार्थश्रद्धान।
(३) स्वपर का श्रद्धान।
(४) आत्मा का श्रद्धान।
(५) सप्त प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से प्राप्त श्रद्धागुण की निर्मल परिणति।

इन लक्षणो मे पाँचवा लक्षण साध्य है और शेष चार उसके साधन है। जहा इन्हे सम्यग्दर्शन कहा जाता है वहा कारण मे कार्य का उपचार समझना चाहिये। जैसे अरहत देव, तत्प्रणीत शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु की श्रद्धा होने से व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की श्रद्धा दूर होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इस अपेक्षा से ही इसे सम्यग्दर्शन कहा है, सर्वथा सम्यग्दर्शन का वह लक्षण नही है क्योकि द्रव्यलिंगी मुनि आदि व्यवहार धर्म के धारक मिथ्यादृष्टि जीवो के भी अरहत आदि का श्रद्धान होता है। अथवा जिस प्रकार अणुव्रत, महाव्रत धारण करने पर देशचारित्र, सकल चारित्र होता भी है और नही भी होता हैं। परन्तु अणुव्रत, महाव्रत धारण किए विना देशचारित्र, सकलचारित्र कदाचित् नही होता है, इसलिए अणुव्रत, महाव्रत को अन्वयरूप कारण जानकर कारण मे कार्य का उपचार कर इन्हे देशचारित्र, सकलचारित्र कहा है। इसी प्रकार अरहत देवादिक का श्रद्धान होने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है परन्तु अरहतादिक की श्रद्धा के विना सम्यग्दर्शन कदापि नही होता। इसलिए अन्वय-व्याप्ति के अनुसार कारण मे कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

यही पद्धति तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण मे भी संघटित करना चाहिये, क्योंकि द्रव्यलिंगी अपने क्षयोपशम के अनुसार तत्त्वार्थ का ज्ञान प्राप्त कर उस की श्रद्धा करता है, बुद्धिपूर्वक अश्रद्धा की किसी वात को आश्रय नही देता, तत्त्वार्थ का ऐसा विशद व्याख्यान करता है कि उसे सुनकर अन्य मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाते है, परन्तु परमार्थ से वह स्वय मिथ्यादृष्टि ही रहता है। उसकी श्रद्धा मे कहा चूक रहती है, यह प्रत्यक्षज्ञानी जानते हैं। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि करणानुयोगप्रतिपादित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तत्त्वार्थ-श्रद्धानपूर्वक होगी। अत कारण मे कार्य का उपचार कर इसे सम्यग्दर्शन कहा है।

स्थूलरूप से "शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है" ऐसा स्वपर का भेदविज्ञान द्रव्यलिंगी मुनि को भी होता है द्रव्यलिंगी मुनि, घानी मे पेल दिये जाने पर भी सक्लेश नही करता और शुक्ललेश्या के प्रभाव से नौवें ग्रैवेयक तक मे उत्पन्न होने की योग्यता रखता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि रहता है। उसके स्वपरभेदविज्ञान मे जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे जनसाधारण नही जान सकता। वह चूक प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय है। इस स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन इससे भिन्न है परन्तु उसकी प्राप्ति मे स्वपर का भेदविज्ञान कारण पडता है। अत' कारण मे कार्य का उपचार कर उसे सम्यग्दर्शन कहा है।

कषाय की मन्दता से उपयोग की चञ्चलता दूर होने लगती है, उस स्थिति मे द्रव्यलिंगी मुनि का उपयोग भी परपदार्थ से हट कर स्व मे स्थिर होने लगता है, स्वद्रव्य-आत्मद्रव्य की वह वड़ी सूक्ष्म चर्चा करता है। आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव का ऐसा भाव-विभोर होकर वर्णन करता है कि अन्य मिथ्यादृष्टि जीवो को भी आत्मानुभव होने लगता है परन्तु वह स्वय मिथ्यादृष्टि रहता हैं। इस स्थिति मे इस आत्मश्रद्धान को करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन का साधन मानकर सम्यग्दर्शन कहा गया है।

इन सब लक्षणो मे जो सूक्ष्म चूक रहती है उसे छद्मस्थ जान नही सकता, इसलिए व्यवहार से इन सबको सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इनके होते हुये सम्यक्त्व का घात करने वाली सात प्रकृतियो का उपशमादिक होकर करणानुयोग प्रतिपादित सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। देव-शास्त्र-गुरु की प्रतीति, तत्त्वार्थश्रद्धान, स्वपर श्रद्धान और आत्मश्रद्धान ये चारो लक्षण एक दूसरे के वाधक नही हैं क्योकि एक के होने पर दूसरे लक्षण स्वय प्रकट हो जाते हैं। पात्र की योग्यता देखकर आचार्यों ने विभिन्न शैलियो से वर्णन मात्र किया है। जैसे आचरण प्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा देव-शास्त्र गुरु की प्रतीति को, ज्ञानप्रधान शैली को मुख्यता देने की अपेक्षा तत्त्वार्थश्रद्धान को और कषाय जनित विकल्पो की मन्द मन्दतर अवस्था को मुख्यता देने की अपेक्षा स्वपरश्रद्धान तथा आत्मश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। अपनी योग्यता के अनुसार चारो शैलियो को अपनाया जा सकता है। इन चारो शैलियो मे भी यदि मुख्यता और अमुख्यता की अपेक्षा चर्चा की जावे तो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप ज्ञानप्रधान शैली मुख्य जान पडती है क्योकि उसके होने पर ही शेष तीन शैलियो को बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन किसे प्राप्त होता है ?

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि और दूसरे सादि मिथ्यादृष्टि। जिसे आज तक कभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ है वह अनादि मिथ्यादृष्टि है और जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट गया है वह सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मोहनीय कर्म की छब्बीस प्रकृतियो की सत्ता रहती है क्योकि दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीन प्रकृतियो मे से एक मिथ्यात्व प्रकृति का

ही बंध होता है, शेष दो का नही। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से यह जीव मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से तीन खण्ड करता है, इस तरह सादि मिथ्यादृष्टि जीव के ही सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टि जीवो मे मोहनीय कर्म की सत्ता के तीन विकल्प बनते हैं—एक अट्ठाईस प्रकृतियो की सत्तावाला, दूसरा सत्ताईस प्रकृतियो वाला और तीसरा छब्बीस प्रकृतियो की सत्तावाला। जिस जीव के दर्शनमोह की तीनो प्रकृतियाँ विद्यमान हैं वह अट्ठाईस प्रकृतियो की सत्तावाला है। जिस जीव ने सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वलना करली है वह सत्ताईस प्रकृतियो की सत्ता वाला है और जिसने सम्यक्‌मिथ्यात्वप्रकृति की भी उद्वेलना कर ली है वह छब्बीस प्रकृतियो की सत्तावाला है।

सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इस प्रकार तीन भेद हैं। यहाँ सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अपेक्षा विचार करते है, क्योकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त होता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम के भेद से दो प्रकार का है। यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की चर्चा है। द्वितीयोपशम की चर्चा आगे की जायगी।

इतना निश्चित है कि सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त भव्य जीव को ही होता है अन्य को नही। भव्यो मे भी उसी को होता है जिसका ससारभ्रमण का काल अर्धपुद्‌गल परावर्तन के काल से अधिक बाकी नही है। लेश्याओ के विषय मे यह नियम है कि मनुष्य और तिर्यञ्चो के तीन शुभ लेश्याओ मे से कोई लेश्या हो और देव तथा नारकियो के जहाँ जो लेश्या बतलाई हैं उसी मे औपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये गोत्र का प्रतिबन्ध नही है अर्थात् जहाँ उच्च नीच गोत्रो मे से जो भी सम्भव हों उसी गोत्र मे सम्यग्दर्शन हो सकता है। कर्मस्थिति के विषय मे चर्चा यह है कि जिसके बध्यमान कर्मो की स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण हो तथा सत्ता मे स्थित कर्मों की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अन्त कोडाकोड़ी सागर प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इससे अधिक स्थितिबन्ध पडने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार जिसके अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानगत और प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग चतु स्थानगत होता है वही औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यहाँ इतनी विशेषता और भी ध्यान मे रखना चाहिये कि जिस सादि मिथ्यादृष्टि के आहारकशरीर और आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग की सत्ता होती है उसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन नही होता। अनादि मिथ्यादृष्टि के इनकी सत्ता होती ही नही है। इसी प्रकार प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव दूसरी बार प्रथमोपशम सम्यक्त्व को तब तक प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह वेदक काल मे रहता है। वेदक काल के भीतर यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आता है तो वह वेदकक्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त करता है। वेदक काल के विषय मे यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जो मिथ्या दृष्टि जीव, एकेन्द्रिय पर्याय मे भ्रमण करता है वह सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय होकर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके सम्यक्त्व तथा सम्यड्‌मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियो की स्थिति एक सागर से कम रह जावे। यदि इससे अधिक स्थिति शेष है तो नियम से उसे वेदक–क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन ही हो सकता है। यदि सम्यग्दर्शन से च्युत हुआ जीव विकलत्रय मे परिभ्रमण करता है तो उसके सम्यक्त्व और सम्यडमिथ्यात्वप्रकृति की स्थिति पृथक्त्वसागर प्रमाण शेष रहने तक उसका वेदककाल कहलाता है। इस काल मे यदि उसे सम्यग्दर्शन प्राप्ति करने का अवसर आता है तो नियम से वेदक क्षायोपशामिक सम्यग्दर्शन को ही प्राप्त होता है। हा सम्यक्त्वप्रकृति की अथवा सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यड्‌मिथ्यात्व प्रकृति—दोनो की उद्वेलना हो गई है तो ऐसा जीव पुन सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अवसर आने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता

है। तात्पर्य यह है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है और सादि-मिथ्यादृष्टियो मे २६ या २७ प्रकृतियो की सत्तावाले जीव के दूसरी बार भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है। किन्तु २८ प्रकृति की सत्तावाले जीव के वेदक काल के भीतर दूसरी बार सम्यग्दर्शन हो तो वेदक—क्षायोपशमिक ही होता है। हा, वेदक काल के निकल जाने पर प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता रखने वाला सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, विशुद्धियुक्त, जागृत, साकार उपयोगयुक्त, चारो गति वाला भव्यजीव जब सम्यग्दर्शन धारण करने के सम्मुख होता है तब क्षायोशमिक, विशुद्धि देशना, प्रायोग्य और करण इन पाच लब्धियो को प्राप्त होता है।[1] इनमे करण लब्धि को छोडकर शेष चार लब्धिया सामान्य हैं अर्थात् भव्य और अभव्य दोनो को प्राप्त होती हैं परन्तु करण लब्धि भव्य जीव को ही प्राप्त होती है। उसके प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन नियम से प्रकट होता है। उपर्युक्त लब्धियो का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) क्षायोपशमिक लब्धि—पूर्व संचित कर्मपटल के अनुभागस्पर्धको का विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणित हीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होना क्षायोपशमिक लब्धि है। इस लब्धि के द्वारा जीव के परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं।

(२) विशुद्धि लब्धि—साता वेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियो के बन्ध मे करणभूत परिणामो की प्राप्ति को विशुद्धि लब्धि कहते है।

(३) देशना लब्धि—छहो द्रव्य और नो पदार्थों के उपदेश को देशना कहते हैं। उक्त देशना के दाता आचार्य आदि की लब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशना लब्धि कहते हैं।

(४) प्रायोग्य लब्धि—आयुकर्म को छोडकर शेष कर्मो की स्थिति को अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण कर देना और अशुभकर्मो मे से घातिया कर्मो के अनुभाग को लता और दारु इन दो स्थानगत तथा अघातिया कर्मो के अनुभाग को नीम और काजी इन दो स्थान गत कर देना प्रायोग्य लब्धि है।

(५) करण लब्धि—करण भावो को कहते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने वाले कारणो भावो की प्राप्ति को लब्धि कहते है। इसके तीन भेद है—अथाप्रवृत्तकरण अथवा अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। जो करण—परिणाम इसके पूर्व प्राप्त न हुए हो उन्हे अथाप्रवृत्तकरण कहते है। इसका दूसरा सार्थक नाम अध करण है। जिसमे आगामी समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम पिछले समयवर्ती जीवो के परिणामो से

---

(१) चदुगदिभव्वों सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो व सागारो।
जागारो सल्लेस्सो सलद्धिगो सम्ममुपगमई ॥ ६५१ ॥ जी. का
खउउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धीय।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ ६५० ॥ जी. का.

मिलते जुलते हो उसे अध प्रवृत्तकरण कहते है । इसमे समसमयवर्ती तथा विषम समयवर्ती जीवों के परिणाम समान और असमान—दोनो प्रकार के होते है । जैसे पहले समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम एक से लेकर दस नम्बर तक के है और दूसरे समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम छह से लेकर पन्द्रह नम्बर तक के है । पहले समय मे रहने वाले जीव के छह से लेकर दस नम्बर तक के परिणाम विभिन्न समयवर्ती होने पर भी परस्पर मिलते-जुलते है । इसी प्रकार प्रथम समयवर्ती अनेक जीवी के एक से लेकर दस तक के परिणामो से समान परिणाम हो सकते है। अर्थात् किन्ही दो जीवों के चौथे नम्बर का परिणाम है और किन्ही दो जीवो के पाच नम्बर का परिणाम है । यह परिणामो की समानता और असमानता नाना जीवो की अपेक्षा घटित होती है । इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त है और उसमे उत्तरोत्तर समान वृद्धि को लिए हुए असख्यात लोक प्रमाणकरण होते है ।

जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व—करण, अपूर्व—नये-नये परिणाम होते है उसे अपूर्वकरण कहते है । जैसे पहले समय मे रहने वाले जीवी के यदि एक से लेकर दस तक नम्बर तक के परिणाम है तो दूसरे समय मे रहने वाले जीव के ग्यारह से बीस नम्बर तक के परिणाम होते हैं । अपूर्वकरण मे समसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान और असमान दोनो प्रकार के होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणाम असमान ही होते है । जैसे, पहले समय मे रहने वाले और दूसरे समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम कभी समान नही होते परन्तु पहले अथवा दूसरे समय मे रहने वाले जीवो के परिणाम समान भी हो मकते है और असमान भी । यह चर्चा भी नाना जीवो की अपेक्षा है । इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । परन्तु यह अन्तर्मुहूर्त अध प्रवृत्तकरण के अन्तर्मूहूर्त से छोटा है । इस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुए असख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते है ।

जहाँ एक समय मे एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते है । इस करण मे समसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान ही होते है और विषमसमयवर्ती जीवो के परिणाम असमान ही होते हैं । इसका कारण है कि यहाँ एक समय मे एक ही परिणाम होता है इसलिए उस समय मे जितने जीव होगे उन सबके परिणाम समान ही होगे और भिन्न समयो मे जो जीव होगे उनके परिणाम भिन्न ही होगे । इमका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है । परन्तु अपूर्वकरण की अपेक्षा छोटा अन्तर्मुहूर्त है । इसके प्रत्येक समय मे एक ही परिणाम होता है । इन तीन करणो मे परिणामो की विशुद्धता उत्तरोत्तर वढती रहती है ।

उपर्युक्त तीन करणो मे से पहले अथाप्रवृत्त अथवा अध.करण मे चार आवश्यक होते है-(१) समय-समय मे अनन्तगुणी विशुद्धता होती है । (2) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे नवीन बन्ध की स्थिति घटती जाती है । (३) प्रत्येक समय प्रशस्त प्रकृतियो का अनुभाग अनन्तगुण बढता जाता है और(४)प्रत्येक समय अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तवा भाग घटता जाता है । इसके बाद अपूर्वकरण परिणाम होता है । उस अपूर्वकरण मे निम्नलिखित आवश्यक और होते है । (१) सत्ता मे स्थित पूर्व कर्मो की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे उत्तरोत्तर घटती जाती अतः है स्थितिकाण्डक घात होता है । (२) प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त मे उत्तरोत्तर पूर्व कर्म का अनुभाग घटता जाता है इसलिये अनुभागकाण्डक घात होता है और (३) गुणश्रेणी के काल मे क्रम से असख्यातगुणित कर्म, निर्जरा के योग्य होते हैं इसलिये गुणश्रेणी निर्जरा होती है । इस अपूर्वकरण मे गुणसक्रमण नाम का आवश्यक नही होता । किन्तु चारित्र-मोह का उपशम करने के लिए जो अपूर्वकरण होता है उसमे होता है । अपूर्वकरण के वाद अनिवृतिकरण होता है उसका काल अपूर्वकरण के काल के संख्यातवे भाग होता है । इसमे पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही

काल व्यतीत होने पर[1] अन्तरकरण होता है अर्थात् अनिवृत्तिकरण के काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्व के निषेको का अन्तर्मुहूर्त के लिए अभाव होता है। अन्तरकरण के पीछे उपशमकरण होता है अर्थात् अन्तरकरण के द्वारा अभावरूप किये हुए निषेको के ऊपर जो मिथ्यात्व के निषेक उदय मे आने वाले थे उन्हे उदय के अयोग्य किया जाता है। साथ ही अनन्तानुवन्धी चतुष्क को भी उदय के अयोग्य किया जाता है। इस तरह उदययोग्य प्रकृतियो का अभाव होने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम समय मे मिथ्यात्वप्रकृति के तीन खण्ड करता है। परन्तु राजवार्तिक मे, अनिवृत्तिकरण के चरम समय मे तीन खण्ड करता है, ऐसा सूचित किया है।[2] तदनन्तर चरम समय मे मिथ्यादर्शन के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियो तथा अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियो इस प्रकार सात प्रकृतियो के उदय का अभाव होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। यही भाव षट्—खण्डागम (धवला पुस्तक ६) के निम्नलिखित सूत्रो मे भी प्रकट किया गया है—

'ओहट्टेदूण मिच्छत्त तिण्णि भागं करेदि सम्मतं मिच्छत्त समामिच्छत्तं ॥७॥

अर्थ—अन्तरकरण करके मिथ्यात्व कर्म के तीन भाग करता है - सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

दसणमोहणीय कम्मं उवसामेदि ॥८॥

अर्थ—मिथ्यात्व के तीन भाग करने के पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन—

औपशमिक सम्यग्दर्शन के प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम इस प्रकार दो भेद है। इनमे से प्रथमोपशम किसके और कब होता है इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। द्वितीयोपशम की चर्चा इस प्रकार है प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अस्तित्व चतुर्थ गुण स्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कोई जीव जब सातवें गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त भेद मे उपशमश्रेणी माढने के सम्मुख होता है तब उसके द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। इस सम्यग्दर्शन मे अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजना और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो का उपशम

---

१. **किमन्तरकरणं नाम ? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताण ट्ठिदीण परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमन्तरणमिदि भण्णदे। जयधवल अ० प्र० ९५३।**

अर्थ—अन्तरकरण का क्या स्वरूप है ? उत्तर—विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियो को छोड-कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितियो के निषेको का परिणामविशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तरकरण कहते है।

२. **ततश्चरमसमये मिथ्यादर्शनं त्रिधा विभक्त करोति—सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व चेति। एतासा तिसृणा प्रकृतीनाम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाना चोदयाभावेऽन्तर्मुहूर्तकालं प्रथमसम्यक्त्वं भवति। त० वा० अ० ९, पृष्ठ ५८९।**

होता है। इस सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला जीव उपशमश्रेणी माढकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहा से पतन कर नीचे आता है। पतन की अपेक्षा चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ गुणस्थान मे भी इसका सद्‌भाव रहता है।

क्षायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियो के वर्तमानकाल मे उदय आनेवाले निषेको का उदयाभावी क्षय तथा आगामीकाल मे उदय आने वाले निषेको का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाती प्रकृति का उदय रहने पर जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है। इस सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम को प्रधानता देकर जब इसका वर्णन होता है तब इसे क्षायोपशमिक कहते है और जब सम्यक्त्व प्रकृति के उदय की अपेक्षा वर्णन होता है तब इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। वैसे ये दोनो हैं पर्यायवाची।

इसकी उत्पत्ति सादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनो के हो सकती है। सादि मिथ्यादृष्टियो मे जो वेदकाल के भीतर रहता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन ही होता है। सम्यग्दृष्टियो मे जो प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि है उसे भी वेदक सम्यकदर्शन ही होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि जीव को, चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे इसकी प्राप्ति हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन चारो गतियो मे उत्पन्न हो सकता है।

क्षायिक सम्य दर्शन—

मिथ्यात्व, सम्यङ्‌मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है।[1] दर्शनमोहनीय की क्षपणा का आरम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है और वह भी केवली या श्रुतकेवली के पादमूल मे।[2] परन्तु इसका निष्ठापन चारो गीतियो मे हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन वेदकसम्यक्त्वपूर्वक ही होता है तथा चौथे से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान मे हो सकता है। यह सम्यग्दर्शन सादि अनन्त है। होकर कभी छूटता नही है जब कि औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन असख्यात बार होकर छूट सकते है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि या तो उसी भव से मोक्ष चला जाता है या तीसरे भव मे, चौथे भव से अधिक ससार मे नही रहता।[3] जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि वद्धायुष्क होने से नरक मे जाता है अथवा देवगति मे उत्पन्न होता है वह वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाता है।

---

१. दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४॥

२ स्वयं श्रुतकेवली हो जाने पर फिर केवलो या श्रुतकेवली के सन्निधान को आवश्यकता नहीं रहती।

३. दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदिय-तुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभव ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥ क्षे० जी० का० स० भा०

परन्तु जो भोग भूमि मे जाता है वह वहाँ से देवगति मे जाता है और वहाँ से आकर मोक्ष हो जाता है इस प्रकार चौथे भव मे उसका मोक्ष जाना बनता है।[1] चारो गति सम्बन्धी आयु का वन्ध होने पर सम्यक्त्व हो सकता है, इसलिये वद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि का चारो गतियो मे जाना सम्भव है। परन्तु यह नियम है कि सम्यक्त्व के काल मे यदि मनुष्य और तिर्यञ्च के आयुवन्ध होता है तो नियम से देवायुका ही वन्ध होता है और नारकी तथा देव के नियम से मनुष्यायु का ही बध होता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के बहिरङ्ग कारण—

कारण दो प्रकार का होता है एक उपादानकारण और दूसरा निमित्तकारण। जो स्वय कार्यरूप परिणत होता है वह *उपादानकारण* कहलाता है। और जो *कार्य की सिद्धि मैं सहायक* होता है वह *निमित्तकारण* कहलाता है। अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग के भेद से निमित्त के दो भेद है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का उपादानकारण[2] आसन्न-भव्यता आदि विशेषताओ से युक्त आत्मा है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण सम्यक्त्व की प्रतिवन्धक सात प्रकृतियो का उपशम, अथवा क्षयोपशम है और बहिरङ्ग निमित्तकारण सद्गुरु आदि है। अन्तरङ्ग निमित्तकारण के मिलने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के मिलने पर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी होता है। सम्यग्दर्शन के बहिरङ्ग निमित्त चारो गतियो मे विभिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे नरकगति मे तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और तीव्रवेदनानुभव ये तीन, चौथे से सातवे तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्च और मनुष्यगति मे, जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनविम्बदर्शन ये तीन, देवगति मे बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनकल्याणकदर्शन और देवद्धिदर्शन ये चार, तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक देवद्धिदर्शन को छोडकर तीन और उसके आगे नौवें ग्रैवेयक तक जातिस्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो बहिरङ्ग निमित्त है। ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते है, इसलिये वहा बहिरङ्गनिमित्त की आवश्यकता नही है। इस सबध मे सर्वार्थसिद्धिका 'निर्देशस्वामित्व' आदिसूत्र तथा धवला पुस्तक ६ पृ० ४२० आदि का प्रकरण द्रष्टव्य है।

सम्यग्दर्शन के भेद —

उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो भेद हैं। जो पूर्व सस्कार की प्रबलता से परोपदेश के बिना हो जाता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन दोनो भेदो मे अन्तरङ्ग कारण—सात प्रकृतियो का उपशमादिक समान होता है, मात्र बाह्यकारण की अपेक्षा दो भेद होते है।

करणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भेद होते है। जो सात प्रकृतियो के उपशम से होता है वह औपशमिक कहलाता है। इसके प्रथमोपशम और द्वितीयोपशम की अपेक्षा दो भेद है। जो सात प्रकृतियो के क्षय से होता है उसे क्षायिक कहते हैं और जो सर्वघाती छह प्रकृतियो के

---

१. चत्तारि वि खेत्ताइं, आयुगबधेहि होई सम्मत्त।
अणुवद-महव्वदाइ ण लहइ देवाउग मोत्तु ॥ ६४२ ॥ जी का.

२. आसन्नभव्यताकर्महानिसज्ञित्वशुद्धिभाक्
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीव सम्यक्त्वमश्नुते ॥ सा. ध ।

उदयाभावी क्षय और सद्‌यवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघाती प्रकृति के उदय से होता है उसे ज्ञायोपशमिक अथवा वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन भी इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का अवान्तर भेद है। दर्शनमोहनीयकी क्षपणा करने वाले जिस क्षायोपशमिक सम्वग्दृष्टि के मात्र सम्यक्त्वप्रकृति का उदय शेष रह गया है, शेष की क्षपणा हो चुकी है उसे कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहते है।

चरणानुयोग की पद्धति से सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते है वहा परमार्थ देव-शास्त्र-गुरु की विपरीताभिनिवेश से रहित श्रद्धा करने को निश्चयसम्यग्दर्शन कहा जाता है और उस सम्यग्दृष्टि की पच्चीस दोषो से रहित जो प्रवृत्ति है उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। शङ्कादिक आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताए ये व्यवहार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहलाते है।[1]

द्रव्यानुयोग की पद्धति से भी सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद होते है। यहा जीवाजीवादि सात तत्त्वो के विकल्प से रहित शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं और सात तत्त्वो के विकल्प से सहित श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते है।[2]

अध्यात्म मे वीतराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्दर्शन के भेद से दो भेद होते हैं। यहा आत्मा की विशुद्धि मात्र को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणो की अभिव्यक्ति को सराग सम्यग्दर्शन कहा है।[3]

आत्मानुशासन मे ज्ञान प्रधान निमित्तादि की अपेक्षा १. आज्ञा सम्यक्त्व, २. मार्गसम्यक्त्व ३ उपदेश सम्यक्त्व, ४ सूत्र सम्यक्त्व, ५ बीज सम्यक्त्व, ६. सक्षेप सम्यक्त्व, ७. विस्तार सम्यक्त्व, ८. अर्थ सम्यक्त्व, ९. अवगाढ सम्यक्त्व और १० परमावगाढ सम्यक्त्व ये दस भेद कहे हैं।

मुझे जिन आज्ञा प्रमाण है, इस प्रकार जिनाज्ञा की प्रधानता से जो सूक्ष्म, अन्तरित एव दूरवर्ती पदार्थो का श्रद्धान होता है उसे **आज्ञा सम्यक्त्व** कहते है। निर्ग्रन्थ मार्ग के अवलोकन से जो सम्यग्दर्शन होता है उसे **मार्ग सम्यक्त्व** कहते है। आगमज्ञ पुरुषो के उपदेश से उत्पन्न सम्यग्दर्शन **उपदेश सम्यक्त्व** कहलाता है। मुनि के आचार का प्रतिपादन करने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **सूत्र सम्यक्त्व** कहते है। गणितज्ञान के कारण बीजो के समूह से जो सम्यक्त्व होता है उसे **बीज सम्यक्त्व** कहते है। पदार्थो के सक्षेप रूप विवेचन को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे **संक्षेप सम्यक्त्व** कहते है। विस्तार रूप जिनवाणी को सुनने से जो श्रद्धान होता है उसे **विस्तार सम्यक्त्व** कहते है। जैन शास्त्र के वचनबिना किसी अर्थ के निमित्त से जो श्रद्धान होती है उसे **अर्थ सम्यक्त्व** कहते हैं। श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धान को **परमावगाढ सम्यक्त्व** कहते है। इन दस भेदो मे प्रारम्भ के आठ भेद कारण की अपेक्षा और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीपना की अपेक्षा किये गए है।

---

१. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविशति.॥

२. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्त।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मतं॥२०॥ दर्शनपाहुड

इस प्रकार शब्दो की अपेक्षा सख्यात, श्रद्धान करने वालो की अपेक्षा असख्यात और श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के अनन्त भेद होते है।

सम्यग्दर्शन का निर्देश आदि की अपेशा वर्णन—

तत्त्वार्थसूत्रकार उमा स्वामी ने पदार्थ के जानने के उपायो का वर्णन करते हुए निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इन छह उपायो का वर्णन किया है।[1] यहा सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ मे इन उपायो का भी विचार करना उचित जान पडता है। वस्तु के स्वरूप निर्देश को निर्देश कहते है। वस्तु के आधिपत्य को स्वामित्व कहते है। वस्तु की उत्पत्ति के निमित्त को साधन कहते है। वस्तु के आधार को अधिकरण कहते है। वस्तु की कालावधि को स्थिति कहते है और वस्तु के प्रकारो को विधान कहते है। ससार के किसी भी पदार्थ के जानने मे इन छह उपायो का आलम्बन लिया जाता है।

यहा सम्यग्दर्शन का निर्देश—स्वरूप क्या है? इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है कि यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान करना, अथवा सप्त तत्त्व, नौ पदार्थ का श्रद्धान करना, आदि सम्यग्दर्शन का निर्देश है। सम्यग्दर्शन का स्वामी कौन है? इस प्रश्न का विचार सामान्य और विशेष रूप से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा सम्यग्दर्शन सज्ञी, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्य जीव के ही होता है अत वही इसका स्वामी है। विशेष की अपेक्षा विचार इस प्रकार है[2]—

गति की अपेक्षा नरकगति मे प्रथम पृथिवी मे अपर्याप्तक अवस्था मे क्षायोपशमिक और क्षायिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु पर्याप्तक अवस्था मे तीनो सम्यग्दर्शन हो सकते हैं। द्वितीयादि पृथिवियो मे अपर्याप्तको के एक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता पर्याप्तको के औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन हो सकते है। तिर्यंच-गति मे औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यंचो के ही होता है और क्षायिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक अपर्याप्तक दोनो के होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यंचो के सम्यग्दर्शन भोगभूमिज तिर्यंचो की अपेक्षा होते है। तिरश्चियो के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनो ही अवस्थाओ मे क्षायिक सम्यग्दर्शन नही होता, क्योकि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य के ही होता है और क्षपणा के पहले तिर्यञ्च आयु का वन्ध करने वाला मनुष्य, भोगभूमि के पुरुषवेदी तिर्यंचो मे उत्पन्न होता है स्त्रीवेदी तिर्यंचो मे नही। नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा पर्याप्तक तिरश्चियो के औपशमिक और क्षायोपभमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। मनुष्य गति मे पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यो के क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं। औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्यो के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्यो के नही, क्योकि प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन मे किसी का मरण होता नही है और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन मे मरा हुआ जीव नियम से देवगति मे ही जाता है। मानुषी स्त्रीवेदी मनुष्यो के पर्याप्तक अवस्था मे तीनो सम्यग्दर्शन होते हैं परन्तु अपर्याप्तक अवस्था मे एक भी नही

---

१ आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रमीजसक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्या भवमवगाढपरमावगाढ च ॥११॥ आत्मानुशासन

१. निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानत'—त० सू० १-७।

२. विशेष की अपेक्षा निम्नलिखित चौदह मार्गणाओ मे होता है—
गइ इद्रिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य।
सजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ जी० का०

होता। मानुषियो के जो क्षायिक सम्यग्दर्शन वतलाया है वह भाववेद की अपेक्षा होता है द्रव्यवेद की अपेक्षा नही। देवगति मे पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनो के तीनो सम्यग्दर्शन होते है। द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवो मे उत्पन्न होते है इस अपेक्षा वहा अपर्याप्तक अवस्था मे भी औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव, उनकी देवाङ्गनाओं तथा सौधर्मैशान की देवागनाओ के अपर्याप्तक अवस्था मे एक भी सम्यग्दर्शन नही होता, किंतु पर्याप्तक अवस्था मे नवीन उत्पत्ति की अपेक्षा औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते है। स्वर्ग मे देवियो का सद्भाव यद्यपि सोलहवें स्वर्ग तक रहता है तथापि उनकी उत्पत्ति दूसरे स्वर्ग तक ही होती है इसलिये आगे की देवियो का समावेश पहले-दूसरे स्वर्ग की देवियो मे ही समझना चाहिये।

इन्द्रियो की अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रियो को तीनो सम्यग्दर्शन होते है। अन्य इन्द्रियवालो के एक भी नही होता। काय की अपेक्षा त्रसकायिक जीवो के तीनो होते है। स्थावरो के एक भी नही होता। योग की अपेक्षा योग सहित जीवो मे तीनो सम्यग्दर्शन हो सकते है परन्तु अयोगियो के मात्र क्षायिक ही होता है। वेद की अपेक्षा तीनो वेदो मे तीनो सम्यग्दर्शन होते है परन्तु अपगत वेद वालो के औपशमिक और क्षायिक ही होते हैं। यहाँ वेद से तात्पर्य भावभेद से है। कषाय की अपेक्षा क्रोधादि चारो कषायो मे तीन होते है परन्तु अकषाय—कषाय रहित जीवो के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते है। विशेषता यह है कि कषाय रहित जीवो मे औपशमिक मात्र ग्यारहवें गुणस्थान मे होता हैं। ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के धारक जीवो के तीनो होते हैं परन्तु केवल ज्ञानियो के एक क्षायिक ही होता हैं। सयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोस्थापना संयम के धारक जीवो के तीनो होते है, परिहारविशुद्धिवालो के औपशमिक नही होता, शेष दो होते है, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातवालो के औपशमिक और क्षायिक ये दो होते हैं और सयतासयत तथा असयतो के तीनो होते हैं। दर्शन की अपेक्षा चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के धारक जीवो के तीनो होते है परन्तु केवलदर्शन के धारक जीवो के एक क्षायिक ही होता हैं। लेश्या की अपेक्षा छहो लेश्या वालो के तीनो होते है परन्तु लेश्यारहित जीवो के एक क्षायिक ही होता है। भव्यजीवो की अपेक्षा भव्यो के तीनो होते है परन्तु अभव्यों के एक भी नही होता। सम्यक्त्व की अपेक्षा जहाँ जो सम्यग्दर्शन होता है वहाँ उसे ही जानना चाहिये। संज्ञा की अपेक्षा सज्ञियो के तीनो होते है असज्ञियो के एक भी नही होता। सज्ञी और असंज्ञी के व्यपदेश से रहित सयोगकेवली और अयोगकेवली के एक क्षायिक ही होता है। आहार की अपेक्षा आहारको के तीनो होते है, छद्मस्थ अनाहारको के भी तीनो होते हैं परन्तु समुद्घात केवली अनाहारको के एक क्षायिक ही होता है।

सम्यग्दर्शन के साधन क्या हैं ? इसका उत्तर सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणो के सदर्भ मे आ चुका है।

सम्यग्दर्शन का अधिकार क्या है ?

अधिकरण के बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा दो भेद है। आभ्यन्तर अधिकरण स्वस्वामी सम्बन्ध के योग्य आत्मा ही है और बाह्य अधिकरण एक राजू चौड़ी तथा तेरह राजू लम्बी लोकनाड़ी है। लोक नाडी के नीचे की एक राजू मे स्थावर जीवो का निवास होने से सम्यग्दर्शन संभव नही है।

सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है ?

औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छयासठ सागर प्रमाण है। क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता इसलिये इस अपेक्षा उसकी स्थिति सादि अनन्त है परन्तु ससार मे रहने की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तेतीस सागर की है।

सम्यग्दर्शन का विधान क्या है ?

सम्यग्दर्शन के विधान—भेदो का वर्णन पिछले स्तम्भ मे आ चुका है।

सम्यक्त्व मार्गणा और उसका गुणस्थानों में अस्तित्व :—

सम्यक्त्व मार्गणा के औपशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, सम्यड्-मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व ये छः भेद है। औपशामिक सम्यग्दर्शन के दो भेद है प्रथमोपशम और द्वितीयोप्रशम। इनमे प्रथमोपशम चौथे से लेकर सातवें तक और द्वितीयोपशम चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर सातवें तक होता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से लेकर चौदहवें तक तथा सिद्ध अवस्था मे भी रहता है। सम्यड्मिथ्यात्व मार्गणा तीसरे गुणस्थान मे और मिथ्यात्वमार्गणा पहले गुणस्थान मे ही होती है। सम्यड् मिथ्यात्वमार्गणा, सम्यड् मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से होती है। इसमे जीव के परिणाम दही और गुड के मिले हुए स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो रूप होते है। इस मार्गणा मे किसी का मरण नही होता और न मारणान्तिक समुद्धात ही होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का काल एक समय से लेकर छह आवली तक शेष रहने पर अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ मे से किसी एक कषाय का उदय आने से जिसका सम्यक्त्व आसादना—विराधना से सहित हो गया है वह सासादन कहलता है। जहाँ मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होता है। वह मिथ्यात्व है मिथ्यात्व के अगृहीत और गृहीत की अपेक्षा दो भेद, एकान्त, विपरीत, सशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पाँच भेद अथवा गृहीत अगृहीत और साशयिक की अपेक्षा तीन भेद होते है[1]।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग

जिन्हे मिलाकर अङ्गी की पूर्णता होती है अथवा अङ्गी को अपना कार्यपूर्ण करने मे जो सहायक होते है उन्हें अङ्ग कहते है। मनुष्य के शरीर मे जिस प्रकार हाथ, पैर आदि आठ अङ्ग होते है उन आठ अगो के मिलने से ही मनुष्य के शरीर की पूर्णता होती है और वे अग ही उसे अपना कार्य पूर्ण करने मे सहायक होते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के नि शङ्कित आदि आठ अग हैं। इन आठ अगो के मिलने से ही सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है और सम्यग्दर्शन को अपना कार्य करने मे उनसे सहायता मिलती है। कुन्दकुन्द स्वामी ने अष्टपाहुड के अन्तर्गत चारित्रपाहुड मे चारित्र के सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण इस तरह दो भेद कर सम्यक्त्वाचरण का निम्नलिखित गाथाओ मे वर्णन किया है—

---

(१) केषाचिदन्धतमसायतेऽगृहीत ग्रहायतेऽन्येषाम्।
मिथ्यात्वमिह गृहीत शल्यति साशयिकमपरेषाम् ॥५॥ सा. ध.

एवं विय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई ।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ।। ६ ।।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरण वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ।। ७ ।।

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय ।
ज चरइ णाणजुत्तं पढम सम्मत्तचरणचारित्तं ।। ८ ।।

ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व मे मल उत्पन्न करनेवाले शङ्का आदि मिथ्यात्व के दोषो का तीनो योगो से परित्याग करो ।

नि शङ्कित, नि काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यक्त्व के गुण है ।

नि शङ्कितादि गुणो से विशुद्ध वह सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्षरूप स्थान की प्राप्ति के लिये निमित्तभूत है । ज्ञान सहित जिनसम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है ।

तात्पर्य यह है कि शङ्कादिक दोषो को दूर कर नि शङ्कित आदि गुणो का आचरण करना सम्यक्त्वाचरण कहलाता है, यही दर्शनाचार कहलाता है । स्वरूपाचरण इससे भिन्न है ।

अष्टपाहुड के अतिरिक्त समयसार की गाथाओ (२२९ से लेकर २३६) मे भी कुन्दकुन्दस्वामी ने सम्यग्दृष्टि के नि शकिता आदि गुणों का वर्णन किया है । यही आठ गुण आगे चलकर आठ अगो के रूप मे प्रचलित हो गये । रत्नकरण्डश्रावकाचार मे समन्तभद्रस्वामी ने इन आठ अगो का सक्षिप्त किन्तु हृदयग्राही वर्णन किया है । पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे अमृतचन्द्रस्वामी ने भी इनके लक्षण बतलाने के लिए आठ श्लोक लिखे है । यह आठ अगो की मान्यता सम्यग्दर्शन का पूर्ण विकास करने के लिए आवश्यक है । अंगो की आवश्यकता बतलाते हुए समन्तभद्रस्वामी ने लिखा है कि जिस प्रकार कम अक्षरो वाला मन्त्र विष-वेदना को नष्ट करने मे असमर्थ है उसी प्रकार कम अङ्गो वाला सम्यग्दर्शन ससार की सन्तति के छेदने मे असमर्थ रहता है ।[1] अगो का स्वरूप तथा उनमे प्रसिद्ध पुरुषो का चरित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के प्रथम अधिकार से ज्ञातव्य है ।

सम्यग्दर्शन के अन्य गुणों की चर्चा :

प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये सम्यग्दर्शन के चार गुण है । बाह्य दृष्टि से ये भी सम्यग्दर्शन के लक्षण है । इनके स्वरूप का विचार पञ्चाध्यायी उत्तरार्ध मे विस्तार से किया गया है । सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

---

(१) नाङ्गहीनमलं छेत्तु दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ।।

[1]पञ्चेन्द्रियो के विषयो मे और असख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावो मे स्वभाव से मनका शिथिल होना प्रशमभाव है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवो के विषय मे कभी भी उनके मारने आदि की प्रयोजक बुद्धि का न होना प्रशमभाव है।

[2]धर्म मे और धर्म के फल मे आत्मा का परम उत्साह होना अथवा समान धर्म वालो मे अनुराग का होना या परमेष्ठियो मे प्रीति का होना सवेग है।

[3]अनुकम्पा का अर्थ कृपा है या सब जीवो पर अनुग्रह करना अनुकम्पा है या मैत्री भाव का नाम अनुकम्पा है या मध्यस्थ भाव का रखना अनुकम्पा है या शत्रुता का त्याग करदेने से नि.शल्य हो जाना अनुकम्पा है।

[4]स्वत सिद्ध तत्त्वो के सद्भाव मे निश्चय भाव रखना तथा धर्म हेतु और धर्म के फल मे आत्मा की अस्ति आदि रूप बुद्धि का होना आस्तिक्य है।

उपर्युक्त प्रशमादिगुणो के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन के आठ गुण और भी प्रसिद्ध है। जैसा कि निम्नलिखित गाथा से स्पष्ट है—

सवेओ णिव्वेओ णिदा गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्ल अणुकपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ।। (वसु० श्रवकाचार)

सवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यत्व के आठ गुण है।

वास्तव मे ये आठ गुण उपर्युक्त प्रशमादि चार गुणो के अतिरिक्त नही है क्योकि सवेग, उपशम और अनुकपा ये तीन गुण तो प्रशमादि चार गुणो मे नामोक्त ही है। निर्वेद, सवेग का पर्यायवाची है। तथा भक्ति और वात्सल्य सवेग के अभिव्यजक होने से उसमे गतार्थ है तथा निन्दा और गर्हा उपशम (प्रशम) के अभिव्यजक होने से उसमे गतार्थ हो जाते हैं।

---

१ प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ।।४२६।।

सद्य कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुश्चित्।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धि प्रशमो मत. ।।४२७।। पचाध्यायी

२ संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः।
सधर्मस्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ।।४३१।।

३. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैशल्यं वैरवर्जनात् ।।४३२।।

४. आस्तिक्यं तत्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चित.।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चत ।।४५२।। पंचाध्यायी उ०

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति :—

सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय का त्रिक और अनन्तानुबन्धी का चतुष्क इन सात प्रकृतियो के अभाव (अनुदय) मे प्रकट होने वाला श्रद्धागुण का परिणमन है और स्वानुभूति स्वानुभूत्यावरणनामक मतिज्ञानावरण के अवान्तर भेद के क्षयोपशम से होने वाला क्षायोपशमिक ज्ञान है। ये दोनो सहभावी है, इसीलिए कितने ही लोग स्वानुभूति को ही सम्यग्दर्शन कहने लगते है पर वस्तुत बात ऐसी नही है। दोनो ही पृथक्-पृथक् गुण है छद्मस्थ का ज्ञान लब्धि और उपयोगरूप होता है अर्थात उसका ज्ञान कभी तो आत्मा के विषय मे ही उपयुक्त होता है और कभी ससार के अन्य घट-पटादि पदार्थो मे भी उपयुक्त होता है। अत. सम्यग्दर्शन और उपयोगात्मक स्वानुभूति की विषम व्याप्ति है। जहा स्वानुभूति होती है वहा सम्यग्दर्शन अवश्य होता है पर जहा सम्यग्दर्शन है वहा स्वानुभूति भी होती है और घट-पटादि अन्य पदार्थो की भी अनुभूति होती है। इतना अवश्य है कि लब्धिरूप स्वानुभूति सम्यग्दर्शन के साथ नियम से रहती है। यहा यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि जीव को ज्ञान तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्व और परकी भूत, भविष्यत् वर्तमान की अनेक पर्यायो का हो सकता है परन्तु उसे अनुभव उसकी वर्तमान पर्यय मात्र का ही होता है। वस्तुत[1] सम्यग्दर्शन सूक्ष्म है और वचनो का अविषय है इसलिये कोई भी जीव विविध रूप से उसके कहने और सुनने का अधिकारी नही है अर्थात् यह कहने और सुनने को समर्थ नही है कि यह सम्यग्दृष्टि है अथवा इसे सम्यग्दर्शन है। किंतु ज्ञान के माध्यम से ही उसकी सिद्धि होती है। यहा ज्ञान से स्वानुभूति रूप ज्ञान विवक्षित है। जिस जीव के यह स्वानुभूति होती है क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नही होती। प्रश्न उठता है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि जीव विषयभोग या युद्धादि कार्यो मे सलग्न होता है उस समय उसका सम्यग्दर्शन कहा रहता है ? उत्तर यह है कि उसका सम्यग्दर्शन उसी मे रहता है परन्तु उस काल मे उसका ज्ञानोपयोग स्वात्मा मे उपमुक्त न होकर अन्य पदार्थों मे उपयुक्त हो रहा है। इसलिये ऐसा जान पडता है कि इसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है पर वास्तविकता यह है कि उस अवस्था मे भी सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है। लब्धि और उपयोगरूप परिणमन ज्ञान का है सम्यग्दर्शन का नही। सम्यग्दर्शन तो सदा जागरूक ही रहता है।

सम्यग्दर्शन को घातने वाली प्रकृतियों की अन्तर्दशा :—

मुख्य रूप से सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतिया है—मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। इनमे मिथ्यात्व का अनुभाग सबसे अधिक है, उसके अनन्तवें भाग सम्यङ्मिथ्यात्व का है और उसके अनन्तवें भाग सम्यक्त्व प्रकृति का है। इनमे सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। इसके उदय से सम्यग्दर्शन का घात तो नही होता, किन्तु चल, मलिन और अगाढ दोष लगते है। 'यह अरहन्तादिक मेरे है यह दूसरे के हैं' इत्यादिक भाव होने को चल दोष कहते हैं। शकादिक दोषो

---

१. सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोरम्।
तस्माद् वक्तुम् च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात्॥४००॥ पंचाध्यायी उ०

सम्यक्त्वं वस्तुतः स्पष्ट केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वमनःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥३७५॥

का लगना मल दोष है और शान्तिनाथ शान्ति के कर्ता है इत्यादि भाव का होना अगाढ दोष है। ये उदाहरण व्यवहार मात्र है नियमरूप नही। परमार्थ से सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे क्या दोष लगते है, उन दोषो के समय आत्मा मे कैसे भाव होते है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। इतना नियमरूप जानना चाहिये कि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे सम्यग्दर्शन निर्मल नही रहता। क्षायोपशमिक या वेदक सम्यग्दर्शन मे इस प्रकृति का उदय रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य जब क्षायिक सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है तब वह तीन करण करके सर्वप्रथम अनन्तानुबधी चतुष्क को विसयोजित कर सत्ता से दूर करता है पश्चात् पुन करण कर मिथ्यात्व के परमाणुओ को सम्यड्मिथ्यात्वरूप परिणमाता है उसके बाद सम्यड्मिथ्यात्व के परमाणुओ को सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमाता है, पश्चात् सम्यक्त्वप्रकृति के निषेक उदय मे आकर खिरते हैं। यदि उसकी स्थिति आदि अधिक हो तो उन्हे स्थितिकाण्डकादि घात के द्वारा घटाता है। जब उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है तब कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। पश्चात् क्रम के इन निषेको का नाश कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। अनन्तानुवन्धी का प्रदेशक्षय नही होता किन्तु अप्रत्याख्यानावरणादिरूप करके उसकी सत्ता का नाश करता है। इस प्रकार इन सात प्रकृतियो को सर्वथा नष्ट कर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यक्त्व होते समय अनन्तानुबन्धी की दो अवस्थाए होती है—या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजन होता है। जो अपूर्वादि करण करने पर उपशमविधान से उपशम होता है उसे प्रशस्त उपशम कहते है और जो उदय का अभाव है उसे अप्रशस्त उपशम कहते है। इनमे अनन्तानुबन्धी का तो प्रशस्त उपशम होता नही है, मोह की अन्य प्रकृतियो का होता है। इसका अप्रशस्त उपशम होता है। तीन करण कर अनन्तानुबन्धी के परमाणुओ को जो अन्य चारित्र मोहनीय को प्रकृतिरूप परिणमाया जाता है उसे विसयोजन कहते है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व मे अनन्तानुबन्धी का अप्रशस्त उपशम ही होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति मे अनन्तानुबन्धी की विसयोजना नियम से होती है ऐसा किन्ही आचार्यो का मत है और किन्ही आचार्यो का मत है कि विसयोजना का नियम नही है। क्षायिक सम्यक्त्व मे नियम पूर्वक विसयोजना होती है। जिस उपशम और क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के विसयोजना के द्वारा अनन्तानुवन्धी की सत्ता का नाश होता है वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्व मे आने पर अनन्तानुवन्धी का जब नवीन बन्ध करता है तभी उसकी सत्ता होती है।

यहा कोई प्रश्न कर सकता है कि जब अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है तब उसके द्वारा चारित्र का ही घात होना चाहिये, सम्यग्दर्शन का घात उसके द्वारा क्यो होता है? इसका उत्तर यह है कि अनन्तानुवन्धी के उदय से क्रोधादिक रूप परिणाम होते है, अतत्त्वश्रद्धान नही होता, इसलिए परमार्थ से अनन्तानुवन्धी चारित्रमोहनीय की ही प्रकृति है परन्तु अनन्तानुवन्धी के उदय मे होने वाले क्रोधादिक के काल मे सम्यग्दर्शन नही होता, इसलिए उपचार से उसे भी सम्यग्दर्शन का घातक कहा है। जैसे त्रसपनाका घातक तो स्थावर नामक कर्म का उदय है परन्तु जिसके एकेन्द्रियजाति नामकर्म का उदय होता है उसके त्रसपना नही हो सकता, इसलिए उपचार से एकेन्द्रियजाति नामकर्म को भी त्रसपना का घातक कहा जाता है। इसी दृष्टि से कही अनन्तानुवन्धी मे दो प्रकार की शक्तिया मान ली गई है चारित्र को घातने की और सम्यग्दर्शन को घातने की।

प्रश्न—यदि अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीयकी प्रकृति है तो उसके उदय का अभाव होने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में भी कुछ चारित्र होना चाहिये, उसे असंयत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—अनन्तानुबन्धी आदि भेद कषाय की तीव्रता या मन्दता की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के तीव्र या मन्द कषाय के होते हुए अनन्तानुबन्धी आदि चारों कषायों का उदय युगपत् रहता है। मिथ्यादृष्टि के कषाय का इतना मन्द उदय हो सकता है कि उस काल में शुक्ल लेश्या हो जावे और असंयत सम्यग्दृष्टि के इतनी तीव्र कषाय हो सकती है कि उस काल में कृष्ण लेश्या हो जाय। जिसका अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ अनुबन्ध—गठबन्धन हो वह अनन्तानुबन्धी है। जो एकदेशचारित्र का घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण है, जो सकलचारित्र का घात करे वह प्रत्याख्यानावरण है और जो यथाख्यातचारित्र का घात करे वह संज्वलन है। असंयत सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से यद्यपि कषाय की मन्दता होती है परन्तु ऐसी मन्दता नहीं होती जिससे चारित्र नाम प्राप्त कर सके। कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें सर्वत्र पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर मन्दता पायी जाती है परन्तु उन स्थानों में व्यवहार की अपेक्षा तीन मर्यादाएँ की गई हैं—१ प्रारम्भ से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक के कषाय स्थान असंयम के नाम से, २. पञ्चम गुणस्थान के कषायस्थान देशचारित्र के नाम से और ३ षष्ठादि गुणस्थानों के कषायस्थान सकलचारित्र के नाम से कहे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन की महिमा :

सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाते हुए समन्तभद्र स्वामी ने कहा है[1]—

'ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त होता है इसलिए मोक्षमार्ग में उसे कर्णधार—खेवटिया कहते हैं।

जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति नहीं होती।

'निर्मोह मिथ्यात्व से रहित - सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है परन्तु मोहवान -मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। मोही मुनि की अपेक्षा मोहरहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

'तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई वस्तु देहधारियों के लिए कल्याणरूप और मिथ्यात्व के समान अकल्याणरूप नहीं है।'

सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रतरहित होने पर भी नरक और तिर्यंच गति, नपुंसक और स्त्री पर्याय, नीचकुल, विकलांगता, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होते।'

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार ३१-४१, मह।

'यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले किसी मनुष्य ने नरक आयु का बन्ध कर लिया है तो वह पहले नरक से नीचे नही जाता है। यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का बन्ध कर लिया है तो भोगभूमि का तिर्यञ्च और मनुष्य होता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो वैमानिक देव ही होता है, भवनत्रिको मे उत्पन्न नही होता। सम्यग्दर्शन के काल मे यदि तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुबन्ध होना है तो नियम से देवायुका ही बन्ध होता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी गति की स्त्रीपर्याय को प्राप्त नही होता। मनुष्य और तिर्यञ्च गति मे नपुसक भी नही होता।'

'सम्यग्दर्शन से पवित्र मनुष्य, ओज, तेज, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि,विजय और वैभव से सहित उच्च कुलीन महान अर्थ से सहित श्रेष्ठ मनुष्य होते है।

'सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि स्वर्ग जाते है तो वहा अणिमा आदि आठ गुणो की पुष्टि से संतुष्ट तथा सातिशय शोभा से युक्त होते हुए देवाङ्गनाओ के समूह मे चिर काल तक क्रीडा करते हैं।'

'सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्ग से आकर नौ निधि और चौदह रत्नो के स्वामी समस्त भूमि के अधिपति तथा मुकुटबद्ध राजाओ के द्वारा वन्दित चरण होते हुए सुदर्शन चक्र को वर्ताने मे समर्थ होते है—चक्रवर्ती होते है।'

'सम्यग्दर्शन के द्वारा पदार्थो का ठीक ठीक निश्चय करने वाले पुरुष अमरेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र तथा मुनीन्द्रो के द्वारा स्तुतचरण होते हुए लोक के शरण्यभूत तीर्थंकर होते है।

'सम्यग्दृष्टि जीव अन्त मे उस मोक्ष को प्राप्त होते है जो जरा से रहित है, रोग रहित है, जहाँ सुख और विद्या का वैभव चरम सीमा को प्राप्त है तथा जो कर्ममल से रहित है।'

'जिनेन्द्र भगवान मे भक्ति रखने वाला—सम्यग्दृष्टि भव्य मनुष्य, अपरिमित महिमा से युक्त इन्द्र समूह की महिमा को, राजाओ के मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को नीचा करने वाले धर्मेन्द्रचक्र—तीर्थंकर के धर्मचक्र को प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन और अनेकान्त :—

पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। अत उसका निरूपण करने के लिए आचार्यो ने द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इन दो नयो को स्वीकृत किया है। द्रव्यार्थिक नय मुख्यरूप से द्रव्य का निरूपण करता है और पर्यायार्थिक नय मुख्य रूप से पर्याय को विषय करता है। अध्यात्म प्रधान ग्रंथो मे निश्चय नय और व्यवहार नय की चर्चा आती है। निश्चय नय गुण-गुणी के भेद से रहित तथा पर के सयोग से शून्य शुद्ध वस्तुत्व को ग्रहण करता है और व्यवहार नय, गुण-गुणी के भेदरूप तथा पर के सयोग से उत्पन्न अशुद्धता से युक्त वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करता है।

---

१ दुर्गतावायुषो बन्धे सम्यक्त्वं यस्य जायते।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थिति ॥

२. हेट्ठिमछप्पुढवीण जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे ण हि सम्भो ण हासणो णारयापुण्णे ॥ जी० का०

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नय के विषय परस्पर विरोधी हैं। द्रव्यार्थिक नय पदार्थ को नित्य तथा एक कहता है तो पर्यायार्थिक नय अनित्य तथा अनेक कहता है। निश्चयनय आत्मा को शुद्ध तथा अभेदरूप वर्णन करता है तो व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप बतलाता है। नयो के इस विरोध को दूर करने वाला अनेकान्त है। विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्मो को गौणमुख्यरूप से जो ग्रहण करता है उसे अनेकान्त कहते है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य इसी अनेकान्त का आश्रय लेकर वस्तु स्वरूप को समझता है और पात्र की योग्यता देखकर दूसरो को समझाता है। सम्यग्दर्शन के होते ही जीव की एकात दृष्टि समाप्त हो जाती है। क्योकि निश्चय और व्यवहार के वास्तविक स्वरूप को समझकर दोनो नयो के विषय मे मध्यस्थता को ग्रहण करने वाला मनुष्य ही जिनागम मे प्रतिपादित वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझ सकता है।[1] सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास को समझकर उन्हे छोडता है तथा वास्तविक वस्तुस्वरूप को ग्रहणकर कल्याण पथ मे प्रवर्तता है।

सम्यग्दृष्टि अन्तर्दृष्टि :—

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—'**सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान-वैराग्यशक्तिः**' सम्यग्दृष्टि जीव के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिये वह ससार के कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी रखता है। 'मैं अनन्त ज्ञान का पुञ्ज, शुद्ध—रागादि के विकार से रहित चेतन द्रव्य हू, मुझमे अन्य द्रव्य नही है, मैं अन्य द्रव्य मे नही हू और आत्मा के अस्तित्व मे दिखने वाले रागादि भाव मेरे स्वभाव मे नही है।' इस प्रकार स्वरूप की ओर दृष्टि रखने से सम्यग्दृष्टि जीव, अनन्त संसार के कारण भूत बन्ध से बच जाता है। प्रशम-सवेगादि गुणो के प्रकट हो जाने से उसकी कषाय का वेग ईधन रहित अग्नि के समान उत्तरोत्तर घटता जाता है। यहा तक कि बुराई होने पर उसकी कषाय का सस्कार छह् माह से अधिक नही चलता यदि छः मास से अधिक कषाय का सस्कार किसी मनुष्य का चलता है तो उसके रहते हुए वह नियम से मिथ्या दृष्टि है[2] ऐसा समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव अपनी वैराग्यशक्ति के कारण सासारिक कार्य करता हुआ भी जल मे रहने वाले कमल के समान निर्लिप्त रहता है। वह मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का त्यागी हो जाता है। भय, आशा, स्नेह या लोभ के वशीभूत होकर कभी भी कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओ की उपासना नही करता। किसी पर स्वय आक्रमण नही करता। हाँ, किसी के द्वारा अपने ऊपर आक्रमण होने पर आत्मरक्षा के लिए युद्ध आदि भी करता है। मास-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थो का सेवन नही करता। तात्पर्य यह है कि सम्यक्दृष्टि की चाल-ढाल ही बदल जाती है।

---

१. व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्य.।। पुरुषार्थ०

२. अंतोमुहुत्त पक्खो छम्मासं सख संख णंतभवं।
सजलणमादियाण वासणकालो दु णियमेण।। गो०क०कां०

धर्म और शुक्ल ध्यान

प्रास्ताविक :

अनादि काल से सश्लिष्ट जीव और पुद्गल द्रव्य की इस संयोगी पर्याय मे जब तक एकत्वविभक्त तथा शुद्ध ज्ञायक स्वभाव आत्मा का पृथक् से अनुभव नही होता, तब तक यह जीव ससार-परिभ्रमण से मुक्त नही हो सकता, इसलिए सर्वप्रथम प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा जीव और पुद्गल का विभाग कर शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतीति करना चाहिये । उस आत्मतत्त्व की दृढ प्रतीति के लिए आत्मध्यान की आवश्यकता है ।

आत्माश्रित ध्यान की प्राप्ति के लिए सब से पहले शरीर मे आत्मबुद्धि छोडकर आत्मा मे आत्म-बुद्धि करना चाहिये । शरीर मे परत्व-बुद्धि होते ही राग-द्वेष की जड कट जाती है, क्योकि राग-द्वेष का प्रारम्भ शरीर मे आत्मबुद्धि होने से ही होता है । शरीर मे राग होने से शरीर को सुख देने वाले पदार्थों मे इष्ट बुद्धि होती है और शरीर को दु:ख देने वाले पदार्थों मे अनिष्ट बुद्धि होती है । यह इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि ही राग-द्वेष की जनक है । इस सन्दर्भ मे यह भी विचार करने योग्य है कि इस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का जनक कौन है ? विचार करने पर विदित होता है कि इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का जनक वह विपरीत मान्यता है, जिसके कारण यह श्रद्धा होती है कि परमार्थ सुख-दु ख के देने वाले हैं । परमार्थ से सुख आत्मा का गुण है, और दुःख उसी की वैभाविक पर्याय है । तात्पर्य यह है कि सुख-दु ख की उत्पत्ति आत्माश्रित है, परमपार्थ के आश्रित नही । जिस सर्प को देखकर हम भयभीत होते हैं उसी सर्प को सँपेरा अपनी पिटारी मे रख उससे अपनी आजीविका चलाता है । विपरीत मान्यता मिथ्यात्व की ही एक आकृति है, अत यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व ही इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि का जनक है । इस इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि से ही परपदार्थो का सग्रह और निराकरण होता है । इसी भाव से उपयोग की चचलता होती है और उपयोग की चञ्चलता से ध्यान मे बाधा होती है ।

आचार्यो ने ध्यान का लक्षण कहा है 'उत्तम सहनन वाले जीव का किसी पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त के लिए जो चिन्ता का निरोध होता है, वही ध्यान है' । उस ध्यान के आत्त, रौद्र, और शुक्ल के भेद से चार भेद है । इनमे आर्त्त और रौद्र ससार भ्रमण के कारण है तथा धर्म और शुक्ल मोक्ष के । शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा धर्म ध्यान परम्परा से । तत्वार्थसूत्रकार की मान्यता से धर्म्य-ध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर कर सप्तम गुणस्थान तक होता है और शुक्लध्यान अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चतुर्दश गुणस्थान तक चलता है । शुक्लध्यान का पहला भेद-पृथक्त्व वितर्क विचार आठवें से ग्यारहवे गुणस्थान तक और दूसरा भेद-एकत्व वितर्क बारहवें गुणस्थान मे होता है । तीसरा भेद सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति तेरहवें गुणस्थान के अन्त मे होता है और चौथा भेद-व्युपरत क्रिया-

निर्वित चौदहवे गुणस्थान मे होता है। प्रथम भेद के द्वारा मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है। दूसरे भेद के द्वारा सत्तास्थित कर्मों की सातिशय निर्जरा होती है और चौथे भेद के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है। इस काल मे शुक्लध्यान की प्राप्ति सम्भव नही है, परन्तु धर्म्मध्यान निर्विवाद रूप से होता है।

धर्म्यध्यान :

धर्म्यध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय, ये चार भेद बतलाते है। इनमे आज्ञाविचय सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थो का ध्यान वीतराग सर्वज्ञदेव की आज्ञा के आश्रय से होता है। अपायविचय धर्म्यध्यान में चतुर्गतियो के दुःख तथा उनसे बेचने के उपायो का चिन्तन होता है। विपाकविचय धर्म्यध्यान मे आठ कर्म तथा उनकी उत्तर प्रकृतियो के विपाक-फल का विचार होता है, और सस्थानविचय धर्म्यध्यान मे मेरु तथा नन्दीश्वर आदि द्वीपस्थ चैत्यालयो की आकृति का चिन्तन होता है। यह व्यवहार धर्म्यध्यान का विस्तार है; निश्चय धर्म्यध्यान का विषय स्वकीय आत्मा है, अर्थात् उसमे स्वकीय आत्मा के गुण और पर्यायो का चिन्तन होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ध्यान का मुख्य उद्देश्य चित्त को स्थिर करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति का लक्ष्य रखकर 'ज्ञानार्णव' मे शुभचन्द्राचार्य ने सस्थान विचय धर्म्यध्यान के नीचे लिखे चार भेदो का विशद वर्णन किया है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिण्डस्थ ध्यान मे पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओ का चिन्तन किया जाता है। यहाँ संक्षेप मे इन धारणाओ का स्वरूप दिया जा रहा है।

पार्थिवी धारणा :

प्रथम ही योगी—ध्यान करने वाला, ऐसा विचार करे कि यह मध्यम लोक निस्तरङ्ग क्षीर-समुद्र के बीच मे सुवर्ण के समान प्रभाववाला एक सहस्रदल कमल केशर की पक्ति से सुशोभित है तथा जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला है। उस सहस्रदल कमल के बीच सुमेरु के समान पीले रग की एक कर्णिका पर शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक सिंहासन है और उस सिंहासन पर मेरा आत्मा विराजमान है। साथ ही यह विचार भी करे कि मेरी यह आत्मा रागद्वेषसे रहित है तथा समस्त कर्म और नोकर्म के समूह को नष्ट करने मे समर्थ है। पार्थिवी धारणा मे इस प्रकार का प्रखर चिन्तवन किया जाता है।

आग्नेयी धारणा :

ऐसा चिन्तवन करे कि मेरे नाभि-मण्डल मे सोलह पाखुड़ियो पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' ये सोलह बीजाक्षर है; तथा उस कमल की कर्णिका पर 'हँ' बीजाक्षर लिखा हुआ है। इस महामन्त्र स्वरूप 'हँ' बीजाक्षर की रेफ से धीरे-धीरे धूम्र निकलता हुआ अनुभव करे, पश्चात् अग्नि के स्फुलिङ्ग निकल रहे हैं ऐसा ध्यान करे, और तदनन्तर चितवन करे कि उस अग्नि ने एक प्रचण्ड रूप धारण कर हृदयस्थ

कमल को दग्ध कर दिया है। हृदयस्थ कमल आठ पाँखुडियो से सहित है, उसका मुख नीचे को है, उन पाँखुडियो पर क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्मो की स्थापना की जाती है। नाभि-मण्डल के पूर्वोक्त सोलह पाँखुडी वाले कमल की कर्णिका पर स्थित 'र्हं' बीजाक्षर की रेफ से निकलने वाली अग्नि इस हृदय-स्थित कमल को जला देती है। पश्चात् ऐसा चिन्तवन करे कि शरीर के बाहर एक त्रिकोण अग्नि मण्डल है। वह अग्निमण्डल 'र र र र' ऐसे बीजाक्षरो से व्याप्त है तथा उसके अन्त मे卐साँथिया है। यह अग्नि, धूम-रहित अतिशय देदीप्यमान है और अपनी ज्वालाओ के समूह से नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्म कर, जलाने योग्य पदार्थ के न रहने से अपने-आप शान्त हो जाती है। ऐसा चिन्तवन करना आग्नेयी धारणा है।

मारुती धारणा :

आग्नेयी धारणा के बाद ऐसा चिन्तवन करे कि आकाश मे एक प्रचण्ड वायु उठी है। वह वायु मेरु पर्वत को कम्पित कर रही है, मेघो को छिन्न-भिन्न कर रही है, समुद्र के जल तरगो से आप्लुत कर रही है, धीरे-धीरे वह वायु तीव्र गति से दसो दिशाओ मे फैल रही है, पृथिवी-तल को विदीर्ण कर भीतर प्रवेश कर रही है और इस प्रचण्ड वायु के द्वारा आग्नेयी धारणा मे सचित सब भस्म उड़ गयी है, पश्चात् वह वायु अपने आप शान्त हो गयी है ऐसा चिन्तवन मारुती धारणा है।

वारुणी धारणा :

ऐसा चिन्तवन करे कि आकाश काले-काले बादलो से आच्छादित हो रहा है, बिजली चमक रही है, इन्द्रधनुष दिखायी दे रहा है। बीच-बीच मे होने वाली भयकर गर्जना दिशाओ को शब्दायमान कर रही है। उन बादलो से निकली हुई जल की स्वच्छ धाराओ से आकाश व्याप्त हो गया है। ये जल की धाराएँ हम पर पडने लगी है तथा उनके द्वारा आग्नेयी धारणा मे सचित भस्म का समूह बहा जा रहा है और मेरी आत्मा निर्मल हो गयी है, ऐसा चिन्तवन वारुणी धारणा है।

तत्त्वरूपवती धारणा :

योगी ऐसा चिन्तवन करता है कि मेरी आत्मा सप्तधातु-रहित है, पूर्णचन्द्र के समान उज्जवल है, सर्वज्ञ है, अतिशय-युक्त सिंहासन पर आरूढ है, सुर और असुर उसकी पूजा कर रहे है, उसके आठ कर्म नष्ट हो गये हैं और पुरुषाकार सिद्ध परमेष्ठी की सदृशता को प्राप्त हो रही है, ऐसा चिन्तवन करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस पिण्डस्थ ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर करने वाला योगी शुक्लध्यान धारणा करने मे समर्थ होता है।

पदस्थ ध्यान :

पदस्थ ध्यान करने वाला योगी सर्वप्रथम वर्णमातृका का ध्यान करता है, क्योकि वर्णमातृका—वर्णमाला ही सब मन्त्रो की जननी होने से 'मातृका' कहलाती है। वर्णमातृका का ध्यान करने वाला योगी चिन्तवन करता है कि मेरे नाभिमण्डल मे सोलह पाखुडियो का एक कमल है, जिसकी प्रत्येक पाँखुडी पर 'अ आ' आदि सोलह

स्वर लिखे हुए हैं। पश्चात् ध्यान करता है कि हृदयस्थल पर चौबीस पाँखुड़ियों का एक कमल बना हुआ है, उस कमल की एक कणिका भी है। इन चौबीस पाखुडियों और कणिका पर पाँच वर्ग के पचीस व्यञ्जन लिखे हुए हैं। तदनन्तर चिन्तवन करता है कि मुखमण्डल के ऊपर आठ पाँखुडियो का कमल बना हुआ है और उन आठ पाँखुडियो पर क्रम से 'य र ल व श ष स ह्' ये आठ अक्षरलिखे हुए है। वर्णमातृका का ध्यान करने वाले मनुष्य को वचन-सिद्धि प्राप्त होती है; अर्थात् जिससे जो कह दे, वह पूर्ण हो जाता है।

पदस्थ ध्यान मे बैठा हुआ योगी कभी 'ह्रॅं' 'अर्हं' तथा 'ॐ' पद का ध्यान करता है, कभी पच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता है। ध्यानविधि इस प्रकार है—

ध्यानस्थ योगी चिन्तवन करता है कि मेरे हृदय मे आठ पाँखुडियो से विभूषित एक कमल है। उस कमल की कणिका पर 'णमो अरहताण' सात अक्षरो का यह मन्त्र लिखा है, चार दिशाओ की चार पांखुडियो पर क्रम से 'णमोसिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,' और 'णमो लोए सव्व साहूण' लिखा हुआ है, तथा विदिशाओ की चार पाँखुडियो पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नम' 'सम्यग्ज्ञानाय नम' 'सम्यक् चारित्राय नम' और 'सम्यक् तपसे नम' लिखा हुआ है। यह महामन्त्र कहलाता है। इसके ध्यान से समस्त विघ्न नष्ट होकर अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। इस पदस्थ ध्यान मे चिन्तवन करने योग्य अनेक मन्त्र हैं, जिनका अध्ययन 'ज्ञानार्णव' के ३८वें अध्याय से करना चाहिये। लेख-विस्तार के भय से उन सब मन्त्रो तथा उनकी विधियो का उल्लेख यहाँ करना संभव नही है।

रूपस्थ ध्यान :

रूपस्थ ध्यान में बैठा हुआ योगी समवसरण मे विराजमान अरहन्त परमेष्ठी का ध्यान करता है। कभी उनके सिंहासन तथा छत्रत्रय आदि अष्ट प्रतिहार्यो का विचार करता है, कभी चार घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य, इन चार आत्मगुणों का चिन्तवन करता है। कभी गन्धकुटी मे अन्तरिक्ष-विराजमान अरहन्त भगवान् का चिन्तवन करता है। कभी चिन्तवन करता है कि गन्धकुटी को घेरकर बारह सभाएँ बनी हुई है और उनमे चतुर्निकाय देव, देवाङ्गनाएँ, मनुष्य, स्त्रियां, मुनि-समूह तथा तिर्यञ्च शान्तभाव से बैठे हुए हैं। भगवान् की दिव्यध्वनि खिर रही है और सब लोग शान्त हो श्रवण कर रहे हैं। कभी भगवान् के द्वारा निरूपित सात तत्त्व, नव पदार्थ, और षड् द्रव्यों का चिन्तवन करता है कि भगवान् का परमौदारिक शरीर धातु-उपधातु के विभाव से रहित है। त्रस जीव तथा बादर निगोदिया उनके शरीर से निकल गये है। वे कवलाहार से रहित हो कर भी देशोनकोटि स्थित वर्ष तक रहते है। कभी तेरहवें गुणस्थान के अन्त मे होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्णधन इन चार समुद्घातो का विचार करता है। कभी विचार करता है कि भगवान् शुक्लध्यान के तृतीय पाये मे विलीन हैं, योग-निरोध कर चुके है समवसरण विघट गया है; देव, दानव, मनुष्य तथा पशु उनकी शान्त मुद्रा को देखकर परमशान्ति का अनुभव करते हुए मुक्ति-प्रयाण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार का ध्यान रूपस्थ कहलाता है।

रूपातीत ध्यान :

कर्म, नोकर्म, और भावकर्म से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व-रूप सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है। आठ कर्मों का क्षय हो जाने से उनके क्रम से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहना, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, और अनन्त वीर्य, ये आठ गुण प्रकट हुए हैं। वे अन्तिम शरीर से किञ्चित ऊन, अवगाहना को धारण करते है, लोकाग्रभाग पर स्थित हैं, उनकी यह पर्याय है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग की अपेक्षा यद्यपि उनमे भेद होता है तथापि आत्मगुणो की अपेक्षा कोई भेद नही है। क्षेत्रादि का भेद केवल औपचारिक भेद है। वे धन्य है जो आठ कर्मों को नष्ट कर इस अवस्था को प्राप्त हुए है। हम दीर्घ ससारी है, जो अभी इसी ससार-चक्र मे परिभ्रमण कर रहे है, परन्तु हम भी कभी इस 'सिद्ध पर्याय' को प्राप्त करने की योग्यता रखते है।

उपर्युक्त चतुर्विध धर्म्यध्यान के फलस्वरूप यह जीव स्वर्ग मे उत्पन्न होता है और वहाँ से आकर शुक्लध्यान धारण कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

शुक्लध्यान :

सज्वलन कषाय के अत्यन्त मन्द उदय, उपशम, अथवा क्षय होने पर जो ध्यान होता है वह शुक्लध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं; पृथक्त्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरत क्रिया-निवर्ति। उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी मे आरूढ़ मुनि के आठवें गुणस्थान मे 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' नाम का शुक्लध्यान होना है। इस ध्यान मे सज्वलन के मन्दोदय जनित इच्छा के विद्यमान रहने से अर्थ, व्यञ्जन और योग मे सक्रान्ति/परिवर्तन होता रहता है, अर्थात् आगम के एक शब्द या वाक्य को छोडकर दूसरे शब्द या वाक्य पर चित्त परिवर्तित होता है, कभी द्रव्य को छोड पर्याय को कभी पर्याय को छोड गुण का आलम्ब न लेता है। कभी मनोयोग को छोड वचन योग, और कभी वचन योग को कभी काय योग का आलम्बन लेता हैं। इस प्रथम भेद के प्रभाव से उपशम श्रेणी वाला मुनि दशम गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का उपशम कर चुकता हैं और ग्यारहवें गुणस्थान मे उपशन्त मोह छद्मस्थ वीतराग सज्ञा को प्राप्त होता है तथा क्षपक श्रेणी वाला दशम गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का क्षय कर बारहवें गुणस्थान मे क्षीणमोह छद्मस्थ वीतराग सज्ञा को प्राप्त होता है।

तदनन्तर बारहवें गुणस्थान मे एकत्व वितर्क नामक द्वितीय शुक्लध्यान प्रकट होता है। इस शुक्लध्यान मे इच्छा का सर्वथा अभाव रहता है, इसलिए व्यञ्जन शब्द, अर्थ और योग मे किसी प्रकार का सक्रमण नही होता। जिस व्यञ्जन अर्थ अथवा योग से ध्यान का प्रारम्भ होता है, अन्तर्मुहूर्त तक उसी पर स्थिर रहता है। इस शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष तीन घातिया कर्मो और नामकर्म की १३ प्रकृतियो का क्षय होता है। पहला शुक्लध्यान तीनो योगो के धारक के होता है और दूसरा शुक्लध्यान तीन मे से किसी एक योग के धारक मुनि के होता है। घातिया कर्मो का क्षय हो जाने से तेरहवें गुणस्थान मे 'अरहन्त' अवस्था प्रकट होती है। यदि अरहन्त, तीर्थंकर पद के भी धारक है, तो उसके समवसरण की रचना होती है और सामान्य अरहन्त हैं तो गन्धकुटी की रचना होती है। इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोनकोटिवर्ष पूर्व है। अन्तिम अन्तर्मुहूर्त मे जब मनोयोग और वचनयोग के नष्ट हो जाने पर काय योग भी अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है तब

सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके पूर्व यदि केवली के आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अघातिया कर्मो की स्थिति अधिक होती है तो उसे आयु कर्म के बराबर करने के लिए लोक-पूरण समुद्घात भी होता है। इस तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा किसी कर्मप्रकृति का क्षय नही होता, किन्तु सातिशय निर्जरा होती है।

योगो का सर्वथा अभाव हो जाने पर जब चौदहवाँ गुणस्थान होता है तब 'व्युपरत क्रियानिर्वर्ति' नाम का चौथा शुक्लध्यान होता है। इसके प्रभाव से 'अ इ उ ऋ लृ, इन पाँच लघु अक्षरो के उच्चारणकाल के बराबर लघु अन्तर्मुहूर्त रूप चौदहवे गुणस्थान के उपान्त्य समय मे ७२ और अन्तिम समय मे १३ कर्म-प्रकृतियो का क्षय होता है तथा उर्ध्वगति स्वभाव प्रकट होने से एक समय मे सात राजू-प्रमाण गमन कर यह जीव लोकाग्र-भाग पर तनुवातवलय सम्बन्धी ५२५ धनुष प्रमाण क्षेत्र मे सदा के लिए स्थिर हो जाता है। सिद्ध जीवो की अवगाहना ३॥ हाथ से लेकर ५२५ धनुष तक ही होती हैं। इससे कम अथवा अधिक अवगाहना वाले जीव मोक्ष नही जाते हैं।

जैनधर्म मे मोक्ष-प्राप्ति के साधक इन धर्म्य और शुक्ल ध्यानों का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है। प्राणायाम आदि लौकिक ध्यानो का कोइ महत्त्व नही है। यद्यपि लौकिक जन, इन ध्यानो को कर लोक मे अपनी प्रभुता बताते हैं, पर मुमुक्षु साधु के सामने इन लौकिक प्रयोजनो का ऐसा कोई लक्ष्य नही रहता।

▣

केवल ज्ञान की गरिमा

स्त्रग्धरा

दीप. किं नैव दीप' किमिति स नियतं क्षुद्र वायो प्रणश्येत्,
चन्द्र किं नैवचन्द्र किमित स दिवसे दीनदीनो विभाति।
सूर्य किं नास्ति सूर्यः किमिति स नियत सायमस्त प्रयाती–
त्येवध्वस्तोपमान जयति विजयते केवलज्ञान मेमत्।

क्या यह दीपक है ? दीपक नही है, क्योकि वह क्षुद्र वायु से नष्ट हो जाता है। क्या चन्द्रमा है ? चन्द्रमा नही है, क्योकि वह दिन मे अत्यन्त दीन प्रभा हीन हो जाता है। क्या सूर्य है ? सूर्य नही है, क्योकि वह सायकाल निश्चित ही अस्त हो जाता है। इस तरह उपमा रहित यह केवलज्ञान ससार मे जयवत प्रवर्तता है—सब से उत्कृष्ट है।

सज्ज्ञान चन्द्रिका
प्रकाश ७

बन्ध और उसके कारण

अनन्तज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला जीव अनादिकाल से कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के साथ वन्ध को प्राप्त हो रहा है। इस वन्ध दशा मे रहते हुए भी जीव कभी कर्मरूप परिणत नही होता और कर्म जीवरूप परिणत नही होता, क्योकि दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यन्ताभाव है त्रिकाल मे भी एक का अन्य रूप परिणमन सम्भव नही है। यद्यपि दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं तो भी इनका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्वन्ध बना रहा है। जिस प्रकार एक वर्तन मे रखे हुए दूध और पानी मे एक क्षेत्राव-गाहरूप सम्बन्ध होता है उसी प्रकार आकाश के प्रदेशो मे रहने वाले जीव और कर्मरूप पुद्गल द्रव्य मे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्वन्ध है। इनका यह सम्वन्ध अनादिकाल रूप से चला आ रहा है, इसलिये अनन्त-काल तक चलेगा...ऐसा नियम नही है। कितने ही भव्य जीव अपने तपोवल से इस अनादि सम्वन्ध को नष्ट कर मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेते है इसलिये उनकी अपेक्षा यह जीव और कर्मरूप पुद्गल का सम्वन्ध अनादि सान्त है। अभव्य जीव अपने उपादान की तथाविध योग्यता का अभाव होने से कर्मरूप पुद्गल का सम्वन्ध नष्ट नही कर सकते इसलिये उनकी अपेक्षा यह सम्वन्ध अनादि अनन्त है और जव विशिष्ट कर्मरूप पुद्गल के साथ होने वाले वन्ध और बन्धच्छेद की अपेक्षा विचार होता है तव यह सम्वन्ध सादि सान्त ठहरता है।

भावबन्ध और द्रव्यवन्ध के भेद से वन्ध के दो भेद है. जीव के जिन रागादिक भावो से कर्म-वन्ध होता है उन्हे भावबन्ध कहते हैं और उन रागादिक भावो के होने पर आत्मप्रदेशो के साथ कर्म परमाणुओ का जो एक क्षेत्रावगाह होता है उसे द्रव्यवन्ध कहते हैं। जीव और कर्म का अनादि सम्वन्ध स्वीकृत कर लेने पर यह प्रश्न स्वय समाहित हो जाता है कि पहले द्रव्यबन्ध था या भाववन्ध ? क्योकि पहले भावबन्ध मानने पर यह प्रश्न उठता था कि भाववन्ध का कारण क्या है ? और पहले द्रव्यवन्ध मानने पर यह प्रश्न सामने आ जाता था कि विना भाव के द्रव्यवन्ध कैसे हो गया ? परन्तु अनादि सम्बन्ध मान लेने पर इस प्रश्न से मुक्ति हो जाती है कि पहिले कौन था ?

इस प्रकार आत्मा और कर्मरूप पुद्गल का सम्बन्ध अनादि मानने पर भी जिनागम मे उसे अका-रण नही माना गया है। आचार्यो ने इसके कारणो की चर्चा करते हुए कहा है—'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमा-दकषाययोगा बन्धहेतव अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद कषाय और योग ये पाच बन्ध के कारण है। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रमाद को कषाय मे गर्भित कर मिथ्यादर्शन, अविरति कषाय और योग इन चार को बन्ध के प्रत्यय कारण कहा है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद ओर कषाय ये चारो विकारी भाव मोह-कर्म के उदयकाल मे होते है अत औदयिक भाव हैं। कही कही इन चारो के सक्षेप मे कषाय' इस नाम

से ही उल्लेख किया गया है । यथा 'सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्ध.' अर्थात् कषाय सहित होने के कारण जीव, कर्मरूप होने के योग्य पुद्गलो– कार्मण वर्गणाओ का जो ग्रहण करता है वही बन्ध है । यहा मिथ्यात्वादि समस्त कारणो को एक कषाय मे ही गर्भित किया है ।

अतत्त्व श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते है । उसके गृहीत और अगृहीत की अपेक्षा दो भेद है अथवा एकात, विपरीत, सशय, अज्ञान और वैनयिक की अपेक्षा पाच भेद है । पाच इन्द्रियो तथा मन के विषयो से विरक्त नही होता और षट्कागिक जीवो की हिंसा से विरति—निवृत्ति नही होना अविरति है । इसके उक्त प्रकार के बारह भेद है । धर्मकार्यों मे अनुत्साह होना प्रमाद है, इसके विकथा आदि १५ भेद है । आत्मा को कषने वाले दु ख देने वाले क्रोधादि विकारी भावो को कषाय कहते है, इसके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के भेद से पच्चीस भेद है । मन, वचन, काय के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशो के परिष्पन्द को योग कहते हैं, इसके सक्षेप मे तीन और विस्तार मे पन्द्रह भेद होते है ।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से बन्ध के चार भेद माने गए हैं । इनमे प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होते हैं । कर्मकाण्ड मे श्री नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है—

जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होति ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बन्धट्ठिदिकारणं णत्थि ।।

अर्थात् योग के निमित्त से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय के निमित्त से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं । अपरिणत—जहा कषाय का उपशम हुआ है ऐसे ग्यारहवें गुणस्थान मे और उच्छिन्न जहा कषायो का सर्वथा उच्छेद हो चुका है ऐसे बारहवें आदि गुणस्थानो मे स्थितिबन्ध का कारण नही है अत. वहा स्थिति और अनुभाग बन्ध होते ही नहीं हैं । योग के निमित्त से मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं । तात्पर्य यह है कि पहले से लेकर दशवें गुणस्थान तक प्रकृति आदि चारो बन्ध होते है और ग्यारहवें से तेरहवें तक मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है । चौदहवें गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाता है अत. वहा एक भी बन्ध नही होता । मिथ्यादर्शन का प्रथम गुणस्थान तक, एकदेश अविरति का पञ्चम गुणस्थान तक, प्रमाद का छठवे गुणस्थान तक, कषाय का दशवे गुणस्थान तक और योग का तेरहवें गुणस्थान तक अस्तित्व रहता है । जिसका जहा तक अस्तित्व रहता है वही तक उसके निमित्त से होने वाला बन्ध होता है । कषाय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन के भेद से चार मूलभेद होते है । इनमे अनन्तानुबन्धी दूसरे गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरण चौथे गुणस्थान तक, प्रत्याख्यानावरण पञ्चमगुणस्थान तक, संज्वलन दशवे गुणस्थान तक उदयरूप रहती है जो कषाय जहा तक उदयरूप रहती है वही तक उसके निमित्त से बधने वाली कर्मप्रकृतियो का बन्ध होता है । इन सभी कषायो की तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर के भेद से चार प्रकार की अवस्थाए होती है । मिथ्यादर्शन के भी असख्यात लोक प्रमाण अन्तर्विकल्प होते हैं । एक मिथ्यात्व के उदय मे इस जीव के मुनिघात करने के भाव होते है और एक मिथ्यात्व का उदय रहते हुए यह जीव स्वय मुनि होकर अट्ठाईस मूलगुणो का पालन करता है । एक मिथ्यात्व के उदयकाल मे यह जीव सातवे नरक की तेंतीस सागर की आयु बाधता है और एक मिथ्यात्व के उदयकाल मे नवम ग्रैवेयक की इकतीस सागर की आयु बाँधता है । तात्पर्य यह

है कि जहा जिस प्रकार के भाव होते है। वहा उसी प्रकार का वन्ध होता है।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औद्यिक और पारिणामिक इन पाच प्रकार के भावो मे मात्र औदयिक भाव वन्ध के कारण है शेपभाव वन्ध के कारण नही है। औदयिक भावो मे भी मोहनीय कर्म के उदय से जो भाव होते हैं वे ही वन्ध के कारण है अन्य भाव नही। जहा सम्यक्त्व सरागसंयम को बन्ध का कारण कहा है वहा इतना ही तात्पर्य विवक्षित है कि उनके काल मे वन्ध होता है, वे वध के कारण नही है, वन्ध के कारण तो उस काल मे रहने वाले रागादिक औदयिक भाव ही हैं। इस अभिप्राय को अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे निम्न प्रकार स्पष्ट किया है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपाय. ।।

एक देश रत्नत्रय की भावना करने वाले एक देश रत्नत्रय के धारक पुरुष के जो वन्ध होता है वह अवश्य ही रत्नत्रय के विरोधी—रागादिक भावो के द्वारा किया हुआ है क्योकि जो मोक्ष का उपाय है वह बन्ध का उपाय नही हो सकता अर्थात् रत्नत्रय को जब मोक्ष का कारण कहा है तव वह बन्ध का कारण नही हो सकता।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ।।

जिस अंश मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उस अंश मे इस जीव के वन्ध नही होता परन्तु जिस अंश मे राग है उस अंश मे वन्ध होता है।

योगात्प्रदेशबन्ध स्थितिबन्धो भवति य कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।।

प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होते है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र न योगरूप हैं और न कषाय रूप।

दर्शनमात्मविनिश्चित रात्मपरिज्ञानमिष्यते बोध।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ।।

पर पदार्थों से भिन्न आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और आत्मा मे स्थिर होना चारित्र है। इनसे बन्ध कैसे हो सकता है?

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्ध. ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ।।

आगम मे सम्यक्त्व और चारित्र के द्वारा जो तीर्थकर प्रकृति तथा आहारक शरीर नाम कर्म का बन्ध कहा गया है वह भी नय के ज्ञाता पुरुषो को दोष के लिये नही है। अर्थात् इस उल्लेख से पूर्वोक्त मान्यता मे कोई आपत्ति नही दिखती।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ।।

सम्यक्त्व और चारित्र के रहते हुए योग और कषाय तीर्थङ्कर तथा आहारक शरीर नाम कर्म का बन्ध करते है। सम्यक्त्व और चारित्र इस बन्ध मे उदासीन ही रहते हैं अर्थात् वे बन्ध के करने वाले नही —

ननु कथमेवं सिद्धयतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ।।
रत्नत्रयमिहहेतु निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आश्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ।।

यहा कोई प्रश्न करता है कि यदि रत्नत्रयबन्ध के कारण नही है तो फिर रत्नत्रय के धारक मुनिवरो के देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो का बन्ध कैसे सिद्ध हो जबकि यह सर्वजन सुप्रसिद्ध है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि रत्नत्रय तो निर्वाण का ही कारण है अन्य—बन्ध का नही। मुनिवरो के जो पुण्य कर्म का आस्रव होता है वह शुभोपयोग का अपराध है।

एकस्मिन्समवाया दत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशो रूढ़िमियः ।।

एक वस्तु मे दो विरुद्ध कार्यो का भी समवाय होता है अर्थात् जिस आत्मा मे रत्नत्रय है उसी आत्मा मे रागादि भाव भी विद्यमान रहते है। सम्यग्दर्शनादि बन्ध के कारण है यह व्यवहार तो उस प्रकार रूढि को प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार 'घी जलाता है' यह व्यवहार। परमार्थ से घी नही जलाता, घी मे रहने वाली अग्नि जलाती है, परन्तु लोक मे अग्नि को गौण कर घी को जलाने वाला कहा जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय वन्ध का कारण नही है उसके काल मे रहने वाला रागादि वन्ध का कारण है परन्तु उसे गौण कर सम्यग्दर्शनादि को वन्ध का कारण कह दिया जाता है।

यह ऊपर कह आए है कि प्रत्येक औदयिक भाव वन्ध के कारण नही है किन्तु मोहनीय कर्म के उदय मे होने वाले मोह एवम् रागद्वेष रूप औदयिक भाव ही बन्ध के कारण है। यही भाव प्रवचनसार मे कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट किया है—

उदयगदा कम्मंसा जिणवर वसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा वन्ध मणुहवदि ।।४३।।

कर्मशत्रुओ को जीतने वाले गणधरादिको में श्रेष्ठ जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि ससारी जीव के पुद्गल कर्मों के अश नियम से उदय मे आते हैं उन उदयागत कर्मांशो मे मूढ, रागी अथवा द्वेपी पुरुप ही वन्ध का अनुभव करता है अर्थात् कर्म का उदय तो प्रत्येक ससारी जीव के हैं परन्तु कर्म मात्र का उदय वन्ध का कारण नही है कर्मोदय मे मोह-राग-द्वेष रूप परिणमन करना ही वन्ध का कारण है।

मोह—मिथ्यात्व रूप परिणमन प्रथम गुणस्थान तक ही रहता है और रागद्वेष रूप परिणमन अपेक्षाकृत कम होता हुआ दशमगुणस्थान तक रहता है इसलिये स्थिति और अनुभागवन्ध दशमगुणस्थान तक ही होता है। ग्यारहवें से तेरहवें तक सिर्फ साता वेदनीय का योगकृत प्रकृति और प्रदेश वन्ध ही होता है। केवली भगवान् के अन्यान्य कर्मों के उदय से विहार करना, विहार करते-करते रुक जाना, समवसरण सभा मे स्थित होना, तथा धर्मोपदेश देना आदि जो क्रियाए है वे मोह-राग-द्वेप रूप परिणमन के अभाव मे वन्ध का कारण नही मानी गई है। कर्मोदय से होने वाली उनकी उक्त क्रियाए औदयिकी ही हैं तथापि मोहोदय से रहित होने के कारण वे वन्ध का कारण न होकर मोक्ष का ही कारण कही गई है और इसीलिये उन्हे उपचार से क्षायिकी कहा है।

इसी भाव को श्री जेनाचार्य ने प्रवचनसार की ४५वी गाथा की तात्पर्यवृत्ति मे प्रश्नोत्तर द्वारा इस प्रकार प्रकट किया है—

'अत्राह शिष्य:—औदयिका भावा बन्धकारणम्'

इत्यागमवचन तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिकाभावा वन्धकारण भवन्ति, किंतु मोहोदयसहिता। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनावलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बधो न भवति। यदि पुन कर्मोदयमात्रेण वन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदैव, वन्ध एव, न मोक्ष इत्यभिप्राय:'।

यहा कोई शिष्य कहता है कि यदि ऐसा है तो 'औदयिक भाव वन्ध के कारण हैं' आगम का यह वचन व्यर्थ हो जावेगा? इसका उत्तर यह है कि औदयिक भाव वन्ध के कारण होते हैं परन्तु मोहोदय से सहित। अर्थात् जो औदयिक भाव मोहोदय से सहित होते है वे ही वन्ध के कारण होते है सब नही। द्रव्यमोह का उदय होने पर भी यदि यह जीव शुद्धात्मभावना के वल से भावमोह रूप परिणमन नही करता है तो बन्ध नही होता है। 'यदि कर्मोदयमात्र से बन्ध होता है' ऐसा माना जावे तो ससारी जीवो के कर्मोदय सदा विद्यमान रहने से उनके बन्ध ही होता रहेगा, मोक्ष नही हो सकेगा।

यहा एक भाव यह भी प्रकट किया गया है कि जिस समय जीव के द्रव्यमोह का उदय चल रहा है, उस समय यदि यह जीव अपना उपयोग अन्यत्र से हटाकर शुद्धात्म स्वरूप की ओर लगाता है तो उसके वन्ध नही होता। यह कथन द्रव्यमोह के मन्दोदय की अपेक्षा ही बनता है क्योकि तीव्र उदयकाल मे तो शुद्धात्मा की भावना हो ही नही सकती। हा, मन्द उदय के समय यदि शुद्धात्मा की भावना रूप पुरुषार्थ होता है तो उसके वन्ध का अभाव तो नही किंतु न्यूनता अवश्य हो सकती है। करणानुयोग की पद्धति से सामान्यतया द्रव्य मोह का उदय दशमगुणस्थान तक रहता है। जब जैसा तीव्र, मध्य या मन्द उदय होता है तब वैसा बन्ध होता है। इन गुणस्थानो मे बन्ध का सर्वथा अभाव नही बनता।

कितने ही महानुभाव, तात्पर्यवृत्ति की उपर्युक्त पंक्तियो का फलितार्थ लगाते हुए कहते है कि विकारीभाव और कर्मोदय मे कार्य कारण भाव नही है, क्योकि द्रव्यमोह का उदय होने पर भी शुद्धात्मा की भावना करने वाले जीव के भवमोह नही होता तथा रागादिक विकारी भाव द्रव्य मे स्वत होते है, कर्मोदय के निमित्त से नही। परतु उनका यह फलितार्थ करणानुयोग की दृष्टि मे संगत प्रतीत नही होता। इतना तो होता है कि द्रव्यमोह का उदय मन्द होने पर भावमोह भी मन्द होता है और उस काल मे यह जीव शुद्धात्म स्वरूप का लक्ष्य कर मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करे तो उसका पुरुषार्थ सफल हो सकता है। परतु द्रव्यमोह का उदय होने पर विकारी भाव बिलकुल ही न हो अथवा रागादिकविकारी भाव कर्मोदय के निमित्त बिना स्वय हो, ऐसा नही हो सकता। वह ठीक है कि आत्मा मे रागादिभाव रूप परिणमन करने की योग्यता है परन्तु उस योग्यता के अनुसार रागादि रूप परिणमन करने मे द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त अपेक्षित रहता है। यही भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार की निम्नाकित गाथाओ मे प्रकट किया है :—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायलाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रूपादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

जैसे स्फटिक मणि आप शुद्ध है। वह लाल आदि रंग रूप स्वय नही परिणमता किन्तु लाल आदि अन्य द्रव्यो के द्वारा तद् तद् रूप हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है वह स्वय रागादिरूप परिणजन नही करता, किंतु रागादिक अन्य दोषो मे कारण तद्-तद् रूप परिणम जाता है। लेख का फलितार्थ यह है कि अपनी आत्मा मे विद्यमान वन्ध के कारणो का विचार कर उनसे निवृत्त होने का पुरुषार्थ करना चाहिये क्योकि बन्धावस्था आत्मा की विकृत अवस्था है।

❀

सोलह कारण भावनाएं और उनका मूलस्रोत

'तरन्ति भव्या येन तत् तीर्थं'—भव्य जीव जिसके द्वारा ससार सागर से पार होते हैं उसे तीर्थ कहते है। ऐसे तीर्थ को करने वाले—प्रवर्तने वाले पुरुष तंर्थंकर या तीर्थंकर कहलाते हैं। यह महत्वपूर्ण पद अत्यन्त दुर्लभ है। सम्पूर्ण मनुष्य लोक—अढाई द्वीप मे विद्यमान ७६२२८१६२४१४२६४३३७४६३५४३६५०३३६ पर्याप्तक मनुष्यो मे 'यदि एक साथ हो तो १७० से अधिक तीर्थंकर नही हो सकते। इसी से इस पद की दुर्लभता का अनुमान लगाया जा सकता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान मे चतुर्थ से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवे भाग तक विद्यमान सम्यग्दृष्टि को होता है। सम्यग्दर्शन मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक का नियम नही है। किसी भी कर्मभूमिज सम्यग्दृष्टि मनुष्य को इसका बन्ध हो सकता है। सम्यग्दर्शन के रहते हुए अपाय-विचव धर्म्यध्यान मे लीन मनुष्य के लोककल्याण करने का जो प्रशस्त राग होता है उसी से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। यदि यह प्रशस्तराग क्षायिक सम्यग्दृष्टि को नही है तो उसे बन्ध नही होगा और किसी क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को है तो उसे बन्ध हो जाएगा। जबकि क्षायिक सम्यग्दर्शन पूर्णतः निर्दोष रहता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन मे सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहने से चल, मल तथा अगाढ दोष लगते है।

तीर्थंकर गोत्र के बन्ध की चर्चा करते हुए, दो हजार वर्ष पूर्व रचित षट्खण्डागम के बन्धस्वामित्वविचय नामक अधिकार खण्ड ३, पुस्तक ८ मे श्री भगवन्त पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य ने—

कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ।।३६।।

इस सूत्र मे तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धप्रत्ययदर्शक सूत्र की उपयोगिता बताते हुए लिखा है कि 'यह तीर्थंकर गोत्र, मिथ्यात्व प्रत्यय नही हैं' अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से बधने वाली सोलह प्रकृतियो मे इसका अन्तर्भाव नही होता क्योकि मिथ्यात्व के होने पर उसका बन्ध नही पाया जाता। असयमप्रत्यव भी नही है क्योकि सयतो के भी उसका बन्ध देखा जाता है। कषाय-सामान्य-प्रत्यय भी नही है क्योकि कषाय होने पर भी उसका बन्धव्युच्छेद देखा जाता है अथवा कषाय के रहते हुए भी उसके बन्ध का प्रारम्भ नही पाया जाता। कषाय की मन्दता भी कारण नही है क्योकि कषाय की तीव्रता वाले नारकियो के भी इसका बन्ध देखा जाता है। तीव्रकषाय भी बन्ध का कारण नही है क्योकि सर्वार्थसिद्धि के देव और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मनुष्यो के भी बन्ध देखा जाता है। सम्यक्त्व भी बन्ध का कारण नही है क्योकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवो के तीर्थंकर कर्म का बन्ध नही पाया जाता और मात्र दर्शन की विशुद्धता भी कारण नही है क्योकि दर्शन मोह का क्षय कर चुकने वाले सभी जीवो के उसका बन्ध नही पाया जाता, इसलिए तीर्थंकर गोत्र के बन्ध का कारण कहना ही चाहिए।

---

१. पाच मेरु सम्बन्धी १६० विदेह, ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र को मिलाकर १७० तीर्थंकर एक साथ हो सकते हैं।

इस प्रकार उपयोगिता प्रदर्शित कर—

'तत्थ इमेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणामगोदं कम्म बंधंति' ।।४०।।

इस सूत्र मे कहा है कि आगे कहे जाने वाले सोलह कारणो के द्वारा जीव तीर्थंकर नामगोत्र को बाधते है। इस तीर्थङ्कर नामगोत्र का प्रारम्भ मात्र मनुष्य गति मे होता है क्योकि केवल ज्ञान से उपलक्षित जीवद्रव्य का सन्निधान मनुष्य गति मे ही सम्भव होता है अन्य गतियो मे नही।

इसी सूत्र की टीका मे वीरसेन स्वामी ने कहा है कि पर्यायार्थिक नय का आलम्बन करने पर तीर्थङ्कर-कर्मबन्ध के कारण सोलह है और द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन करने पर एक ही कारण होता है अथवा दो भी कारण होते है, इसलिये ऐसा नियम नही समझना चाहिये कि सोलह ही कारण होते है।

अग्रिम सूत्र मे इन सोलह कारणो का नामोल्लेख किया गया है—

'दसणविसुज्झदाए विणयसपण्णदाए सीलवदेसु णिरतिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसवेगसपण्णदाए जधाथामे तथा तवे साहूणं पासुजपरिचागदाए साहूण समाहिसंधारणाए साहूणं वज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहिं सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बधंति' ।।४१।।

१ दर्शनविशुद्धता, २ विनयसपन्नता, ३. शीलव्रतेष्वनतीचार, ४. आवश्यकापरिहीणता, ५.. क्षणलव-प्रतिबोधनता, ६ लब्धिसवेगसपन्नता, ७ यथास्थाम-यथाशक्ति तप, ८. साधूना प्रासुकपरित्यागता, ९. साधूना समाधिसधारणा, १०. साधूना वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११. अरहन्तभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३. प्रवचनभक्ति १४. प्रवचनवत्सलता, १५ प्रवचनप्रभावना, और १६ अभिक्षण अभिक्षण-प्रत्येक समय ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणो से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बन्ध करते है। दर्शनविशुद्धता आदि का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

१. दर्शनविशुद्धता—तीन मूढता तथा शंका आदिक आठ मलो से रहित सम्यग्दर्शन का होना दर्शनविशुद्धता है। यहा वीरसेनस्वामी ने निम्नाकित शका उठाते हुए उसका समाधान किया है।

शंका—केवल उस एक दर्शनविशुद्धता से ही तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध कैसे हो सकता है क्योकि ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टि जीवो के तीर्थङ्कर नामकर्म के बन्ध का प्रसङ्ग आता है।

समाधान—शुद्धनय के अभिप्राय से तीन मूढताओ और आठ मलो से रहित होने पर ही दर्शनविशुद्धता नही होती किन्तु पूर्वोक्त गुणो से स्वरूप को प्राप्त कर स्थित सम्यग्दर्शन का, साधुओ के प्रासुक परित्याग मे, साधुओ की सधारणा मे, साधुओ के वैयावृत्यसयोग मे, अरहन्तभक्ति, वहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनभावना और अभिक्षण-अभिक्षण ज्ञानोपयोग से युक्तता मे प्रवर्तने का नाम दर्शनविशुद्धता है। उस एक ही दर्शनविशुद्धता से जीव तीर्थङ्कर कर्म को वाधते हैं।

२. विनयसम्पन्नता—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विनय से युक्त होना विनयसम्पन्नता है।

३. शीलव्रतेष्वनतीचार—अहिंसादिक व्रत और उनके रक्षक साधनो मे अतीचार—दोप नही लगाना शीलव्रतेष्वनतीचार है।

४. आवश्यकापरिहीणता – समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग इन छह आवश्यक कार्यो मे हीनता नही करना अर्थात् इनके करने मे प्रमाद नही करना आवश्यकापरिहीणता है ।

५. क्षणलवप्रतिबोधनता—क्षण और लव कालविशेष के नाम हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील आदि गुणो को उज्ज्वल करना, दोषो का प्रक्षालन करना अथवा उक्त गुणो को प्रदीप्त करना प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण और प्रत्येक लव मे प्रतिबद्ध रहना क्षणलवप्रतिबोधनता है ।

६. लब्धिसवेगसपन्नता—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे जीव का जो समागम होता है उसे लब्धि कहते है । उस लब्धि मे हर्ष का होना सवेग है । इस प्रकार के लब्धि सवेग से—सम्यग्दर्शनादि की प्राप्तिविषयक हर्ष से सयुक्त होना लब्धिसंवेगसपन्नता है ।

७. यथास्थामतप—अपने बल और वीर्य के अनुसार बाह्य तथा अन्तरङ्ग तप करना यथास्थाम तप है ।

८. साधूनां प्रासुक परित्यागता—साधुओ का निर्दोष ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा निर्दोष वस्तुओ का जो त्याग—दान है उसे साधुप्रासुकपरित्यागता कहते हैं ।

९ साधूनां समाधिसंधारणा—साधुओ का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे अच्छी तरह अवस्थित होना साधुसमाधिसधारणा है ।

१०. साधूनां वैयावृत्ययोगयुक्तता—व्यावृत्त—रोगादिक से व्याकुल साधु के विषय मे जो किया जाता है उसे वैयावृत्य कहते है अथवा जिन सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदि गुणो से जीव वैयावृत्य मे लगता है उन्हें वैयावृत्य कहते है । उनसे सयुक्त होना सो साधुवैयावृत्ययोगयुक्तता है ।

११. अरहन्तभक्ति—चार घातिया कर्मो को नष्ट करने वाले अरहन्त अथवा आठो कर्मो को नष्ट करने वाले सिद्ध परमेष्ठी अरहन्त शब्द से ग्राह्य है । उनके गुणो मे अनुराग होना अरहन्तभक्ति हैं ।

१२. बहुश्रुतभक्ति—द्वादशाग के पारगामी बहुश्रुत कहलाते है उनकी भक्ति करना सो बहुश्रुतभक्ति है ।

१३ प्रवचनभक्ति—सिद्धान्त अथवा बारह अङ्गो को प्रवचन कहते है, उसकी भक्ति करना प्रवचनभक्ति है ।

१४. प्रवचनवत्सलता—देशव्रती, महाव्रती अथवा असँयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहलाते हैं, उनके साथ अनुराग अथवा ममेदभाव रखना प्रवचनवत्सलता है ।

१५. प्रवचनप्रभावना—आगम के अर्थ को प्रवचन कहते है उसकी कीर्ति का विस्तार अथवा वृद्धि करने को प्रवचनप्रभावना कहते है ।

१६. अभिक्षण-अभिक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता—क्षण-क्षण अर्थात् प्रत्येक समय ज्ञानोपयोग से युक्त होना अभिक्षण-अभिक्षणज्ञानोपयोगयुक्तता है ।

ये सभी भावनाएं एक दूसरे से सम्बद्ध है, इसलिये जहा ऐसा कथन आता है कि अमुक एक भावना से तीर्थंकर कर्म का बन्ध होता है वहा शेष भावनाएं उसी एक मे गर्भित हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

इन्ही सोलह भावनाओ का उल्लेख आगे चलकर उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ अध्याय मे इस प्रकार किया है—

'दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नताशीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगी शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिवैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य' ।

दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवस्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व — इन सोलह कारणो से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है ।

इन भावनाओ मे षट्खण्डागम के सूत्र मे वर्णित क्रम को परिवर्तित किया गया हैं । क्षणलव प्रतिबोधनता को छोडकर आचार्यभक्ति रखी गई है तथा प्रवचनभक्ति के नाम को परिवर्तित कर मार्गप्रभावना नाम रखा गया है । अभिक्षण-अभिक्षणज्ञानोपयोगयुक्तता के स्थान पर संक्षिप्त नाम अभीक्ष्णज्ञानोपयोग रखा है । क्षणलवप्रतिबोधनता भावना को अभीक्ष्णज्ञायोपयोग मे गंतार्थ मान कर छोडा गया है, ऐसा जान पडता है और ज्ञान के समान आचार को भी प्रधानता देने की भावना से बहुश्रुतभक्ति के साथ आचार्यभक्ति को जोडा गया है । शेष भावनाओ के नाम और अर्थ मिलते-जुलते हैं । इन सोलह भावनाओ का चिन्तन करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है । श्रद्धालु जन भाद्रपद, माघ और चैत मे षोडशकारणव्रत को करते है ।

त्याग धर्म का वैभव

इन्द्र वज्रा

त्याग विना नैय भवेन्नु मुक्तिस्त्यागादृते नास्ति हितस्य पन्था ।
त्यागो हि लोकोत्तरमस्ति तत्त्व यस्मात्ततोऽह किल त नमामि ॥१२६॥

त्याग के विना मुक्ति नही होती, त्याग के बिना हित का मार्ग नही है और यतश्च त्याग ही लोकोत्तर - अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म है अत मैं उसे नमस्कार करता हू ।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
पृष्ठ ८

समयप्राभृत—एक अध्ययन

ग्रंथ का नाम—

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिय' इस प्रतिज्ञावाक्य से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कुन्दकुन्दस्वामीको समयपाहुड (समयप्राभृत) अभीष्ठ था। परन्तु यह नाम आगे चलकर 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' इन सारान्त नामो के साथ 'समयसार' नामसे प्रचलित हो गया।

यह समयप्राभृत निम्नलिखित १० अधिकारो मे विभाजित है—१. पूर्वरङ्ग २ जीवाजीवाधिकार ३ कर्तृ-कर्माधिकार ४ पुण्यपापाधिकार ५. आस्रवाधिकार ६. सवराधिकार ७ निर्जराधिकार ८. वन्धाधिकार ९ मोक्षाधिकार और १० सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। इसमे नयोका सामञ्जस्य वैठाने के लिये अमृतचन्द्रस्वामीने पीछेसे स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाभावाधिकार नामक दो स्वतन्त्र परिशिष्ट और जोडे हैं। अमृतचन्द्र-सूरिकृत टीकाके अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओमे समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्यकृत टीकाके अनुसार ४४२ गाथाओमे।

इन अधिकारोका प्रदिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—

१. पूर्वरङ्गाधिकार

कुन्दकुन्दस्वामीने स्वय पूर्वरङ्ग नामका कोई अधिकार सूचित नही किया है परन्तु संस्कृतटीकाकार अमृत-चन्द्रसूरिने ३८वी गाथाकी समाप्तिकर पूर्वरङ्ग समाप्तिकी सूचना दी है। इन ३८ गाथाओमे प्रारम्भकी १२ गाथाए पीठिकारूपमे हैं। जिनमे ग्रन्थकर्त्ता ने मङ्गलाचरण, ग्रन्थप्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमयका व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनय के स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है। इन नयोके ज्ञानके बिना समयप्राभृतको समझना अशक्य है। पीठिका के बाद ३८वी गाथातक पूर्वरङ्ग नामका अधिकार है जिसमे आत्माके शुद्धस्वरूप का निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मामे जहाँ परद्रव्यजनित विभावभाव को स्वीकृत नही करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायो के साथ भेद भी स्वीकृत नही करता। वह इस बातको भी स्वीकृत नही करता कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये आत्मा के गुण हैं, क्योकि इनमे गुण और गुणीका भेद सिद्ध होता है। वह, यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यदर्शनादिरूप है। 'आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है' इस कथनको भी शुद्ध-नय स्वीकृत नही करता, क्योकि इस कथन मे आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायो मे विभक्त होता है। वह तो आत्मा को एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकार मे जीव के निजस्वरूपका कथनकर उसे परपदार्थों और परपदार्थोके निमित्तसे होनेवाले विभावोसे पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नही है, द्रव्यकर्म मेरा नहो है, और भावकर्म भी मेरा नही है, इस तरह इन पदार्थोंसे आत्मतत्त्वको पृथक् सिद्धकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव एव भाव्यभावक भावकी अपेक्षा भी आत्माको ज्ञेय तथा भाव्यसे पृथक् सिद्ध किया है। जिस

प्रकार दर्पण अपनेमे प्रतिबिम्बत मयूरसे भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानमे आये हुए घटपटादि ज्ञेयोंसे भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओके प्रतिबिम्बसे सयुक्त होनेपर भी तज्जन्यतापसे उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्वमे रहनेवाले सुख दु खरूप कर्मफलके अनुभवसे रहित है । इस तरह प्रत्येक परपदार्थोसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका श्रद्धान करना जीवतत्त्वके निरूपणका लक्ष्य है । इस प्रकरणके अन्तमे कुन्दकुन्दस्वामीने उद्घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाणमइयो सदा रूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तं पि ।। ३८ ।।

अर्थात् निश्चयसे मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन—ज्ञानसे तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है ।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि यह जीव, पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न हुई सयोगज पर्याय मे आत्म-बुद्धिकर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणतिमे हर्षविषादका अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी द्वेषी होता है और उसके निमित्तसे नवीन कर्मबन्धकर अपने ससारकी वृद्धि करता है । जब यह जीव, परपदार्थोसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करने लगता है तब परपदार्थोसे इसका ममत्वभाव स्वयमेव दूर होने लगता है ।

२. जीवाजीवाधिकार

जीवके साथ अनादिकालसे कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्यका सम्बन्ध चला आ रहा है । मिथ्यात्व दशा-मे यह जीव शरीररूप नोकर्मकी परिणतिको आत्माकी परिणति मानकर उसमे अहकार करता है—इस रूप ही मैं हूँ, ऐसा मानता है अत सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की है । उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादिकभाव कर्मोसे इसका पृथक्त्व दिखाया है । आचार्य महाराजने कहा है कि हे भाई ! ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणमन से निष्पन्न है अत पुद्गलके है, तू इन्हे जीव क्यो मान रहा है ? यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामपणिण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चति ।। ४४ ।।

जो स्पष्ट ही अजीव है उनके अजीव कहने मे तो कोई खास बात नही है परन्तु जो अजीवाश्रित परि-णमन जीवके साथ घुलमिलकर अनित्य तन्ययीभावसे तादात्म्य जैसी अवस्थाको प्राप्त हो रहे है उन्हे अजीव सिद्ध करना इस अधिकारकी विशेषता है । रागादिक भाव अजीव है, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है । अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नही हैं कि ये घट—पटादिके समान अजीव हैं । यहाँ 'अजीव है' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीवकी स्वभाव परिणति नही है । यदि जीवकी स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल मे इनका अभाव नही होता । परन्तु जिस पौद्-गलिक कर्मकी उदयावस्थामे ये भाव होते हैं उसका अभाव होनेपर ये स्वय विलीन हो जाते है । अग्निके ससर्गसे पानीमे उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदाके लिये नही आती है । अग्नि का सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है । इसी प्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मोके उदय कालमे होनेवाले रागादिभाव आत्माने अनुभूत होते है परन्तु वे संयोगज भाव होनेसे आत्माके विभाव भाव हैं, इसीलिये इनका अभाव हो जाता है ।

ये रागादिक भाव आत्माको छोडकर अन्य पदार्थोंमे नही होते इसलिये उन्हें आत्माके कहनेके लिये अन्य आचार्योंने एक अशुद्ध निश्चय नयकी कल्पना की है। वे, 'शुद्धनिश्चय नयसे आत्माके नही हैं परन्तु अशुद्ध निश्चय नयसे आत्माके है, ऐसा कथन करते है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी विभावको आत्मा माननेके लिये तैयार नही है। उन्हे आत्माके कहना, वे व्यवहार नयका विषय मानते है और उस व्यवहारका जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है।

इसी प्रसगमे जीवका स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है--

अरसमरूवमगंधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ॥ ४९ ॥

अर्थात् हे भव्य! तू आत्माको ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गन्ध रहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श रहित है, शब्द रहित है, अलिङ्गग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्गसे उसका ग्रहण नही होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नही किया गया है, ऐसा है, किन्तु चेतनागुणवाला है।

यहा चेतनागुण जीवका स्वरूप है और रस गन्ध आदि उसके स्वरूप नही है। परपदार्थसे उसका पृथक्त्व सिद्ध करनेके लिये ही यहाँ उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक—सभी जीवसे भिन्न हैं - जीवेतर है। इस तरह इस जीवाजीवाधिकारमे आचार्यने मुमुक्ष प्राणीके लिये पर पदार्थसे भिन्न जीवके शुद्धरूपका दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थको अजीव दिखलाया है। यह जीवाजीवाधिकार ३९ वी गाथासे लेकर ६८ वी गाथा तक चला है।

कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिक कर्म) अनादि काल से सम्बद्ध अवस्थाको प्राप्त है इसलिये प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्धका कारण क्या है? जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया? यदि जीवने कर्मको किया तो जीवमे ऐसी कौनसी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्मको किया? यदि विना विशेषताके ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्मको करें, इसमे क्या आपत्ति है? और कर्म ने जीवको किया तो कर्ममे ऐसी विशेषता कहाँसे आई कि वे जीवको कर सकें—उसमे रागादिक भाव उत्पन्न कर सकें। विना विशेषताके ही यदि कर्म रागादिक करते है तो कर्मके अस्तित्व काल मे सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिये। इस प्रश्नावलीसे बचनेके लिये यह समाधान किया है कि जीव के रागादि परिणामोसे पुद्गल द्रव्य मे कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गलके कर्मरूप परिणमन से उनकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर आत्मामे रागादिक भाव उत्पन्न होते है। इस समाधानमे जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि सयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकारमे कुन्दकुन्द स्वामी ने इसी बातका बडी सूक्ष्मतासे वर्णन किया है—

अमृतचन्द्र स्वामीने कर्ता, कर्म और क्रियाका लक्षण लिखते हुए कहा है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥ ५१ ॥

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते है और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तवमे ये तीनो ही भिन्न नही है एक द्रव्यकी ही परिणति हैं।

निश्चय नय, कर्तृकर्म भाव उसी द्रव्य मे मानता है जिसमे व्याप्य व्यापक भाव अथवा उपादानोपादेय भाव होता है। जो कार्य रूप परिणत होता है उसे व्यापक या उपादान कहते है और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय कहते है। 'मिट्टीसे घडा बना' यहाँ मिट्टी व्यापक व उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। यह व्याप्य व्यापक भाव या उपादानोपादेय भाव सदा एक द्रव्यमे ही होता है, दो द्रव्योमे नही क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकालमे नही कर सकता। जो उपादानके कार्यरूप परिणमन-मे सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमनमे कुम्भकार तथा दण्ड चक्र आदि। और उस निमित्तकी सहायतासे उपादानमे जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है जैसे कुम्भ-कार आदि अकी सहायतासे मिट्टीमे हुआ घटाकार परिणमन। यह निमित्त नैमित्तिक भाव दो विभिन्न द्रव्योमे भी बन जाता है परन्तु उपादानोपादेय भाव या व्याप्य व्यापक भाव एक द्रव्यमे ही बनमो है। जीवके रागादि भावका निमित्त पाकर पुद्गलमे कार्यरूप परिणमन होता है और पुद्गलकी उदयावस्थाका निमित्त पाकर जीव-मे रागादि भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनोमे निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी निश्चयनय उनमे कर्तृ-कर्मभावको स्वीकृत नही करता। निमित्त नैमित्तिक भावके होनेपर भी कर्तृकर्मभाव न माननेमे युक्ति यह दी है कि ऐसा माननेपर निमित्तमे द्विक्रियाकारित्वका दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमनका भी कर्ता होगा और उपादानके परिणमनका भी कर्ता होगा, जो कि सभव नही है। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

> जीवो ण करेदि घडं णेव पड णेव सेगगे दव्वे।
> जोगुवजोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

जीव न तो घटको करता है, न पटको करता है और न बाकीके अन्यद्रव्योंको करता है जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं।

इसकी टीकामे अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म है यदि इन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे करता है तो तद्रूपताका प्रसंग आता है और निमित नैमित्तिक भावसे करता है तो नित्यकर्तृत्वका प्रसग आता है परन्तु ऐसा नही, क्योकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है अत. न तो व्याप्य व्यापक भाव से कर्ता है और न निमित्त नैमित्तिक भावसे। किन्तु अनित्य जो योग और उपभोग है वे ही घट पटादि द्रव्यो के निमित कर्त्ता हैं। उपयोग और योग आत्माके विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घटको बनाऊं, तब कार्य योगके द्वारा आत्मा के प्रदेशोमे चञ्चलता आती है और चञ्चलताकी निमित्तता पाकर हस्तादिकके व्यापार द्वारा दण्डनि-मित्तक चक्र भ्रमि होती है तब घटादिककी निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञानके द्वारा करनेसे आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मोंका कर्ता कदापि नही हो सकता। यहाँ निमित्त कारणको दो भागोमे विभाजित किया है—एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोगका कर्ता है, यह साक्षात् निमित्तकी अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकारका साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकारके योग तथा उपयोगसे दण्ड तथा चक्रादिमे जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिककी उत्पत्ति होती है वह परम्परा निमित्तकी अपेक्षा कथन है। जब

परम्परा निमित्तसे होने वाले निमित्त नैमित्तिक भावको गौणकर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घट पटादि का कर्ता नही है परन्तु जब परम्परा निमित्तसे होनेवाले निमित्त नैमित्तिक भावको प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घटपटादिका कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्तिकी निम्न पक्तियोसे यही भाव प्रकट होता है—

'इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्व भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसगात् मोक्षाभावः।' गाथा १००

इस प्रकार परम्परा निमित्त रूपसे जीव घटादिकका कर्ता होता है, यदि मुख्य वृत्तिसे जीवको निमित्त कर्त्ता माना जावे तो जीवके नित्य होने से सदा ही कर्मकर्तृत्वका प्रसग आ जायगा और उस प्रसगसे मोक्षका अभाव हो जावेगा।

'घटका कर्ता कुम्हार नही है, पटका कर्ता कुविन्द नही है, और रथका कर्ता बढई नही है, यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थमे जब विचार किया जाता है तब कुम्हार, कुविन्द और बढई अपने-अपने उपयोग और योगके ही कर्ता होते है। लोक मे जो उनका कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परम्परा निमित्त-की अपेक्षा ही सगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्मका कर्ता कौन है ? तथा रागादिकका कर्ता कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमे जब व्याप्यव्यापकभाव या उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा विचार होता है तब बात आती है कि चूंकि कर्म-रूप परिणमन पुद्गलरूप उपादानमे हुआ है इसलिए इसका कर्ता पुद्गल ही है जीव नही है। परन्तु जब परम्परा निमित्तनैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार होता है तब जीवके रागादिक भावोका निमित्त पाकर पुद्-गलमे कर्मरूप परिणमन हुआ है इसलिए उनका कर्ता जीव है। उपादनोपादेयभावकी अपेक्षा रागादिकका कर्ता जीव है और परम्परा निमित्तनैमित्तभावकी अपेक्षा उदयावस्थाको प्राप्त रागादिक द्रव्य कर्म।

जीवादिक नौ पदार्थोंके विवेचनके बीचमे कर्तृकर्मभावकी चर्चा करनेमे कुन्दकुन्द स्वामीका इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव आपको किसी पदार्थका कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही राग-द्वेषके प्रपञ्चमे पडता है। अपने आपको परका कर्ता माननेसे अहकार उत्पन्न होता है और परकी इष्ट अनिष्ट परिणितिमे हर्ष विषादका अनुभव होता है। जब तक परपदार्थोका और तन्निमित्तक वैभाविकभावोमे हर्ष विषादका अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभावमे सुस्थिर नही होता। वह मोह की धारामे बह कर स्वरूपसे च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीवको अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिए। इसी उद्देश्यसे आस्रवादि तत्त्वोकी चर्चा करनेके पूर्व कुन्दकुन्द महाराज ने सचेत किया है कि हे मुमुक्ष प्राणी ! तू कर्तृत्व अहकारसे बच, अन्यथा रागद्वेषकी दल-दलमे फँस जावेगा।

'आत्मा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता नही हैं' निश्चय नयके इस कथनका विपरीत फलितार्थ निकाल कर जीवोको स्वच्छन्द नही होना चाहिए। क्योकि अशुद्ध निश्चयनयसे जीव रागादिक भावोका और व्यवहार नयसे कर्मोका कर्ता तथा भोक्ता स्वीकृत किया गया है। परस्पर विरोधी नयोका सामञ्जस्य पात्र भेदके विचार से ही सम्पन्न होता है।

इसी कर्तृकर्माधिकारमे अमृतचन्द्र स्वामीने अनेक नयपक्षोका उल्लेखकर तत्त्ववेदी पुरुषको उनके पक्षसे अतिक्रान्त-परे रहनेवाला बताया है। आखिर, नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन है, साध्य नही। एक अवस्था ऐसी भी आती है जहाँ व्यवहार और निश्चय दोनो प्रकारके नयोके विकल्पोका अस्तित्व नही रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेप चक्रका तो पता ही नही चलता कि वह कहाँ गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ६ ॥

४. पुण्यपापाधिकार

ससारचक्रसे निकलकर मोक्ष प्राप्त करनेके अभिलाषी प्राणीको पुण्यका प्रलोभन अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट करनेवाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी आस्रवाधिकारका प्रारम्भ करनेके पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते है कि हे मुमुक्षु ! तू मोक्षरूपी महानगरकी यात्राके लिये निकला है। देख, कही बीचमे ही पुण्यके प्रलोभनमे नही पड जाना। यदि उसके प्रलोभनमे पड़ा तो एक झटकेमें ऊपरसे नीचे आ जावेगा और सागरोपर्यन्तके लिये उसी पुण्यमहलमे नजरकैद हो जायगा।

अधिकारके प्रारम्भमे कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि लोग अशुभको कुशील और शुभको सुशील कहते है परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है ? जो इस जीवको ससारमे ही प्रविष्ट रखता है—इससे बाहर नही निकलने देता। बन्धनकी अपेक्षा सुवर्ण और लोह—दोनो की बेडियाँ समान है। जो बन्धनसे बचना चाहता है उसे सुवर्णकी बेड़ी भी तोडनी होगी।

वास्तवमे यह जीव पुण्यका प्रलोभन तोड़नेमे असमर्थ-सा हो रहा है। यदि अपने आत्मस्वातन्त्र्य तथा शुद्धस्वभावकी ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नही है। दया, दान, व्रताचण आदि के भाव लोकमे पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापोमे प्रवृत्तिरूपभाव पाप कहे जाते है। पुण्यके फल स्वरूप प्रकृतियोका बन्ध होता है और पापके फलस्वरूप पाप प्रकृतियोका। जब उन पुण्य और पाप प्रकृतियोका उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख दु खका अनुभव होता है। परमार्थसे विचार किया जावे तो पुण्य और पाप-दोनो प्रकारकी प्रकृतियोका बन्ध इस जीवको ससारमे ही रोकने वाला है। इसलिये इनसे बचकर उस तृतीया—वस्थाको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये जो पुण्य और पाप—दोनोके विकल्पसे परे है। उस तृतीया—वस्थामे पहुँचनेपर ही यह जीव कर्मबन्धसे बच सकता है और कर्मबन्धसे बचनेपर ही जीवका वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होने कहा है—

परमठ्ठबाहिरा जे अण्णाणे पुण्णमिच्छति ।
संसारगमणहेदु वि मोक्खहेउ आजणता ॥ १५४ ॥

जो परमार्थसे बाह्य है अर्थात् ज्ञानात्मक आत्माके अनुभवसे शून्य हैं वे अज्ञानसे ससार गमनका कारण होनेपर भी पुण्यकी इच्छा करते है तथा मोक्षके कारणको जानते भी नही हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञान से रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्ष का साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नही हैं और पुण्य को मोक्ष का साक्षात् कारण समझकर उसकी उपासना करते हैं जब कि यह पुण्य ससार को ही प्राप्ति का कारण है। यहाँ पुण्य रूप आचरण का निषेध नही है किन्तु पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात् मार्ग मानने का निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धा मे यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नही है तथा उसके फल स्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नही है। यहाँ इतनी बात ध्यान मे रखने योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धि पूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार बुद्धि पूर्वक पुण्याचरण नही छोड़ा जाता, वह तो शुद्धोपयोग की भूमिका मे प्रविष्ट होने पर स्वय छूट जाता है।

जिनागम का कथन नयसापेक्ष होता है अतः शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोगरूप पुण्य को त्याज्य कहा गया है परन्तु अशुभोपयोगरूप पाप की अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोग मे यथार्थ-मार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोग मे उसकी सभावना ही नही है। जैसे प्रात काल सम्बन्धी सूर्यलालिमा का फल सूर्योदय है और सायकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमा का फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथन को अगीकृत करते हुए श्रीकुन्दकुन्दस्वामी ने मोक्ष पाहुड मे कहा है—

> वर वयतवेहि तग्गो मा दुक्ख होउ णिरय इयरेहि।
> छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

और इसी अभिप्राय से पूज्यपाद स्वामी ने भी इष्टोपदेश मे शुभोपयोगरूप व्रताचरण से होनेवाले देवपद को कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरण से होने वाले नारकपद को बुरा कहा है—

> वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
> छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥२॥

अर्थात् व्रतो से देवपद पाना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रतो से नारकपद पाना अच्छा नही है। क्योकि छाया और धूप मे बैठकर प्रतीक्षा करने वालो मे महान् अन्तर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनो रूप है। "किन्ही-किन्ही आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण बताया है और मिथ्या दृष्टि के पुण्य को बन्ध का कारण। उनका यह कथन भी नयविवक्षा से सगत होता है। वस्तुतत्त्व का यथार्थ विश्लेषण करने पर यह बात अनुभव मे आती है कि सम्यग्दृष्टि जीव की, मोह का आशिक अभाव हो जाने से जो आशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जरा का कारण है और जो शुभ रागरूप अवस्था है वह बन्ध का ही कारण है। बन्ध के कारणो की चर्चा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने तो एक ही बात कही है—

> रत्तो वधदि कम्म मुंचदि जीवो विरागसपत्तो।
> एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रागी जीव कर्मो को बाधता है और विराग को प्राप्त हुआ जीव कर्मों को छोड़ता है । यह जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मों मे राग मत करो ।

यहाँ आचार्य ने शुभ अशुभ दोनो प्रकार के राग को ही बन्ध का कारण कहा है । यह बात जुदी है कि शुभराग से शुभ कर्म का बन्ध होता है और अशुभ राग से अशुभ कर्म का । शुभ राग के समय शुभ कर्मो मे स्थिति अनुभाग बन्ध अधिक होता है और अशुभ कर्मो में स्थिति-अनुभाग बन्ध अधिक होता है । वैसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो यथा सभव व्युच्छित्ति पर्यन्त सभी कर्मो का होता रहता है ।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चलता है ।

५. आस्रवाधिकार :

संक्षेप मे जीव द्रव्य की दो अवस्थाएँ है—एक ससारी और दूसरी मुक्त । इनमे संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है । ससार अवस्था का कारण आस्रव और बन्धतत्त्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण सवर और निर्जरा तत्त्व है । आत्मा के जिन भावो से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते है । ऐसे भाव चार है—१मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग । यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने इन चार के सिवाय प्रमाद का भी वर्णन किया है । इन्ही चार के निर्मित्त से आस्रव होता है । मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे चारो ही आस्रव है, उसके बाद अविरत सम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तोन आस्रव है । पञ्चम गुणस्थान मे एक देश अविरमण का अभाव हो जाता है । छठवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव है और उसके बाद ११, १२ और १३वें गुणस्थान मे मात्र योग आस्रव है । तथा चौदहवें गुणस्थान मे आस्रव विलकुल ही नही है ।

इस अधिकारकी खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके आस्रव और वन्ध नही होते । जब कि करणानुयोगकी पद्धतिसे अविरत सम्यग्दृष्टिको आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रमसे ७७,६७, ६३, ५६, ५८, २२, १७, १, १ प्रकृतियोंका वन्ध वताया है। यहाँ कुन्दकुन्द स्वामीका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके उदयकालमे इस जीवके तीव्र अर्थात् अनन्त ससारका कारण वन्ध होता था उस प्रकारका वन्ध सम्यग्दृष्टि जीवके नही होता । सम्यग्दर्शनकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके होनेके पूर्व ही वध्यमान कर्मोकी स्थिति घटकर अन्त.कोडाकोडी सागर प्रमाण हो जाती है और सत्ता-मे स्थित कर्मोकी स्थिति इससे भी सख्यात हजार सागर कम रह जाती है । वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोका आस्रव और वन्ध तो रुक ही जाता है । वास्तविक वात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव-के सम्यग्दर्शन रूप परिणामोसे वन्ध नही होता । उसके जो वन्ध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावर-णादि कषायोका उदय है । सम्यग्दर्शनादि भाव, मोक्षके कारण है वे वन्धके कारण नही हो सकते किन्तु उनके सद्भावकालमे जो रागादिक भाव है वे ही वन्धके कारण हैं । इसी भावको अमृतचन्द्रसूरिने निम्नाकित कलशमे प्रकट किया है—

---

१. सम्मादिठ्ठी पुण्णं ण होई संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होई हेउ जइवि णिदाणं ण सो कुणई ।। ४०४ ।। भावसग्रह देवसेनस्य

रागद्वषविमोहाना ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ।। ११९ ।।

चूँकि ज्ञानी जीवके राग द्वेष और विमोह का अभाव है इसलिये उसके वन्ध नही होता । वास्तवमे रागादिक ही वन्धके कारण हैं जहाँ जघन्य रत्नत्रयको वन्धका कारण वतलाया है वहाँ भी यही विवक्षा ग्राह्य है कि उसके कालमे जो रागादिक भाव हैं वे वन्धके कारण हैं । रत्नत्रयको उपचारसे वन्धका कारण कहा गया है ।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है ।

६. संवराधिकार

आश्रवका विरोधी तत्त्व संवर है अत आस्रवके वाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है । 'आस्रव निरोध' सवर' आस्रवका रुक जाना सवर है । यद्यपि अन्य ग्रन्थकारोंने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रको सवर कहा है किन्तु इस अधिकारमे कुन्दकुन्द स्वामीने भेद विज्ञानको ही सवरका मूल कारण वतलाया है । उनका कहना कि उपयोग, उपयोगमे ही है, क्रोधादिकमे नही है और क्रोधादिक, क्रोधादिक ही मे हैं उपयोगमे नही है । कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मासे भिन्न हैं अत उनसे भेदज्ञान प्राप्त करने मे महिमा नही है । महिमा तो उस रागादिक भाव कर्मोसे अपने ज्ञानोपयोगको भिन्न करनेमे है जो तन्मयीभावको प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं । अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधाराको भिन्न-भिन्न नही समझ पाता इसलिये वह किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर उसमे तत्काल राग द्वेष करने लगता है परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनो धाराओके अन्तरको समझता है इसलिये वह किसी पदार्थको देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी द्वेषी नही वनता । जहाँ यह जीव रागादिकको अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वही उनके सम्बन्धसे होने वाले राग द्वेषसे बच जाता है । राग द्वेषके बच जाना ही सच्चा सवर है । किसी वृक्षको उखाडना हो तो उसके पत्ते नोचनेसे काम नही चलेगा, उसकी जड पर प्रहार करना होगा । राग द्वेषकी जड है भेद विज्ञानका अभाव । अत भेदविज्ञानके द्वारा उन्हे अपने स्वरूपसे पृथक् समझना यही उनके नष्ट करने का वास्तविक उपाय है । इस भेद-विज्ञान की महिमा का गान करते हुए की अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। १३१ ।।

आजतक जितने सिद्ध हुए है वे सब भेदविज्ञानसे ही सिद्ध हुए और जितने ससारमे बद्ध हैं वे भेद-विज्ञानके अभावसे ही बद्ध है ।

---

१ तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय १ सूत्र २ 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रै' तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय २ सूत्र

इस भेदविज्ञानकी भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, परसे च्युत होकर ज्ञानमे ही प्रतिष्ठित नही हो जाता । परपदार्थसे ज्ञानको भिन्न करनेका पुरुषार्थ चतुर्थगुणस्थानसे शुरू होता है और दशमगुणस्थानके अन्तिम समयमे समाप्त होता है । वहाँ वह जीव परमार्थसे अपनी ज्ञानधाराको रागादिककी धारासे पृथक कर लेता है । इस दशामे इस जीवका ज्ञान, सचमुच ही ज्ञानमे प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये जीवके रागादिकके निमित्तसे होनेवाले बन्धका सर्वथा अभाव हो जाता है । मात्र योगके निमित्तसे सातावेदनीयका आस्रव और बन्ध होता है सो भी साम्परायिक आस्रव और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नही । मात्र ईर्यापथ आस्रव और प्रकृति-प्रदेश बन्ध होता है । अन्तर्मुहूर्तके भीतर ऐसा जीव नियमसे केवलज्ञान प्राप्त करता है । अहो भव्यप्राणियो ! सवरके इस साक्षात् मार्गपर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बन्धसे छुटकारा मिले ।

सवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है ।

७. निर्जराधिकार

सिद्धोके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिके अनन्तगुणित कर्म परमाणुओकी निर्जरा ससारके प्रत्येक प्राणी-के प्रतिसमय हो रही है पर ऐसी निर्जरासे किसीका कल्याण नही होता । क्योकि जितने कर्म परमाणुओकी निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रव पूर्वक बन्धको प्राप्त हो जाते है । कल्याण उस निर्जरासे होता है जिसके होनेपर नवीन कर्म परमाणुओका आस्रव और बन्ध नही होता । इसी उद्देश्यसे यहाँ कुन्द-कुन्द महाराजने सवरके बाद ही निर्जरा पदार्थका निरूपण किया है । सवरके बिना निर्जराकी कोई सफ-लता नही है ।

निर्जराधिकारके प्रारम्भ मे ही कहा गया है –

> **उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण ।**
> **ज कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ।। १९३ ।।**

सम्यग्दृष्टि जीवके इन्द्रियोके द्वारा जो चेतन अचेतन पदार्थोका उपभोग होता है वह सब निर्जराके निमित्त होता है । अहो ! सम्यग्दृष्टि जीवकी कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्ववद्ध कर्म उदयमे आ रहे है और उनके उदय कालमे होनेवाला उपभोग भी हो रहा है उससे नवीन बन्ध नही होता । किन्तु पूर्ववद्ध कर्म अपना ही फल देकर खिर जाते है । सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्मके फलका भोक्ता अपने आपको नही मानता । उनका ज्ञायक तो होता है वह, परन्तु भोक्ता नही । भोक्ता अपने ज्ञायक स्वभावका ही होता है । यही कारण है कि उसकी यह प्रवृत्ति निर्जरा का कारण बनती है ।

सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ है। ज्ञान सामर्थकी महिमा बतलाते हुए कुन्द-कुन्द स्वामीने कहा है कि जिस प्रकार विषका उपयोग करता हुआ वैद्य पुरुप मरणको प्राप्त नही होता उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गल कर्मके उदयका उपभोग करता हुआ बन्धको प्राप्त नही होता । वैराग्य सामर्थ्यकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभावसे मदिराका पान करनेवाला मनुष्य मदको प्राप्त नही होता, उसी प्रकार अरतिभावसे द्रव्यका उपभोग करनेवाला ज्ञानी पुरुष बन्धको प्राप्त नही होता । कैसी

अद्भुत महिमा ज्ञान और वैराग्यकी है उसके होनेपर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जराको करता है बन्धको नही । अन्य ग्रन्थोमे इस अविद्याकी निर्जराका कारण तपश्चरण कहा गया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामीने तपश्चरण को यथार्थ तपश्चरण बनानेवाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसीका सर्वप्रथम वर्णन किया है । ज्ञान और वैराग्यके विना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभबन्धका कारण होता है । ज्ञान और वैराग्यसे शून्य तपश्चरणके प्रभाव से यह जीव अनन्तवार मुनिव्रतधारण कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उतने मात्रसे ससारभ्रमण का अन्त नही होता ।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के क्या निर्जरा ही होती हैं, बन्ध नही होता? इसका उत्तर करणानुयोगकी पद्धतिसे यह होता है कि सम्यग्दर्शनसे जीवके निर्जराका होना प्रारम्भ हो गया । मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसी निर्जरा आज तक नही हुई । किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वह एसी निर्जराका पात्र बन जाता है । 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना· क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जराः' आगममे गुणश्रेणी निर्जराके ये दस स्थान वतलाये हैं । इनमे निर्जरा उत्तरोत्तर बढती जाती है । सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा और बन्ध दोनो चलते है । निर्जराके कारणो सेनिर्जरा होती है और बन्धके कारणो से बन्ध होता है । जहाँ बन्ध का सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवां गुणस्थान है । उसके पूर्व चतुर्थगुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और बन्ध दोनो चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे-जैसे यह जीव उपरितन गुणस्थानोमे चढता जाता है वैसे-वैसे निर्जराके वृद्धि और बन्धके न्यूनता होती जाती हैं । सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान और वैराग्यशक्तिकी प्रधानता हो जाती है इसलिये बन्धके कारणो की गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा ही होती है बन्ध नही । इसी निर्जराधिकारमे कुन्दकुन्दस्वामीने सम्यदर्शनके आठ अगो का विशद वर्णन किया है ।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है ।

८, बन्धाधिकार

आत्मा और पौद्गलिक कर्म – दोनो ही स्वतन्त्र द्रव्य है और दोनोमे चेतन अचेतनकी अपेक्षा पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर है । फिर भी इनका अनादिकालसे सयोग बन रहा है । जिस प्रकार चुम्बकमे लोहाको खींचनेकी और लोहामे खिचने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मामे कर्मरूप पुद्गलको खीचनेकी और कर्मरूप पुद्गलमे खिचनेकी योग्यता है । अपनी-अपनी योग्यताके कारण दोनोका वर्णन करते हुए आचार्यने स्नेह अर्थात् रागभावको ही प्रमुख कारण वतलाया है । अधिकारके प्रारम्भमे ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार धूलिवहुल स्थानमे कोई मनुष्य शस्त्रोंसे व्यायाम करता है, ताड तथा केले आदिके वृक्षोको छेदता-भेदता है, इस क्रियासे उसके शरीरके साथ धूलिका सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्धके होनेमे कारण क्या है ? उस व्यायामकर्त्ताके शरीरमे जो स्नेह-तैल लग रहा है, वही उसका कारण है । इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, इन्द्रिय विषयोमे व्यापार करता है, उस व्यापारके समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्बन्ध उसकी आत्माके साथ होता है, उसका कारण क्या है ? उसका कारण भी उसकी आत्मामे विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है । यह रागभाव जीवका स्वभाव नही किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्य कर्मोकी उदयावस्था रूप कारणसे उत्पन्न हुआ है ।

आस्रवाधिकारमे आस्रके जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग वतलाये है वे ही वन्धके भी प्रत्यय—कारण है। इन्ही प्रत्ययोका सक्षिप्त नाम रागद्वेष अथवा अध्यवसान-भाव है । इन अध्य-वसानभावोका जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ अशुभ कर्मोके साथ वन्धको प्राप्त नही होते । जैसा कि कहा है—

एदाणि णत्थि जेसिं अज्भवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणे ण लिंपति ॥२७०॥

मैं किसी की हिंसा करता हूँ तथा कोई अन्य जीव मेरी हिंसा करते हैं । मैं किसीको जिलाता हूँ तथा कोइ अन्य मुझे जिलाते है । मैं किसी को सुख दु ख देता हूँ तथा कोई अन्य मुझे सुख दु ख देता हैं— यह सव भाव अध्यवसानभाव कहलाते है । मिथ्यादृष्टि जीव इन अध्यवसानभावोको कर कर्मवन्ध करता है और सम्यग्दृष्टि जीव उससे दूर रहता है ।

सम्यग्दृष्टि जीव वन्धके इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्वन्ध अवस्था को प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नही समझ पाता इसलिये करोड़ो वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्वन्ध अवस्था प्राप्त नही कर पाता । मिथ्यादृष्टि जीव धर्मका आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं' धर्मको भोगके निमित्त करता है, कर्मक्षय के निमित्त नही ।

अरे भाई ! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इन अध्यवसानभावो को समझ और उन्हे दूर करने का पुरुषार्थ कर ।

कितने ही जीव निमित्त की मान्यता से वचने के लिये ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मामे रागा-दिक अध्यवसानभाव स्वतः होते है, उनमे द्रव्य कर्मकी उदयावस्था निमित्त नही है । ऐसे जीवोको वन्धाधि-कारकी निम्नगाथाओका मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है, वह स्वय ललाई, आदि रंग-रूप परिणमन नही करता किन्तु लाल आदि द्रव्योंसे ललाई आदि रगरूप परिणमन करता है । इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध हैं, वह स्वय राग आदि विभाव रूप परिणमन नही करता, किन्तु अन्य राग आदि दोषो—द्रव्यकर्मोदयजनित विकारोंसे रागादि विभावभावरूप परिणमन करता है ।

श्री अमृतचन्द्र स्वामीने कलशाके द्वारा उक्त भाव प्रकट किया है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन [illegible]

जिस प्रकार अर्ककान्त--स्फटिकमणि स्वय ललाई आदिको प्राप्त नही होता उसी प्रकार आत्मा स्वय रागादिके निमित्त भावको प्राप्त नही होता उसमे निमित्त परसंग ही है आत्माके द्वारा किया हुआ परका सग ही है ।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभावके अन्तरको समझता है । वह स्वभावको अकारण मानता है पर विभावको सकारण मानता है । ज्ञानी स्वभावमे स्वत्व वुद्धि रखता है और विभावमे परत्व वुद्धि । इसीलिये वह वन्धसे वचता है ।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है—

९. मोक्षाधिकार

आत्माकी सर्वकर्मसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है । मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व रहने वाली बद्ध अवस्थाका प्रत्यय कराता है । मोक्षाधिकारमे मोक्षप्राप्तिके कारणोका विचार किया गया है । प्रारम्भमे ही कुन्दकुन्द स्वामी लिखते है जिस प्रकार चिरकालसे वन्धनमे पडा हुआ कोई पुरुप उस वन्धनके तीव्र मन्द या मध्यमभावको जानता है तथा उसके कारणोको भी समझता है परन्तु उस वन्धनका—वेडीका छेदन नही करता है तो उस वन्धनसे मुक्त नही हो सकता । इसी प्रकार जो जीव कर्मवन्धके प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग वन्धको जानता है तथा उनकी स्थिति आदिको भी समझता है परन्तु उस वन्धको छेदनेका पुरुषार्थ नही करता तो वह उस कर्मवन्धसे मुक्त नही हो सकता ।

इस सदर्भमे कुन्दकुन्द स्वामीने वडी उत्कृष्ट वात कही है । मेरी समझसे वह उत्कृष्ट वात महाव्रताचरण रूप सम्यक् चारित्र है । हे जीव ! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्म वन्धनसे वद्ध हूँ और वद्ध होने के कारणोंको भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्म वन्धसे मुक्त करने वाला नही है । मुक्त करने वाला तो यथार्थ श्रद्धान और ज्ञानके साथ होनेवाला सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ ही है । जब तक तू इस पुरुषार्थको अगीकृत नही करेगा तव तक वन्धनसे मुक्त होना दुर्भर है । मात्र ज्ञान और दर्शनको लिये हुए तेरा सागरो पर्यन्तका दीर्घकाल यो ही निकल जाता है वहाँ तेरा कार्य वननेमे विलम्व नही लगता । यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्तमे भी काम बन जाता है ।

हे जीव ! तूं मोक्ष किसका करना चाहता है ? आत्माका करना चाहता हूँ । पर सयोगी पर्यायके तो अन्दर तूने आत्माको समझा या नही ? इस वातका तो विचार कर । कही इस सयोगी पर्यायको ही तूंने आत्मा तो नही समझ रखा है । मोक्ष प्राप्तिका पुरुषार्थ करनेके पहले आत्मा और बन्धको समझना आवश्यक है । कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—

जीवो बधो य तहा छिज्जति सलक्खणोहिं णियएहिं ।
बधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और वन्ध अपने-अपने लक्षणोसे जाने जाते हैं सो जानकर वन्ध तो छेदनेके योग्य है और जीव—आत्मा ग्रहण करनेके योग्य है ।

शिष्य कहता है भगवान् ! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्माका ग्रहण कर सकूँ। उत्तर में कुन्दकुन्द महाराज कहते है—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्माका ग्रहण कैसे किया जावे ? प्रज्ञा—भेद ज्ञानके द्वारा आत्माका ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञासे उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञासे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अह तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव है वे मुझसे पर है।

इस प्रकार स्वपरके भेद विज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्ष प्राप्तिका वास्तविक पुरुषार्थ है। मोह और क्षोभ से रहित आत्माकी परिणतिको चारित्र कहते है। व्रत, समिति, गुप्ति आदि, इसी वास्तविक चारित्रकी प्राप्तिमे साधक होनेसे चारित्र कहे जाते है।

यह अधिकार २८८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है।

१०. सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आत्माके अनन्त गुणोमे ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमे किसी प्रकारका विकार शेष न रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारोमे उक्त अनुक्त बातोका एक बार फिरसे विचारकर ज्ञानको सर्वथा निर्दोष बनानेका प्रयत्न इस सर्वविशुद्धध्यनाधिकारमे किया गया है।

'आत्मा पर द्रव्यके कर्तृत्वसे रहित है' इसके समर्थनमे कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुण पर्याय रूप परिणमन करता है अन्य द्रव्य रूप नही, इसलिये वह परका कर्त्ता नही हो सकता, अपने ही गुण और पर्यायोका कर्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मोका कर्ता नही है। कर्मोका कर्ता पुद्गल द्रव्य है क्योकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्यमे ही हो रहा है। इसी तरह रागादिक का कर्ता आत्मा ही है, पर द्रव्य नही, क्योकि रागादि रूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्त प्रधान दृष्टिको लेकर पहले अधिकारमे पुद्गलजन्य होनेके कारण रागको पौद्गलिक कहा है। यहाँ उपादान प्रधान दृष्टिको लेकर कहा गया है कि चूंकि रागादि रूप परिणमन आत्माका होता है, अत सात्माके हैं। अमृतचन्द्रसूरिने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमे परद्रव्यको ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धि हैं तथा मोहरूपी नदीको नही तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।।२२१।।

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादानकी मान्यताका समर्थन करनेके लिये इस कलशाका अवतरण दिया करते हैं पर वे श्लोक मे पडे हुए 'एव' शब्दकी ओर दृष्टिपात नही करते । यहाँ अमृतचन्द्रसूरि 'एव' शब्द के द्वारा यह प्रकट कर रहे है कि जो रागकी उत्पत्तिमे परद्रव्य निमित्त कारण मानते हैं, स्वद्रव्यको नही मानते, वे मोह नदीको नही तैर सकते । रागादिककी उत्पत्ति मे परद्रव्य निमित्त कारण है और स्वद्रव्य उपादान कारण है । जो पुरुष स्वद्रव्य रूप उपादान कारण को न मानकर परद्रव्य को ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्त कारण से उनकी उत्पत्ति मानते है वे मोह नदी नही तैर सकते । यह ठीक है कि निमित्त, कार्य रूप परिणत नही होता परन्तु कार्य की उत्पत्ति मे उसका साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है । अन्तरग बहिरग कारणोसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, यह जिनागमकी निर्विवाद सनातन मान्यता है । यहाँ जिस निमित्तके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक रहता है वही निमित्त शब्द से विवक्षित है इसका ध्यान रखना चाहिये ।

आत्मा पर का—कर्मका कर्ता नही है, यह सिद्धकर जीवको कर्म चेतनासे रहित सिद्ध किया गया है । इसी तरह ज्ञानो जीव अपने ज्ञायक स्वभावका ही भोक्ता है, कर्मफलका भोक्ता नही है, यह सिद्ध कर उसे कर्मफल चेतना से रहित सिद्ध किया गया है । ज्ञानी तो एक ज्ञान चेतना से ही सहित है, उसी के प्रति उसकी स्वत्वबुद्धि रहती है ।

इस अधिकार के अन्त मे एक बात और बड़ी सुन्दर कही गई है । कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थ के नानालिङ्ग धारण करने की प्रेरणा इसलिये करते है कि ये मोक्षमार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नही है, मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है । इसलिये—

मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि तं चेव झाहि तं चेया ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।४१२।।

मोक्षमार्गमे आत्माको लगाओ, उसीका ध्यान करो, उसीका चिन्तन करो और उसमे विहार करो, अन्य द्रव्यो मे नही ।

इस निश्चयपूर्ण कथनका कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्दस्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावक लिङ्ग-का निषेध करते है । इसलिये वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षाको करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छह मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ।।४१४।।

परन्तु व्यवहार नय दोनो नयोको मोक्ष मार्गमे कहता है और निश्चय नय मोक्षमार्गमे सभी लिङ्गोको इष्ट नही मानता ।

इस तरह विवाद के स्थलों को कुन्दकुन्द स्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते है। जिनागम का कथन नयविवक्षापर अवलम्बित है, यह तो सर्वसमत बात है, इसलिये व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षा को प्रकट करते चले और श्रोता भी उस नय विवक्षा से व्याख्यात तत्त्व को उसी नयविवक्षा से ग्रहण करने का प्रयास करें तो विसवाद होने का अवसर ही नही आवे।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार

ये दो अधिकार अमृतचन्द्र स्वामी ने स्वरचित आत्मख्याति टीका के अङ्गरूप मे लिखे हैं। मूल मे तो उक्त १० ही अधिकार है। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत या समयसार अध्यात्म ग्रन्थ है। अध्यात्म ग्रन्थो का वस्तुतत्त्व सीधा आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला होता है। इसलिए उसके कथन मे निश्चयनयका आलम्बन प्रधान रूप से लिया जाता है। परपदार्थ से सम्बन्ध रखने वाले व्यवहारनयका आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनो नयो के प्रधान और गौणभाव पर दृष्टि नही रखते है उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रम का निराकरण करने के उद्देश्य से ही अमृतचन्द्र स्वामी ने इन अधिकारो का अवतरण किया है।

स्याद्वाद अधिकार मे उन्होने स्याद्वाद के वाच्यभूत अनेकान्त का समर्थन करने के लिये तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयो से आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। अन्त मे कलश काव्यो के द्वारा इसी बात का समर्थन किया है। अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेकान्त को परमागमका जीव-प्राण और समस्त नयो के विरोध को नष्ट करनेवाला माना है। जैसा कि उन्होने स्वरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रथ के मङ्गलाचरक्ष के रूप मे कहा है—

परमागमस्य बीजं[1] निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
संकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

आत्मख्याति टीका के प्रारम्भ मे भी उन्होने यही आकाक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अनेक धर्मात्मक परमात्मतत्त्व के स्वरूप का अवलोकन करने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकार मे उन्होने जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, आदि ४७ शक्तियो का निरूपण किया है जो नय-विवक्षा के परिज्ञान से ही सिद्ध होता है।

उपायोपेयाधिकार मे उपायोपेय भाव की चर्चा की गई है, जिसका सार यह है—

---

१. क्वचिद् जीवं इति पाठान्तरम्।

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जाती है वह उपाय है और उस उपाय के द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जावे वह उपेय है । आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र वस्तु है तो भी उसमे उपायोपेयभाव विद्यमान है । क्योकि उस आत्मवस्तु के एक होने पर भी उसमे साधक और सिद्ध के भेद से दोनो प्रकार का परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक है और आत्मा ही सिद्ध है । उन दोनो परिणामो मे साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहलाता है । यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण ससार मे भ्रमण करता है । जब तक व्यवहार रत्नत्रय को निश्चल रूप से अगीकृत कर अनुक्रम से अपने स्वरूपानुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधकभाव है और निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता से समस्त कर्मों का क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धभाव है । इन दोनो मे भावरूप परिणमन ज्ञान का ही है इसलिये वही उपाय है और वही उपेय है । यह गुण की प्रधानता से कथन है ।

शुद्ध सम्यक्त्वभूतिः

मालिनी छन्द

अलमल मतिजल्पैः सर्वथा स्वस्ति तस्यै सकल विधि विलासोच्छेदनोद्दीक्षितायै ।
वितत्तभवजतीव्रोत्तापताम्यज्जनानां तुहिनकर विभूत्यै शुद्धसम्यक्त्वभूत्यै ।।२७९।।

स जयति जिनमान्यः शुद्धसम्यक्त्वभावो ।
वितत्तभववनाली प्रोज्ज्वलत्पावकात्मा ।
सकल सुख निधानः सर्वभावप्रधानो ।
निखिलदुरित जालक्षालनः शान्तिरूपः ।।२८०।।

अधिक कहने से क्या लाभ है ? उस शुद्ध सम्यक्त्व रूपी विभूति की सब प्रकार से स्वस्ति कामना करता हूं कि जो समस्त कर्म विलासो का उच्छेद करने मे तत्पर है और विस्तृत ससाररूपी तीव्र ताप से दुखी मनुष्यो के लिये चन्द्रमा के समान है ।।२७९।।

जो अतिशय विस्तृत ससार रूपी वन समूह को भस्म करने के लिये प्रचण्ड अग्नि स्वरूप है, समस्त सुखो का भाण्डार है, सब भावो मे प्रधान है, समस्त पाप समूह को धोने वाला है तथा क्षमा रूप है, वह जिनेन्द्रमान्य शुद्ध सम्यक्त्व भाव जयवत प्रवर्तनता है—सर्वोत्कृष्ट है ।।२८०।।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
प्रथममयूख

प्रवचनसार : एक अनुशीलन

प्रवचनसार :

प्रवचनसारके प्रथम संस्कृत टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरिके मतानुसार इसमे २७५ गाथाएँ है और यह ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकारके भेदसे तीन श्रुतस्कन्धो अध्यायोमे विभाजित हैं। प्रथम श्रुतस्कन्धमे ९२, दूसरे श्रुतस्कन्धमे १०८ और तीन श्रुतस्कन्धमे ७५ गाथाएँ हैं। द्वितीय संस्कृत टीकाकार श्री जयसेनाचार्य के मतानुसार प्रवचनसारमे ३११ गाथाएँ हैं। जिनमे प्रथम श्रुतस्कन्धके १०१, द्वितीय श्रुतस्कन्धमे ११२ और तृतीय श्रुतस्कन्धके ९७ गाथाएँ है। इन स्कन्धोमे प्रतिपादित विषयोकी सक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है।

(१) ज्ञानाधिकार—

चारित्र दो प्रकारका है सराग चारित्र और वीतराग चारित्र। प्रारम्भके इन दोनो चारित्रोका फल वतलाते हुए कहते है कि दर्शन और ज्ञानकी प्रधानतासे युक्त चारित्र से जीवको देव, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदिके विभवके साथ निर्वाणकी प्राप्ति होती है अर्थात् सराग चारित्रसे स्वर्गादिक और वीतराग चारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है। दोनोका फल वतलाते हुए फलितार्थ रूपमे यह भाव भी प्रकट किया गया है कि चूँकि जीवका परम प्रयोजन निर्वाण प्राप्त करना है अत. उसका साधक वीतराग चारित्र ही उपादेय है और स्वर्गादिककी प्राप्तिका साधक सराग चारित्र हेय है। चारित्रका स्वरूप वतलाते हुये कहा है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जोसो सोमो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

अर्थात् चारित्र ही वास्तवमे धर्म है, आत्माका जो समभाव है वह धर्म कहलाता है तथा मोहमिथ्यात्व एवं क्षोभ–राग द्वेषसे रहित आत्माका जो परिणाम है वह समभाव है। इस तरह चारित्र और धर्ममे एकत्व वतलाते हुए कहा है कि आत्माकी जो मोहजन्य विकारोंसे रहित परिणति है वही चारित्र अथवा धर्म है। ऐसा चारित्र जब इस जीवको प्राप्त होता है तभी वह निर्वाणको प्राप्त होता है। यही भाव हिन्दीके महान् कवि पं० दौलतरामजीने छहढालामे प्रकट किया है—

'जो भाव मोह तें न्यारे दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबहि जिय धारे तव ही सुख अचल निहारे।'

मोहते पृथक् जो दर्शन ज्ञान व्रत आदिक आत्माके भाव हैं वे ही धर्म कहलाते हैं। ऐसा धर्म, जब यह जीव धारण करता है तव ही अचल—अविनाशी—मोक्षसुखको प्राप्त होता है।

धर्मकी इस परिभाषासे, उसका पुण्यसे पृथक्करण स्वयमेव हो जाता है अर्थात् शुभोपयोग परिणति रूप जो आत्माका पुण्यभाव है वह मोहजन्य विकार होनेसे धर्म नही है। उसे निश्चय धर्मका कारण होसे व्यवहार-से धर्म कहते है।

चारित्ररूप धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगसे युक्त है तो वह निर्वाण सुखको—मोक्षके अनन्त आनन्द-को प्राप्त होता है और यदि शुभोपयोग से सहित है तो स्वर्गसुख को प्राप्त होता है। चूंकि स्वर्गसुख प्राप्त करना ज्ञानी जीवका लक्ष्य नही है अत उसके लिये वह हेय है। अशुभ, शुभ और शुद्धके भेदसे उपयोगके तीन भेद है। अशुभोपयोगके द्वारा यह जीव कुमनुष्य, तिर्यञ्च तथा नारकी होकर हजारो दु:खोको भोगता हुआ ससार-मे भ्रमण करता है। तथा शुभोपयोगके द्वारा देव और चक्रवर्ती आदि उत्तम मनुष्य गति के सुख भोगता है। शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने शुद्धोपयोगके धारक जीवों के सुखका कितना हृदयहारी वर्णन किया है। देखिये—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोमवमणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुह सुद्धुवयोगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

शुद्धोपयोगसे प्रसिद्ध—कृतकृत्यताको प्राप्त हुए अरहत और सिद्ध परमेष्ठीको जो सुख प्राप्त होना है वह अतिशय पूर्ण है, आत्मोत्थ है, विषयो से परे है, अनुपम है, अनन्त है तथा कभी—नष्ट होने वाला नही है।

शुद्धोपयोगके फलस्वरूप यह जीव उस सर्वज्ञ अवस्थाको प्राप्त करता है जिसमे इसके लिए कुछ भी परोक्ष नही रह जाता है। वह लोकालोकके समस्त पदार्थोको एक साथ जानने लगता है। सर्वज्ञता आत्माका स्वभाव है परन्तु वह राग परणति के कारण प्रकट नही हो पाता। इसगुणस्थानके अन्तमे ज्योही वह राग परणतिका सर्वथा क्षय करता है त्योही अन्तर्मुहूर्तक भीतर नियम से सर्वज्ञ हो जाता है। आगम मे छद्मस्थ वीतराग का काल अन्तर्मुहूर्त ही बतलाया है जबकि वीतराग सर्वज्ञ का काल सिद्ध पर्याय की अपेक्षा सादि अनन्त है। वेदान्त आदि दर्शनो मे आत्मा को व्यापक कहा है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ज्ञान की अपेक्षा ही आत्मा को व्यापक कहते हैं। चूंकि आत्मा लोक-अलोक को जानता है अत वह लोक-अलोक मे व्यापक है। प्रदेश-विस्तार की अपेक्षा प्राप्त शरीर के प्रमाण है।

ज्ञान, ज्ञेय को जानता है फिर भी उन दोनो मे पृथक् भाव हैं। यह ज्ञान की स्वच्छता का ही फल है। देखिये इसका कितना सुन्दर वर्णन हैं—

ण पविट्ठो णाणी णापविट्ठो णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेस ॥ २९ ॥

जिस प्रकार चक्षु रूप को जानता है परन्तु रूप मे प्रविष्ट नही होता और न ही चक्षु मे प्रविष्ट होता है उसी प्रकार इन्द्रियातीत ज्ञान का धारक आत्मा समस्त जगत् को जानता है फिर भी उसमे प्रविष्ठ नही होता और न ही समस्त जगत् ज्ञान मे प्रविष्ट होता है। ज्ञान और ज्ञेय के प्रदेश एक दूसरे मे प्रविष्ट नही होते मात्र ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा ही इनमे प्रविष्ट का व्यवहार होता है

———

केवल ज्ञान का धारक शुद्धात्मा, पदार्थों को जानता हुआ भी उन पदार्थों के रूप न परिणमन करता है, न उन्हे ग्रहण करता है और न उनमे उत्पन्न होता है इसलिये अबन्धक कहा गया है। यथार्थ मे ज्ञान की हीनाधिकता बन्ध का कारण नही है किन्तु उसके काल मे पायी जाने वाली राग द्वेष रूप परणित ही बन्ध का कारण है। चूंकि केवल ज्ञानी आत्मा राग द्वेष की परिणति से रहित है अतः वह अबन्धक है। यद्यपि सयोग केवली अवस्था मे सातावेदनीय का बन्ध कहा गया है तथापि स्थिति और अनुभाव बन्ध से रहित होने के कारण उसकी विवक्षा नही की गई है। गाथा निम्न प्रकार है—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु।
जाणण्णवि ते आदा अवंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का अनुजीवी गुण है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का अनुजीवी गुण है। प्रत्येक आत्मा के अन्दर सुख का असीम सागर लहरा रहा है पर उस ओर इस आत्मा का लक्ष्य नही जाता। अज्ञानावस्था मे यह आत्मा शरीरादि परपदार्थो मे सुख का अन्वेषण करता है और उन्हे सुख का स्थान समझ उनमे रागभाव करता है। आचार्य महाराज आत्मा की इस भूल को निरस्त करने के लिये कहते हैं कि यह आत्मा स्पर्शनादि इन्द्रियो के द्वारा इष्ट विषयो को प्राप्त कर स्वय स्वभाव से ही सुखरूप परिणमन करता है, शरीर सुखरूप नही है, और न ही शरीर सुख का कारण है। शरीरो मे वैक्रियिक शरीर सुखोपभोग की अपेक्षा उत्तम माना जाता है परन्तु वह भी सुख रूप नही है और न सुख का कारण है। जडरूप शरीर से चैतन्य गुण के अविनाभावी सुख की उद्भूति हो नही सकती। विषयो से सुख नही होता, इस विषय मे देखिये कितना स्पष्ट कथन है—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्य दीवेण णत्थि कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा विषया किं तत्थ कुव्वंति ॥ ६७ ॥

जिस प्रकार जिस जीव की दृष्टि अन्धकार को हरने वाली होती है उसे दीपक से क्या प्रयोजन है? इसीप्रकार जिसकी आत्मा स्वय सुख रूप है उसे विषयो से क्या प्रयोजन है। ज्ञान और सुख का प्रगाढ सम्बन्ध है। चूंकि अरहत अवस्था मे अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट हुआ है अत अतीन्द्रिय सुख भी उनके प्रकट होता है। अनन्त ज्ञान होते ही अनन्त सुख प्रकट हो जाता है। अनन्त सुख आत्मजन्य है, उसमे इन्द्रियो की सहायता अपेक्षित नही होती। यह आत्मजन्य सुख अरहन्त तथा सिद्ध अवस्था मे ही प्रकट होता है। स्वाभाविक सुख देवो के नही होता, क्योकि वे पञ्चेन्द्रियो के समूह रूप शरीर की पीडा से दुखी होकर रमणीय विषयो मे प्रवृत्ति करते है। जब तक यह आत्मा सुखानुभव के लिये रमणीय पदार्थों की आकाँक्षा करता है तब तक उसे स्वाभाविक सुख प्राप्त नही हुआ है यह निश्चय से समझना चाहिये। यह आत्मजन्य सुख शुद्धोपयोग से ही प्राप्त हो सकता है शुभोपयोग से नही। शुभोपयोग के द्वारा इन्द्र तथा चक्रवर्ती के पद को प्राप्त हुए जीव सुखी जैसे मालूम होते है परन्तु परमार्थ से सुखी नही है। यदि परमार्थ से सुखी होते तो विषयो मे—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोपभोगो मे झपापात नही करते।

शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले इन्द्रियजन्य सुख का वर्णन देखिये कितना मार्मिक है—

सपरं वाधासहियं विच्छिण्णं बधकारणं विषमं।
ज इदिएहिं लद्ध तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ ७३ ॥

इन्द्रियो से प्राप्त होने वाला जो सुख हैं वह सपर—पराधीन है, बाधासहित—क्षुधा तृषा आदि की बाधा से सहित है, विच्छिन्नं—बीच-बीच मे विनष्ट होता रहता है, बन्ध का कारण है तथा विषम है। वास्तव मे वह दुख.रूप ही हैं।

जब इन्द्रियजन्य सुख को परमार्थ से दुख की श्रेणी मे ही रख दिया तब पुण्य और पाप मे अन्तर नही रह जाता। दोनो ही सासारिक दु खो से उत्तीर्ण होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये तो शुद्धोपयोग की ही शरण ग्राह्य है। पुण्य और पाप की समानता को सिद्ध करते हुए कहा है—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विशेषो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपार संसारं मोहसछण्णो ।। ७७ ।।

पुण्य और पाप मे विशेषता नही है - समानता है, ऐसा जो नही मानता है वह मोह से आच्छादित होता हुआ भयकर अपार ससार मे भ्रमण करता रहता है।

मोह से किस प्रकार निर्मुक्त हुआ जा सकता है। इसका समाधान करते हुए लिखा है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।। ८० ।।

जो द्रव्य, गुण और पर्याय की अपेक्षा अरहत को जानता है वह आत्मा को जानता है और जो आत्मा को जानता है उसका मोह नियम से नाश को प्राप्त होता है। भाव यह है कि मोह से सम्बन्ध छुडाने के लिये इस जीव को सबसे पहले शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर अपना लक्ष्य बनाना आवश्यक है। ज्योही यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप की ओर लक्ष्य करता है त्योही बुद्धि पूर्वक होने वाले रागादिक भाव नष्ट होने लगते हैं।
कहा भी है :—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाण लहदि सुद्धं ।। ८१ ।।

मोह से रहित और आत्मा के सम्यक् स्वरूप को प्राप्त हुआ जीव यदि राग और द्वेष को छोडता है तो शुद्ध आत्मा को प्राप्त हो जाता है। आज तक जितने अरहत हुए है वे इसी विधि से कर्मों के अंशो—चार घातिया कर्मो को नष्ट कर अरहत हुए हैं तथा उपदेश देकर अन्त मे निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

मोहक्षय का दूसरा उपाय—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।। ८६ ।।

जो पुरुष प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा जिन प्रणीत शास्त्र से जीवाजीवादि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है उसके मोह का सचय नियम से नष्ट हो जाता है, इसलिये शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

द्रव्य, गुण और पर्याय को अर्थ कहते है। संसार का प्रत्येक पदार्थ इन तीन रूप ही है अतः इनका जान लेना आवश्यक है। चूँकि इनका यथार्थ ज्ञान जिनेन्द्र प्रतिपादित शास्त्र से ही हो सकता है इसलिये इन शास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है।

मोहक्षय का तीसरा उपाय—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।। ८९ ।।

जो जीव द्रव्यत्व से संबद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा को तथा शरीरादि परद्रव्य को जानता है वह निश्चय से मोह का क्षय करता है। तात्पर्य यह है कि स्वपर का भेद विज्ञान, मोह क्षय का कारण है।

उपर्युक्त पक्तियो मे मोह क्षय के जो तीन उपाय बतलाये है वे पृथक्-पृथक् न होकर एक दूसरे से संबद्ध है। प्रथम उपाय मे आत्मलक्ष्य की ओर जोर दिया गया है और उसका माध्यम अरहंत का ज्ञान बताया गया है अर्थात् अरहत के द्रव्य गुण पर्याय और अपने द्रव्य गुण पर्याय का तुलनात्मक मनन करते से इस जीव का लक्ष्य पर से हटकर स्व की ओर आकृष्ट होता है और जब स्व की ओर लक्ष्य आकृष्ट होने लगा तब मोह को नष्ट होने मे विलम्ब नही लगता। जो मनुष्य दर्पण के माध्यम से अपने चेहरे पर लगे हुए कालुष्य को देख रहा है वह उसे नष्ट करने का पुरुषार्थ न करे यह संभव नही है। जो जीव मोह—मिथ्यात्व को नष्ट कर चुकता है वह मोह के आश्रय से रहने वाले राग द्वेष को स्थिर नही रख सकता। मिथ्यात्व यदि जड के समान है तो राग द्वेष उसकी शाखाओ के समान है। जड़ के नष्ट होने पर शाखाएँ हरी भरी नही रह सकती। प्रथम उपाय मे इस जीव का लक्ष्य स्वरूप की ओर आकृष्ट किया गया था परन्तु स्वरूप मे लक्ष्य की स्थिरता आगम ज्ञान के बिना संभव नही है इसलिये द्वितीय उपाय मे शास्त्राध्ययन की प्रेरणा की गई है। मूलतः वीतराग सर्वज्ञ देव के द्वारा प्रतिपादित और परत.-ससार-शरीर और भोगो से निर्विण्ण परमर्षियो के द्वारा रचित शास्त्रो के स्वाध्याय से स्वरूप की श्रद्धा मे बहुत स्थिरता आती है। तृतीय उपाय मे स्व पर भेदज्ञान की ओर प्रेरित किया है। स्वाध्याय का फल तो स्व—अपने शुद्ध स्वरूप का जानना हो है जिसने ग्यारह अग और नौ पूर्वो का अध्ययन करके भी स्व को नही जाना, उसका वह सम्पूर्ण अध्ययन भी निष्फल ही कहा जाता है। जहाँ स्व का ज्ञान होता है वहाँ परका ज्ञान अवश्य होता है अत स्वपर भेद-विज्ञान ही शास्त्र स्वाध्याय का फल है तथा यही मोहक्षय का प्रमुख साधन है इस प्रकार तीनो उपायो मे अपृथक्ता है।

इस स्कन्ध के अन्त मे कहा गया है.

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ।। ९२ ।।

जिसने मोहदृष्टि—मिथ्यात्व को नष्ट कर दिया है, जो आगम मे कुशल है—आगम का यथार्थ ज्ञाता है और विरागचर्या—वीतराग चारित्र मे उद्यमवन्त है ऐसा महान्—श्रेष्ठ आगम का धारक श्रमण-साधु 'धर्म है' इस प्रकार कहा गया है। यहाँ धर्मो के अभेद विवक्षा कर धर्मो को ही धर्म कहा गया है।

ज्ञेयतत्त्वाधिकार :

जो ज्ञान का विषय हो उसे ज्ञेय तत्त्व कहते है। सामान्य रूप से ज्ञान का विपय अर्थ है। अर्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुण पर्याय रूप है। इस तरह विस्तार से द्रव्य, गुण और पर्याय का त्रिक ही ज्ञान का विषय है, वही ज्ञेय है, इसी का द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे वर्णन किया गया है। गुण, सामान्य और विशेप के भेद से दो प्रकार के होते है। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण है क्योकि ये सभी द्रव्यो मे पाये जाते हैं और चेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि विशेष गुण है क्योकि ये खास खास द्रव्यो में ही पाये जाते है। गुण, द्रव्य का सहभावी विशेष है और पर्याय क्रम भावी परिणमन है। जो जीव, पर्याय को ही सब कुछ समझ कर उसी मे मूढ रहता है— इष्ट-अनिष्ट पर्याय मे राग द्वेष करता है उसे 'पज्जयमूढा हि परसमया' इन शब्दो के द्वारा पर्याय मूढ और परसमय कहा गया है। स्वसमय और परसमय का विभाग करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है :

> जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
> आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २॥

जो जीव पर्यायों मे निरत—लीन है वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्म स्वभाव मे स्थित है वे स्वसमय जानने योग्य हैं। ज्ञाता द्रष्टा रहना आत्मा का स्वभाव है, रागी द्वेषी होना विभाव है तथा नर नारकादि अवस्थाएँ धारण करना आत्मा की पर्यायें है। जो जीव, पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा है अर्थात् उन्हे विराग भाव से जानता देखता है वह स्वसमय है किन्तु जो इससे विपरीत पदार्थों को जानता हुआ राग द्वेष करता है और उसके फलस्वरूप कर्मबन्ध कर नर नारकादि पर्यायो मे भ्रमण करता है वह परसमय है।

द्रव्य का लक्षण .

> अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्ध ।
> गुणवं च सपज्जायं जत्तं दव्वत्ति बुच्चंत्ति ॥ ३॥

जो अपने स्वभाव को न छोडता हुआ उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य से सबद्ध है अथवा गुण और पर्यायो से सहित है उसे द्रव्य कहते है। सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है और सत् बह है जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से तन्मय हो। उत्पाद के बिना व्यय नही हो सकता, व्यय के बिना उत्पाद नही हो सकता, और ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय—दोनो नही हो सकते। इससे सिद्ध है कि उत्पाददि तीनो परस्पर अविनाभाव को प्राप्त हैं। यद्यपि उत्पादादि तीनो पर्याय मे होते है परन्तु पर्याय द्रव्य से अभिन्न है इसलिये द्रव्य के कहे जाते हैं। द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है। गुण गुणी मे प्रदेश भेद नही होता इसलिये इनमे पृथक्त्व नही है। परन्तु गुण और गुणी का भेद है, सज्ञा लक्षण आदि की विभिन्नता है इसलिये अन्यत्व विद्यमान है। पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

> पविभत्तपदेसत्त पुथत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
> अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं भवदि कथमेगं ॥ १४॥

प्रविभक्त प्रदेशो का होना 'पृथक्त्व' है और प्रदेश भेद न होने पर भी तद्रूप नही होना 'अतद्भाव' है।

इस तरह सामान्य रूप से द्रव्य का लक्षण कहकर उसके चेतन अचेतन की अपेक्षा दो भेद किये है। चेतन द्रव्य, सिर्फ जीव ही है और अचेतन द्रव्य, पुद्गलधर्म अधर्म आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इन्ही द्रव्यो के लोक और अलोक की तथा मूर्त और अमूर्त की अपेक्षा भी दो-दो भेद किये है। अलोक सिर्फ आकाश रूप है और लोक, षड्द्रव्यमय है। मूर्त, पुद्गल द्रव्य है और अमूर्त, शेष पाँच द्रव्य रूप है। चूँकि पुद्गल द्रव्य मूर्त है इसलिये उसके स्पर्श रस गन्ध और रूप नामक गुण भी मूर्त है और जीवादि पाँच द्रव्य अमूर्त है इसलिये उनके गुण भी अमूर्त है।

जीवादिक समस्त द्रव्य अपना-अपना स्वतः सिद्ध अस्तित्व रखते है और लोकाकाश मे एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित होने पर भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता को नही छोडते है। इन जीवादि द्रव्यो मे काल द्रव्य एक प्रदेशी है क्योकि वह एक प्रदेशी होकर भी अपना कार्य करने मे पूर्ण समर्थ है परन्तु अन्य पाँच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं क्योकि उनका एक प्रदेश स्वद्रव्य रूप से कार्य करने मे समर्थ नही है अथवा स्वभाव से ही कालद्रव्य एक प्रदेशी और शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी है। बहुप्रदेशी द्रव्यो को अस्तिकाय कहा है और एकप्रदेशी द्रव्य को अनस्तिकाय कहा है।

यद्यपि जीवद्रव्य स्वभाव की अपेक्षा कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से रहित है तथापि अनादि काल से इनका परस्पर सयोग सम्बन्ध चला आ रहा है। कर्मरूप पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से जीव मलिन हो रहा है और मलिन होने के कारण बार-बार इन्द्रियादि प्राणो को धारण करता है। देखिये, कितना मार्मिक कथन है —

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ ५८ ॥

कर्म से मलिन आत्मा जब तक शरीरादि विषयो मे ममत्त्वभाव को नही छोड़ता है तब तक बार बार अन्य प्राणो को धारण करता रहता है।

इसके विपरीत प्राण धारण करने से कौन छूटता है, इसका वर्णन देखिये—

जो इन्दियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहि सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ ५९ ॥

जो इन्द्रियादि का विजयी होकर उपयोग स्वरूप आत्मा का ध्यान करता है वह कर्मो से रक्त नही होता तथा जो कर्मो से रक्त नही होता, प्राण उसका अनुशरण–पीछा कैसे कर सकते है?

छह द्रव्यो मे प्रयोजन भूत द्रव्य जीव ही है अतः उसका विशेष विस्तार से वर्णन करना आचार्य को अभीष्ट है। जीव द्रव्य की विशेषता बतलाते हुए उन्होने कहा है कि आत्मा-जीव उपयोगात्मक है अर्थात् उपयोग ही आत्मा का लक्षण है। वह उपयोग, ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। यही उपयोग अशुद्ध और शुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। अशुद्ध उपयोग के शुभ और अशुभ की उपेक्षा दो भेद है। जीव का उपयोग, अरहत सिद्ध तथा साधु परमेष्ठियो को जानता है उनकी श्रद्धा तथा भक्ति करता है तथा अन्य जीवो पर अनुकम्पा से सहित होता है वह शुभ उपयोग कहलाता है और जो विषयकषायो से परिपूर्ण है, मिथ्या शास्त्रश्रवण, दुर्ध्यान

और दुष्ट जनों की गोष्ठी से सहित है, उग्र है तथा उन्मार्ग मे तत्पर है वह अशुभ उपयोग है। तथा जो शुभ अशुभ के विकल्प से हटकर मध्यस्थ भाव से अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव का ध्यान करता है वह शुद्ध उपयोग है। जब जीव के शुभोपयोग होता है तब पाप का सचय करता है और जब शुभ-अशुभ दोनो उपयोगो का अभाव होकर जीव स्वय शुद्धोपयोगी होता है तब किसी भी कर्म का सचय नही करता। अर्थात् शुद्धोपयोग कर्मबन्ध का कारण नही है।

शुद्धोपयोगी बनने के लिये इस जीव को शरीरादि पर द्रव्यो से पृथग्भाव का चिन्तन करना होता है। जैसा कि कहा है—

नाह देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसि ।

कत्ता ण ण कारयिता अणुमंता णेव कत्ताण ॥६८॥

ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि "मैं शरीर नही हूं, मन नही हू, वाणी नही हू, तथा इन सबके जो कारण है मैं उनका न कर्ता हू, और न अनुमन्ता ही हू," क्योकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन हैं, उनका कर्ता मैं कैसे हो सकता हू ?

पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध की अपेक्षा दो भेद हैं। परमाणु एक प्रदेशी है, एकरूप, एकरस, एक गन्ध और दो स्पर्शो—शीत उष्ण अथवा स्निग्ध-रूक्ष मे एक से सहित है, शब्द रहित है। तथा दो से लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त परमाणुओ का जो पिण्ड है वह स्कन्ध कहलाता है। परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण दूसरे परमाणुओ के साथ मिलकर स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परमाणु मे पाए जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुणो के एक से लेकर अनन्त तक अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। इन सभी प्रतिच्छेदो मे अगुरुलघुगुणरूप अन्तरङ्ग कारण और कालद्रव्यरूप बहिरङ्ग कारण के सहयोग से षड्गुणी हानि और वृद्धि होती रहती है। हानि चलते-चलते जब स्निग्ध और रूक्ष गुण का एक अविभाग प्रतिच्छेद रह जाता है तब वह परमाणु जघन्य गुण वाला परमाणु कहलाता है। ऐसे परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बन्ध नही होता। पुन वृद्धि का दौर शुरू होने पर जब वह अविभाग प्रतिच्छेद एक से बढकर अधिक सख्या को प्राप्त हो जाता है तब सामान्य की अपेक्षा से फिर उस परमाणु का बन्ध होने लगता है। दो अधिक गुण वाले परमाणुओ मे बन्ध योग्यता होती है, गुणो की समानता होने पर सदृश गुण वाले परमाणुओ का बन्ध नही होता। यह बन्ध स्निग्ध स्निग्ध का, रूक्ष रूक्ष का तथा स्निग्ध और रूक्ष का भी होता है। अविभाग प्रतिच्छेदो की सख्या तीन पाच आदि विषम हो अथवा दो चार आदि सम हो, दोनो ही अवस्थाओ मे बन्ध होता है। विशेषता इतनी है कि जघन्य गुण वाले परमाणुओ का बन्ध नही होता। इसके लिये कुन्दकुन्द स्वामी की निम्न गाथा है—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।

समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदि परिहीना ॥७३॥

अर्थ ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है।

इसी संदर्भ मे अमृतचन्द्रस्वामी ने ७४वी गाथा की सस्कृत टीका मे निम्नाकित प्राचीन श्लोक 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत किये हैं—

'णिद्धा णिद्धेण वज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला ।
णिद्ध लुक्खा य वज्झंति रूवा रूवी य पोग्गला ॥'
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहियेण लुक्खस्स लुक्खस्स दुराहियेण ।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥

पुद्गल परमाणुओ के बन्ध की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है ।

इस प्रकार नोकर्म वर्गणाओ के परस्पर सम्बन्ध से निर्मित शरीर से ममत्वभाव छोड़कर आत्म स्वरूप मे जो स्थिर रहता है वह कर्म और नोकर्म के सम्बन्ध से दूर हटकर निर्वाण अवस्था को प्राप्त होता है । नोकर्मरूप शरीरादि पर द्रव्यो से आत्मा को पृथक् करने के लिए उसके शुद्ध स्वरूप पर बार-बार दृष्टि देना चाहिये ।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध क्यो हो रहा है ? इसका समाधान बहुत ही सारपूर्ण शब्दों मे दिया गया है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥८७॥

रागी जीव कर्मो को बाँधता है और राग से रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है निश्चयनय से जीवो के कर्मबन्ध का यह सक्षिप्त कथन है ।

वास्तव मे जीव की रागपरिणति ही कर्मबन्ध का कारण है अत· आत्मा के वीतराग स्वभाव का लक्ष्य कर राग को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये ।

'शरीर, धन, सासारिक सुख-दुख, शत्रु तथा मित्र आदि, इस जीव के नही है क्योकि ये सब अध्रुव-विनश्वर है । एक उपयोग स्वरूप ध्रुव आत्मा ही आत्मा का है' ऐसा विचार कर जो स्वपर का भेदज्ञान करता हुआ 'स्व' का ध्यान करता है वही मोह की सुदृढ गाठ को नष्ट करता है । जो मोह की गाठ को नष्ट कर चुकता है अर्थात् मिथ्यात्व को छोड चुकता है - 'पर पदार्थ सुख दु ख के कर्ता हैं' इस मिथ्या मान्यता को निरस्त कर चुकता है वही रागद्वेष को नष्ट कर श्रमण अवस्था मे, सुख दु ख मे समताभाव रखता हुआ अविनाशी स्वाधीन सुख को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार द्वितीय श्रुत स्कन्ध मे ज्ञेयतत्वो का विस्तार से वर्णन कर जीव को स्वय स्वसन्मुख होने का उपदेश दिया गया है । आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ ज्ञेय तो हो सकते हैं पर ग्राह्य नही हो सकते । ग्राह्य एक स्वकीय शुद्ध आत्मा ही हो सकता है ।

चारित्राधिकार—

चारित्राधिकार का प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते है—

'पडिवज्जद सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख' ॥१॥

दुःखो से यदि परिमोक्ष—पूर्ण मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य —मुनिपद धारण करो ।

सम्यग्दर्शन से मोक्षमार्ग शुरू होता है और सम्यक्चारित्र से उसकी पूर्णता होती है।[1] जब तक सम्यक्-चारित्र—परमयथाख्यात चारित्र नही होता तब तक यह जीव मोक्ष को प्राप्त नही होता। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग चारित्र है, यह जानकर चारित्र धारण करने का प्रयास करना चाहिये। यहाँ इतना स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द स्वामी प्रारम्भ मे ही चारित्र की परिभाषा कहते हुए लिख चुके हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की परिणति ही साम्यभाव है और ऐसा साम्यभाव ही चारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्र से ही कर्मो का क्षय होकर शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। चारित्र गुण का पूर्ण विकास मुनिपद मे होता है अत मुनिपद धारण करने के लिये आचार्य ने भव्य जीवो को सबोधित किया है। जो भव्यजीव मुनिपद धारण करने के लिये उत्सुक होता है उसे सर्वप्रथम क्या करना चाहिये? इसका उल्लेख करते हुए कहा है—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोईदो गुरुकलत्तपुत्तेंहि।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥२॥

वन्धु वर्ग से पूछकर तथा माता-पिता स्त्री पुत्रो से छुटकारा पाकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारो को प्राप्त करे। बन्धु वर्ग तथा माता-पिता आदि गुरुजनो से किस प्रकार आज्ञा प्राप्त करे, इसका वर्णन अमृतचन्द्र स्वामी ने बहुत ही सुन्दर किया है—

'एवं बन्धुवर्गमापृच्छते—अहो इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः अस्य जीवस्य आत्मा न किंचिदपि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत। तत आपृष्टा यूयम् अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति· आत्मानमेवात्मनोऽना-दिबन्धुमुपसर्पति।'

'मुनिपद धारण करने के लिये इच्छुक भव्य अपने बन्धु वर्ग से पूछता है—हे इस जन के शरीर सम्बन्धी बन्धुजनो के शरीर मे रहने वाले आत्माओ! इस जनका आत्मा आप लोगो का कुछ भी नहीं है यह आप निश्चय से जानो, इसलिये आपसे पूछा जा रहा है। आज इस जन की ज्ञान ज्योति प्रकट हुई है अतएव यह आत्मा अनादि बन्धुस्वरूप जो स्वकीय आत्मा है उसके समीप जाता है।'

इस तरह समस्त लोगो से आज्ञा प्राप्तकर गृहबन्धन से मुक्त हो, गुणी तथा कुल रूप और वय आदि से विशिष्ट योग्य गणी—आचार्य के पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है - हे भगवन्! मुझे स्वीकृत करो—चरणो मे आश्रय प्रदान करो। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अन्य लोगो का नही हूँ और अन्य लोग मेरे नहीं हैं—किसी के साथ ममत्व भाव नही है इसलिये मैं यथाजात - दिगम्बर मुद्रा का धारक बनना चाहता हूँ।

---

१. अत्राह शिष्य:—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति। परिहारमाह—यथाख्यातचारित्र जात पर किन्तु परमयथा-ख्यात नास्ति। अत्र दृष्टान्त—यथा चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोष जनयति तथा चारित्रविनाशक-चारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगकेवलिना निष्क्रियशुद्धात्मचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्र-यगले पुनरयोगिजिने चरमसमय विहाय शेषाघातिकर्मोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्र मलाभावान्मोक्ष गच्छति। वृहद्द्रव्यसंग्रहे गाथा १३/

शिष्य की योग्यता देखकर आचार्य उसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियदमन, छह आवश्यक, केशलोच, अचेलक्य, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना और दिन मे एक बार ही भोजन करना—इन अट्ठाईस मूलगुणो का उपदेश देकर उस यथाजात—निर्ग्रन्थवेष को प्रदान करते हैं जो मूर्च्छा तथा आरम्भ आदि से रहित है और अपुनर्भव—मोक्ष का कारण है।

मुनि मुद्रा को धारण कर भव्य जीव अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव मे लीन रहता हुआ बाह्य मे अट्ठाईस मूल गुणो का निरतिचार पालन करता है। वह सदा प्रमाद छोड़कर गमनागमन आदि क्रियाओ को करता है। क्योकि जिनागम का कथन है कि जीव मरे अथवा न मरे जो अयत्नाचारपूर्वक चलता है उसके हिंसा निश्चित रूप से होती है और जो यत्नाचारपूर्वक चलता है उसके जीवघात हो जाने पर भी हिंसाजनित बन्ध नही होता है।

साधु को यह त्याग परनिरपेक्ष—पर पदार्थों की अपेक्षा से रहित होकर ही करना चाहिये क्योकि जो साधु पर पदार्थों की अपेक्षा रखता है उसके अभिप्राय की निर्मलता नही हो सकती और अभिप्राय की निर्मलता के विना कर्मो का क्षय नही हो सकता। गृहीत प्रवृत्ति मे दोष लगने पर आचार्य के समीप उसका प्रतिक्रमण करता है और आगामी काल के लिये उस दोष का प्रत्याख्यान करता है।

निर्ग्रन्थ साधु आगम का अध्ययन कर अपनी श्रद्धा को सुदृढ और चारित्र को निर्दोष बनाता है। आगम के स्वाध्याय की उपयोगिता बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ ३३ ॥

आगम से रहित साधु निज और पर को नही जानता तथा जो निज और पर को नही जानता अर्थात् भेद ज्ञान से रहित है वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है?

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ ३४ ॥

मुनि आगमचक्षु है, ससार के समस्त प्राणी इन्द्रियचक्षु है, देव अवधिचक्षु है और सिद्ध सर्वतश्चक्षु है अर्थात् मुनि आगम से सव कुछ जानते है, ससार के साधारण प्राणी इन्द्रियो से जानते है, देव अवधि ज्ञान से जानते हैं और सिद्ध भगवान् केवल ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानते हैं।

आगम पुव्वा दिठ्ठी ण भवदि जस्सेह सजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो ॥ ३६ ॥

जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नही है अर्थात् आगम का स्वाध्याय कर जिसने अपनी तत्त्व श्रद्धा को सुदृढ नही किया है उसके सयम नही होता है, ऐसा जिनशास्त्र कहते है। फिर जो असयमी है—सयम से रहित है वह श्रमण—साधु कैसे हो सकता है।

आगम का अध्ययनमात्र ही कार्यकारी नही है, तत्त्वार्थ का श्रद्धान भी कार्यकारी है और मात्र श्रद्धान ही कार्यकारी नही है उसके साथ सयम का आचरण भी कार्यकारी है। इस विषय को देखिये, कुन्दकुन्द स्वामी कैसा स्पष्ट करते है—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ ३७ ॥

यदि पदार्थ विषयक श्रद्धान नही है तो सिर्फ आगम के ज्ञान से यह जीव सिद्ध नही हो सकता और पदार्थ का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असयत है—सयम से रहित है तो वह निर्वाण को प्राप्त नही हो सकता।

ज्ञान को गरिमा बतलाते हुए कहा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥ ३८ ॥

अज्ञानी जीव, सैकड़ो हजारो तथा करोडो भव मे जिस कर्म को खिपाता है तीन गुप्तियो का धारक ज्ञानी जीव उसे उच्छ्वास मात्र मे खिपा देता है। यहाँ 'तीन गुप्तियो का धारक' इस विशेषण से सम्यक् चारित्र की भी सत्ता अनिवार्य बतलाई गई है। बिना सम्यक् चारित्र के अग और पूर्व का पाठी जीव भी सर्व कर्मक्षय करने मे समर्थ नही है।

आगम ज्ञान का प्रयोजन स्वपर का ज्ञान कर परपदार्थों मे मूर्च्छा का छोडना है। यदि आगम का ज्ञाता होकर भी कोई पर पदार्थो मे मूर्च्छा को नही छोडता है तो वह मोक्ष को प्राप्त नही हो सकता। कुन्दकुन्द स्वामी के वचन देखिये—

परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धि ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ ३९ ॥

जिसके शरीरादि परपदार्थो मे परमाणु प्रमाण भी मूर्च्छा—आत्मीय बुद्धि है वह समस्त आगम का धारक होने पर भी सिद्धि को प्राप्त नही होता।

साधु को श्रमण कहते हैं अत श्रमण की परिभाषा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते है—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ ४१ ॥

जो शत्रु और बन्धुवर्ग मे समान बुद्धि है, जो सुख-दु ख, प्रशसा तथा निन्दा मे समान है, पत्थर के ढेले और सुवर्ण मे समभाव है तथा जीवन और मरण मे समान है, वह श्रमण कहलाता है।

कैसा श्रमण कर्मक्षय कर सकता है ? इसका समाधान देखिये—

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥ ४४ ॥

जो श्रमण परपदार्थों मे मोह को प्राप्त नही होता—उनमे आत्मबुद्धि नही करता और न उनमे रागद्वेष करता है वह निश्चित ही नाना प्रकार के कर्मो का क्षय करता है।

शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी के भेद से मुनियो के दो भेद है। इनमे शुद्धोपयोगी मुनि आस्रव से रहित होते है और शेषमुनि आस्रव से सहित। शुद्धोपयोगी मुनि, अरहत आदिक परमेष्टियो की भक्ति करते हैं तथा प्रवचन—परमागम से मुक्त शुद्धात्म स्वरूप के उपदेशक महामुनियो मे गोवत्स के समान वात्सल्य भाव रखते है। गुरुजनो के आने पर उठकर उनका सत्कार करते हैं, जाने पर अनुगमन के द्वारा उनके प्रति आदर प्रकट करते है, दर्शन और ज्ञान का उपदेश देते है, शिष्यो को दीक्षा देते है, उनका पोषण करते है, जिनेन्द्र पूजा का उपदेश देते है, ऋषि मुनि यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनिसघो का उपकार करते है, अपने पद के अनुकूल उनका वैयावृत्य करते है, रोग अथवा क्षुधा तृषा आदि से पीडित श्रमण के प्रति आत्मीयभाव प्रकट कर उनकी निवृत्ति का प्रयास करते है, ग्लान, वृद्ध, बालक आदि मुनियो की सेवा के निमित्त लौकिकजनो—गृहस्थो के साथ सम्भाषण आदि करते हैं। शुभोपयोगी मुनियो की यह प्रशस्तचर्या अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष का साक्षात् कारण नही है परन्तु उससे सासारिक सुखरूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है। उनकी यह प्रशस्तचर्या परम्परा से मोक्ष का कारण है।

शुद्धोपयोगी मुनि इन सब विकल्पो से दूर हटकर शुद्धात्म स्वरूप के चिन्तन मे लीन रहते हैं। करणानुयोग की पद्धति से यह शुद्धोपयोग श्रेणी से प्रारम्भ होता है तथा अपनी उत्कृष्ट सीमा पर पहुँचकर कर्मक्षय का कारण है।

मुनि मुद्रा धारण कर भी जो लौकिकजनों के सम्पर्क मे हर्ष मानते है तथा उन्मार्ग मे प्रवृत्ति करते हैं वे श्रमणाभास है तथा अनन्त ससार के पात्र होते है। भावलिङ्ग सहित मुनिमुद्रा इस जीव को बत्तीस वार से अधिक धारण नही करनी पडती, उसी के भीतर वह मौक्ष को प्राप्त हो जाता है परन्तु मात्र द्रव्यलिङ्ग सहित मुनिमुद्रा धारण करने की सख्या निश्चित नही है। अनन्त बार भी वह यह पद धारण करता है परन्तु उसके द्वारा नवमग्रैवेयक से अधिक का पद प्राप्त नही कर सकता।

अन्त मे अमृतचन्द्र स्वामी ने ४७ नयो का अवलम्बन लेकर आत्मा का दिग्दर्शन कराया है। इस तरह प्रवचनसार सचमुच ही प्रवचनसार—आगम का सार है। इसकी रचना अत्यन्त प्रौढ और सारगर्भित है।

---

१. चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो।
वत्तीसं वाराइं संजगमुवलहिय णिव्वादि ॥ ६१९ ॥ कर्मकाण्ड

◻

पञ्चास्तिकाय : एक परिशीलन

पञ्चास्तिकाय :

इसमे श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका के अनुसार १७३ और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार १८१ गाथाए है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाच द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योकि ये अणु अर्थात् प्रदेशो की अपेक्षा महान है—बहुप्रदेशी हैं।[1] लोक के अन्दर समस्त द्रव्य परस्पर मे प्रविष्ट होकर स्थित हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते है। सत्ता का स्वरूप बतलाकर द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि जो विभिन्न पर्यायो को प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य सत्ता से अभिन्न है एतावता सत् ही द्रव्य का लक्षण है। अथवा जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित हो वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायो का आश्रय हो वह द्रव्य है।

चूंकि अनेकान्त जिनागम का जीव– प्राण है इसलिये उसमे विवक्षावश द्रव्य मे अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य,नास्तिअवक्तव्य और अस्ति नास्ति अवक्तव्य इन सात भङ्गो का निरूपण किया है। इन प्रत्येक भंगो के साथ विशिष्ट विवक्षा को दिखाने वाला, कथंचित् अर्थ का द्योतक 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है जैसे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि। ये सात भङ्ग विवक्षा से ही शिद्ध होते है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहय अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदय।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१०॥

अर्थात् द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तिरूप है, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है, क्रमश स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उभय—अस्तिनास्तिरूप है, एक साथ स्वचतुष्टय-परचतुष्टय की अपेक्षा अवक्तव्य रूप है, अस्ति और अवक्तव्य के सयोग की अपेक्षा अस्ति अवक्तव्य है, नास्ति और अवक्तव्य के सयोग की अपेक्षा नास्ति-अवक्तव्य है, और अस्तिनास्ति तथा अवक्तव्य के सयोग की अपेक्षा अस्तिनास्ति अवक्तव्य हैं।

'असत् का जन्म और सत् का विनाश नही होता' इस सनातन सिद्धान्त को स्वीकृत करते हुए कहा गया है कि भाव-सत् रूप पदार्थ का न नाश होता है और न उत्पाद। किंतु पर्यायो मे ही ये होते है। अर्थात् पदार्थ,

---

१ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तदेव आगासं।
'अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तं. महान्तोऽणुमहान्त' प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्ध तेषा कायत्वम्।' सं० टीका

द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। यह एकांत भी कुन्दकुन्द स्वामी को स्वीकार्य नही है कि सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नही होती। वे कहते है कि मनुष्य मरकर देव हो गया, यहाँ सत्रूप मनुष्य पर्याय का विनाश हुआ और असत्रूप देव पर्याय का उत्पाद हुआ। मनुष्य पर्याय मे मनुष्य सत्रूप ही है। और देव पर्याय असत् रूप ही है, क्योकि एक काल मे दो पर्यायो का सद्भाव नही हो सकता। इस तरह जब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति होती है। 'सत् का विनाश और असत् की उत्पत्ति नही होती' यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कथन है। संसारी जीव के साथ ज्ञानावरणादिकर्म अनादिकाल से बद्ध है, उनका अभाव करने पर ही सिद्ध पर्याय प्रकट होती है। यहा संसारी पर्याय मे सिद्ध पर्याय का सद्भाव नही है क्योकि दोनो मे सहानवस्थान नाम का विरोध है अत: संसारी पर्याय का नाश होने पर ही असत् रूप सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। इस तरह पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है परन्तु द्रव्य दृष्टि से जो जीव ससारी पर्याय मे था वही सिद्ध पर्याय को प्राप्त करता है अत क्या नष्ट हुआ और क्या उत्पन्न हुआ ? कुछ भी नही।

तदनन्तर जीवादि छह द्रव्यो के सामान्य लक्षण कहकर २६ गाथाओ मे पीठबन्ध समाप्त किया है। इसके बाद जीवादि द्रव्यो का विशेष व्याख्यान शुरू होता है। उसमे जीव के ससारी और सिद्ध इन दो भेदो का वर्णन करते हुए सिद्ध जीव का लक्षण निम्न प्रकार कहा है—

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

अर्थात् सिद्धजीव कर्मरूपी मल से विप्रमुक्त है—सदा के लिए छूट चुके है, ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण लोक के अन्त को प्राप्त है, सबको जानने देखने वाले है और अनिन्द्रिय अनन्त सुख को प्राप्त है।

जीव द्रव्य का वर्णन करने के लिये —

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

इस गाथा द्वारा जीव, चेतयिता, उपयोग, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहमात्र, मूर्त और कर्मसयुक्त इन नौ अधिकारो का निरूपण किया है। इन सब अधिकारो मे नयविवक्षा से कथन किया गया है।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्झदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥४८॥

इस गाथा द्वारा स्पष्ट किया है कि कर्मो के बिना औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव नही हो सकते इसलिये ये भाव कर्म निमित्त से होते है। ७३वी गाथा तक जीव द्रव्य का वर्णन करने के बाद पुद्गल द्रव्य का वर्णन शुरू होता है।

प्रारम्भ मे पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु ये चार भेद है तथा चारो के निम्न प्रकार लक्षण हैं—

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभामी ॥७५॥

अनन्त परमाणुओ के पिण्ड को स्कन्ध, उससे आधे को देश, देश के आधे को प्रदेश, और अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं।

इस अधिकार मे पुद्गल द्रव्य के बादर बादर आदि छह भेदो तथा स्कन्ध और परमाणु रूप दो भेदों का भी सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार ८२वीं गाथा तक चलता है। उसके बाद धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्य का वर्णन है तथा चूलिका नामक अवान्तर अधिकार के द्वारा द्रव्यों की विशेषता का वर्णन किया गया है। इसी अधिकार के अंत मे काल द्रव्य का वर्णन कर चुकने के बाद पंचास्तिकायो के जानने का फल बहुत ही हृदयग्राही शब्दो मे व्यक्त किया है।

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता ।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥१०३॥

इस तरह आगम के सारभूत पञ्चास्तिकाय सग्रह को जानकर जो राग और द्वेष को छोड़ता है वह दुःखों से छुटकारा पाता है।

प्रथम स्कन्ध १०४ गाथाओ मे पूर्ण हुआ है। तदनन्तर द्वितीय स्कन्ध मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष मार्ग बतलाकर इन तीनो का स्पष्ट स्वरूप बतलाया है। इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध का नाम नवपदार्थाधिकार है अर्थात् इसमे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थो का वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ का वर्णन यद्यपि सक्षिप्त है तथापि इतना सारगर्भित है कि सारभूत समस्त प्रतिपाद्य विषयो का उसमे पूर्ण समावेश पाया जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का वर्णन करते हुए निश्चयनय और व्यवहारनय का उत्तम सामञ्जस्य बैठाता है। अमृतचन्द्र स्वामी ने इस प्रकरण का समारोप करते हुए लिखा है—अतएवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति' अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की तीर्थ प्रवर्तना दोनो नयो के आधीन हैं। यहा निश्चय मोक्षमार्ग को साध्य बताया गया है। यही भाव आपने तत्त्वार्थसार ग्रन्थ मे भी प्रकट किया है—

निश्चयव्यवहाराभ्या मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥१॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा शुद्धस्यस्वात्मनो हि याः ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमाग. स निश्चयः ॥२॥
श्रद्धानाधिगमोपेक्षा याः पुनः स्यु. परात्मनाम् ।
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारत. ॥४॥

अर्थात् निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष मार्ग दो प्रकार का है। उसमे पहला—निश्चय साध्यरूप है और दूसरा—व्यवहार उसका साधन है। शुद्ध स्वात्म द्रव्य की श्रद्धा ज्ञान और चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा परात्मद्रव्य की श्रद्धा ज्ञान और चारित्ररूप व्यवहार मोक्ष मार्ग है। नियमसार मे कुन्दकुन्द स्वामी ने भी निश्चय और व्यवहार के भेद से नियम—सम्यग्दर्शनादि का द्विविध निरूपण किया है। आध्यात्मिक दृष्टि

निश्चय ही को मोक्षमार्ग मानती है। वह मोक्षमार्ग का निरूपण, निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का मानती है परन्तु मोक्ष मार्ग को एक निश्चय रूप ही स्वीकृत करती है। इसका फलितार्थ यह नही है कि वह व्यवहार मोक्ष मार्ग को छोड देती है। उसका अभिप्राय है कि निश्चय के साथ व्यवहार तो नियम से होता ही है पर व्यवहार के साथ निश्चय हो भी और न भी हो। निश्चय मोक्ष मार्ग, कार्य का साक्षात् जनक है इसलिये उसे मोक्षमार्ग स्वीकृत किया गया है परन्तु व्यवहार मोक्ष मार्ग, परम्परा से कार्य का जनक है इसलिये उसे मोक्ष मार्ग स्वीकृत नही किया है। शास्त्रीय दृष्टि परम्परा से कार्यजनक को भी कारण, स्वीकृत करती है अत उसकी दृष्टि मे व्यवहार को भी मोक्ष मार्ग स्वीकृत किया गया है।

स्वसमय और परसमय का सूक्ष्मतम निरूपण—

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्मि विज्जदे रागो।
सो ण वि जाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ।।१६७।।

अर्थात् जिसके हृदय मे अरहत आदि विषयक राग अणुमात्र भी विद्यमान है वह समस्त आगम का धारी होकर भी स्वसमय को नही जानता है।

सूक्ष्म परसमय का वर्णन करते हुए कहा है कि यदि ज्ञानी —सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी अज्ञान—शुद्धात्म परिणति से विलक्षण अज्ञान के कारण, शुद्ध संप्रयोग—अरहन्त आदिक की भक्ति से दु ख मोक्ष —सासारिक दु खो से छुटकारा मानता है तो वह भी परसमयरत कहलाता है। यथा—

अण्णाणादो णाणी उदि मण्णदि सुद्धसपयोगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ।।१६५।।

इस गाथा की[1] संस्कृत टीका मे अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि सिद्धि के साधनभूत अरहत आदि भगवतो मे भक्तिभाव से अनुरजित चित्तप्रवृत्ति यहा शुद्ध सप्रयोग है। अज्ञान अश के आवेश से यदि ज्ञानवान् भी, 'उस शुद्ध सप्रयोग से मोक्ष होता है' ऐसे अभिप्राय के द्वारा खिन्न होता हुआ उसमे (शुद्ध संप्रयोग मे) प्रवर्ते तो वह भी रागाँश के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है तो फिर निरकुश रागरूप कालिमा से कलकित अतरङ्गवृत्ति वाला इतरजन क्या परसमयरत नही कहलावेगा? अवश्य कहलावेगा। तात्पर्य यह है कि जब सरागसम्यग्दृष्टि भी रागाश के विद्यमान होने से परसमयरत है तब जो स्पष्ट ही राग से कलुषित है वह परसमय कैसे नही होगा।

कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है—

अरहंत सिद्धचेदिय पवयणगणभत्तिसपण्णो।
बधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खय कुणदि ।।१६६।।

---

१. 'अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिबलानुरंजिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसंप्रयोगः। अथ खल्वज्ञान-लवावेशाद्यदि यावज्ज्ञानवानपि ततः शुद्धसप्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते। अथ न किं पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलङ्कितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति। तात्पर्यवृत्ति।

अर्थात् अरहत सिद्ध परमेष्ठी, जिन प्रतिमा तथा साधु समूह को भक्ति से सपन्न मनुष्य वहुत प्रकार का पुण्य वन्ध करता है परन्तु कर्मों का क्षय नही करता। कर्म क्षय का प्रमुख कारण प्रशस्त और अप्रशस्त—सभी प्रकार के राग का अभाव होना ही है। पूर्णवीतराग दशा होने पर अन्तर्मूहूर्त के अन्दर नियम से घातिचतुष्क का क्षय होकर अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है। जिसकी अरहन्त अवस्था प्रकट हो जाती है वह उसी भव से निर्वाण को प्राप्त करता है।

अरहंत सिद्ध चेदिय पवयणभत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ।।१७१।।

अर्थात् अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा तथा जिनागम की भक्ति से युक्त जो पुरुप उत्कृष्ट सयम के साथ तपस्या करता है वह स्वर्गलोक को प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अरहन्तादिक की भक्तिरूप शुभ-राग देवायु के वन्ध का कारण है मोक्ष का कारण नही। इसे परम्परा से ही मोक्ष का कारण कहा जा सकता है।

मोक्ष का साक्षात् कारण—

तह्मा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसागर तरदि ।।१७२।।

इसलिये निर्वाण की इच्छा रखने वाला पुरुप सर्वत्र—शुभ अशुभ सभी अवस्थाओ मे कुछ भी राग मत करे। उसी से यह भव्य जीव वीतराग होता हुआ भवसागर—ससाररूपी समुद्र को तरता है। अर्थात् मोक्ष का साक्षात् कारण परम वीतराग भाव ही है।

इस वीतराग भाव के विपय मे श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है—

तदिद वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमाने भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।

अर्थात् इस वीतराग का अनुगमन यदि व्यवहार और निश्चयनय का विरोध न करते हुए किया जाता है तो वह समीहित—चिराभिलषित मोक्ष की सिद्धि के लिये होता है अन्य प्रकार नही।

१७२वी गाथा की टीका मे विस्तार से कहा गया है कि यह मुमुक्षु प्राणी व्यवहार और निश्चयनय के आलम्वन से किस प्रकार आत्म समीहित को सिद्ध करता है। अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं कि जो केवल व्यवहार-नय का अवलम्वन लेते हैं वे वाह्य-क्रियाओ को करते हुए भी ज्ञान चेतना का कुछ भी सन्मान नही करते इसलिये प्रभूत पुण्यभार से मन्थरित चित्तवृति होते हुए सुरलोक आदि के क्लेशो की परम्परा से चिरकाल तक ससार-सागर मे ही परिभ्रमण करते रहते हैं। यथा—

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्ध ण जाणंति ।।

अर्थात् जो वाह्य आचरण के कर्तृत्व को ही प्रधान मानते हैं तथा स्वसमय के परमार्थ—वास्तविक स्वरुप मे मुक्त व्यापार हैं—स्वसमय—स्वकीय शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति मे कुछ भी उद्यम नही करते वे वाह्याचरण के सारभूत शुद्ध निश्चय को जानते ही नही है।

इसी प्रकार जो केवल निश्चयनय का आलम्बन लेकर बाह्याचरण से विरक्त बुद्धि हो जाते है—पराङ्मुख हो जाते है वे भिन्न साध्यसाधन रूप व्यवहार की उपेक्षा कर देते है तथा वेभिन्न साध्य साधनरूप निश्चय को प्राप्त होते नही है इसलिये अधर मे लटकते हुए केवल पाप का ही बन्ध करते है । यथा—

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता ।
णासति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई ।।

अर्थात् जो निश्चय के वास्तविक स्वरूप को नही जानते हुए निश्चयाभास को ही निश्चय मानकर उसका आलम्बन लेते हैं वे बाह्याचरण मे आलसी होते हुए प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट करते है ।

यही भाव उन्होने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ मे प्रकट किया है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स बहि करणालसो बालः ।।५०।।

अर्थ स्पष्ट है ।

इसी प्रकार जो निश्चय और व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को न समझकर निश्चयाभास और व्यवहाराभास दोनो का आलम्बन लेते है वे भी समीहित सिद्धि से वंचित रहते है । जानने मे केवल निश्चय और केवल व्यवहार के आलम्बन से विमुख हो जो अत्यन्त मध्यस्थ रहते है अर्थात् पदार्थ के जानने मे अपने-अपने पद के अनुसार दोनो नया का आलम्बन लेकर अत मे दोनो नयो के विकल्प से परे रहने वाली निर्विकल्प भूमिका—शुद्धात्म परिणति को प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही संसार समुद्र को तैरकर शब्दब्रह्म—शास्त्र ज्ञान के स्थाई फल के भोक्ता होते है—मोक्ष को प्राप्त होते है । यही भाव इन्होने पुरुषार्थसिद्धियुपाय मे भी दिखाया है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति माध्यस्थ. ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकल शिष्यः ।।८।।

अर्थात् जो यथार्थरूप से व्यवहार और निश्चय को जानकर मध्यस्थ होता है—किसी एक के पक्ष को पकडकर नही बैठता, वही शिष्य देशना—गुरूपदेश के पूर्ण फल को प्राप्त होता है ।

पञ्चास्तिकाय मे सम्यग्दर्शन के विषयभूत पञ्चास्तिकायो और छह द्रव्यों का प्रमुख रूप से वर्णन है ।

◻

नियमसार : एक अध्ययन

नियमसार :

नियमसार मे १२ अधिकारो मे १८७ गाथाएँ है। अधिकारो के नाम इस प्रकार है—(१) जीवाधिकार (२) अजीवाधिकार (३) शुद्धभावाधिकार (४) व्यवहारचारित्राधिकार (५) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार (६) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार (७) परमालोचनाधिकार (८) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्ताधिकार (९) परम-समाध्यधिकार (१०) परमभक्त्यधिकार (११) निश्चयपरमावश्यकाधिकार और (१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

(१) जीवाधिकार :

नियम का अर्थ ·

णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्तं।
विपरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ।। ३ ।।

जो नियम से करने योग्य हो उन्हें नियम कहते हैं। नियम से करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। विपरीत ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिहार करने के लिए नियम शब्द के साथ सारपद का प्रयोग किया है। इस तरह नियमसार का अर्थ सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। सस्कृत टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी कहा है—

'नियमशब्दस्तावत, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्।'

अर्थात् नियम शब्द सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मे आता है तथा नियमसार इस शब्द से शुद्धरत्नत्रय का स्वरूप कहा गया है।

जिन शासन मार्ग मे और मार्ग का फल, इन दो पदार्थो का कथन है। उनमे मार्ग—मोक्ष का उपाय— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहलाता है और निर्वाण, मार्ग का फल कहलाता है। इन्ही तीन का वर्णन इस ग्रन्थ मे किया गया है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का लक्षण लिखते हुए कहा है—

अत्तागमतच्चाण सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त ।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पाह वे अत्तो ।। ५ ।।

आप्त, आगम और तत्वो के श्रद्धान से सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन होता है। जिसके समस्त दोष नष्ट हो गये हैं तथा जो सकल गुण स्वरूप है वह आप्त है। क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कहलाते हैं और केवलज्ञान आदि

गुण कहे जाते है। आप्त भगवान् क्षुधातृषा आदि समस्त दोषो से रहित है तथा केवलज्ञानादि परमविभवअनन्त गुण रूप ऐश्वर्य से सहित है। यह आप्त ही परमात्मा कहलाता है। इससे विपरीत परमात्मा नही हो सकता।

आगम और तत्त्व का स्वरूप

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहियं हवंति तच्चत्था ॥ ८ ॥

उन आप्त भगवान् के मुख से उद्गत दिव्यध्वनि से प्रकटित तथा पूर्वापर विरोध रूप दोष से रहित जो शुद्ध वचन है वह आगम कहलाता है और आगम के द्वारा कथित जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश है वे तत्वार्थ है। वे तत्वार्थ नाना गुण और पर्यायो से सहित है। इन तत्वार्थो मे स्वपरावभासी होने से जीवतत्व प्रधान है। उपयोग, उसका लक्षण है। उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद है। ज्ञानोपयोग, स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान स्वभावज्ञानोपयोग है और विभाव ज्ञानोपयोग, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान की अपेक्षा दो प्रकार का है। विभाव सम्यग्ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत अवधि और मन - पर्यय के भेद से चार भेद हैं और विभाव मिथ्याज्ञानोपयोग के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि की अपेक्षा तीन भेद है। इसी तरह दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद है। उनमे केवल दर्शन स्वभाव दर्शनोपयोग है तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन विभाव दर्शनोपयोग हैं।

पर्याय के भी पर की अपेक्षा से सहित और परकी अपेक्षा से रहित, इस तरह दो भेद है। अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है। परके आश्रय से होने वाली षड्गुणी हानि वृद्धिरूप जो संसारी जीव की परिणति है वह विभाव अर्थ पर्याय है तथा सिद्ध परमेष्ठी की जो षड्गुणी हानि वृद्धिरूप परिणति है वह जीव की स्वभाव अर्थ प्रर्याय है। प्रदेशवत्व गुण के विकार रूप जो जीव की परिणति है अर्थात् जिसमे किसी आकार की अपेक्षा रक्खी जाती है उसे व्यञ्जन पर्याय कहते है। इसके भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते है। अन्तिम शरीर से किञ्चिदून जो सिद्ध परमेष्ठी का आकार है वह जीव की स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है और कर्मोपाधि से रचित जो नरनारकादि पर्याय है वह विभाव व्यञ्न पर्याय है।

व्यवहार नय से आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनय से कर्मजनित रागादि भावो का कर्ता है। सस्कृत टीकाकार ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मो का कर्ता है तथा उनके फल-स्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख दु ख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भाव-कर्मों का कर्ता है तथा उन्ही का भोक्ता है। अनुपचहित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा शरीररूप नोकर्मोका कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे घटपटादिका कर्ता और भोक्ता है। जहा निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से नयके दो भेद ही विवक्षित है वहाँ आत्मा निश्चनयकी अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणो का कर्ता-भोक्ता होता है और व्यवहारनयसे रागादि भाव-कर्मोका।

श्री पद्मप्रभमलधारी देव के अनुसार दो नयो का विवेचन—

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक। पर्यायः एव प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु एक नयायत्तोपदेशो ग्राह्यः किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः।

भगवान् अर्हन्त परमेश्वर ने दो नय कहे है—एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नही है किन्तु दोनो नयो के अधीन उपदेश ग्राह्य है।

यह उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि नय वस्तुरूप को समझने के साधन हैं, वक्ता पात्र की योग्यता देखकर विवक्षानुसार उभयनयो को अपनाता है। यह ठीक है कि उपदेश के समय एक नय मुख्य तथा दूसरा नय गौण होता है परन्तु सर्वथा उपेक्षित नही होता।

इस परिप्रेक्ष्य मे जब त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है। तब जीवद्रव्य रागादिक विभाव परिणति तथा नरनारकादिक व्यञ्जन पर्यायों से रहित है। यह बात आती है और जब पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन होता है तब 'जीव इन सबसे सहित है' यह बात आती है।

(२) अजीवाधिकार :

पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव पदार्थ हैं। पुद्गल द्रव्य अणु और स्कंध के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमे स्कन्ध के अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्मके भेद से ६ भेद हैं। पृथ्वी, तेल आदि, छाया, आतप आदि चक्षु के सिवाय शेष चार इन्द्रियो के विषय, कार्मण, वर्गणा और द्वयणुक स्कन्ध ये अतिस्थूल आदि स्कन्धो के उदाहरण हैं। अणु के कारण अणु और कार्य अणु के भेद से दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओ की उत्पत्ति का जो कारण है उसे कारण परमाणु और स्कन्ध से विछुडे परमाणु को कार्य परमाणु कहते है। परमाणु का लक्षण इस प्रकार कहा है—

> अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झं।
> अविभागी जं दव्वं परमाणु तं विजाणाहि॥

वही जिसका आदि है, वही मध्य है, वही अन्त है, जिसका इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण नही होता तथा जिसका दूसरा विभाग नही हो सकता उसे परमाणु जानना चाहिये।

इस परमाणु मे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और शीत उष्ण मे से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष मे से कोई एक स्पर्श, इस प्रकार दो स्पर्श पाये जाते है। दो या उससे अधिक परमाणुओ के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल द्रव्य के दो भेद है।

जीव और पुद्गल के गमन का जो निमित्त है उसे धर्मद्रव्य कहते है। जीव और पुद्गल की स्थिति का जो निमित्त है उसे अधर्म द्रव्य कहते है। जीवादि समस्त द्रव्यो के अवगाह का जो निमत्ति है उसे आकाश कहते है। समस्त द्रव्यो की अवस्थाओ के बदलने मे जो सहकारी कारण है वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य समय और आवली के भेद से दो प्रकार का होता है अथवा अतीत, वर्तमान और भावी (भविष्यत्) की अपेक्षा तीन प्रकार का है। सख्यात आवलियो से गुणित सिद्ध राशि का जितना प्रमाण है उतना अतीतकाल है। वर्तमान काल समय मात्र है और भावी (भविष्यत्) काल, समस्त जीवराशि तथा समस्त पुद्गल द्रव्यो से अनन्त गुणा है।

नियमसार मे कालद्रव्य के वर्णन की ३१ और ३२ वी गाथा मे परम्परागत अशुद्ध पाठ चला आ रहा है। सस्कृत टीकाकार का भी उस ओर लक्ष्य गया नही जान पडता है। ३१ वी गाथा मे 'तीदो सखेज्जावलिहदसठाणप्पमाण तु'

ऐसा पाठ नियमसार मे है परन्तु गोम्मटसार जीवकाण्ड मे 'तीदो सखेज्जावलिहृदसिद्धाण पमाणं तु' ऐसा पाठ है। नियमसार की एतद्विषयक सस्कृत टीका भी भ्रान्त मालूम पड़ती है। ३२ वी गाथा मे 'जीवादु पुग्गलादोत्णंतगुणा चावि सपदा समया' इस पाठ के मानने पर भावी काल का वर्णन भी गाथोक्त हो जाता है और उसका जीवकाण्ड से मेल खा जाता है। इस पाठ मे गाथा का अर्थ होता है कि भावीकाल जीव तथा पुद्गल राशि से अनन्त गुणा है और संपदा अर्थात् साम्प्रत-वर्तमान काल समयमात्र है। लोकाकाश मे—लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशो पर जो कालाणु स्थित है वे परमार्थ — निश्चयकाल द्रव्य है। 'भावि' के स्थान पर 'चावि' पाठ लेखको के प्रमाद से आ गया जान पडता है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यो का परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य मे शुद्ध-अशुद्ध दोनो प्रकार का परिणमन होता है। मूर्त अर्थात् पुद्गल द्रव्य के सख्तात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते है। धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य मे असख्यात प्रदेश होते है, लोकाकाश के भी असख्यात प्रदेश है परन्तु समस्त आकाश के अनन्त प्रदेश है। कालद्रव्य एक प्रदेशी है। उपर्युक्त छह द्रव्यो मे पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्त है। एक जीव द्रव्य चेतन है शेष पाँच द्रव्य अचेतन है। पुद्गल का परमाणु आकाश के जितने अश को घेरता है उसे प्रदेश कहते है।

(३) शुद्धभावाधिकार :

जब तत्वो को हेय और उपादेय इन दो भेदो मे विभाजित करते है तब परजीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मरूप उपाधि से रहित स्वकीय स्वय अर्थात् शुद्ध आत्मा उपादेय है। जब तत्त्वो को हेय उपादेय तथा ज्ञेय तीन भेदो मे विभाजित करते है तब जीवादि बाह्य तत्त्व ज्ञेय है; स्वकीय शुद्ध आत्मा उपादेय है और उसका विभाव परिणमन हेय है, तात्पर्य यह है कि आत्म द्रव्य का परिणमन स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार का होता है। जो स्वमे स्वके निमित्त से होता है वह स्वभाव परिणमन कहलाता है। जैसे जीव का ज्ञान दर्शन रूप परिणमन और जो स्वमे परके निमित्त से होता है वह विभाव परिणमन कहलाता है। जैसे जीव का रागद्वेषादिरूप परिणमन। इन दोनो प्रकार के परिणमनो मे स्वभाव परिणमन उपादेय है और विभाव परिणमन हेय है।

शुद्ध भावाधिकार मे आत्मा को इन्ही विभाव परिणामो से पृथक् सिद्ध करने के लिये कहा गया है कि निश्चय से रागादिक विभाव स्थान, मान अपमान के स्थान, सासारिक सुखरूप हर्षभाव के स्थान, सासारिक दु.ख रूप अहर्षभाव के स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, प्रकृतिबन्ध स्थान, प्रदेशबन्ध स्थान, और अनुभाग बन्ध स्थान आत्मा के नही है। क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशम्कि, और औदयिकभाव के स्थान आत्मा के नही हैं। चातुर्गतिक परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, भय, शोक, कुल, योनि, जीवसमाम तथा मार्गणास्थान जीव के नही हैं, नही होने का कारण यही एक है कि ये परके निमित्त से होते हैं। यद्यपि वर्तमान मे ये आत्मा के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त हो रहे है तथापि उनका यह तन्मयीभाव त्रैकालिक नही है। ज्ञानदर्शनादि गुणो के साथ जैसा त्रैकालिक तन्मयीभाव है वैसा रागादिक के साथ नही है। अग्नि के सम्बन्ध से पानी मे जो उष्णता आई है वह यद्यपि पानी के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त हुई जान पड़ती है तथापि अग्नि का सम्बन्ध दूर हो जाने पर नष्ट हो जाने के कारण वह सर्वथा तन्मयीभाव को प्राप्त नही होती। यही कारण है कि शीतस्पर्श तो पानी का स्वभाव कहा जाता है और उष्ण स्पर्श विभाव।

स्वभाव की दृष्टि से आत्मा निर्दण्ड-मनवचन कायके व्यापाररूप योग से रहित, निर्द्वन्द, निर्मम, निष्कलक नीराग, निर्द्वेष, निर्भय, निर्गन्ध, नि शल्य, निर्दोष, निष्काम, नि.क्रोध, निर्मान और निर्मद है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुसक पर्याय, सस्थान तथा सहनन जीव के नही हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। आत्मा रस, रूप, गन्ध और स्पर्श से रहित है, चेतना गुणवाला है, शब्द रहित है, अलिंग ग्रहण है, और अनिर्दिष्ट सस्थान है। स्वरूपोपादानकी अपेक्षा आत्मा चेतनागुण से सहित है और पररूपापोहन की अपेक्षा रसरूपादि से रहित है।

स्वभाव दृष्टि से कहा गया है :—

> जारिसया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
> जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

अर्थात् जैसे सिद्ध जीव है वैसे ही ससारस्थ जीव भी है। जैसे सिद्ध जीव जरा, मरण और जन्म से रहित तथा अष्टगुणो से अलकृत है वैसे ही ससारी जीव भी जरामरणादि से रहित तथा अष्ट गुणो से अलकृत है। यहाँ इतना स्मरण रखना आवश्यक है कि यह कथन मात्र स्वभाव दृष्टि से है वर्तमान की व्यक्तता से नही है; इसका इतना ही तात्पर्य है। वर्तमान मे जीव का ससारी पर्याय रूप अशुद्ध परिणमन चल रहा है। चूंकि एक काल मे एक ही परिणमन हो सकता है। अत· जिस समय जीव का अशुद्ध परिणमन चल रहा है उस समय शुद्ध परिणमन का अभाव ही है परन्तु परिणमन की योग्यता जीव मे सदा रहती है इसलिये अशुद्ध परिणमन के समय भी उसका शुद्ध परिणमन कहा जाता है। वर्तमान मे जन्मजरामरण के दु ख भोगते रहने पर भी ससारी जीव को सिद्धात्मा के सदृश कहने का तात्पर्य इतना है कि आचार्य इस जीव को आत्मस्वरूप की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। जैसे किसी धनिक व्यक्ति का पुत्र, माता पिता के मर जाने पर स्वकीय सपत्ति का बोध न होने से भिखारी बना फिरता है, उसे कोई ज्ञानी पुरुष समझाता है कि तू भिखारी क्यो बन रहा है, तू तो अमुक सेठ के समान लक्षाधीश है, अपने धन को प्राप्तकर इस भिखारी दशा से मुक्ति पा। इसी प्रकार अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को भूलकर यह जीव वर्तमान की अशुद्ध परिणति मे आत्मीय बुद्धि कर दुखी हो रहा है, उसे ज्ञानी आचार्य समझाते है— अरे भाई! तू तो सिद्ध भगवान के समान है, जन्म मरण के चक्र को अपना मानकर दुखी क्यो हो रहा है? आचार्य के उपदेश से निकट भव्यजीव अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य बनाकर सिद्धात्मा के समान शुद्ध परिणति को प्राप्त कर लेते है परन्तु दीर्घ ससारी जीव स्वभाव की ओर लक्ष्य न देने के कारण इसी ससार मे परिभ्रमण करते रहते हैं। शुद्धभावाधिकार मे शुद्धभाव की ओर भी आत्मा का लक्ष्य जावे इसी अभिप्राय से वर्णन किया गया है। यह कथन द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा है। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा वर्तमान मे जीव की जो पर्याय है उसे नकारा नही जा रहा है। मात्र उस ओर से दृष्टि को हटाकर स्वभाव की ओर लगाने का प्रयास किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ये चारो उपाय स्वभाव दृष्टि को प्राप्त करने मे परम सहायक है। इसीलिये इन्हे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। विपरीताभिनिवेश से रहित आत्मतत्व का जो श्रद्धान है वह सम्यग्दर्शन है। सशय, विभ्रम तथा अनध्यवसाय से रहित आत्मतत्त्व का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। आत्मस्वरूप मे स्थिर रहना सम्यक्चारित्र है और उसी मे प्रतपन करना सम्यक्तप है। यह निश्चयनयका का कथन है। चल, मलिन और अगाढ दोषो से रहित तत्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है हेयोपा-

मोत्तूण वयणरयण रागादीभाववारण कित्वा ।
अप्पाण जो झायदि तस्स दु होदित्तिपडिकमण ॥८३॥

जो वचनरचना को छोडकर तथा रागादिभावो का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रतिक्रमण होता है और ऐसे परमार्थ प्रतिक्रमण के होने पर ही चारित्र निर्दोष हो सकता है ।

(६) निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार :

प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है । यह त्याग विकारी भावो का ही किया जा सकता है स्वभाव का नहीं— ऐसा विचार करता हुआ जो समस्त वचनो के विस्तार को छोडकर शुभ-अशुभ भावो का निवारण करता है तथा आत्मा का ध्यान करता है उसी के प्रत्याख्यान होता है । शुभ-अशुभ भाव, इस जीव के आत्मध्यान मे वाधक है अत. प्रत्याख्यान करने वाले को सबसे पहले शुभ-अशुभ भावो को समझ उन्हे दूर करने का प्रयास करना चाहिये। निश्चय प्रत्याख्यान की सिद्धि के लिये आचार्य महाराज ने इस प्रकार की भावनाओ का होना आवश्यक वतलाया है ।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्मत्तिमुवट्ठिदो ।
आलवण च मे आदा अवसेस च वोसरे ॥९९॥

मे निर्ममत्व भाव को प्राप्त कर ममत्व भाव को छोड़ता हूँ । मेरा आलम्वन मेरा आत्मा ही है, शेष आलम्बनो को मैं छोडता हूँ ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

मेरे ज्ञान मे आत्मा है, मेरे दर्शन मे आत्मा है, मेरे चारित्र मे आत्मा है, मेरे प्रत्याख्यान मे आत्मा है मेरे सवर तथा योग–शुद्धोपयोग मे आत्मा है ।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला एक आत्मा ही मेरा है । परपदार्थो के सयोग से होने वाले शेष सब भाव मुझसे वाह्य है—स्वभावभूत नही है ।

सम्म मे सव्वभूदेसु वेर मज्झ ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता ण समाहिं पडिवज्जए ॥१०४॥

सब जीवो मे मेरे साम्यभाव है, किसी के साथ मेरा वैरभाव नही है, मैं सब आशाओ को छोड़कर निश्चय से समाधि को प्राप्त होता हूँ ।

णिक्कसायस्स दतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
ससारभयभीदस्स पच्चक्खाण सुह हवे ॥१०५॥

जो कषाय रहित है, इन्द्रियो का दमन करने वाला है, शूरवीर है, उद्यमवन्त है, और ससार के भय से भीत हैं उसी के सुखस्वरूप प्रत्याख्यान होता है ।

(७) परमालोचनाधिकार :

परमालोचना किसके होती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते है—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ।।१०७।।

जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव-गुण और पर्यायो से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है ऐसे श्रमण—मुनि के ही आलोचना होती है ।

आगम मे—१. आलोचन, २ आलुन्छन, ३. अविकटीकरण और ४ भावशुद्धि के भेद से आलोचना के चार अग कहे गये हैं । इन अंगो के पृथक्-पृथक् लक्षण इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे सठवित्तु परिणाम ।
आलोवणमिदि जाणह परम जिणदस्स उवएसं ।।१०९।।

जो जीव अपने परिणाम को समभाव से स्थापित कर आत्मा को देखता है—अनुभवता है वह आलोचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश जानो ।

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुन्छणमिदि समुद्दिट्ठ ।।११०।।

कर्मरूप वृक्ष का मूलच्छेद करने मे समर्थ जो समभावरूप स्वाधीन निज परिणाम है वह आलुन्छण है ।

कम्मादो अप्पाणं भिण्ण भावेइ विमलगुणणिलयं ।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणत्ति विण्णेयं ।।१११।।

जो मध्यस्थ भावना मे स्थित हो कर्म से भिन्न तथा निर्मलगुणो के आलयस्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करता है वह विकटीकरण है अर्थात् ऐसा विचार करना कि कर्मोदयजनित विकार मेरे नही है मैं इनसे पृथक् हूँ ।

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ।।११२।।

मद, मान, माया और लोभ से रहित जो निज का भाव है वही भावशुद्धि है ऐसा सर्वत्र भगवान् ने भव्यजीवो के लिये कहा है ।

व्यवहारनय से भूतकाल सम्बन्धी दोषो का पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है । वर्तमानकाल सम्वन्धी दोषो का त्याग करना आलोचना है और भविष्यत्काल सम्वन्धी दोषो का त्याग करना प्रत्याख्यान है । व्यवहारनय सम्वन्धी प्रतिक्रमणादिकी सफलता तब ही है जब निश्चय सम्वन्धी प्रतिक्रमणादि प्राप्त हो जावें ।

(८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार :

व्यवहार दृष्टि से प्रायश्चित के अनेक रूप सामने आते है परन्तु निश्चयनय से उसका क्या रूप होना चाहिये इसका दिग्दर्शन श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अधिकार मे किया है। वे कहते है कि व्रत, समिति, शील और सयम रूप परिणाम तथा इन्द्रिय दमन का भाव ही वास्तविक प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्मीय गुणो के द्वारा विकारीभावो पर विजय प्राप्त करना सच्चा प्रायश्चित्त है। इसीलिये कहा है—

कोहं खमया माण समद्देवणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोह जयदि सु ए चहुविहकसाए ।।११५।।

क्षमा से क्रोध को, मार्दव से मान को, आर्जव से माया को और सतोप से लोभ को—इस प्रकार श्रमण इन चार कषायो को जीतता है।

कषाय विकारीभाव है, उनके रहते हुए प्रायश्चित की कोई प्रतिष्ठा नही होती, इसलिए क्षमादिगुणो के द्वारा कषायरूप विकारीभावो को जीतने का उपदेश दिया गया है। इसी अधिकार मे कहा है कि अधिक कहने से क्या, उत्कृष्ट तपश्चरण ही साधुओ का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित उनके अनेक कर्मो के क्षय का हेतु है। अनन्तानन्त भवो मे इस जीव ने जो शुभाशुभ कर्मो का समूह सचित किया है वह तपश्चरण रूप प्रायश्चित्त के द्वारा ही नष्ट हो सकता है, इसलिये तपश्चरण अवश्य ही करना चाहिये। ध्यान भी प्रायश्चित्त का सर्वोपरि रूप है क्योकि यह जीव आत्मस्वरूप के आलम्बन से ही समस्त विकारी भावो का परिहार कर सकता है। ध्यान का फल वतलाते हुये कहा है कि जो शुभ-अशुभ वचनो तथा रागादि भावो का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके अवश्य ही प्रायश्चित्त होता है।

(९) परमसमाधिअधिकार :

आत्मपरिणामो का स्वरूप मे सुस्थिर होना परम समाधि है। इसकी प्राप्ति भी आत्म ध्यान से ही होती है। कहा है —

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाण परमसमाही हवे तस्स ।।१२२।।

जो मुनि समताभाव से रहित है उसके लिए वनवास, आतापनयोग आदि कायक्लेश, नाना प्रकार के उपवास और अध्ययन तथा मौन आदि क्या लाम पहुँचा सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी नही। कुन्दकुन्द के वचन देखिये—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ।।१२४।।

सामायिक और परम समाधि को पर्यायवाचक मानते हुये कुन्दकुन्द स्वामी ने १२५-१३३ तक नौ गाथाओ मे स्पष्ट किया है कि स्थायी सामायिक किसके हो सकती है ? परम समाधि का अधिकारी कौन है ? उन गाथाओ का भाव यह है कि जोसमस्त सावद्य-पापसहित कर्मो से विरक्त है,तीन गुप्तियो का धारक हैं तथा इन्द्रियो का दमन करने वाला है, जो समस्त त्रस-स्थावर जीवो मे समताभाव रखता है, जिसकी आत्मा सदा यम, नियम

और तप मे लीन रहती है, राग और द्वेष जिसमे विकार उत्पन्न नही कर सकते, जो आर्त्त रौद्र नामक दुर्ध्यानो से सदा दूर रहता है, जो पुण्य और पाप भाव का निरन्तर त्याग करता है और जो धर्म तथा शुक्ल ध्यान को सतत धारण करता है उसी के स्थायी सामायिक—परम समाधि हो सकती है अन्य के नही।

(१०) परमभक्ति अधिकार :

'भजन भक्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। 'पूज्याना गुणेष्वनुरागो भक्ति' पूज्य पुरुषो के गुणो मे अनुराग होना भक्ति है यह भक्ति का वाच्यार्थ है। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्वृत्ति भक्ति है अर्थात् मुक्ति की उपासना है। निर्वृति भक्ति, योग भक्ति—शुद्धस्वरूप के ध्यान से सम्पन्न होती हैं। निर्वृत्ति भक्ति किसके होती है ? इसका समाधान कुन्दकुन्द स्वामी के शब्दो मे देखिये—

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्तो होदित्ति जिणेहि पण्णत्त।।३४।।

जो श्रावक अथवा श्रमण, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की भक्ति करता है उसी के निवृत्ति भक्ति है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

योगभक्ति किसके होती है ? इसका समाधान देखिए—

रागादीपरिहारे अप्पाण जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।१३७।।

जो साधु अपने आपको रागादि के परिहार मे लगाता है अर्थात् रागादि विकारी भावो पर विजय प्राप्त करता है वही योगभक्ति से युक्त होता है। अन्य साधु के योग कैसे हो सकता है ?

(११) निश्चयपरमावश्यक अधिकार :

जो अन्य के वश नही है वह अवश है तथा अवशका जो कार्य है वह आवश्यक है। अवश—सदा स्वाधीन रहने वाला श्रमण ही मोक्ष का पात्र होता है। जो साधु शुभ या अशुभभाव मे लीन हैं वह अवश नही है किन्तु अन्यवश है, उसका कार्य आवश्यक कैसे हो सकता है ? जो परमभाव को छोडकर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वह आत्मवश—स्ववश—स्वाधीन है उसका कार्य आवश्यक कहलाता है। आवश्यक प्राप्त करने के लिये कुन्दकुन्द स्वामी कितनी महत्वपूर्ण देशना देते है, देखिए—

आवासं जइ इच्छसि अप्प सहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुण सपुण्ण होदि जीवस्स।।१४७।।

हे श्रमण ! यदि तू आवश्यक की इच्छा करता है तो आत्मभाव मे स्थिरता कर, क्योकि जीव का श्रामण्य—श्रमणपन उसी से सम्पूर्ण होता है।

और भी कहा है कि जो श्रमण आवश्यक से रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट माना जाता है इसलिये पूर्वोक्त विधि से आवश्यक करना चाहिये। आवश्यक से सहित श्रमण अन्तरात्मा होता है और आवश्यक से रहित श्रमण वहिरात्मा होता है।

समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक कहलाते है, इनका यथार्थ रीति से पालन करने वाला श्रमण ही यथार्थ श्रमण है।

(१२) शुद्धोपयोगाधिकार :

इस अधिकार के प्रारम्भ मे कुन्दकुन्द ने निम्न महत्वपूर्ण गाथा कही है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५६॥

केवल ज्ञानी व्यहार नय से सबको जानते देखते है परन्तु निश्चय से आत्मा को ही जानते-देखते हैं।

इस कथन का फलितार्थ वह नही लगाना चाहिये कि केवली निश्चय नय से सर्वज्ञ नही है, मात्र आत्मज्ञ हैं क्योकि आत्मज्ञता मे ही सर्वज्ञता गर्भित है। वास्तव मे आत्मा किसी भी पदार्थ को तव ही जानता है जवकि उसका विकल्प आत्मा मे प्रतिफलित होता है। जिस प्रकार दर्पण मे प्रतिविम्वित घटपटादि पदार्थ दर्पणरूप ही होते हैं उसी प्रकार आत्मा मे प्रतिफलित पदार्थो के विकल्प आत्मरूप ही होते है। परमार्थ से आत्मा उन विकल्पो से परिपूर्ण आत्मा को ही जानता है अत आत्मज्ञ कहलाता है। उन विकल्पो के प्रतिफलित होने मे लोकालोक के समस्त पदार्थ कारण होते है अत. व्यवहार से उन सवका भी ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्वदर्शी कहलाता है।

जब जीव का उपयोग—ज्ञानदर्शन स्वभाव, शुभ-अशुभ रागादिक विकारी भावो से रहित हो जाता है तव वह शुद्धोपयोग कहा जाता है। परिपूर्ण शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र का अविनाभावी है। क्षायिक यथाख्यात चारित्र से अविनाभावी शुद्धोपयोग के होने पर वह जीव अन्तर्मुहूर्त के अन्दर नियम से केवल ज्ञानी वन जाता है।

इसी शुद्धोपयोग के फलस्वरूप जीव अष्टकर्मो का क्षयकर अव्यावाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पाप के विकल्प से रहित, पुनरागमन से रहित, नित्य अचल और पर के आलम्बन से रहित निर्वाण को प्राप्त होता है।

तत्वार्थसार और अमृतचन्द्राचार्य

द्रव्य, तत्त्व पदार्थ

द्रव्य शब्द का उल्लेख जैन और वैशेषिक दर्शन मे स्पष्ट रूप से मिलता है। जैन दर्शन मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को द्रव्य कहा है तथा वैशेषिक दर्शन मे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, आकाश, दिशा, काल और मन इन नौको द्रव्य कहा गया है। वैशेपिकदर्शन सम्मत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, शरीर की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य मे गर्भित हो जाते है और आत्मा की अपेक्षा जीव मे गर्भित रहते हैं। आकाश, काल और आत्मा (जीव) ये तीन द्रव्य दोनो दर्शनो मे स्वतन्त्र रूप से माने गये है। वैशेषिक दर्शनाभिमत दिशा नामक द्रव्य आकाश का ही विशिष्ट रूप होने से उसमे गर्भित है। इस तरह वैशेषिक सम्मत द्रव्य जैनो के जीव, पुद्गल, आकाश और काल मे गर्भित हो जाते है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की कल्पना वैशेषिक दर्शन मे नही है। ये दोनो द्रव्य जैन दर्शन मे ही निरूपित है।

छह द्रव्यो मे जीवद्रव्य चेतन है और शेष पाच द्रव्य अचेतन है। पुद्गल द्रव्य, दृश्यमान होनेसे सबके अनुभव मे आ रहा है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिसमे पाया जाता है वह पुद्गल द्रव्य है अत' जो भी वस्तु रूपादि से सहित होने के कारण दृश्यमान है वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीव के साथ अनादि से लगे हुए कर्म और नोकर्म (शरीर) स्पष्ट रूप से पुद्गल द्रव्य है। जीवद्रव्य अमूर्तिक होने से यद्यपि दिखाई नही देता तथापि स्वानुभ्व के द्वारा उसका बोध होता है। जो सुख-दु ख का अनुभव करता है और जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते है वह जीवद्रव्य है। ज्ञान दर्शन इसके लक्षण है। जीवित और मृत मनुष्य के शरीर की चेष्टा को देखकर जीव का अनुमान अनायास हो जाता है।

पुद्गल मे हम भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणमन देखते है। मनुष्य, वालक से युवा और युवा से बृद्ध होता है। यह सब परिणमन कालद्रव्य की सहायता से होते है, इसलिये पुद्गल की परिणति से कालद्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आता है। हम देखते हैं कि जीव और पुद्गल मे गति होती है—वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते दिखाई देते है। इसका कारण क्या है? जब इसके कारण की ओर दृष्टि जाती है तव धर्मद्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आने लगता है। जीव और पुद्गल चलते-चलते रुक जाते है—एक स्थान पर ठहर जाते है। इसका क्या कारण है? जब इस पर विचार करते है तव अधर्मद्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आये विना नही रहता। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये द्रव्य कहाँ रहते हैं? विना आधार के किसी पदार्थ का अस्तित्त्व वुद्धि मे नही आता। जव इस प्रकार का विचार उठता है तब आकाश का अस्तित्त्व नियम से अनुभव मे आता है। इस तरह षड्द्रव्यमय लोक है। लोक के अन्दर ऐसा एक भी प्रदेश नही, जहाँ जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य अपना अस्तित्त्व नही रखते हो। हाँ लोक के बाहर अनन्त प्रदेशो वाला अलोक है, जहाँ आकाश के सिवाय किसी अन्य द्रव्य का अस्तित्व नही है।

जीव द्रव्य अनन्त है, पुद्गल उनकी अपेक्षा बहुत अधिक अर्थात् अनन्तानन्त है, धर्म और अधर्म द्रव्य एक-एक है आकाश भी एक है और काल असंख्यात है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य विद्यमान रहता है। वह स्वयं मे परिपूर्ण रहता है न कि किसी द्रव्य का अङ्ग, अवयव या प्रदेश रूप होकर रहता है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि चूँकि धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य आकाश मे होता है अत धर्म और अधर्म द्रव्य की कल्पना निरर्थक है, आकाश से ही उनका कार्य निकल सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनकी कल्पना निरर्थक नही है, सार्थक है। यदि आकाश के ऊपर ही गति और स्थिति का काम निर्भर हो तो लोक अलोक का विभाग नही बन सकेगा, क्योकि आकाश तो अलोकाकाश मे भी विद्यमान है। उसके विद्यमान रहते जीव और पुद्गल की गति तथा स्थिति अलोकाकाश मे भी होने लगेगी, तब लोक और अलोक का विभाग कहाँ हो सकेगा ?

जीवादि छह द्रव्यो मे अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अपेक्षा भी भेद होता है। जिसमे अस्तित्व के रहते हुए बहुत प्रदेश पाये जाते है उन्हें अस्तिकाय कहते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहलाते है और काल द्रव्य एक प्रदेशी होने से अनस्तिकाय कहलाता है। पुद्गल द्रव्य का एक भेद परमाणु भी यद्यपि द्वितीयादिक प्रदेशो से रहित है तथापि स्कन्धरूप बनने की शक्ति से युक्त होने के कारण उसे भी अस्तिकाय कहते है।

द्रव्य का लक्षण शास्त्रो मे 'सद्द्रव्यम्', 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' और गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' कहा है अर्थात् जो सत्ता रूप है वह द्रव्य है। सत्ता, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप होती है। अथवा जो गुण और पर्यायो से सहित है वह द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य हमारी दृष्टि मे स्पष्ट ही आते हैं और पुद्गल के माध्यम से जीवद्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भी अनुभव मे आते हैं। शेष अरूपी द्रव्यो के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को हम आगम प्रमाण से जानते हैं।

जो द्रव्य के आश्रय रहता हुआ भी दूसरे गुण से रहित हो उसे गुण कहते है।[1] वह सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो प्रकार का होता है। अस्तित्व, वस्तुत्त्व, प्रमेयत्त्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण है तथा चेतनत्व, रूपादिमत्व आदि विशेष गुण है।

द्रव्य की परिणति को पर्याय कहते हैं। इसके व्यञ्जनपर्याय तथा अर्थपर्याय की अपेक्षा दो भेद हैं। प्रदेशवत्त्व गुण की अपेक्षा किसी आकार को लिये हुए द्रव्य की जो परिणति होती है उसे व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और अन्य गुणो की अपेक्षा षड्गुणी हानि-वृद्धिरूप जो परिणति होती है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इन दोनो पर्यायो के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो-दो भेद होते हैं। स्वनिमित्तक पर्याय स्वभाव पर्याय है और परनिमित्तक पर्याय विभाव पर्याय है। जीव और पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्यो का परिणमन स्वनिमित्तक होता है अत. उनमे सदा स्वभाव पर्याय रहती है। जीव और पुद्गल की जो पर्याय परनिमित्तक है वह विभाव पर्याय कहलाती है और पर का निमित्त दूर हो जाने पर जो पर्याय होती है वह स्वभाव पर्याय कही जाती है। ससार का प्रत्येक पदार्थ, द्रव्य, गुण और पर्याय से तन्मयी भाव को प्राप्त हो रहा हैं। क्षण भर के लिये भी द्रव्य, पर्याय से विमुक्त और पर्याय, द्रव्य से विमुक्त नही रह सकता। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती है तथापि सामान्य रूप से कोई-न-कोई पर्याय प्रत्येक समय रहती हैं। इसी द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ को दर्शनशास्त्र मे सामान्य विशेषात्मक कहा जाता है।

१. द्रव्याश्रया: निर्गुणा गुणाः। — त. सू.। २. तद्भावः परिणामः। — त. सू.।

द्रव्य के बाद जैन शास्त्रो मे जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का वर्णन आता है। तत्त्व शब्द का प्रयोग जैन दर्शन के सिवाय साख्य दर्शन मे भी हुआ है। साख्य दर्शन मे प्रकृति, महान् आदि पच्चीस तत्त्वो की मान्यता है । वस्तुतः संसार मे जिस प्रकार जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य हैं उसी प्रकार जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व है। जीव के साथ अनादिकाल से कर्म और नोकर्म रूप अजीव का सम्बन्ध हो रहा और उसी सम्बन्ध के कारण जीव की अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीव का परस्पर सम्बन्ध होने का जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। दोनो का परस्पर सम्बन्ध होने पर जो एक क्षेत्रावगाहरूप परिणमन होता है उसे बन्ध कहते हैं। आस्रव के रुक जाने को सवर कहते है। सत्ता मे स्थित पूर्व कर्मो का एकदेश दूर होना निर्जरा है और सदा के लिये आत्मा से कर्म का छूट जाना मोक्ष है।

'तस्य भावस्तत्वम्'—जीवादि वस्तुओ का जो भाव है वह तत्त्व कहलाता है। 'तत्त्व' यह भावपरक सज्ञा है। मोक्षमार्ग के प्रकरण मे ये सात तत्त्व अपना बहुत महत्त्व रखते है। इनका यथार्थ निर्णय हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही है ।

कुन्दकुन्द स्वामी ने इन्ही सात तत्त्वो के साथ पुण्य और पाप को मिलाकर नौ पदार्थो का निरूपण किया है। जिस प्रकार घट पट का वाच्य कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ विशेष होता है उसी प्रकार जीवादि पदो के वाच्य चेतना लक्षण जीव, कर्मनोकर्मादिरूप अजीव, कर्मागमनरूप आस्रव, एक क्षेत्रावगाहरूप वन्ध, कर्मागमन निरोधरूप सवर, सत्तास्थित कर्मों का एक देश दूर होने रूप निर्जरा समस्त कर्म-नोकर्मो का आत्मप्रदेशो से पृथक् होनेरूप मोक्ष, शुभाभिप्राय से निर्मित शुभ प्रवृत्तिरूप पुण्य और अशुभाभिप्राय से निर्मित अशुभ प्रवृत्तिरूप पाप होते है। इसीलिये पदार्थ-- शब्दार्थ की प्रधान दृष्टि से ये पदार्थ कहलाते हैं। शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म की अपेक्षा पदार्थ दो प्रकार का भी है, अर्थात् ससार के अन्दर जितने पदार्थ है वे किसी-न-किसी पद—शब्द के वाच्य – अर्थ अवश्य है। यहाँ नौ पदो—शब्दो के द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्वो का ग्रहण किया गया है, इसलिये ससार के सब पदार्थ इन नौ ही पदार्थो मे गर्भित हो जाते है।

तत्त्वनिरूपण की विविध शैलियाँ—

जिनागम मे तत्त्वनिरूपण करने की एक प्राच्यशैली भगवन्त पुष्पदन्त और भूतवलि के द्वारा प्रचारित रही है, जिसका उन्होने षट्खण्डागम के सत्, संख्या आदि अनुयोगो के द्वारा जीवादि तत्त्वो का वर्णन कर प्रारम्भ किया है। इस शैली मे जीवतत्त्व का वर्णन वीस[1] प्ररूपणाओ के द्वारा किया जाता है और बीस प्ररूपणाओं के अन्तर्गत अन्य अजीवादि तत्त्वो का वर्णन भी यथाप्रसङ्ग किया जाता है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत होने के साथ दुरूह भी है। साधारण क्षयोपशमवाले जीवो का इसमे प्रवेश होना सरल वात नही है।

पीछे चलकर कुन्दकुन्द स्वामी ने तत्त्वनिरूपण की इस शैली मे नया मोड देकर उसे सरल वनाने का उपक्रम किया है। उन्होने विचार किया कि आत्म-कल्याण के लिये प्रयोजनभूत पदार्थ तो नौ ही है—जीव, अजीव,

---

१ गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।
उवओगो वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा ॥—जी. का.

पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष । अत इन्ही के यथार्थ ज्ञान की ओर मनुष्य की बुद्धि का प्रयास होना चाहिये । अनादिकाल से जीव तथा कर्म-नोकर्मरूप अजीव परस्पर एक दूसरे से मिलकर सयुक्त अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं । इसलिये इस सयुक्त अवस्था मे 'जीव क्या है' और अजीव क्या है' यह समझना सर्वप्रथम प्रयोजनभूत है । तदनन्तर पुण्य-पाप का एक बडा प्रलोभन है जिसके चक्र मे अच्छे-अच्छे पुरुष आ जाते है इसलिये उनके यथार्थ स्वरूप को समझकर उनसे निवृत्त होने का प्रयास प्रयोजनभूत है । तदनन्तर जीव और अजीव का परस्पर सम्बन्ध क्यो हो रहा है, इसका विचार करते हुए उन्होने आस्रव को प्रयोजनभूत बतलाया है । आस्रव का प्रतिपक्षी सवर है अत उसका परिज्ञान भी अत्यन्त प्रयोजनभूत है । सवर के द्वारा नवीन अजीव का सयोग होना तो दूर हुआ, परन्तु जिसका सयोग पहले से चला आ रहाहै उसे किस प्रकार दूर किया जावे? इसकी चर्चा करते हुए निर्जरा को आवश्यक बतलाया । उसके बाद जीव अजीव की बद्धदशा का विचार करते हुए बन्ध को प्रयोजनभूत बतलाया। अन्त मे बन्ध की विरोधी दशा मोक्ष है इसलिए साध्यरूप मे उसका निरूपण करना प्रयोजनभूत है । इस तरह जीवादि नौ पदार्थों को प्रयोजनभूत मानकर उनका समयप्राभृत ग्रन्थ मे निरूपण किया । इन्ही नौ पदार्थो का प्रवचनसार तथा पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थो मे प्रमुख या गौणरूप से वर्णन किया है । कुन्दकुन्द स्वामी की यह शैली जनसाधारण को सरल मालूम हुई जिससे प्रचार बढा और उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसे खूब प्रचारित किया ।

कुन्दकुन्द स्वामी के बाद उमा स्वामी अपर नाम गृध्रपिच्छाचार्य हुए । उन्होने कुन्दकुन्द स्वामी की शैली को भी परिष्कृत कर उसे और भी सरल बनाने का प्रयास किया । उन्होने विचार किया कि पुण्य और पाप ये दोनो पदार्थ आस्रव के ही विशेष रूप हैं अत' उनका पृथक् से वर्णन करना आवश्यक नही है । जीव और अजीव ये दोनो पदार्थ सबके अनुभव मे आ रहे हैं । इनका सम्बन्ध जिन कारणो से होता है वे कारण आस्रव हैं। आस्रव के बाद जीव और अजीव की बद्ध दशा का वर्णन करने के लिये उन्होंने बन्धततव को स्वीकृत किया । आस्रव और बन्ध तत्त्व से जीव की ससारी दशा होती है पर यह जीव तो मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ कर रहा है इसलिये आस्रव के विरोधी सवर तत्त्व का निरूपण किया । नये अजीव का सम्बन्ध रुक जाने पर भी पूर्वबद्ध अजीव का सम्बन्ध जब तक नही छूटता तब तक मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ है अत सवर के बाद निर्जरातत्त्व को स्वीकृत किया और सवरपूर्वक निर्जरा होते-होते जब जीव और अजीव का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है अत साध्यरूप मे यह प्रयोजनभूत है । इस तरह नौ पदार्थो के स्थान पर उन्होने सात तत्त्वो को स्थान दिया और कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा अगीकृत क्रम मे भी परिवर्तन कर दिया ।

उमा स्वामी की यह शैली जन साधारण को अत्यधिक रुचिकर हुई । उस समय भारत वर्ष मे सूत्ररचना का प्रवाह चल रहा था । न्याय, साहित्य और व्याकरणादि समस्त विषयो पर अनेक सूत्रग्रन्थो की रचना हो रही थी और वह भी सस्कृत भाषा मे । इसलिये उमा स्वामी ने भी सस्कृत भाषा मे सूत्ररचना की । इसके पूर्व का जिनागम प्राकृत भाषा मे निबद्ध मिलता हैं । परतु उमा स्वामी ने सस्कृत भाषा मे सर्वप्रथम ग्रथ रचनाकर भाषा विषयक आग्रह को छोड दिया और जनकल्याण की भावना से जिस समय जो भाषा अधिक जनग्राह्य हो उसी भाषा मे लिखना अच्छा समझा ।

उमा स्वामी की यह रचना तत्त्वार्थ सूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं । उत्तरवर्ती ग्रथकारो ने अपने-अपने ग्रन्थों मे तत्त्वार्थ सूत्र के नाम से ही इसका उल्लेख किया है । पीछे चलकर इसका 'मोक्ष शास्त्र' नाम भी प्रचलित हो गया, क्योकि इसमे मोक्ष मार्ग का निरूपण किया गया है । यह 'तत्त्वार्थ सूत्र' इतना लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ कि

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अ० ग्रन्थ–४/११४

इसके ऊपर अनेक आचार्यों ने वृत्ति, वार्तिक तथा भाष्यरूप टीकाएं लिखी। जैसे समन्तभद्रस्वामी ने गन्धहस्ति-महाभाष्य, पूज्य पाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि, अकलक स्वामी ने तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी इसका बहुत आदर है तथा अनेक टीकाए इस पर लिखी गई हैं। वाचक उमा स्वामी का तत्त्वार्थाधिगमभाष्य उनके यहा इसकी प्राचीन टीका मानी जाती है। इसके बाद सिद्धसेनगणी, हरिभद्र, देवगुप्त, मलयगिरि तथा चिरन्तनमुनि आदि ने भी इस पर टीकाएं लिखी है।

दिगम्बर जैनाचार्योकी टीकाओमे कुछ के नाम इस प्रकार है :—

(१) स्वामिसमन्तभद्राचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्य
(२) पूज्यपादाचार्यकृत सर्वार्थसिद्धिवृत्ति
(३) अकलकभट्टकृत तत्त्वार्थराजवार्तिकालकार
(४) विद्यानन्दस्वामीकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिलंकार
(५) भास्करनन्दिकृत सुखबोधिनीटीका
(६) विबुधसेनचन्द्राचार्यकृत तत्त्वार्थटीका
(७) योगीन्द्रदेवकृत तत्त्वप्रकाशिकाटीका
(८) योगदेवग्रथित तत्त्वार्थटीका
(९) लक्ष्मीदेवविरचित तत्त्वार्थटीका
(१०) अभयनन्दिसूरिकृत तात्पर्यतत्त्वार्थटीका
(११) श्रुतसागरसूरिकृत तत्त्वार्थवृत्ति
(१२) बालचन्द्रमुनि प्रणीत तत्त्वरत्नप्रदीपिका

इनमे प्रारम्भ की ११ टीकाएँ सस्कृत और बालचन्द्र मुनि प्रणोत बारहवी टीका कन्नड भाषा मे हैं। इनके सिवाय अनेक विद्वानो ने हिन्दी तथा गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ मे भी इस पर टीकाएँ लिखी हैं इन मे जिनका उल्लेख आदि किया गया है उनमे स्वामिसमन्तभद्रका गन्धहस्तिमहाभाष्य अब तक अप्राप्त है। फिर भी उत्तरवर्ती आचार्योंने अपने-अपने ग्रन्थो मे उसका नामोल्लेख किया है। अतः उसका अस्तित्व जाना जाता है। इस विषय के कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं—

भास्करनन्दि आचार्य ने चतुर्थाध्याय के ४२ वे सूत्र मे लिखा है—"अपरः प्रपञ्चः सर्वस्य भाष्ये द्रष्टव्य." पञ्चमाध्याय के द्वितीय सूत्र मे लिखा है "अन्यस्तु विशेषो भाष्ये दृष्टव्य ।"

धर्मभूषणाचार्य विरचित न्यायदीपिका मे

तद्भाव—'तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूत देवदत्तस्य दण्डः', । भाष्यं च—संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः इति' । तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।।

इस प्रकार महाभाष्य के वाक्यो को उद्धृत किया गया है।

---

९७८ ई. मे श्रीचामुण्डराय के द्वारा कन्नड भाषा मे विरचित त्रिशष्टिलक्षण पुराण मे भी समन्तभद्रस्वामी के भाष्यका इस प्रकार स्मरण किया गया है।

अभिमतमागिरे तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं वरेदु वचो—
विभवदिनिलेगेसेद समतभद्रदेवर समानेवरमोलरे ॥५॥

ई० सन् १२३० मे गुणवर्म कवि के द्वारा कन्नड भाष मे विरचित पुष्पदन्तपुराण मे उल्लेख मिलती है—

वित्तरभागे सूत्रगतिर्यि मिमे पणिदगन्धहस्ति तो—
भत्तरुसासिरक्खे शिवकोटिय कोटिविपक्षुविद्वदु—
न्मत्तगजं मदं वरंतु केय्यडेगोट्टुदेवल्ले पेल्वुदें
मत्ते समन्तभद्रमुनिराजवुदात्तजयप्रशस्तियं ॥२२॥

इस उल्लेखसे गन्धहस्तिमहाभाष्य की श्लोकसख्या छयानवे हजार प्रमाण है, यह जाना जाता है।

विक्रान्तकौरव नाटक की प्रशस्ति मे उसके कर्त्ता हस्तिमल्ल ने भी लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामीसमन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशक ॥२॥

अष्टसहस्री की टिप्पणीमे लघुसमन्तभद्र ने भी लिखा है—

इह हि खलु पुरा स्वीयनिरवद्यविद्यासयमसम्पदा गणधरप्रत्येकबुद्धश्रुतकेवलिदशपूर्वाणा सूत्रकृन्महर्षीणा महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्स तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्य महाभाष्यमुपनि-बन्धन्तः स्याद्वादविद्यागुरव श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याः ।

यह तो रही टीकाओ की बात, परन्तु उत्तरवर्ती समस्त आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे जहाँ तत्त्वनिरूपण का प्रसङ्ग आया है वहाँ श्री उमास्वामी की ही शैली को अपनाया है। जैसे हरिवंशपुराण मे उसके कर्त्ता जिनसेन स्वामी ने तत्त्वनिरूपण करते हुए इसी शैली को स्वीकृत किया है। कितने ही स्थलो पर तो ऐसा जान पडता है मानो सूत्रो का इन्होने पद्यानुवाद ही किया हो।

उमास्वामी ने इस नवीन शैली को अपनाते हुए प्राचीन शैली को सर्वथा विस्मृत नही किया है अपितु "सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" इस सूत्र के द्वारा उसका उल्लेख भी किया है और पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धिटीका मे विस्तार के साथ इस सूत्र की टीका कर सत्सख्यादि अनुयोगो पर अच्छा प्रकाश डाला है। सर्वार्थसिद्धिटीका, वीरसेनस्वामी द्वारा रचित धवलाटीकासे बहुत प्राचीन है। यदि इसको अच्छी तरह समझ लिया जावे तो धवला टीका मे प्रवेश करना सरल हो सकता है। परन्तु खेद है कि दुरूह समझकर इस सूत्र की सर्वार्थ-सिद्धिगत टीका को पाठ्यक्रम से बहिर्भूत कर दिया है जिससे आज का छात्र उस प्राचीन शैली से अपरिचित ही रह जाता है। पीछे चलकर इसी प्राचीन शैली को बल देने के लिये नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाण्ड तथा कर्म-काण्ड की रचनाए की और उनसे उस प्राचीन शैली को पुन प्रचारित होने मे बल प्राप्त हुआ।

श्री अमृतचन्द्र सूरि का 'तत्त्वार्थसार' ग्रन्थ भी उमास्वामी के तत्त्वाथ सूत्र की शैली मे लिखा हुआ स्वतन्त्र ग्रथ है। कही-कही तो ऐसा लगता है कि अमृतचन्द्र सूरि ने इसे गद्य के स्थान पर पद्य का ही रूप दिया है परतु कितने ही स्थानो पर इन्होने नवीन तत्त्वो का भी सकलन किया है। नवीन तत्त्वो का सकलन करने के लिये इन्होने अकलंक स्वामी के तत्त्वार्थ राजवार्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है। आस्रव तथा मोक्ष के प्रकरण मे तो उन्होने प्रकरणोपात्त वार्तिकों को पद्यानुवाद के द्वारा अपने ग्रथ का अंग ही बना लिया है। उमा स्वामी ने गुणस्थान और मार्गणाओ के जिस प्रकरण को दुरूह समझकर छोड़ दिया था उसे भी अमृतचन्द्र सूरि ने यथा-कथचित् स्वीकृत कर विकसित किया है।

उमास्वामी

अर्हद्बली आचार्य के समय कालदोष से मुनियो मे अपने-अपने सघ का पक्षपात चल पडा। उसे देखकर अर्हद्बली आचार्य ने मुनियो के नदिसघ, सेनसघ, सिंहसंघ और देवसघ इस प्रकार चार सघ स्थापित कर दिये। उनमे भगवान् महावीर के निर्वाण से लेकर ६८३ वर्ष व्यतीत होने के बाद दश वर्ष तक गुप्तिगुप्त आचार्य सधाधिपति रहे, उनके बाद चार वर्ष तक माघनदी, तत्पश्चात् नौ वर्ष तक जिनचन्द्र, तदुपरान्त बावन वर्ष तक श्री कुन्दकुन्द स्वामी और पश्चाद् चालीस वर्ष आठ दिन तक उमास्वामी महाराज नन्दिसघ के पीठाधिपति रहे।

श्रवणवेलगोल के ६५वे शिलालेख मे लिखा है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारर्णाद्धिः ॥५॥

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥६॥

उन जिनचन्द्र स्वामी के जगत् प्रसिद्ध अन्वय मे 'पद्मनन्दी प्रथम' इस नाम को धारण करने वाले श्री कुन्दकुन्द नाम के मुनिराज हुए। जिन्हे सत्संयम के प्रभाव से चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी। उन्ही कुन्दकुन्द स्वामी के अन्वय मे उमास्वाति मुनिराज हुए जो गृद्ध्रपिच्छाचार्य नाम से प्रसिद्ध थे। उस समय गृद्ध्रपिच्छाचार्य के समान समस्त पदार्थो को जानने वाला कोई दूसरा विद्वान नही था।

श्रवणवेलगोला के निम्नाकित २५८वें शिलालेख मे भी लिखा है—

तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रः स कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्ड. ॥१०॥

अभूदुमास्वातिमुतिः पवित्रे वशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृत येन जिनप्रणीत शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥११॥

स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्ध्रपिच्छान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराधार्यशब्दोत्तरगृद्पिच्छम् ॥१२॥

उनके वशरूपी प्रसिद्ध खान से अनेक मुनिरूप रत्नो की माला प्रकट हुई। उसी मुनिरूपी रत्नमाला के बीच मे मणि के समान श्री कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध ओजस्वी आचार्य हुए। उन्ही कुन्दकुन्द स्वामी के पवित्र वश मे समस्त पदार्थो के ज्ञाता श्री उमास्वाति मुनि हुए, जिन्होने जिनागम को सूत्ररूप मे निवद्ध किया। यह उमास्वाति महाराज प्राणियो की रक्षा मे अत्यन्त सावधान थे, इसलिये उन्होने (मयूरपिच्छ के गिर जाने पर) गृद्ध्रपिच्छो को धारण किया था। उसी समय से विद्वान लोग उन्हे गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

मैसूर प्रान्त के अतर्गत नागर प्रान्त के छयालीसवें शिलालेख मे लिखा है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥

मैं तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता, गुणो के मदिर एव श्रुतकेवली के तुल्य श्री उमास्वाति मुनिराज को नमस्कार करता हू।

यही उमास्वाति आचार्य, उमास्वामी और गृद्धपिच्छाचार्य नाम से भी विख्यात है। धवला टीका मे श्री वीरसेनाचार्य ने काल द्रव्य का वर्णन करते समय 'तह गिद्धापिच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्तेवि' इन शब्दा के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता को गृद्धपिच्छाचार्य लिखा है। सन ९४१ मे निर्मित कन्नड आदिपुराण मे महाकवि पम्प ने उमास्वामी को 'आर्यनुतगृद्ध्रपिच्छाचार्य' लिखा है। इसी तरह सन् ९७८ मे रचित कर्णाटक त्रिपष्टिलक्षण पुराण मे उसके कर्ता चामुण्डराय ने भी उमास्वामी को गृध्रपिच्छाचार्य लिखा है।[1]

१२५० ईशवीय के लगभग रचित कन्नड भाषा के पार्श्वपुराण मे उसके रचयिता पार्श्वपण्डित ने तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता का उमास्वाति नाम से स्तवन किया है।[2]

सन १३२० के लगभग विरचित कन्नड़ भाषा के समय परीक्षा ग्रन्थ मे उसके कर्ता ब्रह्मदेव कवि ने उमास्वामी का गृद्ध्रपिच्छाचार्य के नाम से उल्लेख किया है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रकर्तार गृद्ध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥

---

१. वसुमतिगे नेगले तत्त्वार्थसूत्रमं वरेद गृध्रपिच्छचार्यर।
जसदिं दिगन्तमं मु द्रिसि जिनशासनद महिमेयं प्रकटिसिदर ॥३॥

२. अनुपमतत्त्वार्थ पुण्यनिबन्धनं मप्पुदें तु पनदोल्नेट्टने
वेलसियते वेलसिके निशमुमास्वातिपादयति पादयुगम्॥

३. जगदोलगुल्ल सुतत्त्वम नगणित मननन्तभेदभिन्नस्थितियम्।
सुगमदि नरि वन्निरे ये ल्द गुणाढ्यं गृध्रपिच्छमुनिकेवलने।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अ० ग्रन्थ–४/११८

इस प्रसिद्ध श्लोक मे भी तत्त्वार्थ सूत्र के कर्ता को गृद्ध्रपिच्छ से उपलक्षित उमास्वामी नाम से प्रकट किया गया हैं।

इन उल्लेखो से तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता उमास्वामी, उमास्वाति और गृद्ध्रपिच्छाचार्य ये तीन नाम हमारे सामने आते हैं। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा जिनागम के पारगामी विद्वान थे। तत्त्वार्थ सूत्र के टीकाकार समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक तथा विद्यानन्द आदि मुनियो ने बडे श्रद्धापूर्ण शब्दो मे इनका उल्लेख किया है। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ मे जो उनका सक्षिप्त परिचय दिया है वह अत्यन्त मार्मिक है—

'मुनिपरिषण्मध्ये सन्निषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्'।

जो मुनिसभा के मध्य मे विराजमान थे, जो बिना वचन बोले अपने शरीर से ही मानो मूर्तिधारी मोक्ष मार्ग का निरूपण कर रहे थे, युक्ति और आगम मे कुशल थे, परहित का निरूपण करना ही जिनका एक कार्य था तथा उत्तमोत्तम आर्य पुरुष जिनकी सेवा करते थे ऐसे दिगम्बराचार्य श्री उमास्वामी महाराज थे।

आ० विद्यानन्द ने आपके साथ 'भगवद्भि' जैसे आदरसूचक शब्दो का प्रयोग किया है। तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायो मे जीवादि सात तत्त्वो का विशद वर्णन है अर्थात् पहले के चार अध्यायो मे जीव का, पाचवें अध्याय मे अजीव का, छठवें और सातवे अध्याय मे आस्रव का, आठवें अध्याय मे बन्ध का, नौवें अध्याय मे संवर और निर्जरा का तथा दशवें अध्याय मे मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। तत्त्वार्थ सूत्र की महिमा मे प्रसिद्ध है—

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

दशाध्याय प्रमाण तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ और अनुगम करने पर मुनियो ने एक उपवास का फल बतलाया हैं अर्थात् एक उपवास से जितनी निर्जरा होती है उतनी निर्जरा अर्थ समझते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के एक बार पाठ करने से होती है।

समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्द जैसे बहुश्रुत आचार्यो ने इस पर वृत्ति, वार्तिक और भाष्य लिखने मे अपना गौरव समझा, इसी से तत्त्वार्थ सूत्र की महिमा आकी जा सकती है।

कुछ टीकाओ का संक्षिप्त परिचय–

समन्तभद्र स्वामी के गन्धहस्तिमहाभाष्य के विषय मे हम पहले प्रकाश डाल आए हैं। पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धिवृत्ति, अकलकस्वामी का तत्त्वार्थवार्तिक, विद्यानन्द का तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, भास्करनन्दि की सुखबोधाख्य टीका और श्रुतसागर की तत्त्वार्थवृत्ति टीकाए प्रसिद्ध है। पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धिवृत्ति पातञ्जलभाष्य की पद्धति पर सरल भाषा मे लिखित उच्चकोटि की वृत्ति है। उसके सत् संख्यादि सूत्र मे सदादि अनुयोगो के द्वारा जो तत्त्व का निरूपण हुआ है वह पूज्यपाद स्वामी के आगमविषयक ज्ञान की महत्ता बताने के लिए पर्याप्त है। इन्होने प्रत्यक्षादि प्रमाणो के लक्षण तथा द्रव्यस्वरूप के वर्णन मे दर्शनशास्त्र की पद्धति को भी अपनाया है।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन अ० ग्रन्थ–४, ११६

परन्तु उसे इतनी सुगम रीति से लिखा है कि पाठक का मन उसे अनायास ग्रहण कर लेता है। पूज्यपाद वैयाकरण तो थे ही, इसलिये जहा तहा व्याकरण का भी निर्देश मिलता है। सर्वार्थसिद्धि की कितनी ही पक्तियो को अकलकस्वामी ने तत्त्वार्थवार्तिक मे वार्तिक का रूप देकर अपने ग्रन्थ का अङ्ग बना लिया है।

अकलकस्वामी के समय मे दर्शनशास्त्र का प्रचार अधिक हो गया था, इसलिये तत्त्वार्थवार्तिक मे हम अन्य दर्शनो की चर्चा को भी अधिक मात्रा मे पाते है और उसके कारण तत्त्वार्थवार्तिक के कितने ही स्थल दुरूह हो गए है। परन्तु वार्तिको की वृत्ति लिखते समय उन्होने जिस सरल भाषा का प्रयोग किया है उससे ग्रथ के प्रति पाठक का आकर्षण बना रहता है। भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से प्रकाशित तत्त्वार्थ वार्तिक का सम्पादन कर सम्पादक डा० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने उसकी परम्परागत अशुद्धियो को दूरकर दिया है तथा दार्शनिक स्थलो को स्पष्ट कर इसे सर्वसाधारण के लिए सुगम बना दिया है।

विद्यानन्द स्वामी के समय तक दर्शनशास्त्र का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि उसने धर्म, व्याकरण तथा साहित्य मे भी प्रवेश पा लिया था। विद्यानन्द स्वामी दर्शनशास्त्र के महान विद्वान थे। उन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर जो भाष्य लिखा उसमे दार्शनिक तत्वो का पूर्ण प्रवेश हो गया। अर्थात् दार्शनिक तत्वो के विवेचन की ही प्रचुरता हो गई और धर्मशास्त्र का अश गौड पड गया। दार्शनिक भाग की बहुलता से यह भाष्य दुरूह हो गया। और विशिष्ट बुद्धि वाले विद्वानो के ही गम्य रह गया। प्रसन्नता की बात है कि न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् प० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य ने इस महान ग्रन्थ की हिन्दी टीका लिखकर उसे सर्वसुलभ बना दिया है। हिन्दी टीका सहित श्लोक वार्तिक का प्रकाशन कुन्थुसागर ग्रन्थ माला सोलापुर से हुआ।

भास्करनन्दि की सुखबोध टीका अपने नाम के अनुरूप है। इसमे सरलता से तत्त्वार्थ के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। प० शान्तिराजजी न्यायतीर्थ के द्वारा सपादित होकर मैसूर से प्रकाशित हुई है। विद्वान सपादक ने भूमिका मे अच्छा विमर्श किया है।

श्रुतसागर की तत्त्वार्थवृत्ति अत्यन्त सरल और बहुत प्रमेयो से भरी हुई है। श्री डॉ० महेन्द्रकुमार जी के द्वारा सपादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुकी है। भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अन्य टीकाएँ मेरे देखने मे नही आई। उनका उल्लेख भास्करनन्दिकी सुखबोध टीका सहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना के आधार पर किया गया है।

अमृतचन्द्र सूरि :

तत्त्वार्थसार के कर्ता श्री अमृतचन्द्र सूरि है। यह सस्कृत भाषा के महान् विद्वान् तथा अध्यात्मतत्त्व के अनुपम ज्ञाता थे। कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय ग्रन्थो पर पाण्डित्यपूर्ण भाषा मे टीकाएँ लिखकर इन्होने कुन्दकुन्द स्वामी के हार्द को प्रकट किया है तथा उनकी विस्मृत प्रभुता को पुनरुज्जीवित किया है। अमृतचन्द्र स्वामी जहाँ कुन्दकुन्द स्वामी के निश्चयनय प्रधान ग्रन्थो की व्याख्या करते हैं वहाँ वे उन व्याख्या ग्रथो के प्रारम्भ मे ही अनेकान्त का स्मरण कर पाठको को सचेत करते है कि अनेकान्त ही जिनागम का जीव-प्राण है—उसके बिना यह निर्जीव-निष्प्राण हो जाता है। समयसार के प्रारम्भ मे ही आपने लिखा है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।

अर्थात् जो अनन्त धर्मो से युक्त शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अवलोकन करती है ऐसी अनेकान्त रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशमान हो ।

प्रवचनसार के प्रारम्भ मे लिखा है—

हेलोल्लुप्तं महामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ।।

अर्थात् जिसने महामोह रूप अन्धकार के समूह को अनायास ही लुप्त कर दिता है तथा जो जगत् के तत्त्व को प्रकाशित कर रहा है ऐसा यह अनेकान्तरूप तेज जयवत प्रवर्त रहा है ।

पञ्चास्तिकाय के प्रारम्भ मे कहा है—

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधि : ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनीसिद्धान्तपद्धतिः ।।

अर्थात् जो दुर्निवार नयसमूह के विरोध को नष्ट करने के लिये औपधस्वरूप है ऐसी, स्यात्कार से जीवित जिनेन्द्रभगवान् की सिद्धान्त पद्धति सदा जयवत रहे ।

यही नही, समयसार की व्याख्या के अन्त मे स्याद्वादाधिकार, प्रवचनसार के अन्त मे स्याद्वादाधीन ४७ शक्तियो का निरूपण तथा पञ्चास्तिकाय के अन्त मे ग्रन्थ तात्पर्य के रूप मे निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभासो का वर्णन कर स्याद्वाद की शैली से उनका समन्वय भी किया है ।

कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो की टीका लिखने के बाद पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ की रचना करते हुए प्रारम्भ मे ही उन्होने अनेकान्त का स्मरण किया है —

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ।।

अर्थात् जो परमागम का वीज—कारण है, जिसने जन्मान्ध मनुष्यो के हस्तिविधान को निषिद्ध कर दिया है और जो समस्त नयविलासो के विरोध को नष्ट करनेवाला है उस अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ ।

जन्मान्ध मनुष्यो के हस्तिविधान के निषेध का वर्णन करते हुए उन्होने 'षडन्धा' इस नाम से प्रचलित निम्नाङ्कित प्राचीन कथा की ओर पाठको का ध्यान आकृष्ट किया है—

१. देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' द्वितीव संस्करण पृष्ठ ३७५ —

पुरा षडन्धा संभूय गजं ज्ञातुं समुत्सुकाः ।
प्राप्य हस्तिपकं प्रोचुः सखे दर्शय नो गजम् ।।१।।

कीदृशोऽसौ गजो जन्तुर्महत् तत्र कुतूहलम् ।
पुरतो वर्तते सोऽयं स्वैरं पश्यन्तु सोऽब्रवीत् ।।२।।

शुण्डा धृत्वा गजस्याथ प्रथमो मुदितोऽवदत् ।
गजरूपमहो ज्ञातं भुजङ्गेन समो गजः ।।३।।

परामृश्य द्वितीयस्तु विशालमुदरं ततः ।
अवदद्भित्तिरूपो हि गजो भवति निश्चितम् ।।४।।

तृतीयो गजपादं तु धृत्वा गर्वयुतोऽवदत् ।
गजः सर्पो न भित्तिर्वा स्तम्भरूपो गजो ह्ययम् ।।५।।

कर्णं तु व्याततं धृत्वा चतुर्थोऽन्धोऽवदत्तदा ।
व्यजनेन समो हस्ती शङ्का नैवात्र काचन ।।६।।

रदं तीक्ष्णं करे धृत्वा पञ्चमो विस्मितोऽवदत् ।
न स्तम्भो व्यजनं नैव शूलरूपो गजो ध्रुवम् ।।७।।

लाङ्गूलं करिणो धृत्वा षष्ठस्तेषु ततोऽब्रवीत् ।
रज्जुरूपो गजो मूढाः सत्यं जानीथ नो कथम् ।।८।।

अर्थात् पहले कभी हाथी को जानने के लिए उत्सुक हुए अन्धे मिलकर महावत के पास गये और बोले, मित्र, हम लोगो को हाथी दिखलाओ। वह हाथी नाम का जन्तु कैसा होता है, इस विषय मे हमको बडा कुतूहल है। महावत ने कहा कि वह हाथी सामने विद्यमान है। आप लोग अपनी इच्छानुसार देख लें।

तदनन्तर पहला हाथी की सूंड पकडकर बोला — अहो, मैंने हाथी जानलिया, वह साँप के समान होता है। तदनन्तर दूसरे अन्धे ने विशाल पेट का स्पर्श कर कहा कि हाथी निश्चित ही दीवाल रूप होता है। तीसरे अन्धे ने हाथी का पैर पकडकर बडे गर्व से कहा कि हाथी न तो सर्प के समान है और न दीवाल के सदृश है, यह तो खम्मा के समान है। चौथे अन्धे ने फैले हुए कान को पकडकर कहा कि हाथी पङ्खा के समान होता है, इसमे कोई शङ्का नही करना चाहिए। पाँचवें अन्धे ने तीक्ष्ण दाँत हाथ मे लेकर आश्चर्य से चकित हो कहा कि हाथी न खम्भा के समान है न पङ्खा के समान है किन्तु शूल के समान है। पश्चात् छठवाँ अन्धा हाथी की पूँछ पकडकर बोला कि अरे मूर्खों! हाथी सचमुच ही रस्सी के समान होता है तुम इस सचाई को क्यो नही जानते हो।

जिस प्रकार उक्त अन्धे पुरुष, हाथी के एक-एक अग को लेकर उसे पूरा हाथी मानते है उसी प्रकार एकान्तवादी मनुष्य वस्तु के एक-एक धर्म को लेकर उसे ही पूरी वस्तु मानते हैं। परन्तु उनका ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये अनेकान्त, जन्मान्ध मनुष्यो के हस्तिविधान के समान एकान्तवाद को निषिद्ध करता है।

उमास्वामी ने 'प्रमाणनयैरधिगम.' सूत्र की रचनाकर यह बताया है कि जीवादि तत्त्वो का ज्ञान प्रमाण और नयो के द्वारा होता है। प्रमाण यह है जो कि पदार्थ मे रहने वाले परस्पर विरोधी धर्मो मे से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार ग्रहण करता हैं। नयो के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस तरह दो भेद है। निश्चयनय वस्तु के स्वाश्रित—स्वनिमित्तक शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है। जैसे जीव ज्ञानदर्शनादिगुणो से तन्मय एक अखण्ड द्रव्य है। और व्यवहारनय वस्तु के पराश्रित – परके निमित्त से होनेवाले भाव को ग्रहण करता है, जैसे जीव क्रोधादिमान् है। यद्यपि निश्चयनय वस्तु के शुद्धस्वरूप का प्ररूपक होने से भूतार्थ—सत्यार्थ है और व्यवहारनय अशुद्धस्वरूप का प्रख्यापक होने से अभूतार्थ—असत्यार्थ है तथापि वस्तु की निरूपणा मे दोनों नयो की आवश्यकता होती है क्योकि नयो का उपयोग प्रतिपाद्य—शिष्य को योग्यता के अनुसार होता है। इसलिये अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया. स एव फलमविकलं शिष्य: ।।८।।

जो शिष्य व्यवहार और निश्चय को यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् तीनो मे से किसी एक के पक्ष को नही खीचता है किन्तु तत्त्व की निरूपणा के लिये दोनो को आवश्यक समझता है वही शिष्य देशनाका का पूर्ण फल प्राप्त करता है।

प्रतिपाद्य की योग्यता के अनुसार नयो का प्रयोग होता है, इसका निर्देश कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार की निम्न गाथा मे बड़े सुन्दर ढँग से किया है

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावा ।।१२।।

परमभाव—उत्कृष्ट शुद्धस्वभाव का अवलोकन करनेवाले पुरुषो के द्वारा शुद्धस्वरूप का वर्णन करनेवाला शुद्धनय—निश्चयनय ज्ञातव्य है और जो अपरमभाव मे स्थित हैं वे व्यवहारनय से उपदेश देने के योग्य है।

इस गाथा की आत्मख्यति टीका मे श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने सुवर्णकादृष्टान्त देकर वस्तु स्वरूप को सरलता से समझाया है। इस तरह हम अमृतचन्द्रस्वामी को तत्त्वनिरूपण की दिशा मे अत्यन्त जागरूक पाते है।

आपके द्वारा रचित निम्नाकित पाँच ग्रन्थ उपलब्ध है—(१) समयप्राभृतटीका, (२) प्रवचनसारटीका, (३) पञ्चास्तिकायटीका, (४) पुरुषार्थसिद्धयुपाय और (५) तत्त्वार्थसार।

प्रारम्भ के तीन ग्रन्थ कुन्दकुन्दस्वामी के समयसार और पञ्चास्तिकाय इन तीन ग्रन्थो की टीकारूप हैं। तीनो ग्रन्थो की टीकाओ मे आपने जिस उच्चकोटि की गद्यका प्रयोग किया है वह साधारण विद्वानो के बुद्धिगम्य नही है। समयसार की टीका मे तो गद्यसे अतिरिक्त आपने कलश-काव्यो की भी रचना की है जो कि बहुत ही भावपूर्ण और प्रेरणाप्रद है।

पुरषार्थसिद्धयुपाय २२६ श्लोकोका प्रसादगुणोपेत एक स्वतत्र ग्रन्थ है, जिसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सुन्दर रीति से वर्णन किया है। अहिंसाधर्म का जैसा वर्णन इसमेउपलब्ध है वैसा अन्यत्र नही है।

तत्त्वार्थसार, तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर पल्लवित और विकसित रचना है। तत्त्वार्थसूत्र का यथार्थ नाम तत्त्वार्थ ही है क्योकि तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति आदि नामो से तत्त्वार्थ नाम की ही पुष्टि होती है। सूत्रमय होने से इसे तत्त्वार्थ सूत्र कहा जाने लगा। प्रकृत ग्रन्थ के 'तत्त्वार्थसार इस नाम से भी यही नाम ध्वनित होता है अर्थात् अमृतचन्द्रस्वामी का यह ग्रन्थ तत्त्वार्थका सार ही है। इसमे तत्त्वार्थसूत्रमे प्रतिपादित समस्त तत्त्वो का सार तो सगृहीत है ही उसके अतिरिक्त पञ्चसग्रह, सर्वार्थसिद्धि,एव तत्वार्थ वार्तिक मे प्रतिपादित कितनी ही विशिष्ट बातो का भी सकलन है।

अमृतचन्द्रसूरि का आशाधरजी ने अपने अनगारधर्मामृत की भव्यकुमुदचद्रिन्का टीका मे दो स्थानो पर ठक्कर नाम से उल्लेख किया है। यथा —

१. एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्— लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। पृ० १६०

२. एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम्। ५८८

यह ठक्कुर या ठाकुर पद जागीरदारो के लिये प्रयुक्त होता था। इससे इनकी गृहस्थावस्था की सपन्नता या प्रभुता सूचित होती है।

अमृतचन्द्रसूरि किसके शिष्य थे और किस गुरुपरम्परा के थे, आदि का उल्लेख आपने अपने किसी भी ग्रंथ मे नही किया है। ये वडे निर्लिप्त व्यक्ति थे। जहा हम कितने ही ग्रथकारो को वडी-वडी प्रशस्तियो एव पुष्पिका वाक्यो के रूप मे आत्मप्रशसा का उद्‌घोषक पाते हैं वहाँ अमृतचन्द्रसूरि यह भाव प्रकट करते है कि नाना प्रकार के वर्णो से पद वन गये, पदो से वाक्य बन गये और वाक्यो से यह ग्रन्थ वन गया, इसमे हमारा कुछ भी कर्तृत्व नही है।[1] इन सव कारणो से इनके सही समय का निर्णय अनिश्चित रूप मे चला आ रहा है। परन्तु पं० परमानन्दजी शास्त्री ने अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४—५ मे एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि धर्मरत्नाकर मे अमृतचन्द्रसूरि के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय से ५६ पद्य उद्धृत किये है। धर्मरत्नाकर एक सग्रहग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकार ने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रन्थो के पद्यो का सग्रह कर माला की तरह रचा है और इसकी सूचना उन्होंने ग्रंथ के अन्तिम अवसर मे निम्न प्रकार दी है—

---

१. वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृत पवित्र शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ पु० सि०
वर्णाः पदानां कर्तारो वाक्याना तु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम्॥ त० सा०
स्वशक्तिसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥ स० सा०, पचास्तिकाय
व्याख्येय किल विश्वमात्मसहितं व्याख्यातु गुम्फे गिरा
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वलगतु।
वलगत्वद्य विशुद्धबोधिकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैक सकलात्मशाश्वतमिद स्वं तत्त्वमव्याकुलः॥ प्र० सा०

'इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि
भूतोऽवद्यगुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः' ।।

भावसेन के शिष्य जयसेन लाडवागडसघ के है तथा उन्होने धर्मरत्नाकर की रचना १०५५ वि सं० मे पूर्ण की थी, ऐसा उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है—

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके ।।

अर्थात् सकलीकरहाटक नगर मे १०५५ शुभ सवत् मे यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हुआ ।

इस उल्लेख से तथा जैन सदेश के शोधाक ५ मे प्रकाशित श्री प कैलाशचन्द्रजी के 'कुछ आचार्यो के कालक्रम विचार' शीर्षक लेख से सिद्ध होता है कि श्री अमृतचन्द्रसूरि १०५५ वि स० से पूर्ववर्ती है । साथ ही तत्त्वानुशासन की प्रस्तावना पृष्ठ ३३ पर श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने अमृतचन्द्रसूरि का समय दशवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित करते हुए पट्टावली मे उनके पट्टारोहण का समय जो वि० स० ९६२ दिया है उसे ठीक बलताया है ।

अब विचारणीय बात यह है कि तत्त्वार्थसार मे कितने ही श्लोक अमित गति के सस्कृत पञ्चसग्रह के छाया प्रतिच्छाया रूप मे पाये जाते है । जैसे—

यवनालिमसूरातिमुक्तमेन्द्रर्धसन्निभाः ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधा कृतिः ।।१४३।। पं० सं०

यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राधिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शन नैकसंस्थितिः ।।५०।।

जलूकाशुक्तिशम्बूकगण्डूपदकपर्दिकाः ।
जठरकृमिशङ्खाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मताः ।।१४७।।

शम्बूकः शङ्खशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः ।।५३।।

कुन्थुः पिपीलिका कुंभी यूका मत्कुणवृश्चिकाः ।
मकोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रियाः देहिनो मताः ।।१४७।।

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणमूकाद्यास्त्रीन्द्रिया सन्ति जन्तवः ।।५४।। त० सा०

पतङ्गाः मशका दशा मक्षिका कीटगर्मुतः ।
प्रत्तिका चञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षाः शरीरिणः ।।१४९।। पं० स०

मधुपः कीटको दंशमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ।।५५।। त० सा०

इसी प्रकार पृथ्वी के भेद वतलाने वाले श्लोक भी छाया-प्रतिछाया रूप है। तत्त्वार्थसारकार के ये श्लोक क्या अमितगति के सस्कृत पञ्चसग्रह से अनुप्राणित है या पञ्चसग्रह के श्लोक तत्त्वार्थ से अनुप्राणित हैं? पचसग्रह के कर्ता अमितगति विक्रम की ११वी शताव्दी के तृतीय चरण के विद्वान है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर मालूम होता है कि तत्त्वार्थसार के कर्ता अमृतचन्द्र के पुरुपार्थसिद्धयुपाय के कितने ही श्लोको से अमितगति श्रावकाचार के श्लोक अनुप्राणित हैं।[1] अत अमितगति अमृतचन्द्र से परवर्ती है, पूर्ववर्ती नही। तत्त्वार्थसार के उल्लिखित श्लोको का जो सादृश्य अमितगति के पचसग्रहगत श्लोको से मिलता है उसका कारण यह है कि ये सभी श्लोक प्राकृतप्रपञ्च-संग्रह के सस्कृत छायारूप है। अमितगति के पचसंग्रह का मूल आधार भी वही प्राकृतपञ्चसग्रह है। इन सव गाथाओ और तत्त्वार्थसार के श्लोको का अवतरण आगे के स्तम्भ 'तत्त्वार्थसार का प्रतिपाद्य विपय और उसका मूलाधार' मे करेंगे। उससे सिद्ध हो जायगा कि तत्त्वार्थसार के ये श्लोक प्राकृतपच सग्रह से अनुप्राणित हैं न कि अमितगति के संस्कृत पच सग्रह से। अमित गति ने अपना पञ्चसग्रह वि०स० १०७३ मे पूर्ण किया और अमृतचन्द्र का समय विक्रम की १०वी शताव्दी का उत्तरार्ध है, ऐसा निश्चित समझना चाहिये।

तत्त्वार्थसार का प्रतिपाद्य विषय और उसका आधार :

तत्त्वार्थसार का सामान्य आधार उमास्वामी का तत्त्वार्थ सूत्र है और विशिष्ट आधार जहाँ जो होगा उसकी चर्चा इसी स्तम्भ मे आती रहेगी।

(१) प्रथमाधिकार मे तत्त्वार्थसार ग्रन्थ को अमृतचन्द्रस्वामी ने मोक्ष का प्रकाश करने वाला एक प्रमुख दीपक[2] वतलाया है, क्योकि इसमे युक्ति और आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। सम्यग्दर्शनादिका स्वरूप वतलाते हुए उन्होने उनके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वो का विशद वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमे जीवतत्त्व उपादेय है और अजीवतत्त्व हेय है। अजीव का जीव के साथ सम्वन्ध क्यो होता है, इसका कारण वतलाने के लिए आस्रव का और अजीव का सम्वन्ध होने से जीव की क्या दशा होती है, यह वतलाने के लिये वन्ध का कथन है। हेय—अजीवतत्त्व का सवन्ध जीव से कैसे छूटे, यह वतलाने के लिये सवर और निर्जरा का कथन है और हेय अजीव का सम्वन्ध छूटने पर जीव की क्या दशा होती हैं, यह वतलाने के लिये मोक्षतत्त्व का वर्णन है। इन्ही सात तत्त्वो को जानने के लिये उन्होने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप तथा प्रमाण और नयो का विस्तार से वर्णन किया है। प्रमाण के वर्णन मे मतिज्ञान आदि पाच सम्यग्ज्ञानो का विस्तार के साथ निरूपण किया है। प्रथम अधिकार के अन्त मे निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगो का भी उल्लेख किया है। उन्होने कहा हैं कि मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का इच्छुक मनुष्य नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के द्वारा न्यस्त-व्यवहार को प्राप्त एव स्याद्वाद मे स्थित सात तत्त्वो के समूह को निर्देशादि उपायो के द्वारा सबसे पहले जानना चाहिये।

---

१. देखो, जैनसंदेश शोधांक ५ मे प० कैलाशचन्द्रजी का लेख।

२. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥ त० सा०

वास्तव मे जीवादि तत्त्व ही क्यो, संसार के किसी भी पदार्थ को जानने का क्रम निर्देश आदि से ही शुरू होता है। उदाहरण के लिये किसी के सामने कोई ऐसा पदार्थ रक्खा जावे जिसे उसने आज तक देखा नही था। उस पदार्थ को देखते ही देखने वाले के मुख से सर्वप्रथम यही निकलता है कि मह क्या है? इस प्रश्न का उत्तर निर्देश देता है अर्थात् उस पदार्थ का नाम और स्वरूप बतलाता है। देखने वाले के मुख से दूसरा प्रश्न यह निकलता है कि यह पदार्थ किसका है? अर्थात् इसका स्वामी कौन है? इसका उत्तर स्वामित्व देता है। देखने वाले के मुख से तीसरा प्रश्न यह निकलता है कि पदार्थ कैसे बनता है? इसका उत्तर साधन देता है। चौथा प्रश्न निकलता है कि यह पदार्थ कहाँ मिलता है? इसका उत्तर अधिकरण देता है। पाँचवाँ प्रश्न होता है कि कब तक मिलता है? इसका उत्तर स्थिति देती है। और छठवाँ प्रश्न होता है कि यह एक ही प्रकार का है या इसके अन्य प्रकार भी है? इसका उत्तर विधान देता है।

इसी तरह कपडा का एक व्यापारी कपडा खरीदने के लिये बाजार जाता है। कपडे की दूकान पर पहुँचते ी उसका सबसे पहला प्रश्न होता है- कपडा है क्या? (सत्)। दुकान मे नमूना के लिये रखे हुए दो-चार थानो को देखकर वह दूसरा प्रश्न करता है—कितना है? (सख्या)। दुकानदार कहता है—बहुत हैं। व्यापारी पूछता है- कहाँ रक्खा है—कपडा का क्षेत्र क्या है? दुकानदार कपड़े की गोदाम मे जाकर माल दिखाता हैं (क्षेत्र)। व्यापारी कपडे से भरी हुई गोदाम मे जाकर पूछता है—भाई यह इतना माल कहाँ से आता है और कहाँ खपता है? दुकानदार कपडे आने के तथा खपने के स्थान बतलाता है (स्पर्शन)। व्यापारी पूछता है कि माल कब तक मिलता रहेगा—दुकान कव तक खुली रहती है? दुकानदार दुकान का समय बतलाता है (काल)। व्यापारी पूछता है यदि अभी माल न उठा सकूँ तो कितने दिन बाद मिलेगा? दुकानदार दूसरे माह का कोटा मिलने का समय बताता है (अन्तर)। व्यापारी पूछता है—कौन माल किस क्लास का है? दुकानदार कपड़ें की क्लास-विशेषता बतलाता है? (भाव)। व्यापारी इच्छानुसार माल निकलवाकर अलग रखवाता जाता है, पीछे दुकानदार माल सभालकर परचे पर नूद करता है—कौन कपडा कितना कम और अधिक है (अल्पवहुत्व)।

इस तरह ससार के प्रत्येक पदार्थ सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पवहुत्व के द्वारा जाने जाते है। वस्तुतः पदार्थों के जानने के उपाय यही है। मोक्ष मार्ग के प्रकरण मे सद् आदि अनुयोगो का प्ररूपण मोक्षमार्ग के अनुरूप होता है।

(२) द्वितीयाधिकार मे जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वो का वर्णन जीव का लक्षण बताने के लिये उपयोग का वर्णन किया है। उपयाग के साकार और अनाकार के भेद से दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का वर्णन किया है। पश्चात् जीव के ससारी और मुक्त के भेद से दो भेद कर ससारी जीवो का वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओ के द्वारा किया है। जान पडता है यह सब विषय अमृतचन्द्रसूरि ने प्राकृतपञ्चसग्रह से लिया है क्योकि पच-सग्रह की गाथाओ के साथ तत्त्वार्थसार के श्लोको का अत्यन्त भावसादृश्य है। जैसे—

जवणालियामसूरीचंदद्धअइमुत्तफुल्लतुल्लाइं।
इंदियसंठाणाइं फासं पुण णेगसंठाणं ॥६६॥

पचसंग्रह

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमा. क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्रणाजिह्वा स्यु. स्पर्शन नैकसस्थितिः ।।५०।।

त० सा० अधिकार २

पुट्ठ सुणेइ सद्द अपुट्ठ पुण वि पस्सदे रूव ।
धास रसं च गध वद्ध पुट्ठ वियाणेइ ।।६८।।

पचसग्रह

रूपं पश्यत्यसंस्पृष्ट स्पष्ट शब्द शृणोति तु ।
बद्धं स्पृष्टं च जानाति स्पर्श गन्धं तथा रसम् ।।५१।।

त० सा० अधिकार २

खुल्ला वराड सखा अक्खुणहअरिट्ठगा य गडोला ।
कुक्खिकिमिसिप्पिआई णेआ वेइदिया जीवा ।।७०।।

पंचसंग्रह

शम्बूकः शखशुक्तिर्वा गण्डूपदकपर्दकाः ।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मता.' ।।५३।।

त० सा० अधिकार २

कुंन्थुपिपीलयमंकुणविच्छियजूविंदगोवगोम्हीया ।
उत्तिगमट्टियाई णेया तेइंदिया जीवा ।।७१।।

पंचसग्रह

कुन्थु पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः ।
घुणमत्कुणपूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः ।।५४।।

त० सा० अधिकार २

दंसमसगो य मक्खिय गोमच्छिय भमरकीडमक्कडया ।
सलहपयंगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ।।७२।।

पचसंग्रह

मधुप कीटको दंसमशकौ मक्षिकास्तथा ।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ।।५५।।

त० सा० अधिकार २

इन्ही ससारी जीवो का वर्णन करते हुए आपने विग्रहगति के इषु, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका इन चार भेदो का वर्णन किया है । नौ तथा चौरासी लाख योनियो, उनके स्वामियो तथा कुल-कोटियो का विशद बर्णन किया है। जीवो की आयु तथा शरीरावगाहनाका वर्णन कर कौन जीव किस नरक तक जाते हैं और वहाँ से आकर क्या-क्या होते है यह सब बताया है । इन सबका आधार राजवार्तिक की निम्न पक्तियाँ मालूम होती है —

'अथोत्पादः क्व तेषामिति ? अत्रोच्यते प्रथमायामसंज्ञिन उत्पद्यन्ते, प्रथमाद्वितीययोः सरीसृपाः, तिसृषु पक्षिणः, चतसृषूरगाः, पञ्चसु सिंहाः, षट्सु स्त्रियः, सप्तसु मत्स्यमनुष्याः । न च देवा नारका वा नरकेषु उत्पद्यन्ते ।'

राजवार्तिक पृष्ठ १६८ ज्ञानपीठ

धर्मामसंज्ञिनो यान्ति वशान्ताश्च सरीसृपाः ।
मेघान्ताश्च विहङ्गाश्च अञ्जनान्ताश्च भोगिन. ।।१४६।।

तामरिष्टां च सिंहास्तु मघव्यन्तास्तु योषितः ।
नरा मत्स्याश्च गच्छन्ति माधवीं ताश्च पापिनः ।।१४७।।

त० सा० अधिकार २

इसी जीवतत्त्व का वर्णन करते हुए उसका निवास बतलाने के लिये अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व-लोक का भी वर्णन किया है । इस तरह तत्त्वार्थसार के द्वितीयाधिकार मे तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय का सपूर्ण विषय संकलित किया गया है तथा उससे सबद्ध अन्य विषय भी सर्वार्थसिद्धि एव राजवार्तिक से लिये गये है ।

(३) **तृतीयाधिकार में** अजीवतत्त्व का वर्णय करते हुए प्रसगोपात्त छह द्रव्यो का स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य, पुद्गलों के भेद, अणु और स्कन्ध का स्वरूप, पुद्गल द्रव्य की पर्यायें तथा स्कन्ध बनने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है । इसमे तत्त्वार्थ सूत्र के पञ्चमाध्याय को आधार बनाया गया है । विशद विवेचना के लिये पूज्यपादस्वामी की सर्वार्थसिद्धि टीका का भी आधार लिया गया है ।

(४) **चतुर्थाधिकार में** आस्रवतत्त्व का वर्णन है । इसके लिये तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय को आधार बनाया गया है । ज्ञानावरणादि कर्मो के जो आस्रव सूत्रकार ने बतलाये है उनका व्याख्यान करने के बाद अकलंकस्वामी ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे सूत्रोपात्त कारणो के सिवाय अन्य जिन कारणो का विस्तार से उल्लेख किया है उन कारणो को तत्त्वार्थसारकार ने भी अंगीकृत किया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है । शुभास्रव के वर्णन मे व्रतो का भी वर्णन आ गया है ।

(५) **पञ्चमाधिकार में** बन्धतत्व का विस्तार से वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थ-सूत्र के अष्ठमाध्याय को बनाया गया है । इसमे कर्मो की मूल तथा उत्तर प्रकृतियो के नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदि का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है ।

(६) **षष्ठाधिकार में** संवरतत्त्व का वर्णन है । इसके लिए तत्त्वार्थसूत्र के नवमाध्याय सम्बन्धी प्रारम्भिक भाग को आधार बनाया गया है । उसमे सवर का स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र का वर्णन किया गया है ।

(७) **सप्तमाधिकार मे** निर्जरा का वर्णन किया गया है और उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र के नवमा-ध्याय के उत्तरार्ध को बनाया गया है । इसमे निर्जरा के भेद तथा निर्जरा के कारणभूत तपो का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

(८) अष्ठमाधिकार में मोक्ष का वर्णन है तथा उसका आधार तत्त्वार्थसूत्र के दशमाध्याय को बनाया गया है ।इसमे मोक्ष का लक्षण तथा उसकी प्राप्ति के क्रम का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है । इस प्रकरण मे अमृतचन्द्रस्वामी ने राजवार्तिक के कितने ही वार्तिको को श्लोको का रूप देकर अपने ग्रंथ का अंग बना लिया है । जैसे—

आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न दृष्टत्वत्वादन्त्यबीजवत्

तं० रा० वा० पृष्ठ ६४१

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धनसन्ततेः ।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्यबीजवत् ॥६॥

तं० सा० अधि ८

यही नही, राजवार्तिककार ने उक्त च' कहकर

दग्धे बीचे यथात्यन्त प्रादुर्भवति नांकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य के इस पद्य को उद्धृत किया है । उसे तत्त्वार्थसार मे ग्रन्थ का ही अग बना लिया है या फिर प्रेसकापी बनाते समय तत्त्वार्थसार मे 'उक्त च' पाठ लिखने से रह गया है ।

बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्, न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ॥४॥

तं० रा० वा० पृष्ठ ६४२

अव्यवस्था न बन्धस्य गवाश्वीनामिवात्मनः ।
कार्यकारणविच्छेदान्मिथ्यात्वादिपरिक्षये ॥८॥

तं० सा० अधि० ८

पुनर्बन्धप्रसङ्गो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥५॥

तं० रा० वा० पृष्ठ ६४३

जानतः पश्यतश्चोद्र्ध्व जगत्कारुण्यतः पुनः ।
तस्य बन्धप्रसङ्गो न सर्वास्रवपरिक्षयात् ॥

तं० सा० अधि० ८

अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसङ्ग ।

तं० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अकस्माच्च न बन्धः स्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गत. ।
बन्धोपपत्तिस्तत्र स्यान्मुक्तिप्राप्तेरनन्तरम् ॥१०॥

तं० सा० अधि० ८

स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्, न, अनास्रवत्वात् ।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

पातोऽपि स्थानवत्वान्न तस्य नास्रवतत्वतः ।
आस्रवाद्यानपात्रस्य प्रपातोऽयो ध्रुवं भवेत् ।।११।।

त० सा० अधि० ८

गौरवाभावाच्च ।।८।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्जते ।
वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफल गुरु ।।१२।।

त० सा० अधि० ८

परस्परोपरोध इति चेत्, न, अवगाहनशक्तियोगात् ।।६।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अल्पक्षेत्रे तु सिद्धानामनन्ताना प्रसज्यते ।
परस्परोपरोधोऽपि नावगाहनशक्तित ।।१३।।
नानादीपप्रकाशेषु मूर्त्तिमत्स्वपि दृश्यते ।
न विरोधः प्रदेशेऽल्पे हन्तामूर्तेषु कि पुनः ।।१४।।

त० सा० अधि० ८

अनाकारत्वादभाव इति चेत्, न, अतीतानन्तरशरीरानुविधायित्वात् ।।१२।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

अकाराभावतोऽभावो न च तस्य प्रसज्यते ।
अनन्तरपरित्यक्तशरीराकारधारिण ।।१५।।

त० सा० अधि० ८

शरीरानुविधायित्वे तदभावाद्विसर्पणप्रसङ्ग इति चेत् न, कारणाभावात् ।।१३।।

त० रा० वा० पृष्ठ ७४३

शरीरानुविधादित्वे तदभावाद्विसर्पणम् ।
लोकाकाशप्रमाणस्य तावन्नाकारणत्वतः ।।१६।।

त० सा० अधि० ८

नामकर्मसबन्धात सहरणविसर्पणधर्मत्वं प्रदीपप्रकाशवत् ।।१४।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४३

शरावचन्द्रशालादिद्रव्यावष्टम्भयोगतः ।
अल्पो महांश्च दीपस्य प्रकाशोजायते यथा ।।१७।।
सहारे च विसर्पे च तथात्मानात्मयोगतः ।
तदभावात्तु मुक्तस्य न संहारविसर्पणे ।।१८।।

त० सा० अ० ८

दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ।।१८।।

त० रा० वा० पृष्ठ ६४४

कस्यचिच्छृङ्खलामोक्षे तत्रावस्थानदर्शनात् ।
अवस्थान न मुक्तानामूर्ध्वव्रज्यात्मकत्वत· ।।१६।।

त० सा० अधि० ८

तत्त्वार्थसूत्र दशमाध्याय के अन्तिम सूत्र मे राजवार्तिककार ने 'उक्त' च' कहकर जो ३३ श्लोक उद्धृत किये हैं उनमे प्रारम्भ के १७ श्लोक—**सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंयुक्तास्यात्मनो भृशम्**—तत्त्वार्थसार के अङ्ग वन गये है । ये सव श्लोक कुछ हेरफेर के साथ वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमभाष्य मे भी पाये जाते है । जान पड़ता है अकलक स्वामी ने 'उक्त च' कहकर उन्हे अपने ग्रन्थो मे उद्धृत किया है और उनमे से १७ श्लोको को तत्त्वार्थसारकार ने अपने ग्रन्थ का अङ्ग बना लिया है । १७ ही नही, बीच मे '**ज्ञानवरणहानान्ते केवलज्ञानशालिनः । दर्शनावरणच्छेदाद्युद्यत्केवलदर्शन ।।**' इत्यादि ६ श्लोक अन्य लिखकर उसके बाद '**तादात्म्यादुपयुक्तास्ते केवलज्ञानदर्शने**'—आदि १२ श्लोक और भी यत्त्वार्थसार के अङ्ग वन गये हैं । ये ३३ श्लोक जयधवला मे भी पाये जाते है, अत किससे किसने लिये, इसका निर्णय अपेक्षित है ।

(६) **नवमाधिकार में** ग्रन्थ का उपसहार करते हुये कहा गया है कि प्रमाण, नय, निपेक्ष तथा निर्देश आदि के द्वारा सात तत्त्वो को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिये । निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है । उनमे निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है । अपने शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धा, ज्ञान तथा उपेक्षण—राग द्वेष से रहित प्रवर्तन है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और पर आत्माओ का जो श्रद्धान आदि है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है । व्यवहार मोक्षमार्ग अन्त मे चलकर निश्चय मोक्षमार्ग मे विलीन हो जाता है और उससे साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत. मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण निश्चय मोक्षमार्ग है । व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक होने के कारण परम्परा से मोक्षमार्ग है । ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप निश्चय और व्यवहार दोनो मोक्षमार्गो को अपनाता है । जो केवल निश्चय मोक्षमार्ग को ही सारभूत जानकर व्यवहार मोक्षमार्ग को छोड देता है उसे अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे वाल- अज्ञानी की सज्ञा दी है । यथा—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते ।
नाशयति करणचरण स बहिःकरणालसो बाल ।।

जो निश्चय को न जानता हुआ निश्चय से उसी का आश्रय लेता है वाह्यक्रियाओ के करने मे आलसी वह अज्ञानी प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट कर देता है । जो एकात से निश्चय और व्यवहार को पकडकर बैठे हैं निश्चयाभासी तथा व्यवहाराभासी है इसी तरह जो निश्चय और व्यवहार के ठीक-ठीक स्वरूप को न समझकर दोनो को अगीकृत करते है वे भी उभयाभासी हैं । ये तीनो प्रकार के जीव मोक्षमार्ग से वहिर्भूत है ।

इस तरह यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ अल्पकाय होने पर भी मोक्षमार्ग का साँगोपाग वर्णन करने वाला होने से मोक्षशास्त्र ही है । इसीलिए ग्रन्थान्त मे पुष्पिकावाक्य के द्वारा कहा गया है—'**इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणा कृति. तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्र समाप्तम् ।**' इस तरह अमृतचन्द्रसूरि की कृति तत्त्वार्थसार नाम का मोक्षशास्त्र समाप्त हुआ ।

पंचम खण्ड
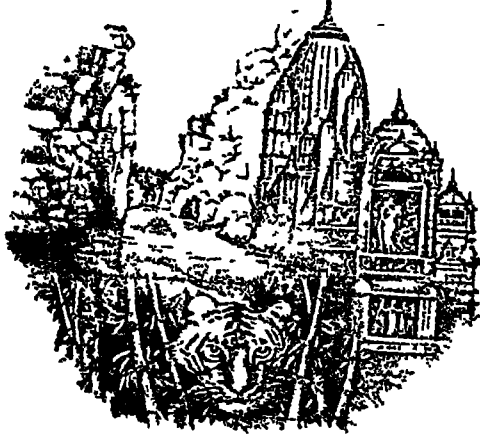
दर्शन एवं संस्कृति

धर्म के विवध लक्षण : शास्त्रों के आलोक में

स्वामि–कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे धर्म के विविध लक्षणों का सग्रह करते हुए श्री कार्तिकेय मुनि ने कहा है—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभोवो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।

कोई आचार्य "वत्थु सहावो धम्मो"–वस्तु स्वभाव ही धर्म है, इन शब्दो द्वारा आत्मा का जो ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव है, उसे धर्म कहते हैं । कोई आचार्य "उत्तम–क्षमामार्दवार्जव–शौच–सत्य–सयम–तपस्त्यागार्किचन्य–ब्रह्मचर्याणि धर्मा , इस सूत्र द्वारा क्षमा, मार्दव, आर्जव, सौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, इन दश प्रकार के भावो को धर्म कहते है । कोई आचार्य—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।

चारित्र को धर्म कहते है, आत्मा का जो सम परिणाम है वह धर्म कहलाता है और मोह-मिथ्यात्व तथा क्षोभ-रागद्वेष से रहित आत्मा का परिणाम, सम परिणाम है, इन शब्दो के द्वारा चारित्र को धर्म कहते हैं । कोई आचार्य "जीवाण रक्खण धम्मो" जीवो की रक्षा करना धर्म है इन शब्दो द्वारा दया और अहिंसा रूप परिणति को धर्म कहते हैं ।

समन्तभद्र स्वामी ने निरुक्त और वाच्य दोनो अर्थों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है— "देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् । ससारदु.खतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।" धरतीति धर्म· जो धारण करावे, पहुँचाये उसे धर्म कहते है । संसार के प्राणी नरकादिक चारो गतियो मे जन्म मरण करते हुए शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुखो से दुखी हो रहे हैं । धर्म, उन्हे ससार के उपर्युक्त दुखों से निकालकर उत्तम सुख मे पहुँचाता है । यहाँ उत्तम सुख से तात्पर्य भी मोक्ष सुख से है, क्योकि मोक्ष होने पर ही यह जीव जन्म मरण के दु खो से बच सकता है । मोक्ष प्राप्ति के अभाव मे स्वर्गादिक के सुख को भी आपेक्षिक सुख कहा जाता है परन्तु ज्ञानी जीवो का लक्ष्य उस ओर नही होता । उनका लक्ष्य तो एक मोक्ष सुख की ओर ही रहता हैं परन्तु उसके अभाव मे स्वर्गादिक का सुख स्वयं प्राप्त हो जाता है । जैसे किसान खेती तो अन्न प्राप्ति के उद्देश्य से ही करता है परन्तु अन्न प्राप्ति के अभाव मे पलाल उसे स्वय मिल जाता है । वह स्वय पलाल प्राप्ति के उद्देश्य से खेती नही करता ।

वाच्यार्थ को प्रकटकरते हुए लिखा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।।

जिनेन्द्र देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धर्म कहते है। ये तीनो मोक्ष के मार्ग हैं और इनके विपरीत मिथ्य दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये ससार के मार्ग है।

विचार करने पर धर्म के ये सब लक्षण "वत्थु सहावो धम्मो" इस लक्षण के विस्तार रूप ही हैं क्योकि क्षमा आदिक धर्म, मोह और क्षोभ से रहित साम्यभाव रूप धर्म, दया और अहिंसा रूप धर्म तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म आत्मा के ही स्वभाव हैं। एक स्वभाव के कहने से अन्य स्वभावो का कथन उसी के अन्तर्गत हो जाता है। आत्मा के इस उपर्युक्त स्वभाव की प्राप्ति मे सहायक जीव की जो प्रवृत्ति एव साधन हैं उन्हें भी उपचार से धर्म कहा है।

यहाँ उपचार का अर्थ वह नही है जो पत्थर की गाय को गाय या चन्द्रमा के प्रतिविम्ब को चन्द्रमा कहने मे होता है। यहाँ "अन्न" वै प्राणा" अन्न ही प्राण है, की तरह कारण मे कार्य का कथन होने से उपचार शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म आत्मा की परिणति है, शरीर की नही, यह ध्रुव सत्य है। इसलिए जीव की शरीराश्रित परिणति को यदि धर्म कहा गया है तो उसे उपचार ही समझना चाहिये।

निश्चय धर्म साध्य है और व्यवहार धर्म साधन है यह जिनागम मे सर्वत्र प्रसिद्ध है। व्यवहार धर्म प्रवृत्ति परक है और निश्चय धर्म निवृत्ति परक है। निश्चय धर्म की प्राप्ति होने पर व्यवहार धर्म स्वयमेव निवृत्त हो जाता है। जैसे-जैसे यह जीव सप्तमादि गुणस्थानो मे पहुँचता है वैसे-वैसे ही इसका प्रवृत्ति रूप धर्म विलीन होता जाता है। दशम गुण स्थान के ऊपर तो उसका विकल्प भी शेष नही रहता। एक स्वरूप समावेश रूप निश्चय धर्म ही शेष रह जाता है।

निश्चय धर्म आत्मा का स्वभाव है अतः वह छूटता नही है परन्तु व्यवहार धर्म छूट जाता है इसी से सिद्ध होता है कि वह उपचार से धर्म है। साधन की आवश्यकता साध्य की सिद्धि पर्यन्त है। साध्य की सिद्धि होने पर साधन स्वय निवृत्त हो जाता है। व्यवहार धर्म उपचार से धर्म है इसका फलितार्थ यह नही है कि वह अधर्म है वह काम क्रोधादि विकारी भावो के समान है। कितने ही महानुभाव उपचार धर्म के लिए अधर्म शब्द का प्रयोग कर जनता मे उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। व्रत. समिति, गुप्ति आदि रूप व्यवहार चारित्र उपचार से चारित्र हैं क्योकि ये "आत्मस्वरूप मे स्थिरता रूप निश्चय चारित्र की प्राप्ति मे साधन हैं" इस स्पष्ट व्याख्या को तोड मरोड कर जनता के समक्ष इन शब्दो मे रखते हैं कि व्यवहार चारित्र को अधर्म कह दिया। पूज्य त्यागी वर्ग को इन शब्दो से उभाडा जाता है कि आपके अणुव्रत और महाव्रत रूप चारित्र को अधर्म कहा जा रहा है।

एक ओर तो ये स्वय कहते हैं कि महाव्रत, समिति आदि व्यवहार चारित्र का विकल्प छठवें गुणस्थान तक ही रहता है दूसरी ओर इसी व्यवहार चारित्र को आत्मा के समकक्ष निरूपित करना चाहते है जो होकर फिर कभी छूटता नही है।

जिनागम मे निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयो के आश्रय से कथन है और दोनो की अपनी अपनी मर्यादाए है। जहा वक्ता या लेखक इन मर्यादाओ का अतिक्रमण करता है वहाँ विसवाद दृष्टिगोचर होने लगता है। पं टोडरमलजी की निम्नलिखित पक्तिया निश्चय और व्यवहार का कितना सुन्दर सामन्जस्य वैठाती हैं यह मोक्ष मार्ग प्रकाशक के सप्तमाधिकार मे देखिये —

निश्चय कर वीतराग भाव ही मोक्ष मार्ग है।

वीतराग भावनि से अर व्रतादिकनि के कदाचित् कार्य-कारणपनो है तातैं व्रतादिकनि को मोक्ष मार्ग कहे, सो कहने मात्र ही है, परमार्थ ते बाह्यक्रिया मोक्ष मार्ग नाही, ऐसा ही श्रद्धान करना।"

यहा प्रश्न—जो व्यवहार नय पर को उपदेश विषै ही कार्यकारी है कि अपना भी प्रयोजन साधे है ?

ताका समाधान-आप भी यावत् निश्चय करि प्ररूपित वस्तु कौ न पहिचानैं, तावत् व्यवहार मार्ग करि वस्तु का निश्चय करें। तातैं निचली दशा विषे आपको भी व्यवहारनय कार्यकारी है परन्तु व्यवहार को उपचार मात्र मानि बाकै द्वारि वस्तु का श्रद्धान ठीक करे तो कार्यकारी होय। बहुरि जो निश्चयवत् व्यवहार भी सत्यभूत मानि 'वस्तु ऐसे ही है' ऐसा श्रद्धान करैं तो उलटा अकार्यकारी हो जाय।"

इन पक्तियो के परिप्रेक्ष्य मे व्यवहारनय को यदि कही हेय बताया गया है तो उससे जिनागम की मूल भित्ति पर प्रहार नही होता। प्रहार तब होता है जब यह जीव मूल लक्ष्य से भटक कर मात्र व्यवहार मे उलझ कर रह जाता है। व्यवहारनय का बडा विस्तार है।

दान, पूजा दया आदि धर्म है, अणुव्रत महाव्रत धर्म है, रागादिक मेरे हैं, शरीर मेरा है, स्त्री, पुत्रादिक मेरे है, रुपये पैसे मेरे हैं, गाँव मेरा है, देश मेरा है। उसके उपचरित, अनुपचरित, सद्भूत भेद तो शास्त्रो मैं बताये ही है पर अवान्तर भेद और भी बहुत से है। इन सब कथनों की अपेक्षा बैठाना तथा उससे अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना बुद्धिमत्ता का काम है।

जिनागम मे दान देना पूजा करना, व्रत पालना आदि का निषेध नही है। ये पुण्य भाव है और शुभास्रव है इसके बावजूद भी इनका समस्त आचार्यो ने वर्णन किया है तथा अपने अपने पद के अनुरूप इन्हें करने का उपदेश दिया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप शुभ प्रवृत्ति करने मे यदि प्रमाद करता है तो अपराधी बताया है अत: इन्हे करो और करते समय इस बात का ध्यान रक्खो कि ये सब कार्य हमारे वीतराग स्वभाव की प्राप्तिमे साधक हो रहे है या नही। जिस प्रकार व्यापारी क्रय-विक्रय करता हुआ इस बात का ध्यान रखता है कि इससे हमारी अर्थ प्राप्ति का प्रयोजन सिद्ध हो रहा है या नही। यदि उसकी अर्थ प्राप्ति मे बाधा दिखती है तो त्रुटि को दूर करता है इसी प्रकार ज्ञानी जीव जप, तप, पूजा, दान आदि पुण्य कार्य करता हुआ सदा अपने वीतराग स्वभाव की ओर लक्ष्य रखता है। अज्ञानी जीव इन पुण्य कार्यो को भोग प्राप्ति के उद्देश्य से करता है और ज्ञानी जीव कर्मक्षय के उद्देश्य से करता है। दोनो की प्रवृत्ति एक सी है परन्तु प्रयोजन मे अवनि और अन्तरिक्ष का अन्तर है।

□

जैन धर्म की कतिपय विशेषताएँ

जैन धर्म अनेक विशेषताओ का भण्डार है, उसमे ससार के प्रत्येक प्राणी का सुख सदेश निहित है। हम स्पष्ट शब्दो मे कह सकते है कि जैन धर्म का एक-एक सिद्धात जन कल्याण की भावना से ओतप्रोत है। यदि आज संसार के प्रत्येक मानव जैन धर्म के वास्तविक रहस्य को समझ तदनुकूल प्रवृत्ति करने लग जावें तो विश्व की अशाति और बेचैनी एक क्षण मे दूर हो जावे। यदि आज का मानव अपने आपको कलिकाल के दूषित प्रभाव से दूषित न होने दे, अपने अभिप्राय को शुद्ध रक्खे तथा जैन धर्म के उपदेश, उसकी नयभङ्गी का रचनात्मक उपयोग करने लग जावे तो जैन धर्म ससार का एक मात्र सार्व धर्म आज ही हो जावे। उल्लिखित कारणो का अभाव ही जैन धर्म के विश्व धर्म होने मे बाधक है* ।

सक्षेप मे जैन धर्म की चार विशेषताए है—१ अहिंसा, २ अनेकान्त, ३. स्वतन्त्रता और ४. अपरिग्रहवाद। ये चार विशेषताए वे सुदृढ स्तम्भ है जिनके कि ऊपर जैनधर्म का विशाल प्रासाद खडा हुआ है। यहा सक्षेप से उक्त चारो की विशेषताओ का कुछ निरूपण कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

अहिंसा

जैनधर्म मे अहिंसा का बडी सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। यहाँ जीवो का प्राण विघात का अभिप्राय ही नही होना अहिंसा है। नपे तुले शब्दो मे जैनशास्त्र का निचोड रखते हुए आचार्यो ने वतलाया है कि आत्मा मे राग द्वेष आदि भावो के उत्पन्न न होने को अहिंसा और उन्ही की उत्पत्ति होने को हिंसा कहते हैं× । यह वास्तविक अहिंसा प्राणी को दशमगुण स्थान के बाद ही प्राप्त हो सकती है उसके पहले की हिंसा का औपचारिक रूप ही होता है। यथार्थ दृष्टि से देखा जावे तो जहा जीव विघात के परिणाम होना हिंसा है वहा जीव रक्षा के भाव होना भी हिंसा है, वास्तविक अहिंसा इन दोनो भेदो से आगे की वस्तु है।

अहिंसा और वीतरागता पर्यायवाची शब्द हैं। 'अहिंसा परमोधर्म.' कहिये, या 'वीतरागता परमोधर्म' कहिये, दोनो का एक ही अर्थ होता है—अहिंसा अथवा वीतरागता ही आत्मा का उत्कृष्ट धर्म-स्वभाव है। यद्यपि वर्तमान कर्म की उपाधि से आत्मा अपने अहिंसा धर्म से च्युत होकर हिंसा या रागादि रूप परिणमन करने लगता है परन्तु वह औपाधिक परिणमन आत्मा का स्वभाव नही कहा जा सकता। अग्नि का ससर्ग पाकर पानी उष्ण हो जाता है और लाल—पीले पदार्थ के ससर्ग से स्फटिक भी लाल—पीला

---

* 'कले· प्रभावः कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनैकाधिपत्विलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु' ॥'

× 'अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः' ॥

हो जाता है पर यथार्थ दृष्टि से विचार किया जावे तो न उष्ण होना पानी का स्वभाव है और न लाल-पीला होना स्फटिक का स्वरूप है । अग्नि का संसर्ग दूर होने पर पानी शीतल हो जाता है और लाल-पीले पदार्थ का सनिधान दूर होने पर स्फटिक धवल हो जाता है । इससे मालूम होता है कि पानी का स्वभाव शीतलता और स्फटिक का स्वभाव धवलता है । जिस वस्तु का जो स्वकीय भाव या धर्म होता है वह सदा उसके पास रहता है और जो औपाधिक भाव होता है वह उपाधि के सद्भाव मे ही रहता है । हम लोग कसाई को महान् हिंसक कहते है क्योकि वह बडी निर्दयता के साथ गाय आदि पशुओ का वध करता है पर यदि आप विचारक दृष्टि से उस कसाई के दिन रात होने वाले मनोभावो को देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि वह चौबीस घंटो में कुछ समय तक ही रौद्र भाव – हिंसक परिणाम रख पाता है । जो कसाई गोकशी करते समय बडा क्रूर जान पडता है वही कालान्तर मे बडा शान्त मालूम होने लगता है । वह अपनी स्त्री, सखा, सहोदर तथा सन्तान से स्नेह रखता है । पडौसी का बच्चा यदि खेलते-खेलते धूल मे जा गिरता है तो उसे लपककर उठाने के लिए दौड पडता है । इस सबके लिखने का तात्पर्य यह हैं कि कसाई भी स्वकीय भाव को छोडकर अन्य औपाधिक भाव निरन्तर नही रख सकता ।

सच्चा आत्म-स्वभाव होने के कारण अहिंसा को ही आचार्यों ने परम ब्रह्म कहा है* । परन्तु जहाँ पर पदार्थो के साथ सम्बन्ध-राग द्वेष है वहा अहिंसा स्थिर नही रह सकती । वही कारण है कि जैनधर्म मे बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध छोडकर निष्परिग्रह होने का उपदेश दिया गया है । जैन धर्म मे एक अहिंसा को ही मुख्य धर्म माना गया है, बाकी सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि जितने धर्म है वे सब इसी के परिकर है+ । इसी के रक्षक है और असत्य आदि हिंसा के ही विस्तार है । इनके सिवाय व्रत, उपवास आदि की जो भी व्यवस्था की गई है वह सभी राग द्वेष को घटाकर सच्ची अहिंसा के प्राप्त करने के उद्देश्य से ही की गई है । प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह इस अहिंसा के यथार्थ स्वरूप को समझकर तदनुसार ही अनुष्ठान करे । 'मैं अहिंसक हूँ' 'मेरा धर्म अहिंसामय है' केवल ऐसा कहने से विश्व का कल्याण नही हो सकता । उसके लिये तो अपनी पूरी शक्ति काम मे लाकर अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिये । कहने की अपेक्षा करने वाला अधिक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाता है । अहिंसा धर्म को अपना पैत्रिक धर्म मानने वाले जैन बौद्ध इस युग मे प्रसिद्धि नही पा सके, पर न कहकर करके दिखाने वाले महात्मा गाधी स्वयं अमर हो गये और अहिंसा की महिमा सिद्ध कर गये । जैन शास्त्रो मे यह स्पष्ट बतलाया है कि जो भी नर इस वास्तविक अहिंसा-वीतराग परिणति को नही समझकर केवल शरीराश्रित क्रियाकाण्डो मे उलझा रहता है वह द्रव्यलिङ्गी है और उसकी सब क्रियायें ससार का ही कारण है । ऐसे नर की अपेक्षा तो अशत वीतरागता को धारण करने वाला अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च कही अच्छा है ।

अहिंसा के इस लक्ष्य विन्दु तक पहुँचने के लिये आचार्यो ने हमारे रहन-सहन, आचार-विचार आदि को अनेक विभागो मे विभाजित किया है उसे लक्ष्य का साधन समझकर उसके अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये । यहा उन सब विभागो का वर्णन विस्तार के भय से हम छोड रहे है ।

---

* 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' ।

\+ 'आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्व मेव हिंसैतत् । अमृतवचनादि केवल मुदाहृतं शिष्यबोधाय' ।।

अनेकान्त

अन्त शब्द का अर्थ धर्म या गुण है । प्रत्येक पदार्थ मे अनेक धर्म रहा करते है । उन सभी धर्मो का योग्य समन्वय के साथ अस्तित्व प्रतिपादन करना ही अनेकान्त कहलाता है। यदि अनेक धर्म वाली वस्तु के किसी एक धर्म को स्वीकार कर हम उसके शेष धर्मो का अस्तित्व स्वीकार न करें तो ऐसा करने से उस वस्तु के पूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन नही किया जा सकेगा और उस अपूर्ण प्रतिपादन से ससार के प्रत्येक प्राणी का लाभ हो सकना असभव हो जावेगा ।

जीव नित्य भी है और अनित्य भी। परन्तु जब क्षपक सल्लेखना के समय भूख–प्यास की बाधासे दु खी हो अपने आपको मरणोन्मुख जान दुखी होने लगता है तब उसे उपदेष्टा जीव को नित्य मानकर उपदेश देता है कि 'हे आत्मन ! तू अजर है, अमर है, इन शारीरिक यातनाओ से तेरी कभी भी मृत्यु नही हो सकती, यह शरीर तेरा नही है, तू चेतन है, यह अचेतन है, यह नश्वर है तू अविनाशी है'। यदि कोई मानव अपने आपको स्थिर मानकर तरह-तरह के अत्याचार करता है तो उपदेष्टा उसे समझाते हैं कि 'रे मानव! ससार मे एक से एक बढ कर पुरुष हो गये परन्तु आज किसी का पता नही । रावण जैसे अर्द्ध चक्रवर्तियो की विभूति क्षण भर मे नष्ट हो गई—अन्य के अधिकार मे चली गई फिर तेरी तो हस्ती ही क्या है ?

गीता मे एक प्रकरण है । अर्जुन युद्ध के मैदान मे पहुँचते है । श्रीकृष्ण जो कि रथ की रास अपने हाथ मे लिये थे अर्जुन को सामने खड़े हुये योद्धाओ का परिचय देते हैं–'ये भीष्म पितामह है, ये गुरु द्रोणाचार्य है, ये अमुक है आदि' । परिचय प्राप्त करते ही अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि 'भगवन् ! मेरे रथ की रास मोड दीजिये । मुझे ऐसे राज्य की इच्छा नही जिसके लिये ससार के आदर्श ब्रह्मचारी भीष्म पितामह और पिता से भी अधिक स्नेह करने वाले गुरु द्रोणाचार्य के ऊपर मुझे शस्त्र चलाना पड़े। मैं तो उस राज्य की आकाक्षा करता हूँ जिसमे प्राणीमात्र के प्रति शत्रुत्व की भावना अवशिष्ट नही रहती' । अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण उन्हे समझाते हैं कि 'कौन्तेय ! यह बात तो पहले सोचने की थी, इस समय इस बात की आवश्यकता नही । इस समय तो तुम यह विचार निश्चित रक्खो कि आत्मा अजर है, अमर है—इसे शस्त्र नही छेद सकते, अग्नि नही जला सकती, पानी नही गला सकता और हवा नही सुखा सकती । आत्मा मरता नही, वह तो अपना घर मात्र बदलता है, जिस प्रकार पुराना घर छोडकर नवीन घर मे पहुँचने से मालिक को कष्ट नही होता और जीर्ण वस्त्र छोडकर नूतन वस्त्र धारण करने मे किसी को दु ख नही होता उसी प्रकार पुराना शरीर छोड़कर नवीन शरीर धारण करने मे प्राणी को कष्ट नही होता । तुम्हारे वाणो से ये कोई भी मरने वाले नही हैं व्यर्थ ही कर्त्तव्य से विमुख न होओ' । अर्जुन अवसर की बात समझ जाता है और 'भगवन् ! जो आज्ञा' कहकर अपने कर्त्तव्य मे दृढ हो जाता है ।

'ससार नाना प्राणियो का एक वृहत् कुटुम्ब बना है' इसमे सबकी जुदी–जुदी अभिलाषाएँ और आवश्यकताएँ है अत सबको एक ही दृष्टि से सतुष्ट नही किया जा सकता । सबकी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिये उपदेष्टा को कभी किसी दृष्टि को गौण करना पडता है और कभी किसी दृष्टि को मुख्य

बनाना पडता है । समझदार मनुष्य उपदेष्टा की अवसरवादिता को समझकर अपना मार्ग निश्चित कर लेता है और मूर्ख मनुष्य उपदेष्टा की अवसरवादिता पर लक्ष्य न देकर अपना मार्ग निश्चित नही कर पाता प्रत्युत प्रतिकूल बात सुनकर झगडने के लिये तैयार हो जाता है ।

एक बार एक वैद्य के पास ऐसा रोगी पहुँचा जिसका पित्त बहुत ही उत्तेजित हो रहा था । वैद्य ने दवा देते हुए उससे कहा कि 'देखो, तुम घी अधिक खाया करो, नही तो पागल हो जाओगे, घी बडी अच्छी चीज है भूलोक का मानो अमृत है । रोगी स्वीकार कर चला गया । कुछ देर बाद उन्ही वैद्य के पास एक ऐसा रोगी आया जिसकी जठराग्नि बिलकुल मन्द हो चुकी थी । सूखा भोजन भी वह हजम नही कर सकता था । वैद्य ने उसे दवा देते हुए कहा कि 'देखो! तुम घी नही खाना,घी बड़ी बुरी चीज है,उससे खाना जल्दी हजम नही होता।रोगी स्वीकार कर चला गया । अचानक दोनो रोगी बाजार मे एक जगह मिल जाते है। दोनो परिचित थे,पहला रोगी बोला कि घी लेने जारहा हूँ आज वैद्यराज ने उसे भूलोक का अमृत बतलाकर खाने की प्रेरणा की है।दूसरा रोगी बोला-नही जी! उन्ही वैद्य के पास से तो मे आ रहा हूँ उन्होने अभी-अभी तो मुझसे कहा है कि देखो घी न खाना नही तो बिना मौत मर जाओगे । पहले रोगी ने सोचा कि वैद्य बडा ठग है फीस की फीस ले ली ऊपर से घी खिलाकर बिना मौत मारना चाहता है । आग बबूला होता हुआ वैद्य के पास पहुँचा और कडक कर बोला—क्योजी अभी आपने मेरे मित्र से कहा कि घी नही खाना बड़ी बुरी चीज है और मुझसे कहते हो घी अधिक खाना । जरा कहिये तो मैने आपका क्या अपराध किया कि जिससे आप मुझे घी खिलाकर असमय मे मारना चाहते है । वैद्यराज ने मुसकुराहट के साथ उसे समझाया कि देख ! तुम्हारा पित्त उत्तेचित है अत. तुम्हे घी तरावट पहुँचावेगा यदि नही खाओगे तो मस्तिष्क गरम हो जायगा और तुम पागल हो जाओगे । और इस दूसरे रोगी की पाचन शक्ति इतनी अधिक खराब हो चुकी है कि उसे साधारण भोजन भी हजम नही होता घी की बात तो दूर रही । यदि यह घी खायगा तो इसकी पाचन शक्ति और भी अधिक खराब हो जायगी ।

रोगी वैद्यराज की बुद्धिमत्ताभरी बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और धन्यवाद देते हुए अपने अपने स्थान पर चले गए ।

नीबू खट्टा भी है, पीला भी है सुगन्धित भी है और गोल भी है—उसमे चार धर्म है । यद्यपि भोजन के समय हमे उसके सिर्फ खट्टेपन की आवश्यकता है और जी मचलने के समय सुगन्धित होने की, परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि नीबू मे भोजन के समय खट्टेपन को छोड़कर और कोई गुण नही है । हैं अवश्य परन्तु आवश्यकता न होने से उन्हे गौण कर दिया जाता है । नयवाद से एक समय मे पदार्थ का एक ही धर्म कहा जा सकता है परन्तु उस समय दूसरे धर्म का अभाव नही मानना चाहिये । यदि दोनो धर्मों का परस्पर निरपेक्ष होकर वर्णन किया जावेगा तो वह एकान्तवाद हो जावेगा ।

मनुष्य दो पैरो से चलता है, जब वह दाये पैर से चलता है तब बाये पैर को पीछे कर लेता है परन्तु दोनो पैरो का सदभाव आवश्यक है । वह एक साथ दोनो पैरो से नही चल सकता इसी प्रकार पदार्थ निरूपण मे द्रव्यदृष्टि पर्याय दृष्टि आदि भी कार्य करती है ।

विवक्षा वश एक पदार्थ मे एक ही साथ दो विरोधी धर्म भी रह सकते है । एक वार एक वक्ता अनेकान्त विषय पर भाषण दे रहे थे । शायद महावीर जयन्ती का अवसर था, हजारो आदमियो की भीड थी । वे कह रहे थे कि पदार्थ है भी और नही भी । श्रोताओ के बीच मे से एक आदमी खडा होकर

बोला कि महाशयजी ! यह मेरे हाथ मे रेलवे का टिकिट है इसे आप कैसे कह सकते है कि यह टिकिट नही है ? अन्य श्रोताओ की भी कौतुक और जिज्ञासा पूर्ण दृष्टि वक्ता के ऊपर जा पडी। वक्ता ने शान्त भाव से पूछा कहा का टिकिट है ? उसने कहा दिल्ली से मेरठ तक का वक्ता ने कहा यदि आप इसी टिकिट से सहारनपुर तक चले जावेंगे तो ? उसने कहा-पकडा जाऊगा । वक्ता ने कहा–ऐसा क्यो ? आपके पास तो टिकिट है ? उसने कहा–नही । वक्ता ने कहा तो क्या हम यह कह सकते है कि आपके पास टिकिट है भी और नही भी । उसने कहा हा । श्रोता अपने प्रश्न का उत्तर पाकर प्रसन्न हुआ और हजारो की जनता ने करतल ध्वनि से वक्ता के युक्ति कौशल पर प्रसन्नता प्रकट की ।

यह अनेकान्त जीवन के प्रत्येक क्षण मे काम आने वाला सिद्धान्त है । चूँकि इसके विना मानव का एक क्षण भी काम नही चल सकता इसलिए इसका वास्तविक रूप समझकर इसे जीवन मे घटित करने का उद्योग करना चाहिये । यदि विश्व के प्राणी अनेकान्त का ठीक–ठीक स्वरूप समझ लें तो परस्पर की तू–तू, मैं–मैं अभी शान्त हो जावे और भूतल स्वर्ग बन जावे । हम आपके दृष्टिकोण को समझ लें और आप हमारे दृष्टिकोण को, तो दोनो मे विरोध ही क्या रह जाता है ? हमारा तो विश्वास है कि आचार्यों ने अनेकान्त का आविर्भाव ही इसलिये किया है कि सबके सब मित्र रहे – सब, सबके दृष्टिकोण–विवक्षा-भेद को समझने का प्रयत्न करे ।

जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म भी वैराग्य प्रधान धर्म है । उसके वैराग्य का प्रतिपादन करने के लिये आसक्ति का अभाव करने के लिये जीव को अनित्य बतलाया है और साख्य धर्म ज्ञान-प्रधान धर्म है। उसने आत्मा तथा पर-पदार्थ का ठीक–ठीक विश्लेपण कर उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया है । इसलिये वह जीव को नित्य मानता है । बौद्ध का अभिप्राय पर्याय दृष्टि से है और साख्य का प्रतिपादन द्रव्य दृष्टि है । इन दोनो मतो के विशेषज्ञो ने एक दूसरे के मत का खण्डन करने के लिये अपने ग्रन्थो मे बडा कौशल दिखलाया है । परन्तु जैन धर्म द्रव्य और पर्याय दोनो दृष्टियो को अपनाकर दोनो का समन्वय कर देता है और सबके उपयोग की वस्तु बन जाता है वास्तव मे यह अनेकान्त ही जैनागम का जीव है, प्राण है और समस्त विरोध को दूर करने वाला है× ।

स्वतन्त्रता

जैन धर्म की तीसरी विशेषता है स्वतन्त्रता । जहा अन्य धर्मो मे जीव को प्रत्येक कार्य मे, यहा तक कि निर्वाण प्राप्त करने मे भी ईश्वर के परतन्त्र माना है वहा जैन धर्म मे जीव को प्रत्येक कार्य मे स्वतन्त्र माना है । यहा इस बात की घोषणा की गई है कि ससार के प्रत्येक प्राणी सच्चिदानन्दकन्द हैं । जो जीव आज निगोद पर्याय मे एक श्वास के भीतर १८ बार जन्म-मरण के दुख उठा रहा है वही कालान्तर मे अजर-अमर हो सिद्ध परमेष्ठी हो सकता है ।

'है अनेकान्त का मूल मन्त्र बनकर सुमित्र रहना सीखो ।
है सकल विश्व तेरा सुमित्र बनकर सुमित्र ! रहना सीखो ।।'

+ 'सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातङ्गदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्' ।।

× 'गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोहो मोहिनो मुने' ।

जैन धर्म मे जीव के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से ३ भेद वर्णन किये गये हैं। जो जीव और शरीर को एक ही मानता है-शरीर को ही आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। जो आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है और जो कर्ममल को नष्ट कर उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त कर लेता है वह परमात्मा कहलाता है। जबकि अन्य धर्मो मे परमात्मा की सत्ता अलग से मानी गई है तब जैन धर्म मे यह बताया गया कि बहिरात्मा जीव ही अपनी सतत् साधना से अन्तरात्मा बनता है और वही कर्मविरण दूर होने पर परमात्मा बन जाता है। इस परमात्मा के सिवाय जैन धर्म किसी अन्य ईश्वर की सत्ता स्वीकृत नही करता ।

जैन शास्त्रो मे उल्लेख है कि पशु-पक्षी भी जैन धर्म धारण कर सकते है । तीर्थकर भगवान के समवसरण की बारह सभाओ मे जहा मनुष्यो के लिये स्थान दिया जाता है वही पशु-पक्षिओ के लिये भी स्थान दिया गया है । जिस प्रकार रात-दिन सुख-शान्ति के वातावरण मे रहने वाला देव सम्यग्दर्शन धारण कर सकता है उसी प्रकार रात-दिन मारकाट के बीच रहने वाले सप्तम नरक का नारकी भी सम्यग्दर्शन धारण कर सकते है। करणानुयोग मे द्रव्यलिङ्गी-मिथ्यादृष्टि मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च को अधिक पूज्य बतलाया है । द्रव्यलिङ्गी मुनि के जहा बन्ध योग्य समस्त प्रकृतियो का आस्रव होता है वहा अविरत-सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च के ४१ प्रकृतियो का आस्रव रुक जाता है । जैन धर्म आत्मा का धर्म है किसी खास योनि व जाति के आधीन नही है । विदेह क्षेत्र मे अब भी जैनधर्म सार्वधर्म है सभी वर्ण के सभी लोग इसी धर्म का पालन करते है । यह कलिकाल का ही प्रताप है कि आज के जैनधर्मानुयायी भी अन्य धर्मानुयायियो की तरह सकीर्णता के दलदल मे फस गये । जैनधर्म तो अध्यात्म से शुरू होता है और अध्यात्म मे ही समाप्त होता है । वह जाति के आवरण को तुच्छ समझता है । समन्तभद्र जैसे महान् आचार्यो ने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को भी देव बतलाया है, उन्होने जाति का आवरण अङ्गार पर लगे हुए भस्म के समान नि.सार बतलाया है । वे वेष के पुजारी नही रहे, उन्होने मोही मुनि की अपेक्षा निर्मोही गृहस्थ को अच्छा बतलाया है । जातिवाद जैनधर्म की मौलिक मान्यता नही है यह तो उसमे दूसरो के सम्पर्क से आ घुसा है । भले ही वह परिस्थिति वश अपनाया गया हो पर मौलिक नही है, यह निर्विवाद है । जैनधर्म का सिद्धान्त है कि इसे प्रत्येक प्राणी अपनी योग्यता के अनुसार धारण कर इससे लाभ उठा सकता हैं ।

जैनधर्म का महामन्त्र 'णमो अरिहंताण · · ·'हमे शिक्षा देता है कि जैनधर्म व्यक्ति का पुजारी नही है, गुण का पुजारी है । मैं अरहत को, सिद्ध को, आचार्य को, उपाध्याय को और साधु को नमस्कार करता हूँ । भले ही वह अरहन्त आदि दशा महावीर स्वामी ने प्राप्त की हो चाहे किसी अन्य साधारण मनुष्य ने । "गुणाः पूजास्थान गुणिषु न च लिङ्ग न च वय." इस सिद्धान्त की उद्भूति जैनधर्म से ही है ।

अपरिग्रह वाद

पीछे लिख आये है कि परिग्रह राग द्वेष की उत्पत्ति मे कारण है और राग द्वेष का उत्पन्न होना ही हिंसा है, इसलिए जो सच्चा अहिंसक बनना चाहता है वह परिग्रह के सम्पर्क से दूर रहे । परिग्रह का अर्थ है पर पदार्थों मे ममता भाव । इसी को मूर्च्छा कहते है हृदय से विचार किया जावे तो यह परिग्रह

ही दुःख का कारण है इसलिए जैनधर्म मे इसके छोडने का अधिक से अधिक उपदेश दिया गया है, इतना अधिक कि मुनि अवस्था मे शरीर पर एक सूत भी रखना पाप बतलाया है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि जो एक परमाणु मात्र परिग्रह मे आत्म बुद्धि करता है वह कुगति का पात्र होता है।

जिस प्राणी का अन्तरङ्ग बाह्यपदार्थो मे जितना अधिक ममता रहित होता जावेगा वह उतना ही अधिक परिग्रह का त्याग करता जावेगा। यद्यपि पूर्ण अपरिग्रह मुनि अवस्था मे होता है तो भी उसका यह अर्थ नही है कि गृहस्थ को उसका कुछ भी त्याग नही करना चाहिये। जो पूर्ण परिग्रह का त्याग नही कर सकते ऐसे गृहस्थों के लिये आचार्यो ने परिग्रह–परिमाण व्रत का उपदेश दिया है। परिग्रह–परिमाण व्रत का सच्चा रहस्य यह है कि किसी को आवश्यकता से अधिक परिग्रह का स्वामी नही बनना चाहिये। जिस प्रकार शरीर मे एक जगह आवश्यकता से अधिक रक्त रुक जाने से शरीर के अन्य अङ्ग निष्क्रिय हो जाते हैं उसी प्रकार एक जगह आवश्यकता से अधिक परिग्रह–धन सम्पत्ति रुक जाने से संसार के अन्य प्राणी उसके बिना निष्क्रिय हो जाते हैं। जिस प्रकार रक्त का आवश्यक सचार होते रहने से ही शरीर की व्यवस्था ठीक रह सकती है उसी प्रकार परिग्रह–धन सम्पदा का आवश्यक सचार होते रहने से ही ससार के समस्त लोगो की व्यवस्था ठीक रह सकती है।

यदि हमारे पूजीपति जैसा कि अभी पिछले कण्ट्रोल के समय किया गया है आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न और परिधान आदि आवश्यक वस्तुओ का अपने पास सग्रह कर लेते हैं तो उसके बिना दूसरे वर्ग को अधिक कष्ट उठाना पडता और जब मानव कष्ट सहते–सहते अधीर हो जाता है, तब वह सघर्ष के लिये खडा हो जाता है। दुनिया के युद्ध उसी सघर्ष के प्रति फल है।

लोगो ने ऐसी धारणा बना रक्खी है कि परिग्रह, भले ही वह हमारे उपयोग मे न आता हो पर सुख का कारण है। विचार करने पर लोगो की यह धारणा भ्रममूल ही सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि परिग्रही लोगो को जितना मानसिक त्रास रहता है उतना अपरिग्रही लोगो को नही होता। फिर जो विश्व को अपना परिवार समझ कर उसकी भलाई के लिये परिग्रह का त्याग करता है उसके मानसिक आह्लाद की क्या बात है?

परिग्रह का परिमाण कर लेने से इच्छाओ की उद्दाम प्रवृत्ति रुक जाने के कारण तत्काल ही आनन्द का अनुभव होने लगता है। आज के साम्यवाद की जड मे जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद ही पानी दे रहा है। आज लोग साम्यवाद का आविर्भाव करने मे लेनिन और मार्क्स का नाम बड़े गौरव के साथ लेते हैं पर वे यह भूल जाते है कि यह सिद्धान्त तो भारत वर्ष मे भगवान् महावीर के द्वारा आज से अढाई हजार वर्ष पहले घोषित किया जा चुका है।

यह जैनधर्म की चार विशेषताओ का सक्षिप्त परिचय है। आशा है भगवान् महावीर स्वामीके निर्वाण दिवस पर हम उनके द्वारा प्रचारित जैनधर्म की उल्लिखित विशेषताओ पर गभीर और विचारक दृष्टि से विचार करेंगे।

धर्म और पुण्य का विश्लेषण

,'वत्थुसहावो धम्मो' इस लक्षण के अनुसार आत्मा का जो ज्ञायक स्वभाव है वही धर्म है। ज्ञायक स्वभाव वाले आत्मा को निज धर्म से विचलित करने वाला मोह कर्म है। इस कर्म के दर्शनमोह और चारित्र मोह की अपेक्षा दो भेद हैं। दर्शनमोह के उदय से यह जीव स्वको छोडकर पर मे आत्मबुद्धि करने लगता है और चारित्रमोह के उदय से पर मे ममत्वबुद्धिकर उनमे इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता हुआ रागद्वेषरूप परिणमन करता है। आत्मा की यह अशुद्ध अवस्था विभाव परिणति यद्यपि आत्मा के ही उपादान से होती है तथापि इसमे मोहनीय कर्म की उदयावस्था निमित्त कारण है। जब तक आत्मा मे यह अशुद्ध परिणति विद्यमान रहती है तब तक आत्मा धर्मरूप परिणत नही होता। कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार मे धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिदिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

अर्थात् चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, जो धर्म है वह समभाव है और मोह—मिथ्यात्व और रागद्वेष से रहित आत्मा की जो परिणति है वह धर्म है, यह धर्म ही चारित्र कहलाता है। परमार्थ से आत्मा की यह वीत-राग परिणति ही धर्म है।

पं० दौलतराम जी ने भी यही भाव दर्शाया है—

"जे भाव मोहतें न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे॥

मोह से रहित जितने दर्शन ज्ञान तथा व्रतादिक है वे सवधर्म है ऐसे धर्म को जव यह जीव धारण करना है तव ही अचल—अविनाशी—मोक्ष सुख को प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति इस वास्तविक धर्म के प्रकट हुए बिना नही हो सकती।

व्यवहार मे दया, दान, पूजा आदि प्रशस्त क्रियाओं को जो धर्म कहा जाता है वह उपर्युक्त वास्तविक धर्म की प्राप्ति मे सहायक होने से कहा जाता है। धर्म के पुरुषार्थी जीव को सबसे पहले इसी वास्तविक धर्म के प्रति लक्ष्य रखना चाहिये। हमारी जिन क्रियाओ से वास्तविक धर्म प्राप्त नही होता वे क्रियाएँ धर्म नही मानी जाती। जिस प्रकार चतुर व्यापारी सदा अर्थलाभ की ओर दृष्टि रखता हुआ व्यापार करता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वास्तविक धर्म प्राप्ति का लक्ष्य रखता हुआ शुभ क्रियाए करता है। यदि कोई व्यापारी मात्र क्रय और विक्रय को ही व्यापार समझकर वस्तुओ का क्रय विक्रय करता रहे अर्थलाभ का लक्ष्य न रखे तो उसका व्यापार चल नही सकता इसी प्रकार कोई मनुष्य मात्र बाह्य क्रियाओ को धर्म मानकर करता रहे और उनसे प्राप्त होने वाले वीतराग परिणतिरूप वास्तविक धर्म पर लक्ष्य न रखे तो उसे धर्म पुरुषार्थ से साध्य होने वाले मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति नही हो सकती।

आजकल "पुण्य धर्म है या नही ?' यह प्रश्न विवाद का विषय बना है। परन्तु आचार्यों के द्वारा अनेकान्त शैली से निरूपित वस्तु स्वरूप का विचार करने पर वह विवाद अनायास शान्त हो सकता है 'मोहजन्य विकार से रहित आत्मा की निर्मल परिणति ही धर्म है" जब, धर्म के इस लक्षण पर विचार किया जाता है तब मोह के मन्द उदय मे होने वाली शुभ परिणतिरूप पुण्य को धर्म नही माना जाता और जब उस धर्म की प्राप्ति मे सहायक होने से कारण मे कार्य का उपचार कर कथन किया जाता है तब दया, दान, पूजा आदि के शुभ परिणाम रूप पुण्य को धर्म माना जाता है।

यही बात अहिंसा और दया के विषय मे आती है। राग-द्वेष परिणति का अभाव होना अहिंसा और परदु ख निवृत्ति का जो शुभराग है वह दया है। अहिंसा और दया के तथोक्त लक्षणो पर विचार करने से दोनो का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इन लक्षणो के अनुसार आत्मा की वीतराग परिणति होने रूप अहिंसा धर्म है तथा शुभराग रूप परिणति से युक्त होने के कारण दया धर्म नही है। आगम व लोक व्यवहार मे जहा दया को धर्म कहा गया है वहा अहिंसा धर्म का साधक होने से धर्म कहा गया है।

दया धर्म नही है, पूजा धर्म नही है, दान धर्म नही है, इन सब कथनो का फलितार्थ यह नही है कि ये सब अधर्म है, अन्याय है। इनका फलितार्थ इतना ही है कि ये आत्मा की शुद्ध परिणति नही है। जब तक मोहजन्य विकार की एक कणिका भी विद्यमान रहेगी तब तक वह शुद्ध परिणति नही कही जा सकती। विकार की एक कणिका भी इस मोक्ष को प्राप्त होने मे बाधक कारण है। इस विकार कणिका के रहते हुये देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो का बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप यह आत्मा सयम से च्युत हो असयम दशा मे आ जाता है और कुछ समय के लिये नही किन्तु सागरो पर्यंत के लिये। वास्तविक पुरुषार्थ मे जरासी कमी रह जाने के कारण यह जीव सागरो पर्यन्त के लिये अपने लक्ष्य से मोक्षप्राप्ति से भटक जाता है।

यहा दया, दान आदि पुण्य क्रियाओ के करने का निषेध नही है। ये क्रियाएँ तो अपनी भूमिका के अनुसार करना ही पडती हैं। लकडी के भीतर जलते हुए नागयुगल को देखकर गृहस्थावस्था मे भगवान् पार्श्वनाथ की आत्मा मे भी दया का भाव आता है वे उसकी रक्षा के लिये कमठ के जीव को उपदेश देते है। परन्तु ज्ञानी जीव इन सब क्रियाओ को करता हुआ भी श्रद्धा मे इन्हे साक्षात् मोक्ष मार्ग नही मानता। उसकी श्रद्धा है कि इस शुभरागरूप परिणति से देवायु का बन्ध होगा, मोक्ष नही। आस्रव बन्ध, सवर और निर्जरा के भावो का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञानी जीव को ही होता है। जो आस्रव और बन्ध के कारणो को सवर और निर्जरा का तथा सवर और निर्जरा के कारणो को आस्रव और बन्ध का कारण मानता है वह तत्वश्रद्धानी कैसे हो सकता है? आत्मा मे इन भावो की अलग अलग दूकानें नही है। एक ही आत्मा मे वे सब भाव होते है, उनका भेद रखना भेद विज्ञान का कार्य है। शरीर और आत्मा जुदे जुदे है यहाँ से भेद विज्ञान शुरू होता है और आत्मा का शुद्धज्ञायक भाव तथा उसके साथ मिले हुए मोहजन्य विकारीभाव जुदे जुदे है यहा भेदविज्ञान समाप्त होता है। भेदविज्ञान का यह अंतिम रूप प्राप्त होने पर। "ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठित" की दशा आती है। इस भेदविज्ञान की महिमा मे अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—

भेदविज्ञानत सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

आज तक जितने सिद्ध है वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध है और जितने ससार के अन्दर बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही वद्ध हैं।

ज्ञान मे से मोहजन्य विकार के दूर होने पर यह जीव अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। छद्मस्थ वीतराग दशा का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। श्रद्धा की भी बडी महिमा है। रागादिक विकारी भावो का सर्वथा अभाव दशमगुणस्थान के अन्त मे ही होता है उसके पूर्व नही। परन्तु श्रद्धा के कारण यह जीव चतुर्थ गुणस्थान से ही मोक्षमार्गी बन जाता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के मात्र अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी राग छूटा है अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियो से सम्बन्ध रखने वाला राग विद्यमान रहता है और उस राग के सद्भाव मे यह एक दो नही, छियानवे हजार तक स्त्रियो के उपभोग मे प्रवृत्त होता है। एक दो ग्राम नही किन्तु छह खण्ड भरत-क्षेत्र का स्वामी होता है। और यथार्थ श्रद्धा के अभाव मे मुनि लिंग को धारण करने वाला व्यक्ति भी ससारमार्गी कहा जाता है।

मकान नीव से ही बनता है ऊपर से नही। इसी प्रकार धर्म सम्यग्दर्शन से ही शुरू होता है ऊपर से नही। सम्यग्दर्शन के बिना ऊपर से शुरू हुआ धर्म कब नष्ट हो जावेगा इसकी कुछ गारन्टी नही है। इस कथन का यह भी तात्पर्य नही ग्रहण करना चाहिए कि सम्यग्दर्शन से धर्म शुरू हो गया अत. अब आगे बढने की आवश्यकता नही है। अरे भाई! धर्म की पूर्णता तो सम्यक चारित्र की पूर्णता पर ही निर्भर है। जब तक चारित्र की पूर्णता नही होती तब तक यह जीव मोक्ष को प्राप्त नही हो सकता। इसलिये आत्मकल्याण के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनो की परम आवश्यकता है। यही कारण है कि समन्तभद्रस्वामी ने—

सण्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है तथा इन्ही को मोक्षमार्ग और इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को ससार का मार्ग बतलाया है—रत्न. श्रा, श्लोक ३।

शरीर का धर्म स्पर्श, रस, गन्ध और रूप है तथा आत्मा का धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा अध्यात्म की भाषा मे वीतराग परिणति है। इस जीव का कल्याण आत्मधर्म से होगा, शरीर धर्म से नही इसलिये वास्तविक धर्म को अगीकार कर कल्याण के मार्ग मे अग्रसर होना चाहिये।

पावन पर्युषण : दश धर्म

"परित॰ दह्यन्ते इहयन्ते कर्माणि येन तत् पर्युषणम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पर्युषण का अर्थ है–जिसके द्वारा सब ओर से कर्म भस्म किये जावे। वास्तव मे पर्युषण आत्म शुद्धि का सर्वोत्कृष्ट पर्व है। इस पर्व मे आत्मा के विकारी भावो को दूर करने का प्रवल प्रयत्न किया जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय आत्मा की विशुद्धता को नष्ट करते रहते है और इसी कारण यह आत्मा चतुर्गतिरूप ससार मे भ्रमण कर रहा है। पर्युषण पर्व वर्ष मे तीन बार आता है—माघ मे, चैत मे और भाद्रपद मे। इन माहो के शुक्ल पक्ष की पञ्चमी से लेकर चतुर्दशी तक यह पर्व मनाया जाता है। इन तीनो पर्वों मे भाद्रपद के पर्व का प्रचलन सबसे अधिक है। भारत वर्ष के कोने-कोने मे जहा एक दो घर भी जैनो के होते है वहा यह पर्व बडे उल्लास से मनाया जाता है। पर्व के दिनो मे लोग मन्दिरो मे विशेष रूप से पूजा-प्रभावना करते है, शास्त्र प्रवचन सुनते हैं, सामयिक, जप, तप, त्याग आदि करते है और शक्ति के अनुसार एकाशन तथा उपवास आदि करते हैं।

पर्युषण पर्व का दूसरा नाम दश लक्षण पर्व भी है, क्योकि इस पर्व मे क्षमा मार्दव, आर्जव, शौच सत्य, सयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दशलक्षण धर्मो की क्रम से आराधना की जाती है। धर्म के इन दश अगो का यहा सक्षेप मे वर्णन किया जा रहा है।

१—क्षमा :– क्रोध कषाय पर नियत्रण रखना विकट परिस्थिति आने पर भी अपनी सहनशीलता को नष्ट न होने देना और दूसरो के द्वारा त्रास दिये जाने पर भी उनका भला चाहना क्षमा धर्म है। क्रोध एक भयंकर आग है जो भी उसे अपने आप मे स्थान देता है वह नष्ट हो जाता है। सस्कृत मे अग्नि का नाम आश्रयाश भी है अर्थात् जो अपने आश्रय को भी भस्म कर दे। क्रोध भी अग्नि की तरह आश्रयाश है। जो शत्रु को जीतता है वह वीर कहलाता है और जो शत्रुता को जीतता है वह महावीर कहलाता है महावीर कभी किसी व्यक्ति को शत्रु नही मानता। वह उन विकारी भावो को ही शत्रु मानता है जिनसे प्रेरित होकर व्यक्ति किसी का अहित करने के लिए तत्पर होता हैं।

२—मादव :– मार्दव का अर्थ मृदुता या कोमलता है। यह मार्दव, धर्म, मान, कषाय के अभाव मे प्रकट होता हैं। आज का मानव ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, शारीरिक वल, सम्पत्ति, सुन्दर शरीर और तपश्चरण इन वस्तुओ का अहकार करता है। अहकारी मानव समझता है कि ससार मे मैं ही सबसे महान हू। वह अपने आपको सबसे महान और दूसरो को लघु समझता है। देखा जाता है कि ससार मे किसी का मान सुरक्षित नही रह पाता। जहा चक्रवर्ती का भी मान सुरक्षित नही रह सका वहा अन्य लोगो का मान सुरक्षित रह सकेगा ऐसी आशा रखना भ्रम है। विनय से ससार के प्रत्येक काम सरलता से सिद्ध हो जाते है।

वर्षा से कोमलता की प्राप्त हुई। जिस प्रकार वसुधा मे बीज अकुरित हो जाते हैं उसी प्रकार मार्दव धर्म से कोमलता को प्राप्त हुए मनुष्य के हृदय मे अनेक गुण अकुरित हो जाते है।

३—आर्जव – ऋजुता सरलता को आर्जव कहते है। यह आर्जव धर्म माया, कषाय के अभाव मे प्रकट होता है। मायाचारी मानव का भंडाफोड नियम से होता है और उसके होने पर उसकी सारी प्रतिष्ठा धूलि में मिल जाती है। मन मे और, वचन मे और, करे कुछ और, यह दुर्जन मनुष्य का लक्षण है। इसके विपरीत—

मन में होय सो वचन उचरिये, बचन होय सो तन सो करिए।

यह सज्जन मनुष्य का लक्षण है। मायाचारी मनुष्य सदा शंकित रहता है कि कभी हमारी दुर्वलता न प्रकट हो जाए। सत्पुरुष प्रथम तो यही प्रयत्न करते है कि हमसे कोई निन्द्य कार्य न हो जाए, पश्चात् कदाचित् हो भी जाता है तो उसे छिपाकर अपने आपको महान सिद्ध नही करते किंतु गुरुजनो के समक्ष उसे प्रकट कर आगे के लिये नि शल्य हो जाते है।

४—शौच :– लोभ कषाय के अभाव मे शौच धर्म प्रकट होता है। शौच का अर्थ पवित्रता है। आत्मा की पवित्रता, लोभ के नष्ट हो जाने पर ही प्रकट होती है। लोभी मनुष्य सदा अशात रहता है और दीन बन कर दूसरो से कुछ पाने की आशा रखता है, परंतु विवेकी मनुष्य अपने आप मे संतुष्ट रहकर किसी से कुछ याचना नही करता है शारीरिक पवित्रता से आत्मा की पवित्रता नही होती। आत्मिक पवित्रता तो लोभ का अभाव कर शौच धर्म धारण करने से ही हो सकती है अतः सदा इसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

५—सत्य – सत्य धर्म से मनुष्य की बड़ी प्रतिष्ठा होती है। वचन बल की प्राप्ति सत्य बोलने से ही होती है। जो पदार्थ जैसा है उसे निर्भय होकर वैसा ही कहना सत्य धर्म है। किसी वस्तु का लोभ कर सत्य धर्म को नष्ट नही करना चाहिये।

"सुवर्णमय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है" यह एक सुक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य संपत्ति के लोभ से सत्य का गला घोट देते है पर यह अच्छे मनुष्यो का कर्तव्य नही है। घोर विपत्ति के समय भी वे सत्य की रक्षा करते है।

६—सयम :– इद्रियो को वश मे रखना तथा जीव हिंसा से दूर रहना सयम कहलाता है। पशुओ का जीव सयम हीन होता है परतु मनुष्यो का जीवन सयम से पूर्ण होता है। जो मनुष्य अपनी बढती हुई इच्छाओ को नियन्त्रित नही कर सकते उनमे और पशुओ मे क्या अतर है? आज का मानव खान-पान बोलचाल तथा वेशभूषा आदि मे संयमहीन होता जाता है और उसके कारण उसका चरित्र बल गिरता जाता है।

७—तप :– मानसिक इच्छाओ को रोककर अपने आप मे नियन्त्रित रखना तप कहलाता है। अनशन, ऊनोदर आदि वाह्य तप है और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य आदि अन्तरङ्ग तप है। इन दोनो प्रकार के तपो से आत्मा की कलुषता नष्ट होती है। तप कर्म क्षय का कारण है। भगवान वाहुवली एक वर्ष निराहार खडे रहे। धूप, वर्षा, शीत की वाधाओ को उन्होने समता भाव से सहन किया। आज का मनुष्य दिन मे एक वार का भोजन छोडने मे भी कष्ट का अनुभव करता है। वह मानो खाने के लिये ही जी रहा है। ऐसे मनुष्य से आत्मा की साधना होना कठिन कार्य है।

८—त्याग :– अतरङ्ग मे रागद्वेष आदि विकारी भावो का त्याग करना और बहिरङ्ग मे आहार, औषध शास्त्र और अभय से चार प्रकार के दान देना त्याग धर्म है। कर्मभूमि के मनुष्य का जीवन पारस्परिक सहयोग से भी चलता है। भूखे को भोजन देना, रोगी को औषध देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, और प्राणनाश की

आशंका से भयभीत मनुष्य के लिये अभय देना, मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। त्याग के द्वारा ही ससार के बडे-बड़े काम चलते है।

९—आकिञ्चन्य :— बाह्य पदार्थों मे ममता भाव का त्यागकर अपने आप मे सतुष्ट रहना आकिंचन्य धर्म है। आकिंचन्य धर्म का पालन करने वाला मनुष्य तीन लोक का अधिपति होता है। आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन मे लिखा है कि "हे आत्मन्! मैं आकिंचन हू स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ मेरे कुछ भी नही है

ऐसा दृढ निश्चय कर तू बैठ तो सही। इसके फलस्वरूप तू तीन लोक का अधिपति हो जायेगा परिग्रह की लालसा से ही आज ससार मे छीना झपटी हो रही है अत उससे विमुख हो निर्ग्रन्थ दशा को प्राप्त करना चाहिये।

१०—ब्रह्मचर्य —निश्चय से अपना उपयोग अन्य पदार्थों से हटाकर अपने ब्रह्म शुद्ध आत्म स्वरूप मे लीन रखना ब्रह्मचर्य है और बाह्य मे स्त्री का परित्याग कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से इस जीव के मनोरथ सिद्ध होते है। ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिये देव दौडे चले आते हैं पतिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिये देवो ने अग्निकुन्ड को जलमय कर दिया। सुदर्शन सेठ की शूली को सिंहासन के रूप मे परिवर्तित कर दिया। पूर्ण ब्रह्मचर्य की रक्षा सभव न हो तो परस्त्री और परपुरुष के त्याग रूप एक देश ब्रह्मचर्य को तो अवश्य धारण करना चाहिये।

पर्युषण पर्व वस्तुत जीवन को स्वच्छ और उच्च बनाता है।

संयम गौरव

आर्या

संयम सहिता यतय सुरनरपतिभिः सदा प्रणम्यन्ते।
अपि च लभन्ते ऽमुत्रा मन्दा नन्दस्य वै कन्दम् ॥९६॥
संयमिजनवरहृदये दयास्रवन्ती सदातना वहति।
अविरल कलरव निचयं कुर्वाणा प्रेमरसपूर्णा ॥९७॥

सयम से सहित मुनिराज इस लोक मे सदा सुरेन्द्र और नरेन्द्रो से नमस्कृत होते है और परभव मे निश्चित ही वे अमन्द आनन्द के कन्द को प्राप्त होते है।

संयमी जनो के हृदय मे सदा स्थिर रहने वाली एव प्रेमरस से परिपूर्ण दयारूपी नदी निरन्तर कल-कल करती हुई बहती रहती है।

सम्यक्त्व चिन्तामणि मयूख ८

आत्म-निरीक्षण का पुण्य अवसर

"तरन्ति भव्या येन भवसागरं तत् तीर्थम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार तीर्थ शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा भव्यजीव ससार-सागर को तैरकर पार हो जाते है—मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं संसार सागर से पार होने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता है। इनकी पूर्णता के बिना मुक्ति की प्राप्ति सभव नही है। जब तक व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यानरूप परम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नही हो जाती तब तक यह जीव देशोनकोटी वर्ष पूर्व तक इसी ससार मे विद्यमान रहता है।

उपर्युक्त तीर्थ की जो प्रवृत्ति चलाते हैं वे तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर बनना सरल काम नही है। समस्त अढाई द्वीप के भीतर एक काल मे जहा पर्याप्तक मनुष्यो की संख्या उनतीस अक प्रमाण है वहा तीर्थंकरो की संख्या एक सौ सत्तर है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक मे से किसी एक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य केवली या श्रुतकेवली के निकट तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। तीर्थंकर प्रकृत्ति का बन्ध कराने वाली दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाए है। इन भावनाओ के काल मे प्राणीमात्र का कल्याण करने की भावनारूप जो शुभराग होता है उसके द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध होता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रखने वाला जीव यदि उसी भव से मोक्ष प्राप्त नही कर सकता है तो मरकर देवगति या नरकगति मे जाता है और वहा से कर्मभूमि का मनुष्य होकर नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे भव मे नियम से मोक्ष प्राप्त कर लेता है अतः वह भोगभूमि मे नही जाता।

पाच विदेह क्षेत्रों के एक सौ साठ भेद होते हैं। उन सब मे सदा चौथा काल वर्तता है अत वहा सदा तीर्थंकर होते रहते है। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र मे काल चक्र का परिवर्तन चलता है। अत. यहा तीसरे काल के अन्त से लेकर चौथे काल के अन्त तक ही तीर्थंकर होते हैं। भगवान् वृषभदेव तीसरे काल के अन्तिम भाग मे उत्पन्न हुए और जब तीसरे काल के तीन वर्ष साढे आठ माह बाकी थे तब मोक्ष चले गये थे। शेष तेईस तीर्थंकर चौथे काल मे उत्पन्न हुए और चौथे काल मे ही मोक्ष गये। चौथे काल के जब तीन वर्ष साढे आठ माह बाकी थे तब भगवान् महावीर मोक्ष प्राप्त कर चुके थे। भरत और ऐरावत क्षेत्र मे दश कोड़ा कोड़ी सागर के उत्सर्पिणी और अव सर्पिणी काल मे चौबीस तीर्थंकर होते है। विदेह क्षेत्र के पाच मेरु सम्बन्धी चार चार नगरियो मे सीमन्धर आदि विद्यमान तीर्थंकर होते है। विद्यमान का अर्थ यह नही है कि एक ही तार्थंकर सदा विद्यमान रहते है। एक कोटि पूर्व वर्ष की आयु समाप्त होने पर वे मोक्ष चले जाते हैं और उनके स्थान पर अन्य तीर्थंकर उत्पन्न हो जाते है—उनके समवसरण की रचना हो जाती है। इस दृष्टि से ही वे विद्यमान तीर्थंकर कहलाते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी, जिनका कि २५०० वा निर्वाण महोत्सव देश मे सर्वत्र बड़े उल्लास के साथ मनाया गया है, इस युग के २४ वें तीर्थंकर थे। महाराज सिद्धार्थ की रानी त्रिशला—प्रियकारिणी की कुक्षि से उन्होने २५७७ वर्ष साढ़े आठ माह पूर्व जन्म प्राप्त किया था। उस समय भारत मे हिंसा का, प्रमुख रूप से

याज्ञिक हिंसा तथा बलिदान का अधिक प्रचार था। भगवान् महावीर स्वामी ने उसे अधर्म बताकर जनता को समझाया कि अन्य प्राणी के घात से अपना कल्याण नही होता। यदि इस लोक और परलोक में सुख से जीवन यापन करना है तो प्राणीमात्र को अपने आपके समान समझो। जिस प्रकार अपने आपको काटा लगने पर दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियो को भी दुःख होता है। अपने स्वार्थ के लिये अन्य प्राणी का प्राणघात करना अत्यन्त मूर्खता है। लोकमान्य तिलक ने अपने एक भाषण में स्पष्ट कहा था कि भारत से याज्ञिक हिंसा का कलक दूर करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह भगवान् महावीर को है।

जैनधर्म के शास्त्रो मे अहिंसा की बहुत सूक्ष्म व्याख्या की गयी है उसमे न केवल प्राणिघात को हिंसा कहा है परन्तु आत्मा मे रागादि भावो के उत्पन्न होने को भी हिंसा कहा है[1]। जो रागादिक भावो को जीतकर पूर्ण वीतराग बन जाता है वही पूर्ण अहिंसक कहलाता है। ऐसी अहिंसा को ही परमधर्म कहा गया है—"अहिंसा परमो धर्म" अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है। इस अवस्था के पूर्व जो आशिक अहिंसा प्रकट होती हैं उसे उपचार से धर्म कहा है। इस अहिंसा धर्म की साधना के लिये मनुष्य को असत्यभाषण, अदत्तादान, अब्रह्म सेवन और परिग्रह पाप का भी त्याग करना पडता है क्योकि ये सभी हिंसा पाप के ही रूपान्तर है।

हिंसा एक द्वन्द है। उसके रहते हुए शान्ति की प्राप्ति असभव है। आज विश्व के समस्त राष्ट्रो मे हिंसा के साधन विकसित करने की होड लग रही है। जो राष्ट्र जितने अधिक घातक शस्त्रो का निर्माण कर लेताहै वह अपने आपको उतना ही अधिक विकसित और शक्तिशाली समझता है। इस हिंसा के वातावरण मे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से शकित है। सुख और शान्ति से जीवन बिताने का अवसर कहा है? भगवान् महावीर ने बतलाया था कि पृथ्वी पर जन्म लेने वाले प्रत्येक प्राणी को जीवित रहने का अधिकार है। मानव दूसरे के अधिकार को छीनकर एक मात्र अपने आपको क्यो अधिकृत करना चाहते है?

आज कहा जाता हैं कि अहिंसा धर्म के पालन से मनुष्य का निर्वाह नही हो सकता इसलिये वह अव्यवहार्य है। परन्तु यह कहना युक्तिसगत नही है। जैनधर्म मे सकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्यमी भेद से चार प्रकार की हिंसा बतलायी गयी है। सकल्प पूर्वक किसी जीव का घात करना सकल्पी हिंसा है। घर गृहस्थी का कार्य करते हुए जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है। शत्रु से अपनी रक्षा करते समय जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा कहते हैं और खेती तथा व्यापार आदि मे जो हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा कहलाती है। गृहस्थ के प्रारम्भ मे सकल्पी हिंसा का त्याग होता है पश्चात् जैसे-जैसे उसकी अध्यात्म के मार्ग मे प्रगति होती जाती है वैसे-वैसे अन्य हिंसाओ का त्याग होता जाता है। अन्त मे साधु अवस्था के प्राप्त होते ही चारो प्रकार की हिंसा छूट जाती है। गृहस्थ मानव किसी पर स्वय आक्रमण नही करता परन्तु उस पर यदि कोई आक्रमण करता है तो अपनी और अपने आश्रित राष्ट्र की रक्षा करने के लिये शत्रु से दृढतापूर्वक युद्ध करता है। अकर्मण्य बनकर अपराध का प्रतिकार नही करना यह गृहस्थ धर्म के योग्य प्रक्रिया नही है।

१—रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहिं णिद्दिट्ठा॥

अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

रावण से युद्ध करने के पहले रामचन्द्रजी ने कहा था "भो लकेश्वर ! दीयता जनकजा, राम. स्वययाचते" हे लंकेश्वर सीता को वापिस दे दो, राम स्वय याचना करता है। परन्तु जब रावण "शिरो मदीय यदि याति यातु स्वप्नेऽपि सीता न समर्पयिष्ये"—यदि मेरा सिर भी जाता है तो जाये, स्वप्न मे भी सीता को वापिस न करूंगा—इस बात पर दृढ रहता है तब रामचन्द्र जी ने उससे युद्ध किया और सीता को वापिस प्राप्त किया। जैनधर्म की अहिंसा मनुष्य को कायर नही बनाती है ? गृहस्थ अवस्था मे गृहस्थ उतनी अहिंसा का पालन कर सकता है जितना उसे विदित है। मुनि के समान चारों प्रकार की हिंसाओं का त्याग नही कर सकता।

हिंसा का वास्तविक रूप संकल्पी हिंसा मे जितना प्रकट होता है उतना अन्य हिंसाओ मे नही। एक धीवर प्रात. काल से सायकाल तक नदी मे जाल डाले बैठा रहा। दुर्भाग्य से एक भी मछली उसके जाल मे नही आयी और एक किसान खेत मे हल चलाकर अनेक जीवो की हिंसा करता रहा। यदि परमार्थ से विचार किया जाय तो किसान और धीवर मे धीवर ही अधिक हिंसक सिद्ध होगा क्योकि बाह्य मे मछली का घात न होने पर भी वह उसके सकल्प से युक्त था और किसान से यद्यपि अनेक जीवो का घात हुआ है तथापि उसके उन जीवो के घात करने का अभिप्राय या सकल्प नही था।

गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं मे प्रतिपादित आचार की ओर जब विचार किया जाता है तब यही विदित होता है कि वह जैसे-जैसे आगे की भूमिका मे बढता जाता है वैसे वैसे ही हिंसा से निवृत्त होता जाता है। आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारक होते ही वह आरम्भी, विरोधी और उद्यमी हिंसा से भी बहुत अशो मे निवृत्त हो जाताहै।

धर्म के दो पहलू होते है एक आचारात्मक और दूसरा सिद्धान्तात्मक। सिद्धान्तात्मक पहलू जब आचारात्मक पहलू के साथ एकीभाव को प्राप्त होता है तब वह प्रभावात्मक होता है—दूसरे लोगो को भी अपनी ओर आकृष्ट करने लगता है परन्तु जब मात्र सिद्धान्तात्मक पहलू ही रहता है तब उसका बाह्य मे कुछ भी प्रभाव नही होता। उदाहरण के लिये सिद्धान्त से यह मान लिया कि अहिंसक बनना अच्छा है। परन्तु इस सिद्धान्त का जब तक आचारात्मक पहलू सामने नही आता तब तक लोक मे उसका कोई प्रभाव नही होता। भगवान् महावीर ने सिद्धान्तात्मक अहिंसा को अपने जीवन मे उतारा था, इसलिये जगत के लोग उनसे प्रभावित हुए—उनकी छत्र छाया मे एकत्रित हुए।

इसका कारण है कि संसार के मानव को किसी के धर्म ग्रन्थ देखकर उस धर्म के विषय मे अपनी या बुरी राय बनाने का अवकाश नही है। वह तो उस धर्म के धारक लोगो के अच्छे या बुरे आचार को देखकर ही उसके विषय मे अच्छी या बुरी राय बनाता है। जब जैनधर्म के धारण करने वाले हम लोगों को भी इतना अवकाश नही है कि हम जैन धर्म के ग्रन्थो को देखकर उनका स्वाध्याय कर सिद्धान्तो का अनुगमन करें तो अन्य धर्मो के धारको से यह आशा कैसे की जा सकती है। हमारे आचरण से ही वे जैनधर्म के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना चाहते है। इस स्थिति मे हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपना आचारात्मक पहलू भी सिद्धान्तात्मक पहलू के अनुरूप ही बनायें जिससे अन्य लोग समझ सके कि भगवान महावीर के सिद्धान्त यह थे।

भगवान् महावीर का अनेकान्त सिद्धान्त भी बौद्धिक अहिंसा का ही एक उज्जवल रूप है। यदि यह सिद्धान्त मनुष्य के जीवन मे उतर जाय तो धार्मिक संघर्ष अनायास दूर हो जावें। आप हमारी विवक्षा को समझे और हम आपकी विवक्षा को, तो संघर्ष के लिये स्थान ही कहाँ रह जाता है ? अनेक का

अर्थ है परस्पर विरोधी दो और अन्त का अर्थ है धर्म । परस्पर विरोधी दो धर्मों की एक ही वस्तु मे सगति बैठाना अनेकान्त का उद्देश्य है । अनेकान्त धर्मों को एक स्थान पर बैठाता है न कि एक स्थान पर बैठे हुए को पृथक-पृथक करता है । आज के लोग अनेकान्त की चर्चा मात्र करते है उसे जीवन मे नही उतारते । यदि जीवन मे भी उतारने लगे तो जीवन शान्तिमय हो जाय ।

भगवान् महावीर ने कहा था कि यह जीव अपने अच्छे बुरे कर्मो के अनुसार सुख और दुःख की भूमिका को स्वय प्राप्त करता है । इसे न कोई स्वर्ग भेजता है और न कोई नरक । इसलिये पर का आलम्बन छोडकर प्रत्येक प्राणी को अपने आप पर निर्भर रहना चाहिये यही सच्ची स्वतन्त्रता है । हम किसी दूसरे को सुख और दुख का देने वाला मानकर व्यर्थ ही राग द्वेष करते है ।[1] दु:ख का प्रसग आने पर ज्ञानी जीव उसका कारण अपने आपमे खोजता है दूसरे मे नही कृतान्तवक्त्र सेनापति जब सीता को भयकर जंगल मे छोड़कर रामचन्द्रजी का आदेश सुनाता है तब सीता रामचन्द्रजी का दोष न देखकर अपने आपकी ओर देखकर कहती है कि मैंने किसी स्त्री को झूठा कलक लगाया होगा उसी का फल मुझे प्राप्त हो रहा है । इसमे रामचन्द्रजी का अपराध नही है । कुत्ते को कोई लाठी मारता है तो वह लाठी को मुह से दाब कर चबाता है और सिंह को कोई मारता है तो वह मारने वाले पर झपटता है । तात्पर्य यह है कि कुत्ते को अपने सही शत्रु का बोध नही है परन्तु सिंह को सही शत्रु का बोध है । हमारी प्रवृत्ति पर से उलझने की है परन्तु पर से उलझने मे सफलता की प्राप्ति संदिग्ध है । यदि हम अपने अन्तर के विकारो से उलझने लगे तो उन विकारो को दूर करने मे निश्चित ही सफलता प्राप्त कर सकते है ।

परिग्रह मनुष्य के निर्वाह का साधन है । इसके बिना भोजन, वस्त्र और आवास की समस्या का समाधान दुष्कर है । यदि परिग्रह एक ही स्थान पर आवश्यकता से अधिक रुक जाता है तो उसके बिना अन्यत्र कठिनाई उपस्थित हो जाती है । मनुष्य के शरीर मे जब खून दौडता रहता है तब उसका शरीर स्वस्थ्य रहता है परन्तु जब किसी अंग मे खून का पहुँचना कम हो जाता है या बिलकुल बन्द हो जाता है तब शरीर का वह अग बेकार हो जाता है । इसी प्रकार जब परिग्रह लोगो के बीच दौडता रहता है तब तक सबका काम चलता रहता है इसके विपरीत जब किन्ही लोगो के पास आवश्यकता से अधिक रुक जाता है तब अन्य लोगो तक न पहुँचने से उन्हें कठिनाई का अनुभव होने लगता है । भगवान् महावीर ने हमे बतलाया था कि परिग्रह की सीमा प्रत्येक को निश्चित करनी चाहिये उसके निश्चित किये बिना न उसे संतोष होगा और न दूसरो को सुविधा की प्राप्ति । आज नियतिवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि जितने भी वाद सामने आ रहे हैं इन सबकी मूल भित्ति भगवान महावीर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित अपरिग्रहवाद या परिग्रह परिमाणवाद है । यह परिग्रह परिमाण मात्र उपदेश की वस्तु नही है, जीवन मे उतारने की वस्तु है । उसे एक बार जीवन मे उतार कर देखो तो सही कितना आनन्द का वातावरण बनता है ।

१—स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् । परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट स्वयं कृत कर्म निरर्थकं तदा । अमितगति ।

"को सुख को दु ख देत है कर्म देत झकझोर ।
उरझै सुरझै आप ही ध्वजा पवन के जोर ।।

भगवान् महावीर के इस २५००वे निर्वाण महोत्सव की पुण्यवेला मे आत्मनिरीक्षण का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ है। आत्म निरीक्षण के द्वारा ही इस बात का अंदाज लगाया जा सकता है कि हम महावीर के सिद्धान्तो से हटकर कितने दूर भटक गये है। अपने आपमे आये हुए विकारो को दूर करने का प्रयास किया जाय जिससे स्वस्थ व्यक्ति का निर्माण हों, साथ ही देश और समाज का वातावरण भी स्वस्थ निर्मित हो सके।

▣

उत्तम-क्षमा

आर्या

अवगाहन मात्रेण परमानन्दप्रदं शिवं ददती।
भागीरथीव विमला कलिमल संहारिणी क्षमा जयति ॥४५॥

अविरल जनसंतापं दूरादेव क्षणेन वै जगताम्।
ज्योत्स्नेव संहरन्ती क्षमा विजयते परं लोके ॥४६॥

उच्छलचपल तुरङ्गैर्मत्त गजेन्द्रैर्भटै र्युता सेना।
नालं य तु विजेतुं क्षमा क्षणार्धेन तं जयति ॥४७॥

जो अवगाहन मात्र से परमानन्द दायक मोक्ष को प्रदान करती है, गङ्गा के समान निर्मल है और पाप रूपी मैल का सहार करने वाली है वह क्षमा जयवन्त है—सब से उत्कृष्ट है।

जो जगत् के अविरल व्यवधान रहित सताप को परमार्थ से चाँदनी के समान क्षण भर मे नष्ट कर देती है ऐसी क्षमा लोक मे अतिशय श्रेष्ठ है।

उछलते हुए चञ्चल घोड़ों मदोन्मत्त हाथियों और योद्धाओ से सहित सेना जिसे जीतने के लिये समर्थ नही है उस शत्रु को क्षमा आधे क्षण मे जीत लेती है।

सम्यक्त्व चिन्तामणि मयूख ८

सामयिक/सामायिक : स्वरूप और विधि

'सामयिक' शब्द 'समय' शब्द से निष्पन्न होता है और 'सामायिक' 'समाय' से सिद्ध होता है। 'समय' का अर्थ आत्मा होता है, उसमे होने वाले को सामयिक कहते हैं और 'समाय' शब्द का अर्थ समता/मध्यस्थता-की-प्राप्ति होता हैं, इसमे होने वाले को सामायिक कहते है।

सामायिक के लिए 'सामयिक' और 'सामायिक' ये दो शब्द प्रचलित हैं। समन्तभद्राचार्य ने अपने रत्नकाण्ड श्रावकाचार' मे 'सामयिक' शब्द का प्रयोग किया है और अन्य ग्रन्थकारो ने 'सामायिक' शब्द का। दोनो शब्दो की निरुक्तियाँ भिन्न प्रकार है। 'सामयिक' शब्द 'समय' शब्द से निष्पन्न होता है और 'सामायिक' शब्द 'समाय' शब्द से सिद्ध होता है। 'समय' का अर्थ आत्मा होता है उसमे होने वाले को 'सामयिक' कहते हैं और समाय शब्द का अर्थ समता/मध्यस्थता की प्राप्ति होता है। उसमे होने वाले को 'सामायिक' कहते हैं। 'समय' और 'समाय' दोनो शब्दो से तद्धित का ठक् (इक्) प्रत्यय होकर तथा आदि अन्त की वृद्धि होने पर सामयिक और सामायिक शब्द सिद्ध होते है।

यह सामायिक मुनियो के आवश्यक कार्यों मे 'समता' शब्द से उल्लिखित है। प्रत्येक मुनि को इष्ट-अनिष्ट का प्रसग आने पर समताभाव रखना आवश्यक है। गृहस्थ श्रावक के लिये शिक्षा-व्रत के रूप मे 'सामायिक' करना आवश्यक बताया गया है। दिन मे दो बार, या सामायिक प्रतिमाधारी की अपेक्षा तीन वार, २ घड़ी, ३ घडी अथवा ६ घडी तक सामायिक करने का विधान है। एक घडी २४ मिनिट की होती है। गृहस्थ-श्रावक निरन्तर समताभाव मे स्थिर नही रह सकता इसलिए उसे प्रात., मध्याह्न और सायकाल मे निश्चित समय तक अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। इस 'सामायिक' से उसे मुनियो के समताभाव नामक 'आवश्यक' का अभ्यास होता है।

सामायिक के समय अपना उपयोग अन्य विषयो से हटाकर 'समय' अर्थात् आत्मा मे लगाना चाहिये। मेरा ज्ञाता-दृष्टा जानने और देखने का स्वभाव है, राग-द्वेष करना नही। मैं अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से च्युत होकर पर-पदार्थो मे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि कर स्वयं दु खी हो रहा हूँ। पर पदार्थ, न इष्ट होता हैं और न अनिष्ट। यह प्राणी अपनी आवश्यकता के अनुसार एक ही पदार्थ को कभी इष्ट मानता है और आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर कभी अनिष्ट मानने लगता है। गर्म वस्त्र शीतकाल मे इष्ट होते हैं और उसके निकल जाने पर अनिष्ट लगने लगते है।

सामायिक मे बैठा हुआ गृहस्थ मानव, जितना परिग्रह उसके शरीर पर होता हे उतने को ही अपना मानता है, सामायिक के काल मे अन्य परिग्रह को वह अपना नही मानता। यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामी ने उसे 'चेलोपसृष्ट' (जिसे किसी ने उनकी इच्छा के विरुद्ध वस्त्र उड़ा दिया है) मुनि की

उपमा दी है । यह उतने समय तक पंच पापो का त्यागी होने से उपचार से महाव्रती के समान माना जाता है ।

सामायिक करने से पहले निर्द्वन्द्व स्थान का चयन कर लेना चाहिये । पश्चात् उपद्रव आने पर उसे उपसर्ग समझ कर सहन कर लेना चाहिए । सामायिक का प्रारम्भ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख कर करना चाहिये । यदि प्रतिमाजी के सम्मुख बैठने का अवसर प्राप्त होता है तो पूर्व या उत्तर दिशा का विकल्प नही रहता । सर्वप्रथम खड़े होकर नौ बार णमोकार मन्त्र पढकर तीन आवर्त करने के पश्चात् भूमि का स्पर्श करते हुये घुटने टेक कर नमस्कार करना चाहिये । पश्चात् दाहिनी ओर घूमते हुए चारो दिशाओ मे णमोकार मन्त्र पढकर तीन-तीन आवर्त और एक शिरोनति करना चाहिये । इस प्रकार चारो दिशाओ के बारह आवर्त और एक अन्तिम कायोत्सर्ग की शिरोनतियाँ हो जाती है । कृति कर्म कर चुकने के बाद शरीर की शक्ति के अनुसार पद्मासन, अर्ध-पद्मासन, पर्यकासन, अथवा कायोत्सर्ग की मुद्रा मे सामायिक करना चाहिये ।

सामायिक के ६ अंग है : १. प्रतिक्रमण, २. प्रत्याख्यान, ३ सामायिक, ४ स्तुति, ५ वन्दना, और ६. कायोत्सर्ग । इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

प्रतिक्रमण—अपनी दिनचर्या मे जो पाप-रूप प्रवृत्ति हुई है उसके प्रति पश्चाताप प्रकट करते हुए क्षमायाचना करना ।

प्रत्याख्यान—पिछली त्रुटियो पर पश्चाताप करते हुए आगे के लिए उन त्रुटियो से दूर रहने का निश्चय ।

सामायिक— शत्रु-मित्र सभी जीवो पर समताभाव रखना । इष्ट-अनिष्ट का प्रसग आने पर यह विचार करना कि संसार मे सुख-दुख आदि जो भी प्राप्त होता है वह स्वयं के द्वारा अर्जित कर्मो का फल है । अन्य लोग तो मात्र बाह्य निमित्त हैं, मूल निमित्त मेरा कर्मोदय ही है अत सब परिस्थितियो मे समताभाव रखना आवश्यक है । यही सामायिक कर्म कहलाता है ।

स्तुति—वृषभादि तीर्थंकरो की अलग-अलग अथवा समुदाय-रूप से स्तुति करना स्तुति कर्म कहलाता है । ये वृषभादि तीर्थंकर ही धर्म-मार्ग के प्रवर्तक' है उनके प्रति भक्ति का भाव प्रकट करना आवश्यक है ।

वन्दना—चौबीस तीर्थकरो मे से किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना वन्दना कर्म है ।

कायोत्सर्ग—निश्चित समय तक शरीर से ममत्व छोडकर शरीर की अशुचिता और अनित्यता का विचार करते हुए णमोकार मन्त्र अथवा किसी अन्य मन्त्र का जाप करना कायोत्सर्ग कहलाता है ।

जाप करने के वाद आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय तथा सस्थानविचय, इन चार प्रकार के धर्म्य-ध्यानो का विचार करना चाहिये । गृहस्थ के प्रारम्भ के तीन ध्यान होते है, सस्थानविचय नही होता, परन्तु मुनिराजो के चारो धर्म्य-ध्यान होते हैं । सूक्ष्म, कालान्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थो का चिन्तन आज्ञाविचय धर्म्य-ध्यान के माध्यम से होता है । चर्तुगति के दु-खो तथा उनसे बचने के उपायो का चिन्तन, अपायविचय धर्म्यध्यान मे

होता है। किस कर्म के उदय मे जीव का कैसा भाव होता है, किस कर्म का बन्ध, उदय तथा सत्त्व किस गुणस्थान तक रहता है, ऐसा चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है । और लोक, सुमेरुपर्वत, नन्दीश्वर द्वीप तथा अकृत्रिम चैत्यालयो आदि के संस्थान-आकृति आदि का विचार करना सस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

सामायिक के काल मे शीत, उष्ण, वर्षा तथा डांस मच्छर आदि की बाधा होती है तो उसे समताभाव से सहन करना चाहिये। परिणामो की स्थिरता के लिए सामायिक पाठ, तथा बारह भावना आदि का पाठ भी करना चाहिये।

सामायिक पूर्ण होने पर जिस दिशा में मुख है उसी दिशा मे नौ बार णमोकार मन्त्र पढ कर तथा भूमि स्पर्श-पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। शारीरिक अस्वस्थता या वृद्धावस्थाजन्य अशक्ति के होने पर प्रारम्भिक और अन्तिम कायोत्सर्ग की क्रियाये अपवाद रूप से बैठे-बैठे भी की जा सकती है। सामायिक के समय मन, वचन,कायकी चंचलता को रोकना चाहिये तथा बड़े उत्साह से सब विधि का पालन करते हुए आदरपूर्वक करना चाहिये।

बारह आवर्त, चार शिरोनति और दो निषद्याओ के विषय में ऐसा भी उल्लेख मिलता है: 'जिस प्रकार मुनियो के सामायिक और स्तव नामक कृति कर्म साथ-साथ होते है उसी प्रकार श्रावक के भी दोनो कर्म साथ-साथ होते है। सामायिक कृति कर्म मे सामायिक दण्डक और स्तवकृति कर्म मे थोस्सामि दण्डक पढा जाता है। बारह आवर्तों और चार प्रणामो की सख्या का विवरण देते हुए अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त मे तीन-तीन आवर्त करता हुआ एक प्रणाम करता है। इस प्रकार सामायिक दण्डक के ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। यही विधि स्तव दण्डक के प्रारम्भ और अन्त मे करता है, इसलिए इसमे भी ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। दोनो को मिलाकर १२ आवर्त और ४ प्रणाम होते है। सामायिक कृति कर्म के प्रारम्भ मे बैठकर नमस्कार किया जाता है, इसलिए दोनो कृति कर्मों की दो निषद्याएँ (कटिभाग को सम रख कर पद्माइसन आदि आसनो से बैठना) होती है।

सुन, समझ और पहिचान : एक चिन्तन

ससार एक बीहड़ वन के समान है इसमे यह जीव अनादिकाल से दिग्भ्रान्त मानव की तरह भ्रमण कर रहा है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की चौरासी लाख योनियो मे निरन्तर भटकते रहने पर भी आज तक इसे निवृत्ति का मार्ग नही मिला। जब अन्तर्दृष्टि से विचार करते है तब समझ मे आता है कि यह जीव मोह रूपी मदिरा का पानकर उसके मद मे आपा पर को भूल रहा है। मे कौन हूं ? इसका इसे पता नही और शारीरिक बाह्य पदार्थो को अपना मान उनके अर्जन सरक्षण तथा विनाश आदि के समय घोर सक्लेश का अनुभव करता हुआ निरन्तर दु खी रहता है। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक की ऐसी दशा है जिसमे ज्ञान की शक्ति अत्यधिक तिरोभूत रहती है और उसके कारण यह जीव हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त नही कर पाता परतु सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याय, ऐसी पर्याय है कि जिसमे मन का सद्भाव रहने के कारण इस जीव मे हेयोपादेय का विज्ञान विशेष रूप से प्रकट हो जाता है। सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याय, तिर्यञ्च, मनुष्य देव और नरक इन चार गतियो मे होती अवश्य है परन्तु मनुष्य को छोडकर अन्य गतियो मे हेयोपादेय का पूर्ण विज्ञान और तदनुकूल आचरण का होना सम्भव नही। मनुष्य ही खासकर कर्मभूमि का मनुष्य ही इस कोटि का प्राणी है कि वह पूर्ण रूप मे आत्म शक्ति को प्रकट कर सकता है। मनुष्य ही बहिरात्मा से अन्तरात्मा और अन्तरात्मा से परमात्मा बन सकता है। यह सच है परन्तु आज का मानव बाह्य जगत् की चकाचौध से विमुख रहकर अन्तर्जगत् की ओर सन्मुख नही हो रहा है। यह मोह मदिरा के इतने तीव्र मद मे मस्त है कि उसे कर्तव्य बोध हो ही नही पाता। स्त्री पुत्र धनधान्य आदि बाह्य पदार्थो मे ही इसकी दृष्टि उलझी रहती है और उन्ही को सब कुछ समझ उनकी इष्ट अनिष्ट परिणति मे राग द्वेष करता रहता है। इस जीव की यह दशा तब तक जारी रहती है जब तक कि वह सम्यग्दृष्टि बनकर आपा और पर को नही समझने लगता है। सम्यग्दर्शन के होते ही इसे आत्मा और पर का बोध हो जाता है और यह आत्मा को उपादेय तथा पर को हेय समझने लगता है। यही से इस जीव का कल्याण प्रारम्भ होता है और यही से यह धर्म के मार्ग मे विचरण करने लगता है। जिसने यह भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया वह अर्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक काल तक संसार मे भ्रमण नही कर सकता आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि—

> **भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन्।**
> **अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन्॥**

आज तक जितने सिद्ध हुए है वे सब भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार मे बृद्ध हैं वे सब भेद विज्ञान के अभाव से ही बधें हुए हैं। शरीर जुदा है आत्मा जुदा है, रागादिक विकार जुदे हैं आत्मा की विज्ञान घन परिणति जुदी है। यह सब भेद विज्ञान ही है। इसके होते ही परपदार्थ से इसका राग घटने लगता है। परपदार्थ मे जो राग होता है उसका मूल कारण आत्मवस्तु का अज्ञान है। आत्मा सुख का भण्डार है अनन्त ज्ञान का पुन्ज है अनन्त बल-वीर्य आदि का निकेतन है परन्तु कितना आश्चर्य है कि यह प्राणी अनादि अविद्या रूपी दोष से उत्पन्न चार सज्ञा रूपी ज्वर से आतुर होकर आत्म ज्ञान से विमुख हो दर दर का

भिखारी हो रहा है । वीतराग सर्वज्ञ देव ससार के इन भूले भटके प्राणियों को सचेत करते हुए कहते हैं कि हे भोले प्राणी ! असली शक्ति को पहिचान । तू 'क्यो' अपनी निधि को भूलकर दरिद्र हुआ इधर उधर भटकता फिर रहा है । जिन जीवो ने सर्वज्ञ देव की इस बाणी पर ध्यान दिया वे सुमार्ग पर आ गए । और शीघ्र ही ससार से संतरण पा गए ।

यह ससार का मार्ग-विषय कषाय की पूर्ति का मार्ग तत्काल भले ही सुख का कारण मालूम हो परतु इससे यथार्थ सुख की प्राप्ति नही होती यह निश्चय है । उससे जो सुख होता है वह सुखाभास है और कुछ ही समय बाद नष्ट होने वाला है । जिसे आत्म बोध प्रगट हुआ है ऐसा जीव सप्तम नरक का नारकी रहकर भी जिस आत्मीय सुख का अनुभव करता है वह आत्म बोध से विमुख नवम ग्रैवेयक के अहमिन्द्र को भी सुलभ नही है । आत्म ज्ञानी जीव का सुख दूसरा है और मिथ्या ज्ञानी जीव का सुख दूसरा है ।

आचार्यो ने कहा है कि यदि तुझमे काल दोष के कारण चारित्र धारण करने की शक्ति प्रगट नही हुई है तो चारित्र मत धारण कर किंतु आत्म ज्ञान तो प्राप्त कर ले । आत्म ज्ञान के प्रकाश मे फिर तुझे चारित्र धारण करना दुर्भर नही रह जाएगा । इस युग मे श्रद्धा का संभालना ही कठिन कार्य है जिसने इसे सभाल लिया उसने धर्म का मार्ग प्राप्त कर लिमा । वह मोक्ष गामी बन गया और जिसने इसे नही प्राप्त कर पाया वह मुनि होकर भी अधर्मा है ससार मार्गी है । आचार्यो ने कहा है कि—

अपनी प्रज्ञा रूपी छैनी को इस सावधानी से चलाओ कि तुम्हारा चैतन्य भाव जुदा हो जावे और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा रागादिक भाव कर्म जुदा हो जावे । अपना अंश पर मे न जावें और पर का अश अपने मे न आवे, यही परम निपुणता है, जिसमे यह निपुणता आ गई वह मात्र अष्टप्रवचनमातृ का रूप जघन्य श्रुत ज्ञान होने पर भी अन्तर्मुहूर्त बाद केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जिसमे पूर्वोक्त निपुणता नही आई वह ग्यारह अग नौ पूर्व का पाठी होने पर भी केवल ज्ञान से बहुत दूर रहता है । जैन धर्म मे बहुज्ञानी के लिए उतना सम्मान नही है जितना कि आत्म ज्ञानी के लिए है । इसीलिए कुन्द-कुन्द महाराज ने कहा है कि जिसने आत्मा को जान लिया उसने सबको जान लिया और जिसने आत्मा को नही जाना उसने कुछ भी नही जाना । लेख का सार यह है—

आत्मा अनन्त आलोक का पुन्ज और अक्षय सुख का भण्डार है । वह निर्मोह है, उसमे न राग है न द्वेष वह तो आकाश की तरह निर्लेप और स्फटिक की तरह स्वच्छ है । उपाधि के सन्निधान से स्फटिक की स्वच्छता रक्त, पीत आदि रूप परिणत अवश्य हो जाती है पर उसे उसका स्वभाव नही कहा जा सकता । उसी प्रकार मोह के सन्निधान से ससारी आत्मा की वीतरागता रागद्वेष रूप परिणति अवश्य हो रही है पर वह उसका स्वभाव नही कहा जा सकता । स्वभाव का भी कभी नाश होता है ? तू अपने स्वरूप को भूल बाह्य पदार्थों को सुख-दुख का कारण मानकर व्यर्थ ही दुखी हो रहा है । जड की सेवा करते-करते अनन्त काल व्यतीत हो चुका पर आज तक वह तेरा नही हुआ और न ही तुझे उससे कुछ सुख प्राप्त हो सका । तब क्यो उसके पीछे पड रहा है सुन, समझ और अपने आपको पहचान ।

▣

कल्याण का मार्ग : अधर्म–निवृत्ति एवं धर्म में प्रवृत्ति

श्री जिनसेनाचार्य ने महापुराण के अन्तर्गत सहस्त्रनामो के द्वारा श्री आदि जिनेन्द्र का स्तवन तव करते हुए उनके चार नाम दिये है—जितक्रोध, जितामित्र, जितक्लेश और जितान्तक। ये चारों क्रम से एक दूसरे के साधक है। जो क्रोध को जीत चुकता है वही अमित्र अर्थात् शत्रुओ को जीत चुकता है वही क्लेशो को जीत सकता है और जो क्लेशो को जीत चुकता है वही अन्तक अर्थात् मृत्यु को जीत सकता है। इस तरह मृत्यु को जीतने के लिए सर्वप्रथम को जीतना आवश्यक बतलाया गया है।

क्रोध के कारण मनुष्य अपने शान्त स्वभाव को भूल जाता है। जिस प्रकार अग्नि के ससर्ग से पानी गर्म हो जाता है और अग्नि का ससर्ग दूर होने पर पुन: ठण्डा हो जाता है उसी प्रकार क्रोध कपाय का उदय होने पर जीव क्रोधी हो जाता है और क्रोध कषाय का अभाव होने पर कोध रहित। इससे प्रतीत होता है कि ठण्डा रहना पानी का स्वभाव है और गर्म होना विभाव है। स्वभाव, स्व मे स्व निमित्त से होता है और विभाव, स्व मे पर के निमित्त से होता है। शान्त रहना जीव का स्वभाव है स्वभाव मे स्थित रहने पर भी जीव को कभी कोई कष्ट नही होता परन्तु विभाव मे रहने वाले जीव को अनेक कष्ट भोगना पडते है। जीव अपने स्वभाव मे चिरकाल तक स्थित रह सकता है पर विभाव मे कारण के रहने तक ही स्थित रह सकता है कारण के अभाव मे नही।

अधिकाशत' क्रोध की उत्पत्ति अहकार से होती है। मनुष्य के अन्त करण मे चिरकाल से अहकार निवास कर रहा है। उसके अहकार मे जहा थोड़ी सी न्यूनता होने का अवसर आता है वही इसे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोध के कारण यह जीव अपने विवेक को भूल जाता है। वह यह भी भूल जाता है कि क्रोध सर्वप्रथम तो मेरा ही अहित करने वाला है दूसरे का अहित तो उसके भवितव्य पर निर्भर है। आग के अगार को उठाकर फेंकने वाला तो नियम से जलता है। क्रोध के उत्पन्न होने पर जो संक्लेश होता है उसका अनुभव क्रोधी मनुष्य को तत्काल हो जाता है और उसके निमित्त से होने वाले कर्मबन्ध का फलानुभव आगामी भवो में होता है।

यह क्रोध पाषाण रेखा, पृथ्वी वेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के भेद से चार प्रकार का होता है और क्रम से नरक, निर्यञ्च, मनुष्य और देवायु के बन्ध का कारण है। अनन्तानुवन्धी' अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन के भेद से भी चार प्रकार का होता है। अनन्तानुवन्धी क्रोध के रहते हुये इस जीव को सम्यक्त्व नही हो सकता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध के रहते हुये सकल वारित्र नही हो सकता और सज्वलन क्रोध के रहते हुये यथाख्यात चारित्र नही हो सकता।

'गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे आचार्य नेमिचन्द्र जी ने सज्वलन आदि कपायो का वासना काल क्रम से अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छह माह और संख्यात असख्यात तथा अनन्त भव तक वतलाया है। जिस व्यक्ति की क्रोधादि

१—अन्तोमुहुत्त पक्खं छम्मासो सख संख णंतभवो।
संजलणमादियाणं वासणा कालोदु णिव्वेयो॥

कषायो की वासना छह माह से अधिक चलती है उसके नियम से अनन्तानुबन्धी का उदय विद्यमान रहता है और अनन्तानुबन्धी का उदय रहने पर वह नियम से मिथ्यादृष्टि होता है। बाह्य मे भले ही वह कितना ही धर्माचरण या तपश्चरण क्यो न करता हो।

मिथ्यादृष्टि अवस्था मे वह जीव सुख और दुःख के मूल कारण को नही समझता है इसलिये मात्र बाह्य कारणो की अनुकूल प्रतिकूल परिणतियो मे राग द्वेष की कल्पना करता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य विचार करता है कि सुख दुःख का मूल कारण मेरा पूर्वोपार्जित कर्म ही है। [1]आचार्य अमित-गति ने कहा है—इस जीव ने पूर्व पर्याय मे जो स्वयं कर्म किया है उसी के फल को यह भोगता है। दूसरे के द्वारा दिया हुआ सुख दुःख यदि होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जावे, परन्तु ऐसा होता नही है।

सुख दुःख का प्रसग उपस्थित होने पर ज्ञानी जीव उसके मूल कारण को अपने आप मे खोजता है। गर्भवती सीता को रामचन्द्रजी ने कृतान्तवक्र सेनापति के द्वारा भयकर अटवी मे छुडवा दिया और उसका कारण लोकापवाद के अनुसार शील का दोष प्रसारित किया। इस दुःखदायक प्रसग मे भी सीता के हृदय मे रामचन्द्रजी के प्रति कोई दुर्भाव उत्पन्न नही हुआ। वे यही विचार करती है कि मैंने पूर्व भव मे किसी निरपराध स्त्री को मिथ्या अपवाद लगाया होगा, उसी का फल मुझे अब भोगना पडा है। इस समय मेरे अयशस्कीर्ति नाम कर्म का उदय चल रहा है इसलिये अपशय के निमित्त उपस्थित हो रहे हैं। वह रामचन्द्र जी के प्रति यही सन्देश भेजती है कि जिस तरह लोकापवाद के भय से आपने मेरा परित्याग किया है उस तरह कल्याणकारी जैनधर्म का परित्याग नही कर देना।

ज्ञानी जीव की दृढ श्रद्धा होती है कि सुख दुःख का मूल कारण मेरे शुभ अशुभ कर्म का उदय ही है इसलिये यह कभी बाह्य कारणो के प्रति राग द्वेष नही करता। शुभ कार्य के उदय से दुःख के कारण भी सुख के कारण हो जाते हैं। एक बार एक शक्तिशाली शत्रु ने किसी से बदला लेने के अभिप्राय से उसे बलात् खीचकर उसके स्थान से बाहर निकाल दिया परन्तु थोडे ही समय बाद उस मकान की छत गिर पड़ी जिसमे कि वह बैठा था। शत्रु ने शत्रुता के भावसे यह काम किया था परन्तु उसके प्राण रक्षा का कारण हो गया। एक गजे सिर वाला मनुष्य ज्येष्ठ मास की धूप से बैचेन होकर शान्ति प्राप्त करने के लिए एक छायादार वृक्ष के नीचे जा पहुँचा। उसे वहाँ पहुँचते देर नही हुई कि वृक्ष से एक बडा फल टूटकर उसके सिर पर ऐसा पडा कि सिर फट गया। असाता के उदय से बचने के लिए उसने बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ तो किया, धूप का निमित्त दूर करने की चेष्टा तो की परन्तु धूप के बदले सिर फूटने की परिस्थिति आ गई।

संभवत. उज्जैन की घटना है कि एक बार एक साधु को प्रवचन के लिये मंच पर बुलाया गया उस मच पर व्याघ्र का चर्म बिछा हुआ था। मंच पर बैठते ही उसने व्याख्यान शुरू किया कि मुझे हिन्दू धर्म की एक बात समझ मे नही आती। जो व्याघ्र इतना कृतघ्न होता है कि भोजन देने वाले व्यक्ति को भी मार कर खा जावे उस व्याघ्र के चर्म को इतना पवित्र माना गया है कि साधु सतो के बैठने के लिये उसका उपयोग किया जाने लगा

१—स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फल तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

और कुत्ता जो इतना कृतज्ञ होता है कि एक टुकडा मिलने पर वह देने वाले का हो जाता है। संस्कृत साहित्य मे कुत्ते के अनेक नामों मे कृतज्ञ भी नाम है। उस कुत्ते को इतना अपवित्र माना गया कि लोग उसे छूना भी नही चाहते। परन्तु व्याघ्र मे एक ऐसा गुण है कि जिसने उसके सब दोषों को दबा दिया है और कुत्ते में एक ऐसा दुर्गुण है कि उससे उसके कृतज्ञता आदि गुण अन्तर्हित हो गये है।

व्याघ्र का गुण यह है कि कोइ उसे बन्दूक से मारता है तो वह बन्दूक को न चबाकर मारने वाले के ऊपर झपटता है और कुत्ते को कोई लाठी मारता है तो वह मारने वाले से न जूझकर लाठी को चबाता है। व्याघ्र को अपने सच्चे शत्रु की परख है परन्तु कुत्ते को नही है। बन्दूक या लाठी स्वय मे अपराधी नही हैं वे स्वतः न चलकर दूसरे के द्वारा चलाये जाने पर ही चलते हैं। व्याघ्र और कुत्ते का तो दृष्टान्त है। यथार्थ बात यह है कि जो अपने सुख दुःख के मूल कारण को समझकर उसे प्राप्त करने या दूर करने का पुरुषार्थ करता है वह तो ज्ञानी जीव है परन्तु जो मूल कारण को न समझ कर मात्र बाह्य कारणो मे उलझ कर रह जाता है वह अज्ञानी जीव है।

राग द्वेप के कारण ही वह जीव नवीन कर्मबन्ध करता है और प्राप्त सामग्री मे हर्ष विषाद कर सुखी दुखी होता है इसलिये इन राग द्वेष रूपी विकारी भावों को दूर करने की दिशा मे पुरुषार्थ किया जाना चाहिये और पुरुषार्थ तभी सफल हो सकता। है कि जब बाह्य पदार्थों को सुख दु:ख का कारण न समझा जावे। आगम मे, सब अनर्थों की जड मिथ्यात्व ही है, ऐसा कहा गया है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव ऐसी विपरीत श्रद्धा करता है कि सुख मेरा स्वभाव नही है किन्तु अमुक निमित्त से प्राप्त होने वाला प्रसाद है। ऐसी श्रद्धा के कारण वह अमुक निमित्त के संयोग मे हर्ष करता है और वियोग मे दुख मानता है। यदि उसके अन्तरंग मे ऐसी समीचीन श्रद्धा हो जाये कि सुख तो मेरा अनुजीवी गुण है वह जब भी प्रगट होगा तब मुझ मे ही होगा, अन्यत्र नही। तो इसकी सग्रह विग्रह की भावना तत्काल समाप्त हो जावे। अरे सुख गया कहा है? जिसे हम दुख मानते हैं वही तो सुख गुण का विपरीत परिणमन है, उसका विपरीत परिणमन मिट जावे वही सुख है। सुख कही बाहर से आने वाला पदार्थ नही है। क्रोधादि कषायो से निवृत्ति तब तक नही हो सकती जब तक कि बाह्यय पदार्थों को सुख दुःख का कारण मानने रूप मिथ्यात्व का अभाव नही होता है।

इसलिये अन्तक अर्थात् मृत्यु से बचना है तो क्लेशों को जीतो, क्लेशों से बचना है तो बाह्य पदार्थों से मित्र-शत्रुता का भाव दूर करो, बाह्य पदार्थों से शत्रुता का भाव दूर करना है तो क्रोध को जीतो और क्रोध को जीतना है तो मिथ्यात्व को जीतो। हे प्राणी! इसी मार्ग पर चलने से तेरा कल्याण होगा, यही कल्याण का मार्ग है।

■

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा की उपयोगिता

धार्मिक उत्सवो मे पंच कल्याणक उत्सव का स्थान सर्वोपरि है। गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाच, "पच कल्याणक" नाम से प्रसिद्ध हैं। उक्त कल्याणक उस महान् आत्मा के होते हैं जो दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ के द्वारा अपने आप को अत्यन्त पवित्र बना लेता है। दर्शन विशुद्धि के काल मे अपायविचय धर्म ध्यान के द्वारा जब यह आत्मा लोक कल्याण की शुभभावना से युक्त होता है तब उस शुभ राग के फलस्वरूप उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है तीर्थंकर पद की दुर्लभता इसी से आकी जा सकती है कि समस्त अढाई द्वीप मे जहा पर्याप्तक मनुष्यो की सख्या २९ अक प्रमाण है वहा तीर्थंकरो की सख्या अधिक से अधिक १७० ही बतलाई गई है। इससे अधिक तीर्थंकर एक साथ नही हो सकते।

तीर्थंकर, तीर्थ अर्थात् धर्म के प्रवर्तक कहलाते हैं। अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश देकर ससार के प्राणियो को शाश्वत सुख का मार्ग प्रदर्शित करते है। तीर्थंकर की महिमा वचनागोचर है। वे इन्द्रशत वन्दनीय होते हैं। स्वकाल मे वे ससार के समस्त प्राणियो के द्वारा पूज्य होते हैं और निर्वाण के पश्चात् प्रतिमा रूप से भी सदा पूजित रहते हैं। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, जिनधर्म जिनागम, जिन प्रतिमा और जिन मदिर इन नौ देवो मे जिन प्रतिमा अन्तर्गत है। प्रतिष्ठा शास्त्र के अनुसार जिसका निर्माण हुआ है ऐसी वीतराग प्रतिमा ससार मे अनादि काल से पूज्य मानी जाती रही है। अकृत्रिम चैत्यालयो मे जिन प्रतिमाएँ आदिकाल से स्वप्रतिष्ठित है। भरत क्षेत्र मे भी जब भगवान् आदिनाथ का सकेत पाकर इन्द्र कर्मभूमि की रचना करता है तब सर्वप्रथम जिन मदिर की ही रचना करता है। और उसमे अर्हन्त भगवान् की प्रतिमा विराजमान करता है। भावशुद्धि के लिए गृहस्थ को प्रतिमा पूजन की अत्यन्त आवश्यकता है। जो गृहस्थ वीतराग मुद्रा के दर्शन कर अपने वीतराग स्वभाव की ओर दृष्टिपात करता है उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इसीलिये पूज्य-पाद स्वामी ने जिनविम्ब दर्शन को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का बाह्य साधन बतलाया है। गृहस्थ का उपयोग विषयकषाय के साधनो मे निरन्तर सलग्न रहता है इसलिये उस ओर से निवृत्त कर आत्म स्वरूप की ओर उसका उपयोग ले जाने के लिये प्रतिमा पूजन अपना खास स्थान रखती है। प्रतिमा तीर्थंकर की बनाई जाती है और चूकि तीर्थंकर गर्भादि पच कल्याणको से सहित होते है इसलिये स्थापना निक्षेप से उनकी प्रतिमा मे भी पच कल्याणक की स्थापना की जाती है। पच कल्याणक प्रतिष्ठा के द्वारा ही प्रतिमा मे पूज्यता आती है। प्रतिष्ठा के बिना प्रतिमा पूज्य नही मानी जाती। विधि पूर्वक प्रतिष्ठा होने से प्रतिमा मे अनेक अतिशय अवतीर्ण होते हैं जिससे प्रतिष्ठा कराने वाले सज्जन तथा दर्शक और पूजक महानुभाव-सभी सुख समृद्धि को प्राप्त होते हैं। तीर्थ-करो के सिवाय अन्यमुनि, जो निश्चित रूप से मोक्षगामी हुए है तथा जिनके जीवन मे विशिष्ट घटनाए घटी हैं उनकी प्रतिमाएं भी निर्मित होती आई है जैसे सजयन्त केवली तथा बाहुबली स्वामी आदि की। इन प्रतिमाओ के ज्ञान और निर्वाण दो ही कल्याणक होते है। प्रतिष्ठा के समय विधिनायक तथा अन्य आगत तीर्थंकर प्रतिमाओ के पच कल्याणक होते है पर बाहुबली आदि सामान्य अर्हन्तो की प्रतिमा के दो ही कल्याणक होते हैं।

अकृत्रिम चैत्यालयो मे सामान्य अर्हन्तो को प्रतिमाए रहती है। श्रवण वेलगोला मे स्थित वाहुवली स्वामी की विशाल प्रतिमा को देखकर उत्तर भारत में भी जहाँ तहाँ उनकी प्रतिमाए स्थापित की जाने लगी है। इसी प्रसंग से सिवनी के दर्शनीय मन्दिर में भी वाहुवली स्वामी की उतुग प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई है। इस प्रतिष्ठा के अवसर पर भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद का अधिवेशन आयोजित होने से सिवनी जाने का शुभ प्रसंग प्राप्त हुआ था। उत्सव की समस्त व्यवस्था सिवनी की जैन समाज ने जिस लगन और उत्साह के साथ सम्पन्न की थी वह दर्शनीय थी।

पच कल्याणक पूजा को इन्द्रध्वज पूजा कहते हैं। इसमे पूजक अपने आप मे इन्द्र की कल्पना कर भक्ति विभोर होता हुआ पूजा करता है। यदि विशुद्धभावों से यह पूजा की जाती है तो सातिशय पुण्य वन्ध का कारण होती है। आजकल एक ओर से यह आवाज उठाई जाती है कि पच कल्याणक प्रतिष्ठा अनावश्यक है खर्चीली है तथा समय के अनुरूप नही है इसलिए वन्द होनी चाहिये पर जब मैं वह देखता हूँ कि गृहस्थ लोग राग-रगो के कार्यो मे पैसा पानी की तरह वहाते है। देश-विदेश के भ्रमण मे तथा घर की साज सज्जा मे पैसा खर्च करते हुए जब उन्हें कोई रोकने का साहस नही करता तब इस धार्मिक कार्य के रोकने मे ही रोकने वालो को कौन सा लाभ दिख रहा है ? धार्मिक कार्यो मे गृहस्थ का जो पैसा खर्च होता है वह सार्थक ही है, निरर्थक नही है। इतना अवश्य है कि आयोजन ख्याति लाभ की दूषित इच्छा से नही होना चाहिये। पच कल्याणक जैसे महान् आयोजन पैसे के वल पर किसी एक के द्वारा किये जाने पर सफल नही हो सकते। इसके लिये सह-धर्मी तथा अन्य भद्र परिणामी सहयोगियो की आवश्यकता रहती है इसलिये सबका सहयोग प्राप्त कर ही ऐसे महान् आयोजन किये जाने चाहिये इन आयोजनो के समय आगत जनता के लिए कुछ यथार्थ लाभ पहुँचे इस वात का ध्यान भी रखना चहिये। ऐसे अवसरो पर जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त जनता को सरलता से समझाये जा सकते है। हमारे आयोजनों का वहुत सा समय आगत जनता से पैसा सचय करने मे ही निकल जाता है यदि उस ओर से दृष्टि हटाकर हम लोग उस समय का उपयोग जैन सिद्धान्त के गूढ तत्वो के समझाने मे कर सकें तो उससे आगत जनता को ठोस लाभ हो सकता है। यदि उत्सव मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियो मे कुछ लोग ही अपने मिथ्या श्रद्धान को छोडकर सम्यक्श्रद्धान को प्राप्त कर लेते है तो सब से वड़ा लाभ कहा जा सकता है।

▣

चारित्र निर्माण में स्कूलों का योगदान

महामहिम राष्ट्रपति महोदय की ओर से प्रदत्त राष्ट्रीय पुरस्कार की उपलब्धि के गौरवमय प्रसग के समय विद्वत्समूह के समक्ष 'चारित्र निर्माण मे स्कूलो का योगदान' इस पूर्व निर्णीत विषय पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर मिला है इसका हर्ष है।

चारित्र मानव जीवन का सर्वोपरि आभूषण है। वास्तव मे पशुओ से मानव जीवन को पृथक् करने वाला चारित्र ही है। जिस मानव मे इस चारित्रगुण का पूर्ण विकास हो जाता है वह मानव होकर भी अमरत्व को प्राप्त होता है और देव के रूप मे हमारे द्वारा पूज्य हो जाता है। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, रामकृष्ण आदि मानव चारित्र के बल पर ही देवत्व को प्राप्त हुये हैं।

सुकुमारमति बालक स्कूलो मे प्रवेश पाते है। उनके माता-पिता आदि अभिभावक अपने प्यारे नन्हे-मुन्हें बालको को स्कूलो मे इसी उद्देश्य से भेजते हैं कि वहाँ उनके ज्ञान तथा चारित्र आदि सद्गुणो का विकास होगा। आज के स्कूल पूर्वकाल के गुरुकुलो तथा चटशालाओ के विकसित एव परिवर्धित रूप है। जिस प्रकार गुरुकुलो और चटशालाओ मे बालक के ज्ञान तथा चारित्र आदि आत्मगुणो के विकास पर ध्यान रखा जाता था उसी प्रकार आज के स्कूलो मे भी उनके उक्त गुणो के विकास पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

मात्र ज्ञान से मनुष्य का जीवन निर्मित नही होता। जीवन निर्माण के लिये चारित्र बल की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है। स्कूलो मे ज्ञान के साथ इस ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। हमारे देश मे अनेक धर्म प्रचलित है इसलिए सार्वजनिक स्कूलो मे किसी एक धर्म की शिक्षा देना पारस्परिक मनोमालिन्य का कारण हो सकता है। इस भावना से हमारे शिक्षा विभाग मे धार्मिक शिक्षा के लिये स्थान नही दिया जाता है। धर्म की शिक्षा न मिलने के कारण बालको के हृदय मे बचपन से जो चारित्र के बीज बोये जाने चाहिये वे नही बोये जा सकते। इसी का यह फल है कि बालको का जीवन चरित्रहीन होता जाता है। इस समय हमारे देश मे हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई ये पाँच धर्म जीवन्त रूप मे विद्यमान है। इन सभी धर्मो की अच्छी-अच्छी बातो को लेकर तथा इनके प्रवर्तक महापुरुषो की जीवन घटनाओ को अगीकृत कर एक ऐसा पठनक्रम तैयार किया जा सकता है। मनोमालिन्य वहा उत्पन्न होता है जहाँ लेखक अपने दायित्व से च्युत होकर पक्षपात के कारण अच्छाई के बदले बुराई को ग्रहण करने लगता है। समीचीन अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक धर्म मे ऐसी अच्छी बातें है जिन्हे पठनक्रम मे रखा जा सकता है। हमारे शिक्षा विभाग को इस दिशा मे अग्रसर होकर एक ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना चाहिये जो स्कूलो से लेकर कॉलेजो तक मे पढाया जा सके।

हमारा धार्मिक साहित्य सस्कृत भाषा मे निबद्ध है। सस्कृत भाषा मे ऐसी विशेषता स्वय सिद्ध होती है कि उसके पढने मात्र से मनुष्य के चारित्र बल मे वृद्धि होती है। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि ग्रन्थो मे ऐसे सैकड़ो सदर्भ आते है जो मनुष्य के चरित्रबल के बढाने मे परम सहायक हो सकते है। हमारे शिक्षा विभाग का लक्ष्य सस्कृत भाषा के विकास पर भी जावे तो उसके चरित्र निर्माण मे अच्छा सहयोग मिल सकता है। आज

तीन भाषाओं के फार्मूला ने संस्कृत भाषा के प्रचार पर कुठाराघात का काम किया है। पहले जिन प्रान्तों में मैट्रिक मे सस्कृत को अनिवार्य कर दिया गया था अब उक्त फार्मूला के आधार पर उन प्रान्तो मे सस्कृत की अनिवार्यता समाप्त कर दी गई है। यह संस्कृत के हित मे अच्छा नही हुआ है। संस्कृत की ओर से विद्यार्थी का मानस धीरे-धीरे पीछे हटता जाता है। सस्कृत की पाठशालाए भी एक-एक कर समाप्त होती जा रही है। यदि हमारा शिक्षा विभाग अपने स्कूलो मे संस्कृत भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दे और अध्यापक के लिये सस्कृत पाठशालाओ मे निर्मित शास्त्री और आचार्य परीक्षा पास विद्वानो को नियुक्त करे तो समस्या का बहुत कुछ समाधान मिल सकता है। ऐसा करने से संस्कृत का वास्तविक ज्ञान भी छात्रो को प्राप्त हो सकता है।

आज सब ओर से आवाज़ आ रही है कि छात्रो मे अनुशासन की कमी होती जाती है। सस्कृत मे एक उक्ति है 'विद्या ददाति विनय' विद्या विनय को देती है। पर आजकल इससे विपरीत बात देखी जा रही है। विद्या से छात्र का अहकार बढ़ रहा है। इसका मूल कारण जहाँ चरित्र सम्बन्धी शिक्षण का अभाव है वहाँ शिक्षायतनो मे राजनीति का प्रसार भी एक प्रमुख कारण है। आज की राजनीति केवल राजनीति नही रह गई है किन्तु अनेक दावपेचो का गढ बन गई है। जिस प्रकार राजनीति मे निर्वाचन की पद्धति है और निर्वाचन की सफलता के लिये जोड-तोड़ करना पड़ती है उसी प्रकार सुकुमार बुद्धि छात्रो के बीच भी निर्वाचन पद्धति प्रचलित की गई है तथा निर्वाचन की सफलता के लिए उन्हे भी जोड़-तोड करना पडती है और उस जोड़-तोड मे अपने अध्ययन का बहुमूल्य समय उन्हे व्यतीत करना पडता है। जिस प्रकार देश के राजनीतिक दलो मे उखाड पछाड चला करती है उसी प्रकार की उखाड-पछाड हमारे छात्र वर्ग मे भी चलने लगी है। कोई-कोई राजनीति के खिलाड़ी अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये इन अपरिपक्व बुद्धि वाले छात्र दलो को विपरीत दिशा मे उकसा देते है। जिससे हमारी तरुण शक्ति निर्माण के बदले विनाश के मार्ग मे अग्रसर हो जाती है। यदि हमारा शिक्षालय छात्र जीवन को आज की संघर्षमय राजनीति से अछूता रख सके तो यह उसके हित मे एक बडा कार्य होगा।

स्कूलों मे प्रार्थना के उपरान्त कम से कम दस मिनिट का समय अधिपाठक या पाठक को सुनिश्चित रखा जावे और उसका उपयोग वे छात्रो के चरित्र निर्माण सम्बन्धी वक्तृत्व में करे। इसी तरह शनिवार का जो आधा समय अवकाश मे व्यतीत किया जाता है उसका उपयोग छात्रो द्वारा चरित्र निर्माण सम्बन्धी भाषणो मे किया जाना चाहिये। आगामी सप्ताह के भाषण का विषय पूर्व सप्ताह मे घोषित हो जाना तथा कक्षाध्यापक की सम्मति के अनुसार उनकी कक्षा से एक या दो छात्र भाषण कर्ता के रूप में निश्चित किये जाना चाहिये। ये छात्र सप्ताह के अन्दर अपने विषय को तैयार कर लिपिबद्ध करें और सभा में वक्तृत्व दे। ऐसा करने से जहाँ छात्रों मे वक्तृत्व शक्ति का विकास होगा वहाँ विषय का परिज्ञान और चरित्रगुण मे वृद्धि भी होगी।

छात्रो पर प्रभाव डालने के लिये अध्यापक को भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि अपना चरित्र बल उन्नत रखे। छात्रो के आगे या पीछे भी उन्हे कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिये जिसका दूषित प्रभाव छात्रवर्ग पर पडे। जो अध्यापक स्वय धूम्रपान करता है वह छात्रवर्ग को उससे मुक्त नही कर सकता। पहले शिक्षा विभाग की ओर से शिक्षक और शिक्षिकाओ के चरित्र पर पूर्ण दृष्टि रखी जाती थी पर अब उसमे ढिलाई आने के कारण हम देखते हैं कि चरित्र भ्रष्ट शिक्षक और शिक्षिकाये भी छात्रों के बीच पूर्व की तरह काम करते रहते है। इसका परिणाम छात्रवर्ग के मानस पर अच्छा नही पडता।

❦

जीवन का लक्ष्य : शाश्वत सुख

यह जीव चतुर्गतिरूप ससार मे कब से परिभ्रमण कर रहा है ? यह केवलज्ञान का भी विषय नही है, क्योकि केवल ज्ञान अनादि को अनादि और अनन्त को अतन्तरूप ही जानता है। यदि अनादि को सादि और अनन्त को सान्त जानने लगे तो वह मिथ्याज्ञान हो जावे। तात्पर्य यह है कि संसारी जीव इस चक्र मे अनादिकाल से फसा हुआ हैं।

कुन्दकुन्दस्वामी ने पञ्चास्तिकाय प्राभृत मे इस ससारचक्र का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। वे लिखते हैं —

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मा कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।
गदिमधिगदस्य देहो देहादो इंदियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।।
जायदि जीवस्सेव भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ।।

अर्थात् जो ससारी जीव है उसके रागादि परिणाम होते है, रागादि परिणामो से कर्म आते हैं, कर्मो से उसका एक गति से दूसरी गति मे गमन होता है। गति को प्राप्त हुए जीव को शरीर प्राप्त होता है शरीर से इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण होता है और विषयो से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जीव का यह परिणमन ससाररूपी चक्र मे अनादिकाल से चला आ रहा है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान ने कहा है, परन्तु अनादि होने पर भी जीव का यह परिणमन अनादि अनिधन और अनादि सनिधन अर्थात् अनादि अनन्त और अनादि सात होता है। अभव्य तथा दूरानुदूर भव्य का यह परिणमन अनादिअनन्त है और भव्य जीव का अनादि होने पर भी सान्त है। छह माह आठ समय मे छह सौ आठ जीव नियम से इस संसार चक्र से निकल कर परम धाम को प्राप्त होते हैं। आशा की एक किरण यही है कि भव्य जीव कभी न कभी इस ससार चक्र से अवश्य निकलेगा। जिस पुरुषार्थ से निकलेगा वह पुरुषार्थ इस जीव को स्वय करना पडता है। अन्य व्यक्ति की देशना, इसमे निमित्त तो हो सकती है, परन्तु कार्यरूप परिणमन उपादान ही करेगा, अन्य नही।

जीव इस ससार चक्र से निकलने का पुरुषार्थ तो करता है, परन्तु मिथ्यात्वयामिनी के सघन तिमिर मे सही मार्ग न सूझने से विपरीत दिशा मे भटक जाता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है —

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान: ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरण प्रतिपद्यते साधु: ।।

अर्थात् मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जिस भद्र परिणामी जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है वही रागद्वेष की निवृत्ति के लिये सम्यक्चारित्र को प्राप्त होता है। यहा सर्वप्रथम मोह तिमिर को नष्ट करने की बात कही गई है। अर्थात् जीव और पुद्गल के सयोग से निर्मित इस मनुष्य पर्याय मे शुद्ध आत्मा का दर्शन आवश्यक बतलाया गया है। जब तक यह जीव विविधरंगवाले इस शरीर मे आत्मबुद्धि करता रहेगा– शरीर को ही आत्मा मानता रहेगा—तब तक उसे आत्मा की श्रद्धा कहा है? जिस आत्मा का वह कल्याण करना चाहता है उसकी पहिचान तो उसे है ही नही, कल्याण किसका करेगा? अत मैं शरीर मे भिन्न एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य हूँ, यह द्रव्यकर्म, नौकर्म और भावकर्म रूप पदार्थ मेरे नही है, मैं इनसे सर्वथा भिन्न हूँ ऐसी श्रद्धा होना अनिवार्य-आवश्यक है, इसके बिना कल्याण के मार्ग मे प्रवेश नही हो सकता। शरीरादिक से भिन्न आत्मा को उसके ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के द्वारा ही जाना जा सकता है। जिस प्रकार हम उष्ण स्पर्श से अग्नि का ज्ञान करते है और शीतल स्पर्श से जल का, उसी प्रकार ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जानते है। यह ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव निगोदिया से लेकर सिद्धावस्था तक समस्त पर्यायो मे पाया जाता है और जीव से भिन्न पुद्गलादि द्रव्यो मे सर्वथा नही पाया जाता। अतः अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषो से रहित होने के कारण निर्दोष लक्षण है। स्वभावदृष्टि से यह जीव वीतराग और सर्वज्ञ स्वभाव वाला है, परन्तु पर्यायदृष्टि से वर्तमान मे अज्ञान दशा और सराग परिणति को प्राप्त कर रहा है। जिसकी श्रद्धा मे वीतराग-सर्वज्ञ स्वभाव वाले आत्मा का अस्तित्व पृथक् प्रतिभाषित होने लगता है वह रागद्वेष रूप पर्याय को अपना नही मान सकता। वह उसे दूर करने के लिये शक्ति भर पुरुषार्थ करता है।

यह भेद विज्ञान ही मोक्ष का मूल कारण है। अमृतचन्द्र स्वामी ने कलश काव्य मे कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात् आज तक जितने जीव सिद्ध हो सके है वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुये हैं और जितने संसार मे बद्ध है वे इसी भेद विज्ञान के अभाव से बद्ध है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयप्राभृत के मोक्षाधिकार मे आत्मा और बन्ध के पृथक् होने के साधन बतलाते हुये कहा है—

जीवो बधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहि णियएहि।
पण्णाछेदणएण दु विछण्णा णाणत्तमावण्णा॥२९४॥

जीवो बधो य तहा छिज्जति सलक्खणेहि णियएहि।
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पणणाए विभक्तो तह पण्णाए व घित्तव्वो॥२९६॥

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥२९७॥

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२९८।।
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ।।२९९।।

सदर्भगत गाथाओ का भाव यह है कि जीव और उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए कर्म-नोकर्म भिन्न भिन्न पदार्थ है । इन्हे अपने अपने लक्षणो से जानकर जीव को ग्रहण करना चाहिये और कर्म-नोकर्म आदि को छोडना चाहिये । प्रज्ञा-भेदज्ञान रूपी छैनी के द्वारा ही ये दोनो पृथक्-पृथक् किये जा सकते है, इसलिये इस संयोगी पर्याय मे आत्मद्रव्य का विभाजन करने के लिये प्रज्ञारूपी छैनी का निरन्तर प्रयोग करते रहना चाहिये ।

मोक्षमार्ग का प्रथम चरण इसी भेद विज्ञान से शुरू होता है । इसकी उपेक्षा करने वाले मोक्षमार्ग मे एक कदम भी नही चल सकते । यद्यपि आत्मा और कर्म नोकर्म आदि पर पदार्थो का पृथक्करण मुक्त अवस्था में ही होता है, उसके पूर्व नही, क्योकि परमार्थ से यह जीव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही ससारी है। फिर भी श्रद्धा की दृष्टि से इनका विभाजन चतुर्थगुणस्थान मे ही हो जाता है । इस गुणस्थान मे दोनो को पृथक्-पृथक् समझ उन्हे पृथक् करने का प्रयत्न पञ्चम गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है । यह प्रयत्न चारित्र कहलाता है । जिस प्रकार बन्धन मे बद्ध जीव अपने बन्धन और उससे छूटने के उपाय को जानता हुआ भी तब तक बन्धन से नही छूट सकता जब तक बन्धन को काटने का प्रयत्न नही करता । बन्धन को काटने का प्रयत्न है छैनी हथौडा लेकर उसे काटने का पुरुषार्थ करना । प्रकृत मे आत्मा कर्म-नोकर्म के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् जानता हुआ भी तब तक उनसे पृथक् नही होता जब तक चारित्ररूपी पुरुषार्थ नही करता । आगम मे चतुर्थगुणस्थान का उत्कृष्ट काल एक समय कम तेतीस सागर और अन्तर्मुहुर्त कम एक कोटि वर्ष-प्रमाण बताया गया है अर्थात् इतने लम्बे समय तक आत्मा और कर्म-नोकर्म को पृथक् पृथक् जानता हुआ भी जीव चतुर्थ गुणस्थान मे रहा आता है परन्तु जीवन के अन्तिम मुहुर्त मे जब चारित्र धारण करता है तब उस एक मुहूर्त के भीतर ही समस्त कर्मो का क्षय कर मुक्त हो जाता है । अचिन्त्य महिमा है सम्यक् चारित्र की ।

यह सम्यक्चारित्र एक देश की अपेक्षा मनुष्य और तिर्यञ्च गति मे होता है परन्तु सर्वदेश की अपेक्षा मात्र मनुष्य गति मे ही हो सकता है । देव और भोगभूमिज मनुष्यो मे यद्यपि पञ्च पाप रूप प्रवृत्ति नही होती तथापि उनके हृदय मे व्रत धारण करने का भाव न होने से वे असयमी ही कहलाते हैं । सोलहवें स्वर्ग के आगे के देव स्त्री का मुख भी नही देखते तो भी वे ब्रह्मचारी नही कहलाते । उसका कारण यही है कि उन्होने अभिप्राय पूर्वक स्त्री का परित्याग नही किया ।

समन्तभद्र स्वामी ने हिंसादि पाच पापो के परित्याग को ही चारित्र कहा है और सकल-विकल के भेद से उसके दो भेद बतलाए हैं । पाच पापो का एकदेश त्याग होने से विकल चारित्र होता है। उसके पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के भेद से १२ भेद बतलाये हैं इनमे पाच अणुव्रत और सात शील कहलाते हैं । जिस प्रकार वाड़ी (वाड) से खेत की रक्षा होती है, उसी प्रकार सात शीलो से अणुव्रतो की रक्षा होती है। सकल-चारित्र मुनियो के होता है, उसमे पाच महाव्रतो, पाच समितियो और तीन गुप्तियो की प्रधानता है । अत वह तेरह तेरह प्रकार का होता है । पाच समितियाँ और तीन गुप्तिया अहिंसादि पाच महाव्रतो की सरक्षिका है इनके बिना महाव्रतो का सरक्षण असभव है ।

जिस प्रकार नदी, तीर्थ-घाट से ही पार की जाती है उसी प्रकार संसाररूपी सागर भी तीर्थ-घाट से ही पार किया जाता है, तीर्थ के बिना नही। वह घाट रत्नत्रय से सहित मनुष्य पर्याय ही है। जब भी मोक्ष प्राप्त होगा तब कर्म भूमि की मनुष्य पर्याय से ही होगा, देव आदि पर्याय से नही। तात्पर्य यह है कि घाट पर आकर यदि कोई नदी मे उतरने का भाव नही करता है तो यह घाट का अपराध न होकर उस व्यक्ति का ही अपराध समझा जाता है, इसी प्रकार मनुष्य पर्याय प्राप्त करके भी कोई जीव विषयासक्ति से निर्वृत्त नही होता है तो यह अपराध उस व्यक्ति का ही है। चारित्र या संयम कर्मभूमिज मनुष्य पर्याय को छोड़कर अन्यत्र प्राप्त नही होता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चारो गतियो मे सम्भव है और चारो गतियो की आगामी आयु का बन्ध होने पर भी हो जाता है, परन्तु सम्यक्चारित्र की प्राप्ति की बात निराली ही है। वह पूर्णता की अपेक्षा कर्मभूमिज मनुष्य को ही होता है अथवा आगामी पर्याय के लिये मात्र देवायु का बन्ध होने पर ही होता है, अन्य आयु का बन्ध होने पर न अणुव्रत धारण किये जा सकते है और न महाव्रत। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यक्चारित्र प्राप्त कर लेना ही मनुष्य पर्याय का सर्वप्रमुख कार्य है और उसे प्राप्त नही किया तो समझना चाहिये हमने मनुष्य पर्याय का काम नही किया।

हम भोगोपभोग की सामग्री अनादिकाल से एकत्रित करते चले आ रहे है, परन्तु उसमे पूर्णता नही ला सके और न उससे वास्तविक सुख ही प्राप्त कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि भोगोपभोग की सामग्री मे सुख नही किन्तु उसकी इच्छा के न होने मे सुख है। भोगोपभोग की पूर्णता तो वे शान्ति, कुन्थु और अरहनाथ भी नही कर सके जो तीर्थंकर होने के साथ चक्रवर्ती भी थे। उन नौ निधियों के स्वामी भी थे जिनसे इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति होती रहती है। यही कारण रहा है कि वे इन निधियो का परित्यागकर नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारक हुए और तपश्चरण कर वास्तविक सुख को प्राप्त हुए।

आचार्य बार बार प्रेरणा करते हैं— देशना है, कि :—

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान् धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकता-समूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥

हे भगवन्! जो आपके नही है—आपकी श्रद्धा से बहिर्भूत है वे सुख प्राप्त करने के लिये दु:खो का, गुण प्राप्त करने के लिये पापो का आचरण करते हैं। उनकी यह चेष्टा उन बालको के समान है जो तेल प्राप्त करने के लिये बालू के समूह को पेलते है।

लोक मे प्रसिद्ध है कि जिस व्यक्ति को सर्पदंश का विष चढ़ा हुआ है उसे नीम कडवी नही लगती। इसी प्रकार जिसे मिथ्यात्वरूपी सर्पदंश का विष चढा हुआ है उसे संसार परिभ्रमण के कारण रागादि भाव-कडुवे नही लगते दुखःदायक प्रतीत नही होते। इसलिये वह उन्हें संगृहीत करने मे संलग्न रहता है। जब आत्मा मे श्रद्धा की यह किरण प्रकट होती है कि सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है, जब भी प्रकट होगा तब आत्मा मे ही प्रकट होगा, जड पदार्थों मे नही। जिस प्रकार श्वान, मुख से निकलने वाले रक्त के स्वाद को हड्डी का स्वाद समझता है और उसे छोडना नही चाहता, इसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भोगोपभोग की आंशिक इच्छा निवृत्ति को सुख का कारण न मान भोगोपभोग को ही सुख का कारण मानता है और फलस्वरूप उन्ही की प्राप्ति मे निरन्तर संलग्न रहता है।

यह रहस्य, मोह-तिमिर-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के दूर होने पर ही प्रकट होता है, उसके पहले नही। कषाय की मन्दता मे मिथ्यादृष्टि मनुष्य यदि महाव्रत धारण करता है तो अन्तरग मे भोगोपभोग की लालसा से ही करता है, कर्मक्षय की भावना से नही। कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्त णदु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥

यह अभव्य-मिथ्यादृष्टि जीव, भोग के लिये ही धर्म की श्रद्धा करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का बार-बार स्पर्श करता है, परन्तु सब भोग के निमित्त नही। कुन्दकुन्द स्वामी ने इस परिणतिवाले जीव को अभव्य कहा है। उनकी इन देशना को सुनकर हम लोगो को विचार करना चाहिये कही ऐसी परिणति मेरी तो नही हो रही है। विषयाशक्ति का मार्ग तो हमने अनादिकाल से अगीकृत किया है पर उससे तृप्ति नही हुई—गन्तव्य स्थान की प्राप्ति नही हुई। कविवर दौलतरामजी की निम्नाकित पक्तियो का प्रशान्त चित्त से विचार कीजिये।

यह राग आग दहै सदा तातैं समाभृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो त्याग निज पद वेइये ॥
कहा रच्यो पर पद में न तेरो पद यहै क्यो दुख सहे।
अब "दौल" होहु सुखी स्वपद रच दाव मत चूको यहै ॥

यह राग रूपी आग सदा से जला रही है—दाह उत्पन्न कर रही है, इसलिये समता रूपी अमृत का पान कर। तू पर पद मे क्यो अनुरक्त हो रहा है? तेरा पद तौ यह है, व्यर्थ ही क्यो दुख उठा रहा है। अब स्वाद मे रचकर सुखी हो जा, यह अवसर मत छोड।

जीव का पद और अपद क्या है? इसका उत्तर अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश मे इस प्रकार दिया है —

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः सुप्ता यस्मिन्नपदमपद तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिद यत्र चैतन्यधातुः शुद्ध शुद्ध. स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

अर्थात् अनादि ससार से ये प्राणी पद-पद पर रागी हो निरन्तर मत्त होते हुए जिसमे सो रहे हैं, वह उनका पद नही है—विश्राम का स्थल नही है। अरे अन्धे प्राणियो! जागो, यहाँ आओ-आओ, यह-यह है तुम्हारा पद, जिसमे अतिशय शुद्धता को प्राप्त हुआ चैतन्य धातु—परम ज्ञायक भाव आत्म रस से पूर्ण हो स्थायिभाव को प्राप्त हो रहा है। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष के स्थल तेरे विश्राम के स्थल नही है, विश्राम का स्थल तो एक ही है—शुद्धज्ञायक भाव। उसी मे तू विश्राम कर।

यह जीव सुखी कैसे हो सकता है? इसका उत्तर कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार मे दिया है।

"पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छसि दुक्ख परिमोक्ख।

यदि तू दुःख से सर्वथा छुटकारा चाहता है तो श्रामण्य पद-दिगम्बर मुनि मुद्रा को धारण कर। क्योंकि —

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ।।

शाश्वत सुख को वही प्राप्त करता है जो मोह की गाठ को नष्ट कर राग द्वेष को छोड़ता है तथा मुनिपद धारण कर सुख दुःख मे समताभाव रखता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धात्म-स्वरूप का सवेदन करने वाला प्राणी विषयजन्य सुख को हेय समझता है। उसकी दृष्टि मे इन्द्रियजन्य सुख पराधीन है, बाधा सहित है, बीच-बीच मे उसकी सन्तति टूटती रहती है। जिसकी दृष्टि मे अक्षय-अनन्त सुख का सागर लहरा रहा है वह गोष्पद मे संतुष्ट कैसे हो सकता है? ज्ञानी और अज्ञानी जीव की सुखानुभूति मे बडा अन्तर है। ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि नारकीय निरन्तर घात-प्रतिघात के बीच रहता हुआ भी जिस आत्मसुख का वेदन कर लेता है वह अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि देव को सुलभ नही है। इसी अभिप्राय से कविवर दौलतरामजी ने कहा है .—

"समकित सहित नरक पद वासा खासा बुधजन गीता"

अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ नरकपद भी अच्छा है, उसके विना देवपद अच्छा नही है। सम्यग्दर्शन का निःकांक्षित अंग भी यही बतलाता है कि संसार का सुख कर्माधीन है, अन्त सहित है, दुखो से मिला हुआ है और पापो का मूल कारण है अतः इसमे उपेक्षा बुद्धि होनी चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जीव शाश्वत सुख को ही अपना लक्ष्य विन्दु मानता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही सतत प्रयत्नशील रहता है।

पूज्य वर्णीजी—कुछ संस्मरण

पूज्यवर श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज जहा शास्त्रीय प्रतिभा के अप्रतिम धनी थे, वहा लोक-व्यवहार -सम्बधी प्रतिभा के भी अटूट भण्डार थे। अपनी उस प्रतिभा के कारण वे सर्वत्र अपना स्थान बना लेते थे और समाज की स्थिति को निरापद बना देते थे। बुन्देलखण्ड मे द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्र है। वहा जैनों के अत्यन्त अल्प घर है धीरे धीरे क्षेत्र का विकास होने लगा। एक धर्मशाला बन गई तथा पाठशाला की स्थापना भी हो गई। क्षेत्र के इस विकास से वहाँ की अन्य जनता को कुछ ईर्ष्या हुई। मन मुटाव बढ़ने लगा। गांव के प्रधान [दीवान] की सह पाकर लोग पाठशाला के लडको अथवा क्षेत्र के कर्मचारियो को तंग करने लगे। संभवत: यह सन् १९३४ की बात है। पूज्य वर्णी जी को यह समाचार जब सुनाया गया तब वे चुप हो रहे और कुछ दिन बाद यह कहकर द्रोणागिर चले गये कि यहा का स्थान हमे बहुत प्रिय है इसलिए एक माह यही रहकर स्वाध्याय करेंगे। ग्रीष्मा-वकाश हो गया। मेरी भी इच्छा हुई कि पूज्य वर्णी जी के पास रहूं। मैं अकेला चला गया। वहा देहात मे शाक का प्रबन्ध नही था, इसलिये स्व० सुन्दरलाल जी मलैया ने वर्णी जी के लिये २-४ दिन के लिये शाक लेकर हमारे साथ रख दी। पहुंचने पर उन्होने उसमें से आधी से भी अधिक शाक दीवान के घर भिजवा दी। मैंने कहा— महाराज यहा देहात मे आपको शाक मिलता नही इसलिये मैं सागर से लाया था। पर आपने तो सब दूसरे के यहा भिजवा दी। बोले कि भैया! यह इतनी सारी शाक खराब न हो जायगी? इसे आपस में बाटकर खाना ही श्रेयस्कर है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होंने एक माह द्रोणागिरि रह कर तथा परस्पर का संपर्क बढाकर वहा का वातावरण ऐसा निर्मल कर दिया कि पराये अपने हो गये। आज क्षेत्र की अच्छी दशा है तथा लोगो के संबध भी मधुर है। कौन व्यक्ति किस प्रकृति का है? उसे किस तरह अपना बनाया जा सकता है, यह प्रतिभा पूज्य वर्णी जी मे पूर्ण रूप से विद्यमान थी। आज जब हम इधर-उधर के समाचार सुनते है कि यहा जैनी अथवा अन्य लोगो मे विरोध चल रहा है, तब वर्णी जी की उस नीति और प्रतिभा का बार-बार स्मरण हो आता है जिससे वे बिना कुछ कहे मात्र अपने सद् व्यवहार से सब विरोध शान्त कर देते थे।

तारण समाज मूर्ति पूजा का विरोधी है पर समाज तथा धर्म स्थानो मे दोनो समाजो का परस्पर आना-जाना जारी है। एक बार तारण समाज के कुछ धर्माधिकारियो ने मूर्ति-पूजा विरोधी आन्दोलन को वृहत् रूप दे दिया। इधर उधर सभाए होने लगी, ट्रैक्ट निकलने लगे और समचारपत्रो के कालम रगे जाने लगे। आपस का वातावरण मलिन हो गया। यद्यपि इस आन्दोलन के प्रवर्तक एक धर्माधिकारी अपना चोगा उतार कर अलग हो चुके थे, फिर भी वातावरण शान्त नही हुआ। अन्य लोग तारण समाज के चैत्यालय मे जिस सद्भाव से जाते थे, वह बन्द हो गया। एक बार चैत्यालय मे पूज्य वर्णी जी का प्रवचन रखा गया। इधर के लोगो ने पूज्य वर्णी जी से कहा कि महाराज जी, ये लोग मूर्ति-पूजा का इतना विरोध करते हैं इसलिये इनके यहा नही जाना चाहिये। हम लोगो ने तो आना-जाना बन्द ही कर दिया है। वर्णी जी ने लोगो से कह दिया कि भैया हम भी नहीं जायेंगे। पर उनकी आत्मा इस तनाव पूर्ण वातावरण को समाप्त करना चाहती थी इसलिए जब प्रवचन का समय हुआ तो

वे वहा पहुच गये। उन्हें जाते देख हम दो चार लोग भी साथ हो गये। उनके उस दिन के प्रवचन से परस्पर का तनाव फिर शान्त हो गया और लोग आपस मे उसी सौमनस्य भाव से रहने लगे, जैसे पहले रहते थे। उन्होने कहा कि तनाव तो कषाय की एक परिणति का फल है, इससे धर्म की प्रभावना नही होती। पूज्य वर्णी जी के सदुपदेश से आज कितने ही तारण पन्थी मूर्ति पूजक हैं और मन्दिरो मे बराबर आते हैं। मूर्तिपूजक-विरोधी होने से तारण समाज के घर आहार न लेकर हमारा साधु वर्ग जहा एक भी मूर्ति पूजक विरोधी को मूर्ति पूजक नही बना सका, वहा पूज्य वर्णी जी ने अपने सपर्क से कितने ही घरो को सुपथ पर ला दिया।

एक बार एक सस्था का एक विशिष्ट विद्वान चारित्रभ्रष्ट हो गया जिससे उसकी नौकरी छूट गई और समाज मे बदनामी हो गई। कुछ समय तक वह लक्ष्यभ्रष्ट हो इतस्ततः भटकता रहा। पूज्य वर्णी जी की दृष्टि उसके उद्धार की ओर गई। उस समय उनका विहार दिल्ली की ओर हो रहा था। विद्वान को उन्होने अपने साथ रख लिया। धीरे धीरे लोगों की भावना भी उसकी ओर से सुधर गई और उसका उद्धार हो गया। चर्चा मे पूज्य श्री ने बताया कि कर्मोदय के समक्ष अच्छे अच्छे व्यक्ति विवश हो जाते है। अपराधी ने अपराध स्वीकृत कर लिया और प्रायश्चित लेकर आगामी समय के लिये उस अपराध से निवृत्ति पाली, फिर उसके प्रति घृणा का भाव नही होना चाहिये। अपराधी व्यक्ति के उद्धार का प्रयत्न होना चापिये, न कि उसके पतन का। यदि उस समय उस विद्वान को पूज्य वर्णी जी का वरद आश्रय प्राप्त न हुआ होता तो जैन समाज मे कोई उसे पूछने वाला नही था। इस तरह न जाने कितने व्यक्तियो का उद्धार पूज्य श्री के द्वारा हुआ है।

तप का गौरव

उत्कट मनो ऽश्वरोध स्तपः रवलीनेन जायते नियमात्।
उन्मत्तेन्द्रिय दमनं तपोऽन्तरा नैव जायते पुंसाम् ॥१०३॥
त्रिदिवे त्रिदिवरमाभी रन्तुं साकं समस्ति यदि ते धीः।
एकं तपसामुपचय मुपचिनु हि निरन्तरं तद्धीः ॥१०४॥
मुक्ति रमा वर सङ्गमनोत्कं चेतो हि वर्तते यदि ते।
तर्ह्य विलम्बं तपसा सद्ध रत्नानि सचिनु हि ॥१०५॥

अत्यन्त चञ्चल मनरूपी अश्व का दमन तपरूपी लगाम के द्वारा नियम से होता है तथा मनुष्यो की उन्मत्त इन्द्रियो का दमन तप के बिना नही होता।

हे आत्मन्! स्वर्ग मे देवाङ्गनाओ के साथ रमण करने की यदि तेरी बुद्धि है तो निरन्तर एक तप का ही सचय कर।

हे आत्मन्! यदि तेरा मन मुक्ति लक्ष्मी के साथ सगम करने मे उत्कण्ठित है तो तू शीघ्र ही तपरूपी रत्नो का सचय कर।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूख–८

पूज्य क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णी और उनकी साहित्य सेवा

यदि ससार समुद्र है तो उसमे रत्न अवश्य होना चाहिये। पूज्य पंडित गणेश प्रसाद जी वर्णी जैन ससार के अनुपम रत्न हैं। आपने 'मडावरा' ग्राम मे जन्म लेकर समस्त बुन्देलखण्ड प्रान्त को गौरवान्वित किया है। आप यद्यपि असाटी वैश्य कुल मे उत्पन्न हुए थे तथापि पूर्वभव के सस्कार से आज जैन धर्म के मर्मज्ञ प्रतिपालक हैं।

आपका जीवन चरित्र असाधारण घटनाओ से भरा हुआ है, आपने अपनी जिस निरन्तर की साधना से आज जैन समाज मे जो अनुपम व्यक्तित्व प्राप्त किया है वह उल्लेख करने योग्य है, परन्तु इस छोटे लेख मे लिख-कर मैं उसका महत्व नही गिराना चाहता। राष्ट्रीय जागृति मे यदि महामना लोकमान्य तिलक के बाद महात्मा गाधी का उल्लेख होता है तो जैन समाज मे शिक्षा प्रचार की जागृति मे सर्वश्री गुरु गोपालदास जी के बाद श्रद्धेय वर्णी गणेशप्रसाद जी न्यायाचार्य का नामोल्लेख होना चाहिये। स्वर्गीय तिलक जी के दृष्टिकोणो को जिस प्रकार महात्मा गाधी ने सीमा से उन्मुक्त कर सर्वाङ्गीण जागृति का बीडा उठाया है उसी प्रकार पूज्य वर्णी जी ने भी बरैया जी के सीमित दृष्टिकोणो से आगे बढकर धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि सभी विषयो की उच्च शिक्षा का सुन्दर प्रचार किया है।

सुनते हैं कि आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व बुन्देलखण्ड मे जैन शास्त्रो के साधारण जानकर भी नही थे तत्वार्थसूत्र, सहस्त्रनाम और सस्कृत की देव, शास्त्र, गुरु पूजा का मूल मात्र पाठ कर देने वाले महान पडित कह-लाते थे। धार्मिक आचार विचार मे भी लोगो मे शिथिलता आ गई थी, परतु आज पूज्य वर्णी जी के सतत प्रयत्न और सच्ची लगन से बुन्देलखण्ड प्रान्त भारत वर्ष के कोने-कोने मे अपने विद्वान् भेज रहा है। आज यदि जैन समाज मे कुछ विषयो के आचार्य है तो बुन्देलखण्ड प्रात के, शास्त्र के लब्ध प्रतिष्ठ और सर्वमान्य विद्वान है तो बुन्देलखड प्राँत के, भारत वर्ष की समस्त जैन सस्थाओ मे यदि कर्मठ अध्यापक है तो प्राय. ८० प्रतिशत बुन्देलखण्ड प्रान्त के और जैन पाठशालाओ तथा विद्यालयो मे यदि सुयोग्य विद्यार्थी है तो उनमे बहुभाग बुन्देलखड प्रान्त के। आचार विचार मे भी आज बुन्देलखड का साधारण से साधारण गृहस्थ अन्य प्रान्तो के विशेषज्ञ पडितो की अपेक्षा बहुत कुछ परहेज रखता है। यदि अन्य प्राँत के शास्त्री विद्वान् बाजार का सोडा वाटर शौक से पी सकते हैं तो बुन्देल-खण्ड का साधारण अनपढ जैन गृहस्थ अगालित जल से दातौन भी नही कर सकता। मैं यह नही कहता कि इसका अपवाद नही है, अपवाद हैं अवश्य, परतु बहुत कम। बुन्देलखड के विद्वान् सीधे, साहित्यिक और कलहप्रिय काण्डो से प्राय दूर रहने वाले होते है।

कुछ लोग भले ही कहते हो कि बुन्देलखड दरिद्र प्रान्त है इसलिये वहा के लोग नि शुल्क मिलने वाली संस्कृत शिक्षा प्राप्त कर लेते है और फिर आजीविका के लिये देश छोडकर जहा-तहा बिखर जाते है। बात ठीक भी जचती है, परतु इसमे मुझे रोष नही होता है बल्कि सतोष होता हैऔर वह इस बात का कि इस प्राँत के लोग धार्मिक क्षेत्र मे अपनी प्रगति कर रहे है। दरिद्रता के अभिशाप से पीड़ित होकर इन्होने कोई ऐसा मार्ग नही अपनाया है जो इन्हे तथा इनके पूर्वजो को कलङ्कित करने वाला हो और जैन धर्म की प्रगति मे बाधक हो।

अब हमारे विज्ञ पाठक जानना चाहेंगे कि बुन्देलखण्ड की इस धार्मिक प्रगति का मुख्य कारण कौन है ? सोते हुए बुन्देलखंड प्रात को जगाकर उसके कानों मे जागृति का मन्त्र फूकने वाला कौन है ? बुन्देलखंड के गृहस्थोचित आचार विचार को अक्षुण्ण रखने वाला कौन है ? और उसे दुनिया मे चकाचौध पैदा कर देने वाली पाश्चात्य सभ्यता (!) से अपरिचित रखने वाला कौन है। जहा तक मेरा अनुभव है मैं कह सकता हूं कि इन सबका सर्वमान्य उत्तर है—

प्रातः स्मरणीय पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी।

इन्होने अपनी धर्ममाता स्वर्गीया चिरोंजाबाई जी की उदारवृत्ति तथा पुत्रवत् वात्सल्यपूर्ण भावना से बनारस, खुर्जा, मथुरा, गदिया आदि स्थानो मे जाकर बड़ी कठिनाइयो से विद्याभ्यास किया है। आज के विद्यार्थियो को उदार जैन समाज ने धर्म शिक्षा के सुयोग्य साधन सुलभ कर दिये है। आज के विद्यार्थियो को रहने के लिये सुन्दर और स्वच्छ भवन प्राप्त है। उतम भोजन मिलता है और अच्छे-अच्छे आचार्य अध्यापक उन्हें पढाने के लिये उनके घर आते है, आते ही नही प्रेरणा भी करते है कि तुम मेरे पास पढो। परन्तु एक वक्त वह था कि जब पूज्य वर्णी जी जैसे महान व्यक्तियो को पुस्तक वगल मे दाबकर मीलो दूर अजैन अध्यापकों के पास जाना पडता था। उनकी सुश्रूषा करनी पडती थी और वे जैन होने के नाते पुस्तक डैक्स पर से दूर फेंक देते थे। पूज्य वर्णी जी ने ऐसी ही विकट परिस्थिति से गुजर कर विद्याध्ययन किया था। उन्होने दानवीर सेठ माणिकचन्द्र जी बम्वई आदि के सहयोग से वनारस जैसे हिन्दू धर्म के केन्द्र स्थान मे स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना कराई थी।

प्रकृति ने आपके वचनो मे मोहनी शक्ति दी थी, विद्या की कमी नही थी अपने युग के आप सर्वप्रथम षण्ट्खण्डोत्तीर्ण जैन न्यायाचार्य थे। यदि आप विद्याध्ययन के बाद चाहते तो समाज के किसी विद्यालय के प्रधान वनकर आज तक लक्षाधीश हो सकते थे परन्तु आपके हृदय मे तो अपने प्रान्त और धर्म के उत्थान करने की प्रवल भावना जमी हुई थी जिसमे आपने अपने व्यक्तिगत समस्त स्वार्थो से ममत्व छोडकर अपना जीवन परोपकार के लिये लगा दिया और आज तक वही क्रम चल रहा है। आप बहुत अर्से से निरतिचार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे है।

सन् १९०६ मे आपने सागर का सतर्क विद्यालय खुलवाया जो आज मध्य प्रात का गौरव कहलाता है और जिसने बुन्देलखड की जागृति मे अपूर्व हाथ बटाया है। द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, अहार, पपौरा आदि अनेको स्थानो पर पाठशालाए स्थापित कराकर आपने जैन धर्म और जैन साहित्य के प्रचार मे पर्याप्त भाग लिया है। साहित्य निर्माण—पुस्तक का सशोधन, सम्पादन, लेखन मुद्रण आदि के मायने ही साहित्य सेवा नही है वल्कि इस कार्य के योग्य साहित्यिक पुरुष पैदा कर देना भी साहित्य सेवा है और उससे कही बढकर।

आपके हृदय मे दया कूट-कूटकर भरी है। मेरी उम्र ही कितनी है ? मैं अपने से वयोवृद्ध पुरुषो द्वारा उनकी दयालुता के अनेक प्रकरण सुनता आया हू और कुछ तो मैंने स्वयं देखे हैं। लेख का कलेवर वढता जाता है परन्तु एक महान पुरुष के विषय मे कुछ लिखे बिना भी रहा जाता नही। लगभग १० बजे दिन का वक्त था, पूज्य वर्णी जी दुपट्टा ओढकर मोराजी से भोजन के लिये कटरा आने के लिये तैयार थे, एक जगह के एक गरीब जैनी भाई उनके पास पहुंचते हैं, उनके पास पहिनने को कपडा नही था मात्र धोती पहने हुए थे, पूज्य वर्णी जी ने उन्हें देखते ही अपना दुपट्टा उतारकर उन्हे उडा दिया और आप धोती कन्धे पर डालकर ही कटरा चले गए।

श्री आचार्य ज्ञानसागर जी

आ ज्ञानसागर जी, आ. विद्यासागर जी के दीक्षा और शिक्षा गुरु थे। गुरु की प्रतिमा और निःस्पृहता का प्रतिबिम्ब आचार्य विद्यासागर जी मे देखा जा सकता है।

जयपुर के समीपवर्ती राणोली ग्राम के निवासी छावडा गोत्री–खण्डेलवाल जाति समुत्पन्न श्री चतुर्भुज जी और उनकी धर्मपत्नी श्री घृतवरी देवी, आचार्य ज्ञानसागर जी के जनक और जननी थे। आप अपने पाच भाईयो मे द्वितीय थे तथा भूरामल नाम से विख्यात थे। पिता जी की मृत्यु के समय भूरामल की आयु सिर्फ १० वर्ष की थी। गाँव के स्कूल मे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर भूरामल अपने बडे भाई के पास चले गये तथा किसी जैनी के दुकान पर काम करने लगे। काम करते हुए एक वर्ष ही हुआ था कि किसी समारोह मे स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्रो को भाग लेते देख, भूरामल के मन मे भी वाराणसी जाकर पढने की अभिरुचि उत्पन्न हो गयी। लगभग १५ वर्ष की आयु मे वे स्याद्वाद महाविद्यालय मे प्रविष्ट होकर सस्कृत प्राकृत भाषा के साथ जैनागम का अध्ययन करने लगे। अध्ययन करते समय इनकी भावना ग्रन्थ का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की ओर रहती थी, परीक्षा पास करने की नही। यही कारण है कि इन्होने कोई परीक्षा नही दी।

विद्यालय मे फ्री भोजन प्राप्त करना आप उचित नही समझते थे इसलिये सायकाल गगा के घाटो पर गमछे बेचकर कुछ अर्थोपार्जन करते थे और उससे विद्यालय मे अपना भोजन खर्च जमा कराते थे तथा उसी से अन्य खर्च पूरा करते थे। यद्यपि परीक्षा मे निर्धारित होने से उस समय के विद्यार्थी अजैन साहित्य पढते थे किन्तु परीक्षा का प्रलोभन न होने से आप जैन व्याकरण, जैन न्याय और जैन साहित्य ही पढते थे। जैनधर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त कर जब आप अपने ग्राम राणोली आये तब आजीविका के लिये किसी सस्था मे वैतनिक अध्यापक न होकर आपने दुकान की और बालको को निःस्पृह वृत्ति से पढाना शुरु किया। विवाह का प्रस्ताव आने पर आपने उसकी स्वीकृति नही दी और आजीवन ब्रह्मचर्य से रहने की घोषणा कर दी। धीरे धीरे दुकान का कार्यभार अपने अन्य भाईयो को सौंपकर आप साहित्य सेवा मे सलग्न हो गये। काव्य निर्माण की प्रतिभा आप मे प्रारम्भ से ही थी फिर विविध विषयो के परिज्ञान ने उसमे चार चाद लगा दिये। वाग्भट ने कहा है—

"प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्ति कृदभ्यास इत्याद्य कवि संकथा॥"

अर्थात् प्राचीन कवियो ने कहा कि काव्य निर्माण का कारण प्रतिभा है, व्युत्पत्ति उसका आभूषण है और अभ्यास उसकी अधिकता को करने वाला है।

सर्वप्रथम आपने जयोदय काव्य की रचना की। भूरामल ब्रह्मचारी के नाम से आपका जयोदय काव्य जब मूलरूप मे प्रकाशित हो विद्वानो के सामने आया तब विद्वानो को उसकी पाण्डित्य पूर्ण रचना देखकर आश्चर्य

हुआ। उसके कितने ही स्थल इतने क्लिष्ट रहे कि विद्वानों की उनका अर्थ लगाने मे कठिनाई होती थी। आगे चलकर अन्वय तथा स्वोपज्ञ संस्कृत और हिन्दी टीका लिखकर आचार्य महाराज ने उसके अध्ययन–अध्यापन की सुविधा स्वय प्रदान की। प्रसन्नता है कि संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद के साथ उसके त्रयोदशसर्गों का पूर्व भाग प्रकाशित हो चुका है शेषसर्गो का द्वितीय भाग भी मुद्रणाधीन है। इस जयोदय काव्य मे हस्तिनापुर के राजा जयकुमार के अभ्युदय का वर्णन किया गया है। भाषा का प्रवाह और अलकारों का यथास्थान विन्यास होने से यह एक उच्चकोटि का काव्य माना जाता है। आपके द्वारा लिखित निम्नाकित सस्कृत रचनाए प्रकाश मे आ चुकी हैं—

१– जयोदय, 2– भद्रोदय, ३– सुदर्शनोदय, ४– वीरोदय, ५– दयोदय, ६– मुनिमनोरञ्जन और ७– प्रवचनसार का गाथानुरूप सस्कृत श्लोकानुवाद। न केवल पद्यरचना मे आप सिद्धहस्त थे किन्तु गद्य रचना मे भी बेजोड थे। दयोदय चम्पू आदि कुछ ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनो मे रचित होने से चम्पू कहलाते है। हिन्दी मे भी आपकी अबाध गति थी। इसीलिये निम्नलिखित १४ ग्रन्थो की रचना आपके द्वारा हुयी है—

१. ऋषभावतार २. गुणसुन्दर वृतान्त ३. भाग्योदय ४ जैनविवाह विधि ५. सम्यक्त्वसार शतक ६. तत्वार्थसूत्र टीका ७. कर्तव्य पथ प्रदर्शन ८ विवेकोदय ६. सचित्त विवेचन १० देवागम स्तोत्र का हिन्दी पद्यानुवाद नियमसार का पद्यानुवाद ११ अष्टपाहुड का पद्यानुवाद १२ मानव जीवन १३. स्वामी कुन्द कुन्द और सनातन धर्म ।

चारित्र के बिना मनुष्य जीवन की सार्थकता नही, यही विचार कर आपने विक्रम सवत् २००४ मे ब्रह्मचर्य प्रतिमा, वि स. २०१२ मे क्षुल्लक दीक्षा और २०१४ मे दिवंगत आचार्य शिवसागर जी महाराज से मुनिदीक्षा धारण की। अन्य व्यासगो से निर्मुक्त रहकर आप निरन्तर ज्ञानार्जन मे लीन रहते थे। मुनि अवस्था मे ही आपने समयसार पर रचित जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी अनुवाद किया था जिसका प्रकाशन अजमेर से हुआ है।

अपनी अप्रतिम ज्ञानराशि का विनियोजन आप करना चाहते थे पर किसी योग्य–प्रतिभाशाली शिष्य के संपर्क मे न आने से सचिन्त रहते थे परन्तु आज अपने समक्ष जो आचार्य विद्यासागर जी विराजमान है वे पूर्वभव के सस्कार से आपके सपर्क मे आये और गुरु शिष्य का ऐसा सुवर्ण सयोग हुआ कि आज हम एक निधि के रूप मे इनके दर्शन कर रहे है। उन्होने हृदय खोलकर इन्हे पढाया और इन्होने गुरुभक्ति से नतमस्तक होकर सब कुछ पढा। पात्रता देख उन्होने इन्हें मुनिदीक्षा दी और अपने शरीर की शिथिलता देख आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य विद्यासागर ने अपने गुरु की भरपूर सेवा की। उनका प्रसग आते ही आचार्य विद्यासागर का सारा शरीर पुलकित हो जाता है। ६ वर्ष पूर्व नसीराबाद मे आपका समाधिमरण हुआ।

पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के सस्कृत ग्रन्थ मेरे पास प्रारम्भ से आते रहते थे। उनकी इन पाण्डित्य पूर्ण रचनाओं को देखकर आचार्य महाराज के साक्षात् दर्शन करने का भाव मन मे रहता था पर दूरवर्ती होने से सुयोग नही मिल पाता था। सौभाग्य वश मैं एक बार पर्युषण पर्व मे अजमेर गया। उस समय आपका चातुर्मास इसी मदनगज मे था। माननीय सर सेठ भागचन्द्र जी से मैंने आपके दर्शन की आकाक्षा प्रकट की। अतः उन्होने श्री छगनलाल जी को साथ कर मुझे मदनगज भेज दिया। आचार्य ज्ञानसागर जी और उनके नव–

दीक्षित मुनि विद्यासागर जी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ । २ - ३ घंटा ही मैं उनके पास रह सका था, पर उतने समय मे ही उन्होने अनेक विषयो पर चर्चा कर ली । उस दिन प्रमुख चर्चा का विषय रहा — सामायिक और सामयिक शब्द । उन्होने सामयिक शब्द का प्रयोग अधिक पसंद किया और कहा कि समन्तभद्राचार्य ने भी अपने रत्नकरण्डक श्रावकाचार मे सर्वत्र सामयिक शब्द का प्रयोग अधिक पसद किया मुनि विद्यासागर जी ने भी अपनी कुछ कविताए सुनायी । आचार्य शिवसागर जी के विषय मे लिखी हुयी कविता जब उन्होने लय के साथ सुनायी तो हृदय मे बडी प्रसन्नता हुयी । अन्त मे आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने अपना आचार्य पद अपने शिष्य विद्यासागर मुनि को देकर समाधिपूर्वक शरीर छोडा ।

पूज्य आचार्य महाराज ने जहा अनेक अचेतन ग्रन्थ-रत्न भेंट किये है वहा एक चेतन जीवन्त-रत्न आचार्य विद्यासागर को भी दिया है ।

अन्त मे निम्न श्लोक के द्वारा आचार्य महाराज को प्रणाम करता हूं ।

निर्ग्रन्थमपि सग्रन्थं विश्रुत चापि सश्रुतम् ।
ज्ञानसागरनामानमाचार्यं प्रणमाम्यहम् ।।

अकिञ्चन्यधर्म का गौरव

वंशस्थ वृत्त

आकिञ्चन्यत्वोप युक्तास्तपस्विनः सुतोष पीयूष पयोधि मध्यगाः ।
वने गृहे शैल चये सरित्पतौ समाप्नुवन्त्येव निजात्मज सुखम् ।।१३२।।

आकिञ्चन्य धर्म से सहित तथा सतोषरूपी सुधा सागर के मध्य मे गमन करने वाले तपस्वी मुनि वन मे, घर मे, पर्वत समूह मे और समुद्र मे — सर्वत्र स्वकीय आत्मा से समुत्पन्न सुख को नियम से प्राप्त होते है ।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूख–८

आचार्य शान्तिसागर महाराज

आगम में दिगम्बर जैन मुनियो के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ ये १० भेद पाये जाते हैं। आचार्य शान्ति सागर जी "मनोज्ञ" मुनि कहे जा सकते है। अपने असाधारण गुणो के कारण जो अत्यन्त लोकप्रिय होते है वे मनोज्ञ कहलाते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है – "मनोज्ञो लोकसम्मत"–लोकसम्मत मुनि मनोज्ञ कहलाते है। आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिक मे लोकसम्मत होने के कारणो का भी उल्लेख करते हुए कहा है–"मनोज्ञोऽभिरूपः ।।२।। "सम्मतो वा लोकस्य विद्वत्तावक्तृत्व–महाकुलत्वादिभि" ।।३।।। – जो विद्वत्ता, वक्तृत्वकला और महाकुलीनता आदि गुणो के द्वारा लोकसम्मत होते है उन्हें मनोज्ञ कहते हैं। श्री आचार्य शान्ति सागर जी महाराज, आचार्य तो थे ही, साथ मे मनोज्ञ भी थे। अपने विद्वत्ता आदि गुणो के द्वारा उनका नाम समस्त भारतीय जैन जनता मे अत्यन्त प्रसिद्ध था। इस युग मे ऐसा निःस्पृह परम तपस्वी साधु होना कठिन है।

उनका जन्म दक्षिण भारत के वेलगाव जिला के अन्तर्गत भोजग्राम से तीन मील दूर "येलगुल" ग्राम मे रहने वाले स्वनामधन्य भीमगोडा पाटील की धर्मपत्नी सत्यवती की कुक्षि से आषाढ कृष्णा ६ विक्रम संवत् १९२९ सन् १८७२ को हुआ था। गर्भस्थकाल मे इनकी माता का दोहला हुआ था कि "मैं सहस्रदलकमल" मे जिनेन्द्रदेव की चर्चा करू। उस समय कोल्हापुर के समीपवर्ती तालाब से सहस्रदल कमल बुलाकर उनके इस दोहला की पूर्ति की गई थी। माता का दोहला गर्भस्थित बालक के भविष्य को सूचित करता है। उसी के फलस्वरूप माता सत्यवती के गर्भ मे स्थित बालक आज 'शान्ति सागर आचार्य के नाम से प्रसिद्ध होकर" जैनधर्म का महान् प्रचारक हुआ। इनका जन्मनाम सातगोडा था।

आप चतुर्थ जाति के थे। इनके दो बडे भाई–आदिगोडा और देवगोडा थे तथा कुम्भगोडा छोटे भाई थे। इनकी बहिन का नाम कृष्णा बाई था। इनके पिता श्री भीमगोडा पाटील उस समय के प्रसिद्ध पुरुष थे। जन-धन की सपन्नता उन्हे प्राप्त थी। आचार्य शान्तिसागर जन्म से ही विरक्त थे। एक सम्पन्न परिवार के बालक होने पर भी उनकी निर्लिप्तता आश्चर्यजनक थी। वे बालब्रह्मचारी रहे और क्रमक्रम से धर्मसाधना करते हुए संयम के पथ मे अग्रसर होते गये। लगभग ४१ वर्ष की अवस्था मे आपने कर्णाटक प्रान्त के दिगम्बर मुनिराज देवप्पास्वामी-देवेन्द्रकीर्ति महाराज से उत्तरग्राम मे निर्ग्रन्थ दीक्षा देने की प्रार्थना की थी परन्तु उन्होंने शक्ति परीक्षण की भावना से निर्ग्रन्थ दीक्षा न देकर क्षुल्लक दीक्षा दी थी। इस प्रकार उन्होंने उत्तूरग्राम मे ज्येष्ठ शुक्ला १३ वि० स० १९७२ को क्षुल्लक दीक्षा धारण की थी। उस समय जैनियो के घर भी कुदेवो की स्थापना थी। क्षुल्लक शान्ति सागर ने उस मिथ्यात्व को दूर किया और "वीतराग जिनेन्द्र ही सच्चा देव है" ऐसी सुदृढ श्रद्धा जनता के हृदय मे उत्पन्न की। गिरिनार जी सिद्धक्षेत्र पर आपने ऐलक दीक्षा ली और कठिन साधना के द्वारा मुनिधर्म का अच्छा अभ्यास किया। ऐलकदीक्षा के बाद आपने यरनाल के पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के समय हजारो मानवों के बीच

साहित्याचार्य डा० पन्नालाल जैन

अपने गुरु देवेन्द्र कीर्ति जी महाराज से दिगम्बर दीक्षा धारण की। अब आप मुनि शान्ति सागर हो गये तथा पीछी और कमण्डलु के धारक होकर आत्मसाधना करने लगे।

"जैन मुनि नग्न दिगम्बर रहते हैं" यह चर्चा मात्र शास्त्रो मे रह गई थी परन्तु आचार्य शान्ति सागर ने उस मुद्रा को धारण कर दिगम्बर साधु का प्रत्यक्ष रूप जनता के समक्ष रक्खा। दक्षिणापथ से लेकर उत्तरापथ तक आपने सघसहित विहार कर जैनधर्म की जो अभूतपूर्व प्रभावना की थी वह वचनो के द्वारा नही कही जा सकती। आज समाज मे जो अनेक मुनिराज यत्र तत्र निर्बाध विहार कर रहे हैं यह आपकी ही साधना का फल है। निर्द्वन्द्व तपस्वी के रूप मे उनका नाम भारतवर्ष मे सदा अमर रहेगा।

सिहनिष्क्रीडित जैसे कठिन-कठिन उपवासव्रत धारणकर जहा आपने शारीरिक ममत्व को दूर किया वहा आत्मीय गुणो के विकास मे भी पूर्ण सावधानता रक्खी। मुनि अवस्था मे आपने सर्प का, चीटियो का, उन्मत्त मानव का तथा अन्य विधर्मी जनो का उपसर्ग बहुत ही समताभाव से सहन किया था। बडे-बड़े परीक्षाप्रधानी आलोचक अन्त मे अपनी भूल स्वीकृत कर आपके विषय मे श्रद्धावनत हुए। तपश्चर्या के बल से आपने अपने ज्ञाना-वरण कर्म के क्षयोपशम को विस्तृत किया। जैसे-जैसे आपका तपश्चरण बढता गया वैसे-वैसे ही आगमज्ञान बढता जाता था। फल यह हुआ कि आप चारो अनुयोगो के निष्णात विद्वान् हो गये आपकी धारणाशक्ति अत्यन्त प्रबल थी। जिस बात को आप एक बार हृदयंगत कर लेते थे वह आपके हृदय मे सदा के लिये अकित हो जाती थी।

आपकी दृष्टि, अन्तरात्मा की परख मे अत्यन्त कुशल थी इसीलिये आपने अनेक व्यसनी जीवो की भी अन्तरात्मा को परख कर उन्हे सुमार्ग पर लगाया। फलस्वरूप वे दिगम्बर मुद्रा के धारक हो जिन शासन की प्रभा-वना करने वाले हुए। मुनि पायसागर जी महाराज इसके उत्तम उदाहरण थे।

आप जिनवाणी के अनन्य श्रद्धानी थे। उसका सर्वत्र प्रचार हो तथा आचन्द्रतारावधि वह पृथिवीतल पर विद्यमान रहे, ऐसी आपकी भावना थी। उसी भावना के अनुरूप आपने फलटण मे जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था स्थापित कराई थी और उसके द्वारा अनेक आर्षग्रन्थ प्रकाशित कराकर मन्दिरो के लिये अमूल्य वितरण कराये थे। प्रसन्नता है कि वह सस्था अब भी क्रियाशील है और लाखो रुपयो का उसका कोष है। षट्खण्डागम को ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कराकर उसे चिरस्थायी करा दिया गया, वह आपकी जिनवाणी भक्ति का फल था।

हरिजन मन्दिर प्रवेश समस्या एक बड़ी समस्या थी। आचार्य श्री, उसका भविष्य जैन मदिरो की पवित्रता तथा स्वाधीनता की रक्षा के लिये एक खतरा समझते थे। इसीलिये उस समस्या का हल कराने के लिये आपने अन्न का परित्याग कर दिया। आपकी इस कठिन प्रतिज्ञा से प्रेरणा प्राप्त कर कानून की परिभाषा का स्पष्टीकरण करने के लिये बम्बई के उच्चतम न्यायालय मे प्रकरण स्थापित किया गया और जैन समाज उसमे विजयी हुआ। न्यायाधीश ने निर्णय किया कि जो धर्म का मानने वाला नही है वह उस धर्म के मंदिर मे बलात् प्रवेश करे, यह कानून का अभिप्राय नही है। हरिजन, जैनधर्म के मानने वाले नही अत. वे जैन मदिरो मे जैनियो की इच्छा के विरुद्ध प्रवेश नही कर सकते। उच्चतम न्यायालय का समुचित निर्णय प्राप्त होने पर ही आपने तीन वर्ष बाद अन्न का आहार लिया।

आप निश्चय और व्यवहार धर्म का बडा सुन्दर सामजस्य स्थापित करते थे। आपका कहना था कि जिस प्रकार फूल से फल उत्पन्न होता है उसी प्रकार व्यवहार से निश्चय धर्म उत्पन्न होता है और जैसे-जैसे फल बढता

जाता है वैसे ही फूल विखरता जाता है उसी प्रकार जैसे जैसे निश्चय धर्म बढता जाता है वैसे वैसे ही व्यवहार धर्म स्वयं विखरता जाता है फल की उत्पत्ति से ही फूल की सार्थकता है जिस फूल मे फल नही लगता वह फूल निरर्थक है इसी प्रकार जिस व्यवहार मे निश्चय धर्म उत्पन्न नही होता वह व्यवहार निरर्थक है ।

अपने ग्रहीतव्रत मे रंचमात्र भी दोष लगाना आपको अभीष्ट नही था अत जव आपने देखा कि हमारी दृष्टि मद पडती जाती है और उसके कारण मुनिचर्या का निर्दोष पालन करना सभव नही है तव आपने किसी पूर्व सूचना के विना ही यमसल्लेखना धारण की घोषणा कर दी । आपकी इस घोषणा से समस्त समाज मे हलचल मच गई । ३६ दिन की उत्कृष्ट साधना के अनन्तर ८४ वर्ष की अवस्था मे आपने १८ सितम्वर १९५५ के प्रातःकाल भौतिक शरीर का त्याग किया । उनके स्वर्गारोहण से समस्त भारतवर्ष मे शोक की लहर व्याप्त हो गई । सभी ने ऐसा अनुभव किया कि मानो जैन समाज की अद्‌भुत निधि लुट गई हो । पूज्य आचार्य शान्ति सागर जी महाराज, दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे अतः वे उसकी एक सुदृढ कडी माने जाते थे । जन्मशताव्दी के पावन प्रसग पर मैं उनके चरणो में नम्र श्रद्धान्जलि समर्पित करता हू ।

ब्रह्मचर्य-गरिमा

आर्या

चिरवर्द्धितोऽपि सयम फलिनो ब्रह्मव्रतं विना पुसाम ।
स्वर्गामृतफल निचयं फलति न कालत्रये त्रिलोक्यामपि ।।१४४।।

पलपूतिरुधिररचिते योषिगात्रे विमुञ्च ये प्रीतिम् ।
आत्मनि निजे रमन्ते त एव धन्या महामान्याः ।।१४५।।

चिरकाल से वृद्धि को प्राप्त हुआ भी सयम रूपी वृक्ष, ब्रह्मचर्य को विना पुरुषो के लिये तीन काल और तीन लोक मे भी स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल को नही फलता ।।

मास तथा विकृत रुधिर से रचित स्त्री के शरीर मे प्रीति को छोडकर जो निज आत्मा मे रमण करते है वे ही महाभाग्यवान तथा महामान्य है ।।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूख–८

समयसार का अद्भुत प्रभाव

श्री कानजी स्वामी ने दिगम्बर जैनधर्म के प्रभाव का महान् कार्य किया है। उनके जीवन-निर्माण मे समयसार का अद्भुत प्रभाव है। इसमे निवद्ध कुन्दकुन्द स्वामी की विशुद्ध अध्यात्म देशना ने अगणित प्राणियो का उपकार किया है। उसने पहले महाकवि श्री वनारसीदास जी को दिगम्बर धर्म मे दीक्षित किया, फिर शतावधानी रायचन्द्र जी को दिगम्बर धर्म का श्रद्धालु वनाया और अव श्री कानजी स्वामी को दिगम्बर जैनधर्म का दृढश्रद्धानी वनाया है। न केवल कानजी स्वामी को, किन्तु उनके साथ वीस हजार व्यक्तियो को भी इस धर्म मे दीक्षित कराया है। समयसार से प्रभावित होकर ही श्री कानजी स्वामी ने शुद्धवस्तु स्वरूप को समझा, वर्षो इसका एकान्त मे मनन किया और अन्तरग की प्रवल प्रेरणा पाकर अपने जन्मजात धर्म का परिधान छोड दिया। अव वे वडे गौरव के साथ कहते हैं कि ससार सागर से पार करने वाला यदि कोई धर्म है तो दिगम्बर जैनधर्म ही है। उनके इस सतकार्य से सौराष्ट्र प्रान्त ही जागृत हुआ हो सो वात नही भारतवर्ष के समस्त प्रदेश जागृत हुए है और स्वाध्याय के प्रति निष्ठा का भाव उत्पन्न कर आत्म कल्याण की ओर लग रहे हैं।

समयसार का वस्तुस्वरूप जिनागम के प्राणभूत अनेकान्त को अङ्गीकृत कर अवतीर्ण हुआ है। उसमे निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, आदि सभी अङ्गो की चर्चा है। कुन्दकुन्द स्वामी ने जहा पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले रागादि को निमित्त की अपेक्षा पौद्गलिक कहा है, वहा यह भी कहा है कि राग की उत्पत्ति मे जो पर को ही निमित्त मानते है, वे मोहरूपी वाहिनी को पार नही कर सकते। उन्होंने जहा दान तपो-जिन पूजा आदि व्यवहारधर्म को पुण्य वताकर शुद्धोपयोग की भूमिका मे विचरण करने वालो के लिए हेय वताया है, वहा अशुभ उपयोग से वचने के लिये हस्तावलम्वन की तरह उसे उपादेय भी वताया है। उन्होने जहा व्यवहार-नय को हेय वताया है, वहा निश्चयनय को भी हेय वताया है क्योकि वस्तुस्वरूप उभयनयपक्षातीत है।

यद्यपि वस्तु स्वरूप निश्चय और व्यवहार दोनो से परे है तथापि उसका प्रतिपादन करने के लिये दोनो आवश्यक है। जो वक्ता अथवा श्रोता दोनो का अच्छी तरह अवगम कर मध्यस्थ होता है, वही जिनागम की देशना का पात्र होता है। जिनधर्म की प्रवृत्ति के लिये व्यवहार और निश्चय दोनो ही अत्याज्य है, क्योकि व्यवहार को सर्वथा छोड़ देने पर तीर्थ नष्ट हो जायगा और निश्चय को सर्वथा छोड देने पर तत्त्व नष्ट हो जायेगा। जो उपादान की अनुकूलता की अपेक्षा न रखकर सिर्फ निमित्त से कार्यसिद्धि चाहता है वह सदा कर्तृत्व के अहकार मे निमग्न रहता है और जो निमित्त की उपेक्षा कर मात्र उपादान मे कार्यसिद्धि मानता है वह अकर्मण्य रहता है।

श्री कानजी स्वामी की प्रवचन शैली को लेकर आज विद्वानो मे मतभेद है, पर मेरा विश्वास है कि स्वामीजी यदि समयसार समत अनेकान्त गर्भित शैली से तत्व का निरूपण करें और विद्वान उसे उसी शैली से अवगत करें, तो सब विरोध स्वयमेव शान्त हो सकता है। जैनधर्म की अपनी एक विशेषता है जो उस विशेषता को अवगत कर लेता है, उसे अपना जन्मजात धर्म छोडने मे देर नही लगती। गौतम गणधर और विद्यानन्द स्वामी, इस धर्म मे इसकी विशेषता को अवगत करके ही दीक्षित हुए थे। श्री कानजी स्वामी भी इसी विशेषता को अवगत कर इस धर्म मे आये है, हम उनकी इस परीक्षा प्रधानता का अभिनन्दन करते है।

त्याग का मूल – मिथ्यात्व का त्याग

लोक और अलोक को विश्व कहते है । जहा जीवादि छह द्रव्य पाये जाते है वह लोक है और जहा मात्र आकाश ही है वह अलोक है । इस प्रकार लोकालोकात्मक विश्व मे जीव, पुद्‌गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये छ द्रव्य अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगे । इन छ द्रव्यो मे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य सदा शुद्ध ही रहते है परन्तु जीव और पुद्‌गल द्रव्य शुद्ध अशुद्धरूप परिणमन करते हैं । जब जीव और पुद्‌गल परस्पर सबध रहते है तब उनका अशुद्ध परिणमन कहलाता है और जब दोनो सदा के लिये पृथक् हो जाते है तब उनका शुद्ध परिणमन कहलाता हैं ।

जीव कर्मरूपी पुद्‌गल का सम्बन्ध पाकर उसके उदयकाल मे रागादि विभाव रूप परिणमन करता और कार्मण वर्गणारूप पुद्‌गल द्रव्य जीव के रागादि विभाव का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणमन करता है यही जीव और पुद्‌गल का अशुद्ध परिणमन है । पुद्‌गल के अशुद्ध परिणमन से पुद्‌गल के कोई दु.ख नही होता क्योंकि उसमे सुख दु ख को वेदन करने की सामर्थ्य नही है परन्तु जीव अपनी अशुद्ध परिणति के कारण दु खी रहता है, चारो गतियो मे जन्म मरण के दु ख उठाता रहता है । चूँकि दु ख निवृत्त होना ही जीव का परम लक्ष्य है इसलिये उसे इस अशुद्ध परिणति का त्याग करना चाहिये । जब तक इस अशुद्ध परिणति का त्याग नही होगा तब तक जीव सुखी नही हो सकता यह निश्चित है ।

जीव की अशुद्ध परिणति का कारण कर्मरूप पुद्‌गल है और कर्मरूप पुद्‌गल का कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है अथवा संक्षेप मे एक कषाय ही कारण है । इस कषाय का त्याग करने से ही जीव कर्म बन्ध से बच सकता है । इस जीव की अनादिकाल से ऐसी मान्यता बन रही है कि परपदार्थ सुख और दुख के कारण है इसलिये यह जीव जिन पदार्थो को सुख का कारण समझता है उनका संग्रह करता है, उनके सयोग मे सुख मानता है और वियोग मे दु ख मानता है । इसके विपरीत जिन्हे दु ख का कारण मानता है उनके सयोग मे दुखी होता है, वियोग मे सुखी होता है तथा इनका सग्रह नही करना चाहता ।

विचार कर देखा जाय तो परपदार्थ सुख दु ख के कारण नही है । एक ही पदार्थ किसी समय सुख का कारण होता है और किसी समय दु ख का कारण । गर्म वस्त्र, शीत ऋतु मे सुखकर मालूम होते हैं । कडुवी लगने से मनुष्य नीम से घृणा करता है परतु ऊट उसे प्रेम से खाता है ।

ज्ञानी मनुष्य की श्रद्धा होती है कि सुख दु ख का अतरङ्ग कारण साता असाता कर्म का उदय है । इसके रहते हुए ही बाह्य पदार्थ सुख दु ख के साधन होते है अन्यथा नही । इसलिये ज्ञानी जीव इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग मे मध्यस्थ रहता है परन्तु अज्ञानी जीव दुखी होता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो जीव सुखी होना चाहता है उसे सर्वप्रथम अपनी विपरीत मान्यता का त्याग करना चाहिये। विपरीत मान्यता का त्याग ही मिथ्यादर्शन का त्याग है और मिथ्यादर्शन का त्याग ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ है। मिथ्यादर्शन, रागद्वेष का जनक है और रागद्वेष ही समस्त आकुलताओ के सरक्षक है।

जिनागम मे त्याग की बहुत महिमा बतलाई गई है। पर वह त्याग मिथ्यादर्शन के त्याग से हो शुरू होता है। जब तक मिथ्यादर्शन का त्याग नही होता तब तक अन्य त्यागो से यथार्थ लाभ नही होता। मिथ्यादर्शन के असंख्यात लोक प्रमाण भेद है। एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवें नरक की आयु का बन्ध करता है और एक मिथ्यादृष्टि जीव नौवे ग्रैवेयक की इकतीस सागरकी आयु का बन्ध करता है। एक मिथ्यादृष्टि जीव मुनि हत्या का पाप करता है और एक मिथ्यादृष्टि जीव स्वयं मुनि होकर इतनी क्षमा धारण करता है कि घानी मे पेल दिये जाने पर भी क्रोध नही करता। इससे पता चलता है कि मिथ्यादर्शन के कितने अवान्तर भेद है।

मिथ्यादर्शन का सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद मोक्षमार्ग का बाधक है इसलिये उसे अच्छी तरह समझकर दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये। किसी वृक्ष को उखाडना है तो उसके पत्ते नोचने या टहनियो के तोडने से ही वह नही उखडता, उसकी जड पर प्रहार करना होता है। जिस वृक्ष की जड़ नष्ट कर दी जाती है उसके पत्ते और टहनिया स्वयमेव सूख जाती है। मिथ्यादर्शन के निकलते ही इस जीव का मन संसार के कार्यो मे स्वयमेव ही शिथिल हो जाता है।

मिथ्यादर्शन का अस्तित्व रहते हुए महाव्रत का आचरण भी इसे ससार से पार नही कर सकता। मिथ्यादर्शन के अस्तित्वकाल मे यह जीव महाव्रत का आचरण यदि करता है तो उसे भोगोपभोग की प्राप्ति के लक्ष्य से करता है कर्म क्षय के लक्ष्य से नही।

मिथ्यादर्शन के अस्तित्वकाल मे यदि कोई गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की वीतराग मुद्रा की पूजा करता है तो वह उस समय यही विचार करता है कि ऐसा ही वीतराग स्वरूप मेरा है किंतु मैं निज स्वरूप को भूलकर परपदार्थो मे रागी द्वेषी हो रहा हू।

सम्यग्दृष्टि जीव का पूजा के प्रशस्त राग के समय भी जो स्वरूप लक्ष्य का भाव रहता है वह उसकी निर्जरा का कारण हो जाता है। पर मिथ्यादृष्टि जीव इस अलभ्य लाभ से वचित ही रहता है। यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि महाव्रत के आचरण अथवा जिन पूजन के समय जो मिथ्यादर्शन बतलाया है वह अत्यन्त सूक्ष्म तथा अबुद्धिगोचर रहता है। स्थूल अथवा बुद्धिगोचर मिथ्यादर्शन के काल मे तो न महाव्रतो का आचरण बन सकता है और न जिनेन्द्र पूजन का भाव ही हो सकता है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रथ मे पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि का उपाय बतलाते हुए निम्नाकित महत्वपूर्ण श्लोक लिखा है—

> विपरीताभिनिवेश निरस्य सम्यग्व्यवश्य निजतत्वम्।
> यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायो ऽयम्॥

अर्थात् विपरीत अभिप्राय को दूर कर तथा निज आत्म तत्व को अच्छी तरह समझकर उसमे विचलित नही होना यही पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है।

यहा आचार्य ने विपरीत अभिप्राय को दूर करना सबसे आवश्यक बतलाया है। विपरीत अभिप्राय का अर्थ मिथ्यादर्शन होता है।

इसका त्याग होते ही शुद्धबुद्ध निरजन आत्मद्रव्य की प्रतीति हो जाती है और उसके होने पर आत्म-स्वरूप मे स्थिरतारूप चारित्र का प्राप्त करना सरल हो जाता है। समन्तभद्रस्वामी ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का फल बतलाते हुए कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।।

अर्थात् मोहरूपी-मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा भद्रप्रकृति का मानव, रागद्वेष को दूर करने के लिये सम्यक्चारित्र को प्राप्त होता है।

यहा श्री समन्तभद्र स्वामी ने भी सबके पहले मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के त्याग की बात कही है। इस क्रम को उल्लघन कर जो त्याग के मार्ग मे प्रवृत्त होते है वे अपने लक्ष्य तक नही पहुचते।

इस तरह त्याग का मूल मिथ्यात्व का त्याग है। यहा इतनी बात स्मरणीय है कि त्याग का मूल मिथ्यात्व का त्याग तो है परन्तु जो जीव अपने आपको इतने से ही कृतकृत्य मानकर पञ्च पाप तथा इन्द्रिय विषयों का त्याग नही करते वे सागरो पर्यन्त इसी ससार मे परिभ्रमण करते रहते है अतः संसार के इस परिभ्रमण से बचने के लिये मिथ्यात्व के त्याग के साथ आगे के मार्ग-चारित्र ग्रहण को अवश्य अंगीकृत करना चाहि ये।

आत्मा स्वयं सिद्ध है

चार्वाक की मान्यता—

ससार मे एक चार्वाक मत को छोडकर समस्त मतावलम्बी शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत करते है। मरणोत्तर काल मे आत्मा अपनी करनी के अनुसार परलोक मे जन्म लेती है। वहा अपनी पूर्व करनी का फल उसे भोगना पड़ता है। इस तरह जो शरीर से पृथक् आत्मतत्व के अस्तित्व को स्वीकृत करते हैं वे पुर्नजन्म अवश्य मानते है।

चार्वाक शरीर से पृथक् आत्मा को नही मानता। उसका सिद्धान्त है कि जैसे गुड, अन्न चूर्ण, धातकी चूर्ण तथा पानी के सम्बन्ध से उनमे मादक शक्ति पैदा हो जातीहै उसी प्रकार पृथ्वी जल अग्नि और वायु इन चार भतो-पदार्थं विशेषो के मिलने से उनमे चैतन्यशक्ति आ जाती है। वह चैतन्यशक्ति जव तक क्रियाशील रहती है तव तक प्राणी का जीवन रहता है— वह जीवित कहलाता है और जब वह क्रियाशून्य हो जाती है तब प्राणी मृत कहलाने लगता है।

आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नही जो इस लोक से परलोक मे साथ जावे। जव वह परलोक को पुनर्जन्म को नही मानता तव उनकी दृष्टि मे पुण्य पाप कोई ऐसे पदार्थ नही रह जाते जिसके प्रलोभन या भय मे आकर अच्छे कार्यो मे प्रवृत्ति और बुरे कामो से निवृत्ति की जावे।

परलोक के इस सिद्धान्त की मखौल उडाते हुए किसी अन्य दर्शनकार ने यह उक्ति प्रस्तुत की है।

> "यावत्जीव सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृतं पिवेत्।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत. ॥

अर्थात् जब तक जीना है तव तक सुख से जिया जावे। यदि पास मे धन नही है तो ऋण लेकर घी पीना चाहिये। जले हुए शरीर का पुनरागमन कैसे हो सकता है।

इस चार्वाक दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है क्योकि पाणिनीयकी व्याकरण के अनुसार आस्तिक नास्तिक की व्याख्या इस प्रकार है—

> अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिकः।
> नास्तीतिमतिर्यस्य स नास्तिक ॥

अर्थात् "परलोक है" ऐसी बुद्धि जिसकी है वह आस्तिक है और परलोक नही है ऐसी बुद्धि जिसकी है वह नास्तिक है।

उक्त मत का समालोचन—

इस चार्वाक के मत का खण्डन सभी आस्तिक दर्शनकारो ने किया है। आदिपुराण मे जिनसेनाचार्य ने स्वयबुद्ध मत्री के द्वारा इस दर्शन का अत्यन्त विशद खण्डन कराया है। धर्मशर्माभ्युदय मे उसके कर्ता महाकवि हरिशचन्द्र ने कवि की भाषा मे इस दर्शन का खण्डन दशरथ महाराज के मुख से कराया है, वडा सुन्दर प्रकरण है वह।

पृथिवी जल अग्नि और वायु के संयोग से शरीर की उत्पत्ति अवश्य होती है, पर आत्मा की उत्पत्ति उनसे सभव नही है। आत्मा अमूर्तिक तथा सुख–दुःख का अनुभव करने वाला चेतन द्रव्य है और भूतचतुटय मूर्तिक तथा सुख–दुःख के वेदन से रहित पुद्गल द्रव्य–अचेतन का परिणमन है। विजातीय द्रव्य से विजातीय द्रव्य की उत्पत्ति त्रिकाल मे भी सम्भव नही है।

विज्ञान की मान्यता के अनुसार चलने वाला वैज्ञानिक चैतन्यमय आत्मतत्व की सिद्धि मे हतप्रभ हो रहा है। पुद्गल द्रव्य के नाना चमत्कार दिखानेवाला वैज्ञानिक इस आत्मतत्व के समझने मे अपनी बुद्धि का उपयोग नही कर पा रहा है। जब वह आये दिन पुनर्जन्म की प्रकाशित होने वाली सैकडो घटनाओ को सुनता है और उसका परीक्षण करने के वाद जब उन्हें सही पाता है तब दवी जवान से कह उठता है कि पुनर्जन्म की बात को यूँ ही नही टाला जा सकता, उस पर विचार तो करना पडेगा। पर मनोविज्ञान के अध्येता विद्वान भी आज आश्चर्य मे पड रहे है। विज्ञान से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता नही है परन्तु उसका अस्तित्व अनुभव मे आता है।

एक विदेशी प्रोफेसर ने भारतवर्ष को पुनर्जन्म सम्बन्धी अनेक घटनाओं का स्वय परीक्षणकरने के बाद यह निष्कर्प निकाला है कि पुर्नजन्म की वात पर वैज्ञानिको को विचार करना पड़ेगा। आस्तिक दर्शनकारो का कथन है कि जब आत्मा अमूर्तिक है तव मूर्तिक द्रव्यो के द्वारा उसकी उत्पत्ति सम्भव नही है। आत्मा वास्तव मे अजर–अमर और अविनाशी है। यह न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नाश को प्राप्त होगा। हा मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकी की पर्यायो मे अथवा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहता है।

गीता मे व्यास जी ने लिखा है कि इस आत्मा को शस्त्र नही भेद सकते, अग्नि नही जला सकती, पानी नही गला सकता और वायु नही सुखा सकती।

जिस प्रकार वस्त्र के जीर्ण हो जाने पर शरीर जीर्ण नही हो जाता उसी प्रकार शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा जीर्ण नही हो जाता। इसी भाव को लिये हुए कुछ श्लोक समाधिशतक मे पूज्यपादस्वामी ने भी लिखे हैं। (६३ से ६६)

जैन पुराणो मे अधिकाश तीर्थंकर, वलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती के चरित्र उनके अनेक पूर्व जन्म सम्बन्धी घटनाओ के साथ लिखे गये है। उनका इतना ही अभिप्राय है कि यह जीव अनेक भवो मे, नाना जन्मो मे अपनी साधना को किस तरह बढाया करता है इसका ज्ञान साधारण जनता को अनायास होता रहे।

जीव आयु पूर्ण होने पर वर्तमान शरीर से निकलकर बडी तेजी से गमन करता है इतनी तेजी से कि वह तीन लोक के अन्दर किसी भी स्थान मे उत्पन्न होने के लिये तीन समय से अधिक समय नही लगाता। एक

शरीर को छोडकर अन्य शरीर को ग्रहण करने के लिये जीव का जो गमन होता है उसे विग्रह गति कहते हैं। इस विग्रहगति मे जीव एक दो या तीन समय तक ही अनाहारक रहता है, चतुर्थ समय मे नियम से आहारक हो जाता है।

जिन परमाणुओ से नवीन शरीर की रचना होने वाली है उन परमाणुओ को ग्रहण करने वाला जीव आहारक कहलाता है अन्य मतावलम्बी जो कहा करते है कि श्राद्ध के बिना आत्मा इधर-उधर भटकता रहता है, यह सब मिथ्या कल्पनाए है। विग्रहगति मे आत्मा के प्रदेशो का आकार पूर्व शरीर के आकार होता है और विग्रह-गति के बाद जिस पर्याय मे जन्म लेता है उस पर्याय के आकार हो जाता है।

जीव मे दीपक के प्रकाश के समान सकोच और विस्तार की शक्ति रहती है, इसलिए छोटा या बडा जैसा भी शरीर इसे प्राप्त होता है उस शरीर के आकार होकर उसमे व्याप्त हो जाता है। इस तरह मरणोत्तर काल मे जीव का परिणाम घनागुल के असख्यातवे भाग से लेकर एक हजार योजन तक होता है। घनागुल के असख्यातवें भाग की अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया जीव की होती है और उत्कृष्ट अवगाहना राघवमच्छ की होती है। जिसका प्रमाण शास्त्रो मे एक हजार योजन बतलाया है। मध्यम अवगाहना के अनेक भेद हैं।

यह आत्मा शरीर मे रहता है पर उससे सर्वथा भिन्न द्रव्य है। मिथ्यादृष्टि जीव शरीर और आत्मा को एक मानकर शरीर की इष्ट अनिष्ट परिणति मे रागी द्वेषी होता है जबकि सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान दर्शन स्वभाव-वाले आत्मा को शरीर से भिन्न अनुभव करता है। ऐसे जीवो को अन्तरात्मा कहते हैं। यह अतरात्मा चतुर्थ गुण-स्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीन भेदो मे विभाजित है। बारहवें गुण-स्थान के बाद यह अन्तरात्मा परमात्मा कहलाने लगता है। परमात्मा के अरहन्त और सिद्ध ये दो भेद हैं।

अरहन्त परमेष्ठी को सकल परमात्मा कहते है और सिद्ध परमेष्ठी को निकल परमात्मा कहते हैं। निकल परमात्मा बनना ही मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, इसलिए निरन्तर ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिससे यह आत्मा निकल परमात्मा बन सके।

सुमेरु पर्वत की आन्तरिक रचना

मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम चैत्यालयों मे सुमेरू पर्वत के ८० चैत्यालयो का स्थान सर्वोपरि है। जम्बूद्वीप मे एक, धातकी खण्ड मे २ और पुष्कार्ध मे २ इस प्रकार सब मिलकर ५ सुमेरू पर्वत है। इनमे जम्बूद्वीप का सुमेरु पर्वत सब से अधिक ऊंचा है। अर्थात् पृथ्वी तल से निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है और शेष चार सुमेरू पर्वत ८४ हजार योजन ऊचे है। प्रत्येकसुमेरू पर्वत पर क्रमश भद्रसाल, नन्दन, सोमनस और पाण्डुक नाम के चार-चार वन हैं और प्रत्येक वन की चारो दिशाओ मे एक-एक चैत्यालय है। इन सुमेरू पर्वतो की प्रतिकृति के रूप ही जैन समाज मे शिखर वंद मंदिरो का निर्माण किया जाता है।

आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक मे जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत का सरल गद्य मे विशद वर्णन किया है। उसका सक्षेप भाव मे यहा दिया जाता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य सुमेरु पर्वत है। यह सुमेरु निन्यानवें हजार योजन ऊचा है। पृथ्वी मे एक योजन गहरा है। चित्रा पृथ्वी तक इसकी गहराई है। वहा इसका विस्तार १००६० १०/१० योजन है। ३१६११ योजन मे कुछ कम इसकी परिधि है। पृथ्वी तल पर दश हजार योजन विस्तार है तथा कुछ कम इकतीस हजार छह सौ तेईस योजन परिधि है। पृथ्वी तल पर भद्रशाल वन है। यह भद्रसाल वन पूर्व-पश्चिम दिशा मे बाईस योजन और उत्तर दक्षिण दिशा मे ढाई सौ योजन लम्बा है तथा अर्ध योजन ऊची पाच सौ धनुप विस्तृत तथा वन के समान लम्बाई वाली पद्मवर वेदिका से घिरा हुआ है। यह वेदिका अनेक तोरणो से सुशोभित है।

भद्रसाल वन :

मेरु पर्वत की चारो दिशाओ मे विद्यमान भद्रसाल वन मे पद्मोत्तर, नील, स्वस्तिक, अंजन, कुमुद, पलाश अवतंस, और रोचन नाम के आठ कूट है। एक एक दिशा मे दो-दो कूट है। मेरु से पूर्व दिशा मे सीतोदा नदी के उत्तर तट पर पद्मोत्तर कूट है। पूर्व की ओर सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर नील कूट है। दक्षिण दिशा मे सीतोदा नदी के पूर्व तट पर स्वस्तिक कूट है। दक्षिण सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर अन्जन कूट है। पश्चिम दिशा मे सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर कुमुद कूट है। पश्चिम सीतोदा नदी के उत्तर तट पर पलाश कूट है। मेरु के उत्तर सीतोदा नदी के पश्चिमी तट पर अवतंस कूट है। मेरु से उत्तर सीतोदा नदी के पूर्व तट पर रोचन कूट है। ये सभी कूट पच्चीस योजन गहरे, सौ योजन ऊचे, सौ योजन मूल विस्तार, पचहत्तर योजन मध्य विस्तार और पचास योजन अग्रिम विस्तार से सहित है तथा पद्मवर वेदिका से परिवृत है। उन कूटो के ऊपर एक-एक प्रासाद भवन है। वह इकतीस योजन तथा एक कोश ऊचा-है, तथा पन्द्रह योजन दो कोश लम्बा-चौडा है। आठ कूटो पर ये आठ प्रासाद है। इनमे सोम यम-वरुण और वैश्रवण नामक लोकपालो के आभियोग्य देव रहते हैं ये आभियोग्य देव कूटो के समान नाम वाले हैं तथा ऐरावत हाथी आदि का रूप विक्रिया बनाते है पद्मोत्तर, नील, स्वास्तिक और अन्जन नामक कूटो मे सौधर्मेन्द्र, सम्बन्धी लोकपालो के भीम विहार हैं अर्थात् इन कूटो मैं सौधर्मेन्द्र के लोकपाल

आकर विश्राम करते है। कुमुद, पलास, अवतस और रोचन नामक कूटो मे ऐशानेन्द्र सबधी लोक पालो के भौम विहार है। मेरु के पूर्व सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर एक जिन मदिर है। मेरु से दक्षिण सीतोदा नदी के पूर्व तट पर दूसरा जिन मदिर है। मेरु से पश्चिम शीतोदा नदी के उत्तर तट पर तीसरा जिन मदिर है और मेरु से उत्तर सीतोदा नदी के पश्चिम तट पर चौथा जिन मदिर है। ये चारो जिन मदिर पचहत्तर योजन ऊचे है, उत्तर दक्षिण मे सौ योजन लम्बे है और पूर्व पश्चिम मे पचास योजन चौडे है। सोलह योजन ऊचे और आठ योजन चौड़े प्रवेश द्वारो से सुशोभित है। शेषनाग हजार जिह्वाओ के द्वारा भी इनकी सुन्दरता का वर्णन नही कर सकता और इन्द्र हजार नेत्रो से भी इनकी शोभा को देखकर तृप्त नही होता है। ये सब चैत्यालय, मुखमण्डप प्रेक्षागृह, स्तूप, तोरण चैत्य वृक्ष तथा पुष्करिणी आदि से समलकृत है। इन चैत्यालयो मे से प्रत्येक चैत्यालय मे विविध रत्नमयी एक सौ आठ- एक सौ आठ प्रतिमाए है। वे प्रतिमाए ऐसी जान पड़ती है मानो मूर्तिमन्त जिन धर्म ही सुशोभित हो रहा हो।

नन्दन वन :

समानभूमितल से पाच सौ योजन ऊपर चलकर नन्दन वन है वह पाच सौ योजन चौडा है, मेरु के समान लम्बाई वाला है, पद्मवर वेदिका मे घिरा हुआ है तथा गोलाकार परिधि मे सहित है। इस वन मे बाह्य गिरि का विस्तार नौ हजार नौ सौ चौवन योजन तथा एक योजन के ग्यारह भागो मे से ६ भाग प्रमाण है। उसकी परिधि इकतीस हजार चार सौ इक्यासी योजन से कुछ अधिक है। अभ्यन्तर गिरि का विस्तार आठ हजार नौ सौ चौवन योजन तथा एक योजन के ११ भागो मे से ६ भाग प्रमाण है। उसकी २८३१६–८/११ योजन है। नन्दन वन की चारो दिशाओ मे चार गुहाए है। पूर्व दिशा मे मणिगुहा, दक्षिण मे गन्धर्वगुहा, पश्चिम मे चारण गुहा और उत्तर मे चन्द्रगुहा है। ये गुहाए तीस योजन लम्बी-चौडी पचास योजन गहरी तथा कुछ अधिक नब्बे योजन की परिधि सहित है। उन गुहाओ मे क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर का विहार होता है। मेरु के ऐशान दिशा मे बलभद्र कूट है उस पर मेरु पर्वत के अधिपति देव के भवन है।

मेरु की चारो दिशाओ मे दो दो कूट है। पूर्व दिशा मे नन्दन और मन्दर, दक्षिण मे निषध और हैमवत पश्चिम मे रजत और रुचक तथा उत्तर मे सागर और चित्रवज्र कूट है। ये आठो कूट पाच सौ योजन ऊचे है। इनके ऊपर आठ प्रासाद है जिनमे क्रम से मेघकरी, मेघवती, मेघमालिनी, तोयन्धरा, विचित्रा, पुष्करमाला और अनिन्दिता नाम की आठ दिक्कुमारी देविया रहती है। मेरु से आग्नेय दिशा मे उत्पलगुल्मा, नालिना, उत्पला और उत्पलोज्वला नाम की चार वापिकाए है। नैऋत्य दिशा मे भृन्गा, भृन्गनिभा, कज्जला और कज्जल प्रभा नाम की पुरष्करिणी है। वायव्य दिशा मे श्रीकान्ता, श्रीचन्द्रा, श्रीनिलता, और श्रीमहिलता नामक चार वापिकाए है। और ईशान मे पद्मा, पद्मगुल्मा, कुमुदा तथा कुमुदप्रभा नाम की चार वापिकाए हैं। वे सभी वापिकाए पचास योजन लम्बी पच्चीस योजन चौडी, दस योजन गहरी, चार कोनो से युक्त लम्बी चौकोन है। उन सबके बीच मे बासठ योजन ऊंचा एक-एक प्रासाद है। उस प्रासाद का द्वार बासठ योजन ऊचा और साढे इक्कीस योजन चौडा है। वहा दक्षिण दिशा तथा उसकी आजू-बाजू की दोनो विदिशाओ मे जो प्रासाद है उनमे सौधर्मेन्द्र का भौम-विहार– पृथ्वी सबधी निवास है और उत्तर दिशा तथा उसकी आजू बाजू की विदिशाओ मे ऐशानेन्द्र का भौम-विहार है। मेरु पर्वत की चारो दिशाओ सबधी नन्दनवन मे चार चैत्यालय है। चैत्यालय भद्रसाल वन के चैत्यालयो सबधी वर्णन से सहित है।

—

सौमनस वन :

नन्दनवन से साढे बासठ हजार योजन ऊपर चलकर सोमनस वन है । यह वन पाच सौ योजन विष्कम्भ वाला है तथा पद्मवर वेदिका से परिवृत है वहा बाह्यगिरि का विस्तार ४२७२-८/११ योजन है तथा उसकी परिधि १३५११-६/११ योजन है । अभ्यन्तर गिरि का विस्तार ३२७२-८/११ योजन है और उसकी परिधि १०३४९-३/११ योजन से कुछ कम है। सौमनस वन मे बलभद्रकूट तथा दिक्कुमारियो के आठ कूट नही हैं । नदन वन की वापिकाओ के समान अवगाह वाली सोलह वापिकाए हैं उन वापिकाओ के मध्य पचास योजन लम्बे,पच्चीस योजन चौडे तथा छत्तीस योजन ऊचे भवन हैं । चारो दिशाओ मे चार अकृत्रिम चैत्यालय है । उन चैत्यालयो के दक्षिण-उत्तर द्वार आठ योजन ऊचे तथा चार योजन चौडे हैं चैत्यालयो की अभ्यन्तर रचना पूर्ववत् है ।

पाण्डुक वन :

सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊपर चढकर गोलाकार परिधि से युक्त पाण्डुक वन है । यह वन ९४४०० = योजन विस्तार वाला है, पद्मवर वेदिका से परिवृत है, तथा चूलिका को घेर कर स्थित है । मेरु का शिखर एक हजार योजन विस्तार वाला है । शिखर की परिधि ३२९२ योजन से कुछ अधिक है । पाण्डुक वन के ठीक बीच मे चालीस योजन ऊंची चूलिका है । यह चूलिका मूल मे बारह योजन, मध्य मे आठ योजन और अन्त मे चार योजन विस्तार से युक्त गोल है । उसकी पूर्व दिशा मे पाण्डुक शिला, दक्षिण मे पाण्डुकम्बल शिला, पश्चिम मे रक्तकम्बल शिला और उत्तर मे नातिरक्तकम्बल शिला है । इनमे पाण्डुक शिला चादी और सुवर्णमय है,पाण्डु-कम्बल शिला चादी की है, रक्त कम्बल शिला मूंगा की है और नातिरिक्त कम्बल शिला सुवर्णमय है । ये चारो शिलाए पाच सौ योजन लम्बी, अढाई सौ योजन चौडी और चार योजन मोटी है । अर्द्धचन्द्राकार हैं, अर्द्धयोजन ऊंची, पाच सौ धनुष चौडी और शिला के समान लम्बाई वाली पद्मवर वेदिका से परिवृत तथा चार तोरण द्वारो से अलकृत है । उनके ठीक मध्य मे पाच सौ धनुष लम्बे और अढाई सौ धनुष चौडे सिंहासन है । इन सिंहासनो का मुख पूर्व दिशा की ओर है । पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरो का, दक्षिण दिशा के सिंहासन पर भरत क्षेत्र के तीर्थंकरो का, पश्चिम दिशा के सिंहासन पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरो और उत्तर दिशा के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरो का जन्माभिषेक चतुर्णिकाय के देव बडी विभूति के साथ करते हैं ।

इस पाण्डुक वन मे भी सोलह वापिकाए है तथा चारों दिशाओ मे चार अकृत्रिम चैत्यालय है ये चैत्यालय सवा तेतीस योजन लम्बे, साढे सोलह योजन चौडे और पच्चीस योजन ऊचे है । इनके द्वार एक योजन ऊंचे तथा अर्द्ध योजन चौडे है ।

इस प्रकार जैन दर्शन मे सुमेरु पर्वत और उसकी आन्तरिक रचना का वर्णन किया गया है ।

□

निमित्त-उपादान : आगम और अध्यात्म के आलोक में

जैनाचार्यो ने पदार्थ का उपदेश कही आगम दृष्टि से और कही अध्यात्म दृष्टि से दिया है आगम दृष्टि मे कार्यकारण, निमित्त-नैमित्तिक आदि सभी भावो को स्वीकृत किया गया है। "आ समन्तात् गमयति बोधयति वस्तुस्वरूपं य स आगम" —इस निरुक्ति के अनुसार आगम वस्तुस्वरूप का निरूपण सभी दृष्टियो को अतनिहित करके आता है और "आत्मनि इति अध्यात्मम्" इस निरुक्ति के अनुसार अध्यात्मदृष्टि का कथन आत्माश्रित होता है। इस दृष्टि मे पर के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणाम को गौणकर मुख्यता मे आत्मा के परिणाम का ही निरूपण होता है। जैसे अध्यात्मदृष्टि का कथन है कि आत्मा अपने परिणामो का ही कर्ता है, कर्मो का नही। कर्म का कर्त्ता कार्माण वर्गणारूप पुद्गल द्रव्य है, आत्मा नही; क्योकि आत्मा कर्मरूप परिणमन त्रिकाल मे भी नही करता। इसी प्रकार रागकर्म के उदयकाल मे आत्मा की रागपरिणति होती है, अत राग का कर्त्ता आत्मा ही है, कर्मरूप पुद्गल नही। अध्यात्मदृष्टि उपादान-उपादेय भाव को स्वीकृत करती है और आगमदृष्टि निमित्त-नैमित्तिक भाव को।

उपादान वह कहलाता है, जो स्वय कार्यरूप परिणमन करता है और निमित्त वह कहलाता है, जो उपादान की कार्यरूप परिणति मे सहायक होता है परतु स्वय कार्यरूप परिणमन नही करता। उपादान और निमित्त कारणो की मैत्री को समर्थ कारण कहते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार मे कहा है कि जीव के रागादिरूप परिणाम का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणमन करता है।[1] इस प्रकार, जीव और कर्म का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक परिणमन कहकर भी जीव को कर्मरूप व कर्म को जीवरूप नही कहा - यह कहलाता है दोनो दृष्टियो का तात्विक कथन। कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रथो मे दोनो दृष्टियो से निरूपण किया है। समयसार मे यदि अध्यात्मदृष्टि से कथन किया है तो नियमसार मे आगमदृष्टि को लेकर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की चर्चा की है।

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अन्तरहेऊ भणिदा दसणमोहस्स खयपहुदी॥

१— जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुण जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्हपि॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकयाण ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥

सम्यक्त्व का वाह्य निमित्त जिनसूत्र-जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष है तथा अंतरंग निमित्त दर्शनमोह-कर्म के क्षयादि है।

उपादान कारण के शुद्ध-उपादान और अशुद्ध-उपादान की अपेक्षा दो भेद है। जैसे-सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा मे होने वाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शुद्ध-उपादान से होते है और संसारी जीव मे होने वाले रागादिभाव अशुद्ध-उपादान से उत्पन्न होते है। निमित्त कारण के भी अतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त की अपेक्षा दो भेद है। जैसे-मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय या क्षयोपशम अंतरंग निमित्त है और जिनविम्बदर्शनादि वाह्य निमित्त है।

अतरग निमित्त के होने पर कार्य नियम से होता है और बहिरग निमित्त के होने पर कार्य होता भी है और नही भी होता। अतरग निमित्त के रहते बहिरंग निमित्त कुछ भी हो सकता है और अतरग निमित्त के बिना बहिरंग निमित्त व्यर्थ हो जाता है। अतरग मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने पर सिर मे एक सफेद बाल का दिखना भी वैराग्य का कारण निमित्त हो जाता है और प्रत्याख्यानावरण का क्षयोपशम न होने पर सिर के समस्त बाल सफेद हो जाने पर भी वैराग्य उत्पन्न नही होता। कही अतरग कारण को भी उपादान कहा है और कही अतरग कारण से पृथक् काललब्धि आदि से विशिष्ट आत्मा को उपादान कहा है। जैसे—

"आसन्नभव्यताकर्महानि संज्ञित्वशुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ।।—सागार-धर्मामृत

निकट भव्यता, सम्यग्दर्शन का घात करने वाली सात प्रकृतियो की हानि, सज्ञित्व, शुद्धि को प्राप्त तथा देशनादि से जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है—ऐसा जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

यहाँ आसन्न भव्यता उपादान कारण है, कर्महानि अतरग कारण है और देशनादि बहिरग कारण है। ससार का भ्रमण अर्धपुद्गलपरावर्तन से अधिक काल बाकी रहने पर आत्मा मे सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता नही आती, इसलिए आसन्न भव्यता को उपादान कारण माना गया है।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य अध्यात्म दृष्टि के आविष्कारक कहे जाते है, तो उमा स्वामी, समन्तभद्र स्वामी, पूज्यपाद स्वामी तथा अकलकदेवादि आचार्य आगम दृष्टि के प्रख्यापक माने जाते है। उपादान से ही कार्य होता है, इस विषय पर समन्तभद्र स्वामी ने टिप्पणी की है :—

"वाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येसु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।।
(स्वयंभूतोस्त्र, श्लोक ६०)

वाह्य और अभ्यन्तर कारणो की पूर्णता ही कार्य को करने वाली है—ऐसा द्रव्य का स्वभाव है, अन्य प्रकार से मोक्ष की सिद्धि नही हो सकती। हे वासुपूज्य जिनेन्द्र। आपने ऐसा कथन किया है, अत: आप विद्वज्जनो के वन्दनीय हैं।

तात्पर्य यह है कि आगम दृष्टि और अध्यात्म का समन्वय करते हुए ही तत्व का निरूपण करना चाहियें। एक दृष्टि से निरूपण करने पर विसगति उत्पन्न होती है। मात्र अध्यात्म दृष्टि को अगीकार कर "उपादान से ही कार्य होता है" — ऐसा मान लेने पर कर्म सिद्धांत व छह द्रव्यों की पारस्परिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है और मात्र आगम दृष्टि को अगीकृत करने पर आत्मा की स्वतन्त्रता समाप्त होती है। जिनागम का अभ्यासी न तो एकांत से उपादान का पक्षपाती होता है और न एकात से निमित्त का। वह कार्य सिद्धि मे दोनो को यथास्थान आवश्यक मानता है।

शौचधर्म गरिमा

आर्या

सतोषा मृत तुष्टा स्त्रिलोक राज्यं तृणाय मन्यते।
अपि भो कष्ट सहस्र्यां पतिता दुःख लभन्ते न ।।७३।।

एकस्येह करस्थ त्यक्तु वस्तु प्रवर्तते वाञ्छा।
इतरो गगन निषण्ण वाञ्छति चन्द्र स्वसातकर्तुम् ।।७४।।

अयमेव शौचधर्मो ह्यात्मबल सदवाति लोकानाम्।
यदखिल कार्यकलापे निमित्त माद्य प्रभण्यते सद्भि ।।७५।।

सतोष रूपी अमृत से सतुष्ट मनुष्य तीन लोक के राज्य को भी तृण के समान तुच्छ मानते है और हजारो कष्टो मे पडकर भी दु ख को प्राप्त नही होते।

इस जगत् मे किसी मनुष्य की हाथ मे स्थित वस्तु को छोडने की इच्छा होती है और कोई दूसरा मनुष्य आकाश मे स्थित चन्द्रमा को भी अपने अधीन करना चाहता है।

यह शौच धर्म ही मनुष्यो के लिये वह आत्म बल देता है जो सत्पुरुषो के द्वारा समस्त कार्य-समूह का प्रथम निमित्त कहा जाता है।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूरव–८

उपादानोपादेय भाव तथा निमित्त नैमित्तिक भाव का विश्लेषण

जो स्वय कार्यरूप होता है उसे उपादान कहते है और उस परिणमन के फलस्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है उसे उपादेय कहते है। यह उपादान-उपादेय भाव सदा एक ही द्रव्य मे रहता है क्योकि अन्य द्रव्य मे अन्य द्रव्य का अत्यन्ताभाव रहता है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य के गुण और पर्याय रूप कभी परिणमन नही कर सकता। यही कारण है कि जीव अपने परिणमन का कर्ता जीव है और द्रव्य कर्मरूप पर्याय का कर्ता पुद्‌गल द्रव्य है।

जीव, कर्मरूप नही परिणमता और कर्म जीवरूप परिणमन नही करता यह सही है परन्तु जीव और पुद्-गल का यह परिणमन मात्र उपादान--उपादेय भाव पर निर्भर नही है। कार्य की उत्पत्ति मे इसके अतिरिक्त निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी होता है जिसकी उपेक्षा करना शास्त्र समत नही है। जीव का रागादि भाव, कर्मरूप-पुद्‌गल द्रव्य का निमित्त पाकर उत्पन्न होता है और पुद्‌गल द्रव्य मे कर्मरूप परिणमन, जीव के रागादि भाव को निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। जैसा कि समय सार गाथा ८० और ८१ मे कहा है—

> जीव परिणाण हेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमति ।
> पुग्गल कम्म णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ।।
> ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीव गुणे ।
> अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणाम जाण दोण्ह पि ।। ।।

कुद कुद स्वामी ने इन गाथाओ मे जीव और पुद्‌गल के परिणमन को अन्योन्य निमित्तक कहा है।

निमित्त नैमित्तक भाव भिन्न द्रव्यो मे बनता है। कार्य की सिद्धि मे जो सहायक होता है वह निमित्त कारण कहलाता है। निमित्त कारण अन्तरङ्ग निमित्त और बहिरङ्ग निमित्त के भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होना अन्तरङ्ग निमित है और उपदेश आदि का निमित्त मिलना बहिरङ्ग निमित्त है। सम्यग्दर्शन, आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय है अत उसका उपादान कारण आत्मा है और सात पाच प्रकृतियो का उपशमादिक अन्तरङ्ग निमित्त है तथा उपदेश आदि बहिरङ्ग निमित्त है। अन्तरङ्ग निमित्त के मिलने पर कार्य की उत्पत्ति अनिवार्य रूप से होती है परन्तु बहिरङ्ग निमित्त के ऊपर कार्य की उत्पत्ति का दायित्व निश्चित नही है। यदि अन्तरङ्ग निमित्त है तो बहिरङ्ग निमित्त, कार्य की उत्पत्ति मे सहायक हो जाता है और अन्तरङ्ग निमित्त नही है तो बहिरङ्ग निमित्त व्यर्थ हो जाता है। यहा यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि अन्तरङ्ग निमित्त उपादान की योग्यता की भी अपेक्षा रखता है। कार्य की सिद्धि मे उपादान की योग्यता और अन्तरङ्ग निमित्त दोनो की आवश्यकता है। कुद कुद स्वामी ने समयसार मे दोनो दृष्टियो से पदार्थ का विवेचन किया है। एक स्थान पर वे पुद्‌गल कर्म के निमित्त से होने के कारण रागादि को अचेतन तथा पौद्‌गलिक कहते है तो दूसरी जगह वे कहते है कि जो रागादि की उत्पत्ति मे पर द्रव्य को ही

निमित्त मानते है वे मोहरूपी नदी को पार नही कर सकते अर्थात् रागादि की उत्पत्ति उपादान की अपेक्षा आत्मा मे होती हे और उसमे अन्तरङ्ग निमित्त कारण पौद्गलिक कर्म का उदय तथा वाह्य निमित्तकारण स्त्रीपुत्रादिक है।

आज् समाज मे मात्र उपदान से कार्य होता है निमित्त अकिंचित्कर है इस प्रकार के प्रवचनो की जो धारा चल पडी है उसमे मूल मान्यता यह घुसी हुई है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नही कर सकता । परन्तु मेरी समझ से उस मान्यता का अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नही कर सकता । एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के प्रति कुछ भी निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध नही है ऐसा मानना ही है । क्योकि ऐसा मानने से शास्त्रो मे जीव और पुद्गल का तथा अन्यान्य द्रव्यो का जो कार्य कारण भाव-निमित्त नैमित्तिक भाव बतलाया गया है वह व्यर्थ सिद्ध होता है तथा जीव का जो अशुद्ध परिणमन है वह अनिमित्तक होने से स्वभाव कोटी मे आ जाता है ।

एक मान्यता, प्रश्नकर्ताओ के मन मे यह जम गई है कि निश्चय नय की अपेक्षा उपादान से ही कार्य होता है और व्यवहार नय की अपेक्षा पर निमित्त से । चूंकि व्यवहारनय अभूतार्थ है इसलिये उसके आश्रय से होने वाला कथन अभूताथ है और अभूतार्थ का कथन क्या ? शुद्धनय निश्चयनय भूतार्थ है इमलिये उससे ही कथन करना । परन्तु यह मान्यता ठीक नही है, क्योकि पदार्थ के उपदेश मे निश्चय और व्यवहार दोनो नय आवश्यक हैं कुद कुद स्वामी समयसार के प्ररम्भ मे ही कह रहे हैं—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा ण गाहेउ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्क ।।८।।

जिस प्रकार अनार्य मनुष्य को अनार्य भाषा के विना पदार्थ का उपदेश नही दिया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार के विना परामार्थ का उपदेश देना अशक्य है ।

यही कारण है कि कुदकुद स्वामी ने सर्वत्र निश्चय नय का पक्ष वतलाने के वाद व्यवहार नय का पक्ष भी सामने रक्खा है । इसलिये उनके कथन मे आज तक किसी को असगति का अनुभव नही हुआ ।

नय परार्थश्रुतज्ञान के भेद है और सम्यग्दृष्टि जीव का श्रुतज्ञान, सम्यग्ज्ञान है तथा नय के निश्चय और व्यवहार दो भेद शास्त्रो मे वर्णित है तव एक मिथ्या और एक को सम्यक् किस प्रकार कहा जा सकना है ? कुद-कुद स्वामी ने यह लिखा है कि—

दोहू णयाण भणिय जादू णवरिं तु समय पडि नद्धो ।
ण दु णयपक्ख गिण्हदि किं चि वि णय पक्ख परिहीणो ।।१४३।।

सम्यग्दृष्टि जीव दोनो नयो के पक्ष को जानता है परन्तु दोनो मे से किसी नय को ग्रहण नही करता क्योकि वस्तु नय पक्ष सें सहित है।

यहा यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि जिस प्रकार समय आने पर व्यवहार का नय का पक्ष छूटता है उसी प्रकार निश्चय नय का पक्ष भी छूटता है । इसलिये निश्चय भूतार्थ होने से उपादेय है, यह पक्ष कुदकुद स्वामी को संमत नही है । वे नय को पदार्थं का स्वरूप समझने और समझाने के लिये एक साधन मात्र समझते ह । जव

जिस साधन का उपयोग करना ठीक समझते है तब उस साधन का उपयोग करने की प्रेरणा करते है। उन्होने स्पष्ट लिखा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे ।।।२।।

परमभाव का दर्शन करने वालो के द्वारा शुद्ध-परसबध से रहित वस्तु का वर्णन करने वाला शुद्धनय ज्ञातव्य है और जो अपरमभाव मे स्थित है वे व्यवहार नय से उपदेश देने के योग्य है।

इस कथन मे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार नय सर्वथा अभूतार्थ नही है और निश्चय नय सर्वथा भूतार्थ नही है किन्तु दोनो की अभूतार्थता और भूतार्थता आपेक्षिक है। एक बात यह भी है कि व्यवहार तो निश्चय के बिना हो सकता है अर्थात् व्यवहार हो और निश्चय हो भी तथा नही भी हो। परन्तु निश्चय, व्यवहार के बिना नही हो सकता, अर्थात् जहा निश्चय होगा वहा व्यवहार अनिवार्य रूप से होगा ही। इस स्थिति मे व्यवहार अभूतार्थ है, इसका यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि निश्चय से रहित व्यवहार अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है ही। यहा व्यवहार से रहित शुद्धनय होता ही नही है इसलिये उसके साथ वह विकल्प उठाना सगत नही है कि जिस प्रकार निश्चय के बिना व्यवहार अभूतार्थ है उसी प्रकार व्यवहार के बिना निश्चय भी अभूतार्थ है।

यह आवश्यक है कि कुद कुंद स्वामी के ग्रन्थो का प्रवचन उन्ही के द्वारा अपनाई हुई पद्धति से होना चाहिए। उसमे अपनी ओर से फलितार्थ और व्यन्यर्थ न लगाया जाये।

नय, अनेकान्त और सप्तभंगी

नय—

धवला के प्रारम्भ मे वीरसेन स्वामी ने नयो की उपयोगिता बतलाते हुए कहा है "नयैर्विना लोक—व्यवहारानुपत्तेर्नया उच्यन्ते तद्यथा, प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वव्यवसायो नय । स द्विविध द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च ।

णत्थि णएहि विहूण सुत्त अत्थोव्व जिणवरमदम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥

अर्थात् नयो के बिना लोकव्यवहार नही चलता, इसलिए नय कहे गये है। प्रमाण के द्वारा परिगृहीत वस्तु के एकदेश को जानने वाला ज्ञान नय है। वह दो प्रकार का है, एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जिनेन्द्र भगवान के मत मे नयो से रहित न शास्त्र है और न पदार्थ है। अत. नयवाद मे निपुण मुनि ही सैद्धान्तिक होते है।

ससार के प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेपात्मक अथवा द्रव्य-पर्यात्मक है। उनके दोनो अशो को जानने के लिये दो नयो का विवेचन आवश्यक है। यही कारण है कि जिनागम मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के नाम से दो मूल नय माने गए है। श्री माइल्लधवल ने अपने नयचक्र मे कहा है—

"दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ—पज्जयत्थणया।
अण्णे असखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा' ॥ ८३ ॥

अर्थात् मूल नय दो दी कहे गसे है। (१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक इनके सिवाय जो सख्यात-असख्यात नय है इन्ही के भेद जानना चाहिए।

द्रव्यार्थिकनय के नैगम, सग्रह और व्यवहार ये तीन भेद है और पर्यार्यथिक नय के ऋजुसूत्र, शव्द, समभिरुढ और एवभूत ये चार भूत है। विवक्षावश इन सात नयो का तर्थनय और शव्दनय इन दो विभागो मे भी विभाजन किया गया है। इस विभाजन मे नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसुत्रनय अर्थनयो मे परिगणित किये जाते है और शव्द, समभिरूड तथा एवभूत शव्दनयो मे सम्मिलित किये जाते है।

---

१ णिच्छयववहारणया मूलमभेयाण याण सव्वाण ।
णिच्छयसाहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह —आलापपद्धति ॥ ४१ ॥

तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने जीवादि पदार्थों के जानने के उपायो की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम "प्रमाणनयैरधिगम." सूत्र द्वारा प्रमाण और नय की ही चर्चा की है। प्रमाण के द्वारा वस्तु मे रहने वाले परस्पर विरोधी अनेक धर्म माने जाते है और नय के द्वारा विरोधी धर्म को गौण कर प्रधानता से किसी एक धर्म को जाना जाता है। जैसे प्रमाण, वस्तु के नित्य और अनित्य दोनो धर्मों को ग्रहण करता है, परन्तु नय प्रयोजनवश एक को मुख्य और दूसरे को गौणकर ग्रहण करता है। नय वचनात्मक परार्थ श्रुतज्ञान के भेद हैं इसलिए इसमे प्रयोजन की ओर दृष्टि रखना आवश्यक होता है। सल्लेखना से बैठे हुए साधक को मरण भय से मुक्त करने के लिए निर्यापकाचार्य नित्यधर्म को प्रधान मानकर उपदेश देते है कि आत्मा अजर-अमर है पर्याय के परिवर्तन से आत्मा परिवर्तित होने वाली नही है और विषय वासना मे आसक्त जीव का उद्धार करने के लिए श्रीगुरु देशना देते है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ नश्वर है अत समय रहते आत्महित कर लेना चाहिए। समन्तभद्रस्वामी ने "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्" इस उक्ति के द्वारा विरोधी धर्म से निरपेक्ष नय को मिथ्यानय कहा है और सापेक्ष नय को यथार्थ तथा कार्यकारी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को अध्यात्मग्रन्थो मे निश्चय और व्यवहार नाम से कहा गया है। वहा निश्चयनय की परिभाषा "स्वाश्रितो निश्चय" और व्यवहारनय की परिभाषा "पराश्रितो व्यवहार" स्वीकृत की गई है। जिसमे परद्रव्य से निरपेक्ष स्वद्रव्य का ही ग्रहण होता है वह निश्चयनय है और परद्रव्य के सहयोग से होने वाले परिणमन को स्वद्रव्य का परिणमन कहा जाता है वह व्यवहारनय है। उदाहरण के लिए "आत्मा ज्ञायक स्वभाव है" यह निश्चय का दृष्टान्त है और "आत्मा रागी-द्वेषी है" यह व्यवहार का दृष्टात है। ज्ञायक स्वभाव आत्मा का स्वाश्रित परिणमन है और रागी-द्वेषी होना पराश्रित परिणमन है। लौकिक भाषा मे "नमक खारा है" यह नमक का स्वाश्रित परिणमन है और "दाल खारी है" यह दाल का पराश्रित परिणमन है।

भूतार्थ और अभूतार्थ—

निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा जाता है। निश्चयनय को भूतार्थ इसलिए कहा जाता है कि वह अन्य द्रव्य मे अन्यद्रव्य के परिणमन को स्वीकृत नही करता और व्यवहार को अभूतार्थ इसलिए कहा जाता है कि वह अन्य द्रव्य के परिणमन को अन्य द्रव्य मे सम्मिलित कर कथन करता है। अभूतार्थ होने पर भी जिनागम मे व्यवहार को इसलिए स्थान दिया गया है कि उसके द्वारा साधारण मनुष्य निश्चय को ग्रहण करने मे समर्थ हो सकते है। जिनागम मे व्यवहार को साधक और निश्चय को साध्य के रूप मे निरूपित किया गया है, किन्तु आगे चलकर निश्चय और व्यवहार दोनो ही निर्वृत्त हो जाते है। इसीलिए कहा गया है कि वस्तु न निश्चय रूप है और न व्यवहार रूप। वह तो इन दोनो पक्षो से रहित है। प्रारम्भिक दशा मे वस्तु स्वरूप को समझने के लिए ही इनका आलम्बन लिया जाता है। वस्तु का परिज्ञान होने पर दोनो साधन अनावश्यक हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप की विवेचना के लिए दोनो नयो का जानना आवश्यक है जानना ही नही उनका अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उपयोग करना भी आवश्यक है। अमृतचन्द्रस्वामी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे लिखा है—

"व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकल शिष्य.॥

अर्थात् जो व्यवहार और निश्चयनय को यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है—एकान्तरूप से किसी एक पक्ष को स्वीकृत नही करता है वही शिष्य देशना के पूर्ण फल को प्राप्त होता है। यथार्थरूप से जानने का अर्थ यह है कि कही वह व्यवहाराभास को व्यवहार और निश्चयाभास को निश्चय तो नही समझ बैठा है? व्यवहराभास को व्यवहार मानने वाला मनुष्य उसी मे सलग्न होकर रह जाता है उसके माध्यम से होने वाले लक्ष्य की ओर उसकी दृष्टि नही जाती और निश्चयभास को निश्चय मानने वाला मानव व्यवहार को त्याज्य समझकर तदाश्रित् क्रियाकाण्ड को छोड देता है और निश्चय की साधना नही होने से दोनो ओर से भ्रष्ट होता है। ऐसे ही मानव को लक्ष्यकर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है —

"निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते।
नाशयति करणचरण स बहिः करणालसो बाल ॥"

अर्थात् जो निश्चय को न समझकर निश्चयाभास को ही निश्चय मानकर उसका आश्रय लेता है वह अज्ञानी बाह्य आचरण मे आलसी होता हुआ प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट करता है। पच्चास्तिकाय के अन्त मे अमृतचन्द्राचार्य ने इन व्यवहाराभासी, निश्चयाभासी और उभयाभासी लोगो का बडा मार्मिक वर्णन किया है तथा इसी का आशय लेकर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सप्तम अध्याय मे विशद चर्चा की है।

जिनागम प्रतिपादित नयचक्र को समझकर ही प्रयोग मे लाना चाहिए क्योकि विना समझे उसका प्रयोग करने वाले अपना अहित कर बैठते है। कहा भी है —

"अत्यन्तनिशितधार, दुरासद जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाण, मूर्धन झटिति दुर्विग्धानाम्" ॥ ५९ ॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव का नयचक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला तथा कठिनाई से प्रयोग करने योग्य है वह बिना समझे शीघ्रता से प्रयोग करने वाले अज्ञानीजनो के मस्तक को खण्डित कर देता है।

जिनधर्म की प्रभावना एव प्रवर्तना के लिए निश्चय और व्यवहार दोनो नयो की साधना को आवश्यक बताया है —

"जइ जिणमय पवज्जइ तो मा ववहार-णिच्छय मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्च ॥"

यदि जिन धर्म की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय को मत छोडो, क्योकि एक अर्थात् व्यवहार के विना तीर्थ-धर्म की आम्नाय और दूसरे अर्थात् निश्चय के विना वस्तुतत्व नष्ट हो जाता है।

नयो के भेद-प्रभेद—

कुन्दकुन्दस्वामी ने नयो के दो भेद ही प्रतिपादित किये है— प्रवचनसार मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा समयसार मे निश्चय और व्यवहार। निश्चय के अतिरिक्त अन्य सभी नयो का उन्होंने व्यवहारनय मे अन्त-

र्भाव किया है, किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यो ने इन नयो के अनेक भेद निरूपित किये हैं। जैसे—शुद्धनिश्चयनय, अशुद्ध-निश्चयनय, परमशुद्धनिश्चनय, सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय आदि। इन सब भेद प्रभेदो का वर्णन हम माइल्ल धवल के नयचक्र मे और देवसेन की आलापद्धति मे विस्तार से देखते है।

आलापद्धति के आधार पर नयो के भेद—प्रभेदो का सक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है —

१—द्रव्यार्थिक २—पर्यायार्थिक ३—नैगम ४—सग्रह ५—व्यवहार ६—ऋजुसूत्र ७—शब्द ८—समभिरूढ और एवभूत ये नौ नय है। तथा नयो के समीपवर्ती उपनय भी सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार व उपचरिता—सद्भूतव्यवहार के भेद से तीन प्रकार के है।

इनमे द्रव्यार्थिक नय के १० भेद है—

१. कर्मोपधि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक -- जैसे ससारी जीव सिद्ध के समान शुद्धात्मा है।

२ सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक -- जैसे उत्पाद व्यय को गौणकर द्रव्य को नित्य कहना।

३ भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक — जैसे द्रव्य स्वकीय गुण-पर्याय से अभिन्न है।

४. कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक — जैसे क्रोधादि कर्मो से होने वाले क्रोधादि विकारीभाव आत्मा हैं।

५ उत्पाद-व्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक — जैसे एक ही समय मे द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

६ भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक — जैसे दर्शन-ज्ञानादिगुण आत्मा के है।

७. अन्वय गुण-पर्यायस्वभाव द्रव्यार्थिक — जैसे गुण-पर्याय स्वभाव वाला द्रव्य है।

८ स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक — जैसे स्वकीय द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है।

९ परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक — जैसे परकीय द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है।

१०. परमाभावग्राहक द्रव्यार्थिक — जैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

पर्यायार्थिकनय भी ६ भेदयुक्त है —

१. अनादि नित्य पर्यायार्थिक — जैसे मेरुपर्वत आदि पुद्गल की नित्य पर्याय है।

२ सादि नित्य पर्यायार्थिक — जैसे जीव की सिद्धपर्याय सादि होकर भी नित्य है—अनन्त है।

३ उत्पाद-व्यय ग्राहकस्वभाव नित्याशुद्धपर्यायार्थिक — जैसे समय समय मे पर्याय विनाशीक है।

४ सत्तासापेक्षस्वभाव नित्याशुद्धपर्यायार्थिक — जैसे एक समय मे द्रव्य की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पर्याय है।

५. कर्मोपाधि निरपेक्षस्वभाव नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक — जैसे ससारी जीवो की पर्याय सिद्धो की पर्याय के समान है।

६ कर्मोपाधिसापेक्ष स्वभाव अनित्याशुद्ध पर्यायार्थिक — जैसे ससारी जीवो का जन्म-मरण होता है।

नैगमनय के भेद :—

१ भूतकाल नैगम—जैसे आज दीपोत्सव के दिन महावीर स्वामी मोक्ष गये ।

२. भाविकाल नैगम—जैसे अर्हन्त परमेष्ठी सिद्ध ही है ।

३ वर्तमानकाल नैगम—जैसे भात पक रहा है ।

सग्रहनय के २ भेद है —

१. सामान्य सग्रह— जैसे सभी द्रव्य परस्पर अविरोधी है ।

२. विशेषसग्रह— जैसे सभी जीव परस्पर अविरोधी है ।

व्यवहारनय के भी दो भेद है —

१ सामान्य सग्रह भेदक व्यवहार— जैसे द्रव्य दो प्रकार के है, जीव और अजीव ।

२ विशेषसग्रह भेदक व्यवहार— जैसे जीव के दो भेद है, ससारी और मुक्त ।

ऋजुसूत्रनय के दो भेद —

१ सूक्ष्मऋजुसूत्रनय— जैसे पर्याय एक समय व्यापी है ।

२ स्थूलऋजुसूत्रनय—जैसे मनुष्य पर्याय मरण पर्यन्त रहती है ।

शब्द, समभिरूढ और एवम्भूतनय एक–एक प्रकार के है । इस प्रकार उक्त विवेचना के अनुसार नयो के २८ भेद है ।

उपनय–मूलरूप से उपनय के तीन भेद है ।

१ सद्भूतव्यवहारनय २ असद्भूतव्यवहारनय ३ उपचरितासद्भूत व्यवहार नय ।

सद्भूतव्यवहारनय के दो भेद हैं —

१. शुद्धसद्भूतव्यवहार—जैसे शुद्ध गुण-गुणी अथवा शुद्ध पर्याय-पर्यायी मे भेद कहना ।

२. अशुद्धसद्भूतव्यवहार - जैसे अशुद्ध गुण और गुणी तथा अशुद्ध पर्याय और पर्यायवान् मे भेद करना ।

असद्भूतव्यवहारनय के ३ भेद है : -

१ स्वजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे परमाणु को बहुप्रदेशी कहना ।

२ विजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे मतिज्ञान आदि को मूर्तिक कहना ।

३ स्वजाति-विजात्यसद्भूत व्यवहार—जैसे ज्ञान का विषय होने से जीव-अजीव दोनो को ज्ञान कहना ।

उपचरितासद्भूत व्यवहारनय भी तीन प्रकार का है :—

१ स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार - जैसे स्त्री पुत्रादिक मेरे है ।

२. विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार - जैसे वस्त्राभूषणादि मेरे है ।

३. स्वजाति-विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार - जैसे देश, राज्य दुर्ग आदि मेरे है ऐसा कहना ।

ऐसा जान पडता है कि लोक मे जितने प्रकार का व्यवहार चलता है उस सबका सङ्ग्रहकरण कर देवसेनाचार्य ने उन्हे उपनयो मे गर्भित किया है ।

अनेकान्त—

नयचक्र के परिज्ञान से ही अनेकान्तदर्शन प्रतिफलित होता है । वस्तु मे रहने वाले परस्परविरोधी धर्मो का समन्वय नयचक्र के यथार्थज्ञान से ही होता है । जिनागम मे कोई तत्त्व निश्चयनय की अपेक्षा प्रतिपादित है और कोई तत्त्व व्यवहारनय से प्रतिपादित है । दोनो नयो के प्रतिपादन मे पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर हो जाता है । जैसे निश्चयनय का कथन है कि आत्मा कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता नही है, किन्तु व्यवहारनय कहता है कि आत्मा कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता है । इन दोनो विरुद्ध कथनो का समन्वय अनेकान्तदर्शन मे ही उपलब्ध है । अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने रागादि विभाव भावो का कर्ता और उनके निमित्त से कार्मणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य मे कर्मरूप परिणमन होता है । उपादान-उपादेय भाव की अपेक्षा कर्मो का कर्ता पुद्गलद्रव्य है और निमित्त-नैमित्तिक भाव की अपेक्षा आत्मा कर्ता है । यह समन्वय नयविवक्षा मे ही सम्पन्न होता है । अनेकान्तात्मक पदार्थ का कथन स्याद्वाद से होता है । स्याद्वाद का अर्थ कथचित्वाद है । स्याद्वाद से ही द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु नित्य और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य कही जाती है ।

सप्तभङ्गी—

वस्तु मे रहने वाले अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तत्व धर्मो के पारस्परिक संयोग से निम्नलिखित सप्तभङ्ग निर्मित्त होते है । इन्ही सप्तभङ्गो का समूह सप्तभङ्गी कहलाता है –

१ स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है ।
२. परचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है ।
३ स्व-पर चतुष्टय की क्रम से विवक्षा होने पर वस्तु अस्ति-नास्तिरूप है ।
४. स्व-पर चतुष्टय का कथन एक साथ हो नही सकता इसलिए अक्रमविवक्षा मे वस्तु अवक्तव्यरूप है ।
५. स्वतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है और स्व-पर चतुष्टय की अक्रम-एक साथ विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है । दोनो को मिलाने पर अस्तिअवक्तव्य है ।
६ पर चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है और स्व-पर चतुष्टय की अक्रमविवक्षा होने पर अवक्तव्य है । दोनो को मिलाने पर नास्तिअवक्तव्य है ।
७. स्व-पर चतुष्टय की क्रमश. विवक्षा होने पर वस्तु अस्ति-नास्तिरूप है तथा दोनो की एक साथ विवक्षा होने पर अवक्तव्य है अत दोनो को मिलाने पर अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है ।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अन्त मे अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेकान्त की व्यवस्था का दिग्दर्शन वडी सुन्दरता के साथ किया है—

"एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ।।"

जिस प्रकार दही विलोवने वाली गोपी एक हाथ से मन्थान की रस्सी को खीचती और दूसरे हाथ से ढीली करती हुई नवनीत निकाल लेती है उसी प्रकार जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादनीति एक नय मे वस्तु को प्रधानता देती और दूसरे नय से उसे गौण करती हुई मोक्षमार्ग को सिद्ध करती है ।

मार्दवो जयति

आर्या

मृदुता नौकानिचयो नून यस्येह विद्यते पुस. ।
तस्य भव. पाथोधि विस्तीर्णोऽपि च कियानस्ति ।।५५।।

मृदुतागुण परिशोभित चित्ते प्रतिफलति भारती जैनी ।
दर्पणतल इव विमले मरीचमाला दिनेशस्य ।।५६।।

मार्दव घनाघनोऽय मानदवाग्नि-प्रदीप्त-भवकक्षम् ।
सत्प्रीति-वारिधारा मुञ्चन्निमिषेण सान्त्वयति ।।५७।।

इस जगत् मे जिस पुरुष के समीप निश्चय से मार्दव धर्म रूपी नौकाओ का समूह विद्यमान है उसके लिये ससार रूपी सागर विस्तीर्ण होने पर भी कितना है ? अर्थात् बदुत छोटा है ।

मार्दव धर्म रूपी गुण से शुशोभित चित्त मे जिनवाणी उस प्रकार प्रति फलित होती है जिस प्रकार कि निर्मल दर्पण तल से सूर्य की किरणावली ।

यह मार्दव धर्म रूपी मेघ उत्तम प्रीति रूपी जलधारा को छोडता हुआ मान रूपी दावातल से जलते हुए ससार रूपी बन को निमेष मात्र मे शान्त कर देता है ।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूरख—८

समन्वय का साधन स्याद्वाद

कारण के दो भेद है एक उपादान और दूसरा निमित्त। जो कार्य रूप परिणत होता है वह उपादान कारण है और जो उसमे सहकारी होता है वह निमित्त कारण है। निमित्त कारण के भी अन्तरङ्ग निमित्त और वहिरङ्ग निमित्त के भेद से दो भेद है। अन्तरङ्ग निमित्त वह है जिसके होने पर कार्य की सिद्धि नियम से होती है और वहिरङ्ग निमित वह है जिसके होने पर कार्य की सिद्धि हो भी और नही भी हो। जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मे उपादान कारण भव्य आत्मा है क्योकि भव्य आत्मा का श्रद्धागुण ही मिथ्यादर्शन रूप पर्याय को छोडकर सम्यग्दर्शन रूप परिणत होता है सम्यग्दर्शन को घातने वाली दर्शनमोह की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार इस तरह सात प्रकृतियो की उपशम, क्षयोपशम या क्षय रूप जो अवस्था है वह सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग कारण है। इसके होने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है और शास्त्र तथा उसके परिज्ञायक पुरुष वहिरङ्ग निमित्त हे। इनके होने पर यदि अन्तरङ्ग निमित्त की अनुकूलता होती है तो सम्यग्दर्शन हो जाता है और अन्तरङ्ग निमित्त की अनुकूलता नही है तो सम्यग्दर्शन नही होता है। एक ही गुरु के उपदेश मे एक ही काल मे एक को सम्यक्त्व हो जाता है और पास मे विद्यमान दूसरे पुरुष को सम्यग्दर्शन नही होता इसका मुख्य कारण अन्तरङ्ग निमित्त की अनुकूलता और प्रतिकूलता ही है।

यद्यपि निमित्त कारण स्वय कार्य रूप परिणत नही होता तथापि कार्य की सिद्धि के लिये उसकी उपयोगिता अपेक्षित है। खेत मे धान बोया जाता है परन्तु धान का छिलका खेत मे वैसा ही पडा रहता है और चावल अकुर बन जाता है। यहाँ कोई ऐसा विचार करे कि अंकुर रूप परिणमन तो चावल का हुआ है इसलिये धान का छिलका अकुर की उत्पत्ति मे निमित्त नही है ऐसा विचार कर वह सिर्फ चाँवल को खेत मे बो दे तो क्या चाँवलो से अकुर उत्पन्न हो जावेंगे ? नही होगे। इससे प्रतीत होता है कि निमित्त यद्यपि कार्यरूप परिणमन नही करता है तथापि कार्य की उत्पत्ति मे अनिवार्य कारण है। इतनी बात अवश्य है कि निमित्त कारण उपादान की अनुकूलता के अनुसार ही कार्य की सिद्धि मे सहायक होता है। एक दम पुरानी हो जाने पर जिस धान की अंकुरोत्पादन शक्ति नष्ट हो गई है अथवा अपरिपक्व अवस्था मे तोड लेने से जिसकी अंकुरोत्पादन की शक्ति का विकास नही हो पाया है उस धान के बोने से अंकुरोत्पत्ति नही हो सकती।

उपादान उपादेय भाव सदा एक द्रव्य मे होता है और निमित्त नैमित्तिक भाव अन्य द्रव्य मे होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नही होता इसका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन नही कर सकता पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य मे सहायक नही हो सकता अतिशय उत्पन्न नही कर सकता, ऐसा एकान्त नही है। जीव के रागादि परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल मे कर्म रूप परिणमन हुआ है और द्रव्य कर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव कर्म रूप परिणमन नही करता और कर्म जीव रूप परिणमन नही करता तो भी दोनो मे निमित्त नैमित्तिक भाव तो है ही। ऐसा न मानने पर जीव मे होने वाले रागादिक अनिमित्तक होने से स्वभाव कोटी मे आ जायेंगे और सिद्धो के कर्म बन्ध का प्रसङ्ग आ

जावेगा इसलिये वस्तु स्थिति का विचार कर ही तत्व का प्रतिपादन होना चाहिये । निमित्त के निषेध का अन्तरङ्ग रहस्य तो यह है कि कल्याण का इच्छुक पुरुष मात्र निमित्त मे न उलझा रहे अपनी आत्मशक्ति की ओर भी लक्ष्य दे । क्योकि आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य दिये बिना मात्र निमित्त मे उलझने से कार्य सिद्ध होने वाला नही है । अत कार्य की सिद्धि मे उपादान और निमित्त दोनो कारण अपनी मर्यादा मे रहते हुए साधक होते है ।

दया धर्म है या नहीं ?

मोह और क्षोभ (राग द्वेष) रहित आत्मा की साम्यावस्था-वीतराग परिणति को धर्म कहते है तथा कषाय की मन्दता मे दुखी जीव को देखकर उसका दुख दूर करने का जो राग उत्पन्न होता है उसे दया कहते है । इन परिभाषाओ के रहते हुए चूकि दया मे रागाँश का सद्भाव है अत उसे धर्म नही माना जाता और रागादि विकारी भावो का रञ्चमात्र भी उत्पन्न नही होना अहिंसा है । अहिंसा के इस लक्षण मे वीतराग परिणति का लक्षण होने से उसे धर्म माना जाता है अहिंसा और दया का यह सूक्ष्म विश्लेषण जनसाधारण की दृष्टि मे नही आता इसलिये जब 'दया धर्म नही है' ऐसा कहा जाता है तब श्रोता को क्षोभ होने लगता है । उक्त सूक्ष्म विश्ले-षण को गौण कर जब दया को अहिंसा की उत्पत्ति मे सहायक माना जाता है तब दया धर्म इस विवक्षा को लेकर शास्त्र मे दया को धर्म बताया गया है । अहिंसा, दया और क्षमा ये तीन गुण हैं । क्षमा से दया की सिद्धि होती है और दया से अहिंसा की सिद्धि होती है इस कार्य कारण भाव से कारण मे कार्य का उपचार कर तीनो को धर्म कहा गया है । जहा दया को अहिंसा का साधक या पर्यायवाची मानकर कहा गया है और जहाँ दया को धर्म नही कहा गया है वहा दया मे रागाँश की बहुलता होने से उसे धर्म नही कहा गया है । दया धर्म नही है इसका फलि-तार्थ यह नही लगाना चाहिये कि दया अधर्म है । लोक मे अधर्म का प्रचलित अर्थ अन्याय-पाप है इसलिये दया अधर्म है ऐसा श्रवण कर जनता मे उत्तेजना हो जाती है । शब्दो के जो अर्थ अत्यन्त प्रचलित हो जाते हैं उन्हीं की ओर श्रोता की दृष्टि सर्वप्रथम जाती है । सस्कृत मे घृणा का अर्थ ग्लानि प्रचलित है । आप किसी से कहकर देखिये कि मैं आप पर घृणा करता हू, क्या फल मिलता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि जो वक्ता यह कहना चाहते है कि 'दया धर्म नही है' उन्हे अपना अहिंसा और दया का विश्लेषण पहले प्रकट कर देना चाहिए जिससे दोनो का लक्ष्य उस ओर जा सके ।

पुण्य हेय है या उपादेय ?

उपयोग तो ज्ञान की परिणति है इसलिये वह न शुभ है न अशुभ है न शुद्ध । वह इन सब विकल्पो से परे है । परन्तु जब वह ज्ञान की परिणति मोह के तीव्रोदय, मन्दोदय अथवा अनुदय के साथ बर्तती है तब उसमे अशुभ शुभ और शुद्ध का व्यवहार होता है । अशुभपयोग के काल मे इस जीव की पाप कर्मों मे प्रवृत्ति होती है । शुभोपयोग के काल मे पुण्य कार्य मे प्रवृत्ति होती है और शुद्धोपयोग के काल मे पाप पुण्य दोनो मे ही प्रवृत्ति नही होती । इन तीन उपयोगो मे अशुभोपयोग तो सब प्रकार से हेय ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है परन्तु शुभो-पयोग पात्र की योग्यतानुसार उपादेय और हेय दोनो प्रकार का है । जिस जीव की शुद्ध मे प्रवृत्ति नहीं होती उसके लिये अशुभ से बचने के अर्थ शुभ मे प्रवृत्ति करना उपादेय है परन्तु जिसकी शुद्ध मे प्रवृत्ति हो सकती है उसके लिये शुभ हेय है । जिस प्रकार अशुभोपयोग बुद्धिपूर्वक छोडा जाता है उस प्रकार शुभोपयोग बुद्धिपूर्वक नही छोडा जाता किंतु शुद्धोपयोग मे प्रवृत्ति होने पर वह स्वय छूट जाता है ।

प्रत्येक क्षण का परिणमन अपने क्रम से चलता है। सर्वज्ञ के ज्ञान मे भी उसका परिणमन इस क्रम से आता है, परन्तु जब निमित्त सापेक्ष पुरुषार्थ प्रधान दृष्टि से कथन होता है तब अनियमित क्रम की बात भी आती है। ससार का प्राणी इस मान्यता को लेकर कि जब जो होने वाला है वह हो जाएगा' निष्क्रिय नही बैठना चाहता। यदि उसके श्रुत ज्ञान मे यह बात निर्णीत रूप से आ जावे कि अमुक समय अमुक कार्य होने वाला है तो निष्क्रिय भी बैठ सकता है, इसलिये वह अपने ज्ञान के अनुसार सक्रिय बनकर कार्य करता है और इस सक्रिय दशा मे सिद्ध हुए कार्य को अपने पुरुषार्थ का फल मानता है। इस तरह पदार्थ के कथन मे नियत अनियत दोनो दृष्टिया आती है।

उक्त प्रकार से यदि विवादास्पद अन्य विषयो पर भी विचार किया जावे तो समन्वय असभव नही है। समन्वय का साधन स्याद्वाद ही है।

सत्य की महिमा

आर्या

सत्येन नरो लोके धवला विमलां मुपैति सत्कीर्तिम्।
कीर्त्या च मुदित चेता भवतीह निरन्तर नूनम्॥८०॥
सत्याहृते स कश्चिच्जगत्प्रसिद्धो वसुः क्षमापाल।
अगमन्नरकागार ह्यहो दुरन्तो मृषा वाद॥८१॥
यश्चैक किल सत्य पूर्ण सभाषते सदा लोक।
तेन हिंसादिपापात् कृता निवृत्तिर्ह्यनायासात्॥८२॥

लोक मे मनुष्य सत्य से धवल एव निर्मल समीचीन कीर्ति को प्राप्त होता है और कीर्ति से निरन्तर प्रसन्न चित्त रहता है।

सत्य के बिना वसु नाम का कोई प्रसिद्ध राजा नरक को प्राप्त हुआ। आश्चर्य है कि असत्य भाषण का फल अत्यन्त दु खद होता है।

जो मनुष्य सदा एक सत्य का ही पूर्ण रूप से भाषण करता है उसकी हिंसादि पापो से अनायास निवृत्ति हो जाती है।

सम्यक्त्व चिन्तामणि
मयूख-८

अनेकान्त विसंवादों का अन्त

परमागमस्य वीज, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुर विधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ।।

परस्पर विरोधी धर्मोंमे से एक को मुख्य और दूसरे को गौण कर ग्रहण करना अनेकान्त है। यहाँ अनेक का अर्थ परस्पर विरोधी दो है और अन्त का अर्थ धर्म है। जो परस्पर विरोधी दो धर्मो को मुख्य और गौण की पद्धति से ग्रहण करता है वह अनेकात धर्म का प्रयोक्ता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ नित्य-अनित्य तद्-अतद् एक-अनेक तथा भेद-अभेद आदि विरोधी धर्मो से युक्त है। आवश्यकतानुसार वक्ता कभी वस्तु के नित्य, तद्, एक और भेद आदि धर्मो को विवक्षित करता है और कभी उनसे विपरीत अनित्य, अतद् अनेक और अभेद आदि धर्मो की विवक्षा करता है। 'विवक्षतो मुख इतीष्यतेऽन्यो गुणे ऽ विवक्षो न निरात्मकस्ते। समन्तभद्र स्वामी के द्वारा निरूपित परिभाषा के अनुसार वक्ता जिस धर्म की विवक्षा करता है वह मुख्य धर्म कहलाता है और जिस धर्मकी विवक्षा नही करता है वह गौण कहलाता है। यहाँ गौण का अर्थ अभाव नही है । वस्तु मे उसका सद्भाव तो रहता है परन्तु उस समय वह आवश्यक होने से प्रमुखता को प्राप्त नही होता।

न्यायशास्त्र मे वस्तु को सामान्य विशेषात्मक और अध्यात्मशास्त्र अथवा आगम मे द्रव्य-पर्यायात्मक कहा गया है। सामान्य का अर्थ द्रव्य है और विशेष का अर्थ पर्याय है अत सामान्य विशेष या द्रव्य पर्याय रूप पदार्थ को कहने मे शब्द भेद ही है अर्थ भेद नही है। जिस समय वक्ता द्रव्य को मुख्य कर कथन करता है उस समय वस्तु नित्य, एक, तद् तथा अभेद आदि रूप प्रतीत होती है और जिस समय पर्याय को मुख्य कर कथन करता है उस समय वस्तु अनित्य, अनेक, अतद् और भेदरूप प्रतीत होती है।यदि वक्ता और श्रोता अपनी विवक्षा को कथन के पहले--स्पष्ट कर दें तो समाज मे चल रहे विवादो का अन्त अनायास हो सकता है।

चर्चा–१

जैसे एक चर्चा है कि द्रव्य दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है क्योकि वह त्रैकालिक है, पर्यायदृष्टि से नही क्योकि वह परिवर्तनीय है। यहाँ यह विचार करना चाहिये कि जब द्रव्यरहित पर्याय और पर्यायरहित द्रव्य त्रिकाल मे भी सम्भव नही है तब मात्र द्रव्यदृष्टि से सम्यग्दर्शन कैसे हो जायगा? यह कथन तो मात्र विवक्षा और अविवक्षा से ही सिद्ध हो सकता है।

सम्यग्दृष्टि भी सिद्धपर्याय को उपादेय मानकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है । जीवद्रव्य तो प्रत्येक प्राणी है परन्तु उस दृष्टि से सम्यक्त्व की उद्भूति नही हो सकती। सम्यक्त्व की उद्भूति उस दृष्टि से होगी जिस दृष्टि मे यह विचार आता है कि द्रव्य की अपेक्षा मैं अरहत और सिद्ध के समान होकर भी उनके समान जीवन्मुक्त और मुक्त पर्याय को प्रकट नही कर सका इसीलिये संसार-परिभ्रमण का पात्र वना हुआ हू। आत्मा की वर्तमान मे कर्ममलकलङ्क से दूषित अशुद्ध पर्याय को नष्ट करके ही मैं स्वाश्रित सिद्ध पर्याय को प्राप्त कर सकता हू।

चर्चा—२

दूसरी चर्चा है कि द्रव्य सदा शुद्ध रहता है अशुद्धता पर्याय मे ही आती है। यहाँ विचार करने की बात है कि क्या द्रव्य और पर्याय ये जुदे-जुदे है ? नही है। जब दोनो के प्रदेश एक है तब पर्याय अशुद्ध हो और द्रव्य शुद्ध रह आवे यह नही कहा जा सकता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तथा इसके पर्याय सदा शुद्ध ही रहते है परन्तु जीव और पुद्‌गल द्रव्य अपनी वैभाविक शक्ति के कारण एक दूसरे से प्रभावित हो विभाव-अशुद्ध परिणमन करते है। अशुद्ध परिणमन के काल मे जीव रागादि विकारी भावो से दूषित होता है और पुद्‌गल द्रव्य कर्मरूप पर्याय को ग्रहण करता है। यह सत्य है कि जीव कभी कर्मरूप और कर्म, जीवरूप परिणमन नही कर सकता परन्तु मोहनीम कर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव अपने उपादान से मिथ्यात्व तथा रागादि रूप परिणमन करता है और जीव के मिथ्यात्व तथा रागादि परिणामो का निमित्त पाकर पुद्‌गल, द्रव्य, कर्मरूप परिणमन करता है। जीव को पुद्‌गल की और पुद्‌गल को जीव की निमित्तता अन्वय व्यतिरेक के कारण है, उपस्थित रहने मात्र से नही है। इतना सब होने पर भी द्रव्य को जो शुद्ध कहा जाता है उसका अभिप्राय इतना ही ग्राह्य है कि द्रव्य अपने स्वभाव को कभी छोडता नही है। तामा आदि अन्य धातुओ के सम्मिश्रण से सुवर्ण अशुद्ध कहलाने लगता है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म के सम्बन्ध से जीव अशुद्ध कहा जाता है परन्तु उस अशुद्ध मे भी जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से रहित नही होता। राग-द्वेष का निमित्त दूर होने पर वह शुद्ध वीतराग हो जाता है।

चर्चा—३

तीसरी चर्चा है कि निमित्त अकिंचित्कर है वह उपस्थित मात्र रहता है। विचारणीय है कि यदि उपस्थित रहने मात्र से वह निमित्त कहलाता है तो कार्य सिद्धि के समय जितने पदार्थ उपस्थित हो उन सबको निमित्त माना जाय। परन्तु ऐसा नही है, जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है अर्थात् जिसकी उपस्थिति मे कार्य होता है और जिसकी अनुपस्थिति मे कार्य नही होता, वही निमित्त माना जाता है। यह सच है कि कार्यरूप परिणमन उपादान का ही होता है निमित्त का नही। परन्तु निमित्त के अन्वय व्यतिरेक के बिना उपादान कार्यरूप परिणत नही होता, अत उसे अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है। उपादानोपादेय भाव एक द्रव्य मे रहता है और निमित नैमित्तिक भाव दो द्रव्यो मे बनता है। यह निमित्त नैमित्तिक भाव आगम मे सर्वत्र स्वीकृत किया गया है। इनके बिना न सात तत्व की कल्पना सिद्ध होती है न छह द्रव्यो की उपयोगिता सिद्ध होती है न कर्म की कल्पना सार्थक होती है। सक्षेप मे कहा जाय तो ससार और मोक्ष का व्यवहार ही समाप्त हो जाय। एक स्थान पर एक सज्जन व्याख्यान कर रहे थे कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही करता। व्याख्यान समाप्त होने पर मैंने उनसे पूछा महानुभाव ! भगवान महावीर तो मोक्ष चले गये आप यहाँ दिल्ली मे क्यो विराजमान हैं ? उत्तर मिला— कि भगवान महावीर के कर्म नष्ट हो गये, इसलिये वे मोक्ष चले गये और मेरे कर्म नष्ट नही हुए इसलिए मैं बैठा हू। मैंने कहा— अभी तो कह रहे थे कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही करता, अब आपके कथन से यह सिद्ध हो रहा है कि कर्म कुछ करते है। उत्तर मिला— ऐ तब मैंने कहा— निमित्त अकिंचित्कर है इसका अर्थ यह लगाइये कि निमित्त कार्यरूप परिणत नही होता, कार्य की सिद्धि मे सहायक होता है, उपस्थित मात्र रहता है, यह मत लगाइये। आपके कहने मात्र से ससार की कार्यकारण व्यवस्था बदल नही जायगी। आप कितना ही कहे कि पानी अपने आप गर्म होता है आग से नही। मोटर स्वय चलती है पेट्रोल से नही, क्षुधातुर मनुष्य की भूख स्वय मिटती है, भोजन से नही, प्यास पीडित मनुष्य की प्यास स्वय समाप्त होती है पानी से नही, पर दूसरे की बात जाने

दीजिये, भूख लगने पर हमभोजन का आश्रय लेते है, और प्यास लगने पर पानी की ही खोज करते है, पानी के पास पहुंच जाने मात्र से प्यास दूर नही हो जाती । कहने का तात्पर्य है कि वस्तु की व्यवस्था जिस ढग से चलती आयी है उसी ढग से चलती रहेगी । "निमित्त अकिंचित्कर है" ऐसा कहने मात्र से वस्तु-व्यवस्था बदल नही सकेगी ।

एक बार कुछ सज्जन पूज्य वर्णी जी के पास बाहर से चर्चा के लिए आये । चर्चा करते समय उन्होने अपना चश्मा उतारकर वर्णी जी के समीप रख दिया । चर्चा का विषय यही था कि निमित्त कुछ नही करता है अकिंचित्कर है, अपनी बात का समर्थन करने के लिये उन्होने जेब से कुछ कागजात निकालकर पढना चाहे । पढने के लिये वे चश्मा उठावे कि उसके पहले ही वर्णी जी ने वह चश्मा हाथ मे ले लिया । महानुभाव, चश्मा मॉगने लगे तब वर्णी जी ने हसकर कहा भैया —चश्मा तो अकिंचित्कर है इसकी आपको क्या आवश्यकता है ? निमित्त को तो आप अकिंचित्कर कह रहे थे । उपस्थित जनता मे हास्य का वाताव ण छा गया और महानुभाव निरुत्तर हो गये ।

निमित्त कुछ नही करता, इसका अभिप्राय इतना ही है कि प्राणी ! तू कार्य की सिद्धि के लिये स्वकीय पुरुषार्थ की ओर दृष्टि दे । यदि तू इस ओर दृष्टि न देकर मात्र निमित्त की ओर दृष्टि देता रहेगा तो तेरा कार्य सिद्ध नही होगा । दो बालको मे मल्ल-युद्ध हुआ । दो मे एक हारा और दूसरा जीता । हारने वाले बालक से पूछा कि तू क्यो हार गया ? उसने उत्तर दिया — हारू नही तो क्या ? उसकी ओर तो बीसो आदमी खड़े थे, मेरी ओर कोई नही था । इसलिये हार गया । यहाँ विचार करने की बात है, बीसो आदमी तो खेल देख रहे थे, मल्ल-युद्ध केवल दो बालको मे हो रहा था । हारने वाले बालक की ओर से बीस के बदले चालीस आदमी भी खडे हो जावें परन्तु वह अपनी शक्ति या दाव पेंचो का उपयोग न करे तो क्या जीत जावेगा ? नही, जीतने के लिये तो उसे अपनी शक्ति को ही बढाना होगा । हमारा अनेकान्त सिद्धान्त बतलाता है कि निमित्त निमित्त के रूप मे अनिवार्य आव--श्यक कारण है और उपादान, उपादान के रूप मे अनिवार्य आवश्यक कारण है ।

कहा जाता है कि निमित्त अकिंचित्कर है उससे सबका कार्य सिद्ध होता है पर किसी का होता है और किसी का नही । इसलिये निमित्त अकिंचित्कर है । ऐसा कहने वालो को इस ओर ध्यान देना चाहिये कि निमित्त के दो भेद है—१. अन्तरग निमित्त और २ बहिरग निमित्त । जैसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अन्तरग निमित्त है मिथ्या-त्वादि सप्त प्रकृतियो का उपशम, क्षय और क्षयोपशम तथा बहिरग निमित्त है धर्मोपदेश तथा जिनबिम्ब दर्शन आदि । यहाँ अन्तरग निमित्त के होने पर कार्य नियम से प्रकट होता है, बहिरग निमित्त के मिलने पर हो भी न भी हो । अर्थात् अन्तरंग निमित्त के रहने पर बहिरंग निमित, निमित्त होता है अन्यथा नही ।

आज निमित्त को लेकर समाज मे बहुत विसवाद चल रहा है उसका अन्त अनेकान्त का आश्रय लेने से ही हो सकता है । वस्तु व्यवस्था तो अनादि से चली आ रही है कभी विसवाद उत्पन्न नही हुआ । आज विसवाद होने लगा उसका एक ही कारण है कि वक्ता और श्रोता अनेकान्त सिद्धान्त को विस्मृत हो गये है । विस्मृत का अर्थ है कि उसका उपयोग नही करते, मात्र उसकी प्रशसा के गीत गाते है ।

चर्चा–४

चौथी चर्चा है कि व्यवहार अपरमार्थ है और निश्चय परमार्थ है यहाँ देखना यह है कि व्यवहार की अपरमार्थता और निश्चय की परमार्थता का कारण क्या है ? यतश्च व्यवहारनय अन्य द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न विकारी भावो को आत्मा के कहता है जैसे कि पौद्गलिक कर्म के निमित्त से उत्पन्न रागादि विकारी भावो को आत्मा के कहता

है, यही उसकी अपरमार्थता का कारण है। यद्यपि रागादिक विकारी भाव आत्मा के उपादान से ही होते हैं अर्थात् आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्यो में नही होते तथापि ज्ञानदर्शनादि के समान आत्मा के साथ उनकी त्रैकालिक व्याप्ति नही होने से आत्मा के नही कहे जा सकते। परन्तु व्यवहारनय अथवा अन्य आचार्यो के मत से अशुद्ध निश्चयनय उन्हे आत्मा के कहता है। यही उसकी अपरमार्थता का कारण है। निश्चयनय स्वकीय गुणपर्याय को ही आत्मा के कहता है अत वह स्वाश्रित होने से परमार्थ है। कहा भी गया है 'पराश्रितो व्यवहार' और 'स्वाश्रितो निश्चय' अर्थात् जो पर के आश्रय हो वह व्यवहार है और जो स्व के आश्रय हो वह निश्चय है।

व्यवहार को अपरमार्थ कहने से उसके उपदेश की निरर्थकता नही समझनी चाहिये। ससार का समस्त व्यवहार, व्यवहारनय के आश्रय से ही चलता है, उसमे कभी विसवाद नही होता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यवहार अपनी सीमा की अपेक्षा अपरमार्थ नही है, निश्चय की अपेक्षा अपरमार्थ है। जिनागम मे जिनमत की निरवद्य प्रवृत्ति बनाये रखने के लिये दोनो नयो की आवश्यकता बतलायी है। जैसा कि एक प्राचीन गाथा मे कहा गया है—

जइ जिणमय पवज्जई तो मा ववहारणिच्छयं मुअह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्चं ।।

अर्थात् यदि जिनमत की प्रवृत्ति रखना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय को नही छोडो। क्योकि, एक अर्थात् व्यवहार के बिना तीर्थ-धर्म की आम्नाय नष्ट हो जाती है और दूसरे अर्थात् निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जाता है। मनुष्य को अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिये जिस प्रकार नेत्र और पैर दोनो की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीव को अपने गन्तव्य स्थान—मोक्ष तक पहुंचने के लिये व्यवहार और निश्चय दोनो नय आवश्यक रहते है। व्यवहार को व्यवहार रूप मे और निश्चय को निश्चय रूप मे स्वीकार करने से उभयाभासी का प्रसग नही आता है। अपनी सीमा तक व्यवहार और निश्चय नय की सार्थकता स्वीकृत करना—दोनो को स्वीकृत करना है। 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' के उल्लेखानुसार निश्चय और व्यवहार जब परस्पर निरपेक्ष रहते है तब वे मिथ्यानय कहलाते है और जब परस्पर सापेक्ष रहते है तब यथार्थ कहलाते हैं और कार्यकारी होते हैं। यहाँ इतना और ध्यान मे रखना चाहिये कि निश्चय और व्यवहार दोनो नय वस्तु को समझने और समझाने के साधन है साध्य नही। एक ऐसा भी अवसर आता है जहाँ दोनो नयो की समाप्ति हो जाती है। आचार्यो ने कही निश्चय नय की प्रधानता से कथन किया है और कही व्यवहार नय की प्रधानता से। वहाँ ऐसा नही मानना चाहिए कि आचार्यो ने अमुक नय को उपादेय कहा है। प्रकरणानुकूल उनके कथन की सगति बैठाना वक्ता और श्रोता का कर्त्तव्य है।

चर्चा—५

चर्चा है कि अणुव्रत-महाव्रत देहाश्रित क्रियायें है अत वे मोक्षमार्ग नही है। यहाँ सर्वप्रथम यह विचार करना चाहिये कि क्या ये सब देहाश्रित ही क्रियायें है? देहाश्रित तो तब कहलाती जब निष्प्राण जीव के शरीर से ये क्रियाए होती, परन्तु निष्प्राण—मृत जीव के शरीर मे ये क्रियायें नही होती इसलिये इन्हें मात्र जड की क्रिया बतलाकर अनादरणीय सिद्ध करना युक्तिसगत नही है। अणुव्रत और महाव्रत रूप परिणाम तो आत्मा के ही है, जो कि आत्मा मे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होते हैं। अणुव्रत और महाव्रत के धारक जीव की जो शारीरिक प्रवृत्ति है वह उपचार से अणुव्रत और महाव्रत कही जाती है। इन अणुव्रतो और

महाव्रतो के समय व्रती जीव का जो निवृत्त रूप परिणाम है वह संवर और निर्जरा का कारण है तथा जो प्रवृत्तिरूप परिणाम है वह शुभास्रवरूप है । उमास्वामी ने प्रवृत्ति परिणाम को दृष्टि मे रखकर व्रतो का शुभास्रव में वर्णन किया है और नेमिचन्द्राचार्य ने निवृत्तिरूप परिणाम को दृष्टि मे रख सवर मे वर्णन किया है । आचार्यों की अपनी-अपनी विवक्षा है इसमे विसगति नही है । ध्यान इस ओर देना है कि मोक्षमार्गी वनने के लिये देशचारित्र तथा सकलचारित्र की आवश्यकता है या नही ? कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने जोर देकर कहा है कि वन्धन मे पडा व्यक्ति, वन्धन तथा वन्धन के कारणो को जानता हुआ भी जव तक वन्धन को काटने का पुरुषार्थ नही करता है तव तक वह वन्धन से मुक्त नही हो सकता । इसी प्रकार प्रकृति आदि वन्धनो के स्वरूप और उसके कारणों को जानता हुआ भी व्यक्ति जब तक उन वन्धनो को नष्ट करने के लिये चारित्ररूप पुरुषार्थ नही करता है तब तक वन्धन से रहित नही हो सकता । अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति काल मे सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा असख्यातगुणी निर्जरा होती है उसके बाद निरन्तर नही होती परन्तु पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तथा षष्ठादि गुण स्थानवर्ती मुनि के सदा गुणश्रेणि निर्जरा होती रहती है । कहने का तात्पर्य यह है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र की भी अनिवार्य आवश्यकता है । अतः उसके प्रति ज्ञानी जीव निरन्तर आस्था आदर का भाव रखता है ।

चर्चा–६

चर्चा है कि निश्चयरत्नत्रय पहले होता है और व्यवहाररत्नत्रय पीछे होता है तथा उसके लिये दृष्टात दिया जाता है कि हम वम्वई जाने का निश्चय पहले करते हैं वहाँ पहुँचने की क्रिया पीछे करते हैं । इस दृष्टात मे निश्चय का अर्थ सकल्प है और निश्चय रत्नत्रय मे जो निश्चय शब्द है उसका अर्थ है कि कषाय के मन्दोदय अथवा सर्वथा अभाव मे ऐसी भूमिका का निर्माण हो जाना कि जिससे इस जीव का उपयोग आत्माश्रित ही रह जावे, सात तत्त्व, नौ पदार्थ अथवा देवशास्त्र गुरु का विकल्प समाप्त हो जावे । ऐसा निश्चय रत्नत्रय जिसे अभेद रत्नत्रय कहा जाता है वह तो व्यवहार रत्नत्रयपूर्वक ही होगा अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय पहले होगा और निश्चय रत्नत्रय पश्चात् होगा । यदि प्रतिपक्षी कर्म प्रकृतियो का अभाव और उस काल मे होने वाली जीव की परिणति की अपेक्षा विचार किया जावे तो निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय साथ ही प्रकट होते हैं आगे-पीछे नही । शब्दों द्वारा निश्चय रत्नत्रय का वर्णन करना दूसरी वात है और जीवन मे वैसी स्थिति का निर्माण हो जाना दूसरी वात है ।

चर्चा–७

सातवी चर्चा है कि शुद्धोपयोग चतुर्थगुण स्थान मे होता है और इसके विपरीत चर्चा चलती है कि शुद्धोपयोग श्रेणीगत जीवो के होता है उसके पहले नही । इसका समाधान मोक्षमार्ग प्रकाशक मे प० टोडरमलजी ने दिया है कि कषाय के अभाव मे होने वाला शुद्धोपयोग तो वहाँ होगा जहां कषाय का अभाव होगा इसके विपरीत यदि तू अन्य ओर से उपयोग हटाकर आत्मा की ही ओर उपयोग लगाने को शुद्धोपयोग कहना चाहता है तो कह, इसमे आपत्ति क्या है । परमार्थ से शुद्धोपयोग अपनी भूमिका मे ही होता है कहने मात्र से नही होता । आज रेल्वे के थर्ड क्लास को सेकेण्ड क्लास कहा जाने लगा है । कोई निषेध नही करता परन्तु पहले सेकेण्ड क्लास के यात्री को जो सुविधा मिलती थी वह आज के तथा कथित सेकेण्ड क्लास मे नही ।

चर्चा—८

आठवीं चर्चा है कि अकाल मरण नहीं होता, क्योंकि केवल ज्ञानी के ज्ञान मे उस जीव की उतनी ही आयु देखी गई थी। यहाँ अकाल मरण की परिभाषा पर ध्यान देना चाहिये। आयु के निषेक क्रम से न खिरकर युगपत् खिर जावे, इसे अकाल मरण कहा गया है। केवल ज्ञानी के ज्ञान मे भी बात ऐसी हो आती है कि अमुक जीव के ६० वर्ष की आयु बची है परन्तु ५० वर्ष की अवस्था मे वज्रपात का निमित्त मिलने से शेष निषेक एक साथ खिर जावेगे। कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यचो की आयु मे ही ऐसा प्रसग आने की सभावना रहती है कि उसके शेष निषेक युगपत् खिर जावे। जिनके आयु का बन्ध हो जाता है उनका अकालमरण नही होता। अकालमरण अबद्धायुष्क जीवो के होता है तथा उसमे विषवेदन, रक्तक्षय, भय तथा सक्लेश आदि निमित्त कारणो की अपेक्षा रहती है। अकालमरण मानने मे निमित्त दृष्टि आती है इसलिये अकालमरण की मान्यता ही समाप्त कर देना, आगम समत नही है। जिन आचार्यों ने केवल ज्ञान का विषय सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायो मे बतलाया है उन्ही आचार्यो ने उपपाद जन्म वाले देव नारकी, असंख्यात वर्ष की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्य तिर्यञ्च तथा चरम शरीरी मनुष्यो के सिवाय अन्य मनुष्य तिर्यञ्चो मे अकाल मरण का वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि अकाल मरण की मान्यता से सर्वज्ञता मे कोई बाधा नही आती।

एक विवक्षा यह भी है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भाव के अनुसार होता है। जब वस्तु का द्रव्य क्षेत्र और भाव सुनिश्चित माना जाता है तब काल भी सुनिश्चित मानना आवश्यक है और इस दृष्टि से किसी जीव का अकाल मरण भी सकाल मरण माना जायगा।

चर्चा—९

चर्चा है कि द्रव्य की समस्त पर्याये क्रमबद्ध है, क्योकि सर्वज्ञ के ज्ञान मे जिस पदार्थ का जैसा परिणमन झलका है उसमे अन्यथा परिणमन नही हो सकता। तीन लोक के जीव भी मिलकर उसे अन्यथा परिणत करने मे समर्थ नही है। वस्तुत सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकृत करने वाले के सामने दूसरे विकल्प सभव नहीं है। फिर कालनय और अकाल नय आदि की जो चर्चा शास्त्रो मे आती है उसकी सगति कैसे बैठती है ? उसकी संगति श्रुतज्ञानी की अपेक्षा बैठती है क्योकि श्रुतज्ञानी यह नही जान पाता कि इस द्रव्य का भविष्य मे कैसा परिणमन होने वाला है। एतावता यह अपने पुरुषार्थ से वस्तु के किसी परिणमन को करता है तो वह मानता है कि इसे मैंने किया है और अपने पुरुषार्थ से चाहे जब कुछ भी कर सकता हूँ। जीव और पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्यो के क्रमबद्ध परिणमन मे किसी को विवाद नही है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य के क्रमबद्ध परिणमन मे विवाद चलता है। यह विवाद नय विवक्षा से ही समाप्त हो सकता है। वस्तुस्वभाव की अपेक्षा से वस्तु का परिणमन जैसा हो रहा है उसका वही क्रम है परन्तु पुरुषार्थवाद की अपेक्षा जब अधीन होता है तब यह प्राणी वस्तु के परिणमन को अपने अधीन मानता है। यद्यपि यह परमार्थ नही है तथापि इस विवक्षा मे इस प्रकार का कथन मान्य किया जाता है।

चर्चा—१०

दशवी चर्चा है कि जिन पूजा दया तथा मुनियो के लिय दिये जाने वाले आहार दान के समय जीव के जो प्रशस्त भाव होते हैं वे धर्म नही है, पुण्य है। यहाँ धर्म की परिभाषा विवक्षित है—मोह तथा राग-

द्वेष से रहित जीवकी जो परिणति है वह धर्म है। जिस परिणति मे रागांश विद्यमान है वह धर्म न होकर पुण्य है। आज लोक मे शुभ कार्यो को कर्म कहा जाने लगा है इसके विपरीत यदि कोई यह कहता है कि ये धर्म नही है तो तत्काल उत्तर मिलता है कि धर्म नही है तो क्या अधर्म है ? छोड दे इनको ? भाई ! छोडने को आवश्यकता नहीं है, उच्चतम भूमिका मे पहुँचने पर ये स्वयं छूट जावेंगे। परन्तु जब तक उस उच्चतम भूमिका मे प्रवेश नही हुआ तब तक इन्हे उसकी प्राप्ति मे साधक समझ कर करो। मोह क्षोभ रहित आत्मा के साम्य परिणाम रूप धर्म की प्राप्ति मे सहायक होने से इन्हे उपचार से धर्म भी कहा जाता है। और यही कारण है कि प्रथमानुयोग और चरणानुयोग के सदर्भ मे सर्वत्र पुण्य को धर्म कहा गया है। पुण्य को सर्वथा अधर्म कह देनेसे विसवाद उत्पन्न होता है। इसे दूर करने के लिये वक्ता को अपनी नयविवक्षा स्पष्ट कर देनी चाहिए।

उपसंहार—

अनेकान्त ही समस्त नयो के विरोध को समाप्त करने वाला है। जिनका विवाद करना ही लक्ष्य है उनकी बात जुदी है परन्तु जो वस्तु स्वरूपका निर्णय करना चाहते है उन्हे नय विवक्षा को समझकर ही वस्तु स्वरूप को ग्रहण करना चाहिये। यदि वक्ता अपनी नय विवक्षा को उपदेश के पूर्व ही स्पष्ट कर दे तो श्रोताओंको बहुत सारी उलझने समाप्त हो जावे। कुन्दकुन्दस्वामी ने निश्चयनय के आलम्बन से यदि कोई बात कही तो उसके व्यवहार नयका भी अभिप्राय बतला दिय है कि ये सब व्यवहार से जीव कहे जाते है। कुन्दकुन्द की इस प्ररूपणा से किसी को विरोध नही हुआ परन्तु हमलोग निश्चय नयकी बात कहकर व्यवहार नयकी चर्चा को सर्वथा भूल जाते है और उसे अपरमार्थ कहकर अग्राह्य कह देते है अथवा व्यवहार नयकी चर्चा कर निश्चय को उपेक्षित कर देते है और निश्चय नय तो मुनियो के लिए है हमारे लिए नही, इन शब्दो के द्वारा उसको उपेक्षा कर देते है। परमार्थ से निश्चय और व्यवहार की उपादेयता गृहस्थ और मुनि दोनो के लिये आवश्यक है। यह ठीक है कि जब मुनि श्रेणी मे आरूढ होता है तब विकल्पात्मक व्यवहार अपने आप छूटता जाता है।

निष्कर्ष यह कि समाज मे चलने वाले विसवाद समाप्त होना चाहिये और वे अनेकान्त सिद्धान्त को मात्र कहने से नही, जीवन मे उतारने से समाप्त हो सकते है।

✤

विद्वत परिषद : एक दृष्टिकोण

१—स्थापना एवं उद्देश्य :

विद्वत्परिषद की स्थापना भगवान महावीर के शासन महोत्सव के २५०० वी जयती के समय सन् १९४४ ई. मे कलकत्ता मे हुई थी। यह भारतवर्षीय दि० जैन विद्वानो का एक सक्रिय सगठन है। जिसका लक्ष्य समाज मे धार्मिक चेतना को जाग्रत रखते हुए विद्वानो को सुसगठित करना है। विद्वतपरिषद के सभी विद्वान सदस्य परस्पर भातृ भाव का सरक्षण करते हुए, आगमोक्त पद्धति से जिन धर्म की प्रभावना करने मे सलग्न रहते हैं। विद्वानो को अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन और लेखन के क्षेत्र मे प्रगतिशील बनाने के लिये विद्वतपरिषद की ओर से अनेक शिविर, तथा विद्वत्सगोष्ठिया की जाती रही हैं जिनके माध्यम से कई विद्वानो ने प्रगति की है।

२—विद्वान् एक प्रकाश स्तंभ :

भोगाकाक्षा रूप मोह यामिनी के सघन तिमिर मे विद्वान एक प्रकाश स्तभ के समान है। ससार मे सब ओर भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करने की आपाधापी चल रही है। पैसा को परमेश्वर मानकर छोटे से लेकर बड़े राष्ट्र तक उसी के सचय मे लीन है। न्याय, अन्याय का विकल्प छोड़ सर्वत्र उसी के सचय करने की होड लग रही है। इस स्थिति मे जन साधारण को आत्महित का मार्ग दिखलाने वाले विद्वान प्रकाश स्तम्भ का काम करते है। स्वनाम धन्य पण्डित टोडरमलजी, सदासुखदासजी, जयचन्द्रजी छावडा, कविवर बनारसीदासजी तथा भैया भगवतीदासजी आदि विद्वानो ने अपने काल मे आगम ग्रन्थो की हिन्दी वचनिकाएँ आदि लिखकर तथा जगह-जगह स्वाध्याय की शालाए स्थापित कर जिनवाणी की जो सेवा की थी उसी के फलस्वरूप आज समाज मे स्वाध्याय की प्रवृत्ति चल रही है और सच पूछा जाय तो गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, तथा त्रिलोकसार आदि करणानुयोग सम्बन्धी गहन ग्रन्थो का अध्ययन इन्ही टीकाओ के बल पर प्रचलित हुआ है।

एक समय ऐसा आ गया था जब जैन समाज मे तत्ववेत्ता विद्वानो की अत्यन्त विरलता हो गई थी। व्यापार प्रधान जैन समाज अपने बालको को सस्कृत-प्राकृत पढाना अनावश्यक समझती थी और आर्य समाज की ओर से जैन समाज को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा जाता था। इस स्थिति मे स्वर्गीय गोपालदासजी बरैया और स्वर्गीय गणेशप्रसाद जी वर्णी का इस ओर ध्यान गया। फलस्वरूप मोरेना मे जैन सिद्धात विद्यालय, बनारस मे स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर मे सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला (जो आज गणेश दि० जैन सस्कृत महाविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है) स्थापित की गई। इन विद्यालयो मे सस्कृत-प्राकृत का साङ्ग पाङ्ग अध्ययन कर अनेक विद्वान् तैयार हुए। प० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, प० मक्खनलालजी, प० बशीधरजी, प० देवकीनदनजी, प० जीवन्धर जी, प० फूलचन्द जी, प० कैलाशचन्द्रजी, प० जगन्मोहनलाल जी तथा प० दयाचन्दजी प० बशीधर जी व्याकरणाचार्य, प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य आदि ऐसे उद्भट विद्वान हुए जिन्होने जिनवाणी की अपूर्व सेवा की है। न केवल पठन-पाठन के द्वारा किन्तु षट्खण्डागम, कषायपाहुड, महाबन्ध और त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि गहन ग्रन्थो की आधुनिक हिन्दी टीकाएँ लिखकर जन साधारण को उनके

स्वाध्याय का अवसर दिया है। स्व श्री रतनचन्द जी मुख्त्यार भी करणानुयोग सम्बन्वी विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। किसी शिक्षा सस्था मे क्रमवद्ध अध्ययन न कर मात्र स्वाध्याय के द्वारा ग्रन्थो की गणित सम्बन्धी गुत्थियो को सरलता से सुलझा देना आपकी विशेषता थी। पं० राजेन्द्र कुमार जी मथुरा, पं० अजितकुमार जी मुलतान पं० मगलसेन जी अम्बाला आदि ने आर्य समाज से शस्त्रार्थ कर उन्हे परास्त किया और आर्य समाज के कट्टर शस्त्रार्थी कर्मानन्द जी को जैन धर्म मे दीक्षित किया।

कहना चाहिये कि समाज ने शिक्षा सस्थाएँ स्थापित कर उनके सचालन मे जितना व्यय किया था उससे असख्य गुणित लाभ उन सस्थाओ से उत्पन्न विद्वानो ने समाज को प्रत्यर्पित किया है। उन विद्वानो मे जिनवाणी के प्रति अपूर्व निष्ठा थी इसीलिए वे अपने निर्वाह की परवाह न कर सेवा मे जुटे रहे और उस पीढी के जो विद्वान आज अवशिष्ट है वे अब भी जुटे हुए है।

यद्यपि सस्थाएँ आज भी वही है और पूर्व की अपेक्षा बृहत साधनो से सम्पन्न है तो भी उच्चकोटि के विद्वान् तैयार नही हो रहे है। इसका एक कारण यही दृष्टि मे आता है कि इस समय जीवनोपयोगी वस्तुओ मे अत्यन्त महगाई मे जैन शिक्षा सस्थाओ से प्राप्त होने वाले अल्पमत वेतनमानो से विद्वान् का निर्वाह नही होता अत वह साथ मे इगलिश आदि का अध्ययन कर अपना कार्यक्षेत्र अन्यत्र बना लेता है। सरकारी संस्थाओ मे समयानुकूल वेतन प्राप्त होता है और संस्कृत प्राकृत आदि के प्रति उसकी दृष्टि गोण हो जाती है। इस स्थिति मे समाज का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सस्थाओ मे समयानुकूल वेतन देने की उदार भावना अपनावे और विद्वान् का भी कर्त्तव्य है कि वह कार्यक्षेत्र दूसरा होने पर भी अपनी धर्म निष्ठा को गौण न कर जिनवाणी की सेवा तथा समाज के मार्गदर्शन मे तत्पर बना रहे।

३—स्वाध्याय ही ज्ञानवृद्धि का परम उपाय है :

जिस प्रकार एक सैनिक को अपने अस्त्र-शस्त्र सदा ठीक रखना आवश्यक है, उनकी देखभाल करते रहना अनिवार्य है उसी प्रकार विद्वान को भी अपने अर्जित ज्ञान को ठीक रखना आवश्यक है, उसकी वृद्धि करते रहना अनिवार्य है। आजकल स्वाध्याय की परम्परा का प्रचार बढ रहा है। जगह-जगह पर्याय और गुणस्थानो की चर्चाएँ सुनने मे आती है परन्तु अधिकाश विद्वान् खासकर नव पीढ़ी के विद्वान् इन चर्चाओ से अछूते रहते हैं। यह बात शोभास्पद नही है। विद्वानो को चाहिये कि वे जहाँ भी रहे वही स्वाध्याय मण्डल की स्थापना कर स्वय स्वाध्याय करें और अपने ज्ञानार्जन का फल दूसरो के लिये भी प्रदान करे। अध्ययन करते समय जो कमी रह जाती है उसकी पूर्ति स्वाध्याय के द्वारा ही होती है।

निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, भेद रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय और व्रत विधान तपश्चरण आदि विषयो का अवगम नयदृष्टि को समझकर करना चाहिये। जिनागम मे एकान्तवाद को कोई स्थान नही है। निश्चयैकान्त, व्यवहारैकान्त और उभयैकान्त को आचार्यो ने क्रमश. निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास कहा है। इनका यथार्थ स्वरूप न समझने के कारण समाज मे विसवाद की स्थिति बन रही है। इस स्थिति का निराकरण स्याद्वाद का आश्रय लेने से ही हो सकता है।

कुन्दकुन्दस्वामी तथा अमृतचन्द्र आचार्य ने जगह-जगह दोनो नयो का प्रतिपादन कर वस्तु स्वरूप को स्पष्ट किया है। अमृतचन्द्र आचार्य ने तो स्पष्ट घोषणा की है :—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै रमवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्त एव ।।

अर्थात् जो पुरुष स्वय मिथ्यात्व को, अनादिकालीन दुराग्रह को उगलकर दोनो नयो से विरोध को ध्वस्त करने वाले जिन वचन मे रमण करते है वे शीघ्र ही अनाद्यनन्त एव अन्य पक्षो से अक्षुण्ण उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप समयसार को नियम से देखते है । इन्ही अमृतचन्द्र ने अनेक नयपक्षो का वर्णन करते हुए कहा है कि जो इन नय-पक्षो से परे होते हैं वे ही साक्षात् अमृत का पान करते है । नय, वस्तु स्वरूप को समझने और समझाने के साधन मात्र हैं, साध्य नही है अत आगे चलकर एक ऐसी भूमिका आती है जहाँ नय, प्रमाण और निक्षेपो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार के यथार्थ स्वरूप को समझकर मध्यस्थ रहने वाला व्यक्ति ही जिनेन्द्रदेव की देशना का पूर्ण फल प्राप्त कर सकता है । कहा भी है —

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकल शिष्य· ।।

व्यवहार और निश्चय का यथार्थ स्वरूप समझकर जो निश्चयाभास को निश्चय और व्यवहाराभास को व्यवहार मान बैठता है वह प्रवृत्तिरूप चारित्र को नष्ट कर देता है ।

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते ।
नाशयति करण चरण स बहिः करणालसो बालः ।।

एक प्राचीन गाथा परम्परा से चली आ रही है —

जइ जिणमअ पवज्जइ तो मा ववहार णिच्छयं मुइयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च ।।

गाथा मे कहा गया है —

यदि जिनमत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय को मत छोडो क्योकि एकके बिना अर्थात् व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जाता है और एकके बिना अर्थात् निश्चय के बिना तत्व नष्ट हो जाता है । मोक्षमार्ग के निरूपण मे भी आचार्यो ने निश्चय और व्यवहार दोनो नयो का आलम्बन किया है । पात्र की योग्यता देख कही व्यवहारनय से उन्होने उपदेश दिया है और कही निश्चयनय से। दोनो नयो की उपयोगिता को आचार्यों ने स्वीकृत किया है परन्तु निश्चय और व्यवहार की जो मर्यादा है उसे स्वीकृत करते हुए ही दोनो नयो को स्वीकृत किया है । हमारे चलने से आँख की उपयोगिता मार्गदर्शन मे है और पैरो की उपयोगिता मार्ग पर चलने मे है । पैर आँख की उपेक्षा नही कर सकते और आँख पैरो की उपेक्षा नही कर सकती । पैर और आँखो की उपयोगिता तब तक है जब तक हम गन्तव्य स्थान तक नही पहुँचे हैं। गन्तव्य स्थान प्राप्त कर लेने पर दोनो को विराम मिल जाता है । पैर और आँख की तरह व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष है । आज विवाद वहाँ हो जाता है जहाँ वक्ता एक नय को कहकर दूसरे नय को छोड देता है – छोड ही नही देता त्याज्य बतलाने लगता है । समय-सार के प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चयनय का प्रतिपादन करने के बाद व्यवहारनय का भी प्रति-

पादन किया है, और "स न स न" कहकर उसके पक्ष को गौण दिखा दिया है। पर आज तक किसी को समयसार की कथनी से विवाद उत्पन्न नही हुआ। यदि वक्ता अपनी वक्तृत्वशैली को परिमार्जित कर बोलने लगें तो बहुत सारा विवाद स्वय समाप्त हो जाय।

४—हीयमान शिक्षा का स्तर :

जैन समाज के प्रचलित विद्यालयो मे गिरता हुआ शिक्षा का स्तर देखकर मन मे वेदना होती है। गुरु गोपालदासजी वरैया और श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी ने जैन समाज के अन्दर धार्मिक विद्यालय स्थापित कराकर जैनधर्म और जैनदर्शन के अध्ययन-अध्यापन की जो धारा प्रवाहित की थी वह उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है। आज का छात्र आजीविका की दृष्टि से अध्ययन करता है और धार्मिक अध्ययन करने से महगाइ के जमाने मे उसकी आकाक्षा पूर्ण नही हो पाती, इसलिये वह इस ओर से अपनी शक्ति हटाकर इगलिश के अध्ययन की ओर लगाने लगा है। कुछ विद्यालयो ने दुहरी शिक्षा की व्यवस्था अपने यहाँ की परन्तु वह सफल होती नही दिखी। उसका कारण है कि छात्र न इतनी कुशाग्र बुद्धि रखता है और न ही इतना श्रम करता है जिससे दोनो विषयो मे परिपक्वता प्राप्त कर सके। येन केन प्रकारेण छात्र परीक्षा तो उत्तीर्ण कर लेते है परन्तु योग्यता के नाम पर वे शून्य जैसे होते है। इस विषय पर विद्वानो को विचार करना है। जिस प्रकार छात्र पहले एकनिष्ठ होकर सस्कृत प्राकृत भापा के माध्यम से धार्मिक और दार्शनिक विपयो का अध्ययन करते थे उसी प्रकार अब भी कर तथा समाज के उदार महानुभाव उन्हे समयोचित सरक्षण दे तो समस्या सुलझ सकती है। इस ह्रास के समय एकनिष्ठ अध्ययन करने वाले छात्रो को सस्थाओ की ओर से विशेष सुविधा मिलनी चाहिये। "सा विद्या या विमुक्तये" इस सूक्ति पर ध्यान देते हुए धार्मिक अध्ययन करना चाहिये।

५—मतभेद, मनभेद के कारण न बनें :

इस समय ही नही, बहुत पहले से लोगो मे विचार वैषम्य चला आता है। अपने-अपने ज्ञान के आधार पर विद्वान लोग विषयका प्रतिपादन करते है परन्तु जब कभी लेखक और वक्ता सूत्र और वाणीका सतुलन खोकर इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते है कि जिससे समाज का वातावरण क्षुभित हो जाता है। यदि समालोचक विद्वान दूसरे की छीछालेदारी न कर विषय का यथार्थ वर्णन करे तो स्थिति मे बहुत सुधार हो सकता है। समाज के पत्र एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना से भरे रहते है, इससे कई लोग तो ऐसी धारणा बना चुके है कि जैन पत्रो मे काट छाँट के सिवाय रहता ही क्या है? समाज के अन्दर ऐसा एक भी साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक पत्र दृष्टिगोचर नही होता जो हिन्दी के अन्य पत्र-पत्रिकाओ के समक्ष रखा जा सके। पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से लेखक विद्वान् अपने विचार प्रकट करें, यह ठीक है परन्तु उनका वह कार्य मन भेद का कारण न बने, इसका ध्यान रखा जाय।

६—धार्मिक संस्कार :

अभिषेक, पूजन तथा प्रतिष्ठा आदि पर अपने विचार प्रकट करते हुए कुछ विद्वानो ने इन सबको विकृत और निरर्थक बताने का प्रयत्न शुरू किया है। इस प्रकार की पुस्तकें लिखकर प्रचारित की जा रही है। उनके लिखने का एक ही तर्क है कि भगवान् तो वीतराग हो चुके, उनके अभिषेक की क्या आवश्यकता? उनका तो प्रक्षाल ही होता है। इस विपय पर कहना यह है कि साक्षात् वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र का तो न अभिषेक होता है

और न प्रक्षाल ही। परन्तु प्रतिमाओ का अभिषेक सदा से चला आया है। नन्दीश्वरभक्ति तथा चैत्यभक्ति की अचलिकाओ मे चतुर्णिकाय देवो के द्वारा अकृत्रिम चैत्यालयस्थ प्रतिमाओ के अभिषेक का उल्लेख किया गया है। ये प्राकृत-भक्तिया तथा अचलिकाएं कुन्दकुन्दाचार्य कृत कही गई है। सस्कृत-भक्तिया पूज्यपादाचार्य विरचित बताई जाती है उनमे भी सौधर्मेन्द्र की स्नपन-कर्तृता का उल्लेख किया है। नन्दीश्वरभक्ति श्लोक १५|१६, क्रियाकलाप स्वर्ग मे भी देव जब उपपाद शय्या से उठता है तब सर्वप्रथम अपने विमान मे स्थित अकृत्रिम चैत्यालयस्थ प्रतिमाओ का अभिषेक तथा पूजन करता है, पश्चात् अन्य कार्य। आज की युवा पीढी वैसे ही जिनपूजा आदि धार्मिक क्रियाओ से विमुख हो रही है, फिर इनकी निरर्थकता का उपदेश यदि मिल जाय तो कहना ही क्या।

७—पंथवाद का आग्रह :

पथवाद ने समाज मे गहरी जड जमा ली है, इसलिये उसे सहसा परिवर्तित नही किया जा सकता। तेरह पथ और बीस पथ, कितने ही नगरो मे विवाद का विषय बना हुआ है। कितने ही जगह कोर्ट मे केस चल रहे हैं। इस पर उभय पथवालो को गभीरता से विचार करना चाहिये। आराध्यदेव दोनो के एक है परन्तु आराधना की पद्धति मे भेद है। इस पद्धतिभेद का समन्वय पण्डितप्रवर आशाधरजी ने —

> यथाकथञ्चिद भजता जिनं निर्व्याजचेतसाम्।
> मनोरथाश्च सिद्धयन्ति दिश. कामान् दुहन्ति च ॥

इस श्लोक मे "यथाकथचिद" शब्द देकर बड़ी सुन्दरता से समन्वय किया है। पूजा मे पद्धतिभेद सहन किया गया है परन्तु अभिप्राय मे व्याज—छलको स्वीकृत नही किया गया है। शास्त्रो के चिन्तन और मनन से यदि किसी को अपनी त्रुटि समझ मे आ जाती है तो विचार-परिवर्तन मे विलम्ब नही लगता। ऐसे हजारो व्यक्ति अपने सामने हैं जो जन्मजात पंथ को छोढकर दिगम्बर धर्म मे दीक्षित हुए है। जन्मजात पथ को छोडना अल्प साहस की बात नही है। मैं ऐसे लोगो का स्वागत करता हूँ।

८—अचार विचार

आज हमारा आचार और विचार अधिकाश अपने पडौसी हिन्दु धर्म मे घुल मिल गया है। जैन कुलोचित आचार क्या हैं ? और ईश्वरवाद के विपक्ष-कर्मवाद पर अवलम्बित मानव का विचार क्या है ? इसे हम भूलते जाते हे, यह अच्छी बात नही है। मद्य, माँस, मधु का त्याग देवदर्शन, छने जल का सेवन और रात्रि भोजन का परित्याग, ये जैनधर्म के धारक मानव के बाह्य चिन्ह प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। इन चिन्हो से ही हमारे जैनत्व का बोध होता आ रहा है परन्तु आज हम लोग इन्हें उपेक्षित करने लगे है।

> कित निगोद कित नारकी कित त्रियंच अज्ञान।
> आज धन्य मानुष भयो पायो जिनवर थान ॥

कितना भावपूर्ण दोहा है यह ? निगोद, नारकी और अज्ञानी तिर्यंचो मे परिभ्रमण करते हुए मेरा कितना काल बीत गया, पता नही, आज मेरा धन्यभाग्य है कि मुझे जिनेन्द्रदेव का स्थान प्राप्त हुआ है। दुर्लभ जैनधर्म पाकर उसकी उपेक्षा करना, तदनुरूप श्रद्धा आचरण नही करना हस्तगत मणिको गहरे समुद्र मे फेक देना है। विद्वानो का कर्त्तव्य है कि वे निष्ठापूर्वक जैन गृहस्थ के आचार का पालन करे तथा दूसरो को सम्बोधित करें।

९—कुछ सामाजिक भी :

इस सदर्भ मे कुछ सामाजिक गतिविधियो पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। आज समाज मे लडकी के योग्य वर का प्राप्त कर लेना कठिन काम हो गया है। पच्चीस-पच्चीस तीस-तीस वर्ष की कुमारी लडकियाँ घर मे बैठी है, पर मुँहमाँगे दहेज की व्यवस्था न कर सकने के कारण माता-पिता निरन्तर चिन्तित रहते है। हमारे युवावर्ग मे ऐसी अकर्मण्यता क्यो आ गई है कि वे स्त्री पक्ष से प्राप्त धन से अपना निर्वाह करना चाहते है। यदि किसी के घर ४—५ लडकियाँ हुई तो उसे अपना मकान या जायजाद बेचकर सडक पर डेरा डालने की स्थिति आ जाती है। लोग कहते है कि अन्तर्जातीय विवाह करने से समस्या का समाधान किया जायगा। पर हम अन्तर्जातीय विवाह वही करते है जहाँ अधिक दहेज मिलता है। गरीब की कन्या लेने के लिये कोई वडा आदमी सामने नही आता। किसी तरह यदि कोई गरीव की लडकी ले भी लेता है तो उसे सास-ननद के कटुक वचन निरन्तर सहन करने पडते है। ऊबकर लडकी आत्मघात कर लेती है या पतिदेव उसे परित्यक्ता बना देते है। आज गाँव-गाँव मे ऐसी परित्यक्ता स्त्रियाँ कष्टमय जीवन व्यतीत कर रही है। माता-पिता की कठिनाई का अनुभव कर कितनी ही लडकियो ने ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है पर ऐसा महान साहस सभी लडकियाँ तो नही कर सकती।

हमारे युवासंगठन यदि यह सोच ले कि हम विवाह मे दहेज की माग नही करेंगे तो बहुत कुछ अशो मे समस्या का हल हो सकता है। वैवाहिक कार्य यदि सादगी से निपटा लिये जायें तो कन्या और वर दोनो पक्ष के लोगो को लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

१०—साहित्य प्रकाशन :

विद्वत्परिषद ने जैन धर्म की प्रभावना हेतु एव साहित्यकारो व लेखको को प्रकाश मे लाने की दृष्टि से समय-समय पर विभिन्न ग्रन्थो का प्रकाशन किया। जिनमे प्रमुख हैं —गोपालदास वरैया स्मृति-ग्रन्थ, आचार्य जुगल किशोर कृतित्व एव व्यक्तित्व, श्रुत सप्ताह नवनीत, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रथ, भारतीय साहित्य के विकास मे जैन वाङ् मय का, अवदान आदि।

इन महनीय ग्रन्थो को समाज का अच्छा आदर प्राप्त हुआ है।

११—साहित्य सत्कार और लेखकों को प्रोत्साहित करना :

मौलिक साहित्य का निर्माण तथा प्राचीन साहित्य का समुद्धरण, ये दो कार्य ऐसे है जो विद्वानो के सिवाय दूसरो के द्वारा सभव नही है अत विद्वानो को इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। विद्वत्परिषद ने प्रतिवर्ष विद्वान लेखको को पुरस्कृत करने की योजना बनाई है और इस योजना के अनुसार अव तक अनेक विद्वानो को पुरस्कृत कर चुकी है। भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से इस कार्य के लिये विद्वत्परिषद् को अनुदान प्राप्त होता है इसलिये उसके सचालक धन्यवाद के पात्र है। अभी विद्वत्परिषद मौलिकरचना पर गोपालदास वरैया पुरस्कार और प्राचीन ग्रन्थो के अनुव दादिपर गणेशप्रसाद वर्णी पुरस्कार प्रदान करती है। यदि भारतीय ज्ञानपीठ के अनुसार समाज के अन्य दानी महानुभाव भी इस ओर ध्यान देवें तो प देवकीनन्दजी प माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य, पं वशीधरजी न्यायालकार, प स्याद्वाद वाचस्पति दयाचन्द्र जी और प मक्खनलालजी के नाम पर भी पुरस्कार स्थापित किये

जा सकते है । ये वे विद्वान है जिन्होने जैन समाज और जैन साहित्य की सेवा मे अपना जीवन अर्पित किया है । उनकी स्मृति मे यह कार्य होना ही चाहिये ।

१२—सहकार और सहयोग की नीति :

शिवपुरी मे सम्पन्न होने वाले रजत जयन्ती अधिवेशन (१९७३) मे उसके अध्यक्ष श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया ने विद्वत्परिषद् के लिये एक हजार का दान देकर महावीर विद्यानिधि की स्थापना की थी । इस निधि के द्वारा साधनहीन विद्वानो और उनके परिवार को सहायता दी जाती है । इस निधि मे धीरे-धीरे दश हजार रुपये एकत्रित हो गये । उसके व्याज से प्रतिवर्ष एक हजार रुपये सहायता मे वितरण किये जाते हैं । प्रसन्नता है कि सागर कार्यकारिणी मे विद्वत्परिषद ने इस महानिधि मे १५,०००/- पन्द्रह हजार रुपये और मिलाकर पच्चीस हजार का फण्ड स्थापित कर दिया है अत अब अधिक मात्रा मे सहयोग किया जा सकेगा । समाज के उदारदानी इस निधि को वृद्धिगत कर सकते है । इसके सब रुपये पंजाब नेशनल बैंक की सागर शाखा मे जमा है । इस निधि से विद्वत्परिषद् ने पूज्य वर्णी जी की साधनाभूमि मडावरा मे चलने वाले वर्णी विद्यालय के लिये ३६०/- वार्षिक का स्थायी अनुदान स्वीकृत किया है ।

विद्वत्परिषद की एक योजना यह भी है कि यदि कोई विद्वान् वृद्धावस्था मे आजीविका से दुखी हो गया है तो उसे विद्वत्परिषद् सम्मानपूर्वक अच्छी सहायता पहुँचाती है और इस योजना के अनुसार वह अब तक दो विद्वानो को एक-एक हजार रुपयो की भेंट देकर सम्मानित कर चुकी है ।

साधनहीन होनहार विद्यार्थी अपनी प्रगति कर सके इस उद्देश्य से विद्वत्परिषद् ने शोध अनुदान की भी एक योजना बीना—बारहा अधिवेशन मे बनायी थी और उस योजना के अनुसार वह अब तक विभिन्न विद्यार्थियों एव विद्वानो को शोध प्रबन्ध को टाईप कराने के लिए समुचित सहायता प्रदान कर चुकी है ।

विद्वत्परिषद् का उद्देश्य अपने सब सदस्यो के साथ भ्रातृभाव स्थापित करना भी है और इसी भावना से वह विद्वानो की स्थिति का ध्यान रखती है । तथा सकट के समय उनके काम आती है । कितने ही सदस्यो की औषधि के लिये विद्वत्परिषद् की ओर से ५००/- तक सहायता भेजी गयी है । विशेषता यह है कि सहायता के ये सब कार्य गुप्त रूप से सम्पन्न किये जाते हैं जिससे सहायता लेने वाले को हीनता का भाव उत्पन्न नही हो । इस विभाग का सचालन करने के लिये चार सदस्यो की एक उपसमिति है उसकी सम्मति से यह कार्य सम्पन्न होते है ।

कार्यक्षेत्र विस्तृत है उनके अनुरूप विद्वत्परिषद् के पास पर्याप्त साधन नही है । समाज को इस ओर लक्ष्य करना चाहिए ।

१३...बाल साहित्य का निर्माण .

प्रसन्नता है कि विद्वानो ने उच्चतम साहित्य का निर्माण कर एक बडी कमी की पूर्ति कर दी है परन्तु बाल साहित्य का एकदम अभाव हो रहा है । बालको मे अच्छे सस्कार डालने वाली छोटी-छोटी सचित्र पुस्तको के प्रकाशन की अत्यन्त आवश्यकता हैं । बालकोपयोगी एक मासिक भी प्रकाशित करने की आवश्यकता है ।

पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने उस पर प्राक्कथन लिखा है। बहुश्रुत विद्वानों ने इसके प्रकाशन पर उत्तमोत्तम समतियाँ दी है। षट्खण्डागम स्वाध्यायशिविर के समय सागर मे पूज्यवर आचार्य विद्यासागर के करकमलो द्वारा ग्रन्थ का विमोचन हुआ था। इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग प्रेस मे है। हमारा अनुरोध है कि विद्वत्परिषद् के सदस्य एव अन्य श्रुतप्रेमी सज्जन इस ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार और विक्रय मे सहयोग करेंगे। इन दोनो भागो के विक्रय से प्राप्त राशि से अन्य साहित्य प्रकाशित किया जा सकेगा।

१७—ग्रन्थों का संपदनादि :

ग्रन्थो के सम्पदन, सकलन एव अनुवाद आदि पर उठने वाले विवादो से समाचारपत्रो के कालम भरे देखे जाते हैं। इस सदर्भ मे इतना ही कहा जा सकता है कि सिद्धान्त-विरुद्ध बातो का विरोध तो होना चाहिये, पर विरोध की भाषा सयत हो, तो उससे विवादो को स्थान नही मिलेगा। नवीन लेखक और प्रकाशक यदि पाण्डुलिपी का वाचन किसी योग्य विद्वानो से करा ले तो ग्रन्थगत अशुद्धियाँ प्रकाशन के पूर्व ही निकाली जा सकती हैं। विद्वत्परिषद् या शास्त्रिपरिषद् के माध्यम से यह कार्य अच्छी तरह सम्पन्न कराया जा सकता है। कोई वक्ता या लेखक अपने चिन्तन एवं मनन के आधार पर यदि कुछ नई बात लिखता या कहता है तो गम्भीरता से उस पर विचार करके ही कुछ लिखना या कहना ठीक होता है। वक्ता की विवक्षा और प्रवचन के प्रकरण पर विचार किये विना ही कितने ही विद्वान् वक्ता के ऊपर असयत शब्दो का प्रयोग कर अपने आपको ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि -घोषित करने का प्रयास करते है। उनकी यह प्रवृत्ति समीचीन नही मालूम होती

१८—विद्वत्परिषद् की कार्यप्रणाली :

विद्वत्परिषद् विविध विचार वाले विद्वानो का एक सगठन है। उसकी नीति है कि मन्च पर वे ही कार्य उपस्थित किये जायें जिसमे सबका मतैक्य हो। विभिन्न मतवाले कार्यो को व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्य मन्च से कर लिया जाय। इस नीति के कारण सब विचारधारा के सदस्य विद्वत्परिषद् मे सगठित है। शासकीय स्कूलो तथा कालेजो मे काम करने वाले उभय भाषा के विज्ञाता अनेक विद्वान् भी विद्वत्परिषद् के सदस्य है। बैंको तथा अन्य शासकीय सस्थाओ मे काम करने वाले विद्वान् भी सम्मिलित है। विद्वत्परिषद् अपनी इस नीति मे सफल है इसीलिए सब प्रान्तो तथा सब विचारो के लोग इसमे सगठित है।

१९—विद्वपरिषद् का विशाल दायित्व :

सासारिक प्रपन्चो मे पड़ी हुई साधारण जनता के बीच विद्वान् का स्थान गरिमापूर्ण है। विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपनी गरिमा को सुरक्षित रखता हुआ साधारण जनता के लिये आत्महित का मार्ग प्रदर्शित करता रहे। समाज मे आये हुये द्वन्दो को दूर करने की क्षमता उसे प्राप्त करनी चाहिये। आज समाज मे चारित्रिक स्तर गिरता जा रहा है, उसे सम्भालने का प्रयास होना आवश्यक है। बालको को प्रारम्भ मे धार्मिक सस्कार प्राप्त नही होना और युवा होने पर कुसगति मे पड जाना, यह चारित्रिक स्तर के गिरने का कारण है अत बालको को स्कूल और कालेजो मे भेजने के पूर्व ही उनमे अच्छे संस्कार डालने का प्रयत्न होना चाहिये। सम्पन्न

लोग जहाँ अपनी सन्तान की सुख सुविधाओं के लिये अनर्गल रूप से खर्च करते है वहाँ अच्छे संस्कार डालने के साधनो मे खर्च करते हुये अरुचि दिखाते हैं। सच कहा जाय तो सम्पन्न घराने के अनुशासनहीन बालको से ही चारित्रिक पतन के काम शुरू होते हैं। साधारण घरो के बालक तो उन्ही की सगति से पतन का मार्ग अपनाते है। प्रत्येक नगर मे ऐसी रात्रिशालाओ का होना आवश्यक है, जिनमे हमारे बालक जैनधर्म के अच्छे संस्कार सीखे। बाल्यावस्था के अच्छे संस्कार जीवन भर काम आते है।

२०—चर्तुदश अधिवेशन स्थल : कला केन्द्र खजुराहो :

खजुराहो कला की दृष्टि से देश विदेश मे प्रसिद्ध हैं। यहाँ जैनेतर समाज के अनेक दर्शनीय मदिर है। उनसे कुछ दूरी पर पहल श्रेष्ठी के द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथ जिन मदिर है। इसी प्राङ्गण मे १००८ भगवान् शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है जो अपने अतिशय के लिये प्रसिद्ध है इसके सिवाय और भी मदिर है। पार्श्वनाथ मंदिर की शिखर कलापूर्ण है। ऐसा लगता है कि जैनेतर मदिरो के कलाकारों द्वारा ही इस मदिर की शिखर का निर्माण हुआ है। खजुराहो के समीपवर्ती ग्रामो मे जैन वसति कम है इसलिये यह क्षेत्र उपेक्षित सा पडा रहा। जैनेतर मदिरो को देखने के लिये आने वाले पर्यटक जैन मन्दिर के प्राङ्गण मे भी आते है। परन्तु यहाँ की व्यवस्था समयोचित न होने से उनका आकर्षण नही हो पाता। प्रसन्नता है कि पन्ना तथा छतरपुर के कुछ महानुभावो का ध्यान इस क्षेत्र के जीर्णोद्धार की ओर गया। श्री स्व० साहु शान्तिप्रसाद जी का भी क्षेत्र पर शुभागमन हुआ तथा उन्होने सग्रहालय के निर्माण की आवश्यकता देख एक लाख का दान घोषित किया। उत्साही कार्यकर्ताओ ने तन, मन, धन से क्षेत्र के नवीनीकरण मे श्रम किया हैं। मैंने वहाँ की जो स्थिति २० वर्ष पूर्व देखी थी, उसमे आज बहुत ही सुधार हुआ है। धर्मशाला के कमरो का निर्माण आधुनिक ढंग से हुआ है और मन्दिरो की वेदियो का भी नवनिर्माण हुआ है। मन्दिरो के आगे बगीचा का निर्माण हुआ है जिससे प्राङ्गण की शोभा बढ गई है।

पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा और चर्तुदश गजरथ समारोह (वर्ष १९८१) के समय श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् का अधिवेशन आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के सानिध्य मे आमन्त्रित किया गया है।

इस अधिवेशन मे आये हुये अनेक विद्वानो से समाज को मार्गदर्शन मिलेगा तथा विद्वानो के मार्गदर्शन मे क्षेत्र समुन्नति एव विकास की ओर निरन्तर अग्रसर होगा यह कामना करते है।

२१—नैमित्तक अधिवेशन स्थल : अहार क्षेत्र :

मदनसरोवर के तट पर रमणीय पर्वतिकाओं की उपत्यिका मे स्थित श्री सिद्धक्षेत्र अहार का शान्तिमय वातावरण हृदय को आकर्षित करने वाला है। श्री १००८ शाति कुन्थु और अरनाथ भगवान् की विशाल प्राचीन प्रतिमाओ के दिव्य शरीर से स्पृष्ट वायुमण्डल, जन्मविरोधी जीवो के विरोध को शात करने वाला है। स्वनामधन्य पाण्डयाशाह जिनदर्शन की प्रतिज्ञाबद्ध थे, इसलिये जहाँ-जहाँ उनके ठहरने के स्थल थे वहाँ-वहाँ उन्होने मन्दिरो का निर्माण कराया था। ऐसे मन्दिर, अहार, इसुरवारा, पजनारी तथा बजरगगढ के हमारे जाने-माने हैं जबकि जिन भक्ति के प्रसाद से ससारी प्राणी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है तब रागा चाँदी रूप मे परिणत हो जाय, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है।

दक्षिण भारत मे आदिनाथ तथा उनके उभय पार्श्व मे भरत और बाहुबली की प्रतिमाओ का प्रचलन है तो उत्तर भारत मे शान्ति, कुन्थु और अरनाथ तीर्थकरो की प्रतिमाओ का प्रचलन है। ये तीनों तीर्थकर, चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक थे। इन्होने राज्यावस्था मे षट् खण्ड भरत क्षेत्र की वसुधा का पालन किया और मुनि अवस्था मे घोर तपश्चरण कर कर्मशत्रुओ पर विजय प्राप्त की। समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भूस्तोत्र मे इन तीनो तीर्थकरो का भाव-भीना स्तवन किया है।

शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिमा को प्रतिष्ठित हुए आठसौ वर्ष व्यतीत हो गये। किसी समय अहार क्षेत्र अत्यन्त समुन्नत अवस्था मे रहा होगा। यहाँ उपलब्ध खण्डित प्रतिमाओ के शिलालेखो से जाना जाता है कि यह क्षेत्र अनेक जैन उपजातियो का श्रद्धाभाजन था। यहा तथा उसके पार्श्व मे अनेक जैन उपजातियो का सगम रहा होगा, तभी तो उनके द्वारा प्रतिष्ठापित प्रतिमाएँ यहा उपलब्ध है। संग्रहालय मे सग्रहीत प्रतिमाओ के शिलालेख अतीत के इतिहास पर प्रकाश डाल रहे है।

आजीविका आदि के साधन सुलभ न रहने से यहाँ के निवासी अन्यत्र चले गये और कुछ आततायिओ ने मूर्ति भजन कर क्षेत्र को भी क्षत विक्षत कर दिया। शान्तिनाथ मन्दिर मे स्थित कुन्थनाथ की प्रतिमा को खण्डित कर विध्वस्त कर दिया तथा मूलनायक शान्तिनाथ की प्रतिमा को भी विध्वस्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु दैविक चमत्कार से सफल नही हो सके। शान्तिनाथ का मन्दिर अनेक शताब्दियो तक असुरक्षित पडा रहा। झाड-झखाडो के बीच प्रवेश करने मे लोग भयभीत रहते थे।

विदित हुआ कि सन् ११२९ ई० मे पठा निवासी राजवैद्य प० बारेलाल जी का लक्ष्य इस क्षेत्र के उद्धार की ओर गया और उन्होने एक प्रान्तीय समिति गठित कर क्षेत्र के उद्धार का कार्य शुरू किया।

अर्धशताब्दी के दीर्घकाल तक चलने वाली प० बारेलाल जी की अविरत सेवाओ ने आज क्षेत्र को जिस समुन्नत दशा मे प्रस्तुत किया है वह सबके सामने है। दिवगत प० बारेलाल जी के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा समर्पित करता हूँ।

श्री प० बारेलाल जी की समाधि के बाद क्षेत्रीय जनता के आग्रह से उनके ज्येष्ठ सुपुत्र डॉ० कपूरचन्द्रजी ने उसी निष्ठा के साथ कार्य सभाला है और उसी के फलस्वरूप भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा का अष्टशताब्दी-महामस्तकाभिषेक (वर्ष १९८२) आयोजित किया गया है। इस माँगलिक अवसर पर अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् का यह नैमित्तिक अधिवेशन आमन्त्रित किया गया।

⚜

षष्ठ खण्ड
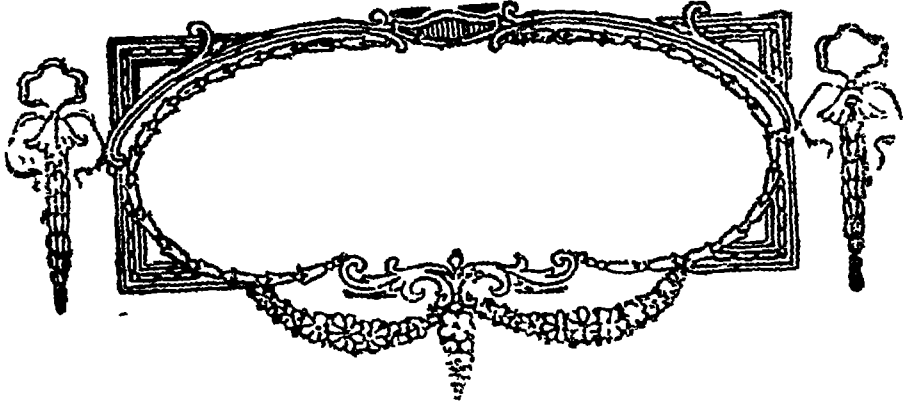
संस्कृत काव्यालोक

महावीर-स्तवनम्

[मालिनीच्छन्दः]

उदधिरिवगभीरः पापधूलीसमीर·
सकलमनुजहीरः कर्मशत्रुप्रवीरः ।
विपदि परमधीर· प्राप्तजन्माब्धितीरः
जयति जगति वीरस्तीर्णदु.खौघनीरः ॥१॥

निखिलगुणनिधानं सर्वलोकप्रधान
विहतविधिवितानं संगत सन्निधानम् ।
विहित-हितवितान व्याप्तसत्कीर्तितान
जगति सुगुणधान वीरमीडेऽघहानम् ॥२॥

दुरिततरुकुठार· पुण्यपुञ्जप्रहारः
शिवनगरविहार शुद्धतत्त्वैकसारः ।
अधिगतगुणसारः कीर्णसत्कीर्तिभारो
जयति जयति सारो वीरनाथोऽस्तमार. ॥३॥

विनिहतभवजाल. प्राप्तसत्कीर्तिमाल:
शशिसमशुचिभाल. कर्मवृन्दैककालः ।
हतमनसिजचाल: साधुसन्दोहपालो
जयति विजितकालो वीरनाथो नृपाल. ॥४॥

निखिलगुणसुपूर. कर्मपाशैकदूरो
भव-तिमिरसुसूर पापसैन्यैकचूरः ।
जयति जनसुवन्द्यः साधु-सङ्घैकनन्द्य
श्चरमजिनवरेन्द्रः पादनम्रामरेन्द्र. ॥५॥

महावीर-स्तोत्रम्

[भुजङ्गप्रयातं छन्दः]

अगाधे भवाब्धौ पतन्त जन यो
विनिर्दिश्य तत्त्व सुखाढ्य चकार ।
दयाब्धि. सुखाब्धिः सदा सौख्यरूप:
स वीरः प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ॥१॥

विदग्धोऽपि लोक· कृतो येन मुग्धः
स कामः प्रकाम रत चात्मतत्त्वे ।
न शक्तो बभूव प्रजेतु मनाग् य
स वीर· प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ॥२॥

यदीय प्रवीर्यं हि बाल्येऽपि देवो
धृताहीन्द्ररूपो न किञ्चिद् विवेद ।
प्रमोदस्वरूपस्त्रिलोकी — प्रभूप
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥३॥

जगज्जीवघातीनि घातीनि कृत्वा
हतान्येव लेभे परं ज्ञानतत्त्वम् ।
अलोक च लोक ददर्शात्मना य·
स वीरः प्रवीर· प्रमोदं प्रदद्यात् ॥४॥

सशिष्य· स विप्रो गुरुर्गौतमो यं
समासीनमाराद् विलोक्यैव नूनम् ।
मद भूरिमान मुमोच स्वकीय
स वीर. प्रवीर. प्रमोद प्रदद्यात् ॥५॥

सुरेन्द्रानुगेनालकानायकेन
कृतास्थानभूमि समास्थाय दिव्यै. ।
वचोभिर्य ईशो दिदेशार्थसार्थं
स वीरः प्रवीरः प्रमोदं प्रदद्यात् ॥६॥

अनेकान्तदण्डैः प्रचण्डैरखण्डैः
समुद्दण्डवादि — प्रवेतण्डगण्डम् ।
विभेदाशु यश्च प्रकृष्टप्रमाणः
स वीर' प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ॥७॥

विहृत्यार्यखण्डे सुधर्मामृतस्य
प्रवृष्ट्या समस्तान् जगज्जीवसस्यान् ।
प्रवृद्धान् चकाराभ्ररूपोऽधिपो य
स वीरः प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ॥८॥

ततो ध्यानरूप निशात विसातं
कृपाण स्वपाणौ य आदाय सद्य. ।
अघातीनि हत्वा बभूव प्रमुक्तः
स वीरः प्रवीरः प्रमोद प्रदद्यात् ॥९॥

अथामन्दमानन्दमाद्यन्तहीनं
निजात्मप्रजातं ह्यनक्षं समक्षम् ।
चिर यश्च भेजे निजे नैजरूप
स वीर. प्रवीर. प्रमोद प्रदद्यात् ॥१०॥

बाहुबल्यष्टकम्
[भुजङ्गप्रयातम्]

विजित्याग्रज यो रणे स्वात्मवीर्याद्
विरक्तो बभूव क्षितौ प्राप्तराज्यात् ।
तपस्यानिलीन विलीनांहस वै
सुनन्दासुत त सदाहं नमामि ॥१॥

तपस्या चरन् यो महाशीतवात खरांशुप्रताप महाम्भोदवृष्टिम् ।
प्रसेहे स्थिर स्वात्मचिन्तायुत वै सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥२॥

गृहीत्वा तपो येन भुक्त न जातु
जल नैव पीत पिपासातुरेण ।
विवृद्धो व्यधायि स्वकीयो गुणौघ
सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥३॥

यदीये सुदेहे गिरीन्द्रेण तुल्ये घना श्यामलाभा. सुलग्ना बभूवु ।
सदा ध्यानमग्न महामोक्षलग्न सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥४॥

यदीयाङ्गलग्न लतातन्तुजात-
मकुर्वन् विदूर सुरीखेचराद्याः ।
युत पत्रिवृन्दै कुलायस्थितैर्वै
सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥५॥

निमग्न सदा स्वात्मसचेतनायां विलग्न सदा मुक्तिकान्तानुबन्धे ।
दहन्त सदा कर्मदाव महान्त सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥६॥

सुराः खेचराश्चानमन्ति स्म नित्य
स्थित ध्यानमध्ये गिरीन्द्रोपमानम् ।
महाबोधकैवल्यलक्ष्म्या लसन्त
सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥७॥

विधूयाष्टक यो विधीना विदुष्ट बभूवापवर्गेश्वर क्षिप्रमेव ।
नुत देववृन्दै. स्तुत साधुसङ्घै सुनन्दासुत त सदाह नमामि ॥८॥

बाहुबल्यष्टक नित्य पठेद्य: शुद्धचेतसा ।
सोऽनन्तबलमाप्नोति नियमेन निरन्तरम् ॥

सामायिकपाठ :

(१)

प्रतिक्रमणकर्म

[बसन्ततिलकच्छन्दः]

कालादनन्ताद्भ्रमता समन्ताद्दुःखातिभार भरता भवेऽस्मिन् ।
सौभाग्यभागोदयतो मयैतत् सामायिकं सौख्यकर सुलब्धम् ॥ १ ॥
सर्वज्ञ ! सर्वत्र विरोधशून्य ! चञ्चद्दयासागर ! हे जिनेन्द्र !
कायेन वाचा मनसा मया यत् पाप कृत दत्तजनातितापम् ॥ २ ॥
भूत्वा पुरस्ताद्भवतो विनीत. सर्वं तदेतन्निगदामि नाथ !
कारुण्यबुद्ध्यासुभृतो भवांश्च मिथ्या तदंहो विदधातु धातः ॥ ३ ॥
(युग्मम्)

क्रोधेन मानेन मदेन माया-भावेन लोभेन मनोभवेन ।
मोहेन मात्सर्यकलापकेनाशर्मप्रदं कर्म कृत सदा हा ॥ ४ ॥
प्रमादमाद्यन्मनसा मयैते द्व्येकेन्द्रियाद्या भविनो भ्रमन्तः ।
निपीडिता हन्त विरोधिताश्च संरोधिताः क्वापि निमीलिताश्च ॥ ५ ॥
बाल्ये मया बोधसमुज्झितेन कुज्ञानचेष्टानिरतेन नूनम् ।
अभक्ष्यसभक्षणकादिकं हा पापं विचित्रं रचित न किम् किम् ॥ ६ ॥
तारुण्यभावे कमनीयकान्ता—कण्ठाग्रहाश्लेषसमुद्भवेन ।
स्तोकेन मोदेन विलोभितेन कृतानि पापानि बहूनि हन्त ॥ ७ ॥
बाला युवानो विधवाश्च भार्या जरच्छरीरा. सरला. पुमांसः ।
स्वार्थस्य सिद्धौ निरतेन नित्य प्रतारिता हन्त मया प्रमोदात् ॥ ८ ॥
कृष्यादिकार्येषु सदाभिरक्त आरम्भवाणिज्यसमूहसक्त. ।
विवेकवार्तानिचयेन मुक्तश्चकार पापं किमह न चित्रम् ॥ ९ ॥
न्यायालये हन्त विनिर्णयार्थं गतेन हा हन्त मया प्रमोहात् ।
चित्रोक्तिचातुर्यचितेन चारु-सत्यस्य कण्ठो मृदित. सदैव ॥ १० ॥
व्यापाद्य लोकान् रहसि प्रसुप्तान् लोभाभिभूतो दयया व्यतीतः ।
जीवस्य जीवोपमवित्तजात जहार हा हारिसुहारमुख्यम् ॥ ११ ॥

लावण्यलीलाविजितेन्द्रभार्या भार्याः परेषां सहसा विलोक्य ।
वसन्तहेमन्तमुखर्तुमध्ये कन्दर्पचेष्टाकुलितो बभूव ।। १२ ।।
लोभानिलोत्कीलितधैर्यकील कार्पण्यपण्यीयनिकेतनाभः ।
सङ्गाभिषङ्गे प्रविषक्तचित्तश्चकार चित्राणि न चेष्टितानि ।। १३ ।।
पापेन पाप वचनीयरूप मया कृत यज्जनताप्रभो ! तत् ।
वाचा न वाच्य मयका कथञ्चित् समस्तवेदी तु भवान् विवेद ।। १४ ।।
त्वयाञ्जनाद्या विहिता अपापा' संप्रापिता सौख्यसुधासमूहम् ।
ममापि तत्पापचय समस्तो ध्वस्त' सदा स्याद्भवत प्रसादात् ।। १५ ।।
ममास्ति दोषस्य कृति स्वभावो भवत्स्वभावस्तु तदीयनाश. ।
यद्यस्य कार्यं स करोतु तत्तत् न वार्यते कस्यचन स्वभावः ।। १६ ।।
पठन् श्लोकतति ह्येता कुर्यात्सामायिकोद्यत ।
आद्यं षट्कर्मणा मध्ये प्रतिक्रमणकर्मकम् ।। १७ ।।

प्रत्याख्यानकर्म

[उपजाति छन्दः]

प्रमादतो ये बहवोऽपराधा हिसाभिमुख्या विहिता मयैते ।
ते त्वत्प्रसादाद्विफला भवन्तु भवन्तु दु'खस्य यतो विनाशा ।। १८ ।।
पापाभिलिप्तेन ह्रियोज्झितेन दयाव्यतीतेन महाशठेन ।
हीनेन बुद्ध्या विहितानि यानि कृत्यानि हा हन्त मया प्रमादात् ।। १९ ।।
सवेगवातज्वलितेन तापा-नलेन तान्यद्य निहन्तुमीहे ।
निन्दामि नित्य मनसा विरुद्धमातमस्वभाव बहुशो विभो हे ।। २० ।।
सुदुर्लभ मर्त्यभव पवित्र गोत्र च धर्मं च महापवित्रम् ।
लब्ध्वापि हा मूढतमेन मान्य ! जीवा वराका निहता मयैते ।। २१ ।।
भूत्वेन्द्रियालम्पटमानसेनाज्ञेनेव नून निहता समन्तात् ।
एकेन्द्रियाद्या भवत. प्रसादात् क्षान्तो भवेदद्य स मेऽपराध ।। २२ ।।
आलोचनाया कुटिलाश्च दोषा कृता मया ये विपुलाश्च भीमा ।
भवन्तु ते नाथ भवत्कृपाभिर्मृषा वृषाराधितपादपद्म ! ।। २३ ।।

[आर्याछन्दः]

एव भूयो भूयो निन्दित्वात्मानमुग्रकर्माढ्यम् ।
साधु. सविदधीत प्रत्याख्यानाभिध कर्म ।। २४ ।।

सामायिक कर्म

[शालिनी छन्द.]

जीवे जीवे सन्ति मे साम्यभावा सर्वे जीवा. सन्तु मे साम्ययुक्ता.।
आर्त्त रौद्रं ध्यानयुग्म विहाय कुर्वे सम्यग्भावना साम्यरूपाम् ।। २५ ।।
पृथ्वी तोय वह्निवायू च वृक्षो युग्माक्षाद्या सन्ति ये जीवभेदाः ।
ते मे सर्वे क्षान्तियुक्ता भवन्तु क्षान्त्या तुल्य नास्ति रत्न यदत्र ।। २६ ।।
दु.खे सौख्ये बन्धुवर्गे रिपौ वा स्वर्णे तार्णे वा गृहे प्रेतगेहे ।
मृत्यूपत्त्योर्वा समन्ताज्जिनेन्दो! मध्यस्थ मे मानस साम्प्रत स्यात् ।। २७ ।।
माता तात· पुत्रमित्राणि बन्धुभार्या श्यालः स्वामिन· सेवकाद्या. ।
सर्वे भिन्नाश्चिच्चमत्कारमात्रादस्मद्रूपाच्चिच्चमत्कारशून्याः ।। २८ ।।
मोहध्वान्तेनावृतोद्बोधचक्षु. स्वात्माकार न स्म पश्यामि जातु ।
अद्योद्भिन्नज्योतिरस्मि प्रजात स्वात्माकार तेन पश्यामि सम्यक् ।। २९ ।।

(आर्याछन्दः)

एव साम्यसुधाभरतृप्तस्वान्तः समन्तत· साधुः ।
सामायिक तृतीय कुर्यात्सत्कर्म सन्मान्यम् ।। ३० ।।

स्तुतिकर्म

(शार्दूलविक्रीडितम्)

यद्गर्भस्य महोत्सवे सुरचयैराकाशसपातितै—
र्नानावर्णधरैर्विचित्रमणिभिः सछादित भूतलम् ।
शुम्भद्रूपधरैस्तदीयसुगुणै रेजे यथा लाञ्छितं ।
त वन्दे वृषभ वृषाञ्चितपद भक्त्या सदा सौख्यदम् ।। ३१ ।।
प्रोत्तुङ्गे गिरिराजरम्यशिखरे क्षीरोदधेराहृतै—
श्चञ्चच्चन्द्रकलाकलापतुलितैरम्भोभिरानन्दिता. ।
जातं य मुदिता सुरा रतिधरा· ससितत्तवन्त. स्वय
तं वन्दे ह्यजितेश्वर जिनवर सत्कीर्तिराकापतिम् ।। ३२ ।।

नो नित्यं जगतीतले किमपि हा हा विद्यते कुत्रचित्
सर्वं कालकरालकण्ठकलित सर्वत्र सदृश्यते ।
इत्थ भोगशरीरशून्यहृदयो यः काननेष्वातपत्
त वन्दे खलु शभव भवहर सत्सौख्यसम्पत्करम् ।। ३३ ।।
यस्य ज्ञानदिवाकरेण दलितं ध्वान्त ततं सर्वतो
नो लेभे वसुधातले क्वचिदपि स्थानं भ्रमत्सन्ततम् ।
लोकालोक-पदार्थ-बोधनकर — सद्देशनातत्पर ।। ३४ ।।
शुक्लध्यानकृपाणखण्डितरिपु. स्वाधीनता प्राप्नुवन्
स्वच्छाकाशनिकाशचेतनगुणश्चासाद्य यः स्वात्मना ।
लेभेऽनन्तमनश्वर सुखवर स्वात्मोद्भव स्वात्मनि
त वन्दे सुमति सदा शुभमति कल्याणमालाश्रितम् ।। ३५ ।।
यत्कीर्त्या धवलीकृते धवलया लोके सलोको हरि
पाथोधि पयसा हरो हरगिरि हसश्च हंसी तथा ।
शक्रः शक्रकरेणुक मृगयते राहुश्च राहुद्विष
त वन्दे कमलापति शिवपति पद्मप्रभ सत्प्रभम् । ३६ ।।
लोकानन्द-पयोधि-वर्धनपरो योऽपूर्वताराधिपो
मिथ्या-बोध-निशाविनाशनकरे यो वासराधीशिता ।
ससारा-ब्धिनिमग्न-जन्तु-तरणि र्यो ज्ञानवाराकर—
स्त वन्दे भवपाशनाशनकर श्रीमत्सुपार्श्वं प्रभुम् ।। ३७ ।।
शास्त्रक्षीर-पयोधि-मन्थनकरो योऽमन्थरो मन्दर
सद्वृत्तादिसुरत्नपोषणपरो यो रोहणो भूधरः ।
यो लोक-व्रजपाप-तापहरणे साम्भा सदम्भोधर—
स्तं वन्दे किल चन्द्रसन्निभरुचि चन्द्रप्रभ भास्वरम् ।। ३८ ।।
सत्कारुण्यमहोदधि गुणनिधि सत्प्रीतिपाथोनिधि
सद्बोधाहिमरश्मिलोकितजगत्काष्ठावधि सद्विधिम् ।
पादाब्जानत-देवराज-शिरस सत्कीर्तिमन्त प्रभु
वन्देऽह विपदन्तकारकममु श्रीपुष्पदन्त जिनम् ।। ३९ ।।
यस्य ज्ञानदिवेन्द्र-दिव्य-विपुलालोकेऽखिलालोकने
नाना-शैल-शिखामणि सुरमणे क्रीडा-कदम्बोच्छ्रित ।
आक्रान्तत्रिजगत्तलोऽचलपतिर्मेरु स कीटायते
वन्दे त जिनशीतल शुभतम भव्यात्मना सौख्यदम् ।। ४० ।।

येनामन्दकृपाभरेण नितरां पारं भवाब्धेः पर
तीव्राह — परिखन्निमग्नमनसः सम्प्रापिताः पूरुषा. ।
स त्व भो करुणासुधाजलनिधे ! वात्सल्यपाथोनिधे !
हे श्रेयन् ! भवकर्दमे निपतितं कि मा सदोपेक्षसे ।। ४१ ।।

काम-श्रीमुख-चारुपत्र-निचय — प्रोद्दीप्त — दावानल
बुद्धि-श्रीसत्कीर्ति-कान्ति-विलसत्सद्रत्नरत्नालयम् ।
लोकानन्दथुसागरोच्छितिकर राका-निशा-वल्लभ
वन्देऽह वसुपूज्यज जिनपति मोक्षार्गलोद्घाटनम् ।। ४२ ।।

क्षीराम्भोनिधि-फेनपुञ्ज-विलसद्यत्कीर्ति-सघट्टतो ।
राहुर्नीलगिरि· पयोदसहित ख नीलनीरेभवम् ।
भृङ्गा मत्तमतङ्गजाश्च जगतो लुप्ता बभूवुस्तरा ।
त वन्दे विमल मलोज्झिततम श्रीतीर्थनाथाधिपम् ।। ४३ ।।

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तसुतप.क्षान्त्यादयो यद्गुणा ।
अन्त नो ह्यपयान्ति देवगुरूणा सवर्ण्यमानाश्चिरम् ।
श्रीमन्त सुर-राज-पूजित-पद कल्याणमालास्पद ।
वन्देऽनन्तजिनेश्वर भव-हर त कीर्तिसम्पद्धरम् ।। ४४ ।।

यः सज्ज्ञानविभूषितः सुरचया अर्चन्ति य सन्ततम् ।
ध्वस्तो येन मनोभवो बुधजनो यस्मै सदा तिष्ठते ।
यस्मान्मोहपरम्परा विगलिता यस्यास्ति दासो जगद् ।
यस्मिन् लीनतमो विकल्पनिचयस्त धर्मनाथ भजे ।। ४५ ।।

चित्तक्षोभकरेण येन नितरा चक्रेण सतापिता ।
योद्धार प्रतिपक्षिपक्षसहिता राज्यस्य काले सदा ।
ध्यानाह्वेन भयङ्करेण सुतरा चक्रेण कामादयो ।
वीराश्चापि हता समाधिसमये शान्तिः स शान्ति क्रियात् ।। ४६ ।।

यस्य क्षान्ति-दयाभिधान-यमुना-भागीरथीसङ्गमे ।
स्नात्वा यान्ति जना शरीरनिचयं त्यक्त्वा शिव सुन्दरम् ।
कुन्थ्वाद्या अपि जन्तवो निजकृपाभारेण संरक्षिता ।
येनानन्दभृत भजामि सतत त कुन्थुनाथ जिनम् ।। ४७ ।।

शुक्लध्यानकृपाणमत्र सुतरामादाय येन क्षितौ ।
मोहाद्या रिपवो हता वसुमिता लोकाहिता विग्रहे ।
प्राप्ता मुक्तिवधूर्वधूत्तमशिरोभूता च येन स्वय ।
वन्देऽर भगवन्तमुत्तममर्ति तीर्थेश्वर चेतसा ।। ४८ ।।

यस्य ज्ञानमहोदधौ जगदिद विन्दूपम विद्यते ।
यद्गाम्भीर्यगुणस्य हन्त पुरतः सिन्धु. स तुच्छोऽभवत् ।
यद्धैर्येण तिरस्कृतो रतिपतिर्जाने न कुत्र च्युत ।
स्त वन्दे मुनि-नाथ-मल्लिजिनप श्रीतीर्थनाथाधिपम् ।। ४९ ।।

चञ्चच्चन्द्रमरीचि-सन्निभरुचिर्विद्वन्मरालाश्रिता ।
यस्योद्बोधमहोर्मिमाल्यमिलिता सत्प्रीति-मन्दाकिनी ।
लोकातापततिं सदा क्षितितले लोप नयन्ती बभौ ।
त वन्दे मुनिराजपूजितपद श्रीसुव्रत सुव्रतम् ।। ५० ।।

यद्वक्त्रप्रभया पराजिततमो राकाशशी प्रत्यह ।
कार्श्यं याति शरीरभाभरजितं कञ्ज च भास्वद्दलम् ।
लज्जातापचयापहारमनसा मग्न जले नित्यश ।
स्त वन्दे नमिनाथमुन्नतमति श्रीतीर्थनाथेश्वरम् ।। ५१ ।।

कष्ट भो ! क्षणभङ्गुरलघुतर दुःखान्तमन्तात्मक ।
राज्य लब्धुमहो न हन्त कुरुते माया न का का जन. ।
इत्थ येन विचारित मुररिपोर्दृष्ट्वा महामायिता— ।
मात्त येन तपो विरज्य भवतो नेमिं नमामो हि तम् ।। ५२ ।।

येन स्थैर्यगुणाणुना रिपुकृता सोढा विपत्तिर्वने ।
येन ध्यानहुताशने रतिपतिर्नीतः समिद्रूपताम् ।
यद्वाण्या शुभया जितो मधुरिमा पीयूषपिण्डस्य त ।
वन्दे स्वाङ्कविभाविभासितदिशापार्श्वं हि पार्श्वं भजे ।। ५३ ।।

दृष्ट्वा येन भवस्य दुःखसरणि राज्यादिक प्रोज्झित ।
बाल्ये चैव पराजितो हरिसुतो येन क्षितौ तेजसा ।
य ध्यायन्ति मनीषिण· प्रतिदिन मोक्षस्य सप्राप्तये ।
त सिद्धार्थ-नरेन्द्र-नन्दनमह भक्त्या भजे सन्ततम् ।। ५४ ।।

इत्थ श्लोककलापं निपठन् साधुः समाहित सम्यक् ।
विदधीत कर्म तुर्य बुधजनवन्द्य स्तुतिख्यातम् ।। ५५

(५)

वन्दनाकर्म

(वसन्ततिलका छन्दः)

हे वीर ! हे गुणनिधे ! त्रिशलातनूज !
मज्जन्तमत्र भववारिनिधौ दयालो !
दत्त्वावलम्बनमतः कुरु मा विदूरं
मुक्त्वा भवन्तमिह क शरण व्रजानि ।। ५६ ।।

पापप्रचण्डवनवह्निशमे नदीष्णं
सञ्चातकावलितृषापरिहारदक्षम् ।
सन्मानसस्य परिवृद्धिकर समन्तात्
त वीरवारिदमह विनमामि सम्यक् ।। ५७ ।।

आनन्दमन्दिरममन्दमनिन्द्यमाद्य
वन्दारुवृन्दपरिवन्द्यपदारविन्दम् ।
कुन्दातिसुन्दरयशोविजितेन्दुविम्बं
वन्दे मुदा जिनपतिं वरवीरनाथम् ।। ५८ ।।

गन्धर्व सद्बोध-गीत-गुण-गौरव-शोभमान
सद्बोधदिव्यमहसा महता सुयुक्तम् ।
वन्दे जिन जितभव खलु वर्धमान
सवर्धमानमहिमानमुदारमोदात् ।। ५९ ।।

नीहारहारहरहाससहासकाश - संकाशकीर्तिमतिवीरमुदारबोधम् ।
देवेन्द्रवृन्दपरिवन्दितपादपद्म वन्दे विभुं जिनपति त्रिशलातनूजम् ।। ६० ।।

(द्रुतविलम्बित छन्दः)

इति विनम्य यहामुनिसन्मतिं जिनपतिं सरलाकृतिमन्तिमम् ।
सुविदधातु यतिर्वरवन्दना—भिधमिद यतिकर्म च पञ्चमर्म ।। ६१ ।।

(६)

कायोत्सर्गकर्म

(रथोद्धता छन्दः)

शुक्रशोणितसमूहसभवः श्लेष्ममूत्रमलपुञ्जपुञ्जित ।
नश्वरो विविधरोगसगत. काय एव बहुदुःखद. सताम् ।। ६२ ।।

कायबन्धनगृहे समन्ततो वेष्टिते करणरक्षकव्रजैः ।
हन्त हन्त बहुदु:खसचय याति जीव इह सन्तत भ्रमन् ।। ६३ ।।
पोषणे न वपुष सुख भवेच्छोषणे च नितरा भवेत्तु तत् ।
तेन कायपरिहाणिरेव हि श्रेयसे बुधजनाभिसमता ।। ६४ ।।
इन्द्रकालधननाथपाशिना दिक्षु यास्ति जिनमन्दिरावलि. ।
ता नमामि वरभक्तिभावतः पाप-पुञ्ज परिहारहेतवे ।। ६५ ।।
आनते शिरसि पाणिकुड्मल सनिधाय विदधे शिरोनतिम् ।
कायचित्तवचसा विशुद्धये ता करोमि सकलक्रियाततिम् ।। ६६ ।।
सन्ति ये भुवनमध्यसगता कृत्रिमास्तदितरे जिनालया ।
तेषु याश्च जिननाथमूर्तयस्ता नमामि सकला कलोच्छ्रिताः ।। ६७ ।।
यो विदेहभुवि विद्यते सदा तीर्थनाथनिचय सुपूजित ।
ज्ञानसूर्यविदिताखिलावनिस्त नमामि वसुकर्महानये ।। ६८ ।।
यत्र तत्र खलु ये महर्षय सन्ति सयमधरा यतीश्वराः ।
तान्नमामि हृदयेन सन्तत प्राप्तये सकलसयमावले ।। ६९ ।।
नास्ति नास्ति भुवनत्रये क्वचित् साम्यभावसदृश सुखप्रदम् ।
साम्यमेव विनिहन्ति वैरिता साम्यमेव विदधाति बन्धुताम् ।। ७० ।।

(बसन्ततिलका)

पाप विलुम्पति नृणा मुदमादधाति
वैर निहन्ति सकल विदधाति मैत्रीम् ।
दुष्टेन्द्रियाश्वविजय वितनोति सम्यक्
किं किं न सौख्यनिचय विदधाति साम्यम् ।। ७१ ।।

(शालिनी)

एव षष्ठ कर्म कृत्वा सुभक्त्या
कायोत्सर्ग सौख्यद साधुसङ्घै. ।
आत्मध्यानालीनचेतोविकल्पै.
सध्या सध्या सात्व्यता साम्यभाव ।। ७२ ।।

(अनुष्टुप् छन्द :)

पन्नालालकृत सामायिकपाठ सुखप्रद ।
भूयात्साधुमनोध्वान्तध्वसने तिग्मदीधिति ।। ७३ ।।

आचार्य शान्तिसागर वन्दना

[आर्याछन्दः]

जयति जगदेकबन्धुः सिन्धुर्बोधस्य शान्तिसिन्धुः स ।
सेतु र्भवभयजलधे र्हेतुः सत्सौख्यसप्राप्तेः ।।

येन ध्यानकुठारैश्छिन्ना कदर्पदर्पदृढवल्ली ।
मायाप्रसरश्च हतो जयतितरा शान्तिसिन्धुः स. ।।

तृष्णानदी विशाला विद्यानावा—विविक्तया येन ।
उत्तीर्णा किल वन्दे श्रीमन्त शान्तिसिन्धु तम् ।।

सत्पथे सन्निविष्ट तारोल्लासप्रतिष्ठितस्वान्तम् ।
कुवलयविकासनिपुण मुनीन्द्रचन्द्र भजेऽतन्द्रम् ।।

सच्चक्रतोषहेतु कमलानन्दस्य कारण नियतम् ।
तमोविनाशननिरत मुनीन्द्रभास्वन्तमीडेऽहम् ।।

यद्भारतीमधुरिम – प्रतृप्तचित्ता बुधा सुधाभारम् ।
नेच्छन्ति जातु जैन स पातु श्रीशान्तिसिन्धु र्न. ।।

✤

तं धर्मसिन्धुं प्रणमामि नित्यम्

निर्ग्रन्थमुद्रा सरला यदीया प्रमोदभाव परम दधाना ।
सुधाभिषिक्तेव धिनोति भव्यान् त धर्म-सिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।१।।

कामानलातापवितप्तपुसामाख्याति ब्रह्मव्रतसन्महत्त्वम् ।
य सन्तत भोगविरक्तियुक्तस्त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।२।।

हिंसानृतस्तेयपरिग्रहाद्य. कामाग्नितापाच्च निवृत्य नित्यम् ।
महाव्रतानि प्रमुदा सुधत्ते त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।३।।

ईर्याप्रधाना समितीर्दधान. गुप्तित्रयी य सतत दधाति ।
स्वध्यानतोषामृततृप्तचित्तस्त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।४।।

सङ्घस्थसाध्वीनिचय सदा यः साधुव्रज चापि सहानुयातम् ।
सत्रायते सावहित समन्तात्त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।५।।

ससारदेहामितभोगवृन्दाद् विरज्य य स्वात्मनि सस्थितोऽभूत् ।
स्वाध्यायपीयूषसरो-निमग्न त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।६।।

दिगम्बराचार्यतति-प्रधानो निर्बाधवृत्त सतत दधान· ।
दधाति लोकप्रियता सदा यस्त धर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।७।।

शान्त्यब्धि-वीराब्धि-शिवाब्धिदिष्ट श्रेय.पथं दर्शयते जनान्यः ।
अवाग्विसर्ग वपुषैव नित्य तधर्मसिन्धु प्रणमामि नित्यम् ।।८।।

श्री दिवंगताचार्य-धर्मसागरमहाराजं प्रति

(१)

दु:खौघकीर्णाज्जगतो विरज्य
तपांसि य: शान्त—मनाश्चचार ।
स धर्मसिन्धुर्जगदेक—बन्धु -
र्भूयाज्जगत्या जगतां शरण्य. ।।१।।

(2)

बाह्यान्तरङ्गान् परितो विमुच्य
परिग्रहान्य: स्वरतो बभूव ।
निर्ग्रन्थमुद्रामहितो वरेण्य.
स धर्मसिन्धुर्मम रक्षक· स्यात् ।।२।।

(३)

पञ्चाक्षदान्ति मनस: प्रशान्ति
सदा दधद् य: समता दधाति ।
त धर्मसिन्धु यतिषु प्रधान
निधानभूत यशसा नमामि ।।३।।

(४)

यद्वक्त्रचन्द्रात्क्षरिता सुधेव
वाणी सदा सभ्यजनान् धिनोति ।
स धर्मसिन्धु: शम-सौख्य—शाली
र्वचोबलं मे प्रददातु नित्यम् ।।४।।

(५)

यस्मात् प्रबोधं परिलभ्य भव्या
भवन्ति भोगाद् विरता भवेऽस्मिन् ।
स तारकस्स्यान्मम धर्मसिन्धु -
र्भवाब्धि मध्ये पतितस्य सद्य: ।।५।।

तं देशभूषणमहर्षिमहं समीडे

१

य. पापपुञ्ज—परिहार—परीतपक्ष·
पुण्य—प्रभाव—परिवर्धन—पूर्णदक्ष ।
सद्ध्यानदावविनिदग्धविधिप्रकक्ष
स्तदेशभूषणमहर्षिमह समीडे ॥

२

यो मन्त्रतन्त्रकुशलो दुरितौघहारी
धर्मप्रभावनपर सुकृतप्रसारी ।
जैनागमप्रभवतत्त्ववितानकारी
त देशभूषणमहर्षिमह समीडे ॥

३

आगत्य दक्षिणपथाद्धरित ह्युदीची
सर्वप्रदेशनिचये विजहार भूत्या ।
यो धर्मदेशनकरो निकरो गुणाना
त — देशभूषण महर्षिमह समीडे ॥

४

य राजनीतिकजना विनमन्ति नित्य
य तीर्थरक्षकजना· प्रणमन्त्यजस्रम् ।
य भक्तिभारनिभृता यतयो नमन्ति
त देशभूषणमहर्पिमह समीडे ॥

५

वक्तृत्वशक्तिसुयुतो विनुतो वरेण्यै—
र्विद्वद्भिरत्र जगतीशजनैश्च वन्द्य ।
यो वृत्तवोधसहितो महितो महद्भि—
स्त देगभूषणमहर्पिमह समीडे ॥

६

येन व्यधायि विविधागमरम्यटीका
येन व्यधायि भुवि भूवलयप्रकाश· ।
येन व्यधायि विपुला वरशिष्यपङ्क्ति-
स्त देशभूषणमहर्षिमह समीडे ॥

७

खान्याचले जयपुरे रचयाबभूव
यश्चूलिकाख्यगिरिमप्रतिम पृथिव्याम् ।
य कोथलीनिजभुवि प्रतिमा च रम्या
त देशभूषणमहर्षिमह समीडे ॥

८

यस्याप्तशिष्यनिकरेषु पर प्रधान-
एलादिचार्य इति विश्रुतनामधेय ।
सद्देशनावरपर. पृथित. पृथिव्या
त देशभूषणमहर्पिमह समीडे ।

सागरागमने तेषा सूरीणा शौर्यशालिनाम् ।
पद्याष्टकेन रम्येण विदधे वरवन्दनाम् ॥

खीष्टाब्दे सागरे समागमन-वेलायाम् ।
दिनाङ्के ३०-३-१९८३ तमे

विद्यासागराष्टकम्

(बसन्त - तिलका)

सिद्धान्त—सागरमगाधमगाह्यमान—
मन्थेन यो मथितवान्मतिमन्दरेण ।
लब्धा च येन विरतिर्ह्यमृतोपमाना
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥१॥

यद्—वक्त्र—निर्गत—वचस्ततिसन्निकृष्टा
सम्प्राप्नुवन्ति विषयेष्वरति युवान. ।
सद्यो भवन्ति यतयो भवतो विरक्ता
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥२॥

यद्देहदीप्तिकणनि सरणप्रभावा—
न्मुञ्चन्ति वैरनिचयं रिपव पुराणम् ।
शान्त्या युतो बुधनुतो गुणिसस्तुतो यो
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥३॥

यद्देशनामिह भवे भुवि भव्यभूता
श्रुत्वा भवन्ति भविनो भवतो विभीता. ।
य साधकोऽस्ति जगतीहितसन्ततेश्च
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥४॥

यस्यातितीव्रतपस प्रबलप्रभावा
न्नम्रा भवन्ति गुरुगर्वयुता जनाश्च ।
यो धर्मदेशनकरो निकरो गुणाना
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥५॥

ससारसिन्धुपतितान्मनुजान्सदा यँ.
सधर्तुमुद्यतभुजो भजतेऽनुकम्पाम् ।
कारुण्यपूर्णहृदय. समताश्रयो य.
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥६॥

यस्यास्यनिर्गतविरक्तिवच.प्रभावात्
सद्ब्रह्मचर्यमहिमादृतमानसा वै ।
लुञ्चन्ति केशनिचयं तरलास्तरुण्यो
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥७॥

य: काव्यनिर्मितिकलाकुशल. पृथिव्या
यो देशनाविधिविधानमहाविदग्ध ।
सद्य: समुत्तरविधानविधौ च विज्ञो
विद्यादिसागरमहर्षिवर स्तुमस्तम् ॥८॥

[अनुष्टुप्]

विद्यासागरमाचार्यमाचाराङ्गबहुश्रुतम् ।
भूयो भूयो,नुमो नित्य तद्गुणग्रहणेच्छया ॥९॥

विद्यासागर आचार्य: करुणापूर्णमानस: ।
मार्गनिर्देशको भूयात्सदास्माकं शिवश्रिय. ॥१०॥

साधु-वन्दना

[बसन्ततिलका]

१

हिंसादिपाप-निचयाचितगेहवासाद्, ये सविरज्य वनवासरता सुजाता ।
पञ्चाक्ष—भोगविरताः सुरता स्वरूपे, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

२

ईर्यादि—पञ्चसमिती—रनुधृत्य नित्य, ये जीव—रक्षणपराः सतत भवन्ति ।
शुम्भन्ति सद्गुणशतै निभृतैर्महोभिस्ते, साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

३

सतोषपूरपरिपूरितमानसा ये, मानाद्रि—चूर्ण—करणे पविपाततुल्या ।
रागादि-दाव-दहनोच्चय-वारिदाभा—स्ते, साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

४

नो नित्यमस्ति किमपीह जगत्त्रयेऽपि, ज्ञात्वेति चेतसि सदा विरतिं प्रपन्ना ।
येऽत्राऽऽतपन्ति गिरिशृङ्गचये निदाघे, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

५

नास्त्यत्र कोऽपि जनता मृतिभागता यो, रक्षेत्प्रयत्नपरता समुपागतोऽपि ।
मुक्त्वैकधर्मपरतामिति ये विरक्ता, स्ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

६

द्रव्यादिपञ्च—परिवर्तनतो विभीता, ये साधयन्ति निजमात्महित वनेषु ।
दृष्टि निधाय हत-कर्म-कदम्बकेषु, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

७

स्वेनार्जिता विविधकर्मफलावली यद्, मङ्क्ते सदैक इह जीवसमूहमध्ये ।
तस्मान्निरस्य सकल भुवि ये तपन्ति, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

८

अन्योऽहमत्र वपुषो वर-बोध-युक्तो, देहोऽपि मत्त इह रूपचतुष्क-युक्त ।
इत्थ विरज्य तनुतोऽतनु ये तपन्ति, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

ज्ञात्वाऽशुचि ननु तनु परितो विरज्य, मूल निहत्य तपसा तनुरागवल्ल्या ।
ये काननेषु निवसन्ति विमुच्य गेह, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

१०

सच्छिद्रपोतमधिरुह्य यथा व्रजन्तो, मज्जन्ति सागरतले मनुजास्तथा वै ।
मज्जन्ति सास्रवजना इति मन्वते ये, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

११

गुप्त्यादिसवरसहायमवाप्य ये तु, रुन्धन्ति कर्मरिपुसैन्यगति जवेन ।
ये काननेषु विचरन्ति विभीति—मुक्तास्ते, साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

१२

ये कर्म-निर्जरपरा विविधैस्तपोभि , षष्ठाष्टमादि—विधिभिर्भुवि सतपन्ति ।
सूर्यातिशायि महसा सहसा लसन्ति, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

१३

जीवा भ्रमन्ति परितो भुवनत्रयेऽस्मिन्, विस्मृत्य बोध—सहित स्वनिधि वराका ।
एव विचिन्त्य सतत तपसा युता ये, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

१४

सप्राप्यमस्ति सकल भुवि सपदाद्य, बोधिस्तु दुर्लभतरो किल वर्ततेऽसौ ।
तस्यैव—रक्षणकृते किल ये तपन्ति, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

१५

धर्मादृते जन इह प्रभवेत्तु—नात्म, सौख्य सुलब्धुमतियत्नपरोऽपि लोक ।
इत्थ विचार्य किल ये तप आचरन्ति, ते साधवो मम भवन्तु सदा शिवाय ।।

[उपजातिः]

१६

इति स्तुति यो विदधाति नित्य, साधुत्रयस्याति—विशुद्धभावात् ।
स क्षिप्र — मेवाश्रय भवात, भवाभ्युदीर्ति च समाश्रयेत ।।

[अनुष्टुप्]

१७

पन्नालाल — कृत स्तोत्र, साधूना स्तवनाय यत् ।
भव्याना प्रमुदे तत् स्यान्, मोक्ष-पत्तन-यायिनाम् ।।

शुभाशंसनम्

श्री गणेशप्रसादवर्णिमहोदयानाम्

चञ्चच्चन्द्रिकचन्द्रचारुचरिता आचान्तचिन्ताचया -
श्चेतश्चिन्तितचिन्त्यचक्रनिचया सच्चित्तचित्राचरा: ।
उच्चाचार-विचार-चार-चतुरा: सत्कीर्तिसाराञ्चिता -
स्ते जीवन्तु चिर गणेशचरणा: श्रीचुञ्चुवृन्दार्चिता: ।। १ ।।

जयति, विजिततापो ध्वस्तमोहारितापो,
विदितनिखिलभूत: शान्तिपीयूषपूत. ।
अपगतनिजतन्द्र. सौम्यताधारचन्द्र:
प्रहतवुधविषाद: श्रीगणेशप्रसाद ।। २ ।।

तिमिरततिविलुप्तालोकजाले समन्तात्
प्रवरमतिविनिन्द्ये वन्द्य ! बुन्देलखण्डे ।
विहितविविधयत्नो ध्वान्तविध्वंसने त्वम्
रविरिव गुरुनाथ ! द्योतसे द्योतमान: ।। ३ ।।

विरम विरम सिन्धो ! कौस्तुभोच्छेदशोका
ज्जहिहि जहिहि चेतश्चञ्चलत्व चिरेण ।
स हि विमलमयूखालोक—विद्योतिताश:,
पुनरपि ननु यातस्तावकीन समीपम् ।। ४ ।।

जयति जगति धन्या सा चिरोजाभिधेया
विविधविवुधवन्द्या धर्ममाता त्वदीया ।
निखिलनिगमविद्याभास्वर या भवन्त
सकलजनहितायोद्वर्धयामास शान्तम् ।। ५ ।।

उद्यद्दिव्य-दिनेश- दीधिति-चयप्राग्भारभाभासुरा -
दृष्यत्कामकलापलायनपरा सच्छान्तिकान्त्याकरा: ।
सतोषामृतपानदिग्धवपुष: कारुण्यधाराधरा
श्रीमन्तो गुणिनो जयन्तु जयिन: श्रीवर्णिपादाश्चिरम् ।। ६ ।।

जीयादजेयमहिमा गरिमा गुणानाम्
स्याद्वाद—सिन्धुरमित: शमित: समन्तात ।
विद्याविलाससहितो महितोमरुद्भि
र्वर्णीन्द्रवर्णितगुण: प्रगुणो गणेश ।। ७ ।।

मार्गेऽ नुभूय, विपुलामति — दुखराशि

यानादृते विबुधवन्द्य ! समागतो यत् ।

तेन स्फुटा भवति भव्यकृपा त्वदीया.

भक्तेषु सागरनिवासिजनेषु नूनम् ॥

(८)

विद्यानवद्य ! भवतो महतो विधाना—

देवात्र, जागृतितति वयमाप्नुवन्तः ।

दृट्वा भवन्तमिहमुज्वलमूर्तिमग्रे

मोद महान्तमघनाशनमद्य यामः ॥

(९)

हे पूज्य ! हे गुणगुरो ! तव पाणिपद्मा

दादाय जन्म विमल वरबोधवृक्ष. ।

विद्वद्विहङ्गगणसेवित-रम्यशाखो

विद्यालयोऽयमभितो भवतो विभाति ॥

(१०)

शास्त्राम्भोऽवगाहनोत्थित — ससत्सद्बोधभानूद्भव -

द्दिव्यालोक—विलोकितावनितलाः सत्कीर्तिकेलीकला· ।

पापातापहरा महागुणधराः कारुण्यपूराकरा -

जीयासुर्जगतीतले गुरुवरा. श्रीमद्गणेशाश्चिरम् ॥

(११)

न्यायाचार्य ! गुणाम्बुधे शुभविधे ! स्याद्वादवारानिधे !

कः शेषो रसनासहस्रसुयुतः श्रीमद्यशोवर्णने ।

दृट्वा केवलमत्र मञ्जुलविभ त्वत्पादपद्मद्वय

कूजामो वयमद्य भक्तिनिभृता भ्रश्यद्गिरो भावुका ॥

(१२)

पीयूषनिष्यन्दनिभा यदीया

वाणी बुधाना हृदय धिनोति ।

दीर्घायुषः सन्तुतरा महान्त -

स्ते वन्द्यपादा वरवर्णिनाथा. ॥

(१३)

—सम्मेदाचलत पदयात्रया सागर प्रत्यागताना गणेशप्रसाद वर्णिना समभिनन्दनम् ।

◻

विनयाञ्जलयः

(श्रीगणेशप्रसाद-वर्णिमहोदयाना चरणकमलेषु
तेषा द्वयशीतितम जन्मोत्सव-पुण्यवेलाया सादर समर्पित विनयाञ्जलय.)

(१)

अमन्दानन्दकन्देन तुन्दिल नरनन्दनम् ।
वन्दारुवृन्दवन्द्याङ्घ्रि वन्दे वर्णिगणेश्वरम् ॥

(२) वसन्ततिलका

आनन्दमन्दिरममन्दमनिन्द्यमाद्य, वन्दारुवृन्दपरिवन्द्यपदारविन्दम् ।
कुन्दातिसुन्दरयशोविजितेन्दुबिम्ब सेन्द्रेन्द्रसेन्द्रभरनन्द्यमतन्द्रमात्म्यम्॥

(३)

सङ्गीतसङ्गतसुरीजनगीतकीर्ति, मूर्ति विवेकसुदयादमसन्ततीनाम् ।
श्रीवर्णिन वरगुणैर्निभृत गणेश, वन्दे विधु बुधमन.प्रमदाम्बुराशे ॥
[युग्मम्]

(४) गीतिका

गुणरत्नभूषण ! विगतदूषण ! सौम्यभावनिशापते !
सद्बोधभानुविभावलोकितसकललोक ! विदापते !
नि:सीमसौख्यसमूहमण्डित ! योगखण्डितरतिपते !
बुधवृन्दवन्द्य ! गणेश ! बोध देहि मे समतापते !

(५) मयूरगति;

हे बुध ! बोधपते ! जगतीजनमोहमहान्धदिवाकर ! देव !
कीर्तिरमामुखनीलपयोजनिशाकर ! सौख्यसुधाभरशालिन् ।
ज्ञानकृपाणनिकृत्तकुकर्मकलाप ! निरन्तपराक्रमभासिन् ।
मह्यमहो भवसागरतारमर स्ववलम्बनमत्र हि देहि ॥

(६) तन्वी

सर्वबुधेशैर्जगदधिपतिभि ,
सेवित ! भव्यकुमुदलसदिन्दो !
ज्ञानसुधासागर ! नतविबुध !
ध्यानकुठारनिहतविधिपङ्क्ते !
बुद्धिसुतन्वीधनतमरभसा-
श्लेषणजन्यबहुलसुखशालिन् !
हे बुध ! मग्न भवसरिदधिपे,
मामिहतीर्णमर कुरु तस्मात् ॥

(७) बसन्ततिलका

वर्णिस्त्वदीयसितकीर्तिविभावितानैः,
श्वेतीकृते निखिलभूमितले समन्तात् ।
कोके सितीभवति हन्त मरालबुद्धया,
सूर्योदयेऽपि किल रोदिति चक्रवाकी ॥

(८) मालती

सकलसुरेन्द्रसमूहवन्दितो,
विशदविबोधविलोकितावनि· ।
धवलयशोभरपूरिताम्वरो,
जयति स कोऽपि गुरुर्गणेश्वर ॥

(९) मञ्जु-भाषिणी

विशदाववोधविदिताखिलावनि-
र्बुधनाथमौलिमिलिताङ्घ्रियुग्मक. ।
यशसावभासितसमस्तदिक्तट ,
सुहिताय सूरिविततेर्गुरो ! भव ॥

(१०) इन्द्रवज्रा

दारिद्र्यदावानलदह्यमान-
विद्वद्वराणाममृताम्बुवाह ।
लोकप्रमोदाब्धिनिशीथनाथो,
जीयाच्चिर वर्णिगणेशपाद ॥

(११) स्वागता

राजहसचयशसितमूर्ति.
सत्प्रसादपरिशेषितपङ्क ।
काशहासभरभासितकीर्ति-
र्वर्णिनाथ! जलदान्त इवासि॥

(१२) आर्या

कुवलयविलसितकीर्ति,
स्तारोल्लासप्रतिष्ठितस्वान्त· ।
सतत सत्पथगामी गुरुर्गणेशो,
विभाति चन्द्रश्च ॥

(१३)

भ्रमरहित सुरभिभृत. पद्मावासः सुवशश्च ।
सत्पुण्डरीकयुक्तो,ह्याराम सत्यमसि सूरे! ॥

(१४) अनुष्टुप्

रसालसहितो नाथा-शोकसम्पत्तिसयुत ।
कोकिलालापशाली त्व,वसन्तोऽसि विदापते ॥

मुक्ताहारः

१ [बसन्ततिलका]

येन क्षितावसिमषी — प्रमुखाः सुवृत्तीः
सदिश्य कापि विहितोपकृतिर्जनानाम् ।
कल्पाङ्घ्रिनाशहतवृत्तिकदम्बकाना-
मादीश्वरोऽवतुसता शुभदा श्रिय स. ॥

२ [उपजातिः]

यो नो जित: कर्मकलापकेन
जितत्रिलोकीगतजन्तुकेन ।
जेतारमीश रिपुजालकस्या-
जित मुदा त प्रणमामि नित्यम् ॥

३ [बसन्ततिलका]

ससारतापविनिपातपयोदरूप
जन्माब्धिपारकरण शरण सुरूपम् ।
मिथ्यान्धबोधहननाय सहस्ररश्मि
त शभव गतभव वरद नमामि ॥

४ [उपजातिः]

कर्मारिदु.खीकृतमानसान्यो-
ऽभिनन्दयामास शिवप्रदानात् ।
भक्त्या भृतोऽह जगदेकबन्धु
नमामि नित्य ह्यभिनन्दन तम् ॥

५

भोगाभुजङ्गा न विवेकवद्भि-
र्निषेवणीया विपमा यतस्ते ।
एतत्समादेशि हि येन तत्त्व
जिन सदा त सुमति समीडे ॥

६ [इन्द्रवज्रा]

देहप्रभान्यक्कृतपद्मपत्र
पद्मेशवन्द्य कमलालयाढ्यम् ।
त भव्यपद्माकरपद्मबन्धु
पद्मप्रभं सप्रणमामि नित्यम् ॥

७ [भुजङ्गप्रयातम्]

कृपाणं स्वपाणौ समाधिस्वरूपं
गृहीत्वा समूल हता येन बल्ली ।
जराजन्ममृत्युस्वरूपा विरूपा
सुपार्श्व तमीश भजे-भक्तिभावात् ॥

८ [उपजातिः]

यस्यास्यकान्त्याजितचारूचन्द्रो
दिवादिवा क्षीणतरोभवन्स' ।
नून ममज्जाब्धिजलेसलज्ज-
श्चन्द्रप्रभ त प्रणमामि नित्यम् ॥

९ [द्रुतविलम्बितं]

अयि कथ सुविधे, ऽवरबोधभाक्
विरलवाक् स्तवन विदधामि ते ।
सुगुणरत्नगिरे ऽमितवाक्पते,
भवतु मा धिगिमा च सुरश्रियम् ॥
इतिमद मुमुचेऽमरशासनो
गुरुयुतोऽपि—यदीयगुणस्तुतौ ।
निरवधि शुभधि गुणशेवधि
हतविधि सुविधि विनमामि तम् ॥

२१ [शालिनी]

मन्ता यो वै वेदतत्त्वार्थबोधा-
द्धिसादीना नास्तित: सुव्रती च ।
त तीर्थेश भग्नकर्मारिशीर्ष
भक्त्या नम्र सन्नमामि त्रिसन्ध्यम् ।।

२२ [द्रुतविलम्बितम्]

सकलबोधधर गुणिना वर
हितकर जगता शमताकरम् ।
स्थिरतया जितमेरुधराधर
नमिजिन विनमामि निरन्तरम् ।।

२३ [उपजातिः]

विज्ञातलोकत्रितय-समन्ता-
दनन्तबोधेन-बुधाधिनाथम् ।
त माननीय-मुनिनाथनेमिं
नौमो वय धर्मरथस्य नेमिम् ।।

२४ [इन्द्रवज्रा]

येनातिमान कमठस्य मानो
ध्वस्तोऽसमस्थैर्यगुणाणुनैव
देहप्रभादीपितपार्श्वदेश
त पार्श्वनाथ सतत नमाम ।।

२५ [उपजाति.]

य जन्म—कल्याण—महोत्सवेषु
सुरा. समागत्य सुरेशलोकात् ।
क्षीराब्धि—नीरैरधिमेरु—शृङ्ग
समभ्यसिञ्चन् वर—भक्ति—भावात् ।।

२६ [इन्द्रवज्रा]

त वर्द्धमान भुवि वर्धमान
श्रेय श्रिया ध्वस्त—समस्त—मानम् ।
भक्त्या भृता: समुदिताश्च नित्य
नौमो वय तीर्थंकर समर्च्यम् ।।

२७ [हरिणी)

इति हि विहित भक्त्या तीर्थेश्वर सुखदायक
विबुधपतिभि प्रार्थ्य स्तोत्रव्रज पठतीह य ।
मुदितमनसा नित्य धीमान् स भव्य-शिखामणि
र्व्रजति सतत स्वात्मानन्द विशालतर सुधी ।।

२८ आर्या

मुक्ताहार सोऽय-मुक्ताहारोव विज्ञपुरुषाणाम् ।
सद्वृत्तरत्नयुक्त सुगुण.कण्ठे विराजता नित्यम् ।।

□

गुरोर्गोपालसञ्ज्ञस्य वरैयावशसन्मणेः ।
चरणाब्जयुगे भक्त्या मुक्ताहारोऽयमर्प्यते ।।

(१)

आर्या यं प्रणमन्ति क्षान्त्यनुकम्पादिसद्गुणैर्निभृम् ।
तमहं गोपालगुरु चित्ते पूते सदा निदधे ।।

(२)

गीतिं विधाय यशसो यस्य प्रीतिं विदन्ति विद्वान्सः ।
वन्दे त गोपाल गेयगुण वै **सुविज्ञजनविनुतम्** ।।

(३)

उपगीतिं यस्य बुधाः कुर्वन्तो यान्ति सत्प्रीतिम् ।
गोपाल त वन्दे वन्दितचरण सुविज्ञेन ।।

(४)

आर्यागीतिं यशसो यस्य श्वेतस्य सन्तता प्रविधाय ।
मोद पर लभन्ते गुरुगोपालः स सन्ततं वन्द्यः ।।

(५)

अक्षरपङ्क्तिर्यस्य गुणौधे ।
याति समाप्तिं कोविदकाम्या ।।

(६)

त बुधवन्द्य साधुनरेन्द्रैः ।
चेतसि भक्त्या नौमि गुरु वै ।।

(७)

शशिवदना गीः प्रणमति नित्यम् ।
यमहि गुरु त मनसि दधामि ।।

(८)

वक्त्रे यस्य न दृश्या जात्वासीन्मदलेखा ।
गोपाल किल वन्द्यो विज्ञैर्मे ननु वन्द्य ॥

(९)

वादिचयो वादगत क्षिप्रतर योऽन्वजयत् ।
माणवकाक्रीडतया वन्द्यतमः सोऽत्र गुरु ॥

(१०)

भोगाभोगा विद्युन्माला-लोला एव ज्ञात्वा ज्ञात्वा ।
तत्रासक्तो यो नो जातो गोपालोऽसौ वन्द्यो वन्द्यैः ॥

(११)

श्लोकं शस्तं सदा यस्य गायन्ति सुरसञ्चया ।
गुरु गोपालसज्ञ त नौम्यह विबुधाधिपम् ॥

(१२)

कवीना पद्मसङ्घातोती यदीयस्तवने क्षणात् ।
समाप्ति यात्यसौ जीयाद् गुरुर्गोपालसंज्ञित ॥

(१३)

चम्पकमाला यच्चरणाग्रे शिष्यजनैर्दत्ता प्रविभाति ।
नौमि तमर्च्यं भूपतिवन्द्य कोविदगोपाल बुधनन्द्यम् ॥

(१४)

मोघेन्द्रवज्रा हि यदीयबुद्धि-
वल्ली प्रसूते स्म फल विचित्रम् ।
गोपालदासो बुधवृन्दवन्द्यो
भूयात्सदा मे हृदयस्थितोऽसौ ॥

(१५)

उपेन्द्रवज्रादपि नैव भेद्यो यदीयसम्यक्त्वतरु, कदाचित् ।
बुधाब्जसूर्य स गुरुर्वरैया-कुलोद्भव स्याद्धृदये बुधानाम् ॥

(१६)

स्वागतं वदति विज्ञसमाजो य सदा गुणसमूहलसन्तम् ।
दिव्यबुद्धिलसित स वरैया-वश-सन्मणिरमोघगुणोऽव्यात् ॥

(१७)

यं नमन्ति सुभटा **रथोद्धता** य विदन्ति विविधा बुधा हितम् ।
य स्तुवन्ति सुधियः सदा मुदा त नमामि निभृत गुरुं गुणैः ।।

(१८)

विद्यावित्तैः**शालिनी** विज्ञपङ्क्तिर्नित्य स्तौति श्वेत-कीर्त्या लसन्तम् ।
य त वन्दे वन्द्यनानागुणौघं गोपालाख्य श्रीगुरु श्रीयुताघ्रिङ्म् ।।

(१९)

दोधकवृत्तमिदं प्रियमासीद्यस्य सुगीतिकलापरियुक्तम् ।
विज्ञवरं मतिपुञ्जधर वै नित्यमह प्रणमामि गुरुं तम् ।।

(२०)

भुजङ्गप्रयातं न यत्र श्रयन्ते सदा लोकनाथा सुतेज सनाथा ।
वरैयावतस गुरु त नमामो भजामोऽत्र भक्त्या भृत भव्यभावै ।।

(२१)

भवबन्धनतोटकमत्रगुणैर्ग्रथित पृथित पृथु — बोधधरम् ।
प्रणमामि गुरु गुरुवृन्दप्रिय समताश्रयताभवतापहरम् ।।

(२२)

द्रुतविलम्बितमेव नुतिव्रज पठति यत्र पवित्रबुधव्रज ।
गुरुमह प्रणमामि भृत गुणैस्तमुरुभक्तियुतोऽसुयुतो धिया ।।

(२३)

गोपालदासो गुरुरग्रणीः सता विद्वज्जनश्लाघ्यतमो महायशा ।
भूपेन्द्रवंशार्चितपादपद्मक पूत विदध्यान्मम मानस सदा ।।

(२४)

स्वकीय**वशस्थजनं** यशोधन चकार यो रम्यगुणौघसन्तत. ।
भृतो गुणौघेन धृतो मनस्विभिर्हिताय गोपालगुरुर्भवेदसौ ।।

(२५)

श्रीमद्**वसन्ततिलका**दिसुवृत्तपुञ्जैर्ब्राह्मी यमुग्रमहस किल तोष्टवीति ।
अज्ञानमन्धतमस विनिहन्ति यश्च गोपालदासदिनप स हि कैर्न वन्द्यः ।।

(२६)

अभिमतफलसिद्धे कारण य विदन्तो निखिलबुधसमूहाश्चे तसा सश्रयन्ते ।
जयतु जयतु गोपालो जगत्या स विज्ञो विनतसकलभालो मालिनीदत्तमालः।।

(२७)

सितीकृतजगत्त्रयां निहतलोकतापत्रया
विभाति विमलोज्ज्वला किल यदीयकीर्तिर्गुरु· ।
श्रयन्ति विबुधेश्वरा जगति य च पृथ्वीश्वरा
करोतु मम मानस गतमल स गोपालक· ॥

(२८)

श्राव श्रावं शुभगुणततिं विश्रुता विश्वमध्ये
यस्य प्रीति जगति मनुजा· सर्वदा सश्रयन्ते ।
मन्दाक्रान्ता भवति न रिपुश्रेणिरन्त:स्थितासौ
येन स्यात्स क्षितिपतिनुतो मानसस्थो गुरुर्मे ॥

(२९)

सिता कीर्ति यस्य क्षितिपतिनुतामश्ववदना
समारूढास्तुङ्गा वनततियुता ता शिखरिणीम् ।
सदा गायन्तोऽत्र प्रमदभरमायान्ति निभृत
गुरुर्गोपालोऽसौ मम मनसि भूयात् स्थिरतर ॥

(३०)

द्रवति भुवने यस्य ध्वानाद्दिश बुधसन्तति-
र्विजनविपिने सिहध्वानाद्भिया हरिणी यथा ।
जगति वितत यस्य श्वेत यश. परिशोभते
जयतु जयतु श्रीमान् गोपालको गुरुरुत्तम ॥

(३१)

योऽनेकान्तनिशातशस्त्रनिकरैर्मिथ्यामत खण्डयन्
मिथ्यावादिमतङ्गजेषु कुरुते शार्दूलविक्रीडितम् ।
विद्यावारिधिरार्यवादिविततिं शास्त्रार्थसङ्घट्टने
यस्तूष्णीमकरोत्स वादकुशलो जीयाद्वरैयागुरु ॥

(३२)

रम्यै रम्यै रमेशैरमितगुणयुतै स्तूयते य. स्वरैस्तै
पाय पाय प्रकाम सुरपतिरुचित यस्य पीयूषतुल्यम् ।
साराढ्य वाक्प्रवाह निखिलबुधचया स्रग्धरा कीर्तयन्तो
मोदन्तेऽसौ वरैयाकुलजलधिभवश्चन्द्रमा साधु जीयात् ॥

परिशिष्ट—एक :

डॉ (पं.) पन्नालाल जी साहित्याचार्य के जो लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ और ग्रन्थो की प्रस्तावनाओ के रूप मे पूर्व में, प्रकाशित है। उनका पूर्व प्रकाशित शीर्षक आदि का विवरण इस ग्रन्थ मे प्रकाशित शीर्षको के साथ यहाँ दिया जा रहा है —

	इस ग्रन्थ मे प्रकाशित शीर्षक एवं पृष्ठ क्र.		पूर्व प्रकाशित शीर्षक आदि
	तृतीय खण्ड . पुराण एवं साहित्य		
१.	पुराण और काव्य	३/१	शीर्षक वही, श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरि स्मारक ग्रथ
२.	महापुराण—आचार्य जिनसेन और गुणभद्र	३/६	प्रस्तावना अश, आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६३.
३.	आदिपुराण और वर्ण व्यवस्था	३/२८	——वही——
४	पद्मपुराण और रविषेणाचार्य	३/४०	प्रस्तावना अश, पद्मपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५८.
५.	हरिवशपुराण और जिनसेनाचार्य(द्वितीय)	३/५३	प्रस्तावना अश,हरिवशपुराण,भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
६.	गद्यचिन्तामणि . एक परिशीलन	३/५९	प्रस्तावना अश, गद्य चिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
७.	महाकवि हरिचन्द्रस्य धर्मशर्माभ्युदयम्	३/७२	प्रस्तावना अश, धर्मशर्माभ्युदयम् भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली तथा मरुधरकेसरी अभि ग्रन्थ.
८.	नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय	३/८१	शीर्षक वही, अनेकान्त (दिल्ली) वर्ष १९४१, (जुलाई से अक्टूबर क्रमश.)
९.	पुरुदेवचम्पू और अर्हद्दास	३/९३	प्रस्तावना, पुरुदेवचम्पू,भारतीय ज्ञानपीठ,दिल्ली,१९७२.
१०.	जीवन्धरचम्पू और महाकवि हरिचन्द्र	३/१०३	प्रस्तावना, जीवन्धर चम्पू, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
११.	लघुतत्त्वस्फोट	३/११६	प्रस्तावना, लघुतत्त्वस्फोट, गणेशवर्णी दि जैन संस्थान, वाराणसी (उ. प्र.) १९८१.
१२	नाट्यकार हस्तिमल्ल और विक्रान्त—कौरव	३/१२१	प्रस्तावना, विक्रान्त कौरव, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी
१३.	स्वयम्भूस्तोत्र और श्री समन्तभद्र स्वामी	३/१३३	प्रस्तावना, स्वयम्भूस्तोत्र, शांतिवीर नगर, श्री महावीर —जी, १९६९
१४	वर्धमान पुराण और कविवर नवलसाह	३/१४१	प्रस्तावना अंश, वर्धमान पुराण (हिन्दी) [illegible], सूरत, १९४२

१५.	आचाय श्री विद्यासागर और उनकी —जैन गीता	३/१४७	प्रस्तावना अश, जैनगीता, सागर (म प्र.) १९७७
१६.	जैन सस्कृत साहित्ये राजनीति :	३/१५६	शीर्षक-जैन साहित्य मे राजनीति,वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर, १९४९
१७	सस्कृत जैन साहित्य का विकास-क्रम	३/१६२	शीर्षक वही, ब्र प. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, आरा (विहार)

चतुर्थ खण्ड : सिद्धान्त

१	भगवान महावीर की अध्यात्मदेशना	४/१	शीर्षक-भगवान् महावीर और उनकी अध्यात्म देशना। श्री गणेश वर्णी स्मृति ग्रथ, प्रका अ. भा दि. जैन-विद्वत्परिषद्, सागर (म प्र.)
२	ज्ञान और अज्ञान अध्यात्म के सदर्भ मे	४/११	शीर्षक वही, मगल-प्रभात, सर हुकुमचन्द्र दि जैन परमार्थिक सस्थाए, स्वर्ण जयती विशेषाक, इन्दौर
३.	आचार्य कुदकुद और उनका नय विज्ञान	४/१४	प्रस्तावना, कुन्दकुद भारती, शातिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था, फलटण, (महाराष्ट्र)
४.	सम्यग्दर्शन	४/२७	प्रस्तावना अश, रत्नकरण्ड श्रावकाचार,वीर सेवा मदिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९७२.
५.	धर्म और शुक्ल ध्यान	४/४८	शीर्षक वही, तीर्थंकर, जैन ध्यानयोग विशेषाक, इन्दौर, अप्रैल १९८३.
६	बध और उसके कारण	४/५४	शीर्षक वही, जैन सन्देश, मथुरा, अक्टूबर १९७०.
७	सोलह कारण भावनाए और उनका मूलस्रोत	४/६०	शीर्षक—सोलहकारण भावनाओ का मूल स्रोत,आर्यिका रत्नमती अभि. ग्रन्थ एव महाकवि हरिचन्द्र · एक अनुशीलन शोध प्रबध मे अशत प्रकाशित, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
८	समयप्राभृत एक अध्ययन	४/६४	प्रस्तावना, कुदकुंद-भारती, शातिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धार सस्था, फलटण (महा)
९	प्रवचनसार . एक अनुशीलन	४/८१	——उपर्युक्त——
१०.	पञ्चास्तिकाय एक परिशीलन	४/९४	——उपर्युक्त——
११	नियमसार एक अध्ययन	४/१००	——उपर्युक्त——
१२	तत्त्वार्थसार और अमृतचन्द्राचार्य	४/१११	प्रस्तावना अश, तत्त्वार्थसार, श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७०.

पंचम खण्ड : दर्शन एवं संस्कृति

१८.	आत्मा स्वयं सिद्ध है	५/५६	शीर्षक वही, 'दि. जैन' पुर्नजन्म विशेषाक, सूरत,१९६६.
१९.	सुमेरु पर्वत की आतरिक रचना	५/५९	शीर्षक वही, श्री सुदर्शन मेरु बिम्ब प्रतिष्ठा स्मारिका, हस्तिनापुर १९७९.
२०	निमित्त-उपादान आगम और अध्यात्म के आलोक मे	५/६२	शीर्षक वही, जैन पथ प्रदर्शक, निमित्त उपादान विशेषाक, जयपुर १९८३
२१.	उपादानोपादेय भाव तथा निमित्त नैमित्तिक भाव का विश्लेषण	५/६५	शीर्षक वही, जैन दर्शन
२२.	नय, अनेकात और सप्तभङ्गी	५/६८	शीर्षक–नय चक्र, आ श्री धर्मसागर अभि ग्रन्थ, कलकत्ता,१९८१-८२
२३	समन्वय का साधन-स्याद्वाद	५/७५	शीर्षक वही, जैन सन्देश, मथुरा, दिसम्बर १९६८
२४.	अनेकात . विसवादो का अत	५/७९	शीर्षक–विसवादो का अन्त अनेकात · प बाबूलाल जमादार अभि ग्रन्थ एव महावीर जयती स्मारिका, जयपुर १९८०

परिशिष्ट—दो

अर्थ-सहयोगियों की सूची

१००१/— श्री खेमचन्द्र जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट द्वारा डॉ. जीवनलाल जैन, सागर
१००१/— भट्टारकरत्न स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन जी भट्टारक, कोल्हापुर
१००१/— पं गुलाबचन्द्र जी दर्शनाचार्य, जबलपुर
११११/— श्री कन्हैयालाल पन्नालाल जी सेठी, डीमापुर (नागालैण्ड)
१५००/— श्री अ. भा. दि जैन विद्वत् परिषद, सागर
११००/— श्री अ. भा स्याद्वाद शिक्षण परिषद, सोनागिर
११०१/— श्री क्षुल्लिका राजुलमती दि. जैन श्रावकाश्रम द्वारा श्री विद्युल्लता शहा श्राविका सस्था नगर; सोलापुर
१०००/— श्री भागचन्द्र इटोरया सार्वजनिक न्यास, दमोह
१००२/— श्री सिं. सतोषकुमार जयकुमार जी सावेलीय (बैटरी वाले) कटरा, सागर
१००१/— श्री महेन्द्रकुमार जी, मलैया, सागर
१०००/— श्री मानवता शाति पथ दर्शन रथयात्रा समिति, हुपरी
५०१/— श्री चादमल जी सोधिया, पनागर
५०१/— सामा रोडवेज, तिलकगज, जबलपुर
५०१/— सिं. फूलचद धन्यकुमार जी, नाहटा
५०१/— स. सिं. हरिश्चन्द जी सुमेरचन्द जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट, जबलपुर
५०१/— चौ. दरबारीलाल जी, गोलबाजार, जबलपुर
५०१/— चौ. बाबूलाल विजयकुमार जी, चौधरी मोटर सर्विस, जबलपुर
५०१/— डॉ. श्रेयासकुमार बडकुल, जबलपुर
५०१/— श्री मोकमचन्द्र जी, बलराम सेप्टिक टैंक, जबलपुर
५०१/— चौ. धन्यकुमार जी, मुरार वाले सागर
५०१/— श्री महेशकुमार मलया, सागर
५०१/— श्री वारेन्द्रकुमार इटोरया, दमोह
५०१/— पं. बालचन्द्र जी जैन, नवापारा राजिम
५०१/— सेठ देवेन्द्रकुमार जी, सागर मोटर्स, सागर
५०१/— प. धरणेन्द्रकुमार शास्त्री, हटा
५००/— श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी द्वारा डॉ. दरबारीलाल कोठिया,
५०१/— श्री स. सि दादा नेमिचन्द्र जी, जबलपुर
५०१/— श्री सि. जीवेन्द्रकुमार शरणकुमार जी, सागर
५०५/— श्री स्वरूपचन्द्र जी सोगानी एव सहयोगी, हजारीबाग
२०१/— श्री सि. देवकुमार रायेलीय, कटनी

१०१/— श्री साहू श्रेयासप्रसाद जी, बाम्बे
१०१/— श्री शीलचन्द्र जी, पठा
१०१/— डॉ भागचन्द्र 'भागेन्दु', दमोह
१०१/— श्री सुरेशचन्द्र जी एडवोकेट, सागर
१५१/— श्री जयकुमार जी इटोरया, दमोह
१५१/— श्री प. रविचन्द्र जी, दमोह
१५१/— श्री सेठ झल्लेलाल कोमलचन्द्र जी, दमोह
१०१/— श्री सेठ कुन्दनलाल जी, दमोह
१०१/— सिं पवनकुमार जी, दमोह
१०१/— स सिं. स्वरूपचन्द्र जी सुगमचन्द्र जी. कोतमा
१०१/— प पूर्णचन्द्र जी सुमन, दुर्ग
१०१/— श्री निर्मलकुमार जी सेठी, लखनऊ
१०१/— चौ शिखरचन्द्र जी, रीठी
१०१/— श्री नरेन्द्रकुमार जी, रीठी
१०१/— प ज्ञानचन्द्र जी, ढाना
१०१/— सिं मुन्नालाल जी' 'वीर', कटरा, सागर
१०१/— श्री कपूरचन्द्र जी पोतदार, टीकमगढ
२५१/— सेठ दयाचन्द्र जी, गढाकोटा
१०१/— श्रीमती शशिप्रभा जैन, 'शशाङ्क' आरा
१०१/— श्री रूपचन्द्र जी वजाज, दमोह
१०१/— श्री महतावसिंह जी जौहरी, दिल्ली
१०१/— श्री नेमीचन्द्र जी जैन, खुरई
१०१/— श्रीमती डॉ आशा मलैया, सागर
१०१/— श्री मन्नूलाल जी जैन वकील, सागर
१०१/— श्री अशोककुमार वाबूलाल जी शाह, सागर
१५१/— श्री दशरथकुमार जी मलैया, सागर
१०१/— श्री सिं हुकुमचन्द्र साधेलीय, पाटन
१०१/— श्री रतनचन्द्र जी पटोरिया, दुर्ग

१०१/– श्री सुरेशचन्द्र जैन, स्टेट बैंक बडगाव; रीठी
१०१/– पं. हुकुमचन्द्र जी, बरूआसागर वाले, पन्ना
३५२/– श्री विजयकुमार जी मलैया, दमोह
१०१/– श्री तारण-तरण दि. जैन चैत्यालय, बडगाव
१०१/– श्री पवनकुमार अनिलकुमार गोदरे, सागर
१०१/– चौ बाबूलाल शाहगढ वाले, सागर
१०१/– श्री त्रिलोकचन्द्र कुन्दनलाल जैन, सागर
१०१/– चौ. धन्नालाल हुकुमचन्द्र जैन, सागर
१०१/– स. सिं. बाबूलाल सर्राफ, सागर
१०१/– सेठ मोहनलाल लक्ष्मीप्रसाद जैन, सागर
१०१/– चौ नेमिचन्द्र जैन, सागर
१०१/– श्री अजितकुमार जी मलैया, सागर
१०१/– श्री पन्नालाल हुकुमचन्द्र जी, किराना मर्चेट, कटरा, सागर
१०१/– ऋषभ किराना भडार कटरा, सागर
१०१/– श्री शिखरचन्द्र जी विनोदकुमार सर्राफ, सागर
२०१/– चौ प्रकाशचन्द्र, मानक चौक वाले, सागर
२५१/– सेठ बाबूलाल इन्द्रचन्द्र जी जैन, सन्मति वस्त्रालय, कटरा सागर
२५१/– सेठ दरबारीलाल विजयकुमार, डी सी एम, सागर
३०१/– सेठ पद्मचन्द्र वीरेन्द्रकुमार, नीलाम्बर, सागर
१०१/– स. सिं. रतनचन्द्र जी पड़वार वाले, सागर
१०१/– सिं. गुलाबचन्द्र जी मरैया, सागर
१०१/– सेठ आलमचन्द्र जैन, (मिठ्या) सागर
१०१/– सेठ राजाराम जी, पिडरुआवाले, सागर
१०१/– सेठ राजाराम राजेशकुमार जैन, सागर
१०१/– चौ. भगवानदास दयाचन्द्र जी, सागर
१०१/– श्री सुखलाल टीकाराम जैन, सागर
१०१/– श्री राजेन्द्रप्रसाद जी, कम्मो जी, दिल्ली
१०२/– श्री ए. पी इग्रोले, हुपरी (कोल्हापुर)
१०१/– श्रीपाल रामचन्द्र फीरगान, हुपरी
२५२/– सिं. कोमलचन्द्र जी राघेलीय, सागर
१०१/– सिं राजेन्द्रकुमार जी, पनागर
१०१/– डॉ. पी. सी. सेठ, पनागर
१०१/– सिं. कालूराम अरविन्दकुमार जी, सिहोरा रोड

१०१/— सिं. गुलाबचन्द्र विजयकुमार जी, कटनी
१०१/— पटवारी धर्मदास जैन, रघुनाथगंज, कटनी
२०२/— सिं धन्नालाल मुन्नालाल जी जैन, होजयरी हाऊस, कटनी
३५२/— श्री प्रकाशचन्द्र पटोरिया एडवोकेट, कटनी
१०१/— सेठ बलीचन्द्र जैन, सिल्वर टाकीज रोड, कटनी
१०१/— प. गरीबदास विजयकुमार भारतीय, कटनी
२५१/— चौ. बाबूलाल दिनेशकुमार, शाहगढ़ वाले, कटनी
१०१/— डॉ. सिं हीराचन्द्र मुलामचन्द्र जी, कटनी
१०१/— पटवारी रतनचन्द्र जी,कटनी
१०१/— श्री राजकुमार जी, प्रबधक पजाब नेशनल बैंक, कटनी
१०१/— सिं शिखरचन्द्र जी, महावीर दुग्ध भडार, कटनी
१०१/— डॉ. अरविन्द सिंघई, कटनी
२५१/— स सिं धन्यकुमार जी, कटनी
१०१/— चौ नेमिचन्द्र जी, पनागर
१०१/— चौ लखमीचन्द्र जी, अभाना
१०१/— मोदी प्रेमचन्द्र जी, अभाना
१०१/— श्री शीतलचन्द्र जी, अभाना
१०१/— श्री भानुकुमार सर्राफ, अभाना
२५१/— श्री रायबहादुर नन्दनकुमार जी, जबलपुर
१०१/— महाकौशल खद्दर भडार, कमानिया, जबलपुर
२०२/— सिं. कोमलचन्द्र जी, पुरानी बजाजी, जबलपुर
१०१/— चौ कपूरचन्द्र सुरेन्द्रकुमार जी, शहपुरा
२५१/— सेठ शिखरचन्द्र जी, इटारसी
१०१/— श्री शाह कोमलचन्द्र जी कामरेड, सागर
१०१/— श्री जिनेशकुमार जी जैन, गौरमूर्ति, सागर
१०१/— श्री भागचन्द्र जी भंडारी, भडारी स्टोर्स, सागर
१०१/— प. पूर्णचन्द्र जी 'पूर्णेन्दु', सागर
१०१/— डॉ महेश जैन, सागर
१०१/— श्री लखमीचन्द्र जी सर्राफ, सागर
१०१/— श्री उत्तमचन्द्र जी, जैन वकील, सागर
१०१/— चौ प्रकाशचन्द्र जैन, चश्मावाले, सागर
१०१/— डॉ प्रमोद गोदरे, सागर
१०१/— डॉ चेतन जैन, दमोह

१०१/– प्रो. विनयकुमार जैन, दमोह
२५१/– श्री गुलावचन्द्र जैन, हिन्नौदवाला शाप, कोतवाली रोड: सागर
१५१/– श्री गुलावचन्द्र विनोदकुमार, सर्राफ, सागर
२५१/– श्री राजकुमार जी मलैया, सागर
१०१/– श्री बाबूलाल जी पलंदी, दमोह
१०१/– श्री ध्यानदास जी जैन, एल. आई. सी., मोतीनगर, सागर
१०१/– डॉ. कपूरचन्द्र जैन, टीकमगढ
१०१/– शाह भागचन्द्र जैन, वासातारखेडा
२०२/– डॉ (प) दरवारीलाल जी कोठिया, वाराणसी
१०१/– डॉ. धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र
१०१/– डॉ वीरेन्द्रकुमार जैन, छतरपुर
१०१/– श्री मनखुशीलाल गुलावचन्द्र जैन, डोगरगाव
१०१/– डॉ. हेमचन्द्र जी, वडा मलहरा
१०१/– श्री नेमिचन्द्र जी पटोरिया, श्री महावीर जी
१०१/– श्री डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन
१०१/– श्री सुरेश जी, वि सहा. आयुक्त, इन्दौर
१०१/– श्री आनन्दकुमार जी शास्त्री, सागर
१०१/– श्रीमती रामबाई जैन, पद्माकर प्रेस के ऊपर, सागर
१०१/– श्री रमेशचन्द्र जी, हीरापुर वाले, सागर
१०१/– श्री निर्मलकुमार डेवढ़िया, सागर
१०१/– प. लालचन्द्र जी शास्त्री, चन्द्रविलास, मकरोनिया, सागर
१०१/– श्रीमती प्रभा जैन ध. प श्री खेमचन्द्र जी, मोतीनगर, सागर
१०१/– श्री वालचन्द्र जी, नापतौल निरीक्षक, छतरपुर
१०५/– सेठ कन्हैयालाल खूबचन्द्र जी, डोगरगाव
१०१/– चौ. छक्कीलाल कस्तूरचन्द्र जी, डोगरगाव
१०१/– श्री बाबूलाल जिनेन्द्रकुमार साघेलीय, डोगरगाव
१०१/– श्री देशराज जी रमेशकुमार जी, डोगरगाव
१०१/– संजय वस्त्रालय द्वारा सेठ वारेलाल प्रेमचन्द्र जी, डोगरगाव
२५१/– सेठ रतनचन्द्र पचमलाल दुलीचन्द्र जी, रुवाबाधा, भिलाई
१०१/– श्री वागेसचन्द्र जी ज्ञानचन्द्र जी, रुवाबाधा, भिलाई
१०१/– श्री कस्तूरचन्द्र जैन, भिलाई
१०१/– श्री कुन्दनलाल जी जैन, भिलाई
२०२/– निर्देशक, अनेकान्त शोधपीठ, वाहुवलि

२०१/– श्री सेठ शिखरचन्द्र जी, बण्डा
२०१/– श्री सिं. विमलचन्द्र कमलेशकुमार जी, बुढार
१०१/– श्री नौरतमल जी गोधा, दुर्ग
१०१/– पटवारी रघुवरप्रसाद कपूरचन्द्र जी, भिलाई
१०१/– श्री चिन्तामणि जी, भिलाई
१०१/– श्री गुलाबचन्द्र अभयकुमार जी, दुर्ग
१०१/– श्री हुकुमचन्द्र जी, भिलाई
१०१/– प बालचन्द्र जी न्यायतीर्थ, दुर्ग
१०१/– श्री दमरुलाल भागचन्द्र जी, दुर्ग
१०१/– श्रीमती गोकुलबाई जी, दुर्ग
१०१/– चौ कन्छेदीलाल जैन, कटनी
१०१/– सेठ लक्ष्मीप्रसाद हुकमचन्द्र जी, शाहगढ
१०१/– डेवढिया खूबचन्द्र विनोदकुमार जी, शाहगढ
१०१/– स सिं (प्रो) सुरेन्द्रकुमार जी रीठी वाले, सिहोरा
१०१/– श्री पन्नालाल जी, सतना सीमेंट, इलाहाबाद
१०१/– श्री दौलतराम सुनहरीलाल जी, आगरा
२५१/– श्री लखमीचन्द्र प्रसन्नकुमार जैन, बहेरिया वाले, सागर
१०१/– सिं सुरेशकुमार रमेशकुमार साघेलीय, मोतीनगर, सागर
१०१/– श्री रतनचन्द्र जैन, मोतीनगर, सागर
१०१/– मा टीकाराम साघेलीय, इतवारी बाजार, सागर
१०१/– के एस. गारमेंट्स, मोतीनगर, सागर
१०१/– श्री रतनचन्द्र रमेशचन्द्र जी, तालेवाले, सागर
१०१/– श्री कपूरचन्द्र जी, इमलया, नया बाजार, सागर
१०१/– श्री फूलचन्द्र जैन, अनुराग वस्त्र भडार, सागर
१०१/– श्री परमानन्द लखमीचन्द्र जी, महावीर वस्त्र भडार, सागर
१०१/– श्री बाबूलाल जी, सुमति क्लाथ स्टोर्स, सागर
१०१/– श्री नन्दकिशोर कोमलचन्द्र जी, नया बाजार, सागर
१०१/– बजाज वस्त्रालय, सागर
१०१/– श्री रमेशकुमार जैन, मोदी ट्रेडर्स, सागर
१०१/– श्री खेमचन्द्र शिखरचन्द्र जी, कटरा, सागर
१०१/– श्री हुकुमचन्द्र जी कपासिया, कटरा, सागर
१०१/– शाह दौलतराम बाबूलाल जी, कटरा, सागर
१५१/– श्री डालचन्द्र खेमचन्द्र जी, सागर

१०१/– श्री अशोककुमार साधेलीय, सागर
१०१/– श्री फूलचन्द्र विजयकुमार जी भूसावाले, सागर
१०१/– श्री. पी. सी. जैन, दमोह
१०१/– श्री नाथूराम सुरेन्द्रकुमार सर्राफ, सागर
१०१/– श्री प्रेमचन्द्र जी जैन, सागर
१०१/– श्री जीवनलाल हरचन्द्र जी, सागर
१०१/– श्री बाबूलाल जी वैशाखिया, सागर
१०१/– श्री केवलचन्द्र पवनकुमार जी, सागर
१०१/– सिं कपूरचन्द्र राजेन्द्रकुमार जी, सागर
१०१/– श्री रविचन्द्र अभयकुमार जी, गाधीगंज, जबलपुर
१०१/– दानपति अनाज भण्डार, गाधीगज, जबलपुर
३०१/– श्रीमति लक्ष्मीबाई जैन मातेश्वरी श्री सतोषकुमार जी, वल्देवबाग, जबलपुर
१०१/– श्री तातूलाल जी, बाम्बे शाप, जबलपुर
२५१/– चौ. गोकलचन्द्र जयकुमार जी, नोहटा
२५१/– श्री प्रकाशचन्द्र जी, मैनेजर, काले खा दूकान, नोहटा
१०१/– सिं शीलचन्द्र जी, खोवा वाले, जबलपुर
१०१/– श्री भूरमल जी, जबलपुर
१०१/– श्री कमलकुमार जी, कमल साडी भडार, जबलपुर
१०१/– श्री सुनीलकुमार जैन, ए ई., जबलपुर
१०१/– श्री सिंघई पेपर मार्ट, जबलपुर
१०१/– श्री राजेश कुमार जैन, सोना ज्वेलर्स, जबलपुर
१०१/– प मोहनलाल जी शास्त्री, जबलपुर
१०१/– सेठ राजेन्द्रकुमार जी, जैन मेडिको, मेडिकल कालेज, जबलपुर
१०१/– सेठ नेमीचन्द्र जी, साधना केमिस्ट, कमानिया, जबलपुर
१०१/– शाह हरप्रसाद जी मुनीम, लार्डगज, जबलपुर
१०१/– सिं. हुकुमचन्द्र जी, लवली ड्रेसेस, जबलपुर
१०१/– सेठ सतोष कुमार जी, टाइपिस्ट, जबलपुर
१०१/– शाह दरबारीलाल जीवनलाल जी, जबलपुर
१०१/– सेठ गुलाबचन्द्र जी, जबलपुर
१०१/– श्रीमती शातिबाई जी पाठिका, जबलपुर
१००/– श्रीमती खिलौनाबाई, जबलपुर
१००/– मे देवेन्द्र प्रेस, अधेरदेव, जबलपुर
१०१/– श्री अरविन्दकुमार एडवोकेट, इटारसी वाले, जबलपुर

२५१/- चौ. मुन्नालाल जी मुग्गी, लार्डगज, जवलपुर
१०१/- सेठ विनयकुमार राजकुमार जी, जवलपुर
१०१/- श्री निर्मलकुमार राजेशकुमार जी, तेंदूखेड़ा (नरसिंहपुर)
१०१/- श्री महेशकुमार जी, कोरवा
२०१/- श्री वालचन्द्र राजेन्द्रकुमार जी, गौहाटी
१०१/- श्री रामलाल चतुर्भुज जी, पिंडरई
१५१/- श्री उम्मेदमल जी विमलकुमार जी, दूदू (जयपुर)
१५१/- श्री कस्तूरचन्द्र जी "सर्वज्ञ", कमानिया, कटनी
१०१/- श्री विजय कुमार जी, व्ही. के इले., जवलपुर
२०१/- श्री एस. पुरुषोत्तमदास जी, ८१, महावीर मार्ग, कोतमा
२०१/- श्री स सिं चन्द्रभान धनप्रसाद जी, कोतमा
२०१/- श्री सिं ऋषभकुमार संतोषकुमार, कोतमा
१०१/- श्री राजकुमार जी, सागर
१०१/- श्री प्रकाशचन्द्र जी टडैया, सागर
१०१/- डॉ राजकुमार जी जैन, खुरई
१०१/- श्री प. फूलचन्द जी 'पुष्पेन्दु', खुरई
१०१/- श्री महेन्द्रकुमार जी स्टेट बैंक, खुरई
१०१/- श्री माणिकचन्द्र प्रमोदकुमार जी वडकुल, खुरई
१०१/- श्री डॉ. मोतीलाल जी, खुरई
१०१/- श्री धन्नालाल गुलावचन्द्र जी सेठी, खुरई
१०१/- शाह निर्मलकुमार जी, वीना
१०१/- श्री प्रेमचन्द्र जी शाह, वीना
१०१/- श्री शीलचन्द्र जी चौधरी, वीना
१०१/- श्री खूबचन्द्र जी शाह, वीना
१०१/- श्री सिं वीरेन्द्रकुमार जी, खुरई
१०१/- श्री पद्मचन्द्र जी गुरहा, खुरई
१०१/- श्री उत्तमचन्द्र जी हड्डुआवाले, रजवास
१०१/- सवाई सिं दरवारीलाल जी, महुना
१०१/- श्री गुलावचन्द्र जी, अशोक भवन, कोतमा
१०१/- श्री डॉ प्रेमचन्द्र जी, इलाहावाद
१०१/- श्री स सिं हरिशचन्द्र सुमेरचन्द्र जी, जवलपुर
१०१/- श्री नीरज जैन, सतना
१०१/- श्री निर्मल जैन, सतना

१५१/– श्री जीवनलाल हरचन्द जी, मोहननगर वार्ड, सागर
१०१/– सिं मुन्नालाल जी 'वीर', सागर
१०१/– सेठ कोमलचन्द्र प्रकाशचन्द्र जी, बरायठा वाले, सागर
१०१/– श्री माखनलाल जी 'बन्दी', सागर
१०१/– श्रीमती शातिबाई जी, कटरा, सागर
१०१/– महिला युवा फेडरेशन, द्वारा श्रीमती चन्दनबाई जी, सागर
१०१/– श्री नरेन्द्रकुमार जी फोटू वाले, सागर
१५१/– डॉ. (कु) सुषमा जैन, सागर
१०१/– सेठ फूलचन्द्र प्रेमचन्द्र जी, बुढार
१०१/– श्री वीरचन्द्र शीलचन्द्र जी, बुढार
१०१/– चौ. वीरेन्द्रकुमार सुनीलकुमार जी, बुढार
१०१/– श्री भैयालाल सतोषकुमार जी, बुढार
१०१/– श्री देवचन्द्र देवेन्द्रकुमार जी पाड्या, बुढार
१०१/– सिं. नानकचन्द्र जी, बुढार
१०१/– प बिहारीलाल दुलीचन्द्र जी, डोगरगाँव
१०१/– श्री हजारीलाल सोनाबाई जी धर्मार्थ ट्रस्ट, डोगरगाव
१०१/– श्री अमरचन्द्र जी द्वारा मेडिक्योर लेबोरेटरीज, सतना
१०१/– श्री हुकुमचन्द्र जी जैन, अवती वस्त्रालय, सतना
१०१/– डॉ. रूपचन्द्र जी जैन, सतना
१०१/– श्री ज्ञानचन्द्र जी जैन, प्राचार्य, सतना
१०१/– श्री सोमचन्द्र जी जैन, यग्स कॉर्नर, सतना
१०१/– श्री हुकुमचन्द्र जी जैन नेताजी, सतना
१०१/– श्री शिखरचन्द्र जी जैन, अनिल प्रेस, सतना
१०१/– मे. प्रसन्नकुमार सुनीलकुमार, वस्त्र विक्रेता, सतना
१०१/– श्री हरिश्चन्द्र जैन, खजुराहो ट्रासपोर्ट, सतना
१०१/– श्री मूलचन्द्र जी जैन, अमर जैन ट्रासपोर्ट, सतना
१०१/– सिं. शिखरचन्द्र रतनचन्द्र जैन, द्वारा रागिनी एटरप्राइजेज, सतना
१०१/– सिं. सुमतचन्द्र जी जैन, सिंघई ट्रेडर्स, सतना
१०१/– श्री राजेन्द्रकुमार जी जैन, सर्राफ, सतना
१०१/– श्री केवलचन्द्र कैलाशचन्द्र जी सर्राफ, सतना
१०१/– श्री जवाहरलाल जी जैन, वस्त्र विक्रेता, सतना
१०१/– सोमचन्द्र जी जैन, कुमार स्टोर्स, सतना
१०१/– सेठ ऋषमदास जी जैन, द्वारा स. सिं. दरबारीलाल घासीराम जी सतना
१०१/– स. सिं. नरेन्द्रकुमार जैन, अर्चना ट्रेडर्स, सतना
१०१/– श्री सोमचन्द्र जी जैन, जैन मेडिकोज, पीपलवाला शॉप, सतना

१०१/– श्री हुकुमचन्द्र कोमलचन्द्र जी जैन, पीपलवाला शॉप, सतना
१०१/– श्री हरिश्चन्द्र जी जैन, वस्त्र विक्रेता, सतना
१०१/– श्री हेमचन्द्र जी जैन, रीवावाला शॉप, सतना
१०१/– श्री सुधाकर जैन, सुषमा प्रेस, सतना
१०१/– श्री सुधीर जैन, सुषमा प्रेस, सतना
१०१/– श्री शरद जैन, सुषमा प्रेस, सतना
१०१/– श्री ऋषभ वैद्य, द्वारा सुभाष ट्रांसपोर्ट, सतना
१०१/– श्री दरबारीलाल फूलचन्द्र जी, चौक बाजार सतना
१०१/– सिं छोटेलाल जी, द्वारा अभय पुस्तक भंडार, सतना
१०१/– श्री प्रकाशचन्द्र जी जैन, झांसी वाले, सतना
१०१/– प्रो राजकुमार जैन, सतना
२०१/– श्री रूपचन्द्र मलैया, कटरा, सागर
२५१/– श्री कोमलचन्द्र खटौरा वाले, कटरा, सागर
२५१/– श्री गोरेलाल जयकुमार जी, विजय टॉकीज रोड, सागर
१५१/– श्री शीतलचन्द्र जी शाहपुर वाले, रामपुरा, सागर
२५१/– सेठ जीवन्धर जैन, स्टेट बैंक, सागर
२५१/– सेठ गुलाबचन्द्र जी, सुभाष ट्रांसपोर्ट क., सागर
२५१/– श्री गुलाबचन्द्र जी पुष्प, तारणतरण ट्रा. कं. सागर
२५१/– श्री ऋषभ ट्रांसपोर्ट क., स्टेशन रोड, सागर
२००१/– श्री सेठ भगवानदास शोभालाल चेरिटेबिल ट्रस्ट, द्वारा—
सेठ डालचन्द्र जी, सासद, सागर
२००१/– श्री खेमचन्द्र जैन चेरिटेबिल ट्रस्ट सागर, द्वारा—
सेठ मोतीलाल जी, सागर
३००१/– श्री सेठ मोतीलाल जी जैन, (ढोलक छाप बीड़ी), सागर
२५१/– श्री दयालचन्द्र जी पारगुवा वाले, 'परिश्रम'-मोतीनगर सागर
२००१/– श्री महेन्द्रकुमार जी मलैया, सागर
१०१/– श्री दरबारीलाल जी, यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, सागर
२०१/– डॉ. अमरनाथ जी, गौरमूर्ति, सागर
२५१/– अशोक वॉच क , गौरमूर्ति, सागर
१०१/– ग्रेण्ड मेडीकल स्टोर्स, कटरा, सागर
५०१/– श्री रमेशचन्द्र अरुणकुमार, तालेवाले, कटरा, सागर
१०१/– श्री धनप्रसाद जी मनिहारी वाले, कटरा, सागर
५०१/– सिं. जीवनकुमार अरुणकुमार जैन, सागर
५०१/– सिं. कोमलचन्द्र राधेलीय, सागर
२०१/– सिं. मुन्नालाल जी, वीर, सागर
५०१/– श्री खेमचन्द्र शिखरचन्द्र जी, सागर
२५१/– श्री राकेश जैन, विद्यासागर ट्रेडिंग कं., सागर
१०१/– श्री बालचन्द्र जी, रजवास वाले, सागर
५०१/– श्री धन्यकुमार जी, मुरार वाले, सागर ।

१०१/– श्री महेन्द्र नायक एडवोकेट, पाटन

१०१/– श्री चौ. नन्हेलाल भागचन्द्र जी, पाटन

१०१/– श्री व्या प्रेमचन्द्र जी, पाटन

१०१/– श्री सिं. ज्ञानचन्द्र शिखरचन्द्र जी, पाटन

१०१/– श्री डॉ कन्छेदीलाल जी, शहडोल

१०१/– श्री सिं. राजेन्द्रकुमार जी चन्देरिया, कोतमा

१०१/– श्री पं. गुलाबचन्द्र जी 'पुष्प' प्रतिष्ठाचार्य, टीकमगढ

१०१/– श्री डॉ. रतनचन्द्र जी, भोपाल

१०१/– श्री वैद्य गुलाबचन्द्र जी, ढाना

१०१/– श्री स. सिं. रतनचन्द्र कोमलचन्द्र जी, कोतमा

१०१/– श्री प. वशीधर जी, व्याकरणाचार्य, वीना

१०१/– श्रीमती राधादेवी मेवाराम जी, वम्वई

१०१/– श्रीमती मजूदेवी, वम्वई

१५१/– श्री शिखरचन्द्र जी, दिल्ली

१५१/– श्री टीकमचन्द्र जी, श्रीनाथ तलैया, जबलपुर

१०१/– प्रो. सुखानन्द जी, सतना

१०१/– श्रीमती तारावाई जी जैन, जबलपुर

१५१/– श्री मुलायमचन्द्र जी, 'विशारद', कल्याण कटपीस, जवलपुर

१०१/– श्रीमती सत्यभामा जी वम्वई

१०१/– श्रीमती पुष्पादेवी ओमप्रकाश जी, वम्वई

१०१/– श्रीमती शकुंतलादेवी पवनकुमार जी, वम्वई

१०१/– श्रीमती सीतादेवी हरीप्रसाद जी, वम्वई

१०१/– श्री जोरावरमल जी, वम्वई

१०१/– श्री चक्रेशकुमार जी जैन, दिल्ली

१०१/– दीपक किराना भंडार, वरिया घाट, सागर

१०१/– श्री गुलाबचन्द्र नवीनकुमार सर्राफ, सागर

१०१/– प. ताराचन्द्र महेन्द्रकुमार सर्राफ, सागर

१०१/– श्रीमती कल्पना जैन, ध प. श्री राजेन्द्रकुमार सर्राफ, सागर

१०१/– श्री प्रेमचन्द्र सुनीलकुमार सर्राफ, पटना वाले, सागर

१०१/– श्री गुलजारीलाल जी जैन, ताजपुर वाले, सागर

१०१/– श्री रमेशचन्द्र सन्तोषकुमार, बिलहरा वाले, सागर

१०१/– प. कपूरचन्द्र जी सर्राफ, सागर

१०१/– श्री धर्मचन्द्र आनन्दकुमार सोधिया, सागर

१०१/- सिं. आनन्दीलाल मोतीलाल, शाहपुर वाले, सागर
१०१/- श्री सुरेशचन्द्र जी चौधरी, सागर
१०१/- श्री गुलाबचन्द्र जी, जैन कबाड़ी, कटरा, सागर
१०१/- श्री ज्ञानचन्द्र जी, महेश मेडीकल, सागर
१०१/- श्री संतोषकुमार जी, निर्मल स्टोर्स, सागर
१०१/- जनता ड्रग्स स्टोर्स, सागर
१०१/- श्री मनदीलाल भागचन्द्र सर्राफ द्वारा डा कान्तिकुमार सर्राफ, सागर
१०१/- डॉ. अशोक बमोरया, सागर
१०१/- श्री कस्तूरचन्द्र विमलकुमार जी, चकरा घाट, सागर
१०१/- श्री जिनेश्वरदास जी, एडवोकेट, सागर
१०१/- श्रीनंदनलाल जी सर्राफ, सागर
१०१/- श्री ज्ञानचन्द्र मनोहरलाल जी, सागर
१०१/- श्री सुरेशचन्द्र जी जैन, पारगुवा वाले, सागर
१०१/- श्री दयाचन्द्र राजेन्द्रकुमार जी, ककरवाहा वाले, सागर
१०१/- श्री नरेन्द्रकुमार जी, नरेन्द्र मेडी, सागर
१०१/- श्री घन्नालाल कस्तूरचन्द्र जी, गौना वाले, सागर
१०१/- श्री ताराचन्द्र जी, सागर सीमेंट वाले, सागर
१०१/- स सिं रघुवरप्रसाद जी,कोतमा
१०१/- श्री धन्नालाल जी समगोरया, सागर
१०१/- शाह दीपचन्द्र लखमीचन्द्र जी, गढाकोटा
१०१/- श्री सेठ टीकाराम जी मोतीलाल जी, रजवास
१०१/- श्री सिं सीतलप्रसाद कोमलचद्रजी, रजवास
१०१/- श्री प. परमानन्दजी, शाहगढ
१०१/- श्री सेठ लालचन्द्र वीरेन्द्रकुमारजी (तुलसीराम लालचन्द्रजी) शाहगढ
१०१/- श्री सेठ मोहनलाल गोकलचन्द्र जी, शाहगढ
१०१/- श्री नेमीचन्द्र जी, मे नेमीचन्द्र प्रमोदकुमार जैन, चौक बाजार, सतना
१०१/- श्री हेमकुमार जी जैन, पी-एच ई वाटर वर्क्स, सतना
१०१/- श्री रतनचन्द्र आनन्दकुमार जी, महावीर ट्रासपोर्ट, कानपुर
१०१/- सिं धर्मदास देवेन्द्रकुमार जी बडा मलहरा
१०१/- श्री कुन्दनलाल जी चौधरी, शाहगढ
१०१/- श्री रतनचन्द्र जी, परमोनावाले, सागर
१०१/- श्री सुरेशचन्द्र जी, हिनौतावाले, बण्डा
१०१/- श्री स सिं फूलचन्द्र जी कोमलचन्द्र जी, पडवार वाले, बन्डा

१०१/– श्री सिं. फूलचन्द्र जी, महुना वाले, बण्डा
१०१/– श्री शोभालाल जी, तिगोडावाले, बण्डा
१०१/– श्री स. सिं कमलापत शिखरचन्द्र, महुनावाले, बण्डा
१०१/– श्री हुकमचन्द्र जी, रतनपुर वाले, बण्डा
१०१/– श्री कुन्दनलाल कपूरचन्द्र भायजी, बण्डा
१०१/– श्री शोभालाल टेकचन्द्र भायजी, बण्डा
१०१/– श्री लालचन्द्र ब्रजलाल जी, दमोह
१०१/– श्री चौ. गोपीचन्द्र अनिलकुमार, दमोह
१०१/– श्री चौ. गोकुलचन्द्र अनिलकुमार जैन, दमोह
१०१/– श्री पूरनचन्द्र जैन, आढतिया, दमोह
१०१/– श्री शिखरचन्द्र जैन, हरदुआ वाले, आढतिया, दमोह
१०१/– श्री सेठ डालचन्द्र जी जैन, आढतिया, दमोह
१०१/– श्री कस्तूरचन्द्र जैन, खजरी वाले, आढतिया, दमोह
१०१/– श्री रूपचन्द्र जी चौधरी, सगम जनरल स्टोर्स, दमोह
१०१/– श्री नरेन्द्रकुमार स्वतत्रकुमारजी जैन, दमोह
१०१/– श्री सिं. कन्छेदीलाल जी, दमोह
१०१/– श्री राजेन्द्रकुमार सिंघई (सिंघई ट्रेक्टर्स) स्टेशन रोड, दमोह
१०१/– श्री खुशालचन्द्रजी कण्ड्या, अजन्ता प्रिंटर्स, दमोह
१०१/– श्री चन्द्रकुमारजी, न्यू किरण ट्रासपोर्ट, दमोह
१०१/– श्री डॉ हुकमचन्द्र जी सिंघई, पाटन
१०१/– संचालक श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुल, कारजा (अकोला)
१०१/– श्री मन्नूलाल गुलाबचन्द्रजी इटारसी
१०१/– श्री एलकचन्द जी, गुरुद्वारा, स्टेशन रोड, दुर्ग
१०१/– श्री गुलाबचन्द्र जी, प्रोप्रा श्री महावीर जलपान गृह, दुर्ग
१०१/– सिं सुरेशचन्द्र जी, कोतमा
१०१/– श्री सिं. रमेशचन्द्र जी, कोतमा
५१/– श्री पन्नालाल विमलकुमार जी पाड्या, बुढार
५१/– श्री स. सिं निर्मलचन्द्र जी, बुढार
५१/– श्री दीपचन्द्र जी उत्तमचन्द्र जी, रजवास
५१/– श्री नन्दनलाल अनिलकुमार जैन, दमोह
५१/– पं. दयाचन्द्र जी, साहित्याचार्य, सागर
२१/– डॉ प्रेमचन्द्र जैन, गज वासौदा
५१/– डॉ. पी. सी जैन, चकराघाट, सागर

११/- डॉ कस्तूरचन्द्र जी 'सुमन', श्री महावीर जी
२१/- सिं. महेन्द्रकुमार जी, दमोह
११/- प धर्मचन्द्र शास्त्री, वटियागढ
५१/- श्री कोमलचन्द्र जैन, दमोह
५१/- श्री कपूरचन्द्र वीरेन्द्रकुमार जैन, सागर
५१/- सिं नेमिचन्द्र सतोषकुमार जैन, कटरा, सागर
५१/- श्री मुलायमचन्द्र जैन, पडवार वाले, सागर
५१/- पी के प्रिंटर्स, दमोह
३१/- प रवीन्द्रकुमार जैन, दमोह
५१/- श्री पूरनचन्द्र जी जैसीनगर वाले, सागर
५१/- श्री कन्हैयालाल जी ताजपुर वाले, सर्राफा, सागर
५१/- श्री दीपचन्द्र जी जगाती, सागर
५१/- श्री कोमलचन्द्र जी जैन, लेखनी-देखनी, सागर
५१/- मुकेश मेडीकल स्टोर्स, गौर मूर्ति, सागर
५१/- प माणिकलाल जी वमोरिया, दमोह
५१/- श्री अशोककुमार जी सर्राफ, सागर
५१/- सिं. भैयालाल जी मुन्नालाल जी, हटा
५१/- श्री विजयकुमार जी, गढाकोटा
५१/- श्री भूपेन्द्रकुमार जी अजीतकुमार जी, भिलाई
५१/- श्री सिं भैयालाल जी, नोहटा
५१/- श्री प. दुलीचन्द्र जी, वीना
५१/- श्री ऋषभकुमार जी, पॉलीटेक्निक कॉलेज, खुरई
५१/- श्री चौ शीलचन्द्र जी, खुरई
४२/- श्री सिं देवेन्द्रकुमार जी विजयकुमार जी वडकुल, खुरई
२१/- श्री सुशीलकुमार जी जैन, खुरई
११/- श्री प मल्लिनाथ जी शास्त्री, मद्रास

परिशिष्ट– तीन :

संशोधन-पत्रक

खण्ड एवं पृष्ठ	शीर्षक	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध रूप
१/८	शुभाशीर्वाद	अतिम	चाहती	चाहती
१/११	चारित्र के	६ वी	विद्वता	विद्वत्ता
१/१२	अभि का स्वागत	अंतिम	व्याकारणाचार्य	व्याकरणाचार्य
१/१५		३ री	विद्वता	विद्वत्ता
१/३६	अभूतपूर्व......	५ वी	वोधगम्य	बोधगम्य
२/१	आत्मकथ्य	१३ वी	दृष्टि	दृष्टि
२/२	–,,–	२७ वी	लाल बुखार विकराल लाल	विकराल लाल बुखार
२/२	–,,–	३१ वी	सुनशान	सुनसान
२/२	–,,–	३१ वी	गौदी	गोदी
२/३	–,,–	२९ वी	प्रावघान	प्रावधान
२/४	–,,–	१८ वी	जवान	जुबान
२/४	–,,–	३० वी	मैं	मे
२/५	–,,–	२० वी	वर्णी जो	वर्णी जी
२/८	–,,–	२ री	मे	मैं
२/११	–,,–	४ थी	अध्ययन	अध्ययन
२/१६	–,,–	८ वी	संयम	सयम
२/१७		१६ वी	छात्रो	छात्रों
२/१७		२० वी	के समय के	के समय
२/१७		२७ वी	कौ	को
२/१८		७ वी	प्रसारित	प्रसारित
२/१९		२ री	लघु सिद्धात कैमुदी	लघु सिद्धात कौमुदी
२/७२		९ वी	सगारोह	समारोह
३/१		१३ वी	वनने	वनने
३/३		२९ वी	क्रा	का
३/४		१३ वी	पुराणों	पुराणो
३/४		२८ वी	काध्य	काव्य
३/६		२४ वी	धनो	वनो

खण्ड एवं पृष्ठ	शीर्षक	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध रूप
३/८		१६ वी	रहे	रहे
३/८		१७ वी	व्यवस्था	व्यवस्था
३/८		२१ वी	निवृत्ति	निवृत्ति
३/८		२३ वी	सर्वत्र	सर्वत्र
३/९		११ वी	मरुदेवी	मरुदेवी से उनका
३/१०		२ री	मगवान	भगवान
३/१२		२ री	नहो	नही
३/१५		२ री	डीका	टीका
३/१५		१३ वी	गृहस्त	गृहस्थ
३/१७		९ वी	पार्श्वाम्युदय	पार्श्वाभ्युदय
३/१८		१ ली	अवश्य	अवश्य
३/१८		२२ वी	को	की
३/२१		१६ वी	खण्डकाध्य	खण्डकाव्य
३/२२		२१ वी	विचार	विचार
३/२२		२४ वी	लिखे	लिख
३/२४		फुटनोट ५ वी	किवा	किया
३/२६		२२ वी	वशीधर	वशीधर
३/२८		८ वी	चोदहवे	चौदहवे
३/२८		१० वी	वाला	वाला
३/२९		१८ वी	वाघा	बाघा
३/३५		१४ वी	ओर	और
३/८१		११ वी	विकाशवाद	विकासवाद
३/१४७		६ वी	घारित्रभूषण	चारित्रभूषण
३/१४८		२२ वी	स्नोत्र	स्तोत्र
३/१५०		२ री	११६८	१९६८
३/१५०		३ री	शूवौन जी	थूवौन जी
३/१५०		४ थी	मुवतागिरि	मुक्तागिरि
३/१५०		७ वी	११७४	१९७४
३/१५०		११ वी	यूवौन जी	थूवौन जी
३/१५५		३ री	मर	कर
३/१५५		६ ठी	जैनथर्म	जैनधर्म
३/१६२		२० वी	इव्टीपदेश	इष्टोपदेश
३/१६४		१ ली	धर्मशर्म्युदय	धर्मशर्माभ्युदय
३/१६४		१ ली	सहाकाव्य	महाकाव्य
३/१६४		४ थी	अमितगतिश्रावकाधार	अमितगतिश्रावकाचार

खण्ड एवं पृष्ठ	शीर्षक	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध रूप
४/१२		३० वी	पूछेते	पूछते
४/१३		(फिलर) अंतिम	सम्यक्त्ल	सम्यक्त्व
४/१६		१३ वी	पञ्चास्तिकास	पञ्चास्तिकाय
४/१६		१९ वी	लिखा	लिखा
४/१७		३ री	ऊसे	उसे
४/१८		७ वी	थक्रवर्ती	चक्रवर्ती
४/४९		७ वी	वेचने	वचने
४/६३		(फिलर) अंतिम	यूख	मयूख
४/८१		१ ली	अमृतघन्द्र	अमृतचन्द्र
४/८१		२ री	श्रतस्कन्ध	श्रुतस्कन्ध
४/८१		७ वी	चक्र्ती	चक्रवर्ती
४/९४		१० वी	कथाचित	कथचित्
४/९४		११ वी	शिद्ध	सिद्ध
४/१०९		११ वी	भगयान	भगवान
४/१२१		फुटनोट	द्वितीव	द्वितीय
५/१		शीर्षक	विवध	विविध
५/५		८ वी	चीवीस	चौवीस
५/७४		(फिलर) अंतिम	चित्तामणि	चितामणि
५/७४		(फिलर) अंतिम	मयूरख	मयूख
५/७८		(फिलर) अंतिम	चित्तामणि	चितामणि
५/७८		(फिलर) अंतिम	मयूरख	मयूख
५/८६		शीर्षक	विद्वत	विद्वत्
६/२०		साधु वन्दना १२वी	तस्यैव-रक्षणकृते	तस्यैव रक्षण कृते
६/२०		साधु वन्दना १३वी	प्रमवेत्तु-नात्म	प्रमवेत्तु नात्म–
६/२८		मुक्ताहारः १५वीं	धर्मरथस्य	धर्मरथस्य
६/२९		वृत्तहार : ३ री	निभृम्	निभृतम्